दुनिया के मज़दूरो, एक हो !

ИНСТИТУТ МАРКСИЗМА-ЛЕНИНИЗМА при ЦК КПСС

В. И. ЛЕНИН

ИЗБРАННЫЕ ПРОИЗВЕДЕНИЯ

В ТРЕХ ТОМАХ

ГОСУДАРСТВЕННОЕ ИЗДАТЕЛЬСТВО ПОЛИТИЧЕСКОЙ ЛИТЕРАТУРЫ
Москва

व्ला० इ० लेनिन

संकलित रचनाएं

तीन खण्डों में

खण्ड

१

भाग

१
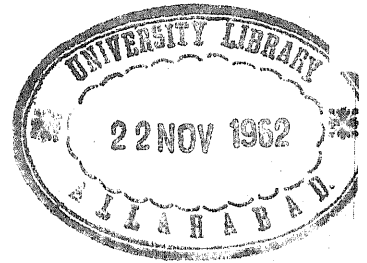
विदेशी भाषा प्रकाशन गृह
मास्को

प्रकाशक की ओर से

व्ला० इ० लेनिन की संकलित रचनाओं का तीन खण्डों वाला यह हिन्दी अनुवाद सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय समिति के मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान द्वारा प्रस्तुत तीन खण्डों के रूसी संस्करण के अनुसार किया गया है ('गोसपोलीतइज़दात' – राजनीतिक साहित्य प्रकाशन गृह, मास्को, १९६०)। पाठक की सुविधा के लिए हर खण्ड को दो भागों में बांटा गया है।

विषय-सूची

पृष्ठ

भूमिका

तीन खण्डों में व्ला० इ० लेनिन की कृतियों का यह संस्करण सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के इतिहास का अध्ययन करनेवालों के सहायतार्थ तैयार किया गया है।

पहले खण्ड के अन्तर्गत १८९७ से जनवरी १९१७ तक, दूसरे के अन्तर्गत मार्च १९१७ से जून १९१८ तक और तीसरे के अन्तर्गत जुलाई १९१८ से मार्च १९२३ तक की रचनाएं आती हैं।

'कार्ल मार्क्स', 'फ़्रेडरिक एंगेल्स', 'मार्क्सवाद और संशोधनवाद' तथा 'मार्क्सवाद के तीन स्रोत तथा तीन संघटक अंग' नामक कृतियों से पहले खण्ड का प्रारंभ होता है; और इनके अतिरिक्त शेष सारी सामग्री को काल-क्रम से तरतीब दिया गया है।

इन कृतियों में लेनिन ने मार्क्सवाद के संस्थापकों के जीवन और सरगर्मियों तथा उनके विश्व-दृष्टिकोण के निर्माण का वर्णन करते हुए मार्क्सवादी सिद्धांत के सार-तत्व और महत्व का स्पष्टीकरण किया है। १८४४ के सितम्बर में मार्क्स और एंगेल्स की जो पहली भेंट पेरिस में हुई, लेनिन ने उसका उल्लेख एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में किया है जिससे उनकी आजीवन मित्रता का सूत्रपात हुआ। उस समय से लगातार "इन दोनों मित्रों का जीवन-कार्य एक ही साझे ध्येय को अर्पित हो गया"।

मानव-जाति के श्रेष्ठतम विचारकों ने उस समय तक जो भी सर्वोत्तम परिणाम निकाले थे, मार्क्स और एंगेल्स ने उन सबको आत्मसात कर लिया था। 'मार्क्सवाद के तीन स्रोत तथा तीन संघटक अंग' नामक लेख में लेनिन ने यह दिखलाया है कि मार्क्सवादी सिद्धान्त १९ वीं शताब्दी की तीन प्रमुख

विचारधाराओं – जर्मन दर्शनशास्त्र, अंग्रेज़ी राजनीतिक अर्थशास्त्र और फ़ांसीसी समाजवाद – के आलोचनात्मक परिष्कार से ही उत्पन्न हुआ। लेनिन ने इस तथ्य पर ज़ोर दिया कि मार्क्सवाद ने दर्शनशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र और समाजवादी शिक्षा के विकास में एक क्रान्ति पैदा की।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद समाज के विकास को निश्चित करनेवाले नियमों का विज्ञान है, वह समाजवादी क्रान्ति और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व का विज्ञान है, वह समाजवादी और कम्युनिस्ट समाज के निर्माण का विज्ञान है। मार्क्सवाद का प्रादुर्भाव पिछली सदी की पांचवीं दशाब्दी में हुआ, जबकि पश्चिमी यूरोप के कई देशों में पूंजीवादी व्यवस्था स्थापित हो चुकी थी और पूंजीपति तथा सर्वहारा वर्गों के बीच तीव्र वर्ग-विरोध पैदा हो चुके थे। राजनीतिक संघर्ष के क्षेत्र में मज़दूर वर्ग एक स्वतंत्र राजनीतिक शक्ति के रूप में सामने आया।

लेनिन ने दिखलाया कि मार्क्स और एंगेल्स का महान गुण यह था कि उन्होंने सर्वहारा वर्ग के सार्वभौमिक-ऐतिहासिक ध्येय का एक ऐसी प्रबल क्रान्तिकारी शक्ति के रूप में वैज्ञानिक प्रतिपादन किया जो पूंजीवादी व्यवस्था को नष्ट करने और एक नये कम्युनिस्ट समाज का निर्माण करने में समर्थ है। मार्क्स और एंगेल्स ने सर्वहारा वर्ग और आम श्रमजीवी जनता को मुक्ति का मार्ग दिखाया। उन्होंने मज़दूर वर्ग के आन्दोलन में नेतृत्वकारी शक्ति के रूप में एक मार्क्सवादी पार्टी की आवश्यकता प्रमाणित की और उस पार्टी की रणनीति तथा कार्यनीति का वैज्ञानिक आधार निकाला।

लेनिन ने अपनी कृतियों में मार्क्सवाद की दार्शनिक शिक्षा का सार निकालकर रख दिया है। अपने समसामयिक समाज-विज्ञान और प्राकृतिक विज्ञान की उपलब्धियों का उपयोग करते हुए, दार्शनिक विचारों के पूर्ववर्ती विकास में जो कुछ भी श्रेष्ठतम था उसमें दक्षता प्राप्त करके तथा उसका रचनात्मक परिष्कार करके मार्क्स और एंगेल्स ने द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक पदार्थवाद की सृष्टि की, जो पदार्थवाद का सर्वोत्तम रूप है और जो पहले के पदार्थवादी दर्शन के दोषों से मुक्त है। लेनिन ने मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद के क्रान्तिकारी सार को संसार तथा मनुष्य की विचार-प्रगति के सामान्य नियमों के विज्ञान के रूप में निरूपित किया। उन्होंने इस बात पर ज़ोर दिया कि

पदार्थवादी द्वन्द्ववाद और दार्शनिक पदार्थवाद एक ही मार्क्सवादी दार्शनिक सिद्धान्त के दो पहलुओं के रूप में एक दूसरे के साथ सांगोपांग बंधे हुए हैं। एक दूसरे के भीतर उनका प्रवेश और परिव्याप्ति है।

लेनिन ने मार्क्सवादी दर्शन की क्रान्तिकारी प्रकृति और उसकी सोद्देश्य दिशा पर ज़ोर दिया।

सामाजिक घटनाचक्र के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक पदार्थवाद के उसूलों को सुसंगत रूप से लागू करने के फलस्वरूप जो तथ्योद्घाटन हुआ, लेनिन ने उसकी विराटता को प्रदर्शित किया। इतिहास में कार्ल मार्क्स ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन का रास्ता दिखाया, जो अपनी समस्त बहुरूपता तथा असंगतियों के बावजूद एकरूप और नियम-शासित है। मार्क्स ने यह सिद्ध किया कि मनुष्य के भौतिक जीवन की उत्पादन-पद्धति ही मानव-समाज के विकास का आधार है। उत्पादन-सम्बन्धों की समग्रता ही समाज के आर्थिक ढांचे को बनाती है और वही ढांचा सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था का निर्णायक होता है।

मार्क्सवाद ने बताया कि पूंजीवादी समाज ने वर्ग-विरोध को समाप्त नहीं किया, न वह कर ही सकता है। उसने केवल पुराने के स्थान पर नये वर्गों का विकास किया और शोषण की नई परिस्थितियां तथा संघर्ष के नये रूप पैदा किये। पूंजीवाद ने वर्ग-विरोधों को स्पष्ट रूप में उभारकर उजागर कर दिया; और जैसा कि मार्क्स ने बताया, समाज दो विरोधी वर्गों—पूंजीपति और सर्वहारा वर्गों—में अधिकाधिक विभक्त होता जा रहा है।

लेनिन ने 'कार्ल मार्क्स' शीर्षक अपने लेख में मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत के महत्व पर विशेष रूप से ज़ोर दिया, जिसके द्वारा मानव-समाज के विकास के विश्लेषण में मार्क्सवादी सिद्धान्त की अत्यन्त गंभीर तथा सर्वतोमुखी पुष्टि और व्यवहृति होती है। लेनिन ने लिखा कि "किसी विशेष और ऐतिहासिक दृष्टि से निर्धारित समाज के उत्पादन-सम्बन्धों की उत्पत्ति, विकास और ह्रास का अनुसंधान—यह है मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत का अन्तरस्थ"। मार्क्स ने एक सामाजिक-आर्थिक गठन के रूप में पूंजीवाद का गहन विश्लेषण किया और उसके उत्थान, विकास और पतन के नियमों का उद्घाटन किया। उन्होंने दिखलाया कि कैसे पूंजीवादी विकास के साथ ही साथ सर्वहारा वर्ग भी विकसित

और अधिकाधिक शक्तिशाली होता है। उन्होंने पूंजीवाद के अन्तर्विरोधों के तीव्र होने की प्रक्रिया बताई और यह समझाया कि समाजवाद अनिवार्य रूप से पूंजीवाद का स्थान ले लेगा। मार्क्स और एंगेल्स ने बताया कि समाजवाद स्वप्नदर्शियों की कल्पना नहीं है, बल्कि वह मानव-समाज के विकास का अन्तिम लक्ष्य और आवश्यक परिणाम है। लेनिन ने मार्क्सवाद की इस महत्वपूर्ण स्थापना पर ज़ोर दिया कि केवल राजनीतिक संघर्ष द्वारा ही सर्वहारा वर्ग को यह चेतना प्राप्त होती है कि उसके लिए समाजवाद के अतिरिक्त और कोई रास्ता नहीं है; और दूसरी ओर यह कि जब समाजवाद मज़दूर वर्ग के राजनीतिक संघर्ष का लक्ष्य बनेगा तभी वह एक शक्ति बन सकेगा।

मार्क्स और एंगेल्स ने क्रान्तिकारी सिद्धान्त और क्रान्तिकारी व्यवहार को एक दूसरे के साथ अविभाज्य रूप से जोड़ दिया। उन्होंने पचास साल के लम्बे अर्से तक मार्क्सवादी विज्ञान के सभी अंगों का विकास और परिष्कार करते हुए श्रमजीवी जनता के वर्ग-संघर्ष के अनुभवों से सैद्धान्तिक निष्कर्ष निकाले; और क्रान्तिकारी संघर्ष के व्यवहार द्वारा उपस्थित की गई समस्याओं के उत्तर प्रस्तुत किये। लेनिन ने लिखा कि मार्क्सवाद "न केवल अतीत की व्याख्या करने के अर्थ में, बल्कि निर्भीक भविष्यवाणी और उसकी उपलब्धि के लिए साहसपूर्ण अमली कार्रवाई करने के अर्थ में भी" सभी प्रश्नों को ऐतिहासिक धरातल पर रखकर देखता है।

'कम्युनिस्ट लीग' और अपने द्वारा स्थापित पहली इन्टरनेशनल (प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ) में मार्क्स और एंगेल्स की सरगर्मियों का वर्णन लेनिन ने विस्तारपूर्वक किया है। इन्टरनेशनल में मार्क्स की अग्रणी भूमिका दर्शाते हुए लेनिन ने लिखा है कि मार्क्स "इस सभा के प्राण" और उसके 'सम्भाषण', अनेकानेक प्रस्तावों, विज्ञप्तियों तथा घोषण।पत्रों के लेखक थे। यह नहीं कि पहली इन्टरनेशनल के भंग होने के बाद मार्क्स और एंगेल्स ने अपनी अमली सरगर्मियां बन्द कर दी हों, बल्कि सर्वहारा वर्ग के सैद्धांतिक नेताओं के रूप में उनकी भूमिका निरंतर बढ़ती और फैलती गई।

'फ्रेडरिक एंगेल्स' शीर्षक लेख में लेनिन ने दिखलाया है कि रूस के बारे में मार्क्स और एंगेल्स की कितनी गहरी दिलचस्पी थी और कितनी हमदर्दी के साथ वे रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन के विकास पर ध्यान रखते

तथा रूसी क्रान्तिकारियों के वीरतापूर्ण संघर्ष का समर्थन करते थे। लेनिन ने लिखा है कि "मार्क्स और एंगेल्स ने यह स्पष्ट रूप से देखा कि रूस की राजनीतिक क्रांति पश्चिमी-यूरोपीय मज़दूर आन्दोलन के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध होगी"।

लेनिन ने मार्क्सवाद के संस्थापकों की मुख्य कृतियों का बड़ी गंभीरता से निरूपण करते हुए, सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी शिक्षा तथा कम्युनिस्ट-विरोधी मज़दूर-दुश्मन विचारधारा के ख़िलाफ़ लड़ाई में उनकी बड़ी भूमिका का वर्णन किया है।

मार्क्स और एंगेल्स द्वारा सृजित विज्ञान एक शताब्दी से भी अधिक समय से शानदार तौर पर विकास पाता रहा है और उन्नति की दिशा में मानव-जाति के संघर्ष के नये अनुभवों तथा नये सैद्धान्तिक निष्कर्षों से सम्पन्न होता रहा है।

मार्क्सवाद की प्रगति में लेनिन का नाम एक नये युग का सूचक है। उन्होंने सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी और जनता के लिए, समस्त देशों की बिरादराना कम्युनिस्ट तथा मज़दूर पार्टियों, मज़दूर वर्ग और श्रमजीवी जनता के लिए एक असीम साहित्यिक विरासत छोड़ी है।

लेनिन की कृतियां सैद्धांतिक सम्पन्नता की दृष्टि से अमूल्य हैं। सामाजिक विकास के नियमों, सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष और समाजवाद तथा कम्युनिज़्म के निर्माण सम्बन्धी तरीक़ों के ज्ञान का वे सचमुच ही अक्षय स्रोत हैं।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी के संगठनकर्त्ता और नेता तथा सोवियत समाजवादी राज्य के संस्थापक लेनिन ने नई ऐतिहासिक परिस्थितियों में, साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों के युग में, पूंजीवाद से कम्युनिज़्म की ओर संक्रमण के युग में, मार्क्सवाद की महान शिक्षा को और आगे विकसित किया। लेनिन की कृतियों में मार्क्सवाद के तीन संघटक अंगों का—दर्शन शास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र और वैज्ञानिक कम्युनिज़्म के सिद्धान्त का—और अधिक परिष्कार हुआ।

लेनिन ने अपनी अमर कृतियों द्वारा उन आधारभूत समस्याओं के उत्तर प्रस्तुत किये, जो नये ऐतिहासिक काल में अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारा वर्ग के सामने पेश आ रही थीं।

लेनिन ने क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग के नायकत्व और सर्वहारा वर्ग के

अधिनायकत्व सम्बन्धी मार्क्सवादी शिक्षा का विकास किया और एक नये ढंग की मार्क्सवादी पार्टी, उसकी अग्रणी भूमिका, उसके संगठनात्मक, राजनीतिक और सैद्धांतिक आधार, उसकी रणनीति, कार्यनीति और राजनीति के सम्बन्ध में सामंजस्यपूर्ण शिक्षा का प्रतिपादन किया। लेनिन ने इस बात पर निरन्तर ज़ोर दिया कि समुन्नत क्रान्तिकारी सिद्धान्त से लैस एक मार्क्सवादी पार्टी के नेतृत्व के बिना मज़दूर वर्ग एक नया कम्युनिस्ट समाज बनाने के अपने ऐतिहासिक ध्येय की पूर्ति नहीं कर सकेगा।

मार्क्सवादी सिद्धान्त की शुद्धता के लिए तथा संशोधनवादियों एवं अवसरवादियों द्वारा उसे तोड़ने-मरोड़ने और झुठलाने के प्रयत्नों के खिलाफ़, पार्टी की एकता, अनुशासन, एकशिलाकार सम्बद्धता और सैद्धांतिक शुद्धता के लिए, जनता के साथ उसके अटूट सम्बन्ध के लिए, पार्टी-जीवन के नियमों और पार्टी-निर्माण के उसूलों के सुसंगत परिपालन के लिए, जिनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण सामूहिक नेतृत्व का उसूल है, लेनिन ने अथक संघर्ष किया – इस बात की झलक उनकी कृतियों में मिलती है।

इस खण्ड में 'विरासत जिसे हम अस्वीकार करते हैं' शीर्षक लेख शामिल किया गया है, जिसमें देश की क्रान्तिकारी परम्परा के प्रति सर्वहारा वर्ग की पार्टी के रवैये पर विचार किया गया है। उदारपंथी नरोदवादियों ने १८६०-६९ के रूसी समाज के समुन्नत भाग की सैद्धांतिक विरासत को आगे बढ़ानेवालों का नक़ली चेहरा लगाकर यह दावा किया था कि श्रेष्ठतम क्रान्तिकारी परम्पराओं और सैद्धांतिक विरसे को मार्क्सवादी त्याग रहे हैं। लेनिन ने नरोदवादी विचारों के विज्ञान-विरोधी मिथ्या-क्रान्तिकारी सार-तत्व का पर्दाफ़ाश किया और उनके चारित्रिक लक्षणों की व्याख्या की। उन्होंने १८६०-६९ के क्रान्तिकारी जनवादियों के रूसी प्रतिनिधियों के विचारों के साथ नरोदवादियों और सामाजिक-जनवादियों के विचारों की तुलना की और सिद्ध किया कि नरोदवादी नहीं बल्कि मार्क्सवादी ही उस विरसे के सच्चे संरक्षक हैं जिसे उन रूसी क्रान्तिकारी उपदेशकों ने छोड़ा था जिनका अत्यन्त विशिष्ट प्रतिनिधि न० ग० चेर्निशेव्स्की था।

लेनिन मार्क्सवादी पार्टी को ही रूस की जनजातियों की क्रान्तिकारी-जनवादी परम्पराओं और उनकी तमाम प्रगतिशील उपलब्धियों का न्यायसंगत

उत्तराधिकारी मानते थे। किन्तु उन्होंने बताया कि किसी विरसे को संरक्षित रखने का अर्थ यह नहीं होता कि हम उसे उत्तराधिकार में पाने मात्र से संतुष्ट हो जायें, बल्कि हमें और आगे बढ़कर स्वतंत्र रूप से क्रान्तिकारी संघर्ष के मार्ग और साधन निर्धारित करने चाहिए।

एक नये ढंग की पार्टी की स्थापना के संघर्ष में 'क्या करें? हमारे आन्दोलन के तात्कालिक प्रश्न' (१९०२) नामक कृति का असाधारण महत्व था। उसमें लेनिन ने नई ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार पार्टी के बारे में मार्क्स और एंगेल्स के विचारों की पुष्टि और विकास किया कि पार्टी मज़दूर आन्दोलन को क्रान्तिकारी बनानेवाली, उसका नेतृत्व करनेवाली और उसका संगठन करनेवाली एक शक्ति है। साथ ही जो बड़ी सैद्धांतिक और संगठनात्मक समस्याएं उस समय रूसी सामाजिक-जनवादियों के दिमाग़ों को मथ रही थीं, उनका भी उन्होंने परिष्कार किया। मज़दूर आन्दोलन में चेतनाशील और स्वतःस्फूर्त तत्वों के आपसी सम्बन्ध, पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति में रूसी सामाजिक-जनवाद की भूमिका तथा एक लड़ाकू मार्क्सवादी मज़दूर पार्टी क़ायम करने के मार्ग और साधन तथा उसके संगठन सम्बन्धी प्रश्नों के उन्होंने विस्तार के साथ उत्तर दिये।

रूसी सामाजिक-जनवाद के भीतर "अर्थवाद" कहलानेवाली अवसरवादी धारा की सैद्धांतिक पराजय को 'क्या करें?' नामक कृति ने पूरा कर दिया। लेनिन ने यह स्पष्ट कर दिया कि "अर्थवाद" बर्न्सटीनवाद का ही विभिन्न रूप था। बर्न्सटीनवाद मार्क्स और एंगेल्स की मृत्यु के बाद उनके विचारों की "आलोचना की स्वतंत्रता" के नारे के मातहत सामने आया था, किन्तु जो वस्तुतः समाजवाद के भीतर पूंजीवादी तत्व-विचार और पूंजीवादी विचारधारा को रिस रिसकर पैवस्त होने देने तथा मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को पूंजीपति वर्ग के अधीन कर देने की मांग के अतिरिक्त और कुछ भी न था। लेनिन ने लिखा: "हमारे सामने **एक ही विकल्प** है: या तो हम पूंजीवादी विचारधारा को चुनें या समाजवादी विचारधारा को। बीच का कोई रास्ता नहीं है... इसलिए समाजवादी विचारधारा के महत्व को **किसी भी तरह** कम करके आंकने, उससे **ज़रा भी** मुंह मोड़ने का मतलब पूंजीवादी विचारधारा को मज़बूत करना होता है।"

लेनिन ने बताया कि मज़दूर आन्दोलन में समाजवादी चेतना पैदा करने का काम अवश्य ही क्रान्तिकारी मार्क्सवादी पार्टी को करना चाहिए, जिसका महत्वपूर्ण कार्य-भार है समाजवादी विचारधारा की शुद्धता के लिए लड़ना, मज़दूर वर्ग में पूंजीवादी प्रभावों के ख़िलाफ़ लड़ना और मज़दूर आन्दोलन में पूंजीवादी विचारधारा के वाहक अवसरवादियों के ख़िलाफ़ लड़ना। लेनिन ने मज़दूर आन्दोलन के लिए और मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी मार्क्सवादी पार्टी की तमाम सरगर्मियों के लिए वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्त का भारी महत्व समझाया। उन्होंने इस बात पर भरपूर ज़ोर दिया कि "**लड़ाकू हरावल दस्ते की भूमिका केवल वही पार्टी अदा कर सकती है जो सबसे अधिक उन्नत सिद्धान्तों के अनुसार चलती है**"।

लेनिन ने 'क्या करें?' में एकतंत्र शासन के ख़िलाफ़ आगामी संघर्ष में सर्वहारा वर्ग और उसकी पार्टी की कार्यनीति का प्रतिपादन किया। उन्होंने बताया कि रूस का मज़दूर वर्ग रूसी समाज की तमाम क्रान्तिकारी और विरोधी शक्तियों का अग्रदल बनकर एकतंत्र शासन तथा ज़मींदारी प्रथा के ख़िलाफ़ आम जनवादी आन्दोलन का नेतृत्व कर सकता है और उसे यह अवश्य ही करना चाहिए। इस सम्बंध में लेनिन ने ज़ोर देकर बताया कि जनता की राजनीतिक शिक्षा और उसकी क्रान्तिकारी सरगर्मी को बढ़ाने के साधन-रूप में सामाजिक-जनवाद के लिए एकतंत्र शासन और ज़मींदारी प्रथा के राजनीतिक भंडाफोड़ का सिलसिला चलाते रहने का बहुत महत्व है।

लेनिन ने रूस में एक केन्द्रित लड़ाकू मार्क्सवादी पार्टी स्थापित करने की योजना का प्रतिपादन किया। उन्होंने स्थानीय समितियों तथा दलों को एक पार्टी के भीतर संयुक्त करनेवाले एक शक्तिशाली हथियार के रूप में अखिल रूसी ग़ैरक़ानूनी अख़बार की भूमिका भी प्रतिपादित की।

इस खण्ड में 'एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे' (हमारी पार्टी में संकट) नामक लेख शामिल है, जो मई, १६०४ में प्रकाशित हुआ था। इस लेख ने पार्टी सम्बन्धी मार्क्सवादी शिक्षा को और अधिक विकसित किया। इस कृति में लेनिन ने एक नये ढंग की पार्टी के रूप में बोल्शेविक पार्टी के संगठनात्मक उसूलों को प्रतिपादित किया। लेनिन ने सिखाया कि मार्क्सवादी पार्टी मज़दूर वर्ग का अंग है, उसका हरावल दस्ता है; कि पूरे वर्ग और

पार्टी को एक ही नहीं समझना चाहिए और यह कि पार्टी उन सर्वोत्तम लोगों को लेकर बनाई जाती है जो क्रांतिकारी ध्येय के प्रति सबसे अधिक निष्ठावान होते हैं। जब तक इच्छा की एकता, कार्रवाई की एकता और अनुशासन की एकता द्वारा आपस में जुड़े हुए एकशिलात्मक चट्टान की तरह ठोस सैन्य-दल के रूप में पार्टी का संगठन नहीं किया जाएगा, तब तक वह मज़दूर वर्ग के अग्रणी लड़ाकू की भूमिका नहीं अदा कर पाएगी। लेनिन पार्टी में एक ऐसे कठोर अनुशासन की आवश्यकता पर बराबर ज़ोर देते रहे, जो कि पार्टी के सब सदस्यों के लिए अनिवार्य हो।

पार्टी जब केन्द्रीयतावाद के उसूलों पर बनाई जाती है, तभी वह मज़बूत और एकबद्ध हो सकती है। इसका अर्थ है पार्टी का नेतृत्व एक केन्द्र से होना और वह केन्द्र है पार्टी कांग्रेस और पार्टी कांग्रेसों के बीच की अवधि में केन्द्रीय समिति। इसका अर्थ अल्पमत का बहुमत की और नीचे के संगठनों का ऊपर के संगठनों की कड़ी मातहती में काम करना भी है। लेनिन ने लिखा कि "केन्द्रीय संस्थाओं का संचालन स्वीकार करने से इनकार करने का मतलब है पार्टी में रहने से इनकार कर देना, उसका मतलब है पार्टी में फूट डालना ..."

पार्टी के ग़ैरक़ानूनी अस्तित्व की दशा में उसके संगठनों का आधार चुनाव के उसूलों पर नहीं क़ायम किया जा सकता। फिर भी लेनिन का विश्वास था कि क़ानूनी हो जाने पर पार्टी जनवादी केन्द्रीयतावाद के उसूलों को पूरी तरह लागू करेगी।

मार्क्सवादी पार्टी मज़दूर वर्ग के करोड़ों लोगों और उसके हरावल दस्ते के आपसी सम्बन्धों का मूर्त-रूप है। यदि पार्टी अन्दरूनी जनवाद और आत्म-आलोचना के विरुद्ध नहीं है तो वह और अधिक मज़बूत होती है और जनता के साथ उसके संबन्ध दोबाला होते हैं। लेनिन ने लिखा कि पार्टी के लिए "आत्म-आलोचना और अपनी ख़ामियों का ख़ुद निर्ममतापूर्वक भंडाफोड़ करने का काम ..." ज़रूरी था। लेनिन ने बताया कि मार्क्सवादी पार्टी सर्वहारा के वर्ग-संगठन का सबसे ऊंचा रूप है, जो मज़दूर वर्ग के अन्य सभी संगठनों के नेतृत्व को सुनिश्चित करती है। पार्टी ज़मींदारशाही और पूंजीशाही को ख़त्म करने तथा नया समाजवादी समाज क़ायम करने के एकमात्र लक्ष्य की ओर

उनकी सरगर्मी का निर्देशन करती है। ये ही सारे उसूल एक नये ढंग की पार्टी--बोल्शेविक पार्टी — के संगठनात्मक आधार बने।

'एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे' नामक कृति ने मार्क्सवाद के इतिहास में पहली बार संगठनात्मक प्रश्नों में अवसरवादिता की व्यापक आलोचना की और उस विशेष ख़तरे को बताया जो मज़दूर आन्दोलन के लिए संगठन के महत्व को तुच्छ ठहराने से पैदा होता है। बहुत सारी तथ्यगत सामग्री का विश्लेषण करके लेनिन ने रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में हुए पार्टी के अन्दरूनी संघर्ष की एक तस्वीर खींची। उसमें उन्होंने दिखलाया कि किस प्रकार अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों पर होनेवाली बहसों के सिलसिले में एक एक प्रतिनिधि की स्थिति स्पष्ट रूप से प्रगट हुई, किस प्रकार मुख्य दल बने और परस्पर-विरोधी शक्तियों की मोर्चाबन्दी अधिकाधिक स्पष्ट हुई। लेनिन ने इस बात की व्याख्या की कि पार्टी-सदस्यता से सम्बन्धित पार्टी नियमावली की पहली धारा की स्थापना को लेकर कांग्रेस के क्रान्तिकारी और अवसरवादी हिस्सों के बीच जो संघर्ष हुआ उसमें क्या चीज़ दांव पर लगी हुई थी। उक्त पहली धारा में की गई लेनिन की स्थापना के फलस्वरूप सर्वहारा वर्ग की जो पार्टी बनती वह एकस्तरी चट्टान की तरह ठोस, दृढ़ता के साथ संगठित और अनुशासित होती; किन्तु उन उसूलों के ख़िलाफ़ मेन्शेविकों ने एक बिखरी हुई, विशिष्टताहीन और विजातीय तत्वों से बनी निम्न-पूंजीवादी वर्ग की पार्टी के उसूल पेश किये। नियमावली की पहली धारा पर बहस के दौरान में मेन्शेविकों ने जो स्थिति अपनाई उसके साथ संगठनात्मक प्रश्नों के बारे में उनके सम्पूर्ण अवसरवादी दृष्टिकोण का सम्बन्ध दर्शाते हुए लेनिन ने नतीजा निकाला कि बोल्शेविक लोग पार्टी के क्रान्तिकारी पक्ष और मेन्शेविक उसके अवसरवादी पक्ष थे। उन्होंने लिखा, "बहुमत और अल्पमत में बंट जाना सामाजिक-जनवादियों के क्रांतिकारी पक्ष और अवसरवादी पक्ष में, पर्वत-दल और जिरौंद-दल में बंट जाने के क्रम की एक प्रत्यक्ष तथा अनिवार्य कड़ी है, ऐसा नहीं है कि यह विभाजन कोई कल ही पैदा हुआ हो, और न वह अकेले रूसी मज़दूरों की पार्टी में पैदा हुआ है..." लेनिन ने स्पष्ट कर दिया कि मेन्शेविज़्म अन्तर्राष्ट्रीय अवसरवाद का ही एक रूप था।

'एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे' में लेनिन ने पार्टी-जीवन के कड़े

आदर्श-नियम स्थिर किये, जो कम्युनिस्ट पार्टी की सरगर्मी के क़ानून बन गये हैं।

पुस्तक के इस पहले खण्ड में लेनिन की विशिष्ट कृति 'जनवादी क्रान्ति में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियां' भी शामिल है, जिसे उन्होंने १६०५ की जून-जुलाई में लिखा था। इस कृति ने रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की तीसरी कांग्रेस के फ़ैसलों और क्रान्ति में पार्टी की रणनीति सम्बन्धी योजना तथा कार्यनीति सम्बन्धी रास्ते के लिए ठोस सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत किये। मार्क्सवाद के इतिहास में लेनिन ही पहले आदमी थे जिन्होंने साम्राज्यवाद के युग में पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति की विलक्षण रूपरेखा के प्रश्न का, उस क्रान्ति की प्रेरक शक्तियों और उसकी संभावनाओं का विशद विवेचन किया। सिद्धान्त, क्रान्ति में रणनीति और कार्यनीति के प्रश्नों पर मेन्शेविकों के मार्क्सवाद-विरोधी अवसरवादी तथा क्रान्ति को उदारपंथी पूंजीपति वर्ग के एकनायकत्व की ओर ले जानेवाले रवैये और क्रान्तिकारी कार्रवाई के बजाय तुच्छ सुधारों की कार्य-प्रणाली की आलोचना करके लेनिन ने उनके बखिये उधेड़ दिये।

साम्राज्यवाद के युग में पहली पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति के रूप में लेनिन ने रूसी क्रान्ति की विलक्षण रूपरेखा बताई, जिसमें सर्वहारा वर्ग और किसान मुख्य प्रेरक शक्ति थे। उन्होंने इस तत्व-विचार को गंभीर विद्वत्तापूर्वक प्रमाणित किया कि अग्रदली क्रान्तिकारी वर्ग होने के कारण सर्वहारा वर्ग ही पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति का नेता, उसका एकनायक हो सकता है और निश्चय ही होगा। सर्वहारा वर्ग ही प्रमुख और एकमात्र सुसंगत क्रान्तिकारी वर्ग है और उसकी अपनी राजनीतिक पार्टी है।

पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग की प्रमुख भूमिका के साथ मज़दूर वर्ग और किसानों की एकता तथा समाजवादी क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग के साथ ग़रीब किसानों और शहरों तथा देहातों की अर्द्ध-सर्वहारा जनता की एकता के प्रश्न का लेनिन ने विशद विवेचन किया।

लेनिन ने संघर्ष के उन सर्वहारा वर्गीय रूपों और साधनों की व्याख्या की जो क्रान्ति की विजय को सुनिश्चित करेंगे। वे ज़ारशाही को उलटने और एक जनवादी जनतंत्र क़ायम करने के लिए हथियारबन्द विद्रोह को निर्णायक साधन मानते थे। उन्होंने उस विद्रोह के लिए पूरी राजनीतिक और सैनिक

तैयारी की मांग की। पार्टी ने राजनीतिक नारे उठाये और उन नारों ने आम जनता की क्रान्तिकारी पहलक़दमी को प्रोत्साहित किया और उन्हें विद्रोह के लिए संगठित किया। वे नारे थे: आम राजनीतिक हड़तालों का संगठन करो; क्रान्तिकारी ढंग से आठ घंटे का दिन निश्चित कराओ; देहातों में जनवादी सुधारों को पूरा करने के लिए, जिनमें बड़े बड़े ज़मींदारों की ज़मीनों की ज़ब्ती भी शामिल है, क्रान्तिकारी किसान समितियां क़ायम करो; मज़दूरों को हथियारबन्द करो और क्रान्तिकारी फ़ौज बनाओ। पार्टी के इन नारों ने आम जनता को जत्थाबन्द करने और क्रान्ति की राजनीतिक सेना का निर्माण करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

एक अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार क़ायम करने की आवश्यकता पर तीसरी कांग्रेस के फ़ैसलों की व्याख्या करते हुए लेनिन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि उस सरकार को सर्वहारा वर्ग और किसानों के क्रान्तिकारी-जनवादी अधिनायकत्व के अतिरिक्त और कुछ नहीं होना चाहिए। अस्थायी क्रान्तिकारी सरकार के कार्य-भार होंगे—प्रतिक्रान्ति के प्रतिरोध को कुचलना, क्रान्तिकारी उपलब्धियों को सुदृढ़ बनाना और रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के न्यूनतम कार्यक्रम को पूरा करना जो आम जनता की आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करता है। लेनिन ने उस सरकार के सम्बन्ध में मज़दूर वर्ग की पार्टी के कार्य-भार की भी व्याख्या की। परिस्थितियां उपयुक्त हों, तो ऐसी सरकार में सामाजिक-जनवादियों के शरीक होने को लेनिन न केवल संभव बल्कि आवश्यक भी समझते थे।

'जनवादी क्रान्ति में सामाजिक-जनवाद की दो कार्यनीतियां' नामक पुस्तक में लेनिन ने अबाध क्रान्ति सम्बन्धी मार्क्स के तत्व-विचारों को फिर से स्थापित किया, जिन्हें दूसरी इन्टरनेशनल के अवसरवादियों ने भुला दिया था। लेनिन ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति का विकास समाजवादी क्रान्ति में होता है।

लेनिन ने लिखा कि "**सर्वहारा वर्ग को बलपूर्वक एकतंत्र के विरोध को कुचल देने के लिए और पूंजीपति वर्ग की अस्थिरता को निष्क्रिय कर देने के लिए अधिकांश किसानों को अपने साथ लेकर जनवादी क्रांति को पूर्ति तक पहुंचाना चाहिए। सर्वहारा वर्ग को बलपूर्वक पूंजीपति वर्ग के विरोध को कुचल देने के लिए और किसान वर्ग तथा निम्न-पूंजीपति वर्ग की अस्थिरता को निष्क्रिय**

कर देने के लिए जनसंख्या के अधिकांश अर्ध-सर्वहारा तत्वों को अपने साथ मिलाकर समाजवादी क्रांति को पूरा करना चाहिए।"

यह एक नया सिद्धान्त था जिसने रूसी मेन्शेविकों और पश्चिमी यूरोप के अवसरवादी सामाजिक-जनवादियों के विचारों के धुर्रे उड़ा दिये, जो सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व के तत्व-विचार, सर्वहारा वर्ग और किसानों की एकता की नीति और शहरी तथा देहाती अर्द्ध-सर्वहारा जनता की क्रान्तिकारी क्षमता को नहीं मानते थे और जिन्होंने पूंजीवादी-जनवादी तथा समाजवादी क्रान्ति के बीच चीन की दीवार खड़ी कर दी थी।

लेनिन के समाजवादी क्रान्ति के सिद्धान्त में, जिसे उन्होंने १९०५ में प्रतिपादित किया था, प्रायः वे सभी तत्व मौजूद थे जिनके आधार पर उन्होंने १९१५ में यह नतीजा निकाला कि समाजवाद की विजय सबसे पहले किसी अकेले पूंजीवादी देश में संभव हो सकती है।

पहली रूसी क्रान्ति ने यह साबित कर दिया कि बोल्शेविकों की रणनीति और कार्यनीति सही थीं। 'मास्को विद्रोह के सबक़' और '१९०५ की क्रान्ति पर भाषण' नामक लेखों में, जो इस खण्ड में शामिल किये गये हैं, लेनिन ने पहली रूसी क्रान्ति के क्रम-विकास का वर्णन किया है, उसके नतीजों का आकलन किया है, उसकी संभावनाओं की रूपरेखा पेश की है और उसकी विशेषताओं तथा उसके अनुभवों का एक गहरा और सर्वतोमुखी साधारणीकरण किया है। उन्होंने लिखा: "रूसी क्रांति की विशेषता ठीक इस बात में थी कि सामाजिक अन्तरस्थ की दृष्टि से वह **पूंजीवादी-जनवादी** क्रांति थी, किन्तु संघर्ष के साधनों की दृष्टि से **सर्वहारा** क्रांति थी।"

क्रान्ति के दौरान में आर्थिक और राजनीतिक हड़तालों के आपस में गुंथ जाने से आन्दोलन का दबाव बहुत बढ़ गया और यह साबित हो गया कि एक क्रान्तिकारी दौर में "सर्वहारा वर्ग साधारण शांतिमय समय की अपेक्षा **सौगुनी** लड़ाकू शक्ति का विकास कर **सकता है**"। रूसी क्रान्ति के समूचे विकास की अनिवार्य परिणति ज़ारशाही और मज़दूरों के बीच हथियारबन्द संघर्ष में हुई, सशस्त्र दिसम्बर-विद्रोह में हुई।

१९०५-१९०७ की क्रान्ति के सम्बन्ध में लिखी गई अपनी कृतियों में लेनिन ने उसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्व पर प्रकाश डाला। उस क्रान्ति ने एशिया में क्रान्तिकारी

आन्दोलन को जन्म दिया – उसने तुर्की, ईरान और चीन की क्रान्तियों को जन्म दिया। लेनिन ने पहली रूसी क्रान्ति को आगामी सर्वहारा क्रान्ति की प्रस्तावना कहा था।

१६०५ की क्रान्ति की पराजय से प्रतिक्रान्ति का एक तूफ़ान उमड़ पड़ा। विज्ञान में, दर्शन में, कला में, यानी जीवन के हर क्षेत्र में प्रतिक्रिया का दौर-दौरा था, बुद्धिजीवियों में प्रतिक्रान्तिवादी मनःस्थिति, सिद्धान्त-त्यागी विचार, रहस्यवाद और धर्म का व्यापक प्रचार था। मेन्शेविकों ने लज्जास्पद ढंग से पार्टी के क्रान्तिकारी कार्यक्रम और क्रान्तिकारी नारों को त्याग दिया था। वे पार्टी को विसर्जित कर देने पर तुले हुए थे। किन्तु यह लेनिन का ही महान गुण था कि पार्टी के अस्तित्व के उस अत्यन्त कठिन और संकटपूर्ण दौर में भी उन्होंने सूक्ष्म-दर्शिता के साथ उसे आगे का रास्ता दिखाया। लेनिन ने विसर्जनवादियों, बहिष्कारवादियों, त्रोत्स्की-पंथियों और दूसरे अवसरवादियों के ख़िलाफ़ एक निर्मम संघर्ष चलाया। 'बढ़े चलो' नामक लेख में उस अवधि में पार्टी की सरगर्मियों की स्थिति, उसके कार्य-भार और उसकी कार्यनीति पर विस्तृत विचार किया गया है।

उस लेख में लेनिन ने पार्टी को हर तरह से सुदृढ़ बनाने के महत्व पर विशेष रूप से ज़ोर दिया और इस बात में अपना दृढ़ विश्वास प्रगट किया कि "जिस सामाजिक-जनवाद ने एक खुली क्रान्ति में यह सिद्ध कर दिया कि वह एक वर्ग की पार्टी है, जो हड़ताल में, १६०५ के विप्लव में और १६०६-१६०७ के चुनावों में लाखों का नेतृत्व करने में समर्थ हुई, वह आज भी एक वर्ग की पार्टी, आम जनता की पार्टी बनी रह सकेगी। वह एक ऐसा हरावल दस्ता बनी रह सकेगी जो कठिनतम घड़ी में भी बाक़ी फ़ौज से टूटकर अलग नहीं होगा, जो कठिन घड़ियों को काट लेने, अपनी सैन्य-पंक्तियों को पुनः व्यवस्थित करने और नित नये सैनिकों को प्रशिक्षित करने में फ़ौज की मदद कर सकेगा।"

बोल्शेविकों ने क्रान्तिकारी अनुभवों द्वारा सम्पन्न मार्क्सवादी सिद्धान्त के दृढ़ सैद्धांतिक आधार पर पार्टी को सुदृढ़ बनाया। प्रतिक्रिया के वर्षों में पार्टी के सैद्धान्तिक आधार और उसके क्रान्तिकारी विश्व-दृष्टिकोण में संशोधन करने के नाना प्रयत्नों के ख़िलाफ़ विचारवादी मोर्चे पर लड़ा जानेवाला संघर्ष ही आगे-आगे रहा।

१९०८ में लिखित 'पदार्थवाद और अनुभव-सिद्ध आलोचना' नामक अपनी शास्त्रीय कृति में लेनिन ने मार्क्सवादी दर्शन के ख़िलाफ़ पूंजीवादी सैद्धांन्तिकों और संशोधनवादियों के हमलों का मुंहतोड़ जवाब दिया। विस्तृत प्राकृतिक-वैज्ञानिक और ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर लेनिन ने यह दिखलाया कि केवल एक दर्शन, द्वन्द्वात्मक पदार्थवाद ही संसार का वैज्ञानिक चित्र पेश करता है। लेनिन ने प्राकृतिक विज्ञान की नवीनतम खोजों का मार्क्सवादी निष्कर्ष निकाला और मार्क्सवादी दार्शनिक पदार्थवाद की पुष्टि की और उसे आगे विकसित किया। उन्होंने इस मार्क्सवादी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण किया कि व्यवहार ही ज्ञान का आधार और सत्य की कसौटी है।

लेनिन ने मार्क्सवादी पदार्थवादी द्वन्द्ववाद का समर्थन और विकास किया, जो सर्वहारा वर्ग और उसकी पार्टी की क्रान्तिकारी सरगर्मी के लिए प्रमुख रूप से महत्वपूर्ण है।

लेनिन ने ऐतिहासिक पदार्थवाद का समर्थन और विकास किया जो सामाजिक विकास के नियमों का विज्ञान है। उन्होंने दर्शन के उसूलों का प्रतिपादन करते हुए बताया कि दर्शन अनिवार्यतः किसी न किसी पक्ष का समर्थन करता है और उन्होंने यह सिद्ध किया कि पार्टी की कार्य-प्रणाली और विश्व-दृष्टिकोण के बीच एक सीधा और तात्कालिक सम्बन्ध है। प्रतिक्रिया के दौर में लिखी गई लेनिन की दार्शनिक कृतियां मार्क्सवादी दर्शन के शत्रुओं के ख़िलाफ़ दृढ़ संघर्ष का उदाहरण हैं। वे लड़ाकू बोल्शेविक पक्ष-परायणता और मार्क्सवाद के समर्थन की मिसाल हैं। उन्होंने पार्टी के जीवन में पार्टी-सिद्धान्त के समर्थन और विकास के काम में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अप्रैल १९०८ के बीच में लेनिन ने 'मार्क्सवाद और संशोधनवाद' नामक अपना लेख प्रेस में छपने को भेजा, जो उन्हीं के शब्दों में संशोधनवाद के ख़िलाफ़ "औपचारिक युद्ध-घोषणा" का सूचक था। उसमें लेनिन ने दिखलाया कि मज़दूर आन्दोलन में मार्क्सवाद की विजय के साथ साथ किस प्रकार उसके शत्रुओं ने लड़ाई के अपने तरीक़े बदल दिये और मार्क्सवाद की आधारभूत स्थापनाओं को "सही करने" और उनमें "संशोधन करने" के बहाने उसके सिद्धान्त की जड़ खोदना शुरू कर दी। संशोधनवादियों ने मार्क्सवादी पदार्थवाद तथा द्वन्द्ववाद को और मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की बुनियादी स्थापनाओं को अस्वीकार किया। उन्होंने वर्ग-संघर्ष और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व

के तत्व-विचार का खुलकर विरोध किया और इस सूत्र को त्याग दिया कि समाजवाद मज़दूर आन्दोलन का अन्तिम लक्ष्य है। लेनिन ने बताया कि संशोधनवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय अनुलक्षण है जिसकी जड़ें पूंजीवादी समाज में गहराई तक घुसी हुई हैं और जिसके ख़िलाफ़ हमें निरन्तर तथा नियमपूर्वक लड़ना चाहिए। लेनिन को पूर्ण विश्वास था कि अन्ततोगत्वा संशोधनवाद पर मार्क्सवाद की पूर्ण विजय होगी। उन्होंने लिखा कि "उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में क्रान्तिकारी मार्क्सवाद ने संशोधनवाद के विरुद्ध सिद्धांतों के संबंध में जो संघर्ष किया वह सर्वहारा वर्ग की महान क्रान्तिकारी लड़ाइयों की भूमिका मात्र थी, जो टुटपुंजिया वर्ग की समस्त ढुलमुलयक़ीनियों तथा कमज़ोरियों के बावजूद अपने ध्येय की पूर्ण विजय के लिए आगे बढ़ रहा है"।

उस दौर में तथा उसके बाद वाले दौर में पार्टी की अमली सरगर्मियों और सैद्धान्तिक काम में जातीय प्रश्न का एक विशेष स्थान था। जातीय प्रश्न के सार और महत्व का स्पष्टीकरण लेनिन की कृति 'राष्ट्रों के आत्म-निर्णय का अधिकार' में हुआ है। जातीय दमन और एक जाति को दूसरी जाति से लड़ाने की कार्य-प्रणाली के ख़िलाफ़, उस कार्य-प्रणाली के ख़िलाफ़ जिसमें आम जनता की चेतना को राष्ट्रवाद और महान-शक्ति अंधराष्ट्रवाद के विष से विषाक्त किया जाता है, लेनिन ने वैज्ञानिक रूप से प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीयतावादी मांग पेश की कि जातियों में पूर्ण समानता होनी चाहिए और प्रत्येक जाति को अपने भाग्य-निर्णय का अधिकार होना चाहिए। साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष के संयुक्त मोर्चे में पीड़ित और उत्पीड़क दोनों ही जातियों की श्रमजीवी जनता की निकट एकता के महत्व को लेनिन ने व्यापक रूप से बतलाया। इस बात पर ज़ोर देते हुए कि राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार की मांग को कार्यक्रम में शामिल करना आवश्यक है, लेनिन ने समझाया कि हर राष्ट्र के इस अधिकार की स्वीकृति को किसी विशेष राष्ट्र के अलग होने की वांछनीयता के प्रश्न के साथ मिलाकर उलझाव नहीं पैदा करना चाहिए, क्योंकि इस प्रश्न को सर्वहारा वर्ग और श्रमजीवी जनता के हित में ठोस रूप से जांचना और हल करना होगा। "सभी राष्ट्रों के अधिकारों में पूर्ण समानता; राष्ट्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार; सभी राष्ट्रों के मज़दूरों को एकबद्ध करना—यही वह राष्ट्रीय कार्यक्रम है जिसकी शिक्षा मार्क्सवाद, सारी दुनिया का अनुभव और ख़ुद रूस का अनुभव मज़दूरों को देता है।" जातीय प्रश्न सम्बन्धी

लेनिन के कार्यक्रम और पार्टी की राजनीति ने पीड़ित लोगों को इस बात का विश्वास दिलाया कि केवल बोल्शेविक ही उनके हितों तथा अधिकारों के सच्चे समर्थक हैं।

बोल्शेविक पार्टी अपनी समूची क्रान्तिकारी और यथार्थतः अन्तर्राष्ट्रीयतावादी सरगर्मियों के ज़रिए प्रथम विश्व-युद्ध की कठोर परीक्षाओं के लिए तैयार थी। पुस्तक के इस खण्ड में प्रकाशित लेनिन की बहुत सी कृतियां प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के काल में लिखी गयीं। उनमें लेनिन ने अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर आन्दोलन की उन नयी अवस्थाओं का वर्णन किया है, जो युद्ध छिड़ने और दूसरी इन्टरनेशनल के नेताओं तथा पश्चिम-यूरोपीय समाजवादी पार्टियों के विश्वासघात के कारण पैदा हुई थीं। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केन्द्रीय समिति के घोषणापत्र 'युद्ध और रूसी सामाजिक-जनवाद' में लेनिन ने उस युद्ध को दोनों ही साम्राज्यवादी गुटों के पक्ष में साम्राज्यवादी और लुटेरेपन का युद्ध ठहराया। लेनिन ने बताया कि बाज़ारों के लिए, उपनिवेशों के पुनर्विभाजन के लिए और विदेशों की लूट के लिए साम्राज्यवादी शक्तियों का संघर्ष, तथा सर्वहारा वर्ग और जनवाद के क्रान्तिकारी आन्दोलन के दमन एवं एक देश की श्रमजीवी जनता को दूसरे देश की श्रमजीवी जनता के ख़िलाफ़ लड़ाना ही युद्ध का लक्ष्य था। लेनिन ने नारा दिया कि साम्राज्यवादी युद्ध को गृह-युद्ध में बदल दो। उन्होंने दूसरी इन्टरनेशनल के नेताओं द्वारा सर्वहारा वर्ग के हेतु और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के महान उसूलों के प्रति विश्वासघात की निन्दा की और सामाजिक-अंधराष्ट्रवाद तथा मध्यवाद के ख़िलाफ़ निर्मम लड़ाई की घोषणा कर दी।

लेनिन ने 'महान रूसियों का राष्ट्रीय गर्व' नामक अपना लेख दिसम्बर १९१४ में लिखा था, जब कि अंधराष्ट्रवाद का एक तूफ़ान उठा हुआ था। उन्होंने पूंजीवादियों और अवसरवादियों की देशभक्ति, "मातृभूमि के प्रेम", "पितृभूमि की रक्षा" आदि पाखण्डपूर्ण बातों की असलियत खोलकर रख दी। उन्होंने सच्ची सर्वहारा देशभक्ति का तत्व-निरूपण किया। "क्या हम महान रूसी, वर्ग-चेतन सर्वहारागण, राष्ट्रीय गर्व की भावना से अपरिचित हैं? कदापि नहीं! हम अपनी भाषा और अपने देश से प्रेम करते हैं, हम **उसकी** श्रमिक जनता को (अर्थात् **उसकी** आबादी के नब्बे प्रतिशत भाग को) जनवादियों और समाजवादियों के सचेतन जीवन के स्तर तक ऊंचा उठाने के लिए औरों से ज़्यादा काम कर रहे हैं।"

उन्होंने सर्वहारा देशभक्ति और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के अभिन्न सम्बन्ध पर ज़ोर दिया। "महान रूसियों के राष्ट्रीय गर्व के हित (दासों वाले अर्थ में नहीं) और महान रूसी (और अन्य सभी) सर्वहारागण के **समाजवादी** हित बिल्कुल एक ही हैं।"

लेनिन को इस बात का गर्व था कि मानव-जाति की मुक्ति के संघर्ष में रूसी मज़दूर वर्ग को विशिष्ट भूमिका अदा करना थी। उन्हें उस महान रूसी जनता का प्रतिनिधि होने का गर्व था, जिसने देश के मुक्ति-संघर्ष और आज़ादी तथा समाजवाद के लिए क्रान्तिकारी संघर्ष में अभूतपूर्व वीरता, साहस एवं दृढ़ता का परिचय दिया और जिसने विज्ञान तथा संस्कृति की शानदार उपलब्धियों द्वारा मानव-जाति को समृद्ध बनाया।

१९१४-१७ की अवधि में लिखी गई लेनिन की कृतियों ने साम्राज्यवादी युद्ध की अवस्था में सर्वहारा वर्ग की रणनीति और कार्यनीति के प्रश्नों का स्पष्टीकरण किया। साम्राज्यवादी युद्ध के ख़िलाफ़ संघर्ष के सही नारे केवल बोल्शेविक पार्टी ने ही दिये। पार्टी ने मार्क्सवाद का विकास किया, उसने उसे लेनिन की साम्राज्यवाद सम्बन्धी शिक्षा, समाजवादी क्रान्ति के नये सिद्धान्त और अकेले एक देश में भी समाजवाद की विजय की संभावना के सिद्धान्त से सम्पन्न बनाया। 'यूरोप के संयुक्त राज्य का नारा' और 'सर्वहारा क्रान्ति का युद्ध सम्बन्धी कार्यक्रम' नामक लेखों में लेनिन ने अपने द्वारा उद्घाटित पूंजीवाद के असमान विकास के नियम के आधार पर यह महान निष्कर्ष निकाला कि पहले पहल समाजवाद की विजय अनेक पूंजीवादी देशों अथवा अकेले एक पूंजीवादी देश में भी संभव है। लेनिन ने लिखा, "असमान आर्थिक तथा राजनीतिक विकास पूंजीवाद का अटल नियम है। इसलिए पहले समाजवाद की विजय कई पूंजीवादी देशों में या अकेले एक पूंजीवादी देश में भी संभव है।"

यह युग के सबसे बड़े तथ्य का उद्घाटन था जो कम्युनिस्ट पार्टी की कुल सरगर्मी और समाजवादी क्रान्ति की विजय तथा सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण के लिए उसके संघर्ष का पथप्रदर्शक उसूल बन गया।

एक देश में समाजवाद की विजय की संभावना से सम्बन्धित लेनिन के सिद्धांत ने सर्वहारा वर्ग के सामने संघर्ष की एक स्पष्ट अनुदृष्टि उपस्थित की। उसने राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग पर आक्रमण के लिए प्रत्येक देश के सर्वहारा वर्ग की शक्ति और

पहलक़दमी को आज़ाद किया। उसने पार्टी और मज़दूर वर्ग को अंतिम विजय का विश्वास प्रदान किया, जो वैज्ञानिक आधार पर स्थित था।

१९१६ की गर्मियों में लिखित 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था' में इस सिद्धांत का व्यापक प्रतिपादन हुआ। लेनिन की यह कृति मार्क्स द्वारा लिखित 'पूंजी' के सिलसिले की कड़ी और उसका विकास थी। वह मार्क्सवाद-लेनिनवाद के सैद्धान्तिक कोष को अत्यन्त मूल्यवान देन थी। 'पूंजी' के प्रकाशन के बाद के पचास वर्ष में जो विस्तृत ऐतिहासिक सामग्री जमा हो गई थी, उसके मार्क्सवादी विश्लेषण और वैज्ञानिक साधारणीकरण द्वारा लेनिन ने यह निष्कर्ष निकाला कि पूंजीवाद अपने विकास की सबसे ऊंची और आख़िरी मंज़िल, साम्राज्यवाद की मंज़िल, पर पहुंच गया है। लेनिन ने स्पष्ट कर दिया कि साम्राज्यवाद का सार-तत्व इजारेदार पूंजीवाद है, और उन्होंने उसकी चारित्रिक रूपरेखा निर्धारित की: उत्पादन और इजारेदारियों का केन्द्रीकरण; बैंकों की बढ़ी हुई भूमिका, बैंक-पूंजी का उद्योग के साथ एकीकरण और वित्तीय अल्पतन्त्र का उत्थान; पूंजी का निर्यात; पूंजीशाही व्यवसाय संघों के बीच दुनिया का बंटवारा; और महान शक्तियों के बीच दुनिया का बंटवारा। साम्राज्यवादी युग की आर्थिक तथा राजनीतिक प्रवृत्तियों के गहन विश्लेषण के आधार पर लेनिन ने पूंजीवाद के प्रमुख अन्तर्विरोधों और साम्राज्यवाद में उनकी अनिवार्य तीव्रता को उजागर किया तथा इस बुनियादी स्थापना को व्यापक रूप से प्रतिपादित किया कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद के विकास की आख़िरी मंज़िल है, वह समाजवादी क्रान्ति की पूर्वा है।

समाजवादी क्रान्ति के सम्बन्ध में लेनिन के सिद्धान्त की महान शक्ति और सप्राणता रूस, चीन तथा यूरोप और एशिया के उन देशों की सर्वहारा क्रान्तियों द्वारा व्यवहारतः सिद्ध हो चुकी है जो आज विश्व समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत हैं।

'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था' में लेनिन ने काउत्स्की और दूसरे अवसरवादियों के वकीलाना तर्क की ध्वंसकारी आलोचना की, जो साम्राज्यवाद के अन्तर्विरोधों की गंभीरता पर पर्दा डालते थे और उसके द्वारा पैदा होनेवाले क्रान्तिकारी संकट की अनिवार्यता को अस्वीकार करते थे। लेनिन ने काउत्स्की के "अति-साम्राज्यवाद" वाले मार्क्सवाद-विरोधी सिद्धान्त को पूरी तरह बेपर्द करके

रख दिया। उस सिद्धान्त के अनुसार साम्राज्यवाद एक संगठित पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की ओर बढ़ रहा है, जो समस्त अन्तर्विरोधों, संकटों और युद्धों का अन्त कर देगी। लेनिन ने लिखा: "अंग्रेज़ पादरियों या भावुक काउत्स्की की सदिच्छाएं कुछ भी रही हों पर काउत्स्की के 'सिद्धांत' का जो एकमात्र वस्तुगत, अर्थात्, असली सामाजिक महत्व हो सकता है वह यह है कि वह आम जनता का ध्यान वर्तमान युग के तीव्र विरोधों तथा उग्र समस्याओं की ओर से हटाकर तथा उसे भविष्य में आनेवाले कल्पित 'अति-साम्राज्यवाद' की भ्रममूलक संभावना की ओर निर्देशित करके उसे पूंजीवाद के अंतरगत स्थायी शांति के संभव होने की आशाओं से सांत्वना देने का एक अत्यंत प्रतिक्रियावादी तरीक़ा है। जनता को धोखा देना—काउत्स्की के 'मार्क्सवादी' सिद्धांत में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है।"

लेनिन की कृति 'साम्राज्यवाद, पूंजीवाद की चरम अवस्था' क्रान्तिकारी मार्क्सवाद का एक युद्धोपयोगी हथियार है। उससे कम्युनिस्ट और मज़दूर पार्टियों को साम्राज्यवादी प्रतिक्रिया के विचारवाद और आधुनिक सुधारवाद तथा संशोधनवाद की समस्त अभिव्यक्तियों के ख़िलाफ़ संघर्ष करने में मदद मिलती है।

मार्क्सवाद-लेनिनवाद एक अमर और निरन्तर विकासमान सिद्धान्त है। सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी तथा बिरादराना कम्युनिस्ट और मज़दूर पार्टियों के निर्णयों में उसका और अधिक विकास किया जा रहा है।

यह महान सर्व-जयी सिद्धान्त मज़दूर और कम्युनिस्ट आन्दोलन के अनुभवों तथा सोवियत संघ में कम्युनिज़्म और जनवादी जनतंत्रों में समाजवाद के निर्माण के अनुभवों द्वारा नित्यशः सम्पन्न हो रहा है। सारे संसार में मार्क्सवाद-लेनिनवाद की विजय अनिवार्य है, क्योंकि वह इतिहास के नियम-शासित विकास को प्रतिबिम्बित करता है और उस उज्ज्वल भविष्य का संदेशवाहक है जिसे मानव-जाति अन्ततः प्राप्त करेगी।

सो० सं० की कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति का मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान

राजनीतिक साहित्य का राजकीय प्रकाशन गृह

कार्ल मार्क्स[1]

(मार्क्सवाद की व्याख्या सहित, एक संक्षिप्त जीवनी)

भूमिका

कार्ल मार्क्स संबंधी मेरा जो लेख इस समय अलग से प्रकाशित हो रहा है, जहां तक मुझे याद है, मैंने उसे १९१३ में ग्रानात विश्वकोष के लिए लिखा था, और मार्क्स से संबंध रखनेवाली पुस्तकों की एक लम्बी सूची लेख के अंत में जोड़ दी थी जिसमें अधिकांश पुस्तकें विदेशी थीं। प्रस्तुत संस्करण में वह सूची छोड़ दी गई है। विश्वकोष के सम्पादकों ने सेंसर की सीमाओं के कारण लेख के अन्त का वह हिस्सा काट दिया था जिसमें मार्क्स की क्रांतिकारी कार्यनीति की व्याख्या थी। दुर्भाग्यवश, मैं वह हिस्सा यहां दुबारा दे सकने की स्थिति में नहीं हूं, क्योंकि लेख की पहिली प्रति मेरे कागज़ों में कहीं क्रैको या स्विट्ज़रलैंड में रह गयी है। मुझे केवल इतना याद है कि लेख के इस अन्तिम भाग में, बाकी चीज़ों के साथ मैंने मार्क्स के एक पत्र में से—जो उन्होंने एंगेल्स को १६ अप्रैल १८५६ को लिखा था—एक उद्धरण दिया था, जिसमें उन्होंने कहा था: "किसी दूसरे कृषक-युद्ध द्वारा सर्वहारा क्रान्ति के समर्थन किये जाने की संभावना पर ही जर्मनी में सब कुछ निर्भर है। तब सब बात ठीक बैठेगी।" यह बात है जो हमारे मेन्शेविक—जो अब इस क़दर गिर गये हैं कि समाजवाद से ग़द्दारी पर उतर आये हैं और भाग कर पूंजीवादियों से जा मिले हैं—१९०५ में भी नहीं समझ पाये और न ही उसके बाद ही।

न० लेनिन

मास्को, १४ मई, १९१८

१९१८ में न० लेनिन, 'कार्ल मार्क्स' नामक पुस्तिका में प्रकाशित, 'प्रिबोई' प्रकाशन गृह, मास्को

व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड २१, पृष्ठ २९

कार्ल मार्क्स का जन्म ५ मई, १८१८ को त्रियेर नगर (प्रशा के राइन प्रान्त) में हुआ था। उनके पिता एक यहूदी वकील थे जिन्होंने १८२४ में प्रोटेस्टेंट मत अंगीकार किया था। यह परिवार समृद्ध और सुसंस्कृत था, परन्तु क्रान्तिकारी नहीं था। त्रियेर की उच्च पाठशाला (जिम्नेज़ियम) में शिक्षा पाने के बाद, मार्क्स पहले बोन, फिर बर्लिन विश्वविद्यालय में भर्ती हुए। वहां वह क़ानून पढ़ते थे, और मुख्यतः इतिहास और दर्शन का अध्ययन करते थे। १८४१ में विश्वविद्यालय की शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने डाक्टरेट के लिए एपीक्यूरस के दर्शन पर अपना थीसिस पेश किया। इस समय तक मार्क्स हेगेल के आदर्शवाद को माननेवालों में से थे। बर्लिन में वह ब्रूनो बावेर आदि "वामपंथी हेगेलवादियों"[2] में से थे, जो हेगेल के दर्शन से नास्तिक और क्रान्तिकारी निष्कर्ष निकालना चाहते थे।

विश्वविद्यालय से डिग्री लेने के बाद मार्क्स प्रोफ़ेसर बनने की आशा से बोन चले गये। परन्तु सरकार की प्रतिक्रियावादी नीति ने मार्क्स को अध्यापन कार्य का विचार तजने के लिए बाध्य किया। इसी नीति से १८३२ में लुडविग फ़ायरबाख़ को प्रोफ़ेसरी से अलग किया गया था, १८३६ में फिर उनके अध्यापन पर रोक लगायी गयी थी, और १८४१ में नवयुवक प्रोफ़ेसर ब्रूनो बावेर को बोन में अध्यापन कार्य करने से रोका गया। इस समय जर्मनी में वामपंथी हेगेलवाद के विचार ज़ोर पकड़ रहे थे। लुडविग फ़ायरबाख़ विशेष रूप से १८३६ के बाद धर्मशास्त्रों की आलोचना करने लगे थे और पदार्थवाद की ओर मुड़ चले थे। १८४१ तक उनके विचारों में पदार्थवाद की प्रधानता हो गयी थी ('ईसाई धर्म का सार')। १८४३ में उनकी पुस्तक 'भावी दर्शन के सिद्धान्त' प्रकाशित हुई। फ़ायरबाख़ की इन कृतियों के बारे में एंगेल्स ने बाद में लिखा था–"इन

पुस्तकों ने जिस स्वाधीन चेतना को जन्म दिया था, वह एक अनुभव करने की वस्तु थी।" "हम" (मार्क्स समेत वामपंथी हेगेलवादी) "तुरन्त फ़ायरबाख़ के अनुयायी हो गये।" उस समय राइन प्रान्त के रहनेवाले मध्य-वर्ग के कुछेक आमूलवादियों ने, जिनका कई बातों में वामपंथी हेगेलवादियों से एकमत था, कोलोन में एक विरोधी पत्र 'राइनिशे त्साइटुङ' ('राइनी समाचारपत्र') निकाला (१ जनवरी १८४२)। मार्क्स और ब्रूनो बावेर को इसके प्रमुख लेखकों के रूप में बुलाया गया। अक्तूबर १८४२ में मार्क्स उसके प्रधान सम्पादक हो गये और बोन से कोलोन चले आये। मार्क्स के सम्पादन-काल में पत्र का रुझान अधिकाधिक क्रान्तिकारी-जनवादी होता गया, इसलिए सरकार ने पहले-पहल पत्र पर दोहरी और तेहरी सेन्सर बिठायी; फिर १ जनवरी १८४३ से उसे एकदम बन्द ही कर देने का निश्चय कर लिया। मार्क्स को उस तिथि से पहले ही अपना सम्पादन छोड़ना पड़ा। परन्तु उनके अलग होने से भी पत्र बच नहीं सका। मार्च १८४३ में वह ठप हो गया। 'राइनिशे त्साइटुङ' में प्रकाशित, मार्क्स के अधिक महत्वपूर्ण लेखों में से – उन लेखों के अतिरिक्त जिनका उल्लेख नीचे किया गया है (**'साहित्य'**[3] देखिये) – एंगेल्स ने एक और लेख की चर्चा की है जो मार्क्स ने मोज़ेल घाटी के शराब पैदा करनेवाले किसानों की स्थिति के बारे में लिखा था[4]। मार्क्स ने अपने पत्रकार-अनुभव से जान लिया कि अभी वह राजनीतिक अर्थशास्त्र से भली भांति परिचित नहीं हैं, इसलिए वह उसका अध्ययन करने में जुट गये।

१८४३ में मार्क्स ने क्रेयत्स्नाख में जेनी फ़ॉन वेस्टफ़ालेन से विवाह किया। जेनी उनकी बचपन की मित्र थीं, और मार्क्स जब विद्यार्थी थे, तभी उनसे बातचीत पक्की हो गयी थी। जेनी का जन्म प्रशा के अभिजातों के एक प्रतिक्रियावादी परिवार में हुआ था। १८५०-१८५८ के अत्यन्त प्रतिक्रियावादी काल में उनका बड़ा भाई प्रशा का गृह-मंत्री रहा था। १८४३ की शरद् में मार्क्स, एक आमूलवादी विचारों की पत्रिका निकालने के उद्देश्य से पेरिस आये। उनका साथ देनेवाले आर्नोल्ड रूगे थे (१८०२-१८८०; वामपंथी हेगेलवादी; १८२५ से १८३० तक जेल में; १८४८ के बाद राजनीतिक उत्प्रवासी; १८६६-१८७० के बाद बिस्मार्क के अनुयायी)। इस पत्रिका का, जिसका नाम 'जर्मन-फ़्रांसीसी वार्षिक' था, केवल एक ही अंक प्रकाशित हुआ। जर्मनी में गुप्त वितरण की कठिनाइयों और रूगे से मतभेद होने

के कारण उसे बन्द कर देना पड़ा। इस पत्रिका में प्रकाशित अपने लेखों में मार्क्स अभी से क्रान्तिकारी दिखायी देते हैं। वह "सभी बातों की निर्मम आलोचना" विशेषकर "शस्त्रास्त्रों की आलोचना", का समर्थन करते हैं और **जनता** और **सर्वहारा वर्ग** से अपील करते हैं।

सितम्बर १८४४ में एंगेल्स कुछ दिन के लिए पेरिस आये और तबसे मार्क्स के घनिष्ठ मित्र हो गये। पेरिस के क्रान्तिकारी गुटों से सक्रिय जीवन में दोनों ने प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया (यहां पर प्रूदों के सिद्धान्तों[5] का बोलबाला था; आगे चलकर १८४७ में मार्क्स ने 'दर्शनशास्त्र की निर्धनता' नाम की अपनी पुस्तक में उन सिद्धान्तों की बखिया उधेड़ दी)। निम्न-पूंजीवादी समाजवाद के विभिन्न सिद्धान्तों का डटकर खंडन करने के साथ-साथ उन्होंने क्रान्तिकारी **सर्वहारा-समाजवाद** या कम्युनिज़्म (मार्क्सिज़्म) के सिद्धान्तों और कार्यनीति की रूपरेखा निश्चित की। इस विषय की विशेष जानकारी के लिए, मार्क्स के इस काल के यानी १८४४-१८४८ के बीच के 'साहित्य' में दिये गये ग्रंथ देखिये। १८४५ में प्रशा की सरकार के आग्रह पर मार्क्स को एक खतरनाक क्रान्तिकारी क़रार देकर पेरिस से निकाल दिया गया। पेरिस से वह ब्रसेल्स आ गये। १८४७ के वसन्त में मार्क्स और एंगेल्स एक गुप्त प्रचार सभा 'कम्युनिस्ट लीग'[6] के सदस्य हो गये। उसकी दूसरी कांग्रेस में (लन्दन, नवम्बर, १८४७) उन्होंने विशेष भाग लिया, और उसी के अनुरोध पर उन्होंने अपना प्रसिद्ध 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' तैयार किया, जो फ़रवरी १८४८ में प्रकाशित हुआ। इस रचना में प्रतिभाशाली स्पष्टता और अनूठेपन से नया दृष्टिकोण हमारे सामने रखा गया है। इसमें पदार्थवाद का संगत रूप है जिसका प्रसार सामाजिक जीवन तक हुआ है। यह घोषित करता है कि द्वंद्ववाद विकास का सबसे व्यापक और आधारभूत सिद्धान्त है। इसने वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त और एक नये कम्युनिस्ट समाज के निर्माण में सर्वहारा वर्ग की विश्वव्यापी ऐतिहासिक क्रान्तिकारी भूमिका का प्रतिपादन किया।

जब १८४८ की फ़रवरी क्रान्ति शुरू हो गयी, तो मार्क्स बेलजियम से निकाल दिये गये। वह पेरिस लौट आये और मार्च की क्रान्ति के बाद वहां से जर्मनी में कोलोन चले गये। १ जून १८४८ से १९ मई १८४९ तक कोलोन में 'नोये राइनिशे त्साइटुङ'[7] निकलता रहा जिसके प्रधान सम्पादक मार्क्स थे। १८४८-१८४९ की

क्रान्तिकारी घटनाओं से नये सिद्धान्त की ज़ोरदार पुष्टि हुई जैसे कि बाद में भी संसार के सभी देशों के सर्वहारा और जनवादी आन्दोलनों से उसकी पुष्टि हुई है। जर्मनी में क्रान्तिविरोधी शक्तियों की जीत हुई और मार्क्स पर पहले मुकदमा चला दिया गया (९ फ़रवरी १८४९ को वह बरी कर दिये गये) और फिर १६ मई १८४९ को उन्हें जर्मनी से देशनिकाला दे दिया गया। वह पहले पेरिस गये, जहां से १३ जून १८४९ के जलूस के बाद, वह निकाल दिये गये। इसके बाद वह लन्दन चले गये और वहीं उन्होंने जीवन के शेष दिन बिताये।

मार्क्स-एंगेल्स के पत्र-व्यवहार से (१९१३ में प्रकाशित) मार्क्स के प्रवासी-जीवन की कठोरता पर प्रकाश पड़ता है। मार्क्स और उनके परिवार को दु:सह निर्धनता का सामना करना पड़ा। एंगेल्स ने आत्मत्याग करके मार्क्स की आर्थिक सहायता न की होती, तो न केवल वह 'पूंजी' को ही पूरा न कर पाते, वरन् अभावग्रस्त होकर वह निश्चय ही मर मिटते। इसके अलावा निम्न-पूंजीवादी और साधारणतः ग़ैर-सर्वहारा समाजवाद के प्रचलित सिद्धान्तों और प्रवृत्तियों ने मार्क्स को निरन्तर ही निर्ममता से लड़ते रहने पर बाध्य किया। कभी-कभी उन्हें भयानक और एकदम भद्दे व्यक्तिगत आक्षेपों का उत्तर («Herr Vogt»*) देना पड़ता था। प्रवासी राजनीतिक मण्डलों से दूर रहते हुए, मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र के अध्ययन को अपना अधिकांश समय देते हुए, कई ऐतिहासिक कृतियों में (**'साहित्य'** देखिये) अपने पदार्थवादी सिद्धान्त को विकसित किया। 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना' (१८५९) और 'पूंजी' (खंड १, १८६७) में मार्क्स ने इस विज्ञान में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। (आगे देखिये—'मार्क्स का **सिद्धान्त**')।

छठे दशक के अन्तिम वर्षों तथा सातवें दशक में जनवादी आन्दोलनों की लहर फिर उठने लगी, इससे मार्क्स फिर राजनीतिक कार्यक्षेत्र में उतर पड़े। २८ सितम्बर १८६४ को 'अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सभा'—वही प्रसिद्ध पहली इंटरनेशनल—की लन्दन में नींव डाली गयी। मार्क्स इस संगठन के प्राण थे। उसके पहले 'सम्भाषण' के लेखक वही थे और पचीसों प्रस्तावों, वक्तव्यों, घोषणापत्रों को उन्होंने ही लिखा था। मार्क्स ने विभिन्न देशों के मजदूर आन्दोलनों को एक किया; ग़ैर-सर्वहारा तथा मार्क्सवाद से पहले के समाजवाद के विभिन्न रूपों

---

* 'श्री फ़ोग्ट'।—सं०

को (मेज्जिनी, प्रूदों, बकूनिन, इंगलैण्ड में उदारवादी ट्रेड-यूनियन आन्दोलन, जर्मनी में लासाल का दक्षिणगामी ढुलमुलपन) संयुक्त कार्यवाही की लहर में परिणत करने की चेष्टा की। मार्क्स ने इन सभी मतों और धाराओं के सिद्धान्तों से लड़ाई की और इस प्रकार उन्होंने विभिन्न देशों में मजदूर वर्ग के सर्वहारा-संघर्ष की एक कार्यनीति निश्चित की। पेरिस कम्यून के पतन (१८७१) के बाद–जिसका विश्लेपण मार्क्स ने ('फ़्रांस में गृहयुद्ध' १८७१ में) ऐसी मर्मभेदी दृष्टि से, सुघरता से, औचित्य से और ऐसे **प्रभावशाली ढंग** और क्रान्तिकारी विश्लेपण से किया था–और बकूनिनवादियों[8] द्वारा इंटरनेशनल में फूट पैदा करने पर, उस संगठन के लिए यूरोप में रहना असम्भव हो गया। इंटरनेशनल की हेग कांग्रेस (१८७२) के बाद मार्क्स के आग्रह पर उसकी जेनरल परिषद को न्यूयार्क ले जाने का निश्चय किया गया। पहली इंटरनेशनल ने अपना ऐतिहासिक कार्य पूरा किया। उसके बाद एक ऐसा युग आया जिसमें संसार के सभी देशों में मज़दूर आन्दोलन की पहले से कहीं ज़्यादा बढ़ती हुई। इसी युग में आन्दोलन का प्रसार हुआ और उसकी परिधि **विस्तृत** हुई। अलग-अलग जातीय राज्यों के आधार पर **आम** समाजवादी मज़दूर पार्टियां बनीं।

इंटरनेशनल के लिए घोर परिश्रम करने से और उससे भी ज़्यादा अपने कठिन सैद्धान्तिक मनन, चिन्तन आदि के अथक परिश्रम के कारण मार्क्स का स्वास्थ्य गिरता चला गया। वह अपना राजनीतिक अर्थशास्त्र संबंधी कार्य करते रहे, **'पूंजी'** को समाप्त करने का प्रयत्न करते रहे, नयी-नयी बातों का पता लगाते रहे और कई भाषाएं (उदाहरण के लिए रूसी) सीखते रहे, परन्तु अस्वस्थ रहने के कारण वह **'पूंजी'** को पूरा न कर सके।

२ दिसम्बर १८८१ को उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। १४ मार्च १८८३ को आराम कुर्सी पर बैठे-बैठे मार्क्स ने भी सदा के लिए आंखें मूंद लीं। वह हाइगेट सीमेट्री लन्दन में अपनी पत्नी के साथ दफ़नाये गये। मार्क्स के बच्चों में से कुछ उनकी भयानक ग़रीबी की हालत में बचपन में ही लन्दन में मर गये। उनकी तीन बेटियों ने अंग्रेज़ी और फ़्रांसीसी समाजवादियों से शादी की। इन बेटियों के नाम हैं: एल्योनोरा एवेलिंग, लौरा लफ़ार्ग, जेनी लॉन्गे। जेनी लॉन्गे का बेटा फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी का सदस्य है।

मार्क्स का सिद्धान्त

मार्क्स के क्रमबद्ध विचारों और सिद्धान्तों का नाम **मार्क्सवाद** है। १९ वीं सदी की तीन सैद्धान्तिक धाराएं—जिनके प्रतिनिधि रूप में संसार के तीन उन्नत देश थे—जर्मनी का क्लासिकल दर्शन, इंगलैण्ड का क्लासिकल राजनीतिक अर्थशास्त्र और फ़्रान्स का समाजवाद, जिसके साथ वहां के क्रान्तिकारी सिद्धान्त भी मिले हुए थे—इन सबको आगे बढ़ाकर पूर्ण कर देनेवाली प्रतिभा मार्क्स की थी। मार्क्स के विचार कैसे संगत रूप से एक ही सूत्र में गुंथे हुए हैं, इस बात को उनके विरोधी भी स्वीकार करते हैं। इन विचारों का समष्टिरूप ही आधुनिक पदार्थवाद तथा आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद है, जो संसार के सभी सभ्य देशों के मज़दूर आन्दोलन का सैद्धान्तिक आधार और कार्यक्रम है। इसलिए यहां आवश्यक है कि मार्क्सवाद के मुख्य सार का याने मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों का विवेचन करने के पहले मार्क्स के दृष्टिकोण की रूपरेखा दे दी जाय।

दार्शनिक पदार्थवाद

१८४४-१८४५ से—जब मार्क्स की विचारधारा निश्चित हो गयी थी—वह एक पदार्थवादी, विशेषकर फ़ायरबाख़ के अनुयायी रहे। आगे चलकर भी उन्होंने देखा कि फ़ायरबाख़ की कमज़ोरी केवल यही है कि उनका पदार्थवाद काफ़ी संगत और व्यापक नहीं है। मार्क्स के लिए फ़ायरबाख़ की "युग-प्रवर्तक" और समस्त संसार के लिए ऐतिहासिक महत्ता इस बात में थी कि उन्होंने पूरी तरह से हेगेल के आदर्शवाद से नाता तोड़ लिया था। उनकी महत्ता उसी पदार्थवाद को घोषित करने में थी जिसे "१८ वीं सदी में भी, विशेषकर फ़्रान्स में, तत्कालीन राजनीतिक संस्थाओं, धर्म और धर्मशास्त्र से ही नहीं ... वरन् हर प्रकार के अतिभूतवाद (मेटा-फ़िज़िक्स)" ("स्वस्थ दर्शन" से भिन्न "उन्मत्त कल्पना की उड़ान" के अर्थ में) से लड़ना पड़ा था ('साहित्यिक विरासत' में 'पवित्र परिवार')। 'पूंजी' के प्रथम खंड के दूसरे संस्करण की भूमिका में मार्क्स ने लिखा था: "हेगेल के लिए मानव मस्तिष्क की चिन्तन-क्रिया जिसे वह विचार-तत्व का नाम देकर एक स्वतंत्र वस्तु मान लेते हैं, वास्तविक संसार का देमिऊर्ग (निर्माता, रचयिता)

है। इसके विपरीत, मेरे लिए विचार-तत्व मानव-मस्तिष्क द्वारा प्रतिबिम्बित, और चिन्तन के विभिन्न रूपों में परिवर्तित, बाह्य संसार को छोड़कर और कुछ नहीं।" मार्क्स के पदार्थवादी दर्शन के पूर्ण रूप से अनुकूल, और उसकी व्याख्या करते हुए, एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' में (जिसकी पाण्डुलिपि मार्क्स ने पढ़ी थी), लिखा था: "संसार की एकता उसके अस्तित्व में नहीं है। संसार की वास्तविक एकता उसकी भौतिकता में है... जो दर्शन और प्रकृति-विज्ञान के एक सुदीर्घ और कठिन विकास से सिद्ध होती है... गति पदार्थ के अस्तित्व का रूप है। कहीं भी पदार्थ का अस्तित्व गति के बिना नहीं रहा और न ही गति का पदार्थ के बिना, न ही ऐसा हो सकता है ... परन्तु यदि ... यह प्रश्न उठाया जाय कि विचार और चेतना क्या हैं और इनका उद्गम क्या है, तो यह प्रकट हो जाता है कि वे मानव-मस्तिष्क की उपज हैं और मनुष्य स्वयं प्रकृति की उपज है जिसका अमुक वातावरण में, और प्रकृति के साथ, विकास हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-मस्तिष्क की उपज अन्ततोगत्वा प्रकृति की ही उपज होने के कारण शेष प्रकृति का विरोध नहीं करती, वरन् उसके अनुरूप है।" "हेगेल आदर्शवादी थे, अर्थात् उनके लिए मस्तिष्क के विचार वास्तविक चीज़ों और प्रक्रियाओं के कमोबेश भाववाचक प्रतिबिम्ब नहीं थे (मूल में Abbilder—प्रतिच्छाया; कभी-कभी एंगेल्स "नक़ल" का उल्लेख करते हैं), वरन् इसके विपरीत, उनके लिए चीज़ें और उनका विकास, किसी उस विचार-तत्व के ही गोचर रूप थे, जिसका अस्तित्व इस संसार के पहले ही कहीं न कहीं अवश्य था।" अपनी पुस्तक 'लुडविग फ़ायरबाख़' में जिसमें फ़ायरबाख़ के दर्शन पर अपने और मार्क्स के मतों की वह व्याख्या करते हैं, और जिसे १८४४-१८४५ में हेगेल, फ़ायरबाख़ और इतिहास के पदार्थवादी दृष्टिकोण पर मार्क्स के साथ मिलकर लिखी हुई अपनी एक पुरानी पांडुलिपि को दोबारा पढ़ने के बाद उन्होंने प्रेस में दिया था—एंगेल्स ने लिखा था: "सभी तरह के दर्शनों का, विशेषकर आधुनिक दर्शन का मूल महाप्रश्न चित् और सत् (विचार और अस्तित्व), आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध पर है... कि इनमें मूल कौन है, आत्मा या प्रकृति... दार्शनिकों ने इसके जो उत्तर दिये, उनके अनुसार वे दो बड़े दलों में विभक्त हो गये। जो प्रकृति की अपेक्षा आत्मा को मूल स्वीकार करते थे और इसलिए अन्ततोगत्वा किसी न किसी रूप में संसार की सृष्टि को भी मानते थे ... वे आदर्शवादी दल में आ गये। दूसरे दार्शनिक जो प्रकृति को ही मूल स्वीकार

करते थे, वे पदार्थवाद की विभिन्न धाराओं में आ जाते हैं।" आदर्शवाद और पदार्थवाद की धारणाओं का और किसी तरह से (दार्शनिक अर्थ में) प्रयोग केवल भ्रम उत्पन्न करता है। मार्क्स ने न केवल आदर्शवाद को ही (जो किसी न किसी रूप में धर्म से बंधा ही रहता है) निश्चित रूप से रद्द किया, वरन् ह्यूम और कान्ट के मतों को भी अस्वीकार किया जो आजकल विशेष रूप से प्रचलित हैं। विभिन्न रूपों में अज्ञेयवाद, समीक्षावाद और निरीक्षणवाद[9]। उनका कहना था कि यह दर्शन आदर्शवाद को दी गयी "प्रतिक्रियावादी" रियायत से अधिक कुछ नहीं, बहुत से बहुत, यह "संसार के सामने पदार्थवाद को अस्वीकार करते हुए भी उसे लुक-छिपकर मान लेने का ढंग है"। इस संबंध में एंगेल्स और मार्क्स की उपरोक्त कृतियों के सिवा एंगेल्स के नाम मार्क्स का १२ दिसम्बर १८६८ का पत्र भी देखना चाहिए। इसमें मार्क्स ने प्रसिद्ध प्रकृतिवादी टी० हेक्सली की एक उक्ति का उल्लेख किया है जिसमें "उनका पदार्थवाद अधिक उभर कर आया है"। हेक्सली ने लिखा था: "जब तक हम वास्तव में देखने और सोचने की क्रियाएं करते हैं, तब तक हम संभवतः पदार्थवाद से बच नहीं सकते।" मार्क्स ने उनपर दोष लगाया है कि उन्होंने अज्ञेयवाद और ह्यूमवाद के लिए एक बार फिर नयी "राह" छोड़ दी थी। स्वतंत्रता और आवश्यकता के संबंध में मार्क्स का मत जानना हमारे लिए विशेषतया महत्वपूर्ण है। वह कहते हैं—"आवश्यकता वहीं तक अन्धी होती है जहां तक वह समझी नहीं जाती। स्वतंत्रता आवश्यकता का ज्ञान ही है।" (एंगेल्स: 'ड्यूहरिंग मत-खंडन')। इसका अर्थ है, प्रकृति की वस्तुगत नियमितता की और आवश्यकता के स्वतंत्रता में द्वंद्वात्मक रूपान्तर की स्वीकृति (उसी भांति जैसे अज्ञात किन्तु ज्ञेय "मूल वस्तु" का "प्रतीत वस्तु" के रूप में, "वस्तुसार" का "घटनाओं" के रूप में परिवर्तन का बोध)। मार्क्स और एंगेल्स ने "पुराने" पदार्थवाद के, जिसमें फ़ायरबाख़ का पदार्थवाद भी शामिल था, (बुख़नर, फ़ोग्ट और मोलेशौट के "भोंड़े" पदार्थवाद का कहना ही क्या!) ये मुख्य दोष बताये थे:—(१) यह "प्रधानतः यान्त्रिक" था और रसायन और जीवशास्त्र के नवीनतम विकास की ओर उसने ध्यान न दिया था (आजकल पदार्थ संबंधी विद्युत्-सिद्धान्त का उल्लेख करना भी आवश्यक होगा); (२) वह अनैतिहासिक और अ-द्वंद्वात्मक था (द्वंद्वात्मक-विरोधी होने से अतिभूत-वादी था) और सभी क्षेत्रों में संगत रूप से विकास के दृष्टिकोण का अनुसरण न

करता था; (३) वह "मनुष्य का सार" भाववाचक रूप से समझता था, उसे "सभी सामाजिक संबंधों" के "समन्वय" के रूप में न देखता था (जो निश्चित और स्थूल रूप से ऐतिहासिक हैं),—और इस प्रकार वह संसार की "व्याख्या करता था" जब कि प्रश्न उसे "बदलने" का था, अर्थात् "क्रान्तिकारी व्यवहारिक कार्यवाही" का महत्व उसने न समझा था।

द्वंद्ववाद

मार्क्स और एंगेल्स की दृष्टि में हेगेल का द्वंद्ववाद जर्मनी के क्लासिकल दर्शन की सबसे महत्वपूर्ण देन है। विकास का यह सिद्धान्त व्यापक, गंभीर और सबसे अधिक सारपूर्ण है। विकास और क्रमिक उन्नति के अन्य सभी सिद्धान्तों को वे एकांगी और छिछला मानते थे, जो प्रकृति और समाज के वास्तविक विकास-क्रम को विकृत और भ्रष्ट कर देते थे (यह विकास बहुत बार हठात्, क्रान्तियों और आकस्मिक विध्वंस द्वारा भी होता है)। "मार्क्स और मैं स्वयं, प्रायः एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने" (हेगेलवाद और आदर्शवाद के ध्वंस से) "सचेत द्वंद्ववाद की रक्षा करने और प्रकृति की पदार्थवादी धारणा के लिए उसका प्रयोग करने का उद्देश्य अपने सामने रखा।" "द्वंद्ववाद की कसौटी प्रकृति है और यह मानना होगा कि आधुनिक प्रकृति-विज्ञान ने इस कसौटी के लिए बहुत-सी सामग्री और दिन-पर-दिन बढ़नेवाली सामग्री दी है।" (रेडियम, एलेक्ट्रोन और तत्वों के रूपांतर की जानकारी के पहले यह लिखा गया था!)। "इस प्रकार प्रकृति-विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि अन्ततोगत्वा प्रकृति की क्रियाएं द्वंद्ववादी हैं, न कि अतिभूतवादी!"

एंगेल्स ने यह भी लिखा था: "जन-साधारण की चेतना में एक आधारभूत महान विचार ने इस प्रकार व्यापकता से घर कर लिया है—विशेषकर हेगेल के समय से—कि उसके बारे में शायद ही कभी कोई शंका उठाता हो। यह विचार इस प्रकार है: संसार को स्वतः प्रस्तुत पदार्थों का संगठन कहने से उसका बोध नहीं हो सकता; उसे प्रक्रियाओं का संगठन मानना चाहिए। इन प्रक्रियाओं में पदार्थ ऊपर से वैसे ही स्थायी जान पड़ते हैं जैसे मस्तिष्क के भीतर उनके मानसिक प्रतिबिम्ब, उनकी कल्पनाएं, परन्तु इन पदार्थों के आवागमन का एक अबाध

परिवर्तन-क्रम चला ही करता है। परन्तु इस आधारभूत विचार को शब्दों में स्वीकार कर लेना एक बात है और यथार्थ में, उसे अनुसंधान के सभी क्षेत्रों में सर्वांशतः लागू करना दूसरी बात है।" "द्वंद्वात्मक दर्शन के लिए कुछ भी अन्तिम, त्रिकाल-सत्य और पवित्र नहीं है। वह हर चीज़ में, और हर चीज़ की, अनित्यता का दर्शन कराता है। उसके सामने आवागमन के अबाध क्रम को छोड़कर, निम्न से ऊर्ध्व की ओर अविराम उन्नति को छोड़कर, कुछ भी चिरन्तन नहीं है। और द्वंद्वात्मक दर्शन अपने में चिन्तनशील मस्तिष्क में इस क्रम के प्रतिबिम्ब मात्र के सिवा कुछ नहीं है।" इस प्रकार मार्क्स के अनुसार द्वंद्ववाद "बाह्य संसार और मानवीय चिन्तन दोनों की ही गति के सामान्य नियमों का विज्ञान" है।

हेगेल के दर्शन के इस क्रान्तिकारी पहलू को मार्क्स ने अपनाया और उसे आगे बढ़ाया। द्वंद्वात्मक पदार्थवाद को "अब ऐसे दर्शन की ज़रूरत नहीं है जो दूसरे विज्ञानों से ऊपर हो"। पहले के दर्शन में अब "चिन्तन और उसके नियम—औपचारिक तर्कशास्त्र और द्वंद्ववाद" शेष रहे। मार्क्स द्वंद्ववाद का जो अर्थ लगाते थे और इसमें उनके विचार हेगेल से मिलते थे—उसमें वर्तमान बोध-सिद्धान्त भी आ जाता है। इसके अनुसार भी विषय-वस्तु पर वैसे ही विचार करना होगा—बोध के उद्‌गम और विकास का अज्ञान से ज्ञान की ओर संक्रमण का ऐतिहासिक अध्ययन करके उससे व्यापक परिणाम निकालना होगा।

वर्तमान काल में उन्नति और विकास की कल्पना प्रायः पूर्ण रूप से सामाजिक चेतना में घुस गयी है। परन्तु यह काम और तरह से हुआ है, हेगेल के दर्शन द्वारा नहीं। परन्तु हेगेल के दर्शन के आधार पर मार्क्स और एंगेल्स ने उसी कल्पना की जो व्याख्या की है, वह प्रचलित विकास-सिद्धान्त से अधिक व्यापक और गम्भीर है। विकास-क्रम में मालूम होता है कि पहले की मंज़िलें फिर लौट कर आ रही हैं परन्तु ये मंज़िलें एक दूसरे ढंग से, एक और ऊंचे स्तर पर आती हैं ("नास्ति का नास्ति"); यह विकास सीधी रेखा में न होकर शंखतुल्य आवर्तपूर्ण होता है;—यह विकास हठात्, क्रान्ति और विध्वंस द्वारा भी होता है;—"क्रमविकास में खंड"; मात्रा का गुण में परिवर्तन होता है;—किसी वस्तु, घटनाक्रम या समाज पर घात-प्रतिघात करनेवाली विभिन्न शक्तियों अथवा प्रवृत्तियों के अन्तर्विरोध तथा टकराव से विकास के लिए आन्तरिक प्रेरणा मिलती है; प्रत्येक घटनाक्रम के **सभी** अंगों में परस्पर निर्भरता, और इस प्रकार

निकटतम और अटूट सम्बद्धता होती है (इतिहास नित नये अंगों को प्रकट करता जाता है); इस सम्बद्धता से एकरूप, नियमचालित तथा विश्वव्यापी गतिक्रम संभव होता है—विकास के (साधारण द्वन्द्ववाद की तुलना में) सिद्धान्त के अधिक सम्पन्न द्वंद्ववाद की कुछ विशेषताएं हैं। (एंगेल्स के नाम मार्क्स का ८ जनवरी १८६८ का वह पत्र देखिये जिसमें वह स्टाइन के उस "निर्जीव त्रयवाद" की खिल्ली उड़ाते हैं, जिसे पदार्थवादी द्वंद्ववाद समझना मूर्खता है)।

इतिहास की पदार्थवादी धारणा

पुराने पदार्थवाद की असंगति, अपूर्णता और एकांगीपन का अनुभव करके मार्क्स को निश्चय हो गया कि "समाज-विज्ञान तथा उसके पदार्थवादी आधार में सामंजस्य स्थापित करना और उस आधार पर उसका पुनर्निर्माण करना" आवश्यक है। यदि साधारण रूप से पदार्थवाद के अनुसार चेतना अस्तित्व का परिणाम है, न कि उसके विपरीत, तो मनुष्य जाति के सामाजिक जीवन पर पदार्थवाद को लागू करने से यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि **सामाजिक** चेतना **सामाजिक** अस्तित्व का परिणाम है। 'पूंजी के प्रथम खंड में मार्क्स ने लिखा था: "प्रौद्योगिकी से पता चलता है कि प्रकृति से मनुष्य किस तरह व्यवहार करता है, वह उत्पादन-क्रम क्या है जिससे उसका जीवन-यापन होता है; और इसी से उस पद्धति का भी पता चलता है जिसके अनुसार मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध और तज्जनित मानसिक कल्पनाएं निर्मित होती हैं।" 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना' की भूमिका में मार्क्स ने मानव-समाज और उसके इतिहास पर लागू होनेवाले पदार्थवाद के आधारभूत सिद्धान्तों की सुसम्बद्ध व्याख्या की है। वह व्याख्या इस प्रकार है:

"मनुष्य जो सामाजिक उत्पादन करते हैं, उसमें वे ऐसे निश्चित संबंध स्थापित करते हैं जो अनिवार्य और उनकी इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। ये उत्पादन-सम्बन्ध भौतिक उत्पादक शक्तियों के विकास की एक निश्चित अवस्था के अनुकूल ही होते हैं।

"इन उत्पादन-सम्बन्धों का योग ही समाज का आर्थिक ढांचा है, वह असली नींव है, जिसपर राजनीति और क़ानून की भारी इमारत खड़ी होती

है; उसी ढांचे के अनुरूप सामाजिक चेतना के विभिन्न निश्चित रूप भी होते हैं। भौतिक जीवन में उत्पादन की पद्धति साधारण रूप से सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक जीवन-क्रम को निश्चित करती है। मनुष्य की चेतना अस्तित्व को निश्चित नहीं करती; इसके विपरीत उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को निश्चित करता है। अपने विकास की एक नियत अवस्था तक पहुंच जाने के बाद समाज के विद्यमान उत्पादन-सम्बन्धों से भौतिक उत्पादक शक्तियों की मुठभेड़ होती है, या—जोकि इस बात की केवल क़ानूनी अभिव्यक्ति है—सम्पत्ति के जिन संबंधों में पहले उन शक्तियों का विकास होता था, उनसे उनकी मुठभेड़ होती है। ये उत्पादन-संबंध उत्पादक शक्तियों के विकास के विभिन्न रूप न रहकर अब उनके बन्धन हो जाते हैं। इसके बाद सामाजिक क्रान्ति का युग आरंभ होता है। आर्थिक नींव बदलने से उसपर बनी हुई वह भारी-भरकम इमारत भी बहुत कुछ जल्दी ही बदल जाती है। इस तरह के परिवर्तनों पर विचार करते हुए एक भेद अवश्य समझ लेना चाहिए। एक तो उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियों में भौतिक परिवर्तन होता है जिसे हम प्रकृति-विज्ञान की सही नापतौल की तरह आंक सकते हैं। दूसरा परिवर्तन क़ानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक या दार्शनिक—संक्षेप में सैद्धान्तिक रूपों का होता है जिसमें मनुष्य संघर्ष के प्रति सचेत हो जाते हैं और निपटारे के लिए युद्ध करते हैं।

"किसी व्यक्ति के बारे में हम अपनी धारणा इस बात से नहीं बनाते कि वह अपने बारे में क्या सोचता है; इसी तरह परिवर्तन-युग को उसकी चेतना के बल पर हम नहीं परख सकते। इसके विपरीत इस चेतना की व्याख्या हम भौतिक जीवन के अन्तर्विरोधों के आधार पर करेंगे, उस विद्यमान संघर्ष के बल पर करेंगे जो समाज की उत्पादक शक्तियों और उत्पादन-संबंधों के बीच हो रहा है"... "मोटे तौर पर हम यह कह सकते हैं कि उत्पादन की एशियाई, प्राचीन, सामंतशाही और आधुनिक पूंजीवादी प्रणालियां समाज के आर्थिक संगठन के प्रगतिशील युग कही जा सकती हैं।" (एंगेल्स के नाम मार्क्स के ७ जुलाई १८६६ के पत्र में इस उक्ति की ओर ध्यान दीजिये: "हमारा सिद्धान्त है कि उत्पादन के साधनों द्वारा श्रम-संगठन निश्चित होता है।")

इतिहास की पदार्थवादी धारणा की खोज से, अथवा यह कहना अधिक उचित होगा कि सामाजिक घटनावली के क्षेत्र में पदार्थवाद के संगत प्रसार से, पहले के इतिहास के सिद्धान्तों के दो मुख्य दोष दूर हो गये। पहले के सिद्धान्त बहुत से बहुत, मनुष्यों के ऐतिहासिक क्रिया-कलाप की सैद्धान्तिक प्रेरणा की छान-बीन करते थे। इस सैद्धांतिक प्रेरणा के मूल स्रोत का पता लगाने की चेष्टा वे न करते थे; सामाजिक संबंधों की व्यवस्था के विकास में कौनसे वास्तविक नियम काम कर रहे हैं, उन्हें उन्होंने न समझा था। वे यह न देख सकते थे कि सामाजिक संबंधों के रूप भौतिक उत्पादन के स्तर पर निर्भर हैं। इसके सिवा, पहले के इतिहास-शास्त्र ने **जनता** की कार्यवाही को अपना विषय ही न बनाया था। इसके विपरीत ऐतिहासिक पदार्थवाद से यह पहली बार संभव हुआ कि जन-जीवन की सामाजिक परिस्थितियों और उन परिस्थितियों के परिवर्तन का हम वैज्ञानिक प्रामाणिकता से अध्ययन करें। मार्क्स से पहले का "समाज-विज्ञान" और इतिहास लेखन **अधिक से अधिक** जहां-तहां से अपरिपक्व सामग्री उठाकर रख देते थे, और ऐतिहासिक क्रम के कुछ एक पहलुओं का वर्णन कर देते थे। मार्क्सवाद ने विरोधी प्रवृत्तियों के **समन्वय** को लेकर उसकी छान-बीन की, समाज के विभिन्न **वर्गों** की उत्पादन-पद्धति और उनके जीवन-क्रम की ऐसी परिस्थितियों के रूप में उन प्रवृत्तियों का सार निकाला कि उनकी निश्चित शब्दों में व्याख्या हो सके। मार्क्सवाद ने कुछ "विशिष्ट" विचारों के चयन में या उनकी व्याख्या करने में निरंकुशता और व्यक्तिगत भावना को ठुकराया और दिखाया कि किस तरह निरपवाद रूप से सभी विभिन्न प्रवृत्तियों और विचारों का **उद्गम** उत्पादन की भौतिक शक्तियों की परिस्थितियों में है। मार्क्सवाद ने सामाजिक-आर्थिक संगठनों की उन्नति, विकास और ह्रास के क्रम के एक व्यापक और सर्वग्राही अध्ययन का मार्ग दिखाया। मनुष्य अपने इतिहास के विधायक हैं। परन्तु उनकी कार्य-प्रेरणा, अर्थात् जन-समूहों की कार्य-प्रेरणा को निश्चित करनेवाला कौन है? विरोधी विचारों और प्रयत्नों के संघर्ष का कारण क्या है? मानव-समाजों के सम्पूर्ण समूह में इन संघर्षों का पंजीभूत परिणाम क्या होता है? भौतिक जीवन के उत्पादन की वस्तुगत परिस्थितियां क्या हैं जो मनुष्य के सम्पूर्ण ऐतिहासिक क्रिया-कलाप का आधार बनती हैं? इन परिस्थितियों के विकास का नियम क्या है? इन सब बातों की ओर मार्क्स

ने ध्यान दिलाया और वह मार्ग दिखाया जिससे कि अपनी असीम विविधता और विरोध के होते हुए भी सूत्रबद्ध नियमित क्रम के रूप में इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन हो सके।

वर्ग-संघर्ष

किसी भी समाज में कुछ लोगों के प्रयत्न दूसरों के प्रयत्नों से टक्कर खाते हैं; सामाजिक जीवन अन्तर्विरोधों से पूर्ण है; इतिहास हमें जातियों और समाजों के संघर्ष का परिचय देता है और बताता है कि स्वयं प्रत्येक जाति और समाज के भीतर संघर्ष होता है; क्रान्ति और प्रतिक्रिया, शान्ति और युद्ध, गतिरोध और द्रुतविकास या ह्रास के युग आते-जाते रहते हैं, ये तथ्य सर्वविदित थे। मार्क्सवाद से इस प्रकटत: भूल-भुलैयां और शृंखलाहीनता में नियम का शासन खोज निकालने के लिए कुंजी मिल जाती है। यह कुंजी वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त है। किसी भी समाज या समाजों के समूह के सभी सदस्यों के प्रयत्नों के समन्वय के अध्ययन से ही इन प्रयत्नों के परिणाम की वैज्ञानिक व्याख्या हो सकती है। जिन **वर्गों** में समाज विभाजित होता है, उनकी जीवन-पद्धति और परिस्थितियों के भेद से विरोधी प्रयत्नों का उद्गम होता है। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में मार्क्स ने लिखा था, "अब तक के विद्यमान सब समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।" (एंगेल्स ने बाद में जोड़ दिया था– "आदिम जन-समुदाय को छोड़ कर।") "स्वतंत्र मनुष्य और दास, अभिजात-वर्ग और साधारण प्रजा (पेट्रीशियन और प्लेबियन), सामन्त और कम्मी (अर्ध-गुलाम), फ़ोरमैन और मज़दूर कारीगर, संक्षेप में पीड़क और पीड़ित के बीच, तीव्र संघर्ष चलता आया है। ये दोनों वर्ग, कभी छिपे कभी प्रकट, बराबर एक दूसरे से लड़ते रहे। इस लड़ाई के अन्तस्वरूप या तो समाज के सारे ढांचे के अन्दर आमूल क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता, या दोनों विरोधी वर्ग बर्बाद हो जाते ... सामन्ती समाज के ध्वंस से पैदा हुए आधुनिक पूंजीवादी-समाज ने वर्ग-विरोधों को ख़त्म नहीं कर दिया है। उसने केवल पुराने वर्गों के स्थान में नये वर्ग, पीड़न की नयी पद्धति, और संघर्ष के नये स्वरूप खड़े कर दिये हैं। हमारे अपने युग, पूंजीवादी युग की, दूसरे युगों की तुलना में बस यही विशेषता है कि इसने वर्ग-विरोधों को सरल बना दिया है। आज का समाज

अधिकाधिक दो महान विरोधी जमातों में, एक दूसरे के खिलाफ़ सीधे खड़े पूंजीपति और सर्वहारा, दो महान वर्गों में बंटता जा रहा है।" जब से फ़्रांस की महान क्रान्ति हुई है तब से यूरोप के इतिहास में हमें विभिन्न देशों के भीतरी घटना-चक्र में यही वर्ग-संघर्ष साफ़ साफ़ नज़र आ रहा है। फ़्रांस में राज-सत्ता की पुन:स्थापना[10] के काल में कुछ ऐसे इतिहासकार हो भी गये थे (त्येरीं, गिज़ो, मिन्ये, थियेर) जो घटनाक्रम का परिणाम निकालते हुए यह देखने के लिए बाध्य हुए कि फ़्रान्स के सम्पूर्ण इतिहास के समझने की कुंजी वर्ग-संघर्ष है। वर्तमान युग में, जब पूंजीवादी वर्ग की पूर्ण विजय हो गयी है, जिस युग में प्रतिनिधि-संस्थाएं हैं, विस्तृत मताधिकार है (सभी मनुष्यों के लिए नहीं है, तो भी), जनता तक पहुंचनेवाले सस्ते दैनिक हैं, मजदूरों और मालिकों आदि के शक्तिशाली और नित विस्तृत होनेवाले संगठन हैं, – इस युग में और भी स्पष्ट रूप से दिखायी देता है (यद्यपि कभी कभी बहुत ही एकांगी, "शान्तिपूर्ण", और "वैधानिक" रूप में) कि वर्ग-संघर्ष ही घटनाओं की मूल प्रेरणा है। मार्क्स के 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' के निम्नलिखित वाक्यों से पता चलेगा कि वर्तमान समाज में प्रत्येक वर्ग की स्थिति के वस्तुगत विश्लेषण में, और प्रत्येक वर्ग के विकास की दशा के विश्लेषण के लिए, मार्क्स सामाजिक विज्ञान से क्या चाहते थे: "पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध आज जितने वर्ग खड़े हैं उन सब में केवल सर्वहारा वर्ग ही वास्तविक रूप से क्रान्तिकारी है। दूसरे वर्ग आधुनिक उद्योग के सामने नष्ट-भ्रष्ट होकर आखिर में ख़तम हो जाते हैं। सर्वहारा वर्ग उसकी आवश्यक और ख़ास अपनी उपज है। निम्न मध्य-वर्ग के लोग: छोटे कारख़ानेदार, दूकानदार, दस्तकार, किसान, – ये सब अपने मध्यवर्गीय अस्तित्व को बचाये रखने के लिए पूंजीपति वर्ग के ख़िलाफ़ लड़ते हैं। इसलिए वे क्रान्तिकारी न होकर रूढ़िवादी होते हैं। बल्कि, इतना ही नहीं, वे प्रतिक्रियावादी हैं, क्योंकि वे इतिहास के पहियों को पीछे की ओर घुमाने की कोशिश करते हैं। अगर संयोग से वे क्रान्तिकारी होते हैं तो वह सिर्फ़ इस ख़याल से कि उन्हें सर्वहाराओं की श्रेणी में पहुंचना पड़ेगा, कि वे अपने वर्तमान हितों की नहीं, बल्कि भविष्य के स्वार्थों की रक्षा करते हैं और अपना दृष्टिकोण छोड़कर सर्वहारा वर्ग का दृष्टिकोण अपना लेते हैं।" मार्क्स ने कई ऐतिहासिक ग्रंथों में (**'साहित्य'** देखिये) पदार्थवादी इतिहास-लेखन की

गम्भीर और श्रेष्ठ मिसालें दीं। उन्होंने **प्रत्येक** वर्ग विशेष की स्थिति और कभी-कभी एक ही वर्ग के भीतर के विभिन्न गुटों या स्तरों का विश्लेषण किया और स्पष्ट रूप से दिखाया कि क्यों और कैसे "प्रत्येक वर्ग-संघर्ष राजनीतिक संघर्ष है"। ऊपर के उद्धरण से पता चलता है कि समूचे ऐतिहासिक विकास का परिणाम निश्चित करने के लिए मार्क्स सामाजिक सम्बन्धों के किस ताने-बाने और एक वर्ग से दूसरे वर्ग तक, भूतकाल से भविष्य तक के **संक्रमण** की अवस्थाओं का विश्लेषण करते हैं।

मार्क्स के आर्थिक सिद्धांतों द्वारा मार्क्सवाद का सबसे गंभीर, बहुमुखी और सर्वांगीण पुष्टीकरण तथा प्रयोग हुआ है।

मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्त

'पूंजी' के प्रथम खंड की भूमिका में मार्क्स ने लिखा था—"इस पुस्तक का अन्तिम ध्येय वर्तमान समाज" (अर्थात् पूंजीवादी, बुर्जुआ समाज) "की गति के आर्थिक नियम को प्रकट करना है।" किसी विशेष और ऐतिहासिक दृष्टि से निर्धारित समाज के उत्पादन-संबंधों की उत्पत्ति, विकास और ह्रास का अनुसंधान—यह है मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत का अन्तरस्थ। पूंजीवादी समाज की प्रमुख विशेषता **माल** तैयार करना है और इस कारण से मार्क्स का विश्लेषण माल की छान-बीन से शुरू होता है।

मूल्य

माल उसे कहते हैं जिससे मनुष्य की कोई ज़रूरत पूरी होती हो; इसके सिवा माल उसे कहते हैं जिसके बदले में कोई और चीज़ मिल सके। किसी वस्तु की उपयोगिता से वह **उपयोग-मूल्य** बनती है। विनिमय-मूल्य (अथवा केवल मूल्य) सबसे पहले एक अनुपात के रूप में आता है। यह अनुपात एक तरह के कुछ उपयोग-मूल्यों से दूसरी तरह के कुछ उपयोग-मूल्यों के विनिमय में होता है। दैनिक जीवन हमें बताता है कि इस तरह के लाखों-करोड़ों विनिमयों से तमाम तरह के उपयोग-मूल्य जो परस्पर भिन्न और एक दूसरे के समकक्ष नहीं हैं, सारा वक़्त एक दूसरे के बराबर कर दिये जाते हैं।

सामाजिक संबंधों की किसी निश्चित व्यवस्था में इन तरह-तरह की चीज़ों में समान वस्तु क्या है, जो बराबर एक दूसरे से नापी-तौली जाती हैं? उनमें समानता यह है कि वे **श्रम की उपज** हैं। इस तरह वस्तुओं का विनिमय करने में लोग अत्यंत विलग-विलग कोटि के श्रम का सन्तुलन करते हैं। मालों का उत्पादन सामाजिक संबंधों की ऐसी व्यवस्था है जिसमें विभिन्न उत्पादक विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन करते हैं (श्रम का सामाजिक विभाजन), और जिसमें इन सभी वस्तुओं को विनिमय में एक दूसरे के बराबर रखा जाता है। फलतः इन सभी मालों में जो तत्व समान रूप से है, वह उत्पादन के किसी निश्चित विभाग का ठोस श्रम नहीं है, न किसी विशेष प्रकार का श्रम है, वरन् **भाववाचक** मानव-श्रम है, साधारण रूप से मानव-श्रम। सभी मालों के संपूर्ण मूल्य के रूप में किसी भी समाज की सम्पूर्ण श्रम-शक्ति एक ही मानवीय श्रम-शक्ति है। विनिमय के लाखों-करोड़ों कार्यों से यह सिद्ध होता है। फलतः प्रत्येक माल श्रम के उस समय के एक अंश का ही प्रतिरूप है जो **सामाजिक दृष्टि से आवश्यक** होता है। किसी उपयोग-मूल्य के, या किसी माल के उत्पादन के लिए सामाजिक दृष्टि से श्रम का जो समय आवश्यक है, या सामाजिक दृष्टि से श्रम की जितनी मात्रा आवश्यक है, उसी से मूल्य की मात्रा आंकी जा सकती है। "जब भी विनिमय द्वारा मूल्यों के रूप में हम विभिन्न वस्तुओं का सन्तुलन करते हैं तब इस क्रिया से ही मानवीय श्रम के रूप में उन पर व्यय किये हुए विभिन्न प्रकार के श्रम का भी सन्तुलन करते हैं। हम इसके प्रति सजग नहीं होते, फिर भी उसे करते हैं।" जैसा कि पहले के एक अर्थशास्त्री ने कहा था, मूल्य दो व्यक्तियों के बीच का संबंध है; केवल उसे यह भी जोड़ देना चाहिए था कि यह संबंध एक भौतिक आवरण के भीतर है। मूल्य क्या है,—इसे हम तभी समझेंगे जब हम उसे किसी निश्चित ऐतिहासिक समाज में सामाजिक उत्पादन-संबंधों की व्यवस्था के दृष्टिकोण से देखें, और ऐसे उत्पादन-संबंधों की व्यवस्था के दृष्टिकोण से जो सामूहिक रूप में प्रकट होते हैं, जहां विनिमय-चक्र के लाखों-करोड़ों आवर्तन होते हैं। "मूल्यों के रूप में, सभी माल केवल जड़ीभूत श्रम-समय के निश्चित ढेर हैं।" मालों में निहित श्रम की दोहरी विशेषता का सांगोपांग विश्लेषण करके मार्क्स ने **मूल्य के स्वरूप और मुद्रा** का विश्लेषण किया है। यहां उनका मुख्य कार्य मूल्य के मुद्रा-रूप के **उद्गम** का

अध्ययन करना है; विनिमय के विकास के **ऐतिहासिक क्रम** का अध्ययन करना है। इस विकास-क्रम में सबसे पहले वह विनिमय के इक्का-दुक्का, अलग-अलग कार्यों को लेते हैं ("साधारण, विलग या आकस्मिक मूल्य-रूप", जिसमें किसी माल की एक मात्रा का दूसरे माल की एक निश्चित मात्रा से विनिमय किया जाता है)। इसके बाद वह मूल्य के सार्वजनीन रूप की ओर बढ़ते हैं, जिसमें कई भिन्न-भिन्न मालों का एक ही विशेष माल से विनिमय होता है। अंत में वह मूल्य के मुद्रा-रूप का विवेचन करते हैं जहां स्वर्ण ही यह विशेष माल और सार्वजनीन अनुरूप साधन बन जाता है। विनिमय के विकास और मालों के उत्पादन की उच्चतम उपज होने के कारण, मुद्रा सारे व्यक्तिगत श्रम की सामाजिकता पर पर्दा डालती है और उसे छिपाती है; वह विभिन्न उत्पादकों के सामाजिक बन्धन को छिपाती है जिन्हें बाज़ार एक-दूसरे से मिलाता है। मार्क्स ने मुद्रा की विभिन्न क्रियाओं का विस्तृत ढंग से विश्लेषण किया है। यहां विशेष रूप से इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है (और साधारणतः 'पूंजी' के आरम्भ के अध्यायों में) कि जो व्याख्या की भाववाचक और कभी-कभी केवल निष्कर्ष-प्रधान पद्धति मालूम होती है, वह वास्तव में विनिमय और मालों के उत्पादन के विकास के इतिहास के सम्बन्ध में तथ्य के विशाल संकलन का प्रतिरूप है। "यदि मुद्रा पर हम विचार करें, तो उसके अस्तित्व से मालों के विनिमय की एक निश्चित अवस्था लक्षित होती है। मुद्रा के जो विशेष उपयोग हैं चाहे मालों की बराबरी के धन के रूप में, चाहे प्रचलन के साधन के रूप में, अथवा भुगतान के लिए, चाहे जोड़े हुए धन के रूप में या सार्वजनीन मुद्रा के रूप में,—उन उपयोगों से एक न एक उपयोग के प्रसार की मात्रा और उसके न्यूनाधिक प्राधान्य के अनुरूप, सामाजिक उत्पादन-क्रम में बहुत ही भिन्न कोटि की अवस्थाओं का पता लगता है।" ('पूंजी', खंड १)

अतिरिक्त मूल्य

माल के उत्पादन में एक अवस्था ऐसी आती है जब मुद्रा पूंजी में बदल जाती है। माल के आदान-प्रदान का सूत्र था, माल—मुद्रा—माल, अर्थात् एक तरह का माल ख़रीदने के लिए दूसरी तरह का माल बेचना। लेकिन इसके

विपरीत पूंजी का साधारण सूत्र है मुद्रा – माल – मुद्रा, अर्थात् (मुनाफ़े पर) बेचने के लिए खरीदना। जो मुद्रा आदान-प्रदान के लिए निकाली जाती है, उसकी असली क़ीमत के ऊपर जो बढ़ती होती है, उसे मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य का नाम दिया है। पूंजीवादी आदान-प्रदान में मुद्रा की इस "बढ़ती" को सभी लोग जानते हैं। वास्तव में यह "बढ़ती" ही एक विशेष इतिहास द्वारा निश्चित उत्पादन के सामाजिक सम्बन्ध के रूप में मुद्रा को **पूंजी** में परिवर्तित करती है। मालों के आदान-प्रदान से अतिरिक्त मूल्य नहीं उत्पन्न हो सकता, क्योंकि इसमें केवल बराबर की चीज़ों का विनिमय होता है; क़ीमतों के बढ़ने से भी उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि ख़रीदने और बेचनेवालों का परस्पर हानि-लाभ बराबर हो जायगा। और यहां पर हमारा विषय इक्का-दुक्का घटनाओं से सम्बन्धित न होकर सामूहिक रूप से औसत सामाजिक घटना-क्रम से है। अतिरिक्त मूल्य पाने के लिए "थैलीशाहों को बाज़ार में ऐसा माल मिलना ही चाहिए जिसके उपयोग-मूल्य में यह विशेष गुण है कि वह मूल्य का उद्गम है"। यह ऐसा माल होता है जिसका प्रत्यक्ष उपयोग-क्रम मूल्य का भी निर्माण-क्रम है। ऐसे माल का अस्तित्व है। वह है मनुष्य की श्रम-शक्ति। उसका उपयोग श्रम है और श्रम से मूल्य बनता है। पैसेवाला श्रम-शक्ति को उसके मूल्य पर ख़रीद लेता है। हर माल के मूल्य की तरह श्रम-शक्ति का मूल्य भी उसके उत्पादन के लिए सामाजिक रूप से आवश्यक श्रम के समय द्वारा (अर्थात् मज़दूर और उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए आवश्यक धन द्वारा) निश्चित होता है। श्रम-शक्ति को ख़रीद लेने के बाद पैसेवाले का हक़ होता है कि वह उसका उपयोग करे यानी उसे दिनभर – मान लीजिये बारह घंटे – काम में लगाये रहे। इसी बीच छः घंटों में ही ("आवश्यक" श्रम-समय में) मज़दूर इतना उत्पादन कर लेता है जिससे उसके भरण-पोषण का ख़र्च निकल सके। इसके बाद के छः घंटों में ("अतिरिक्त" श्रम-समय में) वह "अतिरिक्त" माल या अतिरिक्त मूल्य पैदा करता है जिसके लिए पूंजीपति उसे कुछ नहीं देता। इसलिए उत्पादन-क्रम के विचार से हमें पूंजी के दो भागों में भेद करना चाहिये : पहली स्थिर पूंजी (कौंस्टेंट कैपिटल) जो उत्पादन के साधनों पर (मशीनों, औज़ारों, कच्चे माल वग़ैरा पर) ख़र्च की जाती है, जिसका मूल्य (एकबारगी अथवा क्रमशः) बिना किसी परिवर्तन के तैयार माल में बदल

दिया जाता है; दूसरी, अस्थिर पूंजी (वेरियेबल कैपिटल) जो श्रम-शक्ति पर ख़र्च की जाती है। इस अस्थिर पूंजी का मूल्य एक सा नहीं रहता वरन् श्रम करने के साथ बढ़ता है और अतिरिक्त मूल्य का निर्माण करता है। इसलिए पूंजी द्वारा श्रम-शक्ति के शोषण का हिसाब करने के लिए हमें अतिरिक्त मूल्य की तुलना संपूर्ण पूंजी से नहीं वरन् केवल अस्थिर पूंजी से करनी चाहिए। इस प्रकार ऊपर के उदाहरण में, अतिरिक्त मूल्य की दर—जैसा कि मार्क्स ने इस संबंध का नामकरण किया है—छः छः के अनुपात में, अर्थात् शतप्रतिशत होगी।

पूंजी की उत्पत्ति के लिए ऐतिहासिक आवश्यकताएं इस प्रकार थीं: पहले, साधारण रूप से मालों के उत्पादन के अपेक्षाकृत उच्च विकास की परिस्थितियां और व्यक्तियों के हाथों में विशेष मात्रा में धन का इकट्ठा हो जाना; दूसरे, ऐसे मज़दूरों का अस्तित्व जो दो अर्थों में "स्वाधीन" हैं—अपनी श्रम-शक्ति के बेचने में किसी तरह की बाधा, या नियंत्रण से स्वाधीन और धरती या साधारण रूप से उत्पादन के साधनों से स्वाधीन; अर्थात् संपत्तिहीन मजदूरों का अस्तित्व, उन "सर्वहारा" लोगों का अस्तित्व जो अपनी श्रम-शक्ति को बेचे बिना अपना अस्तित्व बनाये नहीं रख सकते।

अतिरिक्त मूल्य को बढ़ाने के दो प्रधान साधन हैं—कार्य-दिवस लम्बा करने से ("निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य"), और आवश्यक कार्य-दिवस छोटा करने से ("सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य")। पहले साधन का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने एक प्रभावशाली चित्र प्रस्तुत किया, कि मज़दूर वर्ग ने काम के घंटे कम करने के लिए कैसे संग्राम किया और सरकार ने मज़दूरी के घंटे बढ़ाने के लिए (चौदहवीं सदी से सत्रहवीं तक) और उन्हें घटाने के लिए (उन्नीसवीं सदी का फ़ैक्टरी विधान) कैसे हस्तक्षेप किया। 'पूंजी' के प्रकाशित होने के बाद सभी सभ्य देशों के मज़दूर आंदोलन का इतिहास इस चित्र को भरने के लिए काफ़ी नयी सामग्री देता है।

सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने उस क्रम की तीन प्रधान और ऐतिहासिक मंज़िलों की खोज की जिससे पूंजीवाद ने श्रम की उत्पादकता को बढ़ाया है,—(१) साधारण सहयोग; (२) श्रम-विभाजन, और कारख़ानों में उत्पादन; (३) मशीनें और बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धे। मार्क्स ने किस गंभीरता से पूंजीवादी विकास के आधारभूत और

विशेष लक्षणों को प्रकट कर दिया है, वह संयोगवश इस बात से मालूम हो जाता है कि रूस के तथाकथित "घरेलू" उद्योग-धंधों की जांच से पहली दो मंज़िलों का निदर्शन करने के लिए ढेर सारी सामग्री मिल जाती है। १८६७ में मार्क्स ने बड़े पैमाने के मशीन वाले उद्योग-धंधों के जिस क्रान्तिकारी प्रभाव का वर्णन किया था, वह कई "नये" देशों में, जैसे रूस, जापान आदि में, पिछले पचास साल में स्पष्ट हो गया है।

लेकिन आगे चलिये। मार्क्स ने **पूंजी के संचय** का जो विश्लेषण किया है—अर्थात् अतिरिक्त मूल्य के एक भाग का पूंजी में परिवर्तन और इस भाग का पूंजीपति की अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति या इच्छा पूर्ति के लिए उपयोग न करके उसे अधिक उत्पादन में लगाना—वह अत्यन्त महत्वपूर्ण और मौलिक है। मार्क्स ने पहले के क्लासिकल राजनीतिक अर्थशास्त्र की (ऐडम स्मिथ से लेकर) धारणाओं को भ्रमपूर्ण बताया था जिनके अनुसार सभी अतिरिक्त मूल्य, जो पूंजी में परिवर्तित होता था, अस्थिर पूंजी बन जाता था। वास्तव में वह अस्थिर पूंजी तथा **उत्पादन के साधनों** में बंट जाता है। पूंजी के संपूर्ण भण्डार में अस्थिर पूंजी की अपेक्षा स्थिर पूंजी का ज़्यादा तेज़ी से बढ़ना पूंजीवाद के विकास-क्रम में और पूंजीवाद से समाजवाद के परिवर्तन-क्रम में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

पूंजी के संचय से मशीनों का मज़दूरों की जगह लेने का काम तेज़ी से बढ़ चलता है; एक सिरे पर सम्पत्ति इकट्ठी होती है तो दूसरी ओर निर्धनता का राज होता है। इस प्रकार पूंजी के संचय से तथाकथित "मज़दूरों की रिज़र्व फ़ौज" पैदा होती है, मज़दूरों का "अपेक्षाकृत बाहुल्य" अथवा "जनसंख्या की पूंजीवादी अतिवृद्धि" होती है। इसके अनेक और विभिन्न रूप होते हैं और इससे उत्पादन को अभूतपूर्व शीघ्रता से बढ़ाने के लिए पूंजी को एक अवसर मिलता है। हम इस बात को ध्यान में रखें और उसके साथ उधार पाने की सुविधाओं और उत्पादन के साधनों में पूंजी के संचय को भी ध्यान में रखें तो हमें वह कुंजी मिल जाती है जिससे पूंजीवादी देशों में समय-समय पर होनेवाले अति-उत्पादन के **संकटों** को हम समझ सकते हैं। ये संकट औसतन पहले प्रायः प्रति दस वर्ष में होते हैं, बाद में बीच का समय ज़्यादा लम्बा और अनिश्चित हो जाता है। पूंजीवादी आधार पर जो पूंजी का संचय

होता है, उससे हमें तथाकथित आदिम संचय का भेद करना चाहिए, जिसमें उत्पादन के साधनों से मज़दूर बरबस हटा दिया जाता है, किसान ज़मीन से भगा दिये जाते हैं, पंचायती ज़मीन चुरा ली जाती है, औपनिवेशिक व्यवस्था और राष्ट्रीय कर्ज़, व्यापार-रक्षा के विशेष नियम, आदि पाये जाते हैं। "आदिम संचय" से एक ओर "स्वाधीन" सर्वहारा का निर्माण होता है, दूसरी ओर पैसे के स्वामी, पूंजीपति का।

मार्क्स ने "**पूंजीवादी संचय की ऐतिहासिक प्रवृत्ति**" को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है: "प्रत्यक्ष उत्पादकों की निर्मम दस्युता से, और अति निम्न कोटि की, जघन्य, क्षुद्र और पतित आकांक्षाओं की प्रेरणा से लूट-खसोट की जाती है।" किसान और दस्तकार की "स्वअर्जित व्यक्तिगत सम्पत्ति, कहना चाहिए, एकान्त और स्वतंत्र श्रमजीवी व्यक्ति के अपने श्रम के औज़ारों और साधनों के साथ एकीभूत हो जाने पर आधारित होती है। उसकी जगह पूंजीवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति ले लेती है जो दूसरों के नाममात्र स्वाधीन श्रम पर, अर्थात् दूसरों की मजूरी पर, निर्भर है ... अब जिसका सम्पत्तिहरण करना है, वह अपने लिए काम करने वाला मज़दूर नहीं है वरन् बहुत से मज़दूरों का शोषण करनेवाला पूंजीपति है। यह अपहरण पूंजीवादी उत्पादन में निहित नियमों की क्रिया से, पूंजी के केन्द्रीकरण से सम्पन्न होता है। एक पूंजीपति हमेशा कई औरों की जान लेता है। इस केन्द्रीकरण अथवा कुछ पूंजीपतियों द्वारा बहुतों के अपहरण किये जाने के साथ-साथ नित बढ़ते हुए पैमाने पर श्रम का सहकारिता वाला रूप भी विकसित होने लगता है; विज्ञान का सचेत रूप से प्राविधिक प्रयोग होता है, धरती में नियमपूर्वक खेती होने लगती है; श्रम-साधनों का ऐसे श्रम-साधनों में परिवर्तन हो जाता है जो सामूहिक रूप से ही प्रयुक्त हो सकें, साथ ही संयुक्त समाजगत श्रम के उत्पादन-साधनों के रूप में सभी उत्पादन-साधनों का उपयोग करके उनकी संख्या में कमी की जाती है; दुनिया के बाज़ार के जाल में सभी लोग फंस जाते हैं और इसके साथ पूंजीवादी शासन की अन्तर्राष्ट्रीयता बढ़ती जाती है। पूंजीशाहों की संख्या—जो इस परिवर्तन-क्रम के सभी लाभों को हथियाकर उनपर अपना एकाधिकार कर लेते हैं—जैसे-जैसे लगातार कम होती जाती है, वैसे-वैसे ही दैन्य, अत्याचार, दासता, पतन और शोषण में वृद्धि होती है। परन्तु इसके साथ उस मज़दूर वर्ग का विद्रोह भी बढ़ता जाता है

जिसकी संख्या लगातार बढ़ती जाती है, और जिसमें स्वयं पूंजीवादी उत्पादन-क्रम के यान्त्रिक स्वरूप से ही अनुशासन, एकता और संगठन उत्पन्न होता है। पूंजी का एकाधिकार उस उत्पादन-पद्धति के लिए शृंखला बन जाता है जो उसके साथ और उसकी अधीनता में पनपी और फली-फूली थी। उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण और श्रम का समाजीकरण एक ऐसे बिन्दु पर जा पहुंचता है जहां पूंजीवादी खोल में उनका रहना असम्भव हो जाता है। वह खोल फट जाती है। पूंजीवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति की अन्तिम घड़ी आ पहुंचती है। अपहरण करनेवालों का अपहरण हो जाता है।" ('पूंजी', खंड १)

'पूंजी' के दूसरे खंड में मार्क्स का समूची सामाजिक पूंजी के पुनरुत्पादन का विश्लेषण अतिशय महत्व का है और बिल्कुल नया है। यहां भी मार्क्स ने किसी विलग घटना की चर्चा न करके एक सामूहिक घटना-क्रम पर विचार किया है; उन्होंने समाज की आर्थिक व्यवस्था के किसी अंश पर नहीं, वरन् इस सम्पूर्ण व्यवस्था पर ही विचार किया है। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों की उपरोक्त भूल को सुधारते हुए मार्क्स ने समूचे सामाजिक उत्पादन को दो बड़े भागों में बांटा है: (१) उत्पादन-साधनों का उत्पादन और (२) उपभोग-वस्तुओं का उत्पादन। अंकों द्वारा उदाहरण देते हुए उन्होंने समूची सामाजिक पूंजी के परिचालन की—जब अपने पिछले अनुपात-क्रम से उसका पुनरुत्पादन होता है और जब उसका संचय होता है, दोनों दशाओं में विस्तृत जांच की है। 'पूंजी' के तीसरे खंड में यह समस्या सुलझायी गयी है कि मूल्य के नियम के आधार पर **मुनाफ़े की औसत दर** कैसे बनती है। आर्थिक विज्ञान में एक बहुत बड़ी प्रगति यह है कि मार्क्स ने सामूहिक अर्थ संबंधी घटनावली और सम्पूर्ण सामाजिक अर्थ-व्यवस्था को ध्यान में रखकर अपना विश्लेषण किया है, न कि इक्का-दुक्का घटनाओं को लेकर या प्रतियोगिता के बिल्कुल छिछले पहलुओं को लेकर। इस तरह का संकुचित दृष्टिकोण निम्न कोटि के राजनीतिक अर्थशास्त्र में और उस समय के "सीमान्त उपयोग के सिद्धान्त"[11] (थियरी ऑफ़ मार्जिनल युटिलिटी) में मिलता है। पहले मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के उद्गम का विश्लेषण किया है; उसके बाद वह मुनाफ़े, ब्याज और लगान (ग्राउंड रेण्ट) के रूप में उसके विभाजन पर विचार करते हैं। अतिरिक्त मूल्य तथा किसी काम में लगायी हुई समस्त पूंजी के अनुपात का नाम मुनाफ़ा है।

"उच्च आर्गैनिक बनावट" की पूंजी (अर्थात् जिसमें सामाजिक औसत से ऊपर अस्थिर पूंजी से स्थिर पूंजी ज़्यादा होती है) से मुनाफ़े की औसत से कम दर मिलती है। "निम्न आर्गैनिक बनावट" की पूंजी से मुनाफ़े की औसत से ज़्यादा दर मिलती है। पूंजीपति उत्पादन के एक विभाग से पूंजी को हटाकर उसे दूसरे विभाग में लगाने के लिए स्वच्छन्द हैं; उनकी परस्पर प्रतियोगिता से दोनों ही दशाओं में मुनाफ़े की दर कम होकर औसत पर आ जाती है। किसी भी समाज में सभी मालों का कुल मूल्य सभी मालों की कुल क़ीमत (प्राइसेज़) के बराबर होता है। लेकिन अलग-अलग कारबार में और उत्पादन के अलग-अलग विभागों में प्रतियोगिता के फलस्वरूप मालों का विक्रय उनके मूल्य के अनुसार नहीं होता वरन् **उत्पादन की क़ीमतों** के अनुसार होता है। ये कीमतें लगायी हुई पूंजी और औसत मुनाफ़े के जोड़ के बराबर होती हैं।

इस प्रकार मार्क्स ने मूल्य संबंधी नियम के आधार पर ही इस बात की व्याख्या की है कि क़ीमत और मूल्य में जो असंदिग्ध और अविवादास्पद भेद है, वह क्यों होता है और मुनाफ़े में समानता क्यों होती है—क्योंकि सारे मालों के मूल्यों का जोड़ क़ीमतों के जोड़ से मेल खाता है। फिर भी मूल्य (जो सामाजिक होता है) और क़ीमत (जो अलग-अलग होती है) का परस्पर सामंजस्य सीधे साधारण ढंग से नहीं होता वरन् उसका क्रम बहुत ही टेढ़ा-मेढ़ा होता है। इसलिए ऐसे समाज में जहां माल के पैदा करने वाले लोग अलग-अलग हों, और जो केवल बाज़ार के ही माध्यम से एक-दूसरे के साथ जुड़े हों, यह स्वाभाविक है कि नियम एक औसत, आम और सामूहिक नियम के रूप में प्रकट हो, जिसमें कभी इधर और कभी उधर होनेवाली पथ-विच्युति एक दूसरे की कमी को पूरा करे।

श्रम की उत्पादकता में बढ़ती का अर्थ है अस्थिर पूंजी के मुक़ाबले स्थिर पूंजी की और भी तेज़ बढ़ती। अतिरिक्त मूल्य का केवल संबंध अस्थिर पूंजी से ही होता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि मुनाफ़े की दर में (अतिरिक्त मूल्य तथा सम्पूर्ण पूंजी, न कि पूंजी के एक अस्थिर भाग के ही अनुपात में) गिरने की प्रवृत्ति होती है। मार्क्स ने इस प्रवृति और इसे छिपाने अथवा निष्फल करनेवाली कुछेक परिस्थितियों का विस्तृत विश्लेषण किया है। 'पूंजी' के जिस अत्यंत रोचक तीसरे भाग में महाजनी पूंजी, व्यापारी पूंजी

ग्रौर मुद्रा पूंजी की विवेचना की गई है, उसका यहां पर विवरण न देकर मैं उसके सबसे महत्वपूर्ण भाग **भूमि-कर** के सिद्धान्त को लूंगा। ज़मीन नाकाफ़ी होने से ग्रौर पूंजीवादी देशों में सारी ज़मीन पर ग्रलग-ग्रलग मालिकों का निजी स्वामित्व होने से, खेती की पैदावार की उत्पादन-क़ीमत उत्पादन की लागत से निश्चित होती है। परन्तु इस उत्पादन की लागत का हिसाब ग्रौसत दर्जे की ज़मीन को ध्यान में रखकर नहीं लगाया जाता, उसका हिसाब माल को बाज़ार ले ग्राने की ग्रौसत परिस्थितियों को ध्यान में रखकर नहीं लगाया जाता, वरन् सबसे ख़राब धरती ग्रौर सबसे ग्रधम परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह हिसाब लगाया जाता है। इस क़ीमत में ग्रौर ग्रच्छी ज़मीन (या ग्रच्छी परिस्थितियों) के उत्पादन की क़ीमत में जो ग्रन्तर होता है, वह **भेदकारी** भूमि-कर कहलाता है। उसका विस्तृत विश्लेषण करते हुए ग्रौर यह दिखाते हुए कि खेतों की उर्वरता में ग्रन्तर होने से ग्रौर धरती पर पूंजी की जो मात्रा लगायी जाती है, उसमें ग्रन्तर होने से यह कैसे उत्पन्न होता है, मार्क्स ने पूरी तरह रिकार्डो की भूल को प्रकट कर दिया है जिसका विचार था कि भेदकारी भूमि-कर तभी मिलता है जब ग्रच्छी से बुरी धरती की ग्रोर क्रमशः संक्रमण होता है। ('ग्रतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' भी देखिये जिसमें रौडबर्टस के मत की समालोचना विशेष ध्यान देने योग्य है।) इसके विपरीत कृषि-विद्या में उन्नति होने से, नगरों की वृद्धि ग्रादि कारणों से प्रतिकूल संक्रमण हो सकते हैं, धरती की एक श्रेणी बदल कर दूसरी हो सकती है। "धरती की नित-न्यून उर्वरता का नियम" जो दुष्टता से प्रकृति पर पूंजीवाद के दोषों, संकीर्णता ग्रौर ग्रसंगति का दोषारोपण करता है, भारी भूल है। इसके सिवा सभी उद्योग-धंधों ग्रौर साधारण रूप से राष्ट्रीय ग्रर्थ-व्यवस्था में मुनाफ़े की समानता पहले ही प्रतियोगिता करने की स्वाधीनता को, एक धंधे से दूसरे धंधे में पूंजी की स्वतंत्र गति को मान लेती है। परन्तु भूमि पर निजी स्वामित्व एकाधिकार को जन्म देकर, इस स्वतंत्र गति में बाधक होता है। इस एकाधिकार के कारण जहां पूंजी की निम्न ग्रार्गैनिक बनावट होती है ग्रौर फलतः ग्रलग-ग्रलग मुनाफ़े की ऊंची दर मिल सकती है, वहां खेती की पैदावार में मुनाफ़े की दर निर्द्वंद्व रूप से बराबर नहीं की जा सकती। ग्रपने हाथ में एकाधिकार रखने से ज़मींदार ग्रपनी पैदावार की क़ीमत ग्रौसत से ऊंची रख सकता है ग्रौर यह

एकाधिकार से निश्चित होने वाली क़ीमत **निरपेक्ष** भूमि-कर का उद्गम है। जब तक पूंजीवाद है, तब तक भेदकारी भूमि-कर का अन्त नहीं हो सकता। लेकिन निरपेक्ष भूमि-कर का तो पूंजीवाद के रहते हुए भी अन्त किया जा **सकता है**; उदाहरण के लिए भूमि के राष्ट्रीयकरण से, भूमि को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाकर। भूमि पर राष्ट्र का अधिकार होने से निजी ज़मींदारों के एकाधिकार का अन्त हो जायेगा। इसका फल यह होगा कि कृषि में भी अधिक संगतरूप से और अधिक पूर्णता से मुक्त प्रतियोगिता चल सकेगी। इसीलिए, जैसा कि मार्क्स ने कहा है, इतिहास में आमूलवादी पूंजीपति बार-बार इस प्रगतिशील पूंजीवादी मांग को लेकर आगे आये हैं कि भूमि पर राष्ट्र का अधिकार हो। लेकिन इससे अधिकांश पूंजीपतियों को डर लगता है क्योंकि यह एक दूसरे एकाधिकार को भी निकट से "स्पर्श" करती है, जो आजकल विशेष रूप से महत्वपूर्ण और "कोमल" है—साधारण रूप से उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार। (एंगेल्स के नाम अपने २ अगस्त १८६२ के पत्र में मार्क्स ने पूंजी पर मुनाफ़े की औसत दर और निरपेक्ष भूमि-कर के सिद्धान्त की बहुत ही सरल, सुस्पष्ट और संक्षिप्त व्याख्या की है। देखिये 'पत्र-व्यवहार', खंड ३, पृष्ठ ७७-८१; साथ ही मार्क्स का ६ अगस्त १८६२ का पत्र, वहीं, पृष्ठ ८६-८७।) भूमि-कर के इतिहास के सम्बन्ध में मार्क्स के विश्लेषण की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इस संबंध में यह बताना भी बड़े महत्व का है कि श्रम-कर (जब किसान ज़मींदार की ज़मीन पर काम करके अतिरिक्त पैदावार करता है) वस्तु या धान्य-कर का रूप किस तरह लेता है (किसान अपनी भूमि पर अतिरिक्त पैदावार करके उसे "आर्थिक से इतर नियंत्रण" द्वारा बाध्य होकर ज़मींदार को सौंप देता है)। उसके बाद यह वस्तु-कर मुद्रा-कर में परिवर्तित होता है (वही वस्तु-कर जो माल उत्पादन के विकास के कारण पैदावार के रूप में जो पुराने रूस का कर था, उसी की क़ीमत मुद्रा में निश्चित कर दी जाती है)। अन्त में वह पूंजीवादी कर में परिवर्तित होता है जब किसान की जगह वह पूंजीपति आ जाता है जो पैसे पर मजूरी करनेवालों की सहायता से खेती करता है। "पूंजीवादी भूमि-कर की उत्पत्ति" के विश्लेषण के साथ-साथ **कृषि में पूंजीवाद के विकास** के संबंध में मार्क्स ने कुछ बड़े मार्के के विचार प्रकट किये थे, उनपर भी ध्यान देना चाहिए। रूस जैसे पिछड़े हुए देशों पर वे

विशेष रूप से लागू होते हैं। "अपने को मजूरी पर उठा देनेवाले, दिन में काम करनेवाले, संपत्तिहीन मज़दूरों का वर्ग बनने के साथ साथ ही धान्य] रूप में कर मुद्रा-कर में बदलता है, बल्कि पहले से उसकी आशा होने लगती है। उनके इस अभ्युदय-काल में, जब यह वर्ग जहां-तहां अनियमित ढंग से प्रकट होता है, तो यह प्रथा भी अवश्य चल पड़ती है कि धान्य या मुद्रा के रूप में कर देने वाले धनी किसान अपने लाभ के लिए खेतिहर मजूरों का शोषण करते हैं, जैसे कि सामन्त-युग में धनी कम्मी अपने लाभ के लिए कम्मियों से काम लेते थे। इस प्रकार वे धीरे-धीरे इस योग्य बन जाते हैं कि कुछ धन इकट्ठा कर सकें और अपने को भावी पूंजीपतियों में परिवर्तित कर सकें। इस प्रकार स्वयं खेती करनेवाले पुराने भू-स्वामियों के भीतर ही पूंजीवादी पट्टेदारों के लिए परिस्थितियां तैयार होती हैं। इन काश्तकारों का विकास खेतिहर इलाक़ों के बाहर के पूंजीवादी उत्पादन के विकास पर निर्भर होता है।" ('पूंजी', खंड ३, पृष्ठ ३३२) ... "खेतिहरों के एक भाग के लूट लिये जाने से और उनके बेदख़ल होने से औद्योगिक पूंजी के लिए मज़दूर, उनकी जीविका के साधन, और श्रम के औज़ार ही ख़ाली नहीं हो गया वरन् उससे घर का बाज़ार भी बना।" ('पूंजी', खंड १, पृष्ठ ७७८) इसके बाद खेतिहर जनता की ग़रीबी और तबाही से पूंजी के लिए मज़दूरों की रिज़र्व फ़ौज बनती है। हर पूंजीवादी देश में "खेतिहर जनता का एक भाग शहर के या कारख़ाने में काम करने वाले सर्वहारा वर्ग में परिवर्तित होने की सीमा पर सदा ही तैयार रहता है (कारख़ानों से यहां सभी ग़ैर-खेतिहर धंधों से मतलब है)। इस प्रकार अपेक्षाकृत अतिरिक्त जनसंख्या का यह स्रोत सदा बहा करता है ... इसलिए खेतिहर मजूर को कम से कम पैसा मिलता है और उसका एक पैर निराश्रयता के दलदल में बना ही रहता है।" ('पूंजी', खंड १, पृष्ठ ६६८) जिस भूमि को किसान जोतता-बोता है, उसपर उसका निजी स्वामित्व ही छोटे पैमाने के उत्पादन का आधार है और इस उत्पादन की बढ़ती, उसके क्लासिकल रूप प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। परन्तु इस तरह का टुटपुंजिया उत्पादन समाज और उत्पादन के संकुचित और पुराने ढांचे में ही संभव है। पूंजीवाद में "किसानों के शोषण का केवल रूप ही औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के शोषण से भिन्न है। शोषक एक ही है: पूंजी। अलग-अलग पूंजीपति रेहन और ब्याज से

अलग-अलग किसानों का शोषण करते हैं; पूंजीवादी वर्ग राजकीय करों द्वारा किसानों का शोषण करता है।" ('फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष') "अब किसान की थोड़ी सी ज़मीन उससे मुनाफ़ा, ब्याज और कर लेने के लिए पूंजीपति के पास बहाने भर का काम देती है; ज़मीन से किसान अपनी जीविका कैसे वसूल करता है, यह ज़िम्मा उसका है।" ('अठारहवीं ब्रमेयर') किसान अपनी कमाई का एक भाग भी नियमित रूप से पूंजीवादी समाज को अर्थात् पूंजीवादी वर्ग के हवाले कर देता है और "निजी स्वामित्व के बहाने आयरिश काश्तकार के दर्जे तक पहुंच जाता है"। ('फ़्रांस में वर्ग-संघर्ष') ऐसा क्यों होता है कि "जिन देशों में छोटे-छोटे काश्तकारों की संख्या अधिक होती है, वहां पूंजीवादी उत्पादन-पद्धति वाले देशों की अपेक्षा अनाज की क़ीमत कम होती है"? ('पूंजी', खंड ३, पृष्ठ ३४०) इसका उत्तर यह है कि अपनी अतिरिक्त पैदावार का एक भाग किसान समाज को (अर्थात् पूंजीवादी वर्ग को) यों ही दान कर देता है। (अनाज और खेती से पैदा होनेवाली दूसरी चीज़ों की) "यह कम क़ीमत उत्पादकों की निर्धनता का भी परिणाम है और उनके श्रम की उत्पादिता का परिणाम किसी भी तरह नहीं है।" (वहीं) पूंजीवाद में टुटपुंजिया खेती, जो टुटपुंजिया उत्पादन का साधारण रूप है, निर्जीव होकर मुरझा जाती है और समाप्त हो जाती है। "छोटे किसानों की सम्पत्ति स्वभाव से ही इस संभावना को दूर रखती है कि श्रम के उत्पादन की सामाजिक शक्तियों का विकास हो, श्रम के सामाजिक रूप हों, पूंजियों का सामाजिक केन्द्रीकरण हो, बड़े पैमाने पर गोरू पाले जायं और कृषि में विज्ञान का अधिकाधिक उपयोग किया जाय। ब्याज और कर-व्यवस्था उसे हर जगह निर्धन बनाएगी। ज़मीन ख़रीदने में पूंजी के ख़र्च के कारण खेती से यह पूंजी खिंच आती है उसके साथ उत्पादन के साधनों का विराट ह्रास और स्वयं उत्पादकों का अलगाव पैदा होता है।" (सहकारी-संस्थाएं अर्थात् छोटे किसानों की जमातें असाधारण रूप से प्रगतिशील पूंजीवादी भूमिका पूरी करती हुई भी इस प्रवृत्ति को निर्बल बनाती हैं, उसका नाश नहीं करतीं। इसके सिवा यह न भूलना चाहिए कि ये सहकारी-संस्थाएं धनी किसानों के लिए बहुत कुछ करती हैं, और आम ग़रीब किसानों के लिए बहुत कम, प्रायः कुछ नहीं करतीं। यह भी न भूलना चाहिए कि ये संस्थाएं स्वयं खेत मज़दूरों की शोषक हो जाती हैं।)

"मनुष्य की शक्ति का भारी अपव्यय भी होता है। उत्पादन की परिस्थितियों में ह्रास की निरन्तर वृद्धि और उत्पादन के साधनों की क़ीमत में बढ़ती छोटे किसानों की संपत्ति का आवश्यक नियम है।" उद्योग-धंधों की भांति कृषि में भी "उत्पादकों की शहादत" की क़ीमत देकर ही पूंजीवाद उत्पादन-क्रम को बदलता है। "खेतिहर मजूरों के बड़े-बड़े इलाक़ों में फैल जाने से उनकी विरोध करने की शक्ति टूट जाती है जब कि केन्द्रीकरण से शहर के कमकरों की शक्ति बढ़ती है। जैसे शहर के उद्योग-धंधों में, वैसे ही वर्तमान पूंजीवादी कृषि में श्रम-शक्ति को ही नष्ट करने और निर्बल किये जाने से ही चालू श्रम की बढ़ी हुई उत्पादकता और मात्रा ख़रीदी जाती है। इसके सिवा पूंजीवादी कृषि में सभी उन्नति मज़दूरों को ही लूटने की नहीं, वरन् धरती को भी लूटने की कला में उन्नति है ... इसलिए पूंजीवादी उत्पादन सभी तरह की सम्पत्ति के मूल स्रोत – धरती और मजूर – को निचोड़ कर ही टेकनोलाजी का विकास करता है और विभिन्न क्रमों को एक ही सामाजिक क्रम में मिलाता है।" ('पूंजी', खंड १, अध्याय १३ का अन्त)

समाजवाद

ऊपर की बातों से स्पष्ट है कि मार्क्स ने एकमात्र तत्कालीन समाज की गति के आर्थिक नियम के ही बल पर यह निष्कर्ष निकाला है कि पूंजीवादी समाज अनिवार्य रूप से समाजवादी समाज में परिवर्तित हो जायगा। समाजवाद के आगमन की अनिवार्यता का मुख्य भौतिक आधार श्रम का समाजीकरण है जो अपने असंख्य रूपों में तीव्र और तीव्रतर गति से आगे बढ़ता रहा है। मार्क्स की मृत्यु के बाद के पचास वर्षों में, बड़े पैमाने पर उत्पादन के विकास में, पूंजीपतियों के कार्टेलों, सिण्डीकेटों और ट्रस्टों में, साथ ही वित्तीय पूंजी (फ़िनान्स कैपिटल) की सीमारेखाओं और शक्ति के अतिप्रसार में विशेष स्पष्टता से यह वृद्धि प्रकट होती रही है। इस परिवर्तन की बौद्धिक और नैतिक प्रेरक-शक्ति, उसको भौतिक रूप से संपन्न करनेवाली शक्ति, सर्वहारा वर्ग है जिसे पूंजीवाद ने ही शिक्षित किया है। पूंजीपतियों के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग का संघर्ष नाना रूप धारण करता हुआ, जो नित बहुमुखी होते जाते हैं, अनि-

वार्यतः एक राजनीतिक संघर्ष हो जाता है जिसका ध्येय सर्वहारा वर्ग द्वारा राजनीतिक शक्ति को जीतना होता है ("सर्वहारा अधिनायकत्व")। उत्पादन के समाजीकरण से उत्पादन के साधन समाज के हाथ में आ जाना अनिवार्य है और "अपहरण करनेवाले स्वयं अपहरण किये जायेंगे"। इस परिवर्तन का सीधा परिणाम यह होगा कि श्रम की उत्पादिता में विशाल वृद्धि होगी, मजूरी के घंटे कम होंगे, बचे-खुचे और नष्टप्राय टुटपुंजिये और अलग-अलग उत्पादन के बदले सामूहिक और उन्नत श्रम होगा। अन्त में पूंजीवाद, कृषि और उद्योग-धंधों के संबंध को तोड़ देता है; लेकिन साथ ही अपने उच्चतम विकास के होते-होते, वह दोनों के बीच का संबंध स्थापित करने के लिए नये सूत्र तैयार करता है। सचेत रूप से विज्ञान के उपयोग, सामूहिक श्रम के मेल और जनसंख्या के पुनर्वितरण के आधार पर वह कृषि और उद्योग-धंधों को मिलाता है (वह एक साथ ही देहात के अलगाव और अकेलेपन को, असभ्यता और बड़े-बड़े शहरों में विशाल जन-समूहों के अस्वाभाविक केन्द्रीकरण को समाप्त कर देता है)। आधुनिक पूंजीवाद के उच्चतम रूपों द्वारा कुटुम्ब के एक नये प्रकार, स्त्रियों की स्थिति और नयी पीढ़ी की शिक्षा-दीक्षा में परिवर्तन की तैयारी हो रही है। वर्तमान समाज में स्त्रियों और बच्चों द्वारा मज़दूरी, पूंजीवाद द्वारा दादा-पंथी कुटुम्ब का नष्ट-भ्रष्ट होना आवश्यक रूप से बड़े ही भयावह, सर्वनाशी और जघन्य रूपों में प्रकट होते हैं। फिर भी "... वर्तमान उद्योग-धंधे घर के बाहर उत्पादन-क्रम में स्त्रियों, नौजवानों और छोटे छोटे लड़के-लड़कियों को महत्वपूर्ण भाग देकर कुटुम्ब और स्त्री-पुरुष के संबंध के एक उच्चतर रूप के लिए एक आर्थिक आधार का निर्माण करते हैं। कुटुम्ब के ट्यूटौनिक-ईसाई रूप को अचल और त्रिकाल-सत्य समझना वैसे ही भ्रमपूर्ण है जैसे प्राचीन रोम, ग्रीस के कुटुम्ब को या कुटुम्ब के पूर्वी रूपों को ऐसा समझना। सम्मिलित रूप से ये ऐतिहासिक विकास की शृंखलाएं हैं। यह भी स्पष्ट है कि सभी उम्र के स्त्री और पुरुष — दोनों ही तरह के व्यक्तियों से सामूहिक रूप में काम करने वाला गुट बनता है, इस बात से अवश्य ही अनुकूल परिस्थितियों में उसे मानवीय विकास का कारण बन जाना चाहिए। यद्यपि अपने स्वतः विकसित, पाशविक पूंजीवादी रूप में, जहां मज़दूर उत्पादन-क्रम के लिए होता है, उत्पादन-क्रम मज़दूर के लिए नहीं होता, यह स्थिति भ्रष्टाचरण और दासता का मूल

है।" ('पूंजी', खंड १, अध्याय १३ का अन्त।) कारख़ानों के चलने से "भविष्य की शिक्षा का बीज बोया जा रहा है, ऐसी शिक्षा का बीज, जो एक ख़ास उम्र के बाद हर बच्चे के लिए उत्पादन-श्रम के साथ शिक्षा और व्यायाम का मेल कर सके, केवल इसलिए नहीं कि यह सामाजिक उत्पादन को बेहतर बनाने का एक साधन होगा वरन् इसलिए कि मनुष्यों के पूर्ण विकास का यही एक मार्ग है"। (वहीं) इसी ऐतिहासिक आधार पर—न केवल अतीत की व्याख्या करने के अर्थ में, बल्कि निर्भीक भविष्यवाणी और उसकी उपलब्धि के लिए साहसपूर्ण अमली कार्रवाई करने के अर्थ में भी मार्क्स का समाजवाद जाति और राज्य की समस्याओं की विवेचना करता है। जातियां सामाजिक विकास के पूंजीवादी युग की अनिवार्य उपज तथा अनिवार्य रूप हैं। मज़दूर वर्ग में तब तक शक्ति और परिपक्वता नहीं आ सकती थी जब तक वह "अपने को जाति (नेशन) का अंग न बना ले", जब तक कि वह "जातीय (नेशनल)" न बने ("यद्यपि इस शब्द के पूंजीवादी अर्थ में नहीं")। परन्तु पूंजीवाद के विकास से जातियों के बीच की दीवारें अधिकाधिक ढहने लगती हैं, जातीय अलगाव दूर होता है और जातीय विरोध के बदले वर्ग विरोध का जन्म होता है। इसलिए विकसित पूंजीवादी देशों में यह बिल्कुल सच है कि "मज़दूरों का कोई देश नहीं है" और सभ्य देशों के मज़दूरों की "संयुक्त कार्यवाही सर्वहारा-वर्ग की मुक्ति की पहली शर्तों में है" ('कम्युनिस्ट घोषणापत्र')। राज्य संगठित हिंसा का नाम है; समाज के विकास की एक अवस्था में, (जब वह ऐसे वर्गों में बंट गया जिसमें समझौता न हो सकता था) अनिवार्यतः उसका जन्म हुआ जब बिना ऐसे "अधिकार" के जो समाज के ऊपर और किसी हद तक उससे परे हो, उसका अस्तित्व असम्भव था। वर्ग-संबंधी अन्तर्विरोधों से उत्पन्न होकर, यह राज्य "सबसे शक्तिशाली और आर्थिक दृष्टि से प्रधान वर्ग का राज्य हो जाता है। यह वर्ग राज्य की सहायता से राजनीतिक दृष्टि से भी प्रधान वर्ग बन जाता है। और इस प्रकार पीड़ित वर्ग को दबाने और उसका शोषण करने के लिए उसे नये साधन मिल जाते हैं। इस प्रकार प्राचीन राज्य ग़ुलामों के मालिकों का राज्य था जिससे ग़ुलामों को दबाया जा सके जैसे कि सामन्ती राज्य कम्मियों और भूदासों को दबाने के लिए अभिजात वर्ग का अस्त्र था, और जैसे कि वर्तमान प्रतिनिधिपूर्ण राज्य पूंजी द्वारा मज़दूरों के शोषण का

अस्त्र है।" (एंगेल्स, 'परिवार, निजी संपत्ति तथा राज्यसत्ता की उत्पत्ति', जिसमें लेखक ने अपने और मार्क्स के विचारों की व्याख्या की है।) यही स्थिति जनवादी जनतंत्र में भी, सबसे स्वाधीन और प्रगतिशील पूंजीवादी राज्य में भी है। अन्तर केवल रूप का होता है (सरकार का संबंध स्टॉक एक्सचेंज से हो जाता है और अधिकारी वर्ग तथा प्रेस को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से घूस दे दी जाती है इत्यादि)। समाजवाद वर्गों का अंत करते हुए, इसी साधन से, राज्य का भी अन्त कर देगा। 'ड्यूहरिंग मत-खण्डन' में एंगेल्स ने लिखा है–"राज्य का यह पहला काम, जब वह वास्तव में पूर्ण समाज का प्रतिनिधि बनकर आता है और समाज के नाम पर उत्पादन के साधनों पर अधिकार कर लेता है, राज्य के नाते उसका अन्तिम स्वाधीन कार्य भी होता है। एक क्षेत्र के बाद दूसरे में राज्य का सामाजिक संबंधों में हस्तक्षेप व्यर्थ हो जाता है और उसके बाद अपने आप बंद हो जाता है। लोगों के शासन के स्थान पर वस्तुओं का नियंत्रण और उत्पादन-क्रमों का निर्देश आ जाता है। राज्यसत्ता का 'अन्त नहीं किया जाता' वह स्वयं क्रमशः नष्ट हो जाती है।" "उत्पादकों के स्वतंत्र और समान सहयोग के आधार पर जिस समाज को उत्पादन का पुनर्संगठन करना है वह समाज राज्यसत्ता की सारी मशीनरी को पुरानी चीज़ों के अजायब घर में, चर्खे और पीतल की कुल्हाड़ी के साथ रख देगा। और यही उसके लिए उचित स्थान भी होगा।" (एंगेल्स: 'परिवार, निजी संपत्ति तथा राज्यसत्ता की उत्पत्ति')

अन्त में छोटे किसानों के संबंध में, जो अपहरण करनेवालों के अपहरण किये जाने के समय बने रहेंगे, मार्क्सीय समाजवाद का दृष्टिकोण एंगेल्स के एक कथन से प्रकट होता है जो मार्क्स के मत को व्यक्त करता है: "जब हमारे हाथ में राज्य-शक्ति आ जायगी तब हम छोटे किसानों को (मुआवज़े देकर या बिना दिये) बलपूर्वक अपहरण करने का सोचेंगे भी नहीं जैसा कि बड़े ज़मींदारों के संबंध में हमें करना पड़ेगा। छोटे किसानों में हमारा सबसे पहला काम यह होगा कि बलपूर्वक नहीं वरन् उदाहरणों से और सामाजिक सहायता देकर उनके निजी उत्पादन और निजी स्वामित्व को सहकारी उत्पादन और सहकारी स्वामित्व में परिवर्तित कर दें। उस समय छोटे किसानों को इस परिवर्तन के लाभ दिखाने के लिए हमारे पास काफ़ी साधन होंगे और इन लाभों

को हमें उन्हें अभी से समझाना चाहिए।" (एंगेल्स: 'पश्चिम में कृषि की समस्या', पृष्ठ १७, अलेक्सेयेवा द्वारा सम्पादित, रूसी अनुवाद में ग़लतियां हैं। सबसे पहले *«Neue Zeit»*[12] में प्रकाशित)

सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष की कार्यनीति

१८४४-१८४५ में ही यह पता लगाकर कि पहले के पदार्थवाद का एक मुख्य दोष यह था कि उसने प्रत्यक्ष क्रान्तिकारी कार्यवाही की परिस्थितियों और महत्व को न समझा था, मार्क्स ने जीवन भर अपने सैद्धान्तिक कार्यों के साथ सर्वहारा वर्ग-संघर्ष की कार्यनीति की समस्याओं की ओर लगातार ध्यान दिया। मार्क्स के **सभी** ग्रंथों में, विशेषकर १९१३ में प्रकाशित एंगेल्स से उनके पत्र-व्यवहार की चार जिल्दों में, इस विषय पर बहुत बड़ी सामग्री उपलब्ध है। यह सामग्री एकत्रित और व्यवस्थित होने को है; उसका अध्ययन और जांच करनी है। इसी कारण से इस बात पर ज़ोर देना आवश्यक है कि मार्क्स ने **इस** पहलू से रहित पदार्थवाद को सही अर्थ में अपूर्ण, एकांगी और निर्जीव समझा था। तो भी, हमें इस संबंध में कुछ बहुत ही साधारण और संक्षिप्त बातों से संतोष करना होगा। अपने पदार्थवादी-द्वंद्ववादी दृष्टिकोण के साधारण सिद्धान्तों के नितान्त अनुकूल ही मार्क्स ने सर्वहारा कार्यनीति के मूल कर्तव्य की व्याख्या की थी। किसी भी समाज के सभी वर्गों के निरपवाद रूप से सभी परस्पर सम्बन्धों की सम्पूर्णता को वस्तुगत रूप से ध्यान में रख कर ही, और फलतः समाज के विकास की वस्तुगत अवस्था को ध्यान में रख कर ही, साथ ही उस समाज से दूसरे समाजों के परस्पर संबंधों को ध्यान में रखकर ही, अग्रसर वर्ग की सही कार्यनीति का आधार मिल सकता है। साथ ही सभी वर्गों और देशों को जड़ रूप में नहीं वरन् गतिशील रूप में देखना चाहिए, अर्थात् वे स्थिर नहीं हैं वरन् गतिशील हैं (उनकी गति के नियम प्रत्येक वर्ग के अस्तित्व की आर्थिक परिस्थितियों से निश्चित होते हैं)। इसके बाद इस गति को भूतकालीन दृष्टिकोण से नहीं, वरन् भविष्य के दृष्टिकोण से भी देखना चाहिए। उसे "विकासवादियों" की निम्न धारणा के अनुसार ही नहीं, जिन्हें केवल धीमे परिवर्तन दिखाई देते हैं, वरन् द्वंद्ववादी दृष्टिकोण से देखना चाहिए। मार्क्स

ने एंगेल्स को लिखा था: "इस कोटि की महान् प्रगति में बीस वर्ष एक दिन से अधिक नहीं हैं—अतएव आगे चलकर ऐसे दिन आ सकते हैं जो बीस-बीस वर्षों के बराबर हों।" ('पत्र-व्यवहार', खंड ३, पृष्ठ १२७)[13] प्रगति की हर मंज़िल में, हर क्षण, सर्वहारा वर्ग की कार्यनीति को मानव-इतिहास की वस्तुगत और अनिवार्य गतिशीलता (द्वन्द्ववाद) को ध्यान में रखना चाहिए। उसे एक ओर राजनीतिक शिथिलता के दिनों में या उन दिनों में जब नामचार के "शान्तिपूर्ण" विकासपथ पर "नौ दिन चले अढ़ाई कोस" की प्रगति हो रही हो, अग्रसर वर्ग की शक्ति, वर्ग-चेतना, और युद्ध सामर्थ्य को बढ़ाना चाहिए। दूसरी ओर इस वर्ग के आन्दोलन के "अन्तिम ध्येय" की दिशा में इस कार्य का संचालन करना चाहिये और उसमें वह शक्ति उत्पन्न करनी चाहिए जिससे कि उन महान् दिनों में "जो बीस-बीस वर्षों के बराबर हों", वह महान् कार्यों को प्रत्यक्ष रूप से सम्पन्न कर सके। इस संबंध में मार्क्स के दो तर्क विशेष महत्व के हैं। इनमें से एक 'दर्शनशास्त्र की निर्धनता' में है और उसका संबंध सर्वहारा वर्ग के आर्थिक संघर्ष और आर्थिक संगठनों से है; दूसरा, 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में है और उसका संबंध सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक कार्यों से है। पहला इस प्रकार है: "बड़े पैमाने के उद्योग-धंधों से एक ही जगह ऐसे आदमियों की भीड़ जुट जाती है जो एक दूसरे से अपरिचित होते हैं। परस्पर प्रतियोगिता के कारण उनके हित अलग-अलग होते हैं। लेकिन अपनी मजूरी बनाये रखने की आवश्यकता स्वामी के विरुद्ध एक समान हित का कारण बनती है और उन्हें विरोध की समान विचार-भूमि पर एक कर देती है। यह मेल... पहले अलग-अलग होता है, उसके बाद उससे गुट बनते हैं... और संयुक्त पूंजी से सदा मुकाबला होने पर उनके लिए मजूरी बनाये रखने से अपनी जमात को बनाये रखना ज्यादा ज़रूरी हो जाता है... इस संघर्ष में—एक अच्छे ख़ासे गृहयुद्ध में—आगामी युद्ध के लिए सभी आवश्यक तत्व विकसित और संयुक्त होते हैं। एक बार इस बिन्दु तक पहुंचने पर जमात राजनीतिक रूप ग्रहण कर लेती है।" यहां पर बीसों वर्ष के लिए, उस लम्बी अवधि के लिए जब मज़दूर "भावी संग्राम" की तैयारी करते हैं, हमें आर्थिक संघर्ष और ट्रेड-यूनियन आन्दोलन का कार्यक्रम और उसकी कार्यनीति का निर्देश मिल जाता है। इसके साथ-साथ ब्रिटेन के मज़दूर-आन्दोलन का हवाला देते हुए मार्क्स

ग्रौर एंगेल्स ने जो कई बातें कही हैं, हमें उनकी ग्रोर भी ध्यान देना चाहिए। उन्होंने बताया है कि ग्रौद्योगिक "समृद्धि" के फलस्वरूप "मज़दूरों को ख़रीद लेने के प्रयत्न किये जाते हैं" ('पत्र-व्यवहार', खंड १, पृष्ठ १३६)[14] जिससे कि वे संघर्ष से हट जायें। उन्होंने बताया है कि कैसे साधारणतः यह समृद्धि "मज़दूरों का नैतिक पतन कर देती है" (खंड २, पृष्ठ २१८); कैसे ब्रिटेन के सर्वहारा वर्ग का "पूंजीवादीकरण" हो रहा है; कैसे "इस सबसे ग्रधिक पूंजीवादी जाति (ग्रंग्रेज) का चरम ध्येय एक पूंजीवादी ग्रभिजात-वर्ग ग्रौर उसके साथ पूंजीवादी सर्वहारा वर्ग तथा एक पूंजीवादी वर्ग की स्थापना करना है" (खंड २, पृष्ठ २९०)[15]; कैसे ब्रिटिश सर्वहारा वर्ग की "क्रान्तिकारी शक्ति" छीजती जाती है (खंड ३, पृष्ठ १२४); कैसे काफ़ी समय तक राह देखनी होगी "इसके पहले कि ब्रिटिश मज़दूर प्रकटतः ग्रपने पूंजीवादी पतन से बच सकें" (खंड ३, पृष्ठ १२७); कैसे ब्रिटिश मज़दूर ग्रान्दोलन में "चार्टिस्टों का दम नहीं है"[16] (१८६६, खंड ३, पृष्ठ ३०५)[17]; कैसे ब्रिटिश मज़दूरों के नेता "ग्रामूलवादी पूंजीवादी ग्रौर मज़दूर" के बीच की सी कोई चीज़ बनते जा रहे हैं (होलियोक के सम्बन्ध में, खंड ४, पृष्ठ २०९); कैसे ब्रिटिश एकाधिकार के कारण, ग्रौर जब तक वह एकाधिकार बना रहेगा, तब तक "ब्रिटिश मज़दूर टस से मस न होंगे" (खंड ४, पृष्ठ ४३३)[18]। यहां पर मज़दूर ग्रान्दोलन की साधारण प्रगति **(ग्रौर उसके परिणाम)** के प्रसंग में ग्रार्थिक संघर्ष की कार्यनीति पर बड़े ही व्यापक, ग्रनेकांगी, द्वंद्ववादी ग्रौर सच्चे क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से विचार किया गया है।

राजनीतिक संघर्ष की कार्यनीति पर 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' ने यह ग्राधारभूत मार्क्सीय धारणा पेश की थी: "कम्युनिस्ट मज़दूर वर्ग के तात्कालिक उद्देश्यों ग्रौर हितों के लिए लड़ते हैं; किन्तु वर्तमान ग्रान्दोलन के साथ-साथ वे इस ग्रान्दोलन के भविष्य पर भी ध्यान रखते हैं, उसके भावी हितों के लिए भी लड़ते हैं।" इसीलिए १८४८ में मार्क्स ने "किसान क्रान्ति" पोलिश पार्टी का समर्थन किया था, "जिस पार्टी ने १८४६ में क्रैको विद्रोह का सूत्रपात किया था।" १८४८-१८४९ में जर्मनी में उन्होंने उग्र क्रान्तिकारी जनवाद का समर्थन किया ग्रौर बाद में, जो कुछ उन्होंने कार्यनीति के बारे में कहा था, उसका एक शब्द भी वापस नहीं लिया। उनकी दृष्टि में जर्मन पूंजीपति

"पहले से ही जनता से दग़ा करने के फेर में थे" (केवल किसानों से समझौता करके ही पूंजीपति पूरी तरह अपनी लक्ष्य-सिद्धि कर सकते थे) "और समाज की पुरानी व्यवस्था के ताजपोश प्रतिनिधियों से समझौता करने का उनमें रुझान था।" पंजीवादी-जनवादी क्रान्ति के समय जर्मन पूंजीपतियों की वर्ग-स्थिति का यह संक्षिप्त विश्लेषण इस प्रकार और बातों के साथ उस पदार्थवाद का एक नमूना है जो समाज को गतिशील रूप में देखता है, और गति के उसी रूप में नहीं जिसकी दिशा **पीछे** की ओर है: "इन्हें अपने ऊपर भरोसा नहीं है, जनता में भरोसा नहीं है; जो ऊपर हैं उन पर भुनभुनाते हैं, जो नीचे हैं उनसे ये थरथर कांपते हैं; ... भय है कि सारी दुनिया को हिला देनेवाला तूफ़ान न आ जाय; ... ताक़त कहीं नहीं, हर जगह लुकाचोरी; ... न कोई प्रेरणा ... ये जर्मन पूंजीवादी एक बूढ़े खूसट आदमी जैसे हैं जिसे अपनी बुढ़ौती के हितों के लिए एक नववयस्क और शक्तिमान जनता के प्रथम वयसुलभ प्रेरणाओं का मार्ग निर्देश करना पड़े..." ('नोये राइनिशे त्साइटुङ', १८४८; देखिये 'साहित्यिक विरासत', खंड ३, पृष्ठ २१२)[19] लगभग बीस साल बाद एंगेल्स को पत्र लिखते हुए ('पत्र-व्यवहार', खंड ३, पृष्ठ २२४) मार्क्स ने कहा था कि १८४८ की क्रान्ति की असफलता का कारण यह था कि पूंजीपतियों ने स्वतंत्रता के लिए लड़ने की कल्पना मात्र से ग़ुलामी के साथ शान्ति को श्रेयस्कर समझा। जब १८४८-१८४९ का क्रान्तिकारी युग समाप्त हो गया, तो मार्क्स ने क्रान्ति के साथ किसी भी तरह खिलवाड़ करने का भारी विरोध किया (शापर और विलिख़ और उनके विरुद्ध संघर्ष) और इस पर ज़ोर दिया कि नयी अवस्था में जब तथाकथित "शान्तिपूर्ण" ढंग से नयी क्रान्तियों की तैयारी हो रही है, हममें कार्य-क्षमता होनी चाहिए। १८५६ की घोर प्रतिक्रिया के दिनों में मार्क्स ने जर्मनी की स्थिति का जैसा विवरण दिया था उससे स्पष्ट है कि वह किस भावना से काम किया जाना पसन्द करते थे: "किसी दूसरे कृषक-युद्ध द्वारा सर्वहारा क्रान्ति के समर्थन किये जाने की संभावना पर ही जर्मनी में सब कुछ निर्भर है।" ('पत्र-व्यवहार', खंड २, पृष्ठ १०८)[20] जर्मनी में जब पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति चालू थी, तो समाजवादी सर्वहारा वर्ग की कार्यनीति में मार्क्स ने सारा ध्यान किसानों की जनवादी शक्ति को बढ़ाने में लगाया। उनका कहना था कि

और बातों के साथ लासाल का रवैया "वस्तुगत रूप से ... प्रशियन हित में सम्पूर्ण मज़दूर आन्दोलन के प्रति विश्वासघात था" (खंड ३, पृष्ठ २१०) क्योंकि वह जंकरों (प्रशा के ज़मींदारों—सं०) और प्रशियन राष्ट्रवाद की कार्यवाहियों पर आंखें मूंदे रहा। १८६५ को अपनी एक संयुक्त घोषणा के बारे में—जो प्रेस के लिए लिखी गयी थी—मार्क्स से विचार-विनिमय करते हुए एंगेल्स ने लिखा था: "ऐसे देश में जहां कृषि की बहुत बड़ी प्रधानता हो, औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के नाम पर पूंजीपतियों पर ही अकेले हमला करना, और सामन्तशाही अभिजात-वर्ग के अंकुश के नीचे ग्रामीण मज़दूर के दादापंथी शोषण के प्रति एक शब्द भी न कहना, निरी कायरता है।" (खंड ३, पृष्ठ २१७)[21] १८६४ से १८७० की अवधि में, जब जर्मनी में पूंजीवादी-जनवादी क्रान्ति का युग, वह युग जिस में प्रशा और आस्ट्रिया के शोषक वर्गों ने किसी न किसी तरह **ऊपर से** क्रान्ति को सम्पन्न करने के लिए युद्ध किया था, समाप्त हो रहा था, मार्क्स ने लासाल की ही भर्त्सना न की थी कि वह बिस्मार्क से मेल-मिलाप कर रहा था, वरन् **लीब्कनेख़्त** को भी ठीक रास्ता दिखाया क्योंकि वह "आस्ट्रिया-भक्ति" में निमग्न हो रहे थे और पार्टीक्युलारिज़्म[22] का पक्ष समर्थन करने लगे थे। मार्क्स ने उस क्रान्तिकारी कार्यनीति पर भरपूर ज़ोर दिया जो बिस्मार्क और "आस्ट्रिया-भक्ति" दोनों से ही समान निर्ममता से युद्ध करे, उस कार्यनीति जो न केवल "विजेता", प्रशियन जंकर[23] के अनुकूल न हो वरन् **उसी आधार पर**, जो प्रशा की सैनिक विजय से बना था, तुरन्त ही उस जंकर के विरुद्ध संघर्ष भी छेड़ दे। ('पत्र-व्यवहार', खंड ३, पृष्ठ १३४, १३६, १४७, १७९, २०४, २१०, २१५, ४१८, ४३७, ४४०-४४१)[24] इण्टरनेशनल में ९ सितम्बर १८७० के अपने प्रसिद्ध भाषण में मार्क्स ने फ़्रांसीसी सर्वहारा वर्ग को असमय विद्रोह करने की ओर से सावधान किया। लेकिन १८७१ में जब विद्रोह वास्तव में हो गया तो मार्क्स ने बड़े ही जोश से जनता की क्रान्तिकारी पहलक़दमी का स्वागत किया कि वह "आसमान को हिला देने" के लिए चली थी (कुगेलमन को मार्क्स का पत्र)। द्वंद्वात्मक पदार्थवाद के मार्क्सीय दृष्टिकोण से, सर्वहारा संघर्ष की सामान्य प्रगति **और उसके परिणाम** के दृष्टिकोण से ऐसी स्थिति में और ऐसी ही अन्य स्थितियों में, अब तक के मोर्चे से पीछे हट आने और बिना

युद्ध के आत्मसमर्पण कर देने की अपेक्षा क्रान्तिकारी आक्रमण की विफलता कम हानिकारक थी क्योंकि उस तरह के आत्मसमर्पण से सर्वहारा वर्ग का मनोबल क्षीण हो जाता और संघर्ष के लिए उसकी तत्परता नष्ट हो जाती। राजनीतिक शिथिलता के दिनों में और उन दिनों में जब पूंजीवाद का क़ानूनीपन फैला हुआ हो, तब लड़ाई के क़ानूनी साधनों के महत्व को पूरी तरह स्वीकार करते हुए, मार्क्स ने १८७७ और १८७८ में, जब जर्मनी में समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून[25] बना था, मोस्ट की "क्रान्तिकारी शब्दाडम्बर" की तीव्र निन्दा की थी। साथ ही उन्होंने उतनी ही तेज़ी से अवसरवाद पर भी हमला किया जो सरकारी सामाजिक-जनवादी पार्टी में कुछ समय के लिए अपने क़दम जमा चुका था। उस पार्टी ने समाजवाद-विरोधी क़ानून के जवाब में निश्चय, दृढ़ता और क्रान्तिकारी भावना तथा ग़ैर-क़ानूनी लड़ाई का झण्डा तुरन्त बुलन्द करने में तत्परता का परिचय नहीं दिया। ('पत्र-व्यवहार', खंड ४, पृष्ठ ३६७, ४०४, ४१८, ४२२, ४२४;[26] ज़ोर्गे को मार्क्स के पत्र भी देखिये।)

लेखन-काल: जुलाई-नवम्बर १९१४;
ग्रानात विश्वकोष, सातवें संस्करण, खंड २८ में
पहली बार प्रकाशित।
हस्ताक्षर: व्ला० इल्यीन

व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत
रचनाएं, चौथा रूसी
संस्करण, खंड २१,
पृष्ठ २७-६२

फ़्रेडरिक एंगेल्स

दीप बुझा जो सचमुच कैसा कान्तिवान् था,
हृदय रुका जो सचमुच कितना था विशाल औ' प्राणवान् था![27]

५ अगस्त, १८९५ को लंदन में फ़्रेडरिक एंगेल्स का देहांत हुआ। अपने मित्र कार्ल मार्क्स (जिनका देहांत १८८३ में हुआ था) के बाद एंगेल्स ही समूचे सभ्य संसार के आधुनिक सर्वहारा के सबसे विख्यात पंडित और आचार्य थे। जबसे भाग्य ने कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स को एक सूत्र में बांध दिया उस समय से इन दोनों मित्रों का जीवन-कार्य एक ही साझे ध्येय को अर्पित हो गया। अतः फ़्रेडरिक एंगेल्स ने सर्वहारा के लिए क्या किया यह समझने के लिए समकालीन मज़दूर आंदोलन के विकास के विषय में मार्क्स के कार्य और शिक्षा के महत्त्व की स्पष्ट कल्पना आवश्यक है। सबसे पहले मार्क्स और एंगेल्स ने ही दिखा दिया कि मज़दूर वर्ग और मज़दूर वर्ग की मांगें उस वर्तमान अर्थ-व्यवस्था का एक आवश्यक परिणाम हैं जो पूंजीवादी वर्ग के साथ अनिवार्य रूप से सर्वहारा को जन्म देती है और उसका संगठन करती है। उन्होंने दिखा दिया कि आज मनुष्य-जाति को उसे उत्पीड़ित करनेवाली बुराइयों के चंगुल से मुक्त करने का कार्य उदारचित्त व्यक्तियों के सदाशयतापूर्ण प्रयत्नों से नहीं, बल्कि संगठित सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष से संपन्न होगा। अपनी वैज्ञानिक रचनाओं में सबसे पहले मार्क्स और एंगेल्स ने ही स्पष्ट किया कि समाजवाद कोई स्वप्नदर्शियों का आविष्कार नहीं है, बल्कि है आधुनिक समाज की उत्पादक शक्तियों के विकास का अंतिम लक्ष्य और अनिवार्य परिणाम। आज तक का समूचा लिखित इतिहास वर्ग-संघर्ष का, विशिष्ट सामाजिक वर्गों द्वारा दूसरे वर्गों पर शासन और विजय का, इतिहास रहा है। और यह तब तक जारी रहेगा जब तक वर्ग-संघर्ष और वर्ग-शासन की बुनियादों – निजी संपत्ति और अव्यवस्थित सामाजिक उत्पादन – का लोप नहीं होगा। सर्वहारा

के हितों की दृष्टि से इन बुनियादों का नाश होना आवश्यक है और इसलिए संगठित मज़दूरों के सचेतन वर्ग-संघर्ष का रुख़ इनके विरुद्ध मोड़ देना चाहिए। और हर वर्ग-संघर्ष एक राजनीतिक संघर्ष है।

मार्क्स और एंगेल्स के ये दृष्टिकोण अब अपनी मुक्ति के लिए लड़नेवाले सभी सर्वहारावादियों ने अंगीकार कर लिये हैं। पर जब १६ वीं शताब्दी के ५ वें दशक में उक्त मित्र-द्वय ने अपने समय के समाजवादी साहित्य-सृजन और सामाजिक आंदोलनों में भाग लिया उस समय ये मत पूर्णतया नवीन थे। उस समय बहुत-से ऐसे लोग थे जो राजनीतिक स्वतंत्रता के संघर्ष में, राजा-महाराजाओं, पुलिस और पादरियों की स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध संघर्ष में रत होते हुए भी पूंजीवादी वर्ग के हितों और सर्वहारा के हितों के बीच का विरोध-भाव न देख पाये। इनमें प्रतिभाशाली लोग थे और प्रतिभाहीन भी, ईमानदार लोग थे और बेईमान भी। ये लोग यह विचार स्वीकार तक न करते थे कि मज़दूर एक स्वतंत्र सामाजिक शक्ति के रूप में काम करें। दूसरी ओर, कितने ही ऐसे स्वप्नदर्शी थे, और इनमें से कुछ प्रतिभाशाली भी थे, जो मानते थे कि बस, शासकों और शासक वर्गों को समकालीन समाज-व्यवस्था के अन्याय के बारे में विश्वास दिलाने भर की ज़रूरत है, फिर धरती पर शांति और आम ख़ुशहाली की स्थापना करना बायें हाथ का खेल हो जायेगा। वे बिना संघर्ष के समाजवाद के स्वप्न देखा करते थे। अंततः, उस समय के लगभग सभी समाजवादी और आम तौर पर मज़दूर वर्ग के मित्र सर्वहारा को एक **फोड़ा** भर मानते थे और भयग्रस्त होकर देखते थे कि उद्योग की वृद्धि के साथ यह फोड़ा भी कैसे बड़ा होता जा रहा था। अतः, वे सब इस बात पर तुले हुए थे कि उद्योग का और सर्वहारा का विकास कैसे रोका जाये, "इतिहास का पहिया" कैसे रोका जाये। सर्वहारा के विकास के आम भय में अंशभागी होना तो दूर ही रहा, उल्टे मार्क्स और एंगेल्स सर्वहारा की अप्रतिहत वृद्धि पर अपनी सारी आस लगाये हुए थे। सर्वहारा की संख्या जितनी अधिक होगी, क्रांतिकारी वर्ग के रूप में उसकी शक्ति उतनी ही अधिक होगी और समाजवाद समीपतर और संभवतर होगा। मार्क्स और एंगेल्स द्वारा की गयी मज़दूर वर्ग की सेवाओं का वर्णन संक्षेप में इन शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है: उन्होंने मज़दूर वर्ग को स्वयं अपने को पहचान लेने और अपने प्रति सचेत होने की शिक्षा दी, और स्वप्नों के स्थान में विज्ञान की स्थापना की।

इसी लिए हर मज़दूर को एंगेल्स के नाम और जीवन से परिचित होना आवश्यक है। यही कारण है कि इस लेख-संग्रह में हम वर्तमान सर्वहारा के दो महान आचार्यों में से एक, फ़्रेडरिक एंगेल्स के जीवन और कार्य की रूपरेखा प्रस्तुत करना आवश्यक मानते हैं। हमारे अन्य सभी प्रकाशनों की तरह इस लेख-संग्रह का उद्देश्य भी रूसी मज़दूरों के बीच वर्ग-चेतना को जागृत करना है।

एंगेल्स का जन्म १८२० में प्रशा राज्य के राइन प्रदेश में स्थित बार्मेन में हुआ था। उनके पिता एक कारख़ानेदार थे। १८३८ में एंगेल्स को जिम्नेज़ियम की शिक्षा पूरी किये बिना ही पारिवारिक परिस्थितियों के कारण ब्रेमेन के एक व्यापारिक प्रतिष्ठान में क्लर्क की नौकरी पकड़नी पड़ी। पर एंगेल्स की वैज्ञानिक और राजनीतिक शिक्षा जारी ही रही, उसमें व्यापारिक मामले कोई बाधा न डाल सके। जब वह जिम्नेज़ियम में पढ़ रहे थे उसी समय से निरंकुशशासन और नौकरशाहों के अत्याचारों से घृणा करने लगे थे। दर्शन का अध्ययन उन्हें और आगे ले गया। उन दिनों जर्मन दर्शन पर हेगेल की शिक्षा का प्रभाव था और एंगेल्स उनके अनुयायी बन गये। यद्यपि स्वयं हेगेल निरंकुश प्रशियन राज्य के प्रशंसक थे और बर्लिन विश्वविद्यालय के एक प्रोफ़ेसर के नाते उसकी सेवा कर रहे थे, फिर भी उनके **सिद्धांत** क्रांतिकारी थे। इस बर्लिनवासी दार्शनिक के जो शिष्य वर्तमान परिस्थिति के साथ राज़ीनामा करने से इनकार करते थे उन्हें मनुष्य की तर्कशक्ति और उसके अधिकारों में हेगेल का विश्वास और हेगेलवादी दर्शन का यह आधारभूत सिद्धांत कि विश्व परिवर्तन और विकास की एक सतत प्रक्रिया के अधीन है, इस विचार की ओर अग्रसर कर रहा था कि इस परिस्थिति के विरुद्ध संघर्ष, वर्तमान अन्याय और चालू बुराई के विरुद्ध संघर्ष भी अनंत विकास के सर्वव्यापी नियम में दृढ़मूल है। यदि सब बातें विकसित होती हैं, यदि संस्थाएं दूसरी संस्थाओं को स्थान देती हैं, तो क्या कारण है कि प्रशियन राजा या रूसी ज़ार की निरंकुशता, विशाल बहुमत को हानि पहुंचाकर नगण्य अल्पमत की समृद्धि या जनता पर पूंजीवादी वर्ग का प्रभुत्व सदैव बना रहे? हेगेल के दर्शन ने मन और विचारों के विकास की बात की; वह **आदर्शवादी** दर्शन था। मन के विकास से उसने प्रकृति, मनुष्य और मानवीय, सामाजिक संबंधों के विकास का तर्क-निर्णय निकाला। हेगेल का विकास की अनंत

प्रक्रिया* विषयक विचार बनाये रखते हुए मार्क्स और एंगेल्स ने पूर्वचिंतित आदर्शवादी दृष्टिकोण अस्वीकार किया ; जीवन के तथ्यों की ओर मुड़ते हुए उन्होंने अवलोकन किया कि मन का विकास प्रकृति के विकास का स्पष्टीकरण नहीं देता बल्कि इसके विपरीत मन का स्पष्टीकरण प्रकृति से, पदार्थ से प्राप्त होना चाहिए ... हेगेल और अन्य हेगेलवादियों के विपरीत मार्क्स और एंगेल्स पदार्थवादी थे। संसार और मनुष्य-जाति की ओर पदार्थवादी दृष्टिकोण से देखते हुए उन्होंने अनुभव किया कि जिस प्रकार प्रकृति के सभी व्यापारों के मूल में भौतिक कारण रहते हैं उसी प्रकार मनुष्य समाज का विकास भी भौतिक, उत्पादक शक्तियों के विकास द्वारा निर्द्धारित होता है। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ज़रूरी वस्तुओं के उत्पादन में मनुष्य मनुष्य के बीच जो परस्पर संबंध स्थापित होते हैं वे उत्पादक शक्तियों के विकास पर ही निर्भर करते हैं। और इन संबंधों में ही सामाजिक जीवन के सभी व्यापारों, मानवीय आकांक्षाओं, विचारों और नियमों का स्पष्टीकरण निहित होता है। उत्पादक शक्तियों का विकास निजी संपत्ति पर आधारित सामाजिक संबंधों को जन्म देता है, पर अब हम जानते हैं कि उत्पादक शक्तियों का यह विकास ही बहुमत को उसकी संपत्ति से वंचित कर देता है और यह संपत्ति नगण्य अल्पमत के हाथों में केंद्रित कर देता है। वह संपत्ति को, अर्थात् वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के आधार को नष्ट कर देता है, वह स्वयं ही उसी लक्ष्य की ओर बढ़ता है जिसे समाजवादी अपने सामने रखे हुए हैं। समाजवादियों को बस यह समझ लेना है कि इन सामाजिक शक्तियों में से कौनसी शक्ति वर्तमान समाज में अपनी स्थिति के कारण समाजवाद को लाने में रुचि रखती है, और इस शक्ति को उसके हितों और ऐतिहासिक मिशन की चेतना प्रदान करनी है। यह शक्ति है सर्वहारा। एंगेल्स को यह इंगलैंड में, ब्रिटिश उद्योग के केंद्र मैंचेस्टर में ज्ञात हुआ जहां वह एक व्यापारिक प्रतिष्ठान की सेवा में प्रवेश करके १८४२ में बस गये थे। उनके पिता इस प्रतिष्ठान के एक हिस्सेदार थे। यहां एंगेल्स केवल फ़ैक्टरी के दफ़्तर में नहीं बैठे

---

*मार्क्स और एंगेल्स ने समय समय पर स्पष्ट किया है कि अपने बौद्धिक विकास में वे महान् जर्मन दार्शनिकों और विशेषकर हेगेल के ऋणी हैं। "जर्मन दर्शन के बिना," एंगेल्स कहते हैं, "वैज्ञानिक समाजवाद का जन्म ही न होता।"[28]

रहे, उन्होंने उन गंदी गलियों के चक्कर लगाये जहां मज़दूर दरबों की सी जगहों में रहते थे। उन्होंने अपनी आंखों उनकी दरिद्रता और दयनीय दशा देखी। पर वह केवल वैयक्तिक निरीक्षण करके ही नहीं रहे। ब्रिटिश मज़दूर वर्ग की स्थिति के संबंध में जो भी सामग्री देखने में आयी, उन्होंने सारी की सारी पढ़ डाली और जो भी सरकारी काग़ज़ात हाथ लगे, उन्होंने उन सबका ध्यान से अध्ययन किया। इन अध्ययनों और निरीक्षणों का फल १८४५ में प्रकाशित 'इंगलैंड के मज़दूर वर्ग की स्थिति' शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकट हुआ। 'इंगलैंड के मज़दूर वर्ग की स्थिति' के लेखक के नाते एंगेल्स ने जो मुख्य सेवा की उसका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं। एंगेल्स के पहले भी कितने ही लोगों ने सर्वहारा के कष्टों का वर्णन और उसकी सहायता की आवश्यकता के प्रति संकेत किया था। पर एंगेल्स ही वह **पहले** व्यक्ति थे जिन्होंने कहा कि सर्वहारा **न केवल** कष्टग्रस्त वर्ग है, पर यह कि वस्तुतः सर्वहारा की लज्जाजनक आर्थिक स्थिति उसे अप्रतिहत रूप से आगे बढ़ा रही है और उसकी अंतिम मुक्ति के लिए लड़ने को विवश कर रही है। और लड़ाकू सर्वहारा **स्वयं अपनी सहायता कर लेगा।** मज़दूर वर्ग का राजनीतिक आंदोलन अनिवार्य रूप से मज़दूरों को अनुभव करायेगा कि उनकी एकमात्र मुक्ति समाजवाद में निहित है। दूसरी ओर, समाजवाद तभी एक शक्ति बनेगा जब वह मज़दूर **वर्ग** के **राजनीतिक** संघर्ष का उद्देश्य बन जायेगा। ये हैं इंगलैंड के मज़दूर वर्ग की स्थिति से संबंधित एंगेल्स की पुस्तक के मुख्य विचार। ये विचार अब सभी विचारशील और संघर्षरत सर्वहारावादियों ने अंगीकार कर लिये हैं, पर उस समय वे पूर्णतया नवीन थे। इन विचारों का प्रकाशन एक ऐसी पुस्तक में हुआ जो हृदयग्राही शैली में लिखी हुई है और ब्रिटिश सर्वहारा की दयनीय दशा के अत्यंत प्रामाणिक और भयानक चित्रों से भरपूर है। यह पुस्तक पूंजीवाद और पूंजीवादी वर्ग के विरुद्ध एक घोर अभियोग-पत्र सिद्ध हुई। उसने बहुत ही गंभीर प्रभाव उत्पन्न किया। आधुनिक सर्वहारा की स्थिति के सर्वोत्तम चित्र प्रस्तुत करनेवाली पुस्तक के रूप में एंगेल्स की इस रचना को सर्वत्र उद्धृत किया जाने लगा। और वस्तुतः न १८४५ के पहले और न उसके बाद ही मज़दूर वर्ग की दयनीय दशा का इतना प्रभावोत्पादक और सत्यदर्शी चित्र और कहीं प्रस्तुत हो पाया है।

इंगलैंड में आ बसने के बाद ही एंगेल्स समाजवादी बने। मैंचेस्टर में उन्होंने

उस समय के ब्रिटिश मज़दूर आंदोलन में सक्रिय भाग लेनेवाले लोगों से संपर्क स्थापित किये और अंग्रेजी समाजवादी प्रकाशनों के लिए लेख लिखना आरंभ किया। १८४४ में जर्मनी लौटते समय वह पेरिस में मार्क्स से परिचित हुए। मार्क्स के साथ उनका पत्र-व्यवहार इससे पहले ही जारी हुआ था। पेरिस में फ़्रांसीसी समाजवादियों और फ़्रांसीसी जीवन के प्रभाव से मार्क्स भी समाजवादी बन गये थे। यहां इस मित्र-द्वय ने संयुक्त रूप से एक पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक है 'पवित्र परिवार या आलोचनात्मक आलोचना की आलोचना'। यह पुस्तक 'इंगलैंड के मज़दूर वर्ग की स्थिति' के एक वर्ष पहले प्रकाशित हुई और इसका अधिकांश मार्क्स ने लिखा। इसमें क्रांतिकारी-पदार्थवादी समाजवाद के आधार समाविष्ट हैं जिनके मुख्य विचारों की व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। 'पवित्र परिवार' दार्शनिक बावेर बंधुओं और उनके अनुयायियों का चुटकीला उपनाम है। इन सज्जनों ने ऐसी आलोचना का उपदेश दिया जो समूची वास्तविकता के परे हो, जो पार्टियों और राजनीति के परे हो, जो सारी व्यावहारिक गतिविधि से इनकार करती हो और जो केवल "आलोचनात्मक ढंग से" आसपास के संसार का और उसमें घट रही घटनाओं का चिंतन करती हो। इन सज्जनों ने, अर्थात् बावेर बंधुओं ने सर्वहारा को घमंड से एक आलोचना शून्य समूह माना। मार्क्स और एंगेल्स ने बड़े जोश के साथ इस बेहूदी और हानिकारक प्रवृत्ति का विरोध किया। एक वास्तविक मानवीय व्यक्तित्व – अर्थात् शासक वर्गों और राज्य द्वारा पददलित मज़दूर – के नाम पर उन्होंने चिंतन की नहीं, बल्कि अधिक अच्छी समाज-व्यवस्था के लिए संघर्ष की मांग की। अवश्य ही उन्होंने सर्वहारा को यह संघर्ष खड़ा करने योग्य और उसमें दिलचस्पी रखनेवाली शक्ति माना। 'पवित्र परिवार' के प्रकाशित होने से पहले ही एंगेल्स ने मार्क्स और रूगे के 'जर्मन-फ़्रांसीसी पत्रिका' में 'राजनीतिक अर्थशास्त्र विषयक आलोचनात्मक निबंध'[29] प्रकाशित किये थे जिनमें उन्होंने समाजवादी दृष्टिकोण से समकालीन अर्थ-व्यवस्था के प्रधान व्यापारों का परीक्षण किया था और यह निष्कर्ष निकाला था कि वे निजी संपत्ति के प्रभुत्व के आवश्यक परिणाम थे। मार्क्स ने राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन करने का निश्चय किया इसमें निःसंशय एंगेल्स के साथ उनके वैचारिक संपर्क का हाथ था। इस विज्ञान के क्षेत्र में मार्क्स की रचनाओं ने वस्तुतः क्रांति कर दी।

१८४५ से १८४७ तक एंगेल्स ब्रसेल्स और पेरिस में रहे और अपनी वैज्ञानिक साधना को ब्रसेल्स और पेरिस के जर्मन मज़दूरों के बीच की व्यावहारिक गतिविधियों का साथ दिया। यहां मार्क्स और एंगेल्स ने गुप्त जर्मन 'कम्युनिस्ट लीग' के साथ संपर्क स्थापित किया और लीग ने उन्हें उनके द्वारा रचित समाजवाद के मुख्य सिद्धांतों की व्याख्या करने का कार्य सौंप दिया। इस प्रकार मार्क्स और एंगेल्स विरचित सुप्रसिद्ध 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' प्रकट हुआ। यह १८४८ में प्रकाशित हुआ। यह छोटी-सी पुस्तिका अनेकानेक ग्रंथों का मूल्य रखती है: आज भी उसकी आत्मा समूचे सभ्य संसार के संगठित और संघर्षरत सर्वहारा को स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करती है।

१८४८ की क्रान्ति ने, जो पहले फ़्रांस में उत्पन्न हुई और फिर पश्चिमी यूरोप के अन्य देशों में फैल गयी, मार्क्स और एंगेल्स को फिर से उनकी मातृभूमि के दर्शन कराये। यहां, राइनी प्रशा में उन्होंने कोलोन से प्रकाशित होनेवाले जनवादी 'नया राइनी समाचारपत्र' ('नोये राइनिशे त्साइटुङ') की बागडोर अपने हाथों में ली। ये दोनों मित्र राइनी प्रशा की सारी क्रान्तिकारी-जनवादी आकांक्षाओं के हृदय और आत्मा थे। उन्होंने आख़िरी दम तक प्रतिक्रियावादी शक्तियों के विरुद्ध जनता के हितों और स्वतंत्रता की रक्षा की। जैसा कि हम जानते हैं, जीत प्रतिक्रियावादी शक्तियों की हुई। 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' का गला घोंट दिया गया। मार्क्स को, जो पिछले निर्वासन-काल में अपनी प्रशियाई नागरिकता खो चुके थे, फिर निर्वासित कर दिया गया; पर एंगेल्स ने सशस्त्र जन-विप्लव में भाग लिया, स्वतंत्रता के लिए तीन लड़ाइयों में जौहर दिखाया और विप्लवकारियों की पराजय के बाद स्विट्ज़रलैंड से होकर लंदन भाग गये।

मार्क्स भी वहीं बस गये। एंगेल्स फिरेक बार मैंचेस्टर के उसी व्यापारिक प्रतिष्ठान में क्लर्क बन गये जहां वे उन्नीसवीं शताब्दी के पांचवें दशक में काम करते थे। बाद में वह उक्त प्रतिष्ठान के हिस्सेदार बने। १८७० तक वह मैंचेस्टर में रहे जब कि मार्क्स लंदन में रहते थे। फिर भी इससे उनके अत्यंत जीवंत बौद्धिक संपर्क के जारी रहने में कोई बाधा न आयी: लगभग हर रोज़ उनकी चिट्ठी-पत्री चलती थी। इस पत्र-व्यवहार द्वारा मित्र-द्वय ने दृष्टिकोणों एवं ज्ञान का आदान-प्रदान और वैज्ञानिक समाजवाद की रचना में सहयोग जारी

रखा। १८७० में एंगेल्स लंदन चले गये और वहां उनका भारी परिश्रम से भरपूर संयुक्त बौद्धिक जीवन १८८३ तक अर्थात् मार्क्स के देहांत तक जारी रहा। इस परिश्रम का फल मार्क्स की ओर से 'पूंजी' रहा, जो राजनीतिक अर्थशास्त्र पर हमारे युग की सबसे महान् रचना है, और एंगेल्स की ओर से कितनी ही छोटी-मोटी रचनाएं। मार्क्स ने पूंजीवादी अर्थतंत्र के जटिल व्यापारों के विश्लेषण पर काम किया। एंगेल्स ने सीधी-सादी और अक्सर खंडन-मंडनात्मक भाषा में लिखी हुई अपनी रचनाओं में साधारणतः वैज्ञानिक समस्याओं और अतीत तथा वर्तमान की विविध घटनाओं का विवेचन इतिहास की पदार्थवादी धारणा और मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत के प्रकाश में किया। एंगेल्स की इन रचनाओं में से हम निम्नलिखित रचनाओं का उल्लेख करेंगे: ड्यूहरिंग के विरुद्ध की खंडन-मंडनात्मक रचना (जिसमें दर्शन, प्राकृतिक विज्ञान और सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र की अत्यंत महत्वपूर्ण समस्याओं का विश्लेषण किया गया है)*, 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' (रूसी में अनुवादित, सेंट-पीटर्सबर्ग में प्रकाशित, तृतीय संस्करण, १८९५), 'लुडविग फ़ायरबाख़' (टिप्पणियों सहित रूसी अनुवाद प्लेख़ानोव द्वारा, जेनेवा, १८९२), रूसी सरकार की विदेश नीति के संबंध में एक लेख (जेनेवा के 'सोत्सिअल-देमोक्रात' के पहले और दूसरे अंकों में रूसी में अनुवादित)[32], मकानों के सवाल पर कुछ उत्कृष्ट लेख[33], और अंत में, रूस के आर्थिक विकास के संबंध में दो छोटे पर अतिमूल्यवान् लेख ('रूस के संबंध में फ़्रेडरिक एंगेल्स के विचार'[34], वेरा ज़ासुलिच द्वारा रूसी में अनुवादित, जेनेवा, १८९४)। 'पूंजी' से संबंधित विशाल काम पूरा होने से पहले ही मार्क्स का देहांत हुआ। फिर भी कच्चे रूप में यह काम तैयार था। अपने मित्र की मृत्यु के बाद एंगेल्स ने 'पूंजी' के द्वितीय और तृतीय खंडों की तैयारी और प्रकाशन का भारी काम अपने कंधों पर लिया। उन्होंने द्वितीय खंड १८८५ में और तृतीय खंड १८९४ में प्रकाशित किया (उनकी मृत्यु के कारण चतुर्थ खंड की तैयारी में बाधा पड़ी)[35]। उक्त दो

---

*यह बहुत ही अनोखी और शिक्षादायी पुस्तक है।[30] दुर्भाग्य से उसका एक छोटा-सा हिस्सा ही रूसी में अनुवादित किया गया है। इस हिस्से में समाजवाद के विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा दी गयी है ('वैज्ञानिक समाजवाद का विकास', द्वितीय संस्करण, जेनेवा, १८९२)[31]।

खंडों के प्रकाशन की तैयारी का काम बहुत ही परिश्रमपूर्ण था। आस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादी एडलर ने ठीक ही कहा कि 'पूंजी' के द्वितीय और तृतीय खंडों के प्रकाशन द्वारा एंगेल्स ने अपने प्रतिभाशाली मित्र का भव्य स्मारक खड़ा किया, एक ऐसा स्मारक जिसपर न चाहते हुए भी उन्होंने अपना नाम अमिट रूप में अंकित कर दिया। और वस्तुतः 'पूंजी' के इन दो खंडों के रचयिता दो व्यक्ति हैं: मार्क्स और एंगेल्स। प्राचीन इतिहास में मैत्री के कितने ही हृदयस्पर्शी उदाहरण मिलते हैं। यूरोपीय सर्वहारा कह सकता है कि उसके विज्ञान की रचना दो ऐसे पंडितों और योद्धाओं ने की जिनके परस्पर संबंधों ने प्राचीन लोगों की मानवीय मैत्री की अत्यंत हृदयस्पर्शी कथाओं को पीछे छोड़ दिया। एंगेल्स सदा ही – और आम तौर पर न्यायसंगत रूप से – अपने को मार्क्स के बाद रखते थे। "मार्क्स के जीवन काल में," उन्होंने अपने एक पुराने मित्र को लिखा था, "मैंने पूरक भूमिका अदा की।"[36] जीवित मार्क्स के प्रति उनका प्रेम और मृत मार्क्स की स्मृति के प्रति उनका आदर असीम था। इस दृढ़ योद्धा और कठोर विचारक का हृदय गहरे प्रेम से परिपूर्ण था।

१८४८-४९ के आंदोलन के बाद निर्वासन-काल में मार्क्स और एंगेल्स केवल वैज्ञानिक कार्य में ही नहीं व्यस्त रहे। १८६४ में मार्क्स ने 'अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर सभा' की स्थापना की और पूरे दशक भर इस संस्था का नेतृत्व किया। एंगेल्स ने भी इस संस्था के कार्य में सक्रिय भाग लिया। 'अंतर्राष्ट्रीय सभा' ने मार्क्स के विचारानुसार सभी देशों के सर्वहारावादियों को एक किया और मज़दूर वर्ग के आंदोलन के विकास की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। पर १९ वीं शताब्दी के आठवें दशक में उक्त सभा का अंत होने के बाद भी मार्क्स और एंगेल्स की एकीकरण विषयक भूमिका नहीं समाप्त हुई। इसके विपरीत कहा जा सकता है कि मज़दूर आंदोलन के आध्यात्मिक नेताओं के रूप में उनका महत्त्व सतत बढ़ता रहा, क्योंकि स्वयं यह आंदोलन भी अप्रतिहत रूप से प्रगति करता रहा। मार्क्स की मृत्यु के बाद अकेले एंगेल्स यूरोपीय समाजवादियों के परामर्शदाता और नेता बने रहे। उनका परामर्श और मार्गदर्शन जर्मन समाजवादी और स्पेन, रूमानिया, रूस आदि जैसे पिछड़े देशों के प्रतिनिधि भी समान रूप से चाहते थे। जर्मन समाजवादियों की शक्ति सरकारी यंत्रणाओं के बावजूद शीघ्रता से और सतत बढ़ रही थी और उक्त पिछड़े देशों के प्रतिनिधि अपने पहले क़दमों के बारे

में विचार करने और क़दम उठाने को विवश थे। वे सब वृद्ध एंगेल्स के ज्ञान और अनुभव के समृद्ध भंडार से लाभ उठाते थे।

मार्क्स और एंगेल्स दोनों रूसी भाषा जानते थे और रूसी पुस्तकें पढ़ा करते थे। रूस के बारे में **वे** जीवंत रुचि लेते थे, रूसी क्रांतिकारी आंदोलन के प्रति सहानुभूति रखते थे और रूसी क्रांतिकारियों से संपर्क बनाये हुए थे। समाजवादी बनने से पहले वे दोनों **जनवादी** थे और राजनीतिक निरंकुशता के प्रति **घृणा** की जनवादी भावना उनमें बहुत ही बलवती थी। इस प्रत्यक्ष राजनीतिक भावना, उसके साथ साथ राजनीतिक निरंकुशता और आर्थिक उत्पीड़न के बीच के संबंधों की गंभीर सैद्धांतिक समझबूझ और इसी तरह जीवन विषयक समृद्ध अनुभव ने मार्क्स और एंगेल्स को यथार्थतः **राजनीतिक** दृष्टिकोण से असाधारण रूप में संवेदनशील बना दिया। इसी कारण बलशाली ज़ारशाही सरकार के विरुद्ध मुट्ठी-भर रूसी क्रांतिकारियों के संघर्ष ने इन जांचे-परखे क्रांतिकारियों के हृदयों में सहानुभूति की प्रतिध्वनि उत्पन्न की। दूसरी ओर, मायावी आर्थिक सुविधाओं की प्राप्ति के लिए रूसी समाजवादियों के सबसे फ़ौरी और सबसे महत्त्वपूर्ण काम की ओर से, यानी राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने की ओर से मुंह मोड़ लेने की प्रवृत्ति की ओर उन्होंने संशय की दृष्टि से देखा, और इतना ही नहीं, उन्होंने उसे सामाजिक क्रांति के महान् कार्य के प्रति विश्वासघात माना। "सर्वहारा की मुक्ति स्वयं सर्वहारा का ही काम होना चाहिए" – मार्क्स और एंगेल्स बराबर यही सीख देते रहे।[37] पर अपनी आर्थिक मुक्ति के लिए सर्वहारा को अपने लिए कुछ **राजनीतिक** अधिकार प्राप्त कर लेने चाहिए। इसके अलावा मार्क्स और एंगेल्स ने स्पष्ट रूप से देखा कि रूस की राजनीतिक क्रांति पश्चिमी-यूरोपीय मज़दूर आंदोलन के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी। स्वेच्छाचारी रूस सदा से ही आम तौर पर यूरोपीय प्रतिक्रिया का गढ़ रहा था। एक लंबे समय तक जर्मनी और फ़्रांस के बीच अनबन के बीज बोनेवाले १८७० के युद्ध के परिणामस्वरूप रूस को प्राप्त हुई अत्यधिक अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय स्थिति ने अवश्य ही प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में स्वेच्छाचारी रूस का महत्त्व बढ़ा ही दिया। केवल स्वतंत्र रूस, यानी वह रूस, जिसे न पोलों, फ़िन्नियों, जर्मनों, अर्मनियों या अन्य छोटे-मोटे राष्ट्रों को उत्पीड़ित करने की और न ही फ़्रांस और जर्मनी को बराबर एक दूसरे के विरुद्ध उभाड़ने की आवश्यकता होती, वही वर्तमान यूरोप को युद्ध के भार से

मुक्त होने में समर्थ बना देता, यूरोप के सभी प्रतिक्रियावादी तत्त्वों को निर्बल कर देता ग्रौर यूरोपीय मज़दूर वर्ग की शक्ति बढ़ा देता। इसलिए एंगेल्स की उत्कट इच्छा थी कि पश्चिम के मजदूर ग्रांदोलन की प्रगति के हित में भी रूस में राजनीतिक स्वतंत्रता की स्थापना हो। एंगेल्स की मृत्यु से रूसी क्रांतिकारियों का श्रेष्ठ मित्र खो गया।

सर्वहारा के महान् योद्धा ग्रौर ग्राचार्य फ़्रेडरिक एंगेल्स की स्मृति ग्रमर रहे!

लेखन-काल : शरद, १८९५

'रबोत्निक' लेख-संग्रह ग्रंक १-२,	व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं,
१८९६ में पहली बार प्रकाशित	चौथा रूसी संस्करण, खंड २, पृष्ठ १-१३

मार्क्सवाद के तीन स्रोत तथा तीन संघटक अंग

पूरे सभ्य जगत में मार्क्स की शिक्षाओं को पूंजीवादी विज्ञान के समस्त क्षेत्र में (सरकारी भी और उदारवादी भी) अत्यंत द्वेष और घृणा की दृष्टि से देखा जाता है, पूंजीवादी विज्ञान मार्क्सवाद को एक प्रकार का "ख़तरनाक सम्प्रदाय" समझता है। इसके अतिरिक्त और किसी रवैये की आशा भी नहीं की जा सकती क्योंकि वर्ग-संघर्ष पर आधारित समाज में "निष्पक्ष" सामाजिक विज्ञान हो ही नहीं सकता। **समस्त** सरकारी तथा उदारवादी विज्ञान किसी न किसी ढंग से मजूरी पर आधारित दासता की **रक्षा करता है** जबकि मार्क्सवाद मजूरी पर आधारित दासता के विरुद्ध अंत तक लड़ने की घोषणा कर चुका है। ऐसे समाज में जिसमें मनुष्य मजूरी के लिए दास बन जाता हो विज्ञान से निष्पक्ष होने की आशा करना उतनी ही बड़ी मूर्खता है जितनी कि उद्योगपतियों से इस प्रश्न पर निष्पक्षता की आशा करना कि पूंजी के मुनाफ़े में कमी करके क्या मज़दूरों की मजूरी बढ़ा दी जाये।

परंतु इतना ही नहीं है। दर्शनशास्त्र का इतिहास और सामाजिक विज्ञान का इतिहास पूर्ण स्पष्टता से इस बात को बताता है कि मार्क्सवाद में "संप्रदाय-वाद" जैसी कोई चीज़ नहीं है, इस अर्थ में कि वह कोई रूढ़िबद्ध, जड़ मत हो, ऐसा मत जो विश्व सभ्यता के विकास के प्रशस्त मार्ग से **हटकर कहीं अलग से** उत्पन्न हुआ हो। इसके विपरीत, मार्क्स की प्रतिभा इसी बात में तो निहित है कि उन्होंने ऐसे प्रश्नों का उत्तर मालूम किया जिन्हें मानव-जाति के प्रमुखतम विचारक पहले ही उठा चुके थे। उनकी शिक्षाएं दर्शनशास्त्र, राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा समाजवाद के महानतम प्रतिनिधियों की शिक्षाओं के प्रत्यक्ष तथा सन्निकट **क्रम** के रूप में उत्पन्न हुईं।

मार्क्सीय विचारधारा इसलिए सर्वशक्तिमान है कि वह सत्य है। वह सम्पूर्ण तथा सुसंगत है और मनुष्य को विश्व के बारे में एक ऐसी अविभाज्य अवधारणा प्रदान करती है जिसका किसी भी प्रकार के अंधविश्वास, प्रतिक्रिया या पूंजीवादी उत्पीड़न की रक्षा से कोई भी समझौता असंभव है। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन दर्शनशास्त्र, अंग्रेज़ों के राजनीतिक अर्थशास्त्र तथा फ़्रांसीसी समाजवाद के रूप में मानव-जाति की जो भी सर्वश्रेष्ठ रचनाएं थीं, मार्क्सवाद उसी का वैध उत्तराधिकारी है।

हम मार्क्सवाद के इन्हीं तीन स्रोतों पर, जो साथ ही उसके संघटक अंग भी हैं, संक्षेप में विचार करेंगे।

१

मार्क्सवाद का दार्शनिक सिद्धांत **पदार्थवाद** है। यूरोप के पूरे आधुनिक इतिहास में, और विशेष रूप से अठारहवीं शताब्दी के अंत में फ़्रांस में, जो हर प्रकार के मध्ययुगीन कचरे के विरुद्ध, संस्थाओं तथा विचारों में दासता के विरुद्ध एक निर्णायक युद्ध का रणस्थल बना हुआ था, पदार्थवाद एकमात्र ऐसा दर्शन सिद्ध हुआ है जो सुसंगत है, प्राकृतिक विज्ञान की समस्त शिक्षाओं की कसौटी पर पूरा उतरता है और अंधविश्वास, तंत्र-मंत्र, आदि का विरोधी है। इसलिए जनवाद के शत्रुओं ने पदार्थवाद का "खंडन करने", उसकी जड़ खोखली करने और उसे कलंकित करने की पूरी चेष्टा की और दार्शनिक भाववाद के विविध रूपों का प्रचार किया, जिसका अर्थ हमेशा, किसी न किसी रूप में, धर्म का पक्ष लेना या उसका समर्थन करना होता है।

मार्क्स तथा एंगेल्स ने अत्यंत दृढ़संकल्प रूप से दार्शनिक पदार्थवाद की रक्षा की और बार-बार इस बात को समझाया कि इस आधार से किसी भी दिशा में हटना कितनी भारी भूल है। एंगेल्स की 'लुडविग फ़ायरबाख़' तथा 'ड्यूहरिंग मत-खंडन'[३४] नामक रचनाओं में उनके विचारों की अत्यंत सुस्पष्ट तथा पूर्ण व्याख्या की गयी है, 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' की तरह ही ये रचनाएं भी हर वर्ग-चेतन मज़दूर के लिए गुटकाएं हैं।

परंतु मार्क्स अठारहवीं शताब्दी के पदार्थवाद पर आकर रुक नहीं गये, उन्होंने दर्शनशास्त्र को आगे बढ़ाया। उन्होंने उसे जर्मन प्रामाणिक दर्शनशास्त्र

की उपलब्धियों से, विशेषतः हेगेल की दर्शन-पद्धति की उपलब्धियों से, समृद्ध बनाया; फ़ायरबाख़ का पदार्थवाद हेगेल की ही दर्शन-पद्धति का परिणाम था। इन उपलब्धियों में सबसे मुख्य उपलब्धि **द्वंद्वात्मकता का सिद्धांत** है, अर्थात् अपने पूर्णतम तथा गूढ़तम रूप में विकासवाद का सिद्धांत जो एकांगीपन से सर्वथा मुक्त है, मानव-ज्ञान की सापेक्षता का सिद्धांत जिसमें हमें सतत विकासवान पदार्थ का प्रतिबिंब मिलता है। पूंजीवादी दार्शनिकों की शिक्षाओं के बावजूद, जो "नये सिरे से" फिर पुराने सड़े हुए भाववाद की शरण में जा रहे हैं, प्राकृतिक विज्ञान के नवीनतम अनुसंधानों ने – रेडियम, एलेक्ट्रोन, तत्वों के रूपांतरण ने – मार्क्स के द्वंद्वात्मक पदार्थवाद की सराहनीय पुष्टि की है।

दार्शनिक पदार्थवाद को और गहरा बनाकर और उसे विकसित करके मार्क्स ने उसे पूर्णता प्रदान की, उसके प्रकृति के ज्ञान को बढ़ाकर **मानव-समाज के ज्ञान** तक पहुंचाया। मार्क्स का **ऐतिहासिक पदार्थवाद** वैज्ञानिक विचारों की सबसे महान सफलता थी। उससे पहले इतिहास तथा राजनीति से संबंधित दृष्टिकोणों के क्षेत्र में जो अराजकता और स्वेच्छाचारिता फैली हुई थीं उनके स्थान पर एक ऐसे अत्यंत एकाकार तथा सामंजस्यपूर्ण विज्ञाननिष्ठ सिद्धांत की स्थापना हुई जो बताता है कि किस प्रकार उत्पादक शक्तियों के विकास के फलस्वरूप सामाजिक जीवन की एक व्यवस्था में से एक दूसरी और उच्चतर व्यवस्था का विकास होता है – उदाहरण के लिए, किस प्रकार सामंतवाद में से पूंजीवाद का विकास होता है।

जिस प्रकार मनुष्य का ज्ञान प्रकृति (अर्थात् विकासवान पदार्थ) को प्रतिबिंबित करता है जिसका अस्तित्व मनुष्य से स्वतंत्र है, उसी प्रकार उसका **सामाजिक ज्ञान** (अर्थात् उसके विविध दृष्टिकोण तथा मत – दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक, आदि) समाज की **आर्थिक व्यवस्था** को प्रतिबिंबित करता है। राजनीतिक संस्थाएं आर्थिक नींव के ऊपर एक ढांचा होती हैं। उदाहरण के लिए, हम देखते हैं कि आधुनिक यूरोपीय राज्यों के विभिन्न राजनीतिक रूप सर्वहारा वर्ग पर पूंजीपति वर्ग के शासन को दृढ़ बनाने का काम देते हैं।

मार्क्स का दर्शन परिमार्जित दार्शनिक पदार्थवाद है, जिसने मानव-जाति को, विशेष रूप से मज़दूर वर्ग को, ज्ञान के शक्तिशाली साधन प्रदान किये हैं।

इस बात को जान लेने के बाद कि आर्थिक व्यवस्था ही वह नींव होती है जिसपर राजनीतिक ढांचे का निर्माण किया जाता है, मार्क्स ने सबसे अधिक ध्यान इसी आर्थिक व्यवस्था के अध्ययन की ओर दिया। मार्क्स की प्रमुख रचना 'पूंजी' आधुनिक, अर्थात् पूंजीवादी समाज की आर्थिक व्यवस्था के ही अध्ययन को अर्पित है।

मार्क्स से पहले प्रामाणिक राजनीतिक अर्थशास्त्र की उत्पत्ति इंगलैंड में हुई, जो पूंजीवादी देशों में सबसे उन्नत देश था। ऐडम स्मिथ और डैविड रिकार्डो ने आर्थिक व्यवस्था के विषय में अपनी गवेषणाओं द्वारा **श्रम द्वारा मूल्य के निर्धारण के सिद्धांत** की नींव डाली। मार्क्स ने उनके काम को और आगे बढ़ाया। उन्होंने इस सिद्धांत को पूरी तरह सिद्ध कर दिया और बड़े सुसंगत रूप से इस सिद्धांत को विकसित किया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि हर माल का मूल्य इस बात से निर्धारित होता है कि उसके उत्पादन में सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम-समय कितना लगाया गया।

जबकि पूंजीवादी अर्थशास्त्रवेत्ताओं ने वस्तुओं के पारस्परिक संबंध (एक माल के बदले में दूसरे माल के विनिमय) को देखा था, मार्क्स ने **मनुष्यों के पारस्परिक संबंध** का रहस्योद्घाटन किया। माल का विनिमय मंडी के माध्यम से अलग-अलग उत्पादकों के पारस्परिक संबंध को व्यक्त करता है। **मुद्रा** इस बात की द्योतक है कि यह संबंध निरंतर घनिष्ठतर होता जा रहा है और अलग-अलग उत्पादकों के आर्थिक जीवन को एक समष्टि के रूप में अभिन्न रूप से बांधे दे रहा है। **पूंजी** इसी बंधन के विकास की अगली मंज़िल है: मनुष्य की श्रम-शक्ति एक बिकाऊ माल बन जाती है। मजूरी लेकर काम करनेवाला मज़दूर अपनी श्रम-शक्ति को भूमि, कारख़ानों तथा श्रम के साधनों के मालिकों के हाथ बेच देता है। मज़दूर दिन का एक भाग स्वयं अपने और अपने परिवार के भरण-पोषण का ख़र्च (मजूरी) जुटाने के लिए व्यय करता है, और दिन के शेष भाग में मज़दूर बिना पारिश्रमिक के श्रम करता है, और इस प्रकार पूंजीपति के लिए **अतिरिक्त मूल्य** का सृजन करता है, जो मुनाफ़े का स्रोत है, पूंजीपति वर्ग की सम्पदा का स्रोत है।

अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत मार्क्स के आर्थिक सिद्धांत की आधार-शिला है।

मज़दूर के श्रम द्वारा उत्पन्न की गयी पूंजी छोटे-छोटे मालिकों को तबाह करके और बेरोज़गारों की एक पल्टन की पल्टन तैयार करके स्वयं मज़दूर के लिए एक बोझ बन जाती है। उद्योग-धंधों में ता बड़े पैमाने के उत्पादन की विजय तुरंत स्पष्ट हो जाती है परंतु कृषि में भी हम यही क्रिया देखते हैं: बड़े पैमाने की पूंजीवादी कृषि की श्रेष्ठता बढ़ती जाती है, मशीनों का उपयोग बढ़ता जाता है, कृषक अर्थतंत्र के गले में मुद्रा-पूंजी का फंदा पड़ जाता है, उसका ह्रास होने लगता है और अपनी पिछड़ी हुई प्रविधि के बोझ के नीचे दबकर वह तबाह हो जाता है। कृषि में छोटे पैमाने के उत्पादन का ह्रास विभिन्न रूप धारण करता है, परंतु यह बात कि ह्रास होता है एक अकाट्य सत्य है।

छोटे पैमाने के उत्पादन को तबाह करके पूंजी इसके बाद श्रम की उत्पादिता में वृद्धि करती है और बड़े पूंजीपतियों के संगठनों के लिए इजारेदारी की स्थिति उत्पन्न करती है। उत्पादन स्वयं अधिकाधिक सामाजिक रूप धारण करता जाता है–लाखों-करोड़ों मज़दूर एक सुव्यवस्थित आर्थिक संगठन में एक-दूसरे से बंध जाते हैं–परंतु इस सामूहिक श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं को मुट्ठी भर पूंजीपति हड़प लेते हैं। उत्पादन की अराजकता और इसके साथ ही संकट, मंडियों के लिए भगदड़ और जन-साधारण के जीवन में अरक्षा बढ़ती जाती है।

पूंजी पर मज़दूरों के परावलम्बन को बढ़ाने के साथ ही पूंजीवादी व्यवस्था समूहबद्ध मज़दूरों की महान शक्ति को जन्म देती है।

मार्क्स ने माल पर आधारित अर्थतंत्र के प्रथम अंकुरों से लेकर, साधारण विनिमय से लेकर, उसके उच्चतम रूप अर्थात् बड़े पैमाने के उत्पादन तक पूंजीवाद के विकास-क्रम का पता लगाया।

और पुराने तथा नये सभी पूंजीवादी देशों का अनुभव प्रति वर्ष अधिकाधिक मज़दूरों के सामने इस मार्क्सीय सिद्धांत के सत्य को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर रहा है।

पूंजीवाद ने सारे संसार में विजय प्राप्त कर ली है परंतु यह विजय पूंजी पर श्रम की विजय की भूमिका मात्र है।

जब सामंतवाद का तख़्ता उलट दिया गया और ईश्वर की इस पृथ्वी पर "**स्वतंत्र**" पूंजीवादी समाज का उदय हुआ तो यह बात तुरंत स्पष्ट हो गयी कि इस स्वतंत्रता का अर्थ श्रमिकों के उत्पीड़न तथा शोषण की एक नयी व्यवस्था था। इस उत्पीड़न के प्रतिबिंब के रूप में और इसके विरोध में फ़ौरन विविध प्रकार के समाजवादी मत जन्म लेने लगे। परंतु प्रारंभिक समाजवाद **काल्पनिक** समाजवाद था। वह पूंजीवादी समाज की आलोचना करता था, उसकी निंदा करता था और उसे कोसता था, वह उसके विनाश के स्वप्न देखता था, वह एक बेहतर व्यवस्था की सुखद कल्पनाओं में मगन रहता था और इस बात का प्रयास करता था कि धनवान लोग शोषण की अनैतिकता पर विश्वास करने लगें।

परंतु काल्पनिक समाजवाद बाहर निकलने का सही मार्ग नहीं बता सका। वह न तो पूंजीवाद के अंतर्गत मजूरी पर आधारित दासता के सार-तत्व की ही व्याख्या कर सका, न पूंजीवाद के विकास के नियमों का ही पता लगा सका और न उस **सामाजिक शक्ति** की ओर संकेत ही कर सका जो एक नये समाज की रचयित्री बनने की क्षमता रखती है।

इसी दौरान में सामंतवाद और कृषि-दासता के पराभव के साथ यूरोप भर में, और विशेष रूप से फ़्रांस में, जो तूफ़ानी क्रांतियां हुईं उनसे यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी कि इस पूरे विकास का आधार और उसकी प्रेरक शक्ति **वर्गों का संघर्ष** है।

सामंती वर्ग के विरुद्ध राजनीतिक स्वतंत्रता की एक भी विजय ऐसी नहीं थी जो घोर प्रतिरोध का सामना किये बिना प्राप्त की गयी हो। एक भी पूंजीवादी देश ऐसा नहीं है जो पूंजीवादी समाज के विभिन्न वर्गों के बीच प्राणपण संघर्ष के बिना न्यूनाधिक रूप में स्वतंत्र तथा जनवादी आधार पर विकसित हुआ हो।

मार्क्स की प्रतिभा इस बात में निहित है कि वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इससे वह निष्कर्ष निकाला जो विश्व का इतिहास हमें सिखाता है और सुसंगत रूप से इस निष्कर्ष को लागू किया। यह निष्कर्ष **वर्ग-संघर्ष** सिद्धांत है।

लोग अपने भोलेपन के कारण राजनीति में दूसरे के हाथों धोखा खाते आये हैं और अपने आपको धोखा देते आये हैं और जब तक वे हर नैतिक, धार्मिक,

राजनीतिक श्रौर सामाजिक कथन, घोषणा श्रौर वादे के पीछे किसी न किसी वर्ग के **हितों** का पता लगाना नहीं सीखेंगे तब तक वे इसी प्रकार धोखे का शिकार होते रहेंगे। सुधारों श्रौर छोटे-मोटे हेर-फेर के समर्थक जब तक यह नहीं समझ लेंगे कि हर पुरानी संस्था, वह कितनी ही बर्बरतापूर्ण श्रौर सड़ी हुई क्यों न प्रतीत होती हो, कुछ शासक वर्गों के बल-बूते पर ही स्थापित रहती है, तब तक पुरानी व्यवस्था के संरक्षक उन्हें बेवकूफ़ बनाते रहेंगे। श्रौर इन वर्गों के प्रतिरोध को चकनाचूर करने का **केवल एक** ही तरीक़ा है श्रौर वह यह कि जिस समाज में हम रह रहे हैं उसी में उन शक्तियों का पता लगाना श्रौर उन्हें संघर्ष के लिए जागृत तथा संगठित करना, जो पुरातन को ढाकर नूतन का सृजन कर सकनेवाली शक्ति बन सकती हों – श्रौर श्रपनी सामाजिक स्थिति के कारण जिन्हें ऐसी शक्ति बनना **चाहिए**।

केवल मार्क्स के दार्शनिक पदार्थवाद ने ही सर्वहारा वर्ग को श्रात्मा की उस दासता से मुक्ति का मार्ग दिखाया है जिसमें सभी उत्पीड़ित वर्ग श्रब तक जकड़े हुए दम तोड़ रहे थे। केवल मार्क्स के श्रार्थिक सिद्धांत ने ही पूंजीवाद की सामान्य व्यवस्था में सर्वहारा वर्ग की वास्तविक स्थिति की व्याख्या की है।

श्रमरीका से लेकर जापान तक श्रौर स्वीडेन से लेकर दक्षिणी श्रफ़्रीका तक सारे संसार में सर्वहारा वर्ग के स्वतंत्र संगठनों की संख्या बढ़ती जा रही है, श्रपना वर्ग-संघर्ष चलाकर सर्वहारा वर्ग जागृत हो रहा है श्रौर सीख रहा है, वह पूंजीवादी समाज के पूर्वाग्रहों के बंधन से मुक्त होता जा रहा है, वह श्रपनी पांतों को श्रौर भी घनिष्ठ रूप से संगठित कर रहा है श्रौर श्रपनी सफलताश्रों को श्रांकना सीखता जा रहा है, वह श्रपनी शक्तियों को फ़ौलादी बना रहा है श्रौर श्रदम्य वेग से श्रागे बढ़ रहा है।

'प्रोस्वेश्चेनिये', श्रंक ३, मार्च १६१३
हस्ताक्षर: व० इ०

व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा
रूसी संस्करण, खंड १६, पृष्ठ ३-८

मार्क्सवाद और संशोधनवाद

एक प्रसिद्ध कहावत है कि यदि रेखागणित की स्वयंसिद्धियों का मनुष्य के हितों पर प्रभाव पड़ता होता तो उनका भी खंडन करने का प्रयत्न किया जाता। जो प्राकृतिक-ऐतिहासिक सिद्धांत धर्म की प्राचीन रूढ़ियों से टकराते थे, उनका बहुत घोर विरोध किया गया और अब भी किया जाता है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मार्क्सवादी विचारधारा को, जो आधुनिक समाज के आगे बढ़े हुए वर्ग को जागृत तथा संगठित करने में प्रत्यक्ष रूप से सहायता देती है, इस वर्ग के कर्तव्य इंगित करती है और यह सिद्ध करती है कि वर्तमान समाज-व्यवस्था स्थान पर एक नयी व्यवस्था की स्थापना (आर्थिक विकास की बदौलत) अनिवार्य है, अपनी प्रगति के हर क़दम पर लड़ना पड़ा।

पूंजीवादी विज्ञान और दर्शन के बारे में बात करना व्यर्थ है; ये विषय सम्पन्न वर्गों की उदीयमान पीढ़ी के दिमाग़ में भ्रम पैदा करने और उसे देश के भीतर के तथा विदेशी शत्रुओं के विरुद्ध "सिखा-पढ़ाकर तैयार करने" के उद्देश्य से सरकारी प्रोफ़ेसरों द्वारा सरकारी ढंग से पढ़ाये जाते हैं। यह विज्ञान तो मार्क्सवाद का नाम भी सुनने को तैयार नहीं होगा और यह कह देगा कि इसका तो खंडन हो चुका है और इसे समूल नष्ट किया जा चुका है। नवयुवक वैज्ञानिक जो समाजवाद का खंडन करके अपना भविष्य उज्ज्वल कर रहे हैं और पुराने खुर्राट जो भांति-भांति की सभी सड़ी-गली "प्रणालियों" की परम्पराओं की रक्षा कर रहे हैं, दोनों ही समान उत्साह से मार्क्स पर प्रहार करते हैं। मार्क्सवाद की प्रगति को और इस बात को देखकर कि उसके विचार मज़दूर वर्ग के बीच फैल रहे हैं और मज़बूती से जड़ पकड़ रहे हैं अनिवार्य रूप से मार्क्सवाद के विरुद्ध पूंजीवादियों के ये आक्रमण ज़्यादा जल्दी-जल्दी और ज़ोरदार होते जाते हैं, परंतु

हर बार सरकारी विज्ञान द्वारा "समूल नष्ट" कर दिये जाने के बाद मार्क्सवाद अधिक शक्तिशाली, अधिक कठोर और अधिक स्फूर्तिमय हो जाता है।

परंतु उन मतों के बीच भी, जिनका संबंध मज़दूर वर्ग के संघर्ष से है और जो मुख्यतः सर्वहारा वर्ग में प्रचलित हैं, मार्क्सवाद की स्थिति तुरंत सुदृढ़ नहीं हो गयी। अपने अस्तित्व के पहले पचास वर्षों में (१९ वीं शताब्दी के पांचवें दशक के बाद से) मार्क्सवाद उन विचारधाराओं से लड़ने में फंसा रहा जो मूलतः उसकी विरोधी थीं। इस पांचवें दशक के पूर्वार्द्ध में मार्क्स और एंगेल्स ने उग्र नवयुवक हेगेलवादियों से निबटारा किया, जो दार्शनिक भाववाद के मतानुयायी थे। पांचवें दशक के अंत में इस संघर्ष ने आर्थिक विचारधारा के क्षेत्र पर आक्रमण करके प्रूदोंवाद[39] से मोर्चा लिया। छठे दशक में यह संघर्ष पूरा हुआ: १८४८ के तूफ़ानी दिनों में सामने आनेवाली पार्टियों तथा विचारधाराओं की आलोचना। सातवें दशक में यह संघर्ष आम सिद्धांतों के क्षेत्र से हटाकर एक ऐसे क्षेत्र में पहुंचा दिया गया जो प्रत्यक्ष रूप से मज़दूर वर्ग के आंदोलन के अधिक निकट था: इंटरनेशनल से बकूनिनवाद का बहिष्कार। आठवें दशक के आरंभ में कुछ समय के लिए जर्मनी में प्रूदोंवादी म्यूलबर्गर का और आठवें दशक के अंत में अस्तित्ववादी ड्यूहरिंग का बोलबाला रहा। परंतु सर्वहारा वर्ग पर दोनों ही का प्रभाव उस समय भी बिल्कुल नगण्य था। मज़दूर वर्ग के आंदोलन में मार्क्सवाद की अन्य सभी विचारधाराओं की अपेक्षा निर्विवाद रूप से विजय प्राप्त होने लगी थी।

अंतिम दशक में यह विजय मुख्यतः पूरी हो गयी। लैटिन देशों में भी, जहां प्रूदोंवाद की परम्पराएं सबसे अधिक समय तक बनी रहीं, मज़दूरों की पार्टियों ने वास्तव में अपने कार्यक्रम और कार्यनीति मार्क्सवादी आधार पर बनायी। थोड़े-थोड़े समय बाद होनेवाली अंतर्राष्ट्रीय कांग्रेसों के रूप में मज़दूर वर्गीय आंदोलन के पुनर्स्थापित अंतर्राष्ट्रीय संगठन ने आरंभ से ही, प्रायः बिना किसी संघर्ष के सभी मूलभूत प्रश्नों के विषय में मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाया। परंतु जब मार्क्सवाद ने न्यूनाधिक रूप में एकाकार उन सभी विचारधाराओं को, जो उसके विरुद्ध थीं, परास्त कर दिया तो उन सिद्धांतों में अभिव्यक्त प्रवृत्तियां अपने लिए दूसरे मार्ग ढूंढने लगीं। संघर्ष के रूप और उसके उद्देश्य तो बदलते गये पर संघर्ष जारी रहा। और मार्क्सवाद के अस्तित्व की दूसरी अर्थ-शताब्दी का आरंभ (अंतिम

दशक में) मार्क्सवाद के भीतर ही मार्क्सवाद की विरोधी एक प्रवृत्ति के संघर्ष से हुआ।

बर्न्सटीन ने, जो किसी समय कट्टर मार्क्सवादी था, सबसे अधिक शोर मचाकर और मार्क्स के विचारों में परिवर्तन, मार्क्स के संशोधन, संशोधनवाद[40] की सबसे सुगठित अभिव्यक्ति देकर इस प्रवृत्ति को अपना नाम दिया। रूस में भी, जहां देश के आर्थिक पिछड़ेपन के कारण और कृषि-दासता के अवशेषों से उत्पीड़ित किसान जनसंख्या के बाहुल्य के कारण अ-मार्क्सीय समाजवाद के पैर स्वाभाविक रूप से सबसे अधिक समय तक जमे रहे हैं, वह हमारे देखते-देखते स्पष्टतः संशोधनवाद का रूप धारण करता जा रहा है। कृषि समस्या (सारी भूमि को स्थानीय समितियों के अधीन करने का कार्यक्रम) और कार्यक्रम तथा कार्यनीति की आम समस्याओं दोनों ही के संबंध में, हमारे सामाजिक-नारोदनिक पुरानी प्रणाली के मरणासन्न तथा अप्रयोजनीय अवशेषों के स्थान पर मार्क्स के विचारों में किये गये "संशोधनों" को अधिकाधिक प्रयोग कर रहे हैं, जबकि यह प्रणाली स्वयं अपने ढंग से एकाकार और मूलतः मार्क्सवाद की विरोधी थी।

मार्क्स से पहले के समाजवाद को चकनाचूर कर दिया गया है। अब वह स्वयं अपने स्वतंत्र आधार पर नहीं बल्कि संशोधनवाद के रूप में मार्क्सवाद के आम आधार पर इस संघर्ष को जारी रख रहा है। इसलिए आइये हम संशोधनवाद की सैद्धांतिक विषय-वस्तु का निरीक्षण करें।

दर्शन के क्षेत्र में संशोधनवाद ने पूंजीवादी अध्यापकीय "विज्ञान" के पद-चिह्नों का अनुसरण किया। प्रोफ़ेसर लोग "कान्ट की शरण में वापस" चले गये — और संशोधनवाद ने इन नव-कान्टवादियों का अनुसरण किया: प्रोफ़ेसरों ने उन्हीं तुच्छ बातों को दोहराया जो पुरोहित वर्ग हज़ारों बार दार्शनिक पदार्थवाद के विरुद्ध कह चुका था और संशोधनवादी भी बड़े अहंकार से मुस्कराते हुए (नवीनतम गुटके के अनुसार शब्दशः) बुदबुदाने लगे कि पदार्थवाद का तो बहुत समय पहले "खंडन" हो चुका है। प्रोफ़ेसरों ने हेगेल को "मरा हुआ कुत्ता"[41] समझा और यद्यपि वे स्वयं भाववाद का प्रचार करते थे, बस उनका भाववाद हेगेल के भाववाद से कई हज़ार गुना तुच्छ और ओछा था, परंतु वे द्वंद्ववाद पर बड़े तिरस्कार के साथ अपने कंधे बिचकाते थे — और "कुटिलतापूर्ण" (और क्रांतिकारी) द्वंद्ववाद के स्थान पर "सरल" (और शान्त) "विकासवाद" की स्थापना करके

संशोधनवादी लस्टम-पस्टम उनके पीछे चलते हुए विज्ञान को दार्शनिक दृष्टि से भ्रष्ट करने के दलदल में फंस गये। प्रोफ़ेसर लोग अपनी भाववादी तथा "आलोचनात्मक" दोनों ही प्रणालियों को सबसे शक्तिशाली मध्ययुगीन "दर्शन" (अर्थात् धर्म-ज्ञान) के सांचे में बिठाकर शासक वर्ग से वेतन पाते थे–और संशोधनवादी भी उनके निकट आ गये थे और वे धर्म को एक "निजी मामला" ठहराने का प्रयत्न करते थे, आधुनिक राज्य के प्रसंग में नहीं बल्कि आगे बढ़े हुए वर्ग की पार्टी के प्रसंग में।

यह बताने की तो आवश्यकता नहीं कि मार्क्स के विचारों में इस प्रकार के "संशोधनों" का वास्तविक वर्ग-महत्व क्या था–वह तो स्वतः स्पष्ट है। हम केवल इतना कहेंगे कि अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवादी आंदोलन में प्लेख़ानोव ही अकेले मार्क्सवादी थे जो संशोधनवादियों की बेतुकी और ओछी बातों की आलोचना सुसंगत द्वंद्ववादी पदार्थवाद के दृष्टिकोण से करते थे। इस बात पर और अधिक ज़ोर देना इसलिए आवश्यक है कि इस समय प्लेख़ानोव की कार्यनीति संबंधी अवसरवादिता की आलोचना की आड़ में पुराना और प्रतिक्रियावादी दार्शनिक कूड़ा-करकट फिर चोरी से लाने की बिल्कुल ग़लत कोशिशें की जा रही हैं।*

राजनीतिक अर्थशास्त्र के क्षेत्र पर विचार करते हुए सबसे पहले इस बात का उल्लेख करना होगा कि इस क्षेत्र में संशोधनवादियों के "सुधार" कहीं अधिक विशद तथा परिस्थितिजन्य थे: "आर्थिक विकास से संबंधित नये तथ्य-आंकड़े" प्रस्तुत करके सर्वसाधारण पर प्रभाव डालने के प्रयत्न किये गये। यह कहा गया कि कृषि के क्षेत्र में तो यह बिल्कुल ही नहीं होता कि उत्पादन कुछ हाथों में केंद्रित होता जाये और बड़े पैमाने का उत्पादन छोटे पैमाने के उत्पादन को हड़प ले और वाणिज्य तथा उद्योग के क्षेत्रों में भी यह क्रिया बहुत धीरे-धीरे होती है। यह

---

*बोग्दानोव, बाज़ारोव आदि द्वारा लिखित 'मार्क्सवाद के दर्शन से संबंधित गवेषणा' नामक पुस्तक देखिये। यह इस पुस्तक पर बहस करने की जगह नहीं है और मैं यहां केवल इतना कहूंगा कि निकट भविष्य में मैं कई क्रमिक लेखों में या एक अलग पुस्तिका में यह साबित कर दूंगा कि मैंने इस लेख में नव-कांटवादी संशोधनवादियों के विषय में **जो कुछ** कहा है वह मूलतः इन "नये" नव-ह्यूमवादी तथा नव-बर्कलेवादी संशोधनवादियों[42] पर भी लागू होता है।

कहा गया कि आर्थिक संकट अब पहले की अपेक्षा कम हो गये हैं और उनकी तीव्रता भी कम हो गयी है और कदाचित कार्टेलों तथा ट्रस्टों की सहायता से पूंजीपति आर्थिक संकटों से बिल्कुल छुटकारा पा जायेंगे। यह कहा गया कि पूंजीवाद के तीव्र गति से अपने "पतन" की ओर जाने के बारे में जो "सिद्धांत" प्रतिपादित किया गया है वह निराधार है क्योंकि वर्ग-विरोध मंद पड़ते जा रहे हैं और उनकी तीव्रता कम होती जा रही है। अंत में यह कहा गया कि मार्क्स के मूल्य संबंधी सिद्धांत को बोह्म-बावर्क[43] के सिद्धांत के अनुसार सुधार देना भी अनुचित न होगा।

इन प्रश्नों पर संशोधनवादियों के विरुद्ध लड़ाई के परिणामस्वरूप अंतर्राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धांत संबंधी विचारों का उतना ही फलप्रद पुनरुत्थान हुआ जितना कि इससे बीस बरस पहले ड्यूहरिंग के साथ एंगेल्स के वाद-विवाद से हुआ था। तथ्यों और आंकड़ों की सहायता से संशोधनवादियों के तर्कों का विश्लेषण किया गया। यह सिद्ध कर दिया गया कि संशोधनवादी छोटे पैमाने के आधुनिक उत्पादन को उपयोगी ठहराने का बाक़ायदा प्रयत्न कर रहे थे। अकाट्य तथ्यों द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया है कि केवल उद्योगों में ही नहीं बल्कि कृषि में भी बड़े पैमाने का **उत्पादन** छोटे पैमाने के उत्पादन की अपेक्षा प्रविधि तथा वाणिज्य दोनों ही की दृष्टि से श्रेष्ठतर है। परंतु कृषि में माल का उत्पादन अपेक्षतः बहुत कम विकसित है और आधुनिक सांख्यिकों तथा अर्थशास्त्रवेत्ताओं में कोई भी, बिना किसी अपवाद के, कृषि की उन विशेष शाखाओं का (और कभी-कभी तो क्रियाओं का भी) पता लगाने में बहुत निपुण नहीं है जो इस बात की परिचायक हैं कि कृषि भी धीरे-धीरे विश्व अर्थतंत्र के **विनिमय** के क्षेत्र में खिंचती आ रही है। छोटे पैमाने का उत्पादन पौष्टिकता के निरंतर ह्रास द्वारा, लोगों को सदा भूखा रखकर, दिन में काम के घंटे बढ़ाकर, मवेशियों के गुणों में निरंतर पतन द्वारा और मवेशियों की देख-भाल की ओर निरंतर कम ध्यान देकर प्राकृतिक अर्थतंत्र के खंडहरों पर अपने आपको जीवित रखता है, सारांश यह कि वह भी उन्हीं तरीक़ों से अपने आपको जीवित रखता है जिनसे दस्तकारी के उत्पादन ने अपने आपको पूंजीवादी उत्पादन के मुक़ाबले में जीवित रखा। विज्ञान तथा प्रविधि के क्षेत्र में होनेवाली हर प्रगति अनिवार्य रूप से और बड़ी निर्ममता के साथ पूंजीवादी समाज में छोटे पैमाने के उत्पादन की जड़ें खोखली करती है और यह

समाजवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र का काम है कि वह इस प्रक्रिया के बारे में उसके सभी रूपों में, जो बहुधा जटिल और पेचीदा होते हैं, खोजबीन करे और छोटे पैमाने पर उत्पादन करनेवाले को यह दिखाये कि पूंजीवाद के अंतर्गत उसका सफल होना असंभव है, पूंजीवाद के अंतर्गत अलग-अलग किसानों द्वारा खेती का भविष्य सर्वथा निराशाजनक है और किसानों के लिए सर्वहारा वर्ग का दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। इस प्रश्न पर एकतरफ़ा ढंग से तथ्य चुनकर और पूरी पूंजीवादी प्रणाली के प्रसंग में उन्हें जांचे बिना बड़े सतही ढंग से उनसे आम निष्कर्ष निकालकर संशोधनवादियों ने वैज्ञानिक दृष्टि से बहुत बड़ा अपराध किया; राजनीतिक दृष्टिकोण से उन्होंने यह पाप किया कि उन्होंने अनिवार्य रूप से, चाहे वे चाहते रहे हों या न चाहते रहे हों, किसान को आमंत्रण दिया या उससे अनुरोध किया कि वह मालिकों का (अर्थात् पूंजीपति वर्ग का) दृष्टिकोण अपनाये, बजाय इसके कि वे उससे क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग का दृष्टिकोण अपनाने का अनुरोध करते।

जहां तक आर्थिक संकटों से संबंधित सिद्धांत और पूंजीवाद के तीव्र गति से अपने पतन की ओर अग्रसर होने के सिद्धांत का प्रश्न था, तो इस संबंध में संशोधनवाद की स्थिति और भी बुरी थी। केवल बहुत ही थोड़े समय तक लोग कुछ वर्षों की औद्योगिक तेज़ी और समृद्धि से प्रभावित होकर मार्क्सवादी सिद्धांत की नींव को नया रूप देने की बात सोच सकते थे, और सो भी केवल ऐसे लोग जो सबसे अधिक अदूरदर्शी थे। तथ्यों ने शीघ्र ही संशोधनवादियों के सामने यह स्पष्ट कर दिया कि आर्थिक संकट कोई अतीत की बात नहीं हैं: समृद्धि के बाद संकट आया। हर आर्थिक संकट का रूप, उसका क्रम और उसकी शक्ल बदलती रहती है पर आर्थिक संकट पूंजीवादी प्रणाली का एक अनिवार्य अंग है। कार्टेल तथा ट्रस्ट उत्पादन-क्रम को एकबद्ध करने के साथ ही उत्पादन की अराजकता को, सर्वहारा वर्ग के अस्तित्व के उपायों के अभाव को और पूंजी द्वारा होनेवाले उत्पीड़न को बढ़ा देते हैं, और सो भी इस ढंग से कि सभी लोग स्पष्ट रूप से देख सकें, और इस प्रकार वे वर्ग-विरोधों को भी अभूतपूर्व सीमा तक तीव्र कर देते हैं। पूंजीवाद तीव्र गति से अपने पतन की ओर अग्रसर है – अलग-अलग राजनीतिक तथा आर्थिक संकटों की दृष्टि से भी और पूरी पूंजीवादी प्रणाली के पूरी तरह ढह जाने की दृष्टि से भी – यह बात नवीनतम

विशाल ट्रस्टों द्वारा ही बहुत अधिक तथा बहुत बड़े पैमाने पर स्पष्ट हो गयी है। हाल ही में अमरीका में जो वित्तीय संकट आया था और सारे यूरोप में बेरोज़गारी में जो भयावह वृद्धि हुई है और तिस पर वह मंडलाता हुआ औद्योगिक संकट जिसके अनेक चिह्न दिखायी देने लगे हैं – इन सब बातों से यह सिद्ध हो गया है कि इधर संशोधनवादियों ने जो "सिद्धांत" गढ़े थे उन्हें सब लोग भूलते जा रहे हैं। यहां तक कि ऐसा प्रतीत होता है कि कई संशोधनवादी स्वयं भी उन्हें भूलते जा रहे हैं। परंतु बुद्धिजीवियों की इस अस्थिरता से मज़दूर वर्ग ने जो सबक़ सीखे हैं उन्हें नहीं भूलना चाहिए।

जहां तक मूल्य-संबंधी सिद्धांत का संबंध है, केवल इतना ही बता देना काफ़ी है कि इस क्षेत्र में कुछ संकेतों और बोह्म-बावर्क के लिए कुछ बहुत ही घुटी हुई आहें भरने के अतिरिक्त संशोधनवादियों ने कुछ भी नहीं किया है और इसी लिए वैज्ञानिक विचारधारा के विकास पर उनकी कोई छाप नहीं पड़ी है।

राजनीति के क्षेत्र में संशोधनवादियों ने मार्क्सवाद के मूल आधार अर्थात् वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत में सुधार करने का सचमुच यत्न किया। हमें बताया गया कि राजनीतिक स्वतंत्रता, जनवाद तथा सार्वत्रिक मताधिकार के कारण वर्ग-संघर्ष का कोई आधार ही नहीं रह गया है और 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' का यह पुराना विचार कि मज़दूरों का कोई देश नहीं होता निरर्थक हो गया है। उन्होंने कहा कि जनवाद में चूंकि "बहुमत की इच्छा" ही बलवती होती है इसलिए हमें न तो राज्य को वर्ग-शासन का साधन समझना चाहिए और न प्रतिक्रियावादियों के विरुद्ध प्रगतिशील, सामाजिक-सुधारवादी पूंजीपति वर्ग के साथ समझौते के विचार को ही ठुकराना चाहिए।

इससे तो इंकार नहीं किया जा सकता कि संशोधनवादियों द्वारा उठायी गयी इन आपत्तियों ने मिलकर एक काफ़ी सुसंगत विचार-पद्धति का, अर्थात् पुराने तथा सुपरिचित उदारवादी-पूंजीवादी विचारों का, रूप धारण कर लिया था। उदारवादी हमेशा से यह कहते आये हैं कि पूंजीवादी संसदीय प्रणाली वर्गों तथा वर्ग-विभाजनों को नष्ट कर देती है क्योंकि बिना किसी भेदभाव के सभी नागरिकों को मतदान तथा राज्य के मामलों में हिस्सा लेने का अधिकार होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का यूरोप का पूरा इतिहास और बीसवीं शताब्दी के आरंभ का रूसी क्रांति का पूरा इतिहास इस बात का स्पष्ट प्रमाण हैं कि ये

विचार कितने बेतुके हैं। "जनवादी" पूंजीवाद की स्वतंत्रता के अधीन आर्थिक असमानता दूर नहीं होती बल्कि और बढ़ जाती है तथा अधिक उग्र रूप धारण कर लेती है। संसदीय शासन-पद्धति जनवादी से जनवादी पूंजीवादी गणतंत्रों के इस जन्मजात स्वभाव को कि वे वर्ग-शोषण के साधन होते हैं दूर करने के बजाय सबके सामने स्पष्ट कर देती है। जितने लोग पहले राजनीतिक घटनाओं में सक्रिय रूप से भाग लेते थे उससे कहीं अधिक व्यापक पैमाने पर जन-साधारण में जागृति फैलाने तथा उन्हें संगठित करने में सहायता पहुंचाकर संसदीय शासन-पद्धति संकटों तथा राजनीतिक क्रांतियों को दूर करने के बजाय ऐसी क्रांतियों के दौरान में गृहयुद्ध को तीव्रतम बना देने का साधन बन जाती है। १८७१ की वसंत ऋतु की पेरिस की घटनाओं ने और १९०५ की सर्दियों में रूस की घटनाओं ने स्पष्टतम रूप से यह दिखा दिया कि गृहयुद्ध में इस तीव्रता का आना कितना अनिवार्य है। सर्वहारा आंदोलन को कुचलने के लिए फ़्रांसीसी पूंजीपति वर्ग ने एक क्षण भी संकोच किये बिना पूरे राष्ट्र के शत्रु के साथ विदेशी सेना के साथ सांठ-गांठ कर ली, जिसने मातृभूमि को तबाह कर दिया था। जो भी संसदीय शासन-पद्धति तथा पूंजीवादी जनतंत्र के इस अनिवार्य अंतर्निहित द्वंद्व को नहीं समझता—जिसके फलस्वरूप झगड़े का निबटारा पहले की अपेक्षा अधिक उग्रता के साथ तथा अधिक जनव्यापी हिंसा के प्रयोग द्वारा होता है—वह संसदीय शासन-पद्धति के इस आधार पर कभी भी आन्दोलन तथा प्रचार का ऐसा काम नहीं कर सकेगा जो सिद्धांत की दृष्टि से सुसंगत हो और न ही वह मज़दूर जनता को इन "झगड़ों" में विजय प्राप्त करने के लिए सचमुच तैयार कर सकेगा। पश्चिमी देशों में सामाजिक-सुधारवादी उदारवादियों के साथ और रूसी क्रांति में उदारवादी सुधारवादियों (सांविधानिक-जनवादियों[44]) के साथ की गयी मैत्रियों, समझौतों तथा संधियों ने निश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया कि ये समझौते जनता की चेतना को केवल मंद कर देते हैं और लड़नेवालों का संबंध ऐसे तत्वों के साथ स्थापित करके, जिनमें लड़ने की क्षमता कम होती है और जो सबसे अधिक ढुलमुल तथा विश्वासघाती होते हैं, उनके संघर्ष के वास्तविक महत्व को बढ़ाने के बजाय कम कर देते हैं। फ़्रांसीसी मिलेरांवाद[45] ने—जो संशोधनवादी राजनीतिक कार्यनीति को व्यापक, सचमुच राष्ट्रव्यापी पैमाने पर व्यवहार में लाने का सबसे बड़ा प्रयोग

था – संशोधनवाद का ऐसा व्यावहारिक मूल्यांकन प्रदान किया है जिसे संसार का सर्वहारा वर्ग कभी नहीं भूल सकता।

संशोधनवाद की आर्थिक तथा राजनीतिक प्रवृत्तियों का एक स्वाभाविक पूरक अंग समाजवादी आंदोलन के अंतिम लक्ष्य के प्रति उसका रवैया था। "आंदोलन ही सब कुछ है, अंतिम लक्ष्य कुछ नहीं है" – बर्न्सटीन की यह आकर्षक सूक्ति अनेक लम्बे-लम्बे तर्कों की तुलना में कहीं अच्छी तरह संशोधनवाद के सार-तत्व को व्यक्त करती है। हर नयी परिस्थिति के अनुसार अपना आचरण निर्धारित करना, अपने आपको तात्कालिक घटनाओं तथा राजनीति की टुच्ची कतर-ब्योंत के अनुसार ढाल लेना, सर्वहारा वर्ग के मूलभूत हितों को, पूरी पूंजीवादी प्रणाली तथा पूरे पूंजीवादी विकास के मुख्य लक्षणों को भुला देना, वास्तविक अथवा तथाकथित क्षणिक लाभ के लिए इन मूलभूत हितों को बलि चढ़ा देना – यह है संशोधनवाद की नीति। और इस नीति के स्वरूप से ही यह सुस्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि यह नीति असंख्य विविध रूप धारण कर सकती है और यह कि जब भी कोई थोड़ा-बहुत "नया" प्रश्न उठेगा, जब भी घटनाओं में कोई थोड़ा-बहुत अप्रत्याशित अथवा ऐसा परिवर्तन आयेगा जिसकी पहले से कल्पना न की गयी हो, चाहे उससे विकास के मूलभूत क्रम में नगण्य परिवर्तन ही क्यों न हो, और सो भी अल्पतम अवधि के लिए, तब हमेशा अनिवार्यतः संशोधनवाद का एक नया रूप जन्म लेगा।

संशोधनवाद की अनिवार्यता आधुनिक समाज में उसके वर्गगत आधारों द्वारा निर्धारित होती है। संशोधनवाद एक अंतर्राष्ट्रीय घटना है। किसी भी ऐसे समाजवादी को, जिसे लेशमात्र भी ज्ञान है और जो ज़रा भी सोचता है, इसमें कोई संदेह नहीं होगा कि जर्मनी में कट्टरपंथियों तथा बर्न्सटीनवादियों, फ़्रांस में गेदवादियों तथा जोरेसवादियों (और अब विशेषतः ब्रूसवादियों[46]), ग्रेट ब्रिटेन में सामाजिक-जनवादी संघ तथा स्वतंत्र लेबर पार्टी[47], बेलजियम में ब्रूकर तथा वैंडरवेल्डे के अनुयायियों[48], इटली में अखंडतावादियों[49] तथा सुधारवादियों और रूस में बोल्शेविकों तथा मेंशेविकों के बीच जो संबंध हैं वे इन सभी देशों की वर्तमान अवस्था में राष्ट्रीय परिस्थितियों तथा ऐतिहासिक तत्वों के विशाल अंतर के बावजूद सब जगह मूलतः एक जैसे ही हैं। वास्तव में वर्तमान अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन में जो "विभाजन" है वह इस समय संसार के विभिन्न देशों में **एक ही** ढर्रे पर चल रहा है, जो कि

इस बात का प्रमाण है कि हमने तीस या चालीस **वर्ष** पहले की अपेक्षा कितनी अधिक प्रगति कर ली है जबकि एक संयुक्त अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी आंदोलन के भीतर विभिन्न देशों में नाना प्रकार की प्रवृत्तियां एक दूसरे से टक्कर ले रही थीं। और "वामपक्ष की ओर से संशोधनवाद", जो लैटिन भाषी देशों में उभरना आरंभ हुआ है, जैसे "क्रांतिकारी सिंडिकेटवाद"[50] वह भी मार्क्सवाद में "संशोधन" करते हुए उसके अनुकूल बनने का प्रयत्न कर रहा है: इटली में लैब्रियोला और फ़्रांस में लागार्देल मार्क्स की ग़लत व्याख्या के विरुद्ध मार्क्स की सही व्याख्या की शरण लेने का अनुरोध करते हैं।

हम यहां **इस** संशोधनवाद के सैद्धांतिक सार का विश्लेषण करने के लिए नहीं रुक सकते, जो अभी तक उतना विकसित नहीं हुआ है जितना कि अवसरवादी संशोधनवाद, जिसने अभी तक अंतर्राष्ट्रीय रूप धारण नहीं किया है, जिसे अब तक एक भी देश में किसी समाजवादी पार्टी के साथ व्यवहार में एक भी टक्कर का अनुभव नहीं हुआ है। इसलिए हम अपने आपको "दक्षिणपंथी संशोधनवाद" तक ही सीमित रखेंगे जिसका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं।

फिर आख़िर पूंजीवादी समाज में इसकी अनिवार्यता का कारण क्या है? आख़िर इसका महत्व राष्ट्रीय विशिष्टताओं तथा पूंजीवादी विकास के स्तर के अंतर की अपेक्षा अधिक गूढ़ क्यों है? इसका कारण यह है कि हर पूंजीवादी देश में सर्वहारा वर्ग के साथ-साथ हमेशा निम्न पूंजीपतियों की, छोटे मालिकों की भी काफ़ी बड़ी संख्या होती है। पूंजीवाद का उदय छोटे पैमाने के उत्पादन से हुआ और निरंतर इसी छोटे पैमाने के उत्पादन से उसका उदय हो रहा है। पूंजीवाद अनिवार्य रूप से समाज में अनेक नये "मध्यम स्तरों" को जन्म देता है (फ़ैक्टरियों से नियमित रूप से फुटकर काम पानेवाले लोग, घर ले जाकर काम करनेवाले लोग और साइकिल तथा मोटर उद्योग आदि जैसे बड़े उद्योगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सारे देश में बिखरे हुए छोटे-मोटे कारख़ाने)। ये नये छोटे-छोटे उत्पादक इतने ही अनिवार्य रूप से सर्वहारा वर्ग की पांतों में आकर मिलते जाते हैं। यह बिल्कुल स्वाभाविक ही है कि मज़दूरों की जनव्यापी पार्टियों के बीच विश्व के बारे में निम्न-पूंजीपति वर्ग का दृष्टिकोण बार-बार उभर कर सामने आये। ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक ही है और सर्वहारा क्रांति के पूर्ण होने तक सदैव ऐसी परिस्थिति रहेगी, क्योंकि यह सोचना बहुत

बड़ी भूल होगी कि ऐसी क्रांति करने के लिए पहले यह आवश्यक है कि जनसंख्या का अधिकांश भाग "पूरी तरह" सर्वहारा वर्ग के सांचे में ढल जाये। इस समय जिस बात को हम बहुधा केवल विचारधारा के क्षेत्र में अनुभव करते हैं – मार्क्स के विचारों में सिद्धांत संबंधी संशोधनों पर झगड़े – जो चीज़ इस समय व्यवहार में केवल मज़दूर वर्ग के आंदोलन की अलग-अलग आंशिक समस्याओं पर संशोधनवादियों के साथ कार्यनीति-संबंधी मतभेदों और इनके आधार पर संबंध-विच्छेद के रूप में सामने आती है, वह सब कुछ उस समय मज़दूर वर्ग को निश्चित रूप से कहीं अधिक बड़े पैमाने पर अनुभव करना पड़ेगा जबकि सर्वहारा क्रांति के फलस्वरूप सभी समस्याएं उग्र रूप धारण कर लेंगी और जन-साधारण के आचरण को निर्धारित करने में सबसे तात्कालिक महत्व की बातों पर समस्त मतभेद घनीभूत हो जायेंगे और संघर्ष की गरमी में शत्रुओं तथा मित्रों में अंतर करना तथा बुरे मित्रों को निकाल फेंकना आवश्यक हो जायेगा ताकि शत्रु पर निर्णायक प्रहार किया जा सके।

उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में क्रांतिकारी मार्क्सवाद ने संशोधनवाद के विरुद्ध सिद्धांतों के संबंध में जो संघर्ष किया वह सर्वहारा वर्ग की महान क्रांतिकारी लड़ाइयों की भूमिका मात्र थी, जो टुटपुंजिया वर्ग की समस्त ढुलमुलयक़ीनियों तथा कमज़ोरियों के बावजूद अपने ध्येय की पूर्ण विजय के लिए आगे बढ़ रहा है।

लेखन-काल: ३(१६) अप्रैल, १६०८ से पहले।
'कार्ल मार्क्स (१८१८-१८८३)' नामक एक निबंधमाला में प्रकाशित, १६०८
हस्ताक्षर: व्ला० इल्यीन

व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खण्ड १५, पृष्ठ १५-२५

विरासत जिसे हम अस्वीकार करते हैं

श्री मीन्स्की द्वारा 'द्वंद्वात्मक पदार्थवादियों' पर की गयी टीका का उल्लेख करते हुए 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो'[51] के १८९७ वर्ष के १० वें अंक में श्री मिख़ाइलोव्स्की लिखते हैं: "वे (श्री मीन्स्की) जानते ही होंगे कि ये लोग अतीत के साथ किसी प्रकार की निरंतरता को नहीं मानते और उस विरासत को रेख खींचकर अस्वीकार करते हैं" (पृष्ठ १७९) – यह है "सातवें और आठवें दशकों की विरासत," जिसे व० रोज़ानोव ने १८९१ में 'मोस्कोव्स्कीये वेदोमोस्ती'[52] (पृष्ठ १७८) में गंभीरतापूर्वक अस्वीकार कर दिया था।

"रूसी शिष्यों" के संबंध में श्री मिख़ाइलोव्स्की का यह कथन झूठों का भरा-पूरा भंडार है। यह सही है कि "रूसी शिष्य विरासत को अस्वीकार करते हैं" इस झूठ के वही एकमेव और स्वाधीन प्रवर्तक नहीं हैं – एक काफ़ी लंबे समय से "शिष्यों"[53] का सामना करते हुए नरोदवादी-उदारवादी समाचारपत्र-संसार के लगभग हर प्रतिनिधि ने इसे कई बार दोहराया है। जहां तक हमें स्मरण है, जब श्री मिख़ाइलोव्स्की ने "शिष्यों" के विरुद्ध अपना भयंकर युद्ध आरंभ किया उस समय यह झूठ अभी उनके ख़याल में नहीं था; यह तो उनसे पहले ही दूसरे लोगों ने खोज निकाला था। बाद में उन्होंने यह आवश्यक समझा कि इस झूठ का भी सहारा लिया जाये। ज्यों ज्यों "शिष्य" अपने दृष्टिकोणों को रूसी साहित्य में विस्तारपूर्वक विकसित करते गये और सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की कई समस्याओं पर अपने मत अधिक ब्यौरे के साथ और पूर्णरूपेण प्रकट करते गये त्यों त्यों विरोधी समाचारपत्रों में नयी प्रवृत्ति के बुनियादी उसूलों के प्रति आशय की दृष्टि से क्रमशः कम और कम विरोध

पाया जाने लगा। इन उसूलों का अर्थ यह दृष्टिकोण था कि रूसी पूंजीवाद प्रगतिशील है, छोटे उत्पादक का नरोदवादी आदर्शीकरण निरर्थक है और यह कि सामाजिक विचार और क़ानूनी तथा राजनीतिक संस्थाओं की प्रवृत्तियों का स्पष्टीकरण रूसी समाज के विभिन्न वर्गों के भौतिक हितों में खोजा जाना चाहिए। इन बुनियादी उसूलों पर चुप्पी साधी गयी, यही सर्वोत्तम माना गया – और आज भी माना जाता है – कि उनके बारे में कुछ भी न कहा जाये; पर इसके साथ ही साथ नयी प्रवृत्ति को बदनाम करनेवाले झूठों के जाल अधिक उपजाऊ दिमाग़ से रचे गये। इन झूठों – "कुत्सित झूठों" – में से एक फ़ैशनेबल वचन यह है कि "रूसी शिष्य विरासत को अस्वीकार करते हैं", और यह कि उन्होंने रूसी समाज के सर्वाधिक प्रगतिशील भाग की सर्वोत्तम परंपराओं से मुंह मोड़ लिया है, उन्होंने जनवादी सूत्र को तोड़ डाला है आदि, आदि। यही बात अन्य कई शब्दों में भी प्रकट की जाती है। यह तथ्य कि ये वचन काफ़ी बड़े पैमाने पर फैले हुए हैं, हमें उनके विस्तृत परीक्षण और खंडन के लिए उद्यत कर देता है। हमारी व्याख्या निराधार न मालूम हो इसलिए हम "विरासत" के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए चुने गये दो "ग्रामीण समाजशास्त्रियों" की ऐतिहासिक-साहित्यिक तुलना से आरंभ करेंगे। हम पहले ही यह कहना चाहेंगे कि हमारा विवेचन केवल आर्थिक और सामाजिक अंगों तक ही सीमित रहेगा, "विरासत" के केवल इन्हीं पहलुओं का परीक्षण हम करेंगे, दार्शनिक, साहित्यिक, सौंदर्य विषयक तथा अन्य अंगों का विचार हम नहीं करेंगे।

१

"विरासत" का एक प्रतिनिधि

तीस वर्ष पहले, १८६७ में, 'ओतेचेस्त्वेन्निये ज़ापीस्की'[51] पत्रिका ने स्काल्दिन लिखित एक सामाजिक निबंध-माला का प्रकाशन आरंभ किया। इसका शीर्षक था: 'दूरस्थ देहातों में और राजधानी में'। ये निबंध १८६७ से १८६९ तक तीन वर्षों की अवधि में प्रकाशित हुए। १८७० में लेखक ने इसी

शीर्षक के साथ एक पुस्तक में उन्हें संग्रहीत किया*। अब लगभग भुलायी गयी इस पुस्तक का परिशीलन विचाराधीन विषय की दृष्टि से बहुत ही शिक्षाप्रद है। यह विषय है नरोदवादियों और "रूसी शिष्यों" के साथ "विरासत" के प्रतिनिधियों के संबंध। पुस्तक का शीर्षक अयथार्थ है। स्वयं लेखक भी इस बात को जानता था और इसी लिए उसने प्रस्तावना में स्पष्ट किया है कि उसका विषय है "ग्रामीण प्रदेश" के प्रति "राजधानी" की प्रवृत्ति; दूसरे शब्दों में यह कि उसकी पुस्तक ग्रामीण स्थितियों से संबंधित सामाजिक निबंधों की माला है और विशेष रूप से राजधानी के बारे में कुछ कहने का उसका संकल्प नहीं है। या तो प्रायः उसका ऐसा संकल्प था पर उसे वह वांच्छनीय नहीं प्रतीत हुआ। इस अवांच्छनीयता को स्पष्ट करते हुए स्काल्दिन एक यूनानी लेखक के शब्द उधार लेकर कहते हैं: मैं उस प्रकार लिखना नहीं चाहता जिस प्रकार लिख सकता हूं, और जिस प्रकार मैं चाहता हूं उस प्रकार लिख नहीं सकता।

स्काल्दिन के दृष्टिकोणों की हम संक्षेप में व्याख्या करेंगे।

हम किसानी सुधार[56] से श्रीगणेश करेंगे। जो कोई आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर अपने सामान्य दृष्टिकोणों की व्याख्या करना चाहते हैं, उन सबको, यहां तक कि आज भी, अनिवार्यतः इसी आरंभ-बिंदु से सूत्रपात करना चाहिए। स्काल्दिन की पुस्तक में किसानी सुधार को काफ़ी अधिक जगह दी गयी है। शायद यही पहला लेखक था जिसने – व्यापक तथ्यों और ग्रामीण जीवन के सभी पहलुओं के विस्तृत परीक्षण के आधार पर – सुधार **के बाद** की किसानों की दरिद्रताग्रस्त दशा, उनकी स्थितियों की निकृष्टता, उनकी आर्थिक, क़ानूनी और सामाजिक दासता के नये स्वरूपों को प्रणालीबद्ध रीति से विशद किया था। संक्षेप में, यही पहला लेखक था जिसने उस समय से अनेकानेक अनुसंधानों तथा सर्वेक्षणों में विशदीकृत तथा प्रदर्शित बातों को उक्त प्रकार से विशद किया। आज इन सत्यों में कोई नवीनता नहीं रही है। उस समय वे

---

*स्काल्दिन, 'दूरस्थ देहातों में और राजधानी में', पीटर्सबर्ग, १८७० (पृष्ठ ४५१)। 'ओतेचेस्त्वेन्नियेे ज़ापीस्की' की उक्त अवधि में प्रकाशित प्रतियां हम प्राप्त नहीं कर पाये और इसलिए हमने केवल इस पुस्तक का ही उपयोग किया है[55]।

न केवल नये थे बल्कि उदारवादी समाज ने उन्हें अविश्वासपूर्वक देखा था क्योंकि उसे डर था कि तथाकथित "सुधार की त्रुटियों" के इन उल्लेखों के पीछे सुधार की निंदा और भूदास-प्रथा की छिपी हुई उत्कंठा घात लगाये बैठी है। स्काल्दिन के दृष्टिकोण इसलिए अधिक दिलचस्प हैं कि वह सुधार के समकालीन थे (और शायद उसमें सीधे उनका हाथ भी था। हमारे पास उनके संबंध में न ऐतिहासिक-साहित्यिक सूचना उपलब्ध है और न जीवनी विषयक तथ्य ही)। अतएव उनके दृष्टिकोण उस समय की "राजधानी" और "ग्रामीण प्रदेश" के सीधे निरीक्षण पर आधारित हैं न कि छपी हुई सामग्री के आराम-कुर्सी में बैठे बैठे किये गये अध्ययन पर।

किसानी सुधार पर नरोदवादी जिस भावनात्मक ढंग से बरस पड़ते हैं उससे परिचित आधुनिक पाठकों पर यदि सबसे पहले किसी बात का प्रभाव पड़ता हो तो इस विषय पर स्काल्दिन की अत्यधिक **समझदारी** का। वह बिना किसी विभ्रम या आदर्शीकरण के इस सुधार का अवलोकन करते हैं, वह उसे उन दो पक्षों अर्थात् ज़मींदारों और किसानों के बीच के एक सौदे के रूप में देखते हैं जो तब तक निश्चित शर्तों पर ज़मीन का साझा उपयोग करते थे और जिन्होंने अब उसे विभाजित कर दिया था और अलावा इसके इस विभाजन ने दोनों पक्षों की क़ानूनी हैसियत बदल डाली थी। विभाजन का स्वरूप और उसमें प्रत्येक पक्ष का अंश निश्चित करनेवाला पहलू था उनके अपने अपने हित। इन हितों से दोनों पक्षों की महत्त्वाकांक्षाएं निश्चित होती थीं जबकि इनमें से एक पक्ष स्वयं सुधार में और उसके कार्यान्विय से संबंधित विविध प्रश्नों के व्यावहारिक परिष्करण में सीधे अपना हाथ डाल सकता था। इस तथ्य से दूसरी बातों के साथ उस पक्ष की प्रबल स्थिति निश्चित होती थी। स्काल्दिन सुधार को इसी प्रकार समझते हैं। वह सुधार के मुख्य प्रश्न पर, अर्थात् बांट और ऋणमुक्ति शुल्क पर विशेष विस्तार के साथ लिखते हैं। अपने निबंधों के दौरान वह बार बार इस प्रश्न की ओर मुड़ते हैं। (स्काल्दिन की पुस्तक ग्यारह निबंधों में विभाजित है। इनमें से प्रत्येक निबंध स्वयंपूर्ण है और ग्रामीण प्रदेश से प्राप्त पत्रों से उनकी तुलना की जा सकती है। पहला निबंध १८६६ में लिखा गया है और अंतिम निबंध १८६९ में।) तथाकथित "थोड़ी ज़मीन वाले" किसानों के विषय में स्काल्दिन की पुस्तक में ऐसी कोई बात नहीं है जो

आधुनिक पाठक को नयी प्रतीत हो, पर उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक के अंत में उसका प्रमाण नया था और मूल्यवान् भी। हां, यहां हम उसका अनुशीलन नहीं करेंगे, पर उनके द्वारा किये गये तथ्यों के वर्णन के उसी पहलू पर ध्यान देंगे जो उन्हें अनुकूल रूप में नरोदवादियों से अलग दिखाता है। स्काल्दिन "नगण्य ज़मीन" की नहीं बल्कि "किसान की बांट से अलग की गयी अत्यधिक ज़मीन" की (पृष्ठ २१३, पृष्ठ २१४ और कई अन्य स्थानों में – उदाहरणार्थ, तीसरे निबंध का शीर्षक) बात उठाते हैं और कहते हैं कि सुधार के उपबंधों[57] द्वारा स्थापित बड़ी से बड़ी बांट वास्तविक बांटों से छोटी सिद्ध हुई (पृष्ठ २५७)। प्रसंगतः वह सुधार के इस पहलू पर किसानों के कुछ अत्यंत लक्षणात्मक और विशिष्ट मतों का उल्लेख करते हैं*। स्काल्दिन ने इस तथ्य के जो स्पष्टीकरण और प्रमाण दिये हैं वे बहुत ही ब्यौरेवार हैं, जोरदार हैं और एक ऐसे लेखक के लिए उग्र भी हैं जो नियमतः अत्यंत संयम और समझदारी से काम लेता है और जिसका सामान्य दृष्टिकोण निस्संदेह पूंजीवादी है। फिर जब स्काल्दिन जैसा लेखक इतना बल देकर कहता है तो इसका अर्थ यह है कि तथ्य पूर्णतया स्पष्ट था। अदायगी के भारी बोझ के बारे में भी स्काल्दिन बड़ा ज़ोर देकर और ब्यौरे के साथ लिखते हैं और अपने कथनों के लिए बहुत से तथ्यों का आधार प्रस्तुत करते हैं। तीसरे निबंध (१८६७) का एक उपशीर्षक है: "असीमित कर-निर्धारण उनकी (किसानों की) दरिद्रता का मुख्य कारण है," और स्काल्दिन दिखाते हैं कि किसान को

---

*"हमारी ज़मीन की **उसने** (शब्दों पर ज़ोर लेखक द्वारा) इस क़दर कांटछांट की है कि इस अलग की गयी ज़मीन के बिना हम रह नहीं सकते; वह चारों ओर से अपने खेतों से हमें घेरे हुए है और हमारे पास अपने ढोरों को चराने के लिए कोई जगह नहीं है; अतः हमें अपनी बांट के लिए पैसा देना पड़ता है और इसके अलावा अलग की गयी ज़मीन के लिए भी जितना वह मांगता है, उतना देना पड़ता है।" "'स्थिति में यह कैसा सुधार रहा!' एक साक्षर और अनुभवी मुजीक (रूसी किसान का पुराना नाम – अनु०) ने कहा जो पहले एक अधीनता-कर-दाता था। 'यद्यपि हमारी ज़मीन की कांटछांट की गयी है, फिर भी अधीनता-कर हमें पहले जितना ही देना पड़ता है।'"

अपनी ज़मीन से होनेवाली आमदनी से कर की मात्रा अधिक है। वह 'कर-निर्धारण आयोग के प्रतिवेदन' से रूस में उच्च और निम्न वर्गों के कर-निर्धारण के अनुपात से संबंधित सामग्री उद्धृत करते हैं। इस सामग्री से स्पष्ट होता है कि रूस में कर का ७६ प्रतिशत भार निम्न वर्गों पर और १७ प्रतिशत उच्च वर्गों पर पड़ता है जबकि पश्चिमी यूरोप में सब जगह यह अन्योन्य संबंध निम्न वर्गों के लिए अतुलनीय रूप में अधिक अनुकूल है। सातवें निबंध (१८६८) का एक उपशीर्षक है: "अत्यधिक द्रव्य-शुल्क किसानों की दरिद्रता का एक कारण है," और वहां लेखक दिखाता है कि नयी जीवन-स्थितियों ने किसान से धन, धन और धन की मांग की, 'संविधि' ने ज़मींदारों को भूदास-प्रथा की समाप्ति के लिए भी मुआवज़ा दिलाने का तत्त्व अपनाया है (पृष्ठ २५२), और अधीनता-कर की मात्रा आधारित रही है "ज़मींदारों, उनके प्रबंधकों तथा गांवों के मुखियों द्वारा दी गयी वास्तविक सूचना पर अर्थात् पूर्ण रूप से ऐसी मनमानी सामग्री पर जो ज़रा भी विश्वास की पात्र नहीं है" (पृष्ठ २५५)। फलतः आयोगों द्वारा संगणना की गयी अधीनता-कर की औसत मात्राएं वास्तविक औसत से ऊंची रही हैं। "अधीनता-कर का भार उठाने के अलावा किसानों को उस ज़मीन से हाथ धोना पड़ा जिसका वे सदियों से उपयोग करते आये थे" (पृष्ठ २५८)। "यदि ज़मीन का ऋणमुक्ति मूल्य अधीनता-कर के मूलधनीकृत मूल्य के नहीं, बल्कि उन्मोचन के समय के उसके वास्तविक मूल्य के आधार पर निर्धारित किया गया होता तो ऋणमुक्ति मूल्य की अदायगी बहुत ही आसानी से की गयी होती और इसके लिए न सरकारी सहायता की आवश्यकता होती और न ऋण-पत्र ही जारी करने पड़ते" (पृष्ठ २६४)। "१९ फ़रवरी की 'संविधि' ने ऋणमुक्ति की परिकल्पना इस उद्देश्य से की थी कि किसानों के लिए स्थिति सरलतर हो और उनकी हालतों के सुधार का कार्य पूर्णतया संपन्न हो पर वस्तुतः उसने कई बार उन्हें और ही अधिक तंग परिस्थिति में डाल दिया" (पृष्ठ २६९)। ये उद्धरण (जो अपने आप में बिल्कुल दिलचस्प नहीं हैं और अंशतः पुराने भी हो चुके हैं) हम केवल यह दिखाने के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं कि ग्रामीण समुदाय के विरोधी और अनेकानेक प्रश्नों पर सच्चे मैंचेस्टरवालों[58] के से मत धारण करनेवाले एक लेखक ने कैसे उत्साह के साथ किसानों के हितों का समर्थन किया है। यह नोट करना बहुत

ही शिक्षाप्रद होगा कि नरोदवाद के लगभग सभी उपयुक्त और अ-प्रतिक्रियावादी सिद्धांत इस मैंचेस्टरवाले के सिद्धांतों से पूर्णतया मेल खाते हैं। कहना न होगा कि सुधार के संबंध में स्काल्दिन की यह राय होने के कारण वह भावनात्मक रूप से उसका आदर्शीकरण नहीं कर सके जैसा कि नरोदवादियों ने किया था और आज भी करते हैं। नरोदवादियों का कहना है कि सुधार ने जन उत्पादन को मान्यता दी, वह पश्चिमी-यूरोपीय किसानी सुधारों से इक्कीस था और उसने रूस को जैसे tabula rasa* बना दिया, इत्यादि। स्काल्दिन ने ऐसा कुछ नहीं कहा और न वह कह सके भी; और तो और, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि हमारे देश में किसानी सुधार पश्चिमी यूरोप की तुलना में किसानों के लिए कम सुविधाजनक रहे, कम लाभदायक रहे। "यदि हम अपने आप से यह सवाल करेंगे कि उन्मोचन के लाभदायी परिणाम जितने द्रुत और प्रगतिशील वेग से चालू शताब्दी की पहली चौथाई के दौरान प्रशा या सैक्सनी जैसे स्थानों में प्रकट हुए वैसे हमारे देश में क्यों नहीं हो रहे हैं?" वह लिखते हैं, "तो प्रश्न को सीधे-सीधे पेश किया जायेगा" (पृष्ठ २२१)। "प्रशा में और समूचे जर्मनी में किसानों ने एक लंबे समय से क़ानून द्वारा उनकी संपत्ति मानी गयी अपनी बांटों की मुक्ति के लिए नहीं बल्कि ज़मींदारों के प्रति अपनी अनिवार्य सेवाओं की मुक्ति के लिए अदायगियां कीं" (पृष्ठ २७२)।

अब हम सुधार के आर्थिक पहलू की ओर से क़ानूनी पहलू की ओर बढ़ेंगे, जैसा कि स्काल्दिन उसे देखते हैं। स्काल्दिन सामूहिक उत्तरदायित्व[59], पासपोर्ट प्रणाली और किसान-समुदाय में "ग्राम-पंचायत" के (और टुटपुंजिया समाज के) अपने सदस्यों पर पितृसत्तात्मक प्रभुत्व के कट्टर शत्रु हैं। तीसरे निबंध (१८६७) में वह सामूहिक उत्तरदायित्व, प्रतिव्यक्ति कर तथा पासपोर्ट प्रणाली की समाप्ति, न्यायसंगत संपत्ति-कर की आवश्यकता और पासपोर्टों के स्थान में निःशुल्क रूप से और असीमित अवधि के लिए दिये जानेवाले प्रमाण-पत्रों के प्रचलन का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करते हैं। "दूसरे किसी भी सभ्य देश के अंतर्गत पासपोर्टों पर कर नहीं है" (पृष्ठ १०६)। हम जानते हैं कि

---

* साफ़ जगह – सं०

यह कर १८६७ में जाकर समाप्त कर दिया गया। चौथे निबंध के शीर्षक में हमें ये शब्द मिलते हैं: "पासपोर्ट बाहर भेजने और अनुपस्थित दाताओं पर कर लगाने में ग्रामीण समुदायों और नागरी दूमाओं* की मनमानी कार्रवाइयां।" ... "सामूहिक उत्तरदायित्व एक भारी जूआ है जो सुस्थित तथा उद्योगी खेतिहरों को काहिलों और फ़िज़ूलख़र्चियों के कारण उठाना पड़ता है" (पृष्ठ १२६)। उस समय कृषक वर्ग की सांपत्तिक भिन्नता दृष्टिगोचर होने लगी थी और स्काल्दिन इसे उठने या गिरनेवालों के वैयक्तिक गुणों का परिणाम मानने को प्रवृत्त दिखाई देते हैं। सेंट पीटर्सबर्ग में रहनेवाले किसानों को पासपोर्ट प्राप्त करने या उनकी अवधि बढ़ा लेने में जो कठिनाइयां अनुभव करनी पड़ती हैं उनका वह विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं और उन लोगों का खंडन करते हैं जो कहते हैं: "भगवान् को धन्यवाद कि जिनके पास कोई अचल संपत्ति नहीं है ऐसे नगरवासियों की संख्या बढ़ाने के लिए भूमिहीन किसानों की इस भीड़ को शहरों में रजिस्टर नहीं किया गया..." (पृष्ठ १३०)। "यह असभ्य सामूहिक उत्तरदायित्व..." (पृष्ठ १३१)... "क्या ऐसी स्थिति में रखे गये लोगों को नागरिक दृष्टि से स्वतंत्र कहा जा सकता है? क्या वे वही पुराने glebae adscripti ** नहीं हैं?" (पृष्ठ १३२)। किसानी सुधार पर दोष लगाया जाता है। "पर क्या इस तथ्य के लिए किसानी सुधार पर दोष लगाया जा सकता है कि उक्त क़ानून ने किसानों को ज़मींदारों के बंधन से तो मुक्त कर दिया पर ऐसी कोई कार्रवाई नहीं की जिससे वह अपने समुदाय और पंजीयन स्थान के बंधन से मुक्त हो सके... यदि किसान अपना अधिवासस्थान या व्यवसाय का प्रकार निश्चित करने के लिए स्वतंत्र नहीं है तो इसमें कहां नागरिक स्वतंत्रता के गुण हैं?" (पृष्ठ १३२)। यह अत्यंत यथार्थ और उचित है कि स्काल्दिन हमारे

---

*दूमा – ज़ारकालीन रूस में विधान या प्रबंध सम्बन्धी प्रातिनिधिक सभा। – सं०

**प्राचीन रोमन साम्राज्य के किसान, जो ज़मीन के निश्चित टुकड़ों के साथ बंधे रहते थे और भले ही उनकी काश्त कितनी भी अलाभकर क्यों न हो, वे उन्हें छोड़ न सकते थे।

किसान को "बसा हुआ सर्वहारा" कहते हैं (पृष्ठ २३१)*। आठवें निबंध (१८६८) के शीर्षक में हम पढ़ते हैं: "यह तथ्य कि किसान अपने समुदायों और बांटों से बंधे हुए हैं, उनकी स्थितियों के सुधार में रुकावट डालता है... यह मौसमी पेशों में बाधा डालता है।" "किसानों की अज्ञानता और उन्हें दबाये रखनेवाले क्रमशः वृद्धिशील कर-निर्धारण के अलावा कृषक-श्रम के और परिणामतः किसान की समृद्धि के विकास में रुकावट डालनेवाले कारणों में से एक और कारण यह तथ्य है कि वे अपने समुदायों और बांटों से बंधे हुए हैं। मज़दूर का एक स्थान में बंधा हुआ होना और ग्रामीण समुदाय का अच्छेद्य शृंखलाओं में जकड़ा हुआ होना – यह स्वयं ही श्रम, वैयक्तिक उद्यम और छोटी भू-संपत्ति के विकास के लिए अत्यंत प्रतिकूल स्थिति है" (पृष्ठ २८४)। "अपनी बांटों और समुदायों के साथ जकड़े हुए और अपने श्रम को अधिक उत्पादनशील और स्वयं अपने लिए अधिक लाभदायी स्थानों में लगाने में असमर्थ किसान भूदास-प्रथा से निकल आने के बाद वाली उस घुटनदार, पशुओं के गल्ले की सी, अनुत्पादनशील जीवन प्रणाली में जैसे ठिठुर गये हैं" (पृष्ठ २८५)। परिणामतः स्काल्दिन किसानों के जीवन के इन पहलुओं की ओर शुद्ध पूंजीवादी दृष्टिकोण से देखते हैं, पर इसके बावजूद (अधिक सच्चाई के साथ कहना हो तो इसके कारण) वह किसानों की बंधी स्थिति के कारण आम तौर पर सामाजिक विकास को और स्वयं किसानों को पहुंचनेवाली हानि का अत्यंत यथार्थता से मूल्यांकन करते हैं। और यह स्थिति (हम अपनी

---

*स्काल्दिन बहुत ही ब्यौरेवार तरीक़े से उक्त परिभाषा के न केवल पहले पर दूसरे हिस्से (सर्वहारा) का भी सहीपन दरशाते हैं। वह अपने निबंधों में किसानों की पराधीनता और दरिद्रता के वर्णन को, खेती मज़दूर की कठिन दशा के वर्णन को, "१८६८ के अकाल के वर्णन" को (पांचवें निबंध का शीर्षक) और किसानों की दासता और मानभंग के विभिन्न स्वरूपों के वर्णन को काफ़ी स्थान देते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के दसवें दशक की तरह सातवें दशक में भी ऐसे लोग थे जो अकाल के अस्तित्व के संबंध में चुप्पी साधने या उससे इनकार करने का प्रयत्न करते थे। स्काल्दिन बड़ी उग्रता से उनका विरोध करते हैं। हां, इस विषय पर विस्तृत उद्धरण देना अनावश्यक होगा।

ग्रोर से जोड़ दें) कृषक वर्ग के निम्नतम भागों ग्रर्थात् ग्रामीण सर्वहारा को विशेष हानि पहुंचाती है। स्काल्दिन बिल्कुल ठीक ही कहते हैं: "किसान भूमिहीन न रहें यह क़ानून की चिंता प्रशंसनीय है; पर यह न भुलाया जाये कि इस संबंध में स्वयं किसानों की चिंता विधान-मंडल के किसी भी सदस्य की चिंता से कहीं ग्रधिक है" (पृष्ठ २८६)। "किसान ग्रपनी बांट ग्रौर ग्रपने समुदाय के साथ जकड़ा हुग्रा है इस तथ्य के ग्रलावा सामूहिक उत्तरदायित्व ग्रौर पासपोर्ट प्रणाली के कारण ग्रस्थायी रूप से भी कहीं ग्रन्यत्र कुछ रुपया कमाने के उसके प्रयत्न में काफ़ी कठिनाइयां ग्रौर ख़र्च ग्राता है" (पृष्ठ २९८)। "मेरी राय में बहुत से किसानों को वर्तमान कठिन परिस्थिति से छुटकारा पाने का रास्ता तभी मिल सकता है... यदि किसानों द्वारा भूमि-त्याग को सरलतर बनाने की कार्रवाइयां की जायें" (पृष्ठ २९४)। यहां स्काल्दिन द्वारा प्रकट की गयी इच्छा नरोदवादियों की परियोजनाग्रों के एकदम विपरीत है। इन सभी परियोजनाग्रों की रुझान बिल्कुल विरुद्ध दिशा में है। उनका लक्ष्य है ग्रामीण समुदाय[60] को शाश्वत रखना, बांटों को ग्रनन्यक्राम्य बनाना, इत्यादि। कितने ही तथ्यों ने यह पूर्णतया प्रमाणित कर दिया है कि स्काल्दिन की मान्यता पूर्णतया सही थी: किसान ज़मीन के साथ जकड़ा रहता है ग्रौर किसान समुदाय एक निश्चित सामाजिक स्तर तक ही सीमित रहता है इस तथ्य के कारण ग्रामीण सर्वहारा की स्थिति ग्रौर भी ख़राब हो जाती है ग्रौर देश के ग्रार्थिक विकास में गतिरोध उत्पन्न होता है क्योंकि उसमें "बसे हुए सर्वहारा" को बुरे से बुरे बंधन ग्रौर दासता से या उसके पारिश्रमिक ग्रौर जीवन स्तर को निम्नतम सतह तक गिरने से बचाने की कोई सामर्थ्य नहीं होती।

उपरोक्त उद्धरणों से पाठक को पता लग गया होगा कि स्काल्दिन ग्रामीण समुदाय के शत्रु हैं। वह समुदाय पर ग्रौर ज़मीन के पुनर्विभाजन पर ग्रापत्ति करते हैं क्योंकि वह वैयक्तिक संपत्ति, उद्यम इत्यादि के पक्षपोषक हैं (पृष्ठ १४२ इत्यादि)। ग्रामीण समुदाय के समर्थकों को स्काल्दिन का यह प्रत्युत्तर है कि "प्राचीन सामान्य क़ानून" ग्रपने समय से ग्रधिक जीवित रहा है: "सभी देशों में ग्रामवासियों के सभ्य वातावरण के संपर्क में ग्राने के साथ उनके सामान्य क़ानून की प्राचीन पवित्रता की इतिश्री हो चुकी ग्रौर वह भ्रष्टाचार तथा ग्रशुद्धता के प्रभाव में ग्रा गया। हमारे देश में भी यही

दृष्टिगोचर होता है : ग्राम-पंचायत की सत्ता धीरे-धीरे देहाती रक्त चूसनेवालों और देहाती क्लर्कों की सत्ता में परिवर्तित हो रही है और किसान की रक्षा करने के स्थान में वह उसके लिए भारी बोझ बन रही है" (पृष्ठ १४३) – यह एक सच्चाई भरा निरीक्षण है और इन तीस वर्षों में अनगिनत तथ्यों द्वारा उसका समर्थन हो चुका है। स्काल्दिन की राय में "पितृसत्तात्मक परिवार, भूमि के सामूहिक स्वामित्व और सामान्य क़ानून" की इतिहास ने अखंडनीय रूप में निंदा की है। "जो लोग विगत शताब्दियों के सम्माननीय अवशेषों को हमारे लिए शाश्वत रूप में सुरक्षित रखना चाहेंगे वे इससे केवल यही दिखायेंगे कि वे वास्तविकताओं की थाह लेने और इतिहास की अप्रतिहत गति को समझने की अपेक्षा किसी कल्पना की रौ में कहने के लिए अधिक योग्य हैं" (पृष्ठ १६२)। इस वस्तुतः सच्चे कथन में स्काल्दिन तेज़ मैंचेस्टरी निंदा-वचन जोड़ देते हैं। "ज़मीन का सामूहिक पट्टा," वह अन्यत्र लिखते हैं, "प्रत्येक किसान को सारे समुदाय की ग़ुलामी में जकड़ देता है" (पृष्ठ २२२)। अतः, स्काल्दिन के विचारों में विशुद्ध पूंजीवादी दृष्टिकोण के आधार पर ग्रामीण समुदाय के प्रति उनके खुल्लमखुल्ला विरोध के साथ साथ किसानों के हितों का सुसंगत समर्थन मिला हुआ है। ग्रामीण समुदाय के विरोधक होते हुए भी स्काल्दिन उस समुदाय की बलपूर्वक समाप्ति और उसके स्थान में भूस्वामित्व की ऐसी ही किसी अन्य प्रणाली की बलपूर्वक स्थापना की कोई मूर्खतापूर्ण परियोजना का सुझाव नहीं देते। ग्रामीण समुदाय के वर्तमान विरोधक अक्सर ऐसी परियोजनाओं के आडंबर रचते हैं। वे किसानों के जीवन में घोर हस्तक्षेप का पक्षपोषण करते हैं और किसानों के हितों के दृष्टिकोण को छोड़कर बाक़ी सब दृष्टिकोणों से ग्रामीण समुदाय के विरुद्ध अभियान चलाते हैं। इसके विपरीत स्काल्दिन "भूमि के सामूहिक पट्टे की बलपूर्वक समाप्ति" में विश्वास करनेवालों में अपनी गणना की जाने का ज़ोरदार विरोध करते हैं (पृष्ठ १४४)। "१९ फ़रवरी की संविधि ने," वह लिखते हैं, "सामूहिक पट्टे के स्थान में पारिवारिक पट्टे स्वीकार करने का प्रश्न अत्यंत चतुराई से स्वयं किसानों पर ही छोड़ दिया। सचमुच स्वयं किसान ही ऐसे संक्रमण के लिए सर्वोत्तम समय उचित रूप से निश्चित कर सकते हैं।" परिणामतः, स्काल्दिन ग्रामीण समुदाय के शत्रु केवल इस कारण हैं कि वह आर्थिक विकास में रोड़े अटकाता है, किसान को समुदाय

से हटने **और** अपनी ज़मीन का त्याग करने से रोकता है। यह वही कारण है जिसके आधार पर आज "रूसी शिष्य" उसका विरोध कर रहे हैं। स्काल्दिन के विरोध में ज़मींदारों के स्वार्थमूलक हितों की रक्षा, भूदास-प्रथा के अवशेषों और भावना की रक्षा और किसानों के जीवन में हस्तक्षेप के पक्षपोषण से मेल खानेवाली कोई बात नहीं है। इस फ़र्क़ पर ध्यान देना बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि केवल 'मोस्कोव्स्कीये वेदोमोस्ती' और उसके समान शिविर में ही ग्रामीण समुदाय के शत्रुओं के देखने के आदी आज के नरोदवादी बड़ी खुशी से यह ढोंग रचते हैं कि ग्रामीण समुदाय के विरोध का **कोई और** प्रकार उन्हें याद नहीं है।

किसानों की हीन दशा के कारणों के संबंध में स्काल्दिन की आम राय यह है कि ये सभी कारण भूदास-प्रथा के अवशेषों में निहित हैं। १८६८ के अकाल का वर्णन करते हुए वह लिखते हैं कि सामंतों ने उसकी ओर डाह-भरी प्रसन्नता से देखा और बताया कि वह किसानों के दुराचरण का और इस तथ्य का परिणाम था कि वे अब ज़मीनदारों की अभिभावकता में नहीं रहे थे। ऐसी ही अन्य बातें भी उन्होंने कहीं। स्काल्दिन बड़ी जोशगर्मी से इन दृष्टिकोणों का खंडन करते हैं। "किसानों की दरिद्रता के कारण," वह लिखते हैं, "**भूदास-प्रथा की विरासत से** प्राप्त हुए हैं" (पृष्ठ २१२), "वे उसकी समाप्ति के परिणाम नहीं हैं; वही सामान्य कारण हैं जो हमारे किसानों की बहुसंख्या को सर्वहारा के स्तर की सीमा से मिलते हुए स्तर पर रख देते हैं।" फिर स्काल्दिन सुधार से संबंधित उपरिनिर्दिष्ट मत दोहराते हैं। पारिवारिक विभाजनों पर हमला करना हास्यास्पद है: "यद्यपि विभाजन किसानों के भौतिक हितों को कुछ समय तक हानि पहुंचाते हैं, फिर भी वे उनके व्यक्ति-स्वातंत्र्य की और किसान परिवार की नैतिक प्रतिष्ठा की रक्षा करते हैं। ये ऐसे ऊंचे मानवीय वरदान हैं जिनके बिना किसी प्रकार की नागरिक प्रगति असंभव है" (पृष्ठ २१७)। और स्काल्दिन ठीक ही विभाजन विरोधी अभियान के वास्तविक कारणों की ओर संकेत करते हैं: "बहुत से ज़मींदार विभाजनों से उत्पन्न हानि को बहुत ही बढ़ा चढ़ाकर दिखाते हैं, किसान की दरिद्रता के विभिन्न कारणों के सभी परिणामों के लिए वे इन विभाजनों और नशेबाज़ी पर दोष लगाते हैं। ये ज़मींदार उक्त कारणों का अस्तित्व स्वीकार करने को बिल्कुल राज़ी नहीं

हैं" (पृष्ठ २१८)। जो लोग कहते हैं कि किसानों की दरिद्रता के संबंध में आजकल बहुत कुछ लिखा जा रहा है, पर पहले नहीं लिखा जाता था, इसका अर्थ यह है कि किसानों की स्थिति ज़रूर ख़राब हो गयी होगी, स्काल्दिन उन्हें उत्तर देते हैं: "किसानों की वर्तमान और विगत स्थिति की तुलना द्वारा ज़मींदारों की सत्ता से उनके विमोचन के परिणामों के संबंध निर्णय करना होता तो भूदास-प्रथा के अस्तित्व में होते हुए ही किसानों की बांटों की काटछांट की जानी चाहिए थी जैसे वह आज की गयी है, और किसानों पर वे सभी कर लगाये जाने चाहिए थे जो विमोचन के बाद से अस्तित्व में आये हैं, और फिर देखना चाहिए था कि ऐसी स्थिति को भूदास किसान किस प्रकार सह लेते" (पृष्ठ २१९)। स्काल्दिन के दृष्टिकोणों का एक अत्यंत विशेष और महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि वह किसानों की दुर्दशा के **सभी** कारणों का निचोड़ भूदास-प्रथा के अवशेषों, श्रम-कर, अधीनता-कर, पृथक्कृत भूमि के रूप में उसकी विरासत और किसानों के व्यक्ति-स्वातंत्र्य के अभाव और बंधी स्थिति में देखते हैं। स्काल्दिन का ध्यान इस बात पर नहीं जाता कि किसानों की दरिद्रता के कारण सीधे नये सामाजिक-आर्थिक संबंधों की संरचना में, सुधारोत्तर अर्थ-व्यवस्था की संरचना में ही निहित हो सकते हैं; इतना ही नहीं, वह इस विचार को स्थान देने से पूर्णतया इनकार कर देते हैं, क्योंकि उनका गहरा विश्वास है कि भूदास-प्रथा के इन सभी अवशेषों की पूर्ण समाप्ति से विश्व कल्याण के युग का उदय होगा। वस्तुतः उनके दृष्टिकोण निषेधात्मक हैं: किसान के मुक्त विकास में आनेवाली बाधाओं को हटा दो, भूदास-प्रथा द्वारा विरासत के रूप में डाली गयी हथकड़ियां हटा दो, फिर संभाव्य संसारों में से इस सर्वोत्तम संसार में सब कुछ सर्वोत्तम होगा। "यहां (अर्थात् किसान के संबंध में) सरकार एक ही मार्ग अपना सकती है: सतत और दृढ़तापूर्वक **उन कारणों को दूर करना** जिन्होंने हमारे किसानों को वर्तमान मूढ़ता की सी और दरिद्रता की दशा में पहुंचा दिया है और जो उन्हें अपने पैरों पर खड़े नहीं रहने देते" (पृष्ठ २२४, शब्दों पर ज़ोर मेरा है)। जो लोग "समुदाय" (अर्थात् किसानों की अपने ग्रामीण समुदायों और बांटों के साथ बद्धता) का समर्थन इस आधार पर करते हैं कि उसके अभाव में "ग्रामीण सर्वहारा उठ खड़ा होगा", स्काल्दिन द्वारा उन्हें दिया गया उत्तर इस संबंध में बहुत ही

विशेषता रखता है। "यह आपत्ति," स्काल्दिन कहते हैं, "उस समय धराशायी हो जाती है जब हम स्मरण करते हैं कि हमारे देश में कितने असीम भूमि-क्षेत्र जोताई करनेवालों के अभाव में बेकार पड़े हुए हैं। यदि क़ानून श्रम-शक्ति के प्राकृतिक वितरण में बाधा न डाले तो रूस में केवल वही लोग वास्तविक सर्वहारा हो सकते हैं जो व्यवसाय से भिखारी हैं और या तो इतने पतित और चरित्रहीन हैं कि जिनका सुधार असंभव है" (पृष्ठ १४४) – यह १८ वीं शताब्दी के उन अर्थशास्त्रियों और "उपदेशकों" का विशिष्ट दृष्टिकोण है जो विश्वास करते थे कि भूदास-प्रथा और उसके सभी अवशेषों की समाप्ति से धरती पर सार्वत्रिक कल्याण का राज्य अवतरित होगा। – इसमें कोई शक नहीं कि नरोदवादी तिरस्कारपूर्वक स्काल्दिन की अवहेलना करके कह देते कि वह आख़िर एक पूंजीवादी ही तो थे। – हां, स्काल्दिन ज़रूर पूंजीवादी थे, पर थे वे उस प्रगतिशील पूंजीवादी विचारधारा के प्रतिनिधि, जिसके स्थान में नरोदवादियों ने एक ऐसी विचारधारा की स्थापना कर दी है जो निम्न-पूंजीवादी है और बहुत-सी बातों में प्रतिक्रियावादी। और किसानों के जो व्यावहारिक तथा वास्तविक हित आम तौर पर सामाजिक विकास की आवश्यकताओं से मेल खाते थे और खाते हैं, नरोदवादियों से यह "पूंजीवादी" अधिक अच्छी तरह जानता था कि उनकी रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए! *

स्काल्दिन के दृष्टिकोणों के संबंध में अपना विवेचन पूर्ण करने से पहले हम यह और कहना चाहेंगे कि वह सामाजिक श्रेणियों की प्रणाली के विरोधी हैं, सभी श्रेणियों के लिए एक ही न्यायालय का समर्थन करते हैं, ग्रामीण ज़िला प्राधिकारों की रचना सामाजिक विशेषाधिकारों के आधार पर नहीं होनी चाहिए

---

* और इसके ठीक विपरीत, नरोदवादी जिन प्रगतिशील व्यावहारिक उपायों की वकालत करते दिखाई देते हैं वे सबके सब तात्पर्यतः **पूर्णतया पूंजीवादी** हैं, अर्थात् उनसे विकास की ठीक पूंजीवादी धारा को ही सहायता मिलेगी, किसी और को नहीं। अकेले निम्न-पूंजीवादी ही इस सिद्धांत का आडंबर रच सकते हैं कि किसान के जोत-क्षेत्र के विस्तार, करों में कटौती, स्थान-परिवर्तन, ऋण, प्राविधिक प्रगति, हाट-व्यवस्था और ऐसे ही अन्य उपायों से तथाकथित "जन उत्पादन" की हित-साधना होगी।

इस "सिद्धांत" के प्रति सहानुभूति रखते हैं, सार्वजनिक शिक्षा के और विशेषकर आम सार्वजनिक शिक्षा के वह उत्कट समर्थक हैं, स्थानीय स्वशासन और ज़ेम्स्त्वो संस्थाओं[61] के पक्ष में हैं और यह विश्वास करते हैं कि भूमि-ऋण, विशेषकर छोटे भूमि-ऋण, बड़े पैमाने पर उपलब्ध कराये जाने चाहिए क्योंकि किसानों में ज़मीन ख़रीदने की तीव्र इच्छा है। यहां भी स्काल्दिन एक सच्चे "मैंचेस्टरवाले" हैं: उदाहरणार्थ, वह कहते हैं कि ज़ेम्स्त्वो और म्युनिसिपल बैंक "बैंक के पितृसत्तात्मक या आदिम स्वरूप हैं" और उनका स्थान प्राइवेट बैंकों को मिलना चाहिए जो "अत्यधिक श्रेष्ठ" हैं (पृष्ठ ८०)। "हमारे प्रदेशों में औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्रियाकलापों को प्रोत्साहन देकर" (पृष्ठ ७१) भूमि को मूल्य-युक्त कराना चाहिए, इत्यादि।

हमारे विवेचन का सारांश इस प्रकार है: दृष्टिकोण की दृष्टि से स्काल्दिन को पूंजीवादी उपदेशक कहा जा सकता है। उनके दृष्टिकोण बड़ी हद तक १८ वीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोणों की याद दिलाते हैं (हां, अनुरूपतः रूसी स्थितियों के प्रिज़्म से किरण-वर्तित होकर) और उन्होंने उक्त शताब्दी के सातवें दशक की "विरासत" के आम "उपदेशात्मक" स्वरूप का बहुत ही स्पष्ट प्रतिबिंब प्रस्तुत किया है। उक्त दशाब्दी के पश्चिमी-यूरोपीय उपदेशकों और अधिकांश साहित्यिक प्रतिनिधियों की तरह स्काल्दिन में भी भूदास-प्रथा और **उसके** आर्थिक, सामाजिक तथा क़ानूनी **सभी** परिणामों के प्रति उग्र विरोध की भावना कूट-कूटकर भरी हुई थी। यह है "उपदेशक" का पहला विशेष लक्षण। सभी रूसी उपदेशकों का दूसरा सामान्य विशेष लक्षण यह था कि वे शिक्षा, स्वशासन, स्वतंत्रता, जीवन के यूरोपीय स्वरूप और आम तौर पर रूस के चहुंमुखी यूरोपीयकरण के उत्कट समर्थक थे। और "उपदेशकों" का तीसरा विशेष लक्षण यह था कि वे जन समूहों के, विशेषकर किसान समूहों के (उपदेशकों के दिनों में जिनका अभी तक पूर्ण विमोचन नहीं हुआ था या जिनके विमोचन की प्रक्रिया अभी जारी थी) हितों का समर्थन करते थे, शुद्ध हृदय से ऐसा विश्वास करते थे कि भूदास-प्रथा और उसके अवशेषों की समाप्ति के बाद सार्वत्रिक कल्याण का उदय होगा और शुद्ध हृदय से इसके प्रत्यक्षीकरण में सहायता देना चाहते थे। जिसे "सातवें दशक की विरासत" कहते हैं, उसका निचोड़ यही तीन लक्षण हैं, और इस बात पर ज़ोर देना महत्त्वपूर्ण है कि **इस**

विरासत में नरोदवाद का रत्ती भर भी तत्त्व नहीं है। रूस में कई ऐसे लेखक हैं जिनके दृष्टिकोणों में उक्त लक्षणों की विशेषता है और जिनका नरोदवाद से कभी कोई मेलजोल नहीं रहा है। यदि किसी लेखक के दृष्टिकोण पर उक्त लक्षणों की छाप लगी हुई हो तो हर कोई हमेशा मानता है कि उसने "सातवें दशक की परंपराओं की रक्षा की है," भले ही नरोदवाद के प्रति उसकी रुझान कुछ भी क्यों न हो। हम श्री म० स्तास्युलेविच का उदाहरण लें जिनकी हाल ही में जुबिली मनायी गयी थी। वह नरोदवाद के विरोधक थे या नरोदवाद द्वारा उकसाये गये प्रश्नों की उपेक्षा करते थे। पर स्पष्ट है कि केवल इसलिए कोई ऐसा कहने की नहीं सोचेगा कि उन्होंने "विरासत को अस्वीकार कर दिया था"। स्काल्दिन* को हमने उदाहरण के रूप में ठीक इसी लिए लिया है कि यद्यपि वह **निस्संदेह** "विरासत" के एक प्रतिनिधि थे फिर भी साथ

---

*कदाचित् यह आपत्ति उठायी जायेगी कि स्काल्दिन सातवें दशक के विशिष्ट व्यक्ति नहीं थे; इसका कारण है ग्रामीण समुदाय के प्रति उनका विरोध और उनका सुर। पर प्रश्न केवल ग्रामीण समुदाय का नहीं है। प्रश्न है सभी उपदेशकों के सामान्य दृष्टिकोणों का जिनसे स्काल्दिन भी सहमत हैं। जहां तक उनके सुर का सवाल है, अपनी शांत तर्कसंगति, संयम, क्रमवाद पर बल इत्यादि में वस्तुतः वह किसी प्रकार विशिष्ट नहीं था। यह अकारण नहीं कि एंगेल्स स्काल्दिन को liberalkonservativ[62] (उदार-रूढ़िवादी) कहकर पुकारते थे। फिर भी विरासत के किसी विशिष्टतर सुर वाले प्रतिनिधि को चुन लेना पहले तो विभिन्न कारणों से असुविधाजनक होता और दूसरे, आजकल के नरोदवादियों के साथ उसकी तुलना करते समय ग़लतफ़हमी पैदा हो जाती[63]। हमारे कार्य के स्वरूप ही के कारण (कहावत के विपरीत) **सुर से संगीत नहीं बनता,** और स्काल्दिन का अविशिष्ट सुर उनके "संगीत" को अर्थात् उनके दृष्टिकोणों के आशय को अधिक स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है। और हमें केवल आशय ही में रुचि है। लेखकों के दृष्टिकोणों के आशय के आधार पर ही (उनके सुर के आधार पर नहीं) हम विरासत के प्रतिनिधियों और आजकल के नरोदवादियों की तुलना करना चाहते हैं।

ही साथ वह उन प्राचीन संस्थाओं के स्पष्ट शत्रु थे जिन्हें नरोदवादियों ने **अपनी** शरण में लिया है।

हम कह चुके हैं कि स्काल्दिन एक पूंजीवादी थे। इस बात का पर्याप्त प्रमाण ऊपर दिया जा चुका है पर यह कहना आवश्यक है कि इस शब्द का अर्थ अक्सर बहुत ही ग़लत, संकुचित और अनैतिहासिक रूप में लिया जाता है, इसे अल्पमत के स्वार्थमूलक समर्थन का (**ऐतिहासिक कालखंड के भेद पर ध्यान न देते हुए**) पर्याय-सा माना जाता है। यह न भूलना चाहिए कि जिस समय १८ वीं शताब्दी के उपदेशकों ने (जिन्हें आम तौर पर पूंजीपति वर्ग के नेता माना जाता है) अपना लेखन-कार्य किया और जिस समय १८४०-६० के हमारे उपदेशकों ने अपना लेखन-कार्य किया उस समय **सभी** सामाजिक समस्याओं का निचोड़ भूदास-प्रथा और उसके अवशेषों के विरुद्ध का संघर्ष माना जाता था। उस समय नये सामाजिक-आर्थिक संबंध और उनकी असंगतियां अभी भ्रूणावस्था में थीं। अतः उस समय पूंजीपति वर्ग के आचार्यों ने कोई स्वार्थमूलकता नहीं दिखायी; उल्टे पश्चिम में और रूस में भी उन्होंने बड़ी ईमानदारी से सार्वत्रिक परम सुख में विश्वास दिखाया और ईमानदारी से उसकी कामना की, भूदास-प्रथा से उत्पन्न होती हुई प्रणाली की असंगतियां देखना वे बड़ी ईमानदारी से चूक गये (और अंशतः अभी भी नहीं देख पाये हैं)। यह अकारण नहीं है कि स्काल्दिन अपनी पुस्तक के एक भाग में ऐडम स्मिथ का उद्धरण देते हैं: हमने देखा है कि उनके दृष्टिकोण और उनके तर्कों का स्वरूप, दोनों, बहुत से पहलुओं में प्रगतिशील पूंजीवादियों के उक्त महान् आचार्य के थीसिस दोहराते हैं।

अतः यदि हम स्काल्दिन की व्यावहारिक इच्छाओं की तुलना एक ओर आजकल के नरोदवादियों के दृष्टिकोणों के साथ और दूसरी ओर उनके प्रति "रूसी शिष्यों" के भाव के साथ करेंगे तो हमें "शिष्य" हमेशा स्काल्दिन की इच्छाओं के समर्थन के पक्ष में दिखाई देंगे क्योंकि इन इच्छाओं में प्रगतिशील सामाजिक वर्गों के हित और वर्तमान अर्थात् पूंजीवादी पथ पर हो रहे आम सामाजिक विकास के परमावश्यक हित प्रतिबिंबित होते हैं। स्काल्दिन की व्यावहारिक इच्छाओं अथवा उनके प्रश्नों की स्वीकृत धारणाओं में नरोदवादियों ने जो परिवर्तन कर दिया है वह **बदतर परिवर्तन** है और

"शिष्य" उसे अस्वीकार करते हैं। जिस चीज़ के विरुद्ध शिष्य "स्वयं झपट पड़ते हैं" वह "विरासत" नहीं है (यह तो एक हास्यास्पद झूठ है), वह तो है नरोदवादियों द्वारा विरासत में डाले गये कल्पनात्मक और निम्न-पूंजीवादी भराव। अब हम इन भरावों पर दृष्टि डालेंगे।

२

"विरासत" में नरोदवाद का भराव

स्काल्दिन के बाद अब हम एंगेलहार्ट के संबंध में लिखेंगे। उनके 'ग्रामीण पत्र'[64] भी ग्रामीण जीवन से संबंधित सामाजिक निबंध हैं, अतः उनकी पुस्तक आशय और स्वरूप की भी दृष्टि से स्काल्दिन की पुस्तक से बहुत अधिक मिलती-जुलती है। स्काल्दिन की अपेक्षा एंगेलहार्ट अधिक प्रतिभाशाली हैं और ग्रामीण प्रदेश से लिखे गये उनके पत्र अतुलनीय मात्रा में अधिक सजीव और कल्पनाप्रवण हैं। 'दूरस्थ देहातों में और राजधानी में' के गंभीर लेखक के से लंबे प्रस्ताव एंगेलहार्ट की पुस्तक में नहीं मिलते, बल्कि दूसरी ओर वह चतुर चित्रांकन और अन्य वाक्यालंकारों से अधिक परिपूर्ण है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जहां एंगेलहार्ट की पुस्तक को पाठकों की स्थायी सहानुभूति प्राप्त है और हाल ही में उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ है वहां स्काल्दिन की पुस्तक लगभग पूर्णतया विस्मृति में विलीन हो चुकी है। ध्यान रहे कि स्काल्दिन की पुस्तक के प्रकाशित होने के दो वर्ष बाद जाकर 'ओतेचेस्त्वेन्नियें ज़ापीस्की' ने एंगेलहार्ट के पत्रों का प्रकाशन आरंभ किया था। अतः पाठक को एंगेलहार्ट की पुस्तक की विषयवस्तु से परिचित कराने की कोई आवश्यकता नहीं है और हम अपनी बात उनके दृष्टिकोणों के दो निम्नलिखित पहलुओं के संक्षिप्त विवेचन तक ही सीमित रखेंगे: पहले, वे दृष्टिकोण जो आम तौर पर "विरासत" के विशेष लक्षण हैं और ख़ास तौर पर एंगेलहार्ट और स्काल्दिन में समान रूप में पाये जाते हैं; और दूसरे, वे दृष्टिकोण जो विशिष्टतया नरोदवादी हैं। एंगेलहार्ट तो **पहले ही से नरोदवादी हैं**, पर उनके दृष्टिकोणों में अभी भी बहुत कुछ ऐसा समाविष्ट है जो सभी उपदेशकों में समान रूप से

पाया जाता है, बहुत कुछ ऐसा है जो आजकल के नरोदवाद ने छोड़ दिया है या बदल डाला है। इससे यह निश्चित करना कठिन है कि उन्हें किस वर्ग में रखा जाये: नरोदवादी झलक से रहित आम तौर पर "विरासत" के प्रतिनिधियों के वर्ग में या नरोदवादियों के वर्ग में।

एंगेलहार्ट को ऊपर में से पहले वर्ग में रखनेवाली बातें इस प्रकार हैं: उनके दृष्टिकोणों की विलक्षण समझदारी, वास्तविकताओं का सरल और सीधा वर्णन, आम तौर पर "बुनियादों" और ख़ास तौर पर कृषक वर्ग के सभी बुरे पहलुओं का निष्ठुर उद्घाटन – उन "बुनियादों" का उद्घाटन जिनका झूठा आदर्शीकरण और जिनपर मुलम्मा चढ़ाना नरोदवाद का एक आवश्यक अंग है। अतः एंगेलहार्ट द्वारा अत्यंत दुर्बल और कातर रूप में अभिव्यक्त नरोदवाद में और उनके द्वारा अत्यंत प्रतिभापूर्ण ढंग से अंकित ग्रामीण **वास्तविकताओं** के चित्रों में सीधी और स्पष्टतम असंगति है और यदि कोई अर्थशास्त्री या समाजशास्त्री एंगेलहार्ट के **तथ्यों** और **निरीक्षणों** * के आधार पर ग्रामीण प्रदेश के संबंध में अपनी राय बताना चाहे तो उसे ऐसी सामग्री से नरोदवादी निष्कर्ष निकालना असंभव प्रतीत होगा। कृषक वर्ग और ग्रामीण समुदाय का आदर्शीकरण नरोदवाद का एक आवश्यक अंग है और श्री वी० वी०[65] से लेकर श्री मिख़ाइलोव्स्की तक सभी झलकों वाले नरोदवादियों ने "समुदाय" के आदर्शीकरण और मुलम्मासाज़ी की इस प्रवृत्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। एंगेलहार्ट में ऐसी मुलम्मासाज़ी रत्ती भर भी नहीं है। हमारे कृषक वर्ग की

---

* प्रसंगतः, आर्थिक अन्वेषक के लिए यह न केवल अत्यंत रोचक और शिक्षाप्रद, बल्कि पूर्णतया न्यायसंगत भी होगा। यदि वैज्ञानिक लोग प्रश्न-पत्रों का – उन अनगिनत खेतिहरों के उत्तरों और मतों का जो बहुत अक्सर पक्षपाती और ग़लत सूचना से लैस होते हैं, जिनमें सुसंगत दृष्टिकोण का विकास नहीं हुआ है या जिन्होंने अपने दृष्टिकोणों पर बुद्धिपूर्ण रीति से विचार नहीं किया है – विश्वास कर सकते हैं तो फिर उन निरीक्षणों का विश्वास क्यों न किया जाये जो पूरे ग्यारह वर्ष की अवधि में एक ऐसे व्यक्ति द्वारा एकत्रित किये गये हैं जिसके पास निरीक्षण की विलक्षण शक्ति है, जो निस्संदेह ईमानदार है और जिसने अपने कथन के विषय का पूर्ण अध्ययन किया है?

सामुदायिक मानसिक गति के संबंध में फ़ैशनेबुल बातों, इस "सामुदायिक" भावना की नागरिक व्यक्तित्ववाद के साथ फ़ैशनेबुल तुलना, पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की प्रतियोगिता, इत्यादि के विपरीत एंगेलहार्ट पूरी निष्ठुरता के साथ छोटे किसान के विस्मयजनक **व्यक्तित्ववाद** का पर्दाफ़ाश कर देते हैं। वे विस्तारपूर्वक दिखाते हैं कि जब संपत्ति की बात आती है तो हमारे "किसानों में चरम स्वामित्व-भावना का रोग फैल जाता है" (पृष्ठ ६२, १८८५ का संस्करण) और यह कि वे "गिरोहों का काम" सह नहीं सकते हैं, संकुचित स्वार्थपूर्ण और अहंकारपूर्ण हेतुओं से घृणा करते हैं : गिरोहों के काम में हर कोई "दूसरों से अधिक काम करने से डरता है" (पृष्ठ २०६)। दूसरों से अधिक काम करने का यह डर हास्यजनक (या, अधिक ठीक कहना हो तो करुणा मिश्रित हास्यजनक) सीमाओं तक पहुंच जाता है; उदाहरण के रूप में लेखक हमें ऐसी स्त्रियों की बात बताता है जो एक ही घर में रहती हैं और समान गृहस्थी तथा रिश्तेदारी के सूत्रों में बंधी हुई हैं, लेकिन फिर भी जिनमें से हर कोई आम मेज़ का उतना ही हिस्सा साफ़ करती है जिसपर स्वयं वह और उसके नज़दीकी रिश्तेदार खाना खाते हैं। वे पारी पारी से गायें दुहती हैं। हर कोई **अपने** बच्चे के लिए गाय दुहती है (इस डर से कि दूसरी स्त्रियां लुके-छिपे ज्यादा दूध न लें) और अपने बच्चे के लिए अलग से खीर तैयार करती है (पृष्ठ ३२३)। एंगेलहार्ट ये पहलू इतनी तफ़सील के साथ सामने लाते हैं और उनके समर्थन में इतनी मिसालें पेश करते हैं कि उनके अपवादात्मक उदाहरण होने का सवाल ही नहीं उठता। या तो यह सही है कि एंगेलहार्ट एक तुच्छ निरीक्षक हैं जिनका विश्वास नहीं करना चाहिए, और या तो हमारे मुजीकों की सामुदायिक भावना और सामुदायिक गुणों की बात एक कल्पना मात्र है जो **भू-स्वामित्व** के रूप से कोई संबंध न रखनेवाले पहलुओं को (अलावा इसके, भू-स्वामित्व के रूप से सारे राजकर और प्रशासन संबंधी पहलुओं को हटाकर) **आर्थिक व्यवहार** में परिवर्तित कर देती है। एंगेलहार्ट दिखाते हैं कि मुजीक अपनी आर्थिक गतिविधि में कुलक बनने का लक्ष्य अपने सामने रखता है: "हर किसान में कुलक की एक निश्चित मात्रा होती है" (पृष्ठ ४६१), "किसानों में कुलक आदर्श विद्यमान हैं"... "मैं कई बार कह चुका हूं कि किसानों में व्यक्तित्ववाद, अहंकार, शोषण करने की लालसा सबल रूप

में विकसित हुई है" ... "हर कोई स्वयं बड़ी मछली होने पर गर्व करता है और छोटी मछली को निगल जाने का प्रयत्न करता है।" एंगेलहार्ट उत्कृष्ट ढंग से दर्शाते हैं कि कृषक वर्ग की प्रवृत्ति "सामुदायिक" प्रणाली की ओर नहीं है, न ही वह "जन उत्पादन" की ओर है, बल्कि है उस अत्यंत साधारण निम्न-पूंजीवादी प्रणाली की ओर जो सभी पूंजीवादी समाजों में जन्मजात रूप में होती है। वे सुसंपन्न किसान की व्यापार में प्रवेश करने (पृष्ठ ३६३), काम के बदले में अनाज उधार देने, ग़रीब मुजीक का श्रम ख़रीद लेने (पृष्ठ ४५७, ४६२ इत्यादि) की प्रवृत्ति का – या, आर्थिक भाषा में, गृहस्थ मुजीक को ग्रामीण पूंजीपति वर्ग में परिवर्तित कर देने की प्रक्रिया का वर्णन करते हैं और उसे निर्दोष रूप में सिद्ध कर देते हैं। "यदि," एंगेलहार्ट कहते हैं, "किसान अर्थ-व्यवस्था का आर्टेली स्वरूप नहीं स्वीकार करते हैं और हर किसान अपनी खेती-बारी पृथक् रूप से चलाता है, तो भूमि की बहुतायत के होते हुए भी किसान हलवाहों के बीच भूमिहीन किसान भी होंगे और खेती मज़दूर भी। इसके अलावा, मेरा विश्वास है कि किसानों की सांपत्तिक भिन्नता विद्यमान भिन्नता से कहीं अधिक होगी। भूमि के सामुदायिक स्वामित्व के बावजूद "धनियों" के साथ साथ बहुत से भूमिहीन किसान या वास्तविक मज़दूर भी होंगे। यदि मेरे पास भूमि का अधिकार है पर उसकी जोताई के लिए न पूंजी है और न औज़ार ही तो इससे मुझे या मेरे बच्चों को कौनसा लाभ होनेवाला है? यह तो इस बात के बराबर है कि किसी अंधे आदमी को ज़मीन दें और कहें कि – खा लो इसे!" (पृष्ठ ३७०)। पुस्तक के इस अंश में "अर्थ-व्यवस्था का आर्टेली स्वरूप" एक तरह की उदासीपूर्ण व्याजोक्ति के साथ एक पवित्र और निष्पाप कामना की भांति असहाय-सा दिखाई देता है। कृषक वर्ग से संबंधित तथ्यों से निष्कर्ष के रूप में इस कामना का निकलना तो दूर ही रहा, उल्टे ये तथ्य सीधे-सीधे उसका खंडन करते हैं, और उसे गिनती में नहीं लेते।

जिनमें ज़रा-सी भी नरोदवादी झलक नहीं है, एंगेलहार्ट को विरासत के ऐसे प्रतिनिधियों की पांत में बैठालनेवाला एक और लक्षण उनका यह विश्वास है कि कृषक वर्ग की दयनीय दशा का एक मुख्य और मूलभूत कारण भूदास प्रथा के अवशेषों और तद्विशिष्ट आदेश-व्यवस्था में निहित है। इन अवशेषों और आदेश-व्यवस्था को नष्ट कर देने की देर है कि सब कुछ ठीक हो जायेगा।

एंगेलहार्ट द्वारा आदेश-व्यवस्था का निर्विवाद विरोध और मुजीक को आदेश-व्यवस्था के ज़रिये ऊपर से सुख-लाभ कराने के प्रयत्नों का दाहक उपहास "शासक वर्गों के तर्क और विवेक में, ज्ञान और देशभक्ति में" (श्री युजाकोव के शब्द, 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो', १८९६, अंक १२, पृष्ठ १०६) नरोदवादियों के विश्वास, "उत्पादन के संगठन" के संबंध में उनकी मनमौजी परिकल्पनाओं इत्यादि के अत्यधिक विपरीत है। हम स्मरण करें कि एंगेलहार्ट आटे की चक्कियों में वोद्का के न बेचे जाने के नियम की, मुजीक की "भलाई" के लिए बनाये गये उस नियम की कैसी व्यंगपूर्ण निंदा करते हैं; या १५ अगस्त से पहले रई की बुवाई पर रोक लगाने के उद्देश्य से १८८० में कई ज़ेम्स्त्वो समितियों द्वारा जारी किये गये अनिवार्य आदेश पर, कुर्सी तोड़ "वैज्ञानिकों" द्वारा "लाखों किसानों" (पृष्ठ ४२४) के खेती-बारी के काम में किये गये घोर हस्तक्षेप – इसकी प्रेरणा भी मुजीकों की भलाई के विचार से ही मिली थी – पर वे कैसा रोष प्रकट करते हैं। देवदार के जंगलों में धूम्रपान करने, वसंत काल में पाइक मछलियों का शिकार करने, "मई पर्व" के लिए बर्च वृक्ष तोड़ने, पंछियों के घोंसलों की लूट-खसोट करने इत्यादि पर रोक लगानेवाले जैसे नियमों और आदेशों के संबंध में एंगेलहार्ट व्यंगपूर्वक कहते हैं: ..."मुजीक के लिए व्याकुलता बुद्धिमान् मन की प्रधान चिंता है और सदा से रही है। आख़िर ख़ुद अपने लिए रहता कौन है? क्या सब कोई मुजीक के लिए ही नहीं रहते!.. मुजीक मूर्ख होता है, वह अपने मामले ख़ुद नहीं संभाल पाता। यदि कोई उसकी देखभाल न करे तो वह सारे जंगल जला डालेगा, सभी पंछियों को मार डालेगा, नदियों को मछलियों से ख़ाली कर देगा, ज़मीन को बरबाद होने देगा और अपने वर्ग का नामोनिशान मिटा देगा" (पृष्ठ ३९८)। पाठक, क्या आप कभी सोच सकते हैं कि बांटों के हस्तांतरण की मनाही करनेवाले जैसे, नरोदवादियों के लिए हृदय से प्रिय क़ानूनों के प्रति उक्त लेखक को कोई सहानुभूति हो सकती है? क्या यह हो सकता है कि उन्होंने 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो' के एक आधारस्तंभ के, ऊपर उद्धृत किये गये वाक्यांश की तरह कुछ कह दिया हो? क्या यह हो सकता है कि उन्होंने उसी पत्रिका के एक और आधारस्तंभ श्री न० कारिशेव के दृष्टिकोण के स्वर में स्वर मिला दिया हो जिन्होंने "कृषि श्रम संगठन पर नियमित रूप से भारी और

ठोस ख़र्च" के लिए "अवकाश न पाने" के लिए हमारी गुबर्निया ज़ेम्स्त्वो समितियों की (१९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक में!) भर्त्सना की थी?*

एंगेलहार्ट को स्काल्दिन के सदृश बनानेवाले एक और लक्षण का हम उल्लेख करें। यह है बहुत-सी ख़ालिस पूंजीवादी आकांक्षाओं और कार्रवाइयों के प्रति उनकी अचेतन प्रवृत्ति। यह बात नहीं कि एंगेलहार्ट निम्न-पूंजीपति वर्ग पर मुलम्मा चढ़ाने, फ़लां उपक्रमी को अमुक उपाधि न देने के लिए बहानों का जाल रचने (श्री वी० वी० के अनुसार) का प्रयत्न करते हैं – बात इससे कोसों दूर है। एक व्यावहारिक स्वामी होने के नाते वह बस, कृषि पद्धतियों के हर प्रगतिशील नवीकरण पर, हर सुधार पर उत्तेजित हो उठते हैं और यह अनुभव करना पूरी तरह चूक जाते हैं कि इन सुधारों का सामाजिक रूप उनके अपने इस सिद्धांत का सर्वाधिक प्रभावशाली खंडन है कि हमारे देश में पूंजीवाद असंभव है। उदाहरण के रूप में हम स्मरण करें कि अपने कामगारों के लिए (फ़्लेक्स की पिटाई, धुनाई इत्यादि के लिए) मज़दूरी की **उजरत-दर** प्रणाली अपनाने की बदौलत उनके फ़ार्म पर जो सफलता प्राप्त हुई उसपर वह कैसे बाग़ बाग़ हो उठे थे। एंगेलहार्ट को यह संदेह तक नहीं होता कि समयानुसार दरों के स्थान में उजरत-दर जारी करना एक ऐसी अत्यधिक प्रचलित पद्धति है जिससे विकासशील पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था श्रम की चुस्ती में सघनता लाती है और अतिरिक्त मूल्य की दर बढ़ाती है। एक और उदाहरण लीजिये। एंगेलहार्ट 'ज़ेम्लेदेल्चेस्काया गाज़ेता'[66] के कार्यक्रम का उपहास करते हैं। यह कार्यक्रम इस प्रकार है: "तीन खेतों वाले वितरण की समाप्ति, खेती मज़दूरों की मज़दूरी पर आधारित खेती-बारी, उत्तम मशीनों, औज़ारों तथा ढोरों की नस्लों और बहुत खेतों वाली प्रणाली का प्रयोग, चरागाहों का सुधार इत्यादि, इत्यादि।" – "पर यह सब बस, आम बात है और कुछ नहीं!" एंगेलहार्ट पुकार उठते हैं (पृष्ठ १२८)। फिर भी ठीक ठीक यही कार्यक्रम एंगेलहार्ट ने ख़ुद अपनी व्यावहारिक खेती में अपना लिया था; खेती मज़दूरों को काम पर लगाने के आधार पर ही तो उन्होंने स्वयं अपनी खेती में टेकनिकल

---

* 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो', १८९६, अंक ५, मई। आर्थिक कार्रवाइयों पर गुबर्निया ज़ेम्स्त्वो समितियों के ख़र्च के संबंध में श्री कारिशेव का लेख, पृष्ठ २०।

प्रगति कर ली थी। या एक और बात लीजिये : हम जानते हैं कि एंगेलहार्ट ने कितने स्पष्ट और विश्वसनीय ढंग से गृहस्थ मुजीक की वास्तविक प्रवृत्तियों का पर्दाफ़ाश किया था ; पर इससे उनके निश्चयपूर्वक यह कहने में बाधा न आयी कि "ज़रूरत मिलों और फ़ेक्टरियों की नहीं है बल्कि है **छोटी**" (शब्दों पर ज़ोर एंगेलहार्ट का) "ग्रामीण मद्योत्पादन शालाओं, तेल मिलों" इत्यादि की (पृष्ठ ३३६), यानी "ज़रूरत इस बात की है कि ग्रामीण पूंजीपति वर्ग कृषिगत उद्योग अपना ले—यही तो सदा और सर्वत्र कृषिगत पूंजीवाद का एक प्रधान लक्षण रहा है। यहां हम इस तथ्य से प्रभावित होते हैं कि एंगेलहार्ट सैद्धांतिक नहीं थे बल्कि थे एक व्यावहारिक स्वामी। बिना पूंजीवाद के प्रगति संभव है यह तर्क प्रस्तुत करना एक बात है और खुद एक फ़ार्म का प्रबंध करना दूसरी बात। अपने फ़ार्म को तर्कसंगत ढंग पर चलाने का लक्ष्य अपने सामने रखने के बाद एंगेलहार्ट को इर्दगिर्द की परिस्थितियों के प्रभाव से शुद्ध पूंजीवादी पद्धतियों के ज़रिये इसे सिद्ध कर लेने और "खेती मज़दूरों को काम पर लगाने" से संबंधित अपने सारे सैद्धांतिक और हवाई संदेहों को एक ओर रखने पर **बाध्य** होना पड़ा। स्काल्दिन के सैद्धांतिक तर्क एक विशिष्ट मैंचेस्टरवाले के तर्क थे यद्यपि वह यह अनुभव करना पूरी तरह चूक गये कि उनके तर्क ठीक-ठीक इस स्वरूप के थे और यह कि वे रूस के पूंजीवादी क्रम-विकास की आवश्यकताओं के अनुकूल थे। एंगेलहार्ट को व्यवहार में एक विशिष्ट मैंचेस्टरवाले की तरह बरतने पर बाध्य होना पड़ा, यद्यपि वह पूंजीवाद का सैद्धांतिक विरोध करते थे और यह विश्वास करना चाहते थे कि उनका देश स्वयं अपने पथ पर चल रहा है।

एंगेलहार्ट इसका विश्वास करते थे और यही बात हमें उन्हें एक नरोदवादी कहकर पुकारने को प्रेरित कर देती है। वह रूस के आर्थिक विकास की **वास्तविक** प्रवृत्ति का स्पष्ट अनुमान कर चुके थे और वह इस विकास के विरोधाभासों को **मुलायम रूप** देना चाहते थे। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि रूस में कृषिगत पूंजीवाद असंभव है, कि हमारे देश में कमेरे नहीं हैं" (पृष्ठ ५५६), यद्यपि स्वयं उन्होंने बिल्कुल साफ़-साफ़ ढंग से इस कपोलकल्पना का खंडन किया था कि हमारे मज़दूर महंगे हैं, खुद उन्होंने ही दिखा दिया था कि कैसे तुच्छ वेतन पर उनके मवेशियों की देखभाल करनेवाला

प्योत्र और उसका परिवार उनकी चाकरी करता था–परिवार की जीविका का ख़र्च निभने पर उसके पास "नमक, वनस्पति तेल और कपड़ालत्ता ख़रीदने के लिए" सालाना सिर्फ़ छः रूबल बचते थे (पृष्ठ १०)। "फिर भी लोग उससे भी ईर्ष्या करते हैं और यदि मैं उसे काम पर से हटा दूं तो पचास ऐसे लोग मिलेंगे जो उसका स्थान लेने के लिए उत्सुक हैं" (पृष्ठ ११)। अपने फ़ार्म की सफलता और हल चलाने में अपने मज़दूरों की कुशलता के बारे में बोलते समय एंगेलहार्ट विजय भावना के साथ पुकार उठते हैं: "और ये हलवाहे हैं कौन? अज्ञान, बेपरवाह रूसी किसान ही तो!" (पृष्ठ २२५)।

यद्यपि खेती-बारी के संबंध में एंगेलहार्ट के ख़ुद अपने अनुभव और किसानों के व्यक्तित्ववाद के भंडाफोड़ ने "सामुदायिक भावना" विषयक सभी भ्रांतियों का खंडन कर दिया था फिर भी उन्हें न केवल यह "विश्वास" था कि किसान अर्थ-व्यवस्था का आर्टेली स्वरूप अपना लेंगे बल्कि उन्होंने यह "निश्चय" व्यक्त किया था कि किसान ऐसा करेंगे ही, कि हम रूसी यह बड़ा भारी कारनामा करके दिखायेंगे और खेती का नया तरीक़ा अपना लेंगे। "यही तो हमारी अर्थ-व्यवस्था का विशिष्ट स्वरूप है, उसकी मौलिकता है" (पृष्ठ ३४९)। यथार्थवादी एंगेलहार्ट कल्पनावादी एंगेलहार्ट बन जाते हैं, और खेती की ख़ुद अपनी पद्धतियों और उनके निरीक्षण के अनुसार किसानों की खेती की पद्धतियों में जो "मौलिकता" का पूर्ण अभाव है उसकी क्षतिपूर्ति वह भावी "मौलिकता" का **"विश्वास"** दिलाकर करते हैं! इस विश्वास और एंगेलहार्ट में पाये जानेवाले अति-नरोदवादी लक्षणों–यद्यपि वस्तुतः ये बहुत कम हैं–के, अंधराष्ट्रवाद की सीमा छूनेवाले संकुचित राष्ट्रवाद के ("हम यूरोप की मरम्मत कर देंगे" और "यूरोप में भी मुजीक हमारे ही पक्ष में होगा" (पृष्ठ ३८७)–एंगेलहार्ट ने एक ज़मींदार से कहा, जिसके साथ वह युद्ध के संबंध में चर्चा कर रहे थे) और यहां तक कि श्रम-कर के आदर्शीकरण के बीच न के बराबर अंतर है! हां, वही एंगेलहार्ट जो अपनी पुस्तक के कई उत्कृष्ट पृष्ठ उस किसान की दलित और अपमानित दशा के वर्णन में लगा देते हैं जिसने रुपयों या अनाज का क़र्ज़ काम के रूप में चुकता करने की शर्त पर लिया है और जिसे वैयक्तिक परवशता की हीनतम परिस्थितियों में लगभग कुछ भी पाये

बिना जी-तोड़ मेहनत करनी पड़ती है* – वही एंगेलहार्ट हद कर देते हैं और कहते हैं कि "यह एक अच्छी बात होगी कि ग्रामीण क्षेत्रों के डाक्टर के पास अपना फ़ार्म हो (वह ग्रामीण क्षेत्रों में डाक्टरों की आवश्यकता की बात कर रहे थे। **व्ला० इ०**) ताकि मुजीक इलाज की क़ीमत अपने श्रम के रूप में अदा कर सके" (पृष्ठ ४१)। टिप्पणी की कोई आवश्यकता नहीं।

अंततः एंगेलहार्ट के दृष्टिकोण के उपरिनिर्दिष्ट अच्छे पहलुओं (यानी उन पहलुओं जो उनमें और बिना किसी नरोदवादी झलकवाले "विरासत" के प्रतिनिधियों में समान रूप से विद्यमान हैं) की बुरे पहलुओं (यानी नरोदवादी पहलुओं) के साथ तुलना करने पर हमें स्वीकार करना पड़ता है कि 'ग्रामीण पत्रों' के लेखक में पहले प्रकार के पहलुओं की निस्संशय प्रधानता है जबकि दूसरे प्रकार के पहलू एक असंगत और प्रासंगिक मिलावट हैं जो बाहर से बह आयी है और उनकी पुस्तक के आम स्वर से मेल नहीं खाती।

३

क्या नरोदवाद से संबद्ध होने से "विरासत" ने कुछ पाया है?

"हां, पर नरोदवाद के मानी आप क्या समझते हैं?" शायद पाठक पूछेंगे। "'विरासत' की धारणा से संबद्ध अर्थ की व्याख्या ऊपर की गयी है पर 'नरोदवाद' की व्याख्या नहीं दी गयी है।"

नरोदवाद के मानी हम समझते हैं दृष्टिकोणों की एक प्रणाली जिसमें निम्नलिखित तीन पहलू शामिल हैं: (१) **यह विश्वास कि रूस में पूंजीवाद**

---

*उस गांव के मुखिये (यानी ज़मींदार के प्रबंधक) का चित्र स्मरण कीजिये जो एक किसान को काम पर बुलाता है जब खुद उस किसान की फ़सल कभी की तैयार हो चुकी है और बरबाद हो रही है और उसे विवश होकर जाना पड़ता है – केवल इसलिए कि यदि वह न जाये तो वोलोस्त के अधिकारी "उसका पतलून उतार देंगे"।

अपकर्ष का, पतन का प्रतिनिधित्व करता है। पूंजीवाद द्वारा सदियों पुराने आधारों के भंजन को "रोकने", उसमें "ढील देने", उसे "अटका देने" के आग्रह और इच्छा और ऐसी ही अन्य प्रतिक्रियावादी पुकारों के मूल में यही विश्वास है। (२) **आम तौर पर रूसी और ख़ास तौर पर ग्रामीण समुदाय, आर्टेल इत्यादि सहित कृषक वर्गीय आर्थिक प्रणाली के मौलिक स्वरूप में विश्वास।** विभिन्न सामाजिक वर्गों और उनके संघर्षों के संबंध में आधुनिक विज्ञान द्वारा परिष्कृत धारणाओं को रूसी आर्थिक संबंधों पर लागू करना आवश्यक नहीं माना जाता। ग्रामीण समुदायगत कृषक वर्ग को पूंजीवाद से कुछ ऊंचा और अधिक अच्छा माना जाता है; इसमें "आधारों" के आदर्शीकरण की प्रवृत्ति है। कृषक वर्ग में हर माल-उत्पादक और पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के लक्षण-रूप विरोधाभासों का अस्तित्व है यह बात या तो अस्वीकार की जाती है या तो छिपायी जाती है; इससे इनकार किया जाता है कि इन विरोधाभासों और पूंजीवादी उद्योग तथा पूंजीवादी कृषि में उनके अधिक विकसित स्वरूपों के बीच कोई संबंध है। (३) **एक ओर "बुद्धिजीवी श्रेणी" तथा देश की वैधानिक और राजनीतिक संस्थाओं और दूसरी ओर निश्चित सामाजिक वर्गों के भौतिक हितों के बीच के संबंध की अवज्ञा।** इस संबंध का अस्वीकार, इन सामाजिक तत्त्वों के भौतिक स्पष्टीकरण का अभाव यह विश्वास करने को प्रेरित करता है कि वे एक ऐसी शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं जो "इतिहास को दूसरी मार्ग-रेखा पर घसीटने" (श्री वी० वी०), "उसे पथभ्रष्ट कर देने" (श्री न – ओन[67], श्री युजाकोव आदि) इत्यादि की सामर्थ्य रखती है।

हम "नरोदवाद" के मानी यही समझते हैं। अतएव पाठक देखेंगे कि इस शब्द का उपयोग हम विस्तृत अर्थ में करते हैं, ठीक उसी भांति जिस भांति सारे "रूसी शिष्य" दृष्टिकोणों की एक पूरी प्रणाली का और न कि इस प्रणाली के अलग-अलग प्रतिनिधियों का विरोध करते समय करते हैं। हां, इन अलग-अलग प्रतिनिधियों के बीच मतभेद हैं और कभी-कभी महत्त्वपूर्ण मतभेद हैं। कोई भी इन मतभेदों की उपेक्षा नहीं करता। पर दृष्टिकोण के उपरिनिर्दिष्ट पहलू नरोदवाद के सभी अति विभिन्न प्रतिनिधियों को – हम कह दें कि श्री यूज़ोव से लेकर श्री मिख़ाइलोव्स्की तक को – समान रूप में लागू हैं। यूज़ोव, सज़ोनोव, वी० वी० इत्यादि लोग अपने दृष्टिकोणों के इन आक्षेपाई पहलुओं में और आक्षेपाई पहलू जोड़ देते हैं जो, उदाहरणार्थ, न श्री मिख़ाइलोव्स्की में हैं और न आज के

'रूस्कोये बोगात्सत्वो' के अन्य लेखकों में ही। संकुचित अर्थ में नरोदवादियों और आम नरोदवादियों के बीच के इन मतभेदों को अस्वीकार करना निश्चय ही ग़लत होगा; पर और अधिक ग़लत होगा इस तथ्य की उपेक्षा करना कि सभी नरोदवादियों के **मूलभूत** सामाजिक-आर्थिक दृष्टिकोण उपरिनिर्दिष्ट मुख्य बातों के बराबर हैं। और चूंकि "रूसी शिष्य" इन मूलभूत दृष्टिकोणों को अस्वीकार करते हैं और न केवल उनसे बदतर दिशाओं में होनेवाले "शोचनीय अतिक्रमों" को, इसलिए वे स्पष्टतः "नरोदवाद" शब्द का प्रयोग उसके विस्तृत अर्थ में करने के पूर्ण अधिकारी हैं। वे न केवल ऐसा करने के अधिकारी ही हैं, बल्कि वे अलावा इसके कुछ कर ही नहीं सकते।

नरोदवाद के ऊपर रूपरेखांकित मूलभूत दृष्टिकोणों पर ध्यान देते हुए सबसे पहले हमें यह बात नोट कर लेनी चाहिए कि उनमें "विरासत" का **तनिक भी अंग नहीं है।** "विरासत" के ऐसे अनेकानेक निस्संदेह प्रतिनिधि और रक्षक हैं जो नरोदवाद से कोई समानता नहीं रखते, जो पूंजीवाद का प्रश्न प्रस्तुत तक नहीं करते, जो रूस के मौलिक स्वरूप, किसान समुदाय इत्यादि में विश्वास नहीं रखते और जो बुद्धिजीवी श्रेणी तथा वैधानिक और राजनीतिक संस्थाओं को "पथभ्रष्ट होने" योग्य पहलू नहीं मानते। ऊपर हमने उदाहरण के रूप में 'वेस्त्निक येव्रोपी'[68] के संपादक एवं प्रकाशक का नामोल्लेख किया जिनपर और कोई भी दोषारोपण किया जा सकता है पर विरासत की परंपराओं को तोड़ने का दोष कभी नहीं लगाया जा सकता। दूसरी ओर ऐसे लोग हैं जिनके दृष्टिकोण नरोदवाद के उपरिनिर्दिष्ट मूलभूत दृष्टिकोणों से मिलते-जुलते हैं, फिर भी जो सीधे और स्पष्ट शब्दों में "विरासत को अस्वीकार करते हैं" – उदाहरणार्थ, हम उन्हीं श्री अब्रामोव का नाम ले सकते हैं जिनका उल्लेख श्री मिख़ाइलोव्स्की करते हैं या फिर श्री यूज़ोव का। "रूसी शिष्य" जिस नरोदवाद के विरुद्ध युद्ध छेड़े हुए हैं, वह (वैधानिक शब्दों में कहना हो तो) विरासत के "वसीयतनामे के बनते" समय यानी सातवें दशक में विद्यमान ही न था। हां, यह सही है कि नरोदवाद के बीज, उसके प्राथमिक तत्त्व न केवल सातवीं दशाब्दी में बल्कि पांचवीं दशाब्दी में और उससे पहले भी विद्यमान थे* – पर यहां हमारा विचारणीय विषय

---

* देखिये : तुगान-बरानोव्स्की कृत 'रूसी फ़ेक्टरी' (सेंट पीटर्सबर्ग, १८९८)।

नरोदवाद का इतिहास नहीं है। हम दोहराते हैं कि हमारे लिए महत्त्वपूर्ण बात यह सिद्ध करना है कि ऊपर रूपरेखांकित अर्थ में सातवें दशक की "विरासत" नरोदवाद से कोई समानता नहीं रखती, यानी उनके दृष्टिकोणों के आशय में कोई समानता नहीं है, और यह कि वे भिन्न प्रश्न प्रस्तुत करते हैं। "विरासत" के ऐसे रक्षक हैं जो नरोदवादी नहीं हैं और हैं ऐसे नरोदवादी जो "विरासत को अस्वीकार करते हैं"। हां, ऐसे नरोदवादी भी हैं जो "विरासत" की रक्षा करते हैं, या रक्षा करने का बहाना बनाते हैं। इसी लिए हम विरासत और नरोदवाद के बीच के संबंध की बात करते हैं। हम देखें कि इस संबंध का परिणाम क्या रहा है।

पहले, विरासत के रक्षक जो समस्याएं अभी तक या तो अंशतः (उनके समय में) प्रस्तुत नहीं कर सके थे या तो उन्होंने अंशतः प्रस्तुत नहीं की थीं और न ही वे अपने दृष्टिकोणों की जन्मजात संकुचितता के कारण प्रस्तुत करते हैं, उन समस्याओं को सामाजिक विचार के लिए **प्रस्तुत कर** नरोदवाद ने विरासत की तुलना में एक भारी **क़दम आगे** बढ़ाया। इन समस्याओं को **प्रस्तुत कर** नरोदवादियों ने एक महान् **ऐतिहासिक** सेवा की और यह बिल्कुल स्वाभाविक और समझने योग्य है कि इन समस्याओं का हल (उसका मूल्य कुछ भी हो) प्रस्तुत कर नरोदवाद ने **इसके द्वारा** रूसी सामाजिक विचारधारा की प्रगतिशील प्रवृत्तियों के क्षेत्र में अग्रगण्य स्थान प्राप्त कर लिया।

पर नरोदवाद द्वारा सुझाया गया इन प्रश्नों का हल मूल्यहीन सिद्ध हुआ क्योंकि वह पश्चिमी यूरोप में कभी से परित्यक्त किये गये पिछड़े हुए सिद्धांतों पर, पूंजीवाद की काल्पनिक और निम्न-पूंजीवादी मीमांसा पर, रूसी इतिहास और वास्तविकता के प्रधान तथ्यों की अवज्ञा पर आधारित था। जब तक रूस में पूंजीवाद का विकास और उसके अंगभूत विरोधाभास बहुत ही कमज़ोर थे तब तक पूंजीवाद की यह अपरिष्कृत मीमांसा पैर जमाये रह सकी। पर रूस में पूंजीवाद के आज के विकास, रूसी आर्थिक इतिहास और वास्तविकता के संबंध में हमारे ज्ञान की आज की अवस्था और समाजशास्त्रीय सिद्धांत से अपेक्षित आज की मांगों की दृष्टि से नरोदवाद तनिक भी संतोष दिलाने के योग्य नहीं है। पूंजीवाद का प्रश्न पहले पहल प्रस्तुत करने के नाते जो नरोदवाद किसी समय प्रगतिशील था वही आजकल एक ऐसा **प्रतिक्रियावादी** और **हानिकर** सिद्धांत बन

गया है जो सामाजिक विचार को गुमराह कर देता है और गतिहीनता एवं एशियाई बर्बरता के हाथ का खिलौना बना हुआ है। नरोदवाद ने पूंजीवाद की जो मीमांसा की उसके प्रतिक्रियावादी स्वरूप के कारण आज नरोदवाद में ऐसे भी लक्षण जुड़ गये हैं जो उसे विरासत के विश्वासपात्र रक्षक की सीमा तक अपने को बांध रखनेवाले दृष्टिकोण से **उन्नीस** बना देते हैं*। नरोदवादी दृष्टिकोण के उपरिनिर्दिष्ट तीन मूलभूत लक्षणों में से प्रत्येक का विश्लेषण करके हम यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि बात ऐसी ही है।

पहला लक्षण – यह विश्वास कि रूस में पूंजीवाद अपकर्ष का, पतन का प्रतिनिधित्व करता है। रूस में पूंजीवाद का प्रश्न प्रस्तुत किया जाने के शीघ्र ही बाद यह स्पष्ट हुआ कि हमारा आर्थिक विकास पूंजीवादी है, और नरोदवादियों ने घोषित किया कि यह विकास एक अपकर्ष है, ग़लती है, राष्ट्र के जीवन के समूचे इतिहास द्वारा अनुमानतः सुझाये गये मार्ग से, सदियों पुराने आधारों द्वारा अनुमानतः पूजे गये मार्ग से स्खलन है, इत्यादि इत्यादि। सामाजिक विकास के इस प्रवाह के प्रति उपदेशकों की गहरी श्रद्धा का स्थान अश्रद्धा ने ले लिया; ऐतिहासिक आशावाद और प्रसन्नता का स्थान इस तथ्य पर आधारित निराशावाद और खिन्नता ने ले लिया कि मामले जैसे जैसे आगे बढ़ते जायेंगे, जिस तरह कि वे बढ़ रहे हैं, वैसे वैसे नये विकास द्वारा खड़ी की गयी समस्याओं को हल करना कठिनतर और दुरूहतर होता जायेगा; इस विकास में "ढील देने" और उसे "रोक डालने" के अनुरोध किये गये; यह सिद्धांत सामने लाया गया कि रूस का पिछड़ापन उसका सद्भाग्य है, इत्यादि। नरोदवादी दृष्टिकोण के इन लक्षणों का किसी भी तरह "विरासत" के समान होना तो दूर ही रहा, वे साफ़-साफ़ उसका विरोध करते हैं। रूसी पूंजीवाद "मार्ग से स्खलन", पतन, इत्यादि का प्रतिनिधित्व करता है यह विश्वास रूस के समूचे आर्थिक क्रम-विकास को, हमारी आंखों के सामने घट रहे "निलंबन" को ग़लत ढंग से पेश करता है। पूंजीवाद द्वारा

---

*आर्थिक रोमांसवाद से संबंधित लेख में एक अवसर पर मैं कह चुका हूं कि हमारे विरोधक **प्रतिक्रियावादी** और **निम्न-पूंजीवादी** इन शब्दों को विवादीय दुर्वचन मानकर अत्यधिक अदूरदर्शिता दिखा रहे हैं जबकि इन शब्दों का पूर्णतया निश्चित ऐतिहासिक-दार्शनिक अर्थ है।

सदियों पुराने आधारों के ध्वंस में ढील देने और उसे रोक डालने की इच्छा की रौ में बहकर नरोदवादी आश्चर्यजनक ऐतिहासिक चातुर्यहीनता के अपराधी हो गये हैं, वे भूल जाते हैं कि मज़दूर की हैसियत को बदतर कर देनेवाला ग़ुलामी और व्यक्तिगत दासता सहित शोषण, सामाजिक उत्पादन में और परिणामतः सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में विद्यमान साधारण घटना-क्रम और गतिहीनता ही तो इस पूंजीवाद के **पूर्ववर्ती** थे। इस रोमांसवादी, निम्न-पूंजीवादी दृष्टिकोण के सहारे पूंजीवाद का विरोध करते हुए नरोदवादी सारे ऐतिहासिक यथार्थवाद को ठुकरा देते हैं और हमेशा पूंजीवादी **वास्तविकता** की तुलना पूंजीवादपूर्व **कल्पना संसार** से करते हैं। सातवें दशक की "विरासत" के प्रतिनिधि सामाजिक विकास के वर्तमान प्रवाह की प्रगतिशीलता में गहरा विश्वास रखते थे, उनकी घोर शत्रुता अतीत के अवशेषों को पूर्णतया और अनन्यतया लक्ष्य किये हुए थी, उनका विश्वास था कि इन अवशेषों को मिटा देने की देर है कि सब कुछ शानदार हो जायेगा – इस "विरासत" का नरोदवाद के उपरिनिर्दिष्ट दृष्टिकोणों में अंशभागी होना दूर ही रहा, उसका रुख़ बिल्कुल उनकी विरुद्ध दिशा में है।

नरोदवाद का दूसरा लक्षण है – रूस की मौलिकता में विश्वास, कृषक वर्ग का तथा ग्रामीण समुदाय का आदर्शीकरण, इत्यादि। रूस की मौलिकता के सिद्धांत ने नरोदवादियों को पुराने-धुराने पश्चिमी यूरोपीय सिद्धांत पकड़ लेने के लिए प्रेरित किया, पश्चिमी यूरोप की संस्कृति की बहुत-सी उपलब्धियों की ओर आश्चर्यजनक छिछोरपन से देखने के लिए प्रवृत्त किया: नरोदवादियों ने अपने को इस विचार के साथ आशा दिलायी कि यदि हममें सभ्य मानव-समाज के कुछ लक्षणों का अभाव है, तो दूसरी ओर संसार को अर्थ-व्यवस्था के नये तरीक़े दिखाना "हमारे भाग्य में लिखा हुआ है", इत्यादि। प्रगतिशील पश्चिमी यूरोपीय विचारधारा द्वारा प्रस्तुत किया गया पूंजीवाद और उसकी सब विशेषताओं का विश्लेषण पवित्र रूस के संबंध में स्वीकार नहीं किया गया इतना ही नहीं, बल्कि यूरोपीय पूंजीवाद के संबंध में निकाले गये निष्कर्षों जैसे ही निष्कर्ष रूसी पूंजीवाद के विषय में न निकालने के लिए बहाने गढ़ने का हर प्रयत्न किया गया। नरोदवादियों ने इस विश्लेषण के प्रवर्तकों को श्रद्धांजलि चढ़ायी और ... शांतिपूर्वक उसी प्रकार के रोमांसवादी बने रहे जिनका इन प्रवर्तकों ने जीवन भर विरोध किया था। फिर, रूसी मौलिकता विषयक यह सिद्धांत भी, जिससे कि

सभी नरोदवादी सहमत हैं, "विरासत" से कोई समानता नहीं रखता बल्कि उसका रुख ठीक उसके विरुद्ध है। इसके विपरीत "सातवें दशक" ने रूस का यूरोपीयकरण चाहा, यह विश्वास किया कि रूस को आम यूरोपीय संस्कृति अपनानी चाहिए, यह चिंता की कि इस संस्कृति की संस्थाएं हमारी भूमि में स्थानांतरित की जायें – उस भूमि में जो और कुछ भी हो सकती है पर मौलिक नहीं। जो भी सिद्धांत यह सिखाता है कि रूस मौलिक है वह सातवें दशक की भावना और परंपरा के पूर्णतया प्रतिकूल है। इस परंपरा के और भी अधिक प्रतिकूल है नरोदवादियों के हाथों ग्रामीण क्षेत्रों का आदर्शीकरण और मुलम्मासाज़ी। यह झूठा आदर्शीकरण किसी भी क़ीमत पर हमारी ग्रामीण प्रणाली में कुछ विशिष्ट बात देखना चाहता है, कुछ ऐसी बात देखना चाहता है जो पूंजीवादपूर्व काल में हर अन्य देश की ग्रामीण प्रणाली से पूर्णतया भिन्न हो; यह आदर्शीकरण भी समझदारी पूर्ण और यथार्थवादी विरासत की परंपराओं से अत्यधिक असंगत है। पूंजीवाद ज्यों ज्यों अधिक विस्तार और गहराई के साथ विकसित होता गया त्यों त्यों ग्रामीण क्षेत्र हर माल-उत्पादक पूंजीवादी समाज के लिए समान असंगतियां अधिक स्पष्टता से सामने लाये, किसानों की "सामुदायिक भावना", "आर्टेल भावना" इत्यादि के संबंध में नरोदवादियों की भावुकता भरी बातों और कृषक वर्ग के ग्रामीण पूंजीपति तथा ग्रामीण सर्वहारा में प्रत्यक्ष विभाजन के बीच का विरोधाभास अधिकाधिक तीव्र रूप से स्पष्ट होता गया; और त्यों त्यों सभी चीज़ों को किसानों की आंखों से देखना जारी रखनेवाले नरोदवादी अधिक शीघ्रता के साथ भावुक रोमांसवादियों से बदलकर निम्न-पूंजीपति वर्ग के विचारप्रवर्तक बनते गये, क्योंकि आधुनिक समाज में छोटा उत्पादक व्यापारिक माल-उत्पादक में परिवर्तित होता है। ग्रामीण क्षेत्रों के संबंध में अपने झूठे आदर्शीकरण और "सामुदायिक भावना" के विषय में अपनी कल्पना की उड़ान के फलस्वरूप नरोदवादी आर्थिक विकास की वर्तमान धारा से उत्पन्न हुई किसानों की वास्तविक आवश्यकताओं की ओर बहुत ही उपेक्षा भाव से देखने लगे। सिद्धांत के क्षेत्र में किसी ने कितना ही दिल खोलकर आधारों की शक्ति का गुणगान किया हो पर व्यवहार के क्षेत्र में हर नरोदवादी भली भांति समझ चुका था कि आज दिन तक हमारे कृषक वर्ग को एड़ी से लेकर चोटी तक उलझाये हुए अतीत के अवशेषों की, सुधारपूर्व प्रणाली के अवशेषों की समाप्ति से विकास के ठीक-ठीक पूंजीवादी

ढंग का ही मार्ग प्रशस्त होगा, किसी और का नहीं। पूंजीवादी प्रगति की अपेक्षा गतिहीनता ही अधिक अच्छी – ग्रामीण क्षेत्रों के प्रति हर नरोदवादी की तत्त्वतः यही प्रवृत्ति है, यद्यपि यह सही है कि हर नरोदवादी श्री वी० वी० की सी सरल स्पष्टोक्ति के साथ साफ़-साफ़ और खट से ऐसा कहने का साहस नहीं करता। "अपनी बांटों और समुदायों के साथ जकड़े हुए और अपने श्रम को अधिक उत्पादनशील और स्वयं अपने लिए अधिक लाभदायी स्थानों में लगाने में असमर्थ किसान भूदास-प्रथा से निकल आने के बाद वाली उस घुटनदार, पशुओं के गल्ले की सी, अनुत्पादनशील जीवन प्रणाली में जैसे ठिठुर गये हैं।" "विरासत" के प्रतिनिधियों में से एक ने अपने "उपदेशक"[69] विशिष्ट दृष्टिकोण से इसी प्रकार अवलोकन किया। "ग्रामीण क्षेत्रों में पूंजीवाद के लिए मार्ग प्रशस्त कराने की अपेक्षा यही बेहतर है कि किसान अपनी पुराणपंथी, पितृसत्तात्मक जीवन प्रणाली में ठिठुरे हुए बने रहें" – हर नरोदवादी का तत्त्वतः यही दृष्टिकोण है। सचमुच, शायद एक भी ऐसा नरोदवादी नहीं है जो इससे इनकार करने का साहस रखता हो कि अपने सामूहिक उत्तरदायित्व और ज़मीन की बिक्री तथा बांटों के त्याग पर की रोक के साथ किसान समुदाय का सामाजिक पार्थक्य आधुनिक आर्थिक **वास्तविकताओं**, आधुनिक व्यापारिक माल-उत्पादन के पूंजीवादी संबंधों और उनके विकास से तीव्र असंगति रखता है। इस असंगति से इनकार करना असंभव है पर इस मामले का सारा तथ्य यह है कि नरोदवादी इस प्रश्न को इस प्रकार प्रस्तुत करने से, आर्थिक वास्तविकताओं के साथ, आर्थिक विकास की वर्तमान धारा के साथ कृषक वर्ग की क़ानूनी हैसियत की तुलना करने से उसी भांति डरते हैं जिस भांति कोई प्लेग से डरता है। नरोदवादी ज़िद्द के साथ उस ग़ैर-पूंजीवादी विकास में विश्वास करने को व्याकुल है जो उसकी रोमांसवादी कल्पना का एक आविष्कार है और इसलिए ... और इसलिए वह उस वर्तमान विकास में ढील देने को तैयार है जो पूंजीवादी ढंग पर आगे बढ़ रहा है। किसान समुदाय के सामाजिक पार्थक्य, सामूहिक उत्तरदायित्व और किसान को ज़मीन बेचने और अपने बांट को त्यागने का अधिकार प्रदान करने जैसे प्रश्नों के प्रति नरोदवादी का रुख़ "आधारों" (साधारण रूढ़िवाद और गतिहीनता के आधारों) के लिए एक तेज़ ख़तरा और डर है; इसके अलावा नरोदवादी इतना नीचे उतर आया है कि वह किसानों को ज़मीन बेचने को मना करनेवाले पुलिस नियम तक का

स्वागत करता है। ऐसे नरोदवादी को कोई एंगेलहार्ट के इन शब्दों में प्रत्युत्तर दे सकता है: "मुजीक मूर्ख होता है, वह अपने मामले खुद नहीं संभाल पाता। यदि कोई उसकी देखभाल न करे तो वह सारे जंगल जला डालेगा, सभी पंछियों को मार डालेगा, नदियों को मछलियों से खाली कर देगा, ज़मीन को बरबाद होने देगा और अपने वर्ग का नामोनिशान मिटा देगा।" यहां नरोदवादी अत्यंत निश्चित रूप से "विरासत को अस्वीकार कर देता है", एक प्रतिक्रियावादी बन जाता है। और यह नोट कीजिये कि आर्थिक विकास की प्रगति के साथ किसान समुदाय के सामाजिक पार्थक्य का ध्वंस ग्रामीण सर्वहारा के लिए अधिकाधिक मात्रा में एक परम आवश्यकता बन जाता है जबकि उससे किसान पूंजीपति वर्ग के लिए उत्पन्न होनेवाली असुविधाएं बिल्कुल विचारणीय नहीं होतीं। "गृहस्थ मुजीक" आसानी से दूसरे स्थान की ज़मीन लगान पर उठा सकता है, किसी दूसरे देहात में व्यापारिक प्रतिष्ठान खोल सकता है, और अपने कारोबार के सिलसिले में जहां चाहे और जब चाहे, जा सकता है। पर मुख्यतया अपनी श्रम-शक्ति बेचकर जीविका चलानेवाले "किसान" के लिए अपनी बांट और समुदाय के साथ बंधा रहना उसकी आर्थिक गतिविधि पर एक बड़ा-भारी बंधन बन जाता है, उसके लिए बेहतर मालिक ढूंढना असंभव बना देता है और अपनी श्रम-शक्ति केवल स्थानीय ख़रीदारों के हाथों बेच देने को विवश कर देता है। ये ख़रीदार हमेशा ही कम रुपया देते हैं और उसे दास की स्थिति में पहुंचाने के सब तरह के मार्ग और साधन प्रयोग में लाते हैं।—रोमांसवाद के प्रभाव के आगे घुटने टेककर और आर्थिक विकास की धारा के बावजूद अपने सामने आधारों के रखरखाव और संरक्षण का उद्देश्य रखकर, नरोदवादी स्वयं न देखते हुए, इस ढालू धरातल पर इतना नीचे लुढ़क आया है कि वह अपने को ऐसे भू-स्वामी के समीप पाता है जो पूरे हृदय से "ज़मीन के साथ किसान के संबंध" के संरक्षण और दृढ़ीकरण के लिए उत्कंठित है। उदाहरण के रूप में यह स्मरण करना उपयुक्त होगा कि किसान समुदाय के इस सामाजिक पार्थक्य ने श्रम को किराये पर लेने के विशिष्ट तरीक़ों को जन्म दिया है: फ़ैक्टरियों और फ़ार्मों के मालिक देहातों में और ख़ासकर जिनपर भारी बक़ाया रक़म चढ़ी हुई है ऐसे देहातों में अपने एजेंट भेज देते हैं ताकि वे बहुत ही फ़ायदेमंद शर्तों पर मज़दूरों को किराये पर ले सकें। सौभाग्य से सर्वहारा की "बसी हुई स्थिति" को ध्वस्त करके (यही खेती के तथाकथित

मौसमी पेशों का परिणाम है) कृषिगत पूंजीवाद का विकास उक्त प्रकार की दासता के स्थान में क्रमशः मुक्त किराया पद्धति जारी कर रहा है।

आज के नरोदवादी सिद्धांत हानिकारक हैं इस हमारे तर्क का एक और, और शायद अधिक अनोखा प्रमाण **श्रम-कर का आदर्शीकरण** करने की नरोदवादियों की आम प्रवृत्ति में पाया जा सकता है। हम पहले एक उदाहरण दे चुके हैं कि किस प्रकार एंगेलहार्ट सद्भावना से अपने नरोदवादी पतन को पूर्णता देते हुए यहां तक कह गये कि ग्रामीण क्षेत्रों में श्रम-कर का विकास करना "एक अच्छी बात होगी"। श्री युजाकोव की कृषि हाई स्कूलों से संबंधित ('रूस्स्कोये बोगात्सत्वो', १८९५, अंक ५) सुप्रसिद्ध परियोजना में भी हमें यही बात मिलती है। जिस पत्रिका में एंगेलहार्ट लिखा करते थे उसी पत्रिका में गंभीर आर्थिक लेखों के दौरान श्री वी० वी० ने ऐसे आदर्शीकरण को प्रश्रय दिया जब उन्होंने घोषित किया कि एक किसान ने एक ऐसे ज़मींदार पर विजय प्राप्त कर ली जो अनुमानतः पूंजीवाद प्रचलित करना चाहता था; पर सारी परेशानी यह रही कि उक्त किसान ने ज़मींदार से "पट्टे पर" पायी गयी ज़मीन के बदले में ज़मींदार की ज़मीन में काश्त करना स्वीकार किया – दूसरे शब्दों में यह सामंतवाद के काल में प्रचलित अर्थव्यवस्था के ढंग की पुनःस्थापना के बराबर था। ये हैं हमारे कृषि विषयक प्रश्नों के प्रति नरोदवादियों की प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति के कुछेक स्पष्टतम उदाहरण। कुछ कम स्पष्ट रूप में हर नरोदवादी इस विचार का समर्थन करता हुआ आपको दिखाई पड़ेगा। हर नरोदवादी कहता है कि हमारी कृषि में पूंजीवाद हानिकारक और ख़तरनाक है, क्योंकि पूंजीवाद – क्या आप देखते नहीं – स्वतंत्र किसान के स्थान में खेती मज़दूर को खड़ा कर देता है। पूंजीवादी **वास्तविकता** ("खेती मज़दूर") की तुलना "स्वतंत्र" किसान की **कल्पित कथा** के साथ की जाती है: और यह कल्पित कथा इस तथ्य पर आधारित है कि पूंजीवाद पूर्व युग में किसान उत्पादन-साधनों का स्वामी था – यहां संकोच से यह बात आंखों की ओट की जाती है कि किसान को इन उत्पादन-साधनों की कीमत का दुगुना दाम चुकाना पड़ता था – कि ये उत्पादन-साधन श्रम-किराये का कार्य संपन्न करते थे; कि इस "स्वतंत्र" किसान का जीवन-स्तर इतना नीचा था कि किसी भी पूंजीवादी देश में उसे भिखारियों की श्रेणी में ही रखा जाता; और यह कि इस "स्वतंत्र" किसान की दयनीय दरिद्रता और बौद्धिक

जड़ता में व्यक्तिगत दासता जोड़ दी गयी थी जो अनिवार्य रूप से अर्थव्यवस्था के पूंजीवादपूर्व स्वरूप के हाथ में हाथ डाले रहती है।

नरोदवाद का तीसरा विशिष्ट लक्षण – एक ओर "बुद्धिजीवी श्रेणी" तथा देश की वैधानिक एवं राजनीतिक संस्थाओं और दूसरी ओर निश्चित सामाजिक वर्गों के भौतिक हितों के बीच के संबंध की अवज्ञा – उपरिनिर्दिष्ट दूसरे लक्षणों से अविभाज्य रूप से संबद्ध है। समाजशास्त्रीय प्रश्नों के प्रति यह अवास्तविक प्रवृत्ति ही इस सिद्धांत को जन्म दे सकती थी कि रूसी पूंजीवाद एक "ग़लती" है और उसे "मार्गच्युत किया जा सकता है"। यह नरोदवादी दृष्टिकोण भी "विरासत" और सातवें दशक की परंपराओं से कोई रिश्ता नहीं रखता ; वस्तुतः उसका रुख़ **इन परंपराओं के ठीक विरुद्ध है।** इस दृष्टिकोण का एक स्वाभाविक उपसिद्धांत है रूसी जीवन की सुधार पूर्व आदेश-व्यवस्था के अनेकानेक अवशेषों के प्रति नरोदवादियों की प्रवृत्ति; यह ऐसी प्रवृत्ति है जिससे "विरासत" के प्रतिनिधि किसी भी तरह सहमत न होते। इस प्रवृत्ति को सोदाहरण स्पष्ट करने के लिए हम श्री व० इवानोव के 'कुत्सित विपर्यास' शीर्षक लेख ('नोवोये स्लोवो'[70], सितंबर १८९७) से एक उत्कृष्ट कथन उद्धृत करने की स्वतंत्रता लेंगे। लेखक श्री बोबोरीकिन रचित उपन्यास 'दूसरी तरह' का उल्लेख करते हुए नरोदवादियों और "शिष्यों" के बीच के विवाद के संबंध में उनकी ग़लत धारणा का पर्दाफ़ाश कर देता है। श्री बोबोरीकिन अपने कथानायक द्वारा, जो एक नरोदवादी है, "शिष्यों" की इसलिए भर्त्सना कराते हैं कि वे अनुमानतः "आदेश-व्यवस्था की असह्य निरंकुशता सहित बैरक राज" का सपना देखते थे। इस संबंध में श्री व० इवानोव लिखते हैं:

"उन्होंने (नरोदवादियों ने) यह नहीं कहा कि उनके विरोधकों का 'सपना' आदेश-व्यवस्था' की असह्य निरंकुशता है; **फिर, जब तक वे नरोदवादी बने रहेंगे तब तक ऐसा न कह सकते हैं और न कहेंगे भी। इस संबंध में** 'आर्थिक पदार्थवादियों' के साथ उनके विवाद का आशय यह है कि पुरानी आदेश-व्यवस्था के बचेखुचे अवशेष आदेश-व्यवस्था के और अधिक विकास के लिए, नरोदवादियों के मतानुसार, आधार का काम दे सकते हैं। पुरानी आदेश-व्यवस्था की असहनीयता उनकी आंखों से ओझल रखी जाती है – एक ओर उनके इस विश्वास द्वारा कि स्वयं 'किसान की आत्मा' (अखंडित और अविभाज्य) आदेश-व्यवस्था की दिशा में 'क्रम-विकास कर रही है' और दूसरी ओर 'श्रमजीवी श्रेणी'

'समाज' या ग्राम तौर पर 'नेतृत्व करनेवाले वर्गों' की वर्तमान या भावी नैतिक सुंदरता में उनके विश्वास द्वारा। वे आर्थिक पदार्थवादियों पर 'आदेश-व्यवस्था' के प्रति नहीं बल्कि इसके विपरीत आदेश-व्यवस्था से मुक्ति पर आधारित पश्चिमी यूरोपीय प्रणाली के प्रति मोह का आरोप लगाते हैं। और आर्थिक पदार्थवादी वस्तुतः दृढ़तापूर्वक घोषित करते हैं कि अर्थव्यवस्था के एक आत्मनिर्भर स्वरूप से उत्पन्न पुरानी आदेश-व्यवस्था के अवशेष एक ऐसे देश में दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक 'असह्य' हो रहे हैं जिसने द्रव्याधार अर्थव्यवस्था अपना ली है और जिसके फलस्वरूप उक्त देश की जनसंख्या के विभिन्न हिस्सों की वास्तविक स्थिति और मानसिक तथा नैतिक रंगरूप दोनों में अनगिनत परिवर्तन आये हैं। अतएव उन्हें निश्चय हो चुका है कि देश के आर्थिक जीवन की नयी और लाभकारक 'आदेश-व्यवस्था' के उदय के लिए आवश्यक स्थितियां ऐसी आदेश-व्यवस्था के अवशेषों से नहीं विकसित हो सकती जो अर्थव्यवस्था के आत्मनिर्भर स्वरूप तथा सामंतवाद के अनुकूल बनायी गयी थी, और वे केवल पुरानी आदेश-व्यवस्था से विस्तृत और व्यापक रूप से मुक्ति के ऐसे वातावरण में क्रमविकसित हो सकती हैं जैसा कि पश्चिमी यूरोप और अमरीका के प्रगत देशों में मौजूद है। नरोदवादियों और उनके विरोधकों के बीच के विवाद में 'आदेश-व्यवस्था' के सवाल का यह हाल है" (पृष्ठ ११-१२, l. c.*)। "पुरानी आदेश-व्यवस्था के अवशेषों" के प्रति नरोदवादियों का यह रुख़ "विरासत" की परंपराओं से उनके हट जाने का शायद ख़राब से ख़राब मामला है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इस विरासत के प्रतिनिधि पुरानी आदेश-व्यवस्था के सभी अवशेषों के प्रति प्रचंड और पूर्ण घृणा के कारण अलग पहचाने जाते थे। परिणामतः इस मामले में "शिष्य" अतुलनीय रूप में नरोदवादियों की अपेक्षा सातवें दशक की "परंपराओं" और "विरासत" के समीपतर हैं।

नरोदवादियों की उपरिनिर्दिष्ट अति महत्त्वपूर्ण ग़लती के अलावा उनमें समाजशास्त्रीय वास्तविकता का अभाव है जो उन्हें सामाजिक मामलों और समस्याओं के संबंध में विचार और तर्क का ऐसा विशिष्ट ढंग अपनाने को विवश कर देता है जिसे संकुचित बुद्धिजीवी दंभ, या शायद, नौकरशाही मनःप्रवृत्ति

---

* loco citato – उद्धृत स्थान में।

कहा जा सकता है। नरोदवादी हमेशा इसका विवेचन करता रहता है कि "हम" अपने देश के लिए कौनसा मार्ग चुनें, यदि "हम" देश को अमुक-अमुक मार्ग पर ले जायें तो कैसे दुर्भाग्य आ खड़े होंगे, पुराने यूरोप द्वारा अपनाये गये मार्ग के संकटों को टालने और यूरोप तथा हमारी प्राचीन ग्रामीण समुदाय प्रणाली इन दोनों में "जो कुछ अच्छा है वह लेने" से "हम" अपने लिए कैसी संभावनाएं सुनिश्चित करा सकते हैं, इत्यादि इत्यादि। अपने-अपने हितों के अनुसार इतिहास का निर्माण करनेवाले विभिन्न सामाजिक वर्गों की स्वतंत्र प्रवृत्तियों के प्रति नरोदवादी के संपूर्ण अविश्वास और तिरस्कार का यही कारण है। यही कारण है कि नरोदवादी आश्चर्यजनक छिछोरपन के साथ (अपने इर्द गिर्द की हालतों को भुलाकर) "कृषि श्रम के संगठन" से लेकर हमारे "समाज" की सद्भावना के द्वारा "उत्पादन के समुदायीकरण" तक की अत्यधिक मनमौजी परियोजनाएं सामने लाते हैं। «Mit der Gründlichkeit der geschichtlichen Action wird der Umfang der Masse zunehmen, deren Action sie ist»* इन शब्दों में ** उस ऐतिहासिक-दार्शनिक सिद्धांत के एक गंभीरतम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आदेश की अभिव्यक्ति हुई है जिसे हमारे नरोदवादी न समझना चाहते और न समझ सकते ही हैं। ज्यों ज्यों मनुष्य की इतिहास-निर्माण की गतिविधियां अधिक विस्तृत और गंभीरतम होती जाती हैं त्यों त्यों जनसंख्या के उस समूह का आकार बढ़ना अनिवार्य है जो इतिहास का सचेतन निर्माता है। लेकिन नरोदवादियों ने हमेशा ही आम तौर पर जनसंख्या को और ख़ास तौर पर मेहनतकश जनसंख्या को कम-अधिक मात्रा में विवेकपूर्ण इस या उस कार्रवाई के विषय के रूप में, इस या उस मार्ग पर चलाने योग्य किसी विषय के रूप में देखा और यह कभी नहीं सोचा कि जनसंख्या के विभिन्न वर्ग वर्तमान मार्ग में इतिहास के स्वतंत्र निर्माता हैं, यह कभी नहीं पूछा कि वर्तमान मार्ग की कौनसी स्थितियां इतिहास के इन निर्माताओं की स्वतंत्र और सचेतन गतिविधि को प्रोत्साहन दे सकती हैं (या इसके विपरीत, शक्तिहीन कर सकती हैं)।

---

* मार्क्स, *«Die heilige Familie»* ('पवित्र परिवार'—सं०), पृष्ठ १२०। बेलतोव[71] से उद्धृत, पृष्ठ २३५।

** "ऐतिहासिक कृति की पूर्णता के साथ, यह जिसकी कृति है वह समूह परिणामतः आकार में बढ़ जायेगा।"—सं०

अतएव यद्यपि नरोदवाद ने रूस के पूंजीवाद का प्रश्न **प्रस्तुत कर** उपदेशकों की "विरासत" की तुलना में एक बड़ा क़दम आगे बढ़ाया तथापि उसके द्वारा सुझाया गया उक्त प्रश्न का **हल** उसके निम्न-पूंजीवादी दृष्टिकोण और पूंजीवाद की भावुक समीक्षा के कारण इतना असंतोषजनक सिद्ध हुआ है कि सामाजिक जीवन के कितने ही प्रधान प्रश्नों पर वह "उपदेशकों" से **पीछे** रहा है। हमारे उपदेशकों की विरासत और परंपराओं से नरोदवाद का मिलाप अंततः एक **ख़ामी** सिद्ध हुआ है: रूस के सुधारोत्तर आर्थिक विकास के कारण रूसी सामाजिक विचारधारा के सामने जो नये प्रश्न आ खड़े हुए हैं, नरोदवाद उन्हें हल नहीं कर पाया है, उसने अपने को उनके संबंध में भावुक और प्रतिक्रियावादी विलाप तक ही सीमित रखा है; जबकि उपदेशकों द्वारा पहले से ही प्रस्तुत किये गये पुराने प्रश्नों को नरोदवाद ने अपने रोमांसवाद से ढंक दिया है और इस प्रकार उसके पूर्ण हल में ढील डाली है।

४

"उपदेशक", नरोदवादी, और "शिष्य"

अब हम अपनी तुलनाओं के परिणामों का सार कथन करें। हम उपरिनिर्दिष्ट उपशीर्षक में गिनायी गयी सामाजिक विचारधारा की प्रत्येक प्रवृत्ति का परस्पर संबंध संक्षेप में कथन करने का प्रयत्न करेंगे।

उपदेशक सामाजिक विकास की वर्तमान धारा में इसलिए विश्वास करता है कि वह उसकी अंतर्निहित असंगतियां नहीं देख पाता। नरोदवादी सामाजिक विकास की वर्तमान धारा से इसलिए डरता है कि वह हमेशा इन असंगतियों का ख़्याल रखता है। "शिष्य" सामाजिक विकास की धारा में इसलिए विश्वास करता है कि वह इन असंगतियों के पूर्ण उद्घाटन में ही अधिक अच्छे भविष्य का एकमात्र बयाना देखता है। अतः पहली और अंतिम प्रवृत्ति वर्तमान पथ पर विकास का समर्थन करने, उसे वेग और सुविधा प्रदान करने, इस विकास को रोकने और शिथिल करनेवाली सभी बाधाओं को दूर करने की इच्छा रखती है। इसके विपरीत नरोदवाद इस विकास को शिथिल करने और रोक डालने की इच्छा

रखता है, पूंजीवाद के विकास की कुछ बाधाओं की समाप्ति से डरता है। पहली और अन्तिम प्रवृत्तियों की विशेषता, जिसे हम ऐतिहासिक आशावाद कह सकते हैं, इस प्रकार है: बातें ज्यों ज्यों अधिक शीघ्रता से आगे बढ़ेंगी, जिस प्रकार आज वे बढ़ रही हैं, त्यों त्यों स्थिति अधिक अच्छी होती जायेगी। इसके विपरीत नरोदवाद की रुझान स्वाभाविक ही ऐतिहासिक निराशावाद की ओर है: ज्यों ज्यों बातें आगे बढ़ेंगी, जिस प्रकार आज वे बढ़ रही हैं, त्यों त्यों स्थिति बदतर होती जायेगी। "उपदेशकों" ने सुधारोत्तर विकास के स्वरूप का प्रश्न कभी प्रस्तुत ही नहीं किया और अपनी गतिविधि केवल सुधारपूर्व प्रणाली के अवशेषों के विरुद्ध युद्ध करने तक, रूस में यूरोपीय ढंग के विकास का मार्ग प्रशस्त कराने के निषेधात्मक कार्य तक ही सीमित रखी। नरोदवाद ने रूस में पूंजीवाद का प्रश्न प्रस्तुत तो किया पर उस प्रश्न का उत्तर इस अर्थ में दिया कि पूंजीवाद प्रतिक्रियावादी है और इसलिए वह उपदेशकों की विरासत को पूर्ण रूप से अंगीकार नहीं कर सका: नरोदवादी "एक संस्कृति" के दृष्टिकोण से रूस के यूरोपीयकरण के लिए उत्सुक आम लोगों के विरुद्ध सदा ही युद्ध करते रहे; नरोदवादी उनके विरुद्ध यह युद्ध केवल इसलिए नहीं करते रहे कि वे, यानी नरोदवादी अपने को उन लोगों के आदर्शों तक सीमित नहीं रख सकते थे (इस प्रकार का युद्ध न्यायसंगत होता) बल्कि इसलिए कि वे नहीं चाहते थे कि इस, यानी पूंजीवादी सभ्यता का विकास इतनी दूर तक बढ़े। "शिष्य" रूस में पूंजीवाद के प्रश्न का उत्तर इस अर्थ में देते हैं कि वह प्रगतिशील है और इसलिए वे उपदेशकों की विरासत पूर्ण रूप से न केवल अंगीकार कर सकते हैं बल्कि उन्हें अंगीकार करनी ही चाहिए – उसमें संपत्तिहीन उत्पादकों के दृष्टिकोण से पूंजीवादी असंगतियों का विश्लेषण जोड़कर। उपदेशकों ने विशेष ध्यान देने के लिए जनसंख्या का कोई एक वर्ग नहीं चुना; वे न केवल आम जनता की, बल्कि आम राष्ट्र की बात करते थे। नरोदवादी श्रम के हितों का प्रतिनिधित्व करने की इच्छा रखते थे पर उन्होंने आधुनिक अर्थ-व्यवस्था के किन्हीं निश्चित समूहों की ओर संकेत नहीं किया; वस्तुतः उन्होंने हमेशा उस छोटे उत्पादक का दृष्टिकोण अपनाया जिसे पूंजीवाद व्यापारिक माल-उत्पादक में परिवर्तित कर देता है। "शिष्य" श्रम के हितों को न केवल अपना मापदंड मानते हैं बल्कि ऐसा करते हुए पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था के निश्चित आर्थिक समूहों, अर्थात् संपत्तिहीन उत्पादकों की ओर संकेत करते हैं। पहली और अंतिम

प्रवृत्तियां अपनी इच्छाओं के स्वरूप की दृष्टि से, पूंजीवाद द्वारा निर्मित और विकसित वर्गों के हितों के अनुरूप हैं; नरोदवाद अपने स्वरूप की दृष्टि से छोटे उत्पादकों यानी निम्न-पूंजीपति वर्ग के हितों के अनुरूप है। आधुनिक समाज के वर्गों के बीच इस वर्ग का बिचला स्थान है। फलतः "विरासत" के प्रति नरोदवाद की विरोधात्मक प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं, बल्कि वह नरोदवादी दृष्टिकोणों के स्वरूप का एक आवश्यक परिणाम है: हम देख चुके हैं कि उपदेशकों के दृष्टिकोणों का एक आधारभूत लक्षण रूस के यूरोपीयकरण की तीव्र इच्छा था, पर नरोदवादी संभवतः इस इच्छा से तब तक पूर्णतया सहमत नहीं हो सकते जब तक वे नरोदवादी बने रहेंगे।

अंत में हम ऊपर विशेष उदाहरणों में बार बार दोहराये गये इस निष्कर्ष पर आ पहुंचे कि **नरोदवादियों की अपेक्षा शिष्य विरासत के बहुत अधिक सुसंगत और विश्वासपात्र संरक्षक हैं।** वे विरासत से मुंह नहीं मोड़ते बल्कि नरोदवादियों को बहुत से महत्त्वपूर्ण विषयों पर उपदेशकों के यूरोपीय आदर्श अस्वीकार करने को प्रेरित करनेवाले रोमांसवादी और निम्न-पूंजीवादी भयों का खंडन करना अपना एक प्रधान कर्त्तव्य मानते हैं। पर, कहना न होगा कि "शिष्य" विरासत का संरक्षण उस प्रकार नहीं करते जिस प्रकार कोई अभिलेख-रक्षक पुराने अभिलेखों का करता है। विरासत के संरक्षण का अर्थ अपने को विरासत तक सीमित रखना नहीं है, और यूरोपीयवाद के आम आदर्शों के अपने समर्थन में "शिष्य" हमारे पूंजीवाद के विकास में निहित असंगतियों का विश्लेषण और उपरिनिर्दिष्ट विशिष्ट दृष्टिकोण से इस विकास का मूल्यांकन जोड़ देते हैं।

५

"शिष्यों" द्वारा विरासत के अस्वीकार के संबंध में श्री मिखाइलोव्स्की के विचार

अंत में हम फिर एक बार श्री मिखाइलोव्स्की की ओर मुड़ें और विचाराधीन प्रश्न पर उनके वक्तव्यों की जांच करें। श्री मिखाइलोव्स्की इतना ही घोषित करके नहीं रहते कि ये लोग (शिष्य) "अतीत के साथ किसी निरंतरता

से इनकार करते हैं और बल देकर विरासत को अस्वीकार करते हैं" (l. c. पृष्ठ १७९); वह तो यह भी प्रमाणित करते हैं कि "वे" (अत्यंत भिन्न प्रवृत्तियों वाले अन्य व्यक्तियों के साथ, जिनमें श्री अब्रामोव, श्री वोलीन्स्की और श्री रोज़ानोव तक शामिल हैं) "बड़े से बड़े क्रोध के साथ विरासत के विरुद्ध झपट पड़ते हैं" (पृष्ठ १८०)। – श्री मिख़ाइलोव्स्की का अभिप्राय किस विरासत से है? सातवें और आठवें दशक की विरासत से, उस विरासत से जिसे 'मोस्कोव्स्कीये वेदोमोस्ती' ने गंभीरतापूर्वक अस्वीकार कर दिया है और करता है (पृष्ठ १७८)।

हम पहले ही कह चुके हैं कि यदि उस "विरासत" का प्रश्न है जो आज के लोगों को नसीब हुई है, तो **दो विरासतों** में भेद मानना आवश्यक है: एक विरासत है आम तौर पर उपदेशकों की यानी उन लोगों की जो पूरी सुधारपूर्व स्थिति के पूर्णतया विरोधी थे, जो यूरोपीय आदर्शों और जनसंख्या के विशाल समूहों के हितों के पक्ष में खड़े थे। दूसरी विरासत है नरोदवाद। हम पहले ही दिखा चुके हैं कि इन दो भिन्न-भिन्न चीज़ों में गड़बड़ी करना एक भारी ग़लती होगी, क्योंकि हर कोई जानता है कि ऐसे लोग रहे हैं और आज भी हैं जो "सातवें दशक की परंपराओं" का संरक्षण तो करते हैं, फिर भी नरोदवाद से कोई समानता नहीं रखते। श्री मिख़ाइलोव्स्की के सभी निरीक्षण पूर्णतया और केवल इन एकदम भिन्न विरासतों की गड़बड़ी पर आधारित हैं। और चूंकि श्री मिख़ाइलोव्स्की का इस भेद को न जानना संभव नहीं है इसलिए उनका हमला न केवल बेहूदा बल्कि अपमानकारक भी है। क्या 'मोस्कोव्स्कीये वेदोमोस्ती' विशिष्ट रूप से नरोदवाद के विरुद्ध झपट पड़ा? – बिल्कुल नहीं: वह आम तौर पर उपदेशकों के विरुद्ध भी झपट पड़ा – इस झपट की तेज़ी ज़्यादा न हो, पर कम भी न थी। और नरोदवाद से पूरी घृणा करनेवाला 'वेस्त्निक येव्रोपी' भी उसकी दृष्टि में नरोदवादी 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो' से कोई कम शत्रु न था। यह सही है कि अत्यधिक बल देकर विरासत को अस्वीकार करनेवाले नरोदवादियों – उदाहरणार्थ यूज़ोव – के साथ बहुत-से विषयों पर 'मोस्कोव्स्कीये वेदोमोस्ती' का मतभेद होगा पर वह उन पर क्रोधपूर्वक शायद ही झपट पड़ेगा और विरासत का संरक्षण करने की इच्छा रखनेवाले नरोदवादियों से जिन विषयों पर उनका मतभेद है उन्हें लेकर वह हर अवसर पर उनकी प्रशंसा ही करेगा। – क्या श्री अब्रामोव या श्री वोलीन्स्की नरोदवाद के विरुद्ध झपट पड़े थे? – बिल्कुल नहीं। इनमें से

पहले तो खुद ही एक नरोदवादी हैं; और दोनों आम तौर पर उपदेशकों के विरुद्ध झपट पड़े।—क्या "रूसी शिष्य" रूसी उपदेशकों के विरुद्ध झपट पड़े थे? क्या उन्होंने कभी उस विरासत को अस्वीकार किया था जो सुधारपूर्व जीवन प्रणाली और उसके बचेखुचे अवशेषों के प्रति खुल्लमखुल्ला विरोध का उपदेश देती है?—उसके विरुद्ध झपट पड़ना दूर ही रहा, उल्टे पूंजीवाद के निम्न-पूंजीवादी भय के मारे इन अवशेषों में से कुछेक को बनाये रखने की इच्छा के लिए नरोदवादियों का उन्होंने पर्दाफ़ाश किया। क्या वे कभी उस विरासत के विरुद्ध झपट पड़े जो आम तौर पर यूरोपीय आदर्शों का उपदेश देती है?—उसके विरुद्ध झपट पड़ना दूर ही रहा, उल्टे उन्होंने नरोदवादियों का पर्दाफ़ाश ही किया क्योंकि वे कितने ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण मामलों में आम यूरोपीय आदर्शों से सगाई करने के बदले रूसी मौलिकता के बारे में नितांत मूर्खता का आडंबर रचते हैं।—क्या वे कभी उस विरासत के विरुद्ध झपट पड़े जो जनसंख्या के मेहनतकश समूहों के हितों की चिंता का उपदेश देती है?—उसके विरुद्ध झपट पड़ना दूर ही रहा, उल्टे उन्होंने नरोदवादियों का पर्दाफ़ाश किया क्योंकि इन हितों के प्रति उनकी चिंता असंगत है (इसका कारण है किसान पूंजीपति और ग्रामीण सर्वहारा को एक गठरी में बांधने की उनकी जानी-मानी प्रवृत्ति); क्योंकि क्या है इस ओर ध्यान देने के बजाय क्या होगा इसके सपने देखने की उनकी आदत के कारण उनकी चिंता का मूल्य घट जाता है; क्योंकि उनकी चिंता अत्यधिक संकुचित है, क्योंकि वे उन स्थितियों (आर्थिक और अन्य) का सही मूल्यांकन कभी नहीं कर पाये हैं जो इन लोगों के लिए स्वयं अपने हितों की चिंता प्रकट करना सरलतर या कठिनतर बना देती हैं।

संभव है कि श्री मिख़ाइलोव्स्की इन निन्दा-वचनों से सहमत नहीं हैं—एक नरोदवादी होने के कारण वह निश्चय ही उनसे सहमत नहीं होंगे—पर यह निश्चयपूर्वक बताना कि कोई कोई लोग "सातवें और आठवें दशकों की विरासत" पर "क्रोधपूर्वक" टूट पड़ते हैं, जबकि असल में वे "क्रोधपूर्वक" **केवल नरोदवाद पर** टूट पड़ते हैं, और इसलिए टूट पड़ते हैं कि वह सुधारोत्तर इतिहास द्वारा प्रस्तुत की गयी नयी समस्याओं को **इस विरासत की भावना में और उसका खंडन किये बिना** हल नहीं कर सका—यह निश्चयपूर्वक बताना सत्य का सीधे-सीधे विपर्यय है।

श्री मिख़ाइलोव्स्की बड़े मनोरंजक ढंग से शिकायत करते हैं कि "शिष्य" बड़ी तत्परता से "हमें" (यानी 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो' के समाजशास्त्रियों को) "नरोदवादियों" और 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो' से कोई वास्ता न रखनेवाले अन्य व्यक्तियों के साथ गिनने की गड़बड़ी कर देते हैं (पृष्ठ १८०)। "नरोदवादियों" से पार्थक्य दिखाने और साथ ही साथ सभी आधारभूत नरोदवादी दृष्टिकोणों को बनाये रखने का यह विचित्र प्रयास—बस, केवल हंसी पैदा कर देगा। हर कोई जानता है कि "नरोदवादी" और "नरोदवाद" शब्दों का प्रयोग सभी के सभी "रूसी शिष्य" विस्तृत अर्थ में करते हैं। कोई भी यह न भूल गया है और न इससे इनकार ही करता है कि नरोदवादियों के बीच कितनी ही विभिन्न झलकें हैं: उदाहरणार्थ, न श्री प० स्त्रूवे ने और न ही न० बेलतोव ने अपनी पुस्तकों में श्री न० मिख़ाइलोव्स्की के स्थान में श्री वी० वी० को या वैसा कहें तो श्री युजाकोव तक को मानने की "गड़बड़ी" की है; इसका मतलब यह है कि उन्होंने इन लोगों के बीच के मतभेदों को आंखों से ओझल नहीं होने दिया है, न ही एक के दृष्टिकोण दूसरे के नाम पर चढ़ाये हैं। प० ब० स्त्रूवे ने तो श्री युजाकोव और श्री मिख़ाइलोव्स्की के दृष्टिकोणों के बीच के अंतर की ओर भी असंदिग्ध रूप से ध्यान आकृष्ट किया है। विभिन्न दृष्टिकोणों के बीच गड़बड़ी करना एक बात है और बहुत-से प्रश्नों पर मतभेद होने के बावजूद उन मूलभूत और प्रधान विषयों पर, जिनके विरुद्ध "शिष्य" अभियान चलाये हुए हैं, एक मत रखनेवाले लेखकों का साधारणीकरण करना और उन्हें एक श्रेणी में रखना दूसरी बात। "शिष्य" के लिए महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि किसी श्री यूज़ोव को दूसरे नरोदवादियों से पृथक् दिखानेवाले दृष्टिकोणों की निस्सारता दिखा दे बल्कि यह बात है कि **श्री यूज़ोव और श्री मिख़ाइलोव्स्की और आम तौर पर सभी नरोदवादियों के लिए समान** दृष्टिकोणों का खंडन कर दें—ये समानताएं हैं रूस के पूंजीवादी क्रम-विकास के प्रति उनकी प्रवृत्ति, उनके द्वारा छोटे उत्पादक के दृष्टिकोण से आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर की जानेवाली चर्चा, सामाजिक (या ऐतिहासिक) पदार्थवाद के संबंध में उनका अज्ञान। **ये लक्षण** उस सामाजिक विचारधारा की एक समूची प्रवृत्ति की सामान्य प्रकृति है जिसने महान ऐतिहासिक भूमिका अदा की है। इस विशाल प्रवृत्ति के अंदर कई विभिन्नतम झलकें हैं, वहां दक्षिण और वाम पक्ष हैं, वहां ऐसे लोग हैं जो राष्ट्रवाद, सेमेटिज़्म विरोध इत्यादि के स्तर

तक नीचे उतर आये हैं, और ऐसे भी लोग हैं जो इन बातों के अपराधी नहीं हैं, ऐसे लोग हैं जो "विरासत" के कितने ही उपदेशों से घृणा करते आये हैं और ऐसे भी लोग हैं जिन्होंने इन उपदेशों के संरक्षण की भरसक (यानी किसी नरोदवादी के लिए संभव भरसक) कोशिश की है। झलकों की इन विभिन्नताओं से इनकार करनेवाला "रूसी शिष्यों" में से कोई एक ही व्यक्ति नहीं है; एक झलक वाले नरोदवादी के दृष्टिकोण दूसरी झलक वाले नरोदवादी पर लादने का आरोप श्री मिख़ाइलोव्स्की उनमें से किसी एक ही पर नहीं लगा सकते थे। पर जब हम सभी विभिन्न झलकों के लिए **समान** मूलभूत दृष्टिकोणों के विरुद्ध अभियान चला रहे हैं तो हमसे यह आशा क्यों की जाये कि हम आम प्रवृत्ति के बीच के आंशिक मतभेदों की बात करें? यह सचमुच ही बिल्कुल निरर्थक मांग है! "शिष्यों" का उदय होने से बहुत समय पहले हमारे साहित्य ने यह तथ्य नोट कर लिया था कि बहुत ही अवसरों पर मतभेद रखनेवाले लेखकों के रूसी पूंजीवाद, किसान "समुदाय", तथाकथित "समाज" की सर्वशक्तिशालिता के संबंध में समान दृष्टिकोण थे। साहित्य ने यह न केवल नोट कर लिया बल्कि रूस की एक सुखमय विशिष्टता कह कर उसकी प्रशंसा की। फिर, "शिष्यों" का उदय होने से बहुत समय पहले "नरोदवाद" शब्द का प्रयोग उसके विस्तृत अर्थ में हमारे साहित्य में किया गया था। श्री मिख़ाइलोव्स्की बहुत वर्ष तक एक पत्रिका में "नरोदवादी" (संकुचित अर्थ में) श्री वी० वी० के न मात्र सहयोगी रहे बल्कि उपरिनिर्दिष्ट दृष्टिकोण के मूलभूत लक्षणों के विषय में उनसे सहमत भी थे। यद्यपि नवें और दसवें दशक के दौरान भी उन्होंने श्री वी० वी० के कुछ निष्कर्षों पर आपत्ति उठायी थी और अमूर्त समाजशास्त्र के क्षेत्र में उनके सैर-सपाटों के सहीपन से इनकार कर दिया था, श्री मिख़ाइलोव्स्की ने नवें और दसवें दोनों दशकों में एक टिप्पणी की थी कि उनकी आलोचना श्री वी० वी० की आर्थिक रचनाओं के विरुद्ध नहीं थी और यह कि वह रूसी पूंजीवाद के संबंध में उनके आधारभूत दृष्टिकोणों से सहमत थे। परिणामतः यदि 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो' के आधारस्तंभ, जिन्होंने नरोदवाद (विस्तृत अर्थ में) के दृष्टिकोणों के विकास, सुदृढ़ीकरण और फैलाव के लिए इतना कुछ किया है, अब यह सोचते हैं कि हम "नरोदवादी" (संकुचित अर्थ में) नहीं हैं, हमारा तो एक विशिष्ट "नैतिक-सामाजिक स्कूल" है, ऐसा घोषित करने भर से ही "रूसी शिष्यों" की

आलोचना से बच पायेंगे – तो ज़रूर ही ये युक्तियां उन लोगों को मात्र न्यायपूर्ण उपहास का लक्ष्य बना देंगी जो इतने शूर हैं और साथ-साथ इतने कूटनीतिज्ञ भी।

श्री मिख़ाइलोव्स्की अपने लेख के १८२ वें पृष्ठ पर "शिष्यों" के विरुद्ध निम्नलिखित अद्‌भुत तर्क भी प्रस्तुत करते हैं। श्री कामेन्स्की नरोदवादियों पर ज़हरीला हमला बोल देते हैं[72], और क्या आप देखते नहीं कि इससे "सूचित होता है कि वे क्रोधित हुए हैं जबकि उन्हें क्रोध करने का अधिकार नहीं है (यह बात! !)। हम, विषयीगत दृष्टि से देखनेवाले बुज़ुर्ग" और "विषयीगत दृष्टि से देखनेवाले जवान" भी स्वमत-खंडन के अपराधी ठहरे बिना इस कमज़ोरी को अंगीकार कर सकते हैं। पर "अपनी कठोर वस्तुगतता पर अभिमान करनेवाले" (एक "शिष्य" के शब्द) सिद्धांत के प्रतिनिधियों की "स्थिति दूसरी है"।

यह है क्या? यदि लोग आग्रहपूर्वक कहते हैं कि सामाजिक घटनाओं से संबंधित दृष्टिकोण **वास्तविकताओं** और विकास की वास्तविक धारा के कठोर वस्तुगत विश्लेषण पर आधारित होने चाहिए, तो इसका अर्थ क्या यह होता है कि उन्हें क्रोध करने का अधिकार नहीं है?! यह तो बेहिसाब बकवास है, केवल प्रलाप है! श्री मिख़ाइलोव्स्की, क्या आपने नहीं सुना है कि पूंजी के संबंध में वह प्रसिद्ध रचना सामाजिक घटनाओं के परीक्षण में कठोर वस्तुगतता का एक सर्वोत्तम नमूना मानी जाती है? इस रचना की ठीक-ठीक कठोर वस्तुगतता को ही बहुत से वैज्ञानिक और अर्थशास्त्री उसका प्रधान और आधारभूत दोष मानते हैं। पर वैज्ञानिक रचना में आपको शायद ही इतना "क्रोध", और पिछड़े हुए दृष्टिकोणों के प्रतिनिधियों तथा उन सामाजिक वर्गों के प्रतिनिधियों पर इतने अधिक गरमागरम और आवेगपूर्ण विवादीय हमले देखने को मिलेंगे जो लेखक के निश्चित मतानुसार सामाजिक विकास में रोड़े अटका रहे हैं। जो लेखक कठोर वस्तुगतता के साथ यह दिखाता है कि प्रूदों के मत फ़्रांसीसी निम्न-पूंजीपति वर्ग के दृष्टिकोणों और भावनाओं के स्वाभाविक, समझने योग्य और अनिवार्य प्रतिबिंब हैं, वही निम्न-पूंजीपति वर्ग के इस सिद्धांतकार पर बड़े से बड़े आवेग और ज्वलंत क्रोध के साथ "झपट पड़ता है"। क्या श्री मिख़ाइलोव्स्की मानते हैं कि यहां मार्क्स "स्वमत-खंडन" के अपराधी हैं? यदि अमुक एक सिद्धांत हर सार्वजनिक प्रवक्ता से वास्तविकताओं और इन वास्तविकताओं से विभिन्न वर्गों के बीच उत्पन्न होनेवाले संबंधों के कठोर वस्तुगत विश्लेषण की मांग करता

है तो भला ऐसा कौनसा जादू है जिसके सहारे यह निष्कर्ष निकाला जा सके कि किसी सार्वजनिक प्रवक्ता को किसी एक या दूसरे वर्ग से सहानुभूति नहीं रखनी चाहिए, उसे ऐसी सहानुभूति रखने का "अधिकार नहीं" है? इस संबंध में कर्त्तव्य की बात तक उठाना हास्यास्पद है क्योंकि ऐसा कोई भी जीवित व्यक्ति नहीं है जो किसी एक या दूसरे वर्ग का (वर्गों के परस्पर संबंधों को समझ लेने के बाद) **पक्ष लिये बिना**, उस वर्ग की सफलताओं पर खुशियां मनाये और असफलताओं पर निराश हुए बिना, उस वर्ग के विरोधकों, पिछड़े हुए दृष्टिकोणों के फैलाव द्वारा उसके विकास में रोड़े अटकानेवालों इत्यादि पर क्रोध किये बिना रह सके। श्री मिखाइलोव्स्की का तुच्छ हमला केवल यह दिखाता है कि वह अभी भी संकल्पवाद और प्रारब्धवाद के बीच का प्राथमिक अंतर तक नहीं समझ पाये हैं।

"'पूंजी आ रही है!'—यह निश्चित है," श्री मिखाइलोव्स्की लिखते हैं,—"पर (शाबाश!!) प्रश्न यह है कि हम कैसे उसका अभिवादन करेंगे" (पृष्ठ १८९)।

"रूसी शिष्यों" ने जिस पर अनुमानतः कोई विचार नहीं किया उस "प्रश्न" की ओर संकेत करके मिखाइलोव्स्की अमरीका खोज निकालते हैं! मानो "रूसी शिष्यों" ने नरोदवादियों से जो अलग राह अपना ली वह इस प्रश्न को लेकर नहीं! रूस में विकसित हो रहे पूंजीवाद का "अभिवादन" कोई केवल दो प्रकारों से कर सकता है: वह उसे या तो प्रगतिशील मान सकता है, या तो पतनशील; या तो सही रास्ते पर आगे बढ़ा हुआ क़दम मान सकता है, या तो उस सच्चे मार्ग से स्खलन; कोई उसका मूल्यांकन या तो छोटे उत्पादकों के उस वर्ग के दृष्टिकोण से कर सकता है जिसे पूंजीवाद नष्ट कर देता है, और या तो संपत्तिहीन उत्पादकों के उस वर्ग के दृष्टिकोण से जिसे पूंजीवाद उत्पन्न करता है। इनके बीच का कोई और रास्ता नहीं है।* परिणामतः, यदि श्री मिखाइलोव्स्की

---

*हां, जो लोग श्रम के हितों द्वारा अपना मार्गदर्शन नहीं कराना चाहते या जिनके लिए "पूंजीवाद" शब्द से सूचित साधारणीकरण ही अबोध्य और अगम्य है उनके द्वारा किये गये इसके अभिवादन के बारे में हम कुछ भी नहीं कहते। रूसी जीवन में सामाजिक विचारधारा की संगत प्रवृत्तियां कितनी भी महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, नरोदवादियों और उनके विरोधकों के बीच के विवाद से उनका कोई संबंध नहीं है और उन्हें इस विवाद में लाने से कोई मतलब नहीं।

पुंजीवाद के प्रति उस प्रवृत्ति के सहीपन से इन्कार करते हैं जिसपर "शिष्य" ज़ोर देते हैं तो इसका अर्थ यह है कि वह नरोदवादी प्रवृत्ति अपनाते हैं जो उन्होंने अपने पहले लेखों में कितनी ही बार बड़े निश्चय के साथ अभिव्यक्त की है। उन्होंने इस प्रश्न पर अपने दृष्टिकोणों में न कुछ जोड़ दिया है और न कोई सुधार ही किये हैं, वह नरोदवादी बने हुए हैं।—पर नहीं, ऐसी कोई बात नहीं! हे भगवान, वह नरोदवादी नहीं हैं! वह तो हैं "नैतिक-समाजशास्त्रीय स्कूल" के प्रतिनिधि ...

मिख़ाइलोव्स्की आगे लिखते हैं: "कोई उन भावी (??) लाभों की बात न करे जिन्हें पूंजीवाद का और अधिक विकास ला देगा (?)।"

श्री मिख़ाइलोव्स्की नरोदवादी नहीं हैं। वह केवल नरोदवादियों की सभी ग़लतियों और तर्क की भ्रांतिपूर्ण पद्धतियों को बार बार दोहरा भर देते हैं। नरोदवादियों से कितनी ही बार कहा गया है कि यह "भावी" की बात ग़लत है, यह "भावी" परिवर्तनों का नहीं बल्कि पूंजीवादपूर्व संबंधों में कभी से आ रहे प्रत्यक्ष प्रगतिशील परिवर्तनों का प्रश्न है—उन परिवर्तनों का प्रश्न है जिन्हें रूस में पूंजीवाद का विकास ला रहा है (न कि ला देगा)। संबंधित प्रश्न को "भावी" पर छोड़कर श्री मिख़ाइलोव्स्की तथ्यतः उन्हीं घोषणाओं को सच मान लेते हैं जिनका "शिष्य" विरोध करते हैं। वह ऐसा मान लेते हैं कि वास्तव में, हमारी आंखों के सामने जो कुछ हो रहा है उस स्थिति में, पूंजीवाद का विकास पुराने सामाजिक-आर्थिक संबंधों में कोई प्रगतिशील परिवर्तन **नहीं ला रहा है।** यह ठीक-ठीक नरोदवादी दृष्टिकोण है, और ठीक इसी के विरुद्ध "रूसी शिष्य" विवाद छेड़ते हैं और इसी के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करते हैं। "रूसी शिष्यों" द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में से एक भी पुस्तक ऐसी नहीं है जो इसका समर्थन और प्रदर्शन नहीं करती कि कृषि में श्रम-कर के स्थान में मुक्त किराये के श्रम की स्थापना और कथित "दस्तकारी" उद्योग के स्थान में फ़ैक्टरी उद्योग की स्थापना एक वास्तविक घटना है जो अभी, हमारी आंखों के सामने घट रही है (और यह भी बड़े भारी वेग के साथ), केवल "भावी" में नहीं; कि यह प्रक्रिया हर प्रकार से प्रगतिशील है, कि वह सदियों से जड़ और गतिहीन रहे साधारण, विशृंखल, छोटे पैमाने के दस्तकारी उत्पादन को तोड़ रही है; कि इससे सामाजिक श्रम की उत्पादन-क्षमता बढ़ती है और मज़दूर के लिए ऊंचे

जीवन-स्तर की संभावना उत्पन्न होती है; कि वह ऐसी स्थितियां भी उत्पन्न करती है जो "दूरस्थ देहातों" में फंसे हुए और शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से बसे हुए "निवासी सर्वहारा" को चल सर्वहारा में परिवर्तित कर, और अत्यधिक विकसित गुलामी तथा व्यक्तिगत दासता के विभिन्न स्वरूपों सहित श्रम के एशियाई स्वरूपों को श्रम के यूरोपीय स्वरूपों में परिवर्तित कर उक्त संभावना को आवश्यकता में बदल डालती हैं; कि "विचार और भावना का यूरोपीय तरीक़ा मशीनों के प्रभावशील उपयोग की दृष्टि से भाप, कोयले और टेकनीकों से कम आवश्यक (आवश्यक शब्द नोट कीजिये, **व्ला० इ०**) नहीं है"* इत्यादि। हम दोहराते हैं कि यह सब हर "शिष्य" द्वारा समर्थित और प्रदर्शित है, पर अनुमानतः, श्री मिख़ाइलोव्स्की "एंड कंपनी" पर लागू नहीं पड़ता: यह सब सिर्फ़ उन "नरोदवादियों" के विरुद्ध लिखा गया है जिनका 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो' से कोई "संबंध नहीं" है। देखिये, 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो' एक "नैतिक-समाजशास्त्रीय स्कूल" है – जिसका सारतत्त्व यह तथ्य है कि वह नये भेस में पुराने कूड़े-कचरे की सेवा करता है।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, इस लेख का उद्देश्य उदार-नरोदवादी समाचारपत्र-संसार में बहुत बड़े पैमाने पर फैले हुए इस आरोप का खंडन करना है कि "रूसी शिष्य" "विरासत" से मुंह मोड़ लेते हैं, रूसी समाज के सर्वोत्तम भाग की सर्वोत्तम परंपराओं से संबंध तोड़ डालते हैं, इत्यादि, इत्यादि। यह देखना रोचक होगा कि इन घिसेपिटे वचनों को दोहराते हुए श्री मिख़ाइलोव्स्की तथ्यतः वही बात कहते हैं जो बहुत ही पहले और बहुत अधिक बल देकर एक ऐसे "नरोदवादी" कह चुके थे जिनका 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो' से कोई "संबंध नहीं" था – ये थे श्री वी० वी०। प्रिय पाठक, क्या आप इस लेखक के उन लेखों से परिचित हैं जो उन्होंने तीन वर्ष पहले, १८९४ के अंत में 'नेदेल्या'[74] में प० ब० स्त्रूवे की पुस्तक के उत्तर स्वरूप लिखे थे? यदि उनसे आप परिचित नहीं हैं, तो हम स्वीकार कर दें कि हमारी राय में आपने कुछ भी नहीं गंवाया। इन लेखों की आधारभूत कल्पना यह है कि "रूसी शिष्य"

---

* १८९६ में «*Schmollers Jahrbuch*»[73] में मास्को-व्लादीमिर कपास उद्योग से संबंधित एक लेख में शुल्ज़े-गैवर्नित्स द्वारा लिखे गये शब्द।

10*

रूसी सामाजिक विचारधारा की सभी प्रगतिशील प्रवृत्तियों में पिरोये हुए जनवादी सूत्र को काट रहे हैं। क्या श्री मिख़ाइलोव्स्की, केवल कुछ भिन्न शब्दों में, ठीक यही नहीं कहते हैं जब वह "शिष्यों" पर "विरासत" से मुंह मोड़ने का आरोप लगाते हैं, जिसके विरुद्ध 'मोस्कोव्स्कीये वेदोमोस्ती' क्रोध के साथ झपट पड़ता है? जैसा कि हम देख चुके हैं, उक्त आरोप के आविष्कारक जब निश्चयपूर्वक कहते हैं कि "शिष्यों" का **नरोदवाद** से अपरिहार्य विच्छेद रूसी समाज के सर्वोत्तम भाग की सर्वोत्तम परंपराओं से विच्छेद का संकेत देता है, तब वे वस्तुतः दूसरे ही लोगों के मत्थे दोष मढ़ रहे हैं। महाशयो, क्या वास्तव में बात इसके उल्टे नहीं है? क्या ऐसा विच्छेद यह नहीं सूचित करता कि इन सर्वोत्तम परंपराओं को **नरोदवाद से** हटाकर उसे **शुद्ध** किया जा रहा है?

१८९७ के अंत में, निर्वासन काल में लिखित
१८९८ में व्लादीमिर इल्यीन लिखित 'आर्थिक अध्ययन और लेख' शीर्षक पुस्तक में प्रथम बार प्रकाशित

व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड २, पृष्ठ ४५९-५०१

हमारे आन्दोलन के अत्यन्त आवश्यक कार्य-भार

रूसी सामाजिक-जनवाद ने एकाधिक बार इस बात की घोषणा की है कि रूसी मज़दूर पार्टी के तात्कालिक राजनीतिक कार्य एकतंत्र को धराशायी करना और राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करना होने चाहिए। पन्द्रह साल पहले रूसी सामाजिक-जनवाद के प्रतिनिधियों ने —'श्रम मुक्ति' दल[75] के सदस्यों ने—यह घोषणा की थी। फिर ढाई साल पहले रूसी सामाजिक-जनवादी संगठनों के उन प्रतिनिधियों ने भी यही घोषणा की, जिन्होंने १८९८ के वसन्त में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी[76] की स्थापना की। किन्तु बार बार की घोषणाओं के बावजूद रूस में सामाजिक-जनवाद के राजनीतिक कार्य का प्रश्न आज फिर उभरकर सामने आ रहा है। हमारे आन्दोलन के बहुत से प्रतिनिधि समस्या के उपरोक्त हल की उपयोगिता में सन्देह प्रगट करते हैं[77]। यह दावा किया जाता है कि आर्थिक संघर्ष का सर्वप्रमुख महत्व है; और सर्वहारा वर्ग के राजनीतिक कार्य को संकुचित और सीमित करके पीछे डाल दिया जाता है। यहां तक कहा जाता है कि रूस में स्वतंत्र मज़दूर पार्टी बनाने की चर्चा केवल दूसरों की नक़ल है, और यह कि मज़दूरों को केवल आर्थिक संघर्ष ही चलाना चाहिए तथा राजनीतिक संघर्ष को उदारपंथियों के सहयोग से बुद्धिजीवी वर्ग के लड़ने के लिए छोड़ देना चाहिए। हाल में ही प्रकाशित सबसे नया धर्म-सूक्त (कुख्यात 'क्रीडो') वस्तुतः सामाजिक-जनवाद के कार्यक्रम को पूरी तरह रद कर देता है और इस बात की घोषणा करता है कि रूसी सर्वहारा वर्ग अभी तक नाबालिग़ है। 'राबोचाया मीस्ल' ने (बहुत ख़ास तौर से अपने 'विशेष क्रोड़पत्र' में)[78] व्यवहारतः यही रवैया अपनाया है। रूसी सामाजिक-जनवाद ढुलमुलयक़ीनी और संदेह के दौर से गुज़र रहा है, जो आत्म-प्रतिषेध की सीमा तक पहुंचा हुआ है। एक

ओर तो मज़दूर आन्दोलन को समाजवाद से तोड़कर अलग किया जा रहा है: आर्थिक संघर्ष चलाने में मज़दूरों को मदद दी जा रही है, लेकिन उन्हें यह समझाने के लिए कुछ नहीं किया जा रहा है या बहुत कम किया जा रहा है कि पूरे आन्दोलन के समाजवादी लक्ष्य और राजनीतिक कार्य क्या हैं। दूसरी ओर समाजवाद को मज़दूर आन्दोलन से तोड़कर अलग किया जा रहा है: एक बार फिर रूसी समाजवादियों ने अधिकाधिक यह कहना शुरू कर दिया है कि सरकार के ख़िलाफ़ लड़ाई चलाने का काम सम्पूर्णतः बुद्धिजीवी वर्ग को ही करना चाहिए, क्योंकि मज़दूर अपने संघर्ष को आर्थिक संघर्ष तक ही सीमित रख रहे हैं।

हमारी राय में इस खेदजनक दशा के लिए तीन परिस्थितियों ने ज़मीन तैयार की है। पहली यह कि रूसी सामाजिक-जनवादियों ने अपनी सरगर्मी की शुरूआत में अपने काम को केवल प्रचार-मण्डलों तक ही सीमित रखा। जब हमने आम जनता में आन्दोलन करने का काम उठाया, तब दूसरी दिशा में अति करने से अपने को सदा नहीं रोक सके। दूसरी परिस्थिति यह थी कि अपनी सरगर्मी की शुरूआत में हमें अक्सर अपने अस्तित्व के अधिकार के लिए 'नरोदनाया वोल्या' वादियों[79] के ख़िलाफ़ लड़ना पड़ता था, जो "राजनीति" का अर्थ एक ऐसी सरगर्मी समझते थे जिसका मज़दूर आन्दोलन से कोई सम्बन्ध न हो और जिन्होंने राजनीति को एकमात्र षड्यंत्रों द्वारा संघर्ष में संकुचित कर दिया था। इस प्रकार की राजनीति को अमान्य करके सामाजिक-जनवादियों ने दूसरी दिशा में अति कर दी और उन्होंने राजनीति को सम्पूर्णतः पृष्ठभूमि में धकेल दिया। तीसरी परिस्थिति यह थी कि छोटे-छोटे स्थानीय मज़दूर मण्डलों में बिखरकर काम करते हुए सामाजिक-जनवादियों ने एक ऐसी क्रान्तिकारी पार्टी बनाने पर कभी ध्यान नहीं दिया जो स्थानीय दलों की तमाम सरगर्मियों को आपस में जोड़ती और सही तरीक़े पर क्रान्तिकारी काम के संगठन को सम्भव बनाती। बिखरे हुए काम की प्रधानता के साथ आर्थिक संघर्ष की प्रधानता स्वभावतः जुड़ी हुई है।

उपर्युक्त परिस्थितियों के कारण आन्दोलन के केवल एक ही पक्ष पर सारा ध्यान केन्द्रित कर दिया गया। "अर्थवादी" प्रवृत्ति ने (यदि हम उसे प्रवृत्ति का नाम दे सकें) इस एकांगीपन को एक सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित

करने की कोशिश की है और उसके लिए आज के फ़ैशन में दाखिल बर्न्सटीनवाद और "मार्क्सवाद की आलोचना" का उपयोग किया है, जिसका अर्थ नये झंडे के नीचे पुराने पुंजीवादी तत्व-विचार को ही पेश करना है। अकेले इन कोशिशों ने ही यह ख़तरा पैदा कर दिया है कि रूसी सामाजिक-जनवाद—जो राजनीतिक आज़ादी के संघर्ष में हरावल दस्ता है—और रूसी मज़दूर आन्दोलन के आपसी संबंध कमज़ोर हो जायेंगे। हमारे आन्दोलन का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य-भार है उस सम्बन्ध को मज़बूत करना।

मज़दूर आन्दोलन के साथ समाजवाद के जोड़ का ही नाम सामाजिक-जनवाद है। उसके ऊपर मज़दूर आन्दोलन की हर अलग मंज़िल पर निष्क्रिय रूप से उसकी सेवा करने का कार्य-भार नहीं है, बल्कि उसके ऊपर पूरे आन्दोलन के हितों का प्रतिनिधित्व करने, आन्दोलन को उसके अन्तिम लक्ष्य और राजनीतिक कर्तव्य बताने तथा उसकी राजनीतिक एवं सैद्धांतिक स्वतंत्रता की रक्षा करने का कार्य-भार है। सामाजिक-जनवाद से विच्छिन्न होकर मज़दूर आन्दोलन तुच्छ और अनिवार्यतः पुंजीवादी बन जाता है: केवल आर्थिक संघर्ष चलाने में मज़दूर वर्ग अपनी राजनीतिक स्वाधीनता खो देता है, वह दूसरी पार्टियों का दुमछल्ला बन जाता है और उस महान नारे के विरुद्ध जाता है कि "मज़दूरों की मुक्ति का कार्य-भार मज़दूरों पर ही होना चाहिए"। हर देश में एक ऐसा समय रहा है, जब मज़दूर आन्दोलन का अस्तित्व समाजवाद से अलग रहा है, जबकि दोनों अपने अलग-अलग रास्ते चले हैं; और हर देश में इस अलगाव ने समाजवाद और मज़दूर आन्दोलन दोनों को ही कमज़ोर किया है। केवल समाजवाद के साथ मज़दूर आन्दोलन के जोड़ ने ही हर देश में दोनों के लिए स्थायी आधार का निर्माण किया है। किन्तु समाजवाद के साथ मज़दूर आन्दोलन का यह जोड़ हर देश में ऐतिहासिक रूप से हुआ, एक विशेष ढंग से, हर देश की तत्कालीन अवस्था के अनुसार उसे पूरा किया गया। रूस में मज़दूर आन्दोलन के साथ समाजवाद को जोड़ने की आवश्यकता को सिद्धान्ततः बहुत पहले उद्घोषित कर दिया गया था, किन्तु उसे कार्य-रूप में केवल अब परिणत किया जा रहा है। दोनों आन्दोलनों को जोड़ने की प्रक्रिया अत्यन्त कठिन है और इस कारण इस तथ्य में आश्चर्य की कोई बात नहीं है कि उसके साथ सन्देह और ढुलमुलयक़ीनी जुड़ी हुई हैं।

हमें अतीत से क्या सबक़ लेना चाहिए?

रूसी समाजवाद के पूरे इतिहास ने उसे कुछ इस तरह उपस्थित किया है कि आज का सर्वाधिक आवश्यक कार्य-भार है राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए एकतंत्र शासन के ख़िलाफ़ लड़ना। कहना चाहिए कि हमारे समाजवादी आन्दोलन ने एकतंत्र शासन के ख़िलाफ़ संघर्ष में ही अपने को एकाग्र भाव से लगा दिया है। दूसरी तरफ़ इतिहास ने यह दिखला दिया है कि समाजवादी चिन्तनधारा से मज़दूर वर्ग के अग्रणी प्रतिनिधियों का अलगाव रूस में और देशों की अपेक्षा अधिक है, और जब तक यह अलगाव क़ायम रहेगा तब तक रूस में क्रान्तिकारी आन्दोलन अनिवार्यतः शक्तिहीन बना रहेगा। इससे स्वतः वह कार्य-भार सामने आता है जिसकी पूर्ति करना रूसी सामाजिक-जनवाद की नियति है: सर्वहारा जनता में समाजवादी तत्व-विचार और राजनीतिक चेतना भरना तथा स्वतःस्फूर्त मज़दूर आन्दोलन के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित एक क्रान्तिकारी पार्टी का संगठन करना। रूसी सामाजिक-जनवाद इस दिशा में बहुत कुछ कर चुका है, मगर अभी बहुत अधिक करना बाक़ी है। आन्दोलन की बढ़ती के साथ सामाजिक-जनवादियों की सरगर्मी का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता जा रहा है; काम अधिक विविध होता जा रहा है; और बढ़ती हुई संख्या में आन्दोलन के कार्यकर्त्ता अपने प्रयत्नों को विभिन्न प्रकार के विशिष्ट कार्य-भार की पूर्ति करने में केंद्रित कर रहे हैं, जिन्हें प्रचार और आन्दोलन की दैनिक आवश्यकताएं उभारकर सामने लाती हैं। यह परिस्थिति बिल्कुल उचित और अनिवार्य है, किन्तु इस बात के लिए अवश्य प्रयत्न किये जाने चाहिए कि सरगर्मियों के अलग-अलग कार्य-भारों तथा संघर्ष के अलग-अलग तरीक़ों को अपने आप में उद्देश्य बन जाने से रोका जाये तथा तैयारी सम्बन्धी काम को ही मुख्य और एकमात्र काम न बन जाने दिया जाये।

मज़दूर वर्ग के राजनीतिक विकास और राजनीतिक संगठन में सहायता करना हमारा मुख्य और आधारभूत कार्य-भार है। जो लोग इस कार्य-भार को पीछे टाल देते हैं और संघर्ष के समस्त विशेष कार्य-भारों तथा तरीक़ों को इस कार्य-भार के मातहत बनाने से इनकार करते हैं, वे ग़लत रास्ते की ओर भटक रहे हैं और आन्दोलन को गम्भीर हानि पहुंचा रहे हैं। और इस कार्य-भार को पीछे टालनेवाले हैं प्रथमतः वे लोग जो मज़दूर आन्दोलन से विच्छिन्न

षड्यंत्रकारी मण्डलों के माध्यम से सरकार के ख़िलाफ़ संघर्ष के लिए क्रान्तिकारियों का आह्वान करते हैं। दूसरे वे लोग हैं, जो राजनीतिक प्रचार, आन्दोलन और संगठन के अन्तरस्थ तथा क्षेत्र को संकुचित बनाते हैं; जो यह समझते हैं कि मज़दूरों को "राजनीति की" दावत उनके जीवन की ख़ास घड़ियों में ही, केवल पर्व-त्योहार के अवसरों पर दी जानी चाहिए; जो एकतंत्र के ख़िलाफ़ राजनीतिक संघर्ष चलाने के बजाय उससे बहुत तत्परता के साथ आंशिक रियायतों की मांग करते हैं और जो अलग-अलग रियायतों की मांग को एकतंत्र शासन के ख़िलाफ़ क्रान्तिकारी पार्टी के नियमबद्ध तथा दृढ़ संकल्प संघर्ष के स्तर तक उठाने से कोई सरोकार नहीं रखते।

'राबोचाया मीस्ल' मज़दूरों से बार बार विभिन्न आरोही-आवरोही स्वरों में "संगठित हो!" की अपील करता है, और इस अपील को "अर्थवादी" प्रवृत्ति के सभी अनुयायी दुहराते हैं। ज़ाहिर है कि हम भी इस अपील का पूर्ण समर्थन करते हैं, किन्तु हम बिना किसी शर्त के उस अपील में इतना और जोड़ देते हैं कि: संगठित हो, न केवल परस्पर सहायता समितियों, हड़ताल-कोषों और मज़दूर मण्डलों में, बल्कि संगठित हो एक राजनीतिक पार्टी में भी, संगठित हो एकतंत्र शासन और पूरे पूंजीवादी समाज के ख़िलाफ़ दृढ़ संकल्प संघर्ष के लिए भी। जब तक सर्वहारा इस प्रकार संगठित नहीं होगा, तब तक वह वर्ग-चेतन संघर्ष के स्तर पर कभी नहीं उठ सकेगा, जब तक मज़दूर इस प्रकार संगठित नहीं होंगे, तब तक शक्तिहीनता ही मज़दूर आन्दोलन का भवितव्य रहेगी। केवल कोषों, मण्डलों और परस्पर सहायता समितियों के सहारे मज़दूर वर्ग अपने ऐतिहासिक ध्येय को पूरा करने—राजनीतिक और आर्थिक ग़ुलामी से अपने को तथा तमाम रूसी जनता को मुक्त करने—में कभी समर्थ न होगा। अपने राजनीतिक नेता पैदा किये बिना, अपने ऐसे प्रमुख प्रतिनिधि पैदा किये बिना जो एक आन्दोलन का संगठन और नेतृत्व कर सकें, इतिहास में कभी किसी वर्ग ने अधिकार नहीं प्राप्त किया है। और रूसी मज़दूर वर्ग ने यह दिखा दिया है कि वह ऐसे व्यक्ति पैदा कर सकता है: पिछले पांच या छः वर्ष में रूसी मज़दूरों का संघर्ष बहुत व्यापक रूप से विकसित हुआ है, उसने मजदूर वर्ग में निहित महान क्रान्तिकारी शक्ति को प्रगट कर दिया है; उसने प्रगट कर दिया है कि अत्यन्त निर्मम सरकारी दमन भी ऐसे

मज़दूरों की संख्या को घटाने के बजाय उल्टे बढ़ाता ही है जो समाजवाद की ओर, राजनीतिक चेतना की ओर और राजनीतिक संघर्ष की ओर प्रयत्नशील होते हैं। हमारे साथियों द्वारा १८९८ में संघटित कांग्रेस ने बहुत सही तौर से हमारे कार्य-भार को निर्धारित किया था। उसने केवल दूसरे लोगों के शब्द नहीं दुहराये थे और न केवल "बुद्धिजीवी वर्ग" का उत्साह प्रदर्शित किया था। उन कार्य-भारों की पूर्ति के लिए हमें दृढ़तापूर्वक काम करना शुरू कर देना चाहिए। हमें पार्टी के कार्यक्रम, संगठन और कार्यनीति निर्धारित करने के प्रश्न को उठाना चाहिए। अपने कार्यक्रम की आधारभूत स्थापनाओं के सम्बन्ध में हम अपना दृष्टिकोण बता चुके हैं, और स्पष्ट ही यह स्थान उन्हें विस्तारपूर्वक विकसित करने के लिए उपयुक्त नहीं है। संगठन के प्रश्नों पर हमारा इरादा आगामी अंकों में एक लेखमाला निकालने का है। हमारे सामने उपस्थित सबसे अधिक नाज़ुक सवालों में से एक सवाल संगठन का भी है। इस सम्बन्ध में हम रूसी क्रान्तिकारी आन्दोलन के पुराने कार्यकर्ताओं से बहुत पीछे हैं। हमें इस दोष को खुले आम मानना चाहिए और अपनी सारी कोशिशों को इस बात में लगाना चाहिए कि हम अपने काम के लिए अधिक गुप्त तरीक़े निकालें और कार्य-संचालन, राजनीतिक पुलिस को धोखा देने और उसके जाल से बचने के उचित तरीक़े समझाते हुए नियमबद्ध प्रचार चलायें। हमें ऐसे लोगों को प्रशिक्षित करना चाहिए जो क्रान्ति के लिए न केवल फ़ुर्सत की शामें, बल्कि अपनी समूची ज़िन्दगी समर्पित करें। हमें एक ऐसे बड़े संगठन का निर्माण करना चाहिए जिसमें हम अपने काम के विभिन्न रूपों के बीच कठोर श्रम-विभाजन लागू कर सकें। अन्त में, जहां तक कार्यनीति का प्रश्न है, हम यहां पर अपने को केवल निम्न बातों तक ही सीमित रखने का इरादा करते हैं: सामाजिक-जनवाद अपनी सरगर्मियों को राजनीतिक संघर्ष की किसी पूर्व-निर्णीत योजना या तरीक़े तक ही सीमित नहीं करता, वह ऐसी किसी चीज़ से अपने हाथ नहीं बांधता। वह संघर्ष के सभी तरीक़ों को मान्य समझता है, यदि वे पार्टी की शक्ति-सामर्थ्य के अनुरूप हैं और तत्कालीन अवस्थाओं में अधिकतम सम्भव परिणाम की उपलब्धि को सुगम बनाते हैं। अगर हमारे पास ज़ोरदार ढंग से संगठित एक पार्टी है, तो अकेली एक हड़ताल भी बढ़कर एक राजनीतिक प्रदर्शन, सरकार के ख़िलाफ़ एक राजनीतिक विजय में परिणत हो सकती है।

अगर हमारे पास ज़ोरदार ढंग से संगठित एक पार्टी है, तो एक स्थानीय विद्रोह भी भड़ककर एक विजयिनी क्रान्ति बन सकता है। हमें यह याद रखना चाहिए कि कुछ मांगों के लिए, कुछ रियायतें हासिल करने के लिए सरकार के खिलाफ़ लड़ाई – दुश्मन के साथ हल्की झड़पों – बाहरी चौकियों पर होनेवाली झड़पों से अधिक कुछ भी नहीं है; और यह कि निर्णयात्मक लड़ाई तो अभी आगे आनेवाली है। हमारे सामने शत्रु का क़िला अपनी समूची ताक़त के साथ सर उठाये खड़ा है, जहां से हमारे ऊपर गोले-गोलियों की बौछार हो रही है और हमारे श्रेष्ठतम योद्धा खेत हो रहे हैं। हमें इस क़िले पर क़ब्ज़ा करना चाहिए और हम इसपर क़ब्ज़ा करके रहेंगे, अगर हम जागते हुए सर्वहारा वर्ग की समस्त शक्तियों को रूसी क्रान्तिकारियों की समस्त शक्तियों के साथ एक पार्टी के भीतर एकजुट कर दें – एक ऐसी पार्टी के भीतर जो रूस के सारे पौरुष और सारी ईमानदारी को अपनी ओर आकृष्ट करेगी। केवल तभी रूसी मज़दूर क्रान्तिकारी, प्योत्र अलेक्सेयेव की वह महान भविष्यवाणी पूरी होगी कि: "लाखों मज़दूरों के पुष्ट हाथ उठेंगे और सैनिकों की संगीनों द्वारा रक्षित तानाशाही का जुआ चकनाचूर हो जायेगा!"[80]

लेखन-काल: अक्तूबर-नवम्बर का शुरू, १९००
दिसम्बर, १९००, 'ईस्क्रा' के अंक १ में प्रकाशित

व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खण्ड ४, पृष्ठ ३४१-३४६

क्या करें?

हमारे आंदोलन के तात्कालिक प्रश्न[81]

"...पार्टी संघर्षों से पार्टी में शक्ति और जीवन आता है; किसी पार्टी की कमज़ोरी का सबसे बड़ा सबूत यह होता है कि उसमें बिखराव पैदा हो जाये और स्पष्ट रूप में निश्चित सीमा-रेखाएं धुंधली पड़ जायें। कोई भी पार्टी अयोग्य व्यक्तियों को निकालने से मज़बूत होती है..."

(मार्क्स के नाम लासाल के एक पत्र से, २४ जून, १८५२)

भूमिका

लेखक की पहली योजना के अनुसार इस पुस्तिका में उन विचारों की विस्तार से विवेचना की जानेवाली थी जो 'कहां से आरम्भ करें?'[82] शीर्षक लेख में व्यक्त किये गये थे ('ईस्क्रा'[83], अंक ४, मई १९०१) और सबसे पहले हमें पाठक से क्षमा मांगनी चाहिए क्योंकि उस लेख में जो वादा किया गया था (और जो बाद में बहुत-से लोगों द्वारा निजी रूप से पूछताछ करने पर और अनेक पत्रों के जवाब में दोहराया गया था), उसको पूरा करने में बहुत देरी की गयी है। इस देरी का एक कारण यह था कि गत जून (१९०१) में विदेश-स्थित सभी सामाजिक-जनवादी संगठनों को संयुक्त करने की एक कोशिश हुई थी। उस कोशिश से क्या नतीजे निकलते हैं, यह देखना स्वाभाविक था, क्योंकि यदि वह प्रयत्न सफल हो जाता तो संगठन के प्रश्न पर 'ईस्क्रा' के विचारों को शायद थोड़ा भिन्न दृष्टिकोण से पेश करना पड़ता; और हर हालत में, उस सफलता से रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में दो धाराओं का अस्तित्व शीघ्र ही मिट जाने की आशा पैदा हो जाती। पर जैसा कि पाठक जानते

हैं, वह कोशिश नाकामयाब रही[84], और जैसा हम यहां सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे, कि 'राबोचेये देलो'[85] के अंक १० में, उसके अर्थवाद की ओर नये सिरे से मुड़ जाने के बाद तो इस कोशिश का नाकामयाब होना लाज़िमी था। इस बिखरी हुई, अस्पष्ट, पर नाना रूपों में बार-बार उभर पड़नेवाली धारा के खिलाफ़ दृढ़तापूर्ण संघर्ष करना अत्यन्त आवश्यक हो गया था। अतएव, शुरू में इस पुस्तिका की जो रूप-रेखा सोची गयी थी, उसे बदल देना पड़ा और उसके कलेवर को काफ़ी बढ़ा देना पड़ा।

इस पुस्तिका का मुख्य विषय हम उन तीन प्रश्नों को बनाना चाहते थे जो 'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख में उठाये गये थे – यानी हमारे राजनीतिक आन्दोलन का स्वरूप और प्रधान तत्व क्या हो; हमारे संगठनात्मक कार्य क्या हैं; और अलग-अलग दिशाओं से शुरू करके एकसाथ एक लड़ाकू अखिल-रूसी संगठन बनाने के लिए कौनसी योजना सही होगी। इन प्रश्नों पर लेखक बहुत दिनों से सोच रहा है; जब 'राबोचाया गाज़ेता'[86] को फिर से ज़िन्दा करने की एक असफल कोशिश की गयी थी तो लेखक ने इन सवालों को उठाने का प्रयत्न भी किया था (देखिये अध्याय ५)। परन्तु शुरू की हमारी यह योजना कि इस पुस्तिका को केवल इन तीन प्रश्नों के विश्लेषण तक ही सीमित रखा जाये और वादविवाद में न पड़कर, या कम से कम हद तक पड़कर, जहां तक सम्भव हो अपने विचार सकारात्मक रूप में पेश किये जायें – यह योजना दो कारणों से क़तई कार्यान्वित न हो सकी। एक तो इसलिए कि जितना हम समझते थे, अर्थवाद उससे कहीं ज़्यादा तगड़ा निकला (अर्थवाद शब्द का प्रयोग हम व्यापक अर्थ में कर रहे हैं, जैसा कि 'ईस्क्रा' के अंक १२ (दिसम्बर १९०१) में 'अर्थवाद के समर्थकों से एक वार्ता' शीर्षक लेख में, जो कि इस पुस्तिका का मानो सारांश था, स्पष्ट किया जा चुका है)। इस बात में ज़रा भी सन्देह की गुंजाइश नहीं रह गयी थी कि इन तीन सवालों को लेकर जो मतभेद दिखाई देते हैं, वे तफ़सील की बातों पर अलग-अलग राय होने के कारण उतने नहीं हैं जितने इस कारण कि रूस के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की दो धाराओं में बुनियादी विरोध है। दूसरा कारण यह था कि 'ईस्क्रा' में हमने अपने जो विचार प्रकट किये थे, उनका अमल में क्या नतीजा होगा, इस बारे में अर्थवादियों ने बड़ी चिन्ता प्रकट की थी और उससे

यह बिलकुल साफ़ हो गया था कि बहुधा हम लोग एकदम अलग-अलग ज़बानों में बोलते हैं, कि जब तक हम एकदम शुरू से अपनी बात आरंभ नहीं करेंगे तब तक हम लोग एक-दूसरे को **नहीं** समझ सकेंगे, और यह कि **सभी** अर्थवादियों से हमारे मतभेद की **सभी** बुनियादी बातों की यथासंभव सरलतम शैली में और अनेक ठोस उदाहरण देकर **सुव्यवस्थित ढंग से "विस्तार के साथ विवेचना करने"** की कोशिश की जानी चाहिए। मैंने तमाम मतभेदों की "विस्तार के साथ विवेचना करने" का प्रयत्न करने का निश्चय किया; मैं अच्छी तरह जानता था कि इससे पुस्तिका का आकार बहुत बढ़ जायेगा और उसके प्रकाशन में देरी हो जायेगी, पर साथ ही 'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख में मैंने जो वादा किया था, उसे पूरा करने का **कोई और तरीक़ा** मुझे नहीं दिखाई देता था। अतएव, देरी के लिए क्षमा मांगने के अलावा, मुझे पुस्तिका की अनेक साहित्यिक त्रुटियों के लिए भी क्षमा मांगनी चाहिए: मुझे **हद से ज्यादा जल्दी में** यह काम करना पड़ा है और इसके अलावा अक्सर दूसरे काम भी बीच में आ जाते थे।

इस पुस्तिका का मुख्य विषय अब भी उपरोक्त तीन प्रश्नों की विवेचना है, परन्तु शुरू में मुझे ज़्यादा आम ढंग के दो सवालों पर भी विचार करने की जरूरत महसूस हुई: यानी एक तो यह कि "आलोचना की स्वतंत्रता" जैसा "निर्दोष" और "स्वाभाविक" नारा हमारे लिए इतनी ज़बर्दस्त चुनौती क्यों बन गया है; और दूसरा यह कि स्वयंस्फूर्त जन-आन्दोलन के सम्बंध में सामाजिक-जनवादियों की भूमिका के इतने बुनियादी सवाल पर भी हम लोगों के बीच मतैक्य क्यों नहीं हो पा रहा है। इसके अलावा राजनीतिक आन्दोलन के रूप तथा विषय-वस्तु के सम्बंध में हमारे अपने विचारों की व्याख्या आगे बढ़कर ट्रेड-यूनियनवादी नीति और सामाजिक-जनवादी नीति के अन्तर की व्याख्या बन गयी और संगठनात्मक कार्यों के सम्बन्ध में हमारे विचारों की व्याख्या इस बात का स्पष्टीकरण बन गयी कि उन नौसिखुए तरीक़ों में, जिनसे अर्थवादी संतुष्ट हो जाते हैं, और क्रान्तिकारियों के संगठन में, जिसे हम नितान्त आवश्यक समझते हैं, क्या अन्तर है। इसके अलावा, मैंने एक अखिल-रूसी राजनीतिक अख़बार की "योजना" को और भी ज़ोरदार ढंग से यहां इसलिए पेश किया है कि उसके खिलाफ़ जितने एतराज़ किये गये हैं, वे बहुत ही लचर हैं और

'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख में मैंने जो यह सवाल उठाया था कि हमें जिस प्रकार के **संगठन** की ज़रूरत है, उसे एकसाथ चारों तरफ़ से कैसे खड़ा किया जाये, उसका अभी तक कोई वास्तविक जवाब नहीं दिया गया है। आख़िर में, पुस्तिका के अन्तिम भाग में मैंने यह दिखाने की कोशिश की है कि अर्थवादियों से निर्णायक सम्बंध-विच्छेद को रोकने के लिए हम जितनी कोशिशें कर सकते थे, हमने सब कीं, पर वह सम्बंध-विच्छेद अवश्यम्भावी सिद्ध हुआ; और यह कि 'राबोचेये देलो' ने एक विशेष महत्व—आप चाहें तो कह सकते हैं, "ऐतिहासिक" महत्व—प्राप्त कर लिया है, क्योंकि वह सुसंगत अर्थवाद को तो नहीं, पर उस मति-भ्रम और ढुलमुलपन को ज़रूर पूर्णतम और ठोस रूप में व्यक्त करता है जो रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के इतिहास में **एक पूरे काल** की लाक्षणिक विशेषता हैं, और इसलिए 'राबोचेये देलो' के साथ हम लोगों की बहस भी ऐसा महत्व प्राप्त कर लेती है, जिस बारे में शायद पहली नज़र में यह लगे कि उसमें बहुत अधिक तफ़सील की बातें आ गयी हैं, क्योंकि जब तक हम इस काल को अन्तिम रूप से समाप्त नहीं कर देते, तब तक हम किसी प्रकार की प्रगति नहीं कर सकते।

फ़रवरी, १६०२ **न० लेनिन**

१

रूढ़िवाद और "आलोचना की स्वतंत्रता"

(क) "आलोचना की स्वतंत्रता" क्या है?

"आलोचना की स्वतंत्रता" इस समय का निस्सन्देह सबसे ज़्यादा फ़ैशनेबल नारा है, और सभी देशों के समाजवादियों और जनवादियों के बीच चलनेवाली बहसों में उसका सबसे अधिक प्रयोग किया जाता है। पहली नज़र में इससे ज़्यादा अजीब बात कोई नहीं मालूम हो सकती कि बहस में भाग लेनेवाला कोई पक्ष बार-बार आलोचना की स्वतंत्रता की दुहाई दे। क्या अग्रणी पार्टियों में अधिकतर यूरोपीय देशों के उस सांविधानिक नियम के ख़िलाफ़ कोई आवाज़ उठी है जो विज्ञान तथा वैज्ञानिक खोज के लिए पूरी स्वतंत्रता की गारंटी करता है? जिस दर्शक ने अभी तक बहस करनेवालों के मतभेदों के सार-तत्व को पूरी तरह नहीं समझा है, पर जिसने हर चौराहे पर इस फ़ैशनेबल नारे को बार-बार लगते सुना है, वह यही कहने पर मजबूर होगा कि "इसमें ज़रूर कुछ गड़बड़ है!" वह इसी नतीजे पर पहुंचेगा कि "यह नारा उन प्रचलित प्रयोगों में से है जो उपनामों की तरह, चलन में आ जाने के कारण प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं, और लगभग नाम का ही एक हिस्सा बन जाते हैं।"

वस्तुतः यह कोई छिपी बात नहीं है कि वर्तमान काल के अन्तर्राष्ट्रीय* सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में दो धाराएं दिखाई पड़ने लगी हैं। इन धाराओं

---

*प्रासंगिक तौर पर यह भी कह दिया जाये कि आधुनिक समाजवाद के इतिहास में यह पहला और एकमात्र अवसर ऐसा आया है, जब समाजवादी आंदोलन में पायी जानेवाली विभिन्न धाराओं के झगड़े राष्ट्रीय झगड़ों से अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े बन गये हैं, और यह बात अपने ढंग से हमारा बड़ा उत्साह बढ़ाती है। पहले जब लासालवादियों और आयज़ेनेख़वादियों[87] में, गेदवादियों और

का संघर्ष कभी चमकती लपट की तरह भड़क उठता है तो कभी मन्द पड़ जाता है और "सुलह" के लम्बे-चौड़े प्रस्तावों की राख के नीचे सुलगता रहता है। यह "नयी" धारा क्या है जो "रूढ़िवादी" मार्क्सवाद के प्रति, जो कि उसकी दृष्टि में "पुराना पड़ गया है", एक "आलोचनात्मक" रुख़ अपनाती है, इसे बर्न्सटीन ने बहुत साफ़-साफ़ **बता दिया है** और मिलेरां ने **करके दिखा दिया है**।

सामाजिक-जनवाद को सामाजिक क्रान्ति की पार्टी न रहकर, सामाजिक सुधारों की जनवादी पार्टी बन जाना चाहिए। बर्न्सटीन ने इस राजनीतिक मांग के साथ बड़े क़ायदे से सजायी गयी "नयी" दलीलों और तर्कों का एक पूरा तोपख़ाना जोड़ दिया है। इस बात की सम्भावना से इनकार कर दिया गया कि समाजवाद को वैज्ञानिक आधार पर खड़ा किया जा सकता है और इतिहास की पदार्थवादी अवधारणा के दृष्टिकोण से यह साबित किया जा सकता है कि समाजवाद आवश्यक तथा अवश्यम्भावी है, इसके साथ ही इस बात से भी इनकार कर दिया गया कि लोगों की ग़रीबी अधिकाधिक बढ़ती जा रही है, वे दिवालिया बन-बनकर सर्वहारा की श्रेणी में गिरते जा रहे हैं और पूंजीवाद के अंतर्विरोध दिन-बदिन ज़्यादा तेज होते जा रहे हैं। "**अन्तिम लक्ष्य**" के पूरे विचार को ग़लत ठहरा दिया गया और मज़दूर वर्ग के

संभावनावादियों[88] में, फ़ेबियनों[89] और सामाजिक-जनवादियों[90] में, तथा 'नरोदनाया वोल्या' के सदस्यों[91] और सामाजिक-जनवादियों में संघर्ष होते थे, तो वे केवल राष्ट्रीय संघर्ष रहते थे, उनमें केवल राष्ट्रीय विशेषताएं नजर आती थीं, और मानो उनमें से हरेक अलग-अलग स्तर पर चलता था। पर इस समय (और अब यह बात बिलकुल साफ़ हो गयी है) इंगलैंड के फ़ेबियन, फ़्रांस के मंत्रालयवादी[92], जर्मनी के बर्न्सटीनवादी और रूसी आलोचक[93] ये सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं, वे एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं, एक-दूसरे से सीखते हैं और सब मिलकर "रूढ़िवादी" मार्क्सवाद का विरोध करते हैं। समाजवादी अवसरवाद के विरुद्ध सही माने में इस पहले अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में शायद अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद इतना मज़बूत हो जायेगा कि वह उस राजनीतिक प्रतिक्रियावाद का अन्त कर सके जो लम्बे काल से यूरोप पर हावी है?

अधिनायकत्व के विचार को एकदम ठुकरा दिया गया। यह मानने से इनकार कर दिया गया कि उदारवाद और समाजवाद में कोई सिद्धान्त का भेद है। **वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त** को इस आधार पर त्याग दिया गया कि उसे एक ऐसे पूर्णतया जनवादी समाज पर, जो बहुसंख्या की इच्छा के अनुसार चलता हो, लागू नहीं किया जा सकता; इत्यादि।

इस प्रकार क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद को त्याग कर हिम्मत के साथ पूंजीवादी सामाजिक-सुधारवाद की ओर मुड़ने की मांग के साथ-साथ, मार्क्सवाद के सभी बुनियादी विचारों की पूंजीवादी आलोचना को भी उतनी ही दृढ़ता के साथ अपना लिया गया। और मार्क्सवाद की यह आलोचना चूंकि राजनीतिक सभाओं में, विश्वविद्यालयों में, अनगिनत पुस्तिकाओं में, और अनेक विद्वत्तापूर्ण निबंधों में बहुत दिनों से चल रही है, और चूंकि पढ़े-लिखे वर्गों की पूरी नयी पीढ़ी दसियों बरस से इसी आलोचना के द्वारा शिक्षित हो रही है, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के अन्दर यह "नयी आलोचनात्मक" धारा बनी-बनायी और एकदम तैयार उसी प्रकार पैदा हो गयी जैसे जुपिटर के शीश से मिनर्वा पैदा हो गयी थी। इस नयी धारा के सार-तत्व को बढ़ने और विकसित होने की आवश्यकता नहीं हुई, पूंजीवादी साहित्य से उसे सशरीर उठाकर समाजवादी साहित्य में डाल दिया गया।

और आगे चलिये। यदि बर्न्सटीन की सैद्धान्तिक आलोचनाओं और राजनीतिक आकांक्षाओं को किसी ने अभी तक साफ़-साफ़ नहीं समझा है, तो फ़ांसीसियों ने "नयी प्रणाली" को बड़े सजीव ढंग से सबके सामने पेश कर दिया है। इस मामले में भी फ़्रांस ने अपनी इस पुरानी ख्याति का औचित्य साबित कर दिया है कि वह एक ऐसा देश है, "जहां हर बार ऐतिहासिक वर्ग-संघर्षों को दूसरे देशों से अधिक निर्णायक ढंग से लड़कर किसी न किसी नतीजे पर पहुंचाया गया है।" (मार्क्स की पुस्तक *«Der 18 Brumaire»* की एंगेल्स द्वारा लिखित भूमिका)[94]। फ़्रांसीसी समाजवादियों ने सिद्धान्त बघारना नहीं, बल्कि अमल करना शुरू कर दिया है। फ़्रांस में जनवाद के दृष्टिकोण से राजनीतिक परिस्थिति चूंकि अधिक विकसित थी, इसलिए उन्हें तुरन्त "बर्न्सटीनवाद पर अमल करने" का मौक़ा मिल गया है और उसके सारे नतीजे भी सामने आ गये हैं। मिलेरां ने व्यावहारिक बर्न्सटीनवाद की एक बहुत बढ़िया मिसाल

पेश कर दी है। यह अकारण नहीं था कि बर्न्सटीन और फ़ोलमार ने इतनी मुस्तैदी से मिलेरां का समर्थन करना और तारीफ़ें करना शुरू कर दिया। सचमुच यदि सामाजिक-जनवाद मूलतः केवल सुधार की एक पार्टी है, और उसमें यह बात खुलेआम स्वीकार करने का साहस होना चाहिए, तो हर समाजवादी को न सिर्फ़ एक पूंजीवादी मंत्रिमंडल में शामिल होने का अधिकार है, बल्कि उसे सदा इसकी कोशिश में लगा रहना चाहिए। यदि जनतंत्र से मूलतः वर्ग-प्रभुत्व ख़तम हो जाता है, तो फिर समाजवादी मंत्री को वर्ग-सहयोग पर भाषणों की झड़ी लगाकर पूरे पूंजीवादी संसार का मन मोह लेने की कोशिश क्यों नहीं करनी चाहिए? भले ही मज़दूरों पर राजनीतिक पुलिस द्वारा चलायी गयी गोलियों ने सौ बार और हज़ार बार वर्गों के जनवादी सहयोग की क़लई क्यों न खोल दी हो, पर समाजवादी मंत्री को पूंजीवादी मंत्रिमंडल के अन्दर क्यों नहीं बने रहना चाहिए? तब उसे ज़ार का, जिसके लिए कि फ़्रांसीसी समाजवादियों के पास अब फांसी, कोड़े, और जलावतनी (knouteur, pendeur et déportateur) के महारथी के सिवा और कोई नाम नहीं रह गया है, स्वागत करने में ख़ुद क्यों नहीं भाग लेना चाहिए? और इस तरह सारी दुनिया की आंखों के सामने समाजवाद को अपमानित और कलंकित करने का, मज़दूर जनता की समाजवादी चेतना को, जो हमारी विजय का एकमात्र निश्चित आधार है, भ्रष्ट करने का, इनाम क्या मिला? छोटे-मोटे सुधारों की लम्बी-चौड़ी **योजनाएं**, वास्तव में ऐसे टुच्चे सुधार कि उनसे कहीं ज़्यादा पूंजीवादी सरकारों से हासिल किया जा चुका है!

जो जान-बूझकर अपनी आंखें बन्द नहीं कर लेता, वह यह देखे बिना नहीं रह सकता कि समाजवाद की यह नयी "आलोचनात्मक" धारा **अवसरवाद** की एक नयी क़िस्म से कम या ज़्यादा और कुछ नहीं है। और यदि लोगों के बारे में हम उनके बढ़िया कपड़ों को देखकर, या उनकी लम्बी-चौड़ी उपाधियों को सुनकर, राय नहीं क़ायम करते, बल्कि उनके कामों को देखकर अपनी राय बनाते हैं और यह देखते हैं कि सचमुच ये लोग किन बातों का समर्थन कर रहे हैं, तो यह बात साफ़ हो जायेगी कि "आलोचना की स्वतंत्रता" का मतलब यह है कि सामाजिक-जनवाद के अन्दर एक अवसरवादी धारा को स्वतंत्रता रहे, सामाजिक-जनवाद को सुधारों के लिए कोशिश करनेवाली एक जनवादी पार्टी

में बदल डालने की स्वतंत्रता हो, और समाजवाद के अन्दर पूंजीवादी विचार तथा पूंजीवादी तत्व डाल देने की स्वतंत्रता हो।

"स्वतंत्रता" एक बहुत शानदार शब्द है, लेकिन स्वतंत्र उद्योग के झंडे के नीचे लूटमार के सबसे बड़े युद्ध चलाये गये हैं; स्वतंत्र श्रम के झंडे की आड़ में मेहनतकशों को लूटा गया है। "आलोचना की स्वतंत्रता" नामक शब्दावली के इस आधुनिक प्रयोग के पीछे भी कुछ वैसा ही झूठ छिपा हुआ है। जिनको सही माने में इस बात का विश्वास होगा कि उन्होंने विज्ञान का विकास किया है, वे यह मांग नहीं करेंगे कि नये विचारों को पुराने विचारों के साथ-साथ जीवित रहने की स्वतंत्रता दी जाये, बल्कि वे तो यह चाहेंगे कि पुराने विचारों का स्थान नये विचार ले लें। "आलोचना की स्वतंत्रता ज़िन्दाबाद" का जो नारा आज सुनाई देता है, उससे 'थोथा चना बाजे घना' वाली कहावत बड़ी तीव्रता के साथ दिमाग़ में आ जाती है।

हमारी एक छोटी-सी गठी हुई टुकड़ी है जो एक बहुत कठिन और संकरी चढ़ाई पर एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए चली जा रही है। हम चारों ओर से दुश्मनों से घिरे हुए हैं और हमें लगातार उनकी गोलियों की बौछार के बीच से आगे बढ़ना पड़ रहा है। हम अपनी इच्छा से, और ठीक यही उद्देश्य लेकर इस टुकड़ी में शामिल हुए हैं कि दुश्मन से लड़ा जाये और पड़ोस की उस दलदल में भागकर शरण न ली जाये जहां के रहनेवाले शुरू से ही हमारी इसलिए निंदा कर रहे हैं कि हमने अपने को एक सीमित दल में अलग कर लिया है, और समझौते के रास्ते के बजाय संघर्ष का रास्ता चुना है। और अब हममें से ही कुछ लोग यह चिल्लाना शुरू कर देते हैं: चलो उस दलदल में चलें! और जब हम इन लोगों को शरमिन्दा करते हैं तो वे तड़ाक से जवाब देते हैं: आप लोग भी कितने रूढ़िवादी हैं। क्या आप लोगों को शर्म नहीं आती कि आप हमें एक बेहतर रास्ता सुझाने की भी स्वतंत्रता नहीं देना चाहते।—हां, हां, महानुभावो। आपको न केवल रास्ता सुझाने की स्वतंत्रता है, बल्कि आप जहां चाहें वहां चले जाने की, दलदल में घुस जाने की भी आपको स्वतंत्रता है। दरअसल, हमारे विचार से तो दलदल ही आपके लिए उपयुक्त स्थान है, और वहां पहुंचाने के लिए हम हर तरह से **आपकी** मदद करने को तैयार हैं। लेकिन, बस हमारा हाथ छोड़ दीजिये, हमारा पल्ला न पकड़िये,

और "स्वतंत्रता" के शानदार शब्द को कीचड़ में न घसीटिये, क्योंकि हम भी जहां चाहें जाने के लिए "स्वतंत्र" हैं, हम भी न केवल दलदल में रहनेवालों के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए स्वतंत्र हैं, बल्कि उन लोगों के ख़िलाफ़ भी लोहा लेने के लिए स्वतंत्र हैं, जो दलदल की ओर रुख़ करना चाहते हैं!

(ख) "आलोचना की स्वतंत्रता" के नये समर्थक

अभी हाल में, विदेशों में स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ[95] के मुखपत्र 'राबोचेये देलो' ने अपने १० वें अंक में बड़ी गम्भीरता से इस नारे को ("आलोचना की स्वतंत्रता" के नारे को) बुलन्द किया है। उसने यह नारा एक सैद्धान्तिक स्थापना के रूप में नहीं, बल्कि एक राजनीतिक मांग के रूप में और इस प्रश्न के उत्तर के रूप में पेश किया है कि "क्या विदेशों में काम करनेवाले सामाजिक-जनवादी संगठनों में एकता क़ायम करना सम्भव है?" और उसने कहा है कि "एकता टिकाऊ हो, इसके लिए आवश्यक है कि आलोचना की स्वतंत्रता रहे"। (पृष्ठ ३६)

इस कथन से दो बिलकुल निश्चित निष्कर्ष निकलते हैं: १) यह कि 'राबोचेये देलो' ने अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की अवसरवादी धारा को अपने संरक्षण में ले लिया है; और २) यह कि 'राबोचेये देलो' रूसी सामाजिक-जनवाद में अवसरवाद के लिए स्वतंत्रता चाहता है। आइये, अब हम इन निष्कर्षों की परीक्षा करें।

'राबोचेये देलो' इस बात से "ख़ास तौर पर" नाख़ुश है कि "'ईस्क्रा' और 'ज़ार्या'[96] अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवाद के **पर्वत-दल** और **जिरौंद-दल**[97] में सम्बंध-विच्छेद हो जाने की भविष्यवाणी करने की प्रवृति" रखते हैं*।

---

*'ईस्क्रा' के दूसरे अंक (फ़रवरी १६०१) के एक अग्रलेख में क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग की दो धाराओं (क्रान्तिकारी तथा अवसरवादी) की तुलना अठारहवीं सदी के क्रान्तिकारी पूंजीपति वर्ग की दो धाराओं से (जैकोबिन दल जो पर्वत भी कहलाता था, और जिरौंद-वादी दल से) की गयी थी। यह लेख प्लेख़ानोव ने लिखा था। कैडेट, "बेज़ज़ग्लावत्सी दल"[98], और मेन्शेविक आज भी रूसी सामाजिक-जनवाद में पाये जानेवाले "जैकोबिनवाद" का ज़िक्र करना

'राबोचेये देलो' के सम्पादक ब० क्रिचेव्स्की ने लिखा है कि "ग्राम तौर पर, सामाजिक-जनवादी ग्रान्दोलन में **पर्वत-दल** ग्रौर **जिरौंद-दल** की जो चर्चा सुनाई पड़ती है, वह इतिहास की दृष्टि से बहुत ही सतही तुलना है। एक मार्क्सवादी की क़लम से ऐसी बात का निकलना बड़ी ग्रजीब बात है। पर्वत-दल ग्रौर जिरौंद-दल विभिन्न मनोवृत्तियों या बौद्धिक धाराग्रों का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे, जैसा कि विचारधारा पर ज़ोर देनेवाले इतिहासकारों का ख़याल हो सकता है; वे तो विभिन्न वर्गों ग्रथवा स्तरों का प्रतिनिधित्व करते थे—एक मंझोले पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधि था ग्रौर दूसरा निम्न-पूंजीपति वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधि था। परन्तु ग्राधुनिक समाजवादी ग्रान्दोलन के ग्रन्दर वर्ग-हितों की कोई टक्कर नहीं है। कुल मिलाकर पूरा समाजवादी ग्रान्दोलन, भिन्न-भिन्न प्रकार के उसके **सभी** रूप," (शब्द पर ज़ोर ब० क्रिचेव्स्की का है) "ग्रौर यहां तक कि सबसे ज़्यादा साफ़ तौर पर बर्न्सटीन का समर्थन करनेवाले लोग भी, सर्वहारा वर्ग के वर्ग-हितों को ग्रौर राजनीतिक तथा ग्रार्थिक मुक्ति के लिए उसके वर्ग-संघर्ष को ग्रपना ग्राधार बनाते हैं।" (पृष्ठ ३२-३३)

बहुत बड़ी बात कह डाली है! क्या ब० क्रिचेव्स्की ने यह बात नहीं सुनी है, जिसका काफ़ी समय पहले पता लग चुका था, कि बर्न्सटीनवाद के इतने तेज़ी से फैल जाने का कारण ठीक यही है कि हाल के बरसों में एक "पंडिताऊ" **स्तर** बड़े व्यापक रूप में समाजवादी ग्रान्दोलन में भाग लेने लगा है? ग्रौर सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि हमारे इस लेखक के इस मत का ग्राधार क्या है कि "सबसे ज़्यादा साफ़ तौर पर बर्न्सटीन का समर्थन करनेवाले लोग भी" सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक तथा ग्रार्थिक मुक्ति के वर्ग-संघर्ष को ग्रपना ग्राधार बनाते हैं? कोई नहीं जानता कि इस मत का क्या ग्राधार है। बर्न्सटीन के सबसे कट्टर समर्थकों की दृढ़ हिमायत के पक्ष में कोई दलील या विचार पेश नहीं किये गये हैं। शायद लेखक महोदय का यह विश्वास है

बहुत पसन्द करते हैं, पर वे इस बात के बारे में ख़ामोश रहते हैं... या इस बात को भूल जाना पसन्द करते हैं कि प्लेख़ानोव ने सबसे पहले सामाजिक-जनवाद की दक्षिणपंथी धारा के ख़िलाफ़ इस नाम का प्रयोग किया था। (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी।—सं०)

कि यदि वह केवल वे बातें दुहरा दें जिन्हें बर्न्सटीन के सबसे कट्टर समर्थक ख़ुद अपने बारे में कहा करते हैं, तो उनके कथन को साबित करने के लिए किसी सबूत की आवश्यकता न रहेगी। परन्तु इससे अधिक "छिछली" बात और क्या हो सकती है कि किसी एक पूरी प्रवृत्ति के विषय में हम केवल उन्हीं बातों के आधार पर अपना मत क़ायम करें जो उस धारा के प्रतिनिधि ख़ुद अपने बारे में कहते हैं? क्या इससे अधिक छिछली बात की कल्पना भी की जा सकती है कि इस तरह अपना मत निर्धारित करने के बाद यह सज्जन पार्टी के विकास के दो भिन्न, और यहां तक कि एक-दूसरे के एकदम विरोधी तरीक़ों या रास्तों के बारे में एक लम्बा "उपदेश" भी झाड़ देते हैं? ('राबोचेये देलो', पृष्ठ ३४-३५।) वह फ़रमाते हैं कि जर्मनी के सामाजिक-जनवादी आलोचना की पूर्ण स्वतंत्रता को स्वीकार करते हैं, लेकिन फ़्रांसीसी नहीं करते, और "असहिष्णुता से जो हानि होती है" वह फ़्रांसीसियों के उदाहरण से ही स्पष्ट होती है।

हम इसका यह उत्तर देते हैं कि ब० क्रिचेव्स्की के उदाहरण से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि कभी-कभी ऐसे लोग भी अपने को मार्क्सवादी कहने लगते हैं, जो इतिहास को अक्षरशः "इलोवाइस्की"[99] के दृष्टिकोण से देखते हैं। इन लोगों के मतानुसार, जर्मन समाजवादी पार्टी की एकता और फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी की फूट को समझने के लिए इन दो देशों के इतिहास की विशेष बातों का अध्ययन करने की, एक देश की सैनिक अर्ध-निरंकुशता की दूसरे देश के गणतांत्रिक संसदवाद से तुलना करने की, या एक देश में पेरिस कम्यून के तथा दूसरे में समाजवाद-विरोधी क़ानूनों के प्रभावों का विश्लेषण करने की, दोनों देशों के आर्थिक जीवन तथा आर्थिक विकास का तुलनात्मक अध्ययन करने या इस बात की याद दिलाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि "जर्मन सामाजिक-जनवाद का अभूतपूर्व विकास" न केवल ग़लत सिद्धान्तों के ख़िलाफ़ (म्यूलबर्गर, ड्यूहरिंग*, कैथेडेर-समाजवादियों[102] के ख़िलाफ़) बल्कि ग़लत कार्यनीति (लासाल) के ख़िलाफ़ एक ऐसे संघर्ष के दौरान में हुआ है जिसका

---

* जिस समय एंगेल्स ने ड्यूहरिंग पर वज्र-प्रहार किया था, उस समय जर्मन सामाजिक-जनवाद के बहुत-से प्रतिनिधियों का ड्यूहरिंग के मत की ओर झुकाव था और पार्टी कांग्रेस[100] में एंगेल्स पर बदमिज़ाजी का प्रदर्शन करने, दूसरों के

समाजवाद के इतिहास में उदाहरण नहीं मिलता, आदि आदि। उनकी राय में ये सब बेकार की बातें हैं। फ़्रांसीसी इसलिए आपस में लड़ते हैं कि उनमें सहनशीलता का अभाव है, और जर्मनों में इसलिए एकता है कि वे भले लड़के हैं।

और इस बात पर ध्यान दीजिये कि यह बेमिसाल और गूढ़ तर्क उस तथ्य का "खंडन" करने के लिए पेश किया गया है जो बर्न्सटीनवादियों के हिमायतियों को मुंहतोड़ जवाब दे देता है। क्या बर्न्सटीनवादी सच में सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष के आधार पर **खड़े हैं**? इस प्रश्न का उत्तर तो केवल ऐतिहासिक अनुभव ही पूर्णतः और निर्णयकारी ढंग से दे सकता है। अतएव, इस मामले में फ़्रांस के उदाहरण का सबसे अधिक महत्व है, क्योंकि वही एक ऐसा देश है जहां बर्न्सटीनवादियों ने स्वतंत्र रूप से अपने पैरों पर **खड़ा होने** की कोशिश की थी, और उनके जर्मन साथियों ने (और कुछ हद तक रूसी अवसरवादियों ने भी; देखिये 'राबोचेये देलो', अंक २-३, पृष्ठ ८३-८४) उनकी इस कोशिश का हार्दिक समर्थन किया था। यह कहना कि फ़्रांसीसियों में "सहनशीलता का अभाव" है, उसका जो कुछ (नोज़दर्योव के अर्थ में)[103] "ऐतिहासिक" महत्व है उसे बताने के अलावा, यह कथन बताता है कि कुछ बहुत तक़लीफ़देह सच्चाइयों को क्रोध से भरी गालियों के द्वारा छिपाने की कोशिश की जा रही है।

विचारों के प्रति सहनशीलता न बरतने, और भाईचारे के ढंग को छोड़कर साथियों की कटु आलोचना करने आदि के आरोप खुलेआम लगाये गये थे। १८७७ की कांग्रेस में मोस्ट और उसके साथियों ने यह प्रस्ताव पेश किया कि *«Vorwärts»*[101] में एंगेल्स के लेखों को प्रकाशित करने पर पाबंदी लगा दी जाये क्योंकि "अधिकतर पाठकों को उनमें कोई दिलचस्पी नहीं है," और वाह्लटीख़ ने घोषणा की कि इन लेखों के प्रकाशन से पार्टी को सख़्त नुक़सान पहुंचा है, और यह कि ड्यूहरिंग ने भी सामाजिक-जनवाद की सेवाएं की हैं: "हमें हर आदमी का पार्टी के हित में उपयोग करना चाहिए, अगर प्रोफ़ेसर लोग बहस करना ही चाहते हैं तो उन्हें करने दो, पर *«Vorwärts»* उसके लिए उपयुक्त स्थान नहीं है।" (*«Vorwärts»*, अंक ६५, ६ जून, १८७७।) जैसा कि आप यहां देखते हैं, "आलोचना की स्वतंत्रता" की हिमायत का यह एक और उदाहरण है, और अच्छा होगा यदि हमारे क़ानूनी आलोचक तथा ग़ैर-क़ानूनी अवसरवादी, जो जर्मनों का उदाहरण देने के इतने शौक़ीन हैं, इस उदाहरण पर भी थोड़ी गम्भीरता से विचार करें!

न ही हम इसके लिए क़तई तैयार हैं कि ब० क्रिचेव्स्की को और "आलोचना की स्वतंत्रता" के दूसरे बहुत-से हिमायतियों को जर्मनों के नाम का दुरुपयोग करने दें। यदि "सबसे ज़्यादा साफ़ तौर पर बर्न्सटीन का समर्थन करनेवालों" को अब भी जर्मन पार्टी के अन्दर रहने की इजाज़त है, तो सिर्फ़ उसी हद तक जिस हद तक कि वे हैनोवरवाले उस प्रस्ताव[104] को जिसमें बर्न्सटीन के "संशोधनों" को एकदम ठुकरा दिया गया था, और लूबेक के उस प्रस्ताव[105] को **मानते हैं** जिसमें (उसकी कूटनीतिक भाषा के बावजूद) बर्न्सटीन को प्रत्यक्ष चेतावनी दी गयी थी। यह बात बहस का विषय है कि क्या जर्मन पार्टी के हित की दृष्टि से कूटनीति बरतना ठीक था, और क्या इस मामले में एक ख़राब सुलह एक अच्छे झगड़े से बेहतर है। सारांश यह कि बर्न्सटीनवाद को ठुकराने का कौनसा **ढंग** किस समय अधिक उपयुक्त है, इसपर मतभेद हो सकता है, परन्तु इस बात को कोई भी अनदेखा नहीं कर सकता कि जर्मन पार्टी दो बार बर्न्सटीनवाद को **सचमुच ठुकरा चुकी है**। इसलिए यह समझना कि जर्मन मिसाल से इस स्थापना की पुष्टि होती है कि "सबसे ज़्यादा साफ़ तौर पर बर्न्सटीन का समर्थन करनेवाले लोग भी सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक तथा आर्थिक मुक्ति के लिए वर्ग-संघर्ष के आधार पर खड़े हैं," आंखों के सामने होनेवाली बातों को भी न समझने के समान है।*

---

* यह बताना आवश्यक है कि जर्मन पार्टी में पाये जानेवाले बर्न्सटीनवाद के बारे में 'राबोचेये देलो' ने पाठकों के सामने तथ्यों को पेश कर देने तक ही सदा अपने आपको सीमित रखा है और इन तथ्यों के बारे में कभी अपना मत "प्रकट नहीं" किया है। उदाहरण के लिए अंक २-३ (पृष्ठ ६६) में छपी स्टुटगार्ट कांग्रेस[106] की रिपोर्टों को देखिये, जिनमें तमाम मतभेदों को "कार्यनीति" सम्बंधी मतभेद बना दिया गया है और केवल यह कहकर संतोष कर लिया गया है कि पार्टी का अधिकांश भाग अब भी पुरानी क्रान्तिकारी कार्यनीति का ही समर्थक है। या अंक ४-५ (पृष्ठ २५ और उसके बाद के पृष्ठ) को लीजिये जहां हैनोवर कांग्रेस में दिये गये भाषणों को केवल दूसरे शब्दों में प्रकाशित कर दिया गया है, और बेबेल के प्रस्ताव को ज्यों का त्यों छाप दिया गया है। (जैसा अंक २-३ में किया गया था) बर्न्सटीन के विचारों की विवेचना और आलोचना को इस बार भी "एक विशेष लेख" का वादा करके

और बात इतनी ही नहीं है। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं कि 'राबोचेये देलो' "आलोचना की स्वतंत्रता" चाहता है और **रूसी** सामाजिक-जनवाद के सामने बर्न्सटीनवाद की हिमायत कर रहा है। ज़ाहिर है कि वह इस नतीजे पर पहुंचा है कि हमने अपने "आलोचकों" तथा बर्न्सटीनवादियों के साथ न्याय नहीं किया। निश्चयत: किन के साथ? किसने उनके साथ न्याय नहीं किया? कहां और कब उनके साथ अन्याय किया गया? यह अन्याय किस बात में प्रकट होता है? इस सबके बारे में एक शब्द भी नहीं मिलता। 'राबोचेये देलो' एक भी रूसी आलोचक या बर्न्सटीनवादी का नाम नहीं लेता! ऐसी हालत में हमारे लिए दो सम्भव बातों में से एक को मानकर चलने के अलावा कोई रास्ता नहीं रह जाता है: **या** तो जिसके साथ अन्याय हुआ है वह 'राबोचेये देलो' के सिवा और कोई नहीं है (और यह इस बात से और पक्का हो जाता है कि १० वें अंक के दो लेखों में केवल उस अन्याय का ज़िक्र किया गया है जो 'ज़ार्या' और 'ईस्क्रा' ने 'राबोचेये देलो' के साथ किया है)। यदि यही मामला है तो इस अजीबोग़रीब बात की क्या वजह है कि 'राबोचेये देलो', जो हमेशा बड़े ज़ोरदार शब्दों में यह कहता रहता है कि वह बर्न्सटीनवाद की कभी हिमायत नहीं करता, इस बार "सबसे ज़्यादा साफ़ तौर पर बर्न्सटीन का समर्थन करनेवाले लोगों" की और आलोचना की स्वतंत्रता की हिमायत किये बग़ैर अपने मत की पुष्टि न कर सका? **या** फिर कुछ अन्य व्यक्तियों के साथ अन्याय हुआ है। यदि यह बात है, तो इन लोगों के नाम न बताने का क्या कारण हो सकता है?

टाल दिया गया है। अजीब बात है अंक ४-५ (पृष्ठ ३३) में हम यह पढ़ते हैं: "... बेबेल ने जो विचार पेश किये थे, उनका कांग्रेस के प्रबल बहुमत ने समर्थन किया" और उससे चन्द लाइन नीचे लिखा है: "...डेविड ने बर्न्सटीन के विचारों का समर्थन किया... सबसे पहले, उसने यह दिखाने की कोशिश की कि सब कुछ कहने-करने के बाद भी" (जी हां!) "बर्न्सटीन और उसके दोस्त वर्ग-संघर्ष के आधार पर खड़े हैं..." यह दिसम्बर १८९९ में लिखा गया था, और ज़ाहिर है कि सितम्बर १९०१ में 'राबोचेये देलो' बेबेल के विचारों के सही होने में विश्वास खो चुकने के बाद, डेविड के मत को अपने मत के रूप में पेश कर रहा है!

इस तरह हम देखते हैं कि 'राबोचेये देलो' अब भी आंख-मिचौनी का वही खेल खेल रहा है, जो वह (जैसा कि हम आगे देखेंगे) अपने जन्म से खेलता आ रहा है। जिस "आलोचना की स्वतंत्रता" का इतना ढोल पीटा जाता है, उसके **पहले** व्यावहारिक प्रयोग पर भी ग़ौर कीजिये। वस्तुत: न केवल इस प्रयोग में हर प्रकार की आलोचना से हाथ खींच लिया गया है, बल्कि किसी भी तरह के स्वतंत्र विचार प्रकट करना भी बन्द कर दिया गया है। वही 'राबोचेये देलो' जो रूसी बर्न्सटीनवाद का नाम लेने से इस तरह घबराता है मानो वह (स्तारोवेर के बहुत उपयुक्त शब्दों में[107]) कोई शर्मनाक बीमारी हो, उसके इलाज के लिए जर्मनी के उस सबसे ताज़ा नुस्ख़े की **हूबहू नक़ल करने** की सलाह दे रहा है जो इस बीमारी के जर्मन रूप के लिए सुझाया जा रहा है! आलोचना की स्वतंत्रता नहीं—ग़ुलामों की तरह (इससे भी बदतर: बन्दरों की तरह) नक़ल करो। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय अवसरवाद का सामाजिक तथा राजनीतिक सार-तत्व हर जगह एक है, पर अलग-अलग स्थानों में वह अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं के अनुसार विविध प्रकार के रूपों में प्रकट होता है। एक देश में अवसरवादी बहुत दिन हुए एक अलग झंडे के नीचे इकट्ठा हो गये थे; दूसरे देश में उन्होंने सिद्धान्त की अवहेलना की और व्यवहार में रेडिकल-सोशलिस्टों की नीति का अनुसरण किया, तीसरे देश में क्रान्तिकारी पार्टी के कुछ सदस्य भागकर अवसरवाद के खेमे में चले गये हैं। और वे अपने सिद्धान्तों तथा नयी कार्यनीति को मनवाने के लिए खुला संघर्ष नहीं चलाते, बल्कि धीरे-धीरे, बिना किसी के कुछ महसूस किये, और यदि यह कहना उपयुक्त समझा जाये, तो दंड से बचते हुए पार्टी को भ्रष्ट करके अपना मतलब सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं। चौथे देश में इसी प्रकार के भगोड़े लोग राजनीतिक दासता के अंधकार का फ़ायदा उठाकर इन्हीं तरीक़ों का प्रयोग करते हैं और "क़ानूनी" तथा "ग़ैर-क़ानूनी" कार्रवाइयों को एकदम निराले ढंग से मिलाकर चलते हैं, इत्यादि, इत्यादि। **रूसी** सामाजिक-जनवादियों को संयुक्त करने की शर्त के तौर पर आलोचना की स्वतंत्रता और बर्न्सटीनवाद के बारे में बातें करना और इस बात को स्पष्ट तरीक़े से न बताना कि **रूसी** बर्न्सटीनवाद किस रूप में प्रकट हुआ है, और उसके क्या विशेष फल हुए हैं, यह कुछ न कहने के मक़सद से बात करने के बराबर है।

आइये, हम खुद, कुछ शब्दों में ही सही, वह बात बताने की कोशिश करें जो 'राबोचेये देलो' नहीं बताना चाहता था (या शायद जिसे उसने समझा तक न था)।

(ग) रूस में आलोचना

जिस विषय की हम यहां विवेचना कर रहे हैं, उसके बारे में रूस की प्रमुख लाक्षणिक विशेषता यह है कि यहां एक ओर तो स्वयंस्फूर्त मज़दूर आन्दोलन का **आरम्भ होते ही**, और दूसरी ओर प्रगतिशील जनमत के मार्क्सवाद की ओर मुड़ने पर स्पष्टतया पंचमेल ढंग के तत्व एक झंडे के नीचे आकर जमा हो गये थे, जिनका उद्देश्य एक समान शत्रु से (एक पिछड़े सामाजिक एवं राजनीतिक विश्व-दृष्टिकोण से) लड़ना भी था। हम "क़ानूनी मार्क्सवाद" के उभार के दिनों की चर्चा कर रहे हैं। मोटे तौर पर यह सचमुच एक विचित्र घटना थी जिसे पिछली शताब्दी के नवें दशक में या दसवें दशक के आरम्भ में कोई भी संभव नहीं समझ सकता था। एक ऐसे देश में, जहां एकतंत्र का शासन स्थापित है, जहां के समाचारपत्र तरह-तरह के बंधनों में पूरे तौर पर जकड़े हुए हैं, और एक ऐसे काल में जब घोर राजनीतिक प्रतिक्रियावाद का दौर-दौरा था और राजनीतिक असंतोष तथा विरोध के अंकुर को फूटते ही कुचल दिया जाता था, यकायक मार्क्सवाद **सेंसर द्वारा पास किये गये** साहित्य में प्रवेश करने में सफल हो जाता है; और यद्यपि उसका विवेचन कूटभाषा में किया जाता है, पर "दिलचस्पी लेनेवाले" समझ जाते हैं। सरकार केवल (क्रान्तिकारी) 'नरोदनाया वोल्या' के सिद्धान्त को ख़तरनाक समझने की आदी हो गयी थी। जैसा कि आम तौर पर होता है, वह उसके अन्दरूनी विकास को नहीं समझती थी और उसकी **कैसी भी** आलोचना हो, उससे ख़ुश होती थी। (हमारे रूसी हिसाब के अनुसार) काफ़ी समय बीत जाने के बाद सरकार को एहसास हुआ कि क्या हो गया था और सेंसर व राजनीतिक पुलिस की भारी-भरकम फ़ौज को नये दुश्मन का पता चला और वह उस पर टूट पड़ी। इस बीच एक के बाद दूसरी मार्क्सवादी पुस्तकें प्रकाशित होती गयीं, मार्क्सवादी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ हो गया, लगभग हर आदमी मार्क्सवादी बन बैठा, मार्क्सवादियों की ख़ुशामदें होने लगीं, मार्क्सवादियों का आदर-सत्कार होने लगा और मार्क्सवादी साहित्य की असाधारण तेज़ बिक्री को

देखकर प्रकाशक खुशियां मनाने लगे। ऐसी हालत में यह स्वाभाविक था कि उन नौसिखुए मार्क्सवादियों में, जो आंधी में बहकर इधर चले आये थे, अनेक "ऐसे लेखक भी हों जिनका माथा फिर गया था"...[108]

अब वह ज़माना एक बीती हुई बात बन गया है और उसके बारे में हम लोग शान्त भाव से चर्चा कर सकते हैं। यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि जिस छोटे-से काल में हमारे साहित्य की सतह पर मार्क्सवाद फूला-फला था, उसका श्रीगणेश एक ओर बहुत गरम और दूसरी ओर बहुत ही नरम विचार वाले लोगों के सहयोग ने किया था। सच तो यह है कि ये नरम विचार वाले लोग पूंजीवादी जनवादी थे; और जब यह "सहयोग" क़ायम था, उस वक़्त भी कुछ लोग इस नतीजे पर पहुंच गये थे (बाद में इन नरम विचार वालों के "आलोचनात्मक" विकास ने इस बात की पूरी तरह पुष्टि कर दी थी)।*

यदि बात ऐसी थी तो क्या बाद में जो "मति-भ्रम" पैदा हुआ, उसकी ज़िम्मेदारी मुख्यतया क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों पर नहीं है, जिन्होंने भावी "आलोचकों" के साथ सहयोग किया था? यह सवाल कभी-कभी ज़रूरत से ज़्यादा लकीर के फ़क़ीर लोगों के मुंह से सुना जाता है और वे इसका जवाब 'हां' में देते हैं। पर ये लोग बिल्कुल ग़लती करते हैं। केवल वे ही लोग अविश्वसनीय लोगों तक से अस्थायी तौर पर सहयोग करने से इनकार कर सकते हैं जिनको अपने ऊपर विश्वास नहीं होता; कोई राजनीतिक पार्टी बिना ऐसे सहयोग के जीवित नहीं रह सकती। क़ानूनी मार्क्सवादियों के साथ मिलकर, रूसी सामाजिक-जनवादियों ने एक तरह से सही माने में पहला राजनीतिक सहयोग किया था। यह इसी सहयोग का परिणाम था कि नरोदवाद के विरुद्ध आश्चर्यजनक तेज़ी से मार्क्सवाद की विजय हुई और मार्क्सवादी विचार (कुछ विकृत शक्ल में ही सही) दूर-दूर तक फैल गये। इसके अलावा यह सहयोग बिना किसी "शर्त" के नहीं किया गया था। इसका सबूत यह है कि १८९५ में 'रूस के आर्थिक विकास की समस्या से सम्बंधित सामग्री' शीर्षक मार्क्सवादी लेख-

---

*यह इशारा स्त्रूवे के विरुद्ध क० तूलिन के एक लेख की ओर है। यह लेख 'पूंजीवादी साहित्य में मार्क्सवाद का प्रतिबिंब' शीर्षक निबंध से लिया गया था। (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी। – सं०[109])

संग्रह को सरकारी सेंसर ने जला दिया। क़ानूनी मार्क्सवादियों के साथ जो साहित्यिक समझौता हुआ था, यदि उसे हम एक राजनीतिक सहयोग कह सकते हैं, तो इस पुस्तक की तुलना एक राजनीतिक संधि-पत्र से की जा सकती है।

ज़ाहिर है कि सहयोग के भंग हो जाने का कारण यह नहीं था कि हमारे "मित्र" बाद में चलकर पूंजीवादी-जनवादी साबित हुए। इसके विपरीत, जहां तक सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के जनवादी कार्यों का सम्बंध है, जिनका महत्व रूस की वर्तमान स्थिति के कारण बढ़ जाता है, पूंजीवादी-जनवादी धारा के प्रतिनिधि सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के स्वाभाविक और वांछनीय मित्र हैं। परन्तु इस प्रकार के सहयोग की एक आवश्यक शर्त यह होना चाहिए कि समाजवादियों को मज़दूर वर्ग को यह बताने का पूर्ण अवसर रहे कि उसके हित पूंजीपति वर्ग के हितों के एकदम विरुद्ध हैं। परन्तु बर्न्सटीनवादियों और "आलोचकों" की धारा ने, जिसकी ओर अधिकतर क़ानूनी मार्क्सवादियों का झुकाव था, समाजवादियों को यह अवसर नहीं दिया, उन लोगों ने मार्क्सवाद को तोड़ा-मरोड़ा, इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि सामाजिक विरोध कम होते जा रहे हैं, यह ऐलान कर दिया कि सामाजिक क्रान्ति तथा मज़दूर वर्ग के अधिनायकत्व का विचार बिल्कुल बेहूदा है, मज़दूर वर्ग के आन्दोलन तथा वर्ग-संघर्ष को संकुचित ट्रेड-यूनियन आन्दोलन तथा छोटे-छोटे, धीरे-धीरे होनेवाले सुधारों के लिए चलनेवाले "यथार्थवादी" संघर्ष में बदल डाला, और इस तरह उन्होंने समाजवादी चेतना को भ्रष्ट कर दिया। यह तो ऐसी बात थी मानो पूंजीवादी जनवाद ने समाजवाद से उसकी स्वतंत्रता का, और फलस्वरूप उसका जीवित रहने का अधिकार छीन लिया हो; व्यवहार में इसका यह मतलब था कि मज़दूर वर्ग के नवजात आन्दोलन को उदारपंथियों का पुछल्ला बनाने की कोशिश हो रही थी।

स्वाभाविक है कि ऐसी परिस्थिति में सहयोग का भंग होना आवश्यक था। परन्तु रूस की "ख़ास" विशेषता इस बात में प्रकट हुई कि इस सहयोग के टूटने का परिणाम केवल यह हुआ कि "क़ानूनी" साहित्य के क्षेत्र से, जिसका बहुत प्रचार था और जो सबसे ज़्यादा हद तक जनता की पहुंच के अन्दर था, सामाजिक-जनवादियों का सफ़ाया हो गया। इस साहित्य में अब वे "भूतपूर्व मार्क्सवादी" जम गये जिन्होंने "आलोचना" का झंडा उठा लिया था और जिन्हें अब मार्क्सवाद

को "ध्वंस करने" का मानो एकाधिकार मिल गया था। तुरन्त ही ऐसे नारों का फ़ैशन चालू हो गया : "कट्टरता मुर्दाबाद!" और "आलोचना की स्वतंत्रता ज़िन्दाबाद!" (अब जिन्हें 'राबोचेये देलो' दुहरा रहा है) और यह बात कि सरकारी सेंसर तथा राजनीतिक पुलिसवाले भी इस नये फ़ैशन के मुकाबले में खड़े न रह सके इससे स्पष्ट हो जाती है कि बर्न्सटीन की प्रसिद्ध पुस्तक[110] (हेरोस्ट्रेटस के अर्थ में प्रसिद्ध) के अभी तक **तीन** रूसी संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, और इसका सबूत यह भी है कि बर्न्सटीन, श्री प्रोकोपोविच और दूसरों की पुस्तकों की ज़ुबातोव[111] ने सिफ़ारिश की थी ('ईस्क्रा', अंक १०)। अब सामाजिक-जनवादियों पर एक ऐसी ज़िम्मेदारी आ गयी थी जो स्वयं भी काफ़ी कठिन थी, और जिसे हर तरह की बाहरी रुकावटों ने और कठिन बना दिया था, यह थी एक नयी धारा से लड़ने की ज़िम्मेदारी। और इस धारा ने अपने आपको केवल साहित्य के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा था। "आलोचना" की ओर जो झुकाव देखा जा रहा था, उसके साथ-साथ सामाजिक-जनवाद के अमली कार्यकर्ताओं में "अर्थवाद" की ओर झुकने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो गयी।

क़ानूनी आलोचना और ग़ैर-क़ानूनी "अर्थवाद" का आपस का सम्बंध किस तरह पैदा हुआ और वे कैसे एक-दूसरे पर अधिकाधिक निर्भर होते गये, यह खुद अपने में एक दिलचस्प सवाल है और इस पर अलग से एक ख़ास लेख लिखा जा सकता है। यहां केवल इतना समझ लेना काफ़ी होगा कि यह सम्बंध बिला शक मौजूद था। 'क्रीडो' ने जो कुख्याति प्राप्त की थी, वह उसका अधिकारी था; और उसका कारण यह था कि 'क्रीडो' में बहुत सफ़ाई के साथ इस सम्बंध को बताया गया था और "अर्थवाद" की मूल राजनीतिक प्रवृत्ति को बिल्कुल साफ़ तरीक़े से बयान कर दिया था, वह प्रवृत्ति यह थी कि मज़दूरों को आर्थिक संघर्ष (ट्रेड-यूनियन संघर्ष कहना ज्यादा सही होगा, क्योंकि मज़दूर वर्ग की ख़ास राजनीति भी उसमें आ जाती है) चलाने दो, और मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों को चाहिए कि राजनीतिक "संघर्ष" चलाने के लिए वे उदारपंथियों के साथ मिल जायें। इस प्रकार, इस सूत्र के पहले अंश को पूरा करने के लिए "जनता के बीच" ट्रेड-यूनियनवादी काम किया जाता था और दूसरे अंश को कार्यान्वित करने के लिए क़ानूनी आलोचना की जाती थी। यह वक्तव्य "अर्थवाद" के विरुद्ध

एक ऐसा अच्छा हथियार बन गया कि यदि 'क्रीडो' न भी होता, तो शायद उसको गढ़ डालना भी उपयोगी साबित होता।

गोकि 'क्रीडो' को किसी ने गढ़कर तैयार नहीं किया था, लेकिन उसके लेखकों से इजाज़त लिए बिना और यहां तक कि शायद उनकी मर्जी के ख़िलाफ़ उसे प्रकाशित अवश्य किया गया था। कुछ भी हो, इस पुस्तक के लेखक ने, जिसने नये "कार्यक्रम" को प्रकाश में लाने में* योग दिया था, ये शिकायतें और उलहने अक्सर सुने हैं कि भाषणों की रिपोर्टों को 'क्रीडो' नाम देकर बांटा गया था और यहां तक कि विरोधियों के वक्तव्य के साथ उसे अख़बारों में भी प्रकाशित कर दिया गया था। हम इस घटना का ज़िक्र इसलिए कर रहे हैं कि उससे "अर्थवादियों" की एक बहुत ख़ास विशेषता पर प्रकाश पड़ता है, यानी इस बात से डरना कि उनके बारे में आम लोगों में प्रचार हो। यह बात केवल 'क्रीडो' के लेखकों के बारे में ही सच नहीं है, सभी "अर्थवादियों" का यही हाल है। "अर्थवाद" का वह सबसे अधिक स्पष्ट वक्ता और ईमानदार प्रचारक 'राबोचाया मीस्ल', 'राबोचेये देलो' (जो «*Vademecum*»[114] में "अर्थवादी" दस्तावेज़ों के प्रकाशन पर बहुत नाराज़ हुआ था) और कीयेव समिति, जिसने दो साल पहले अपने «Profession de foi»[115] वक्तव्य को एक विरोधी वक्तव्य के साथ नहीं छपने दिया था**, और "अर्थवाद" के बहुत-से दूसरे प्रतिनिधि इस बात को प्रमाणित कर चुके हैं।

आलोचना की स्वतंत्रता के समर्थक आलोचना से इतना क्यों डरते हैं, इसकी वजह सिर्फ़ उनकी चालाकी ही नहीं हो सकती (हालांकि कभी-कभी चालाकी का भी निस्संदेह उससे कुछ सम्बंध होता है: सोचा जाता है कि नयी धारा के

---

*यह इशारा 'क्रीडो' के विरुद्ध **सत्रह व्यक्तियों के प्रतिवाद** की ओर है। इस प्रतिवाद को तैयार करने में इस पुस्तक के लेखक ने भी भाग लिया था (१८९९ के अन्त में)[112]। यह प्रतिवाद और 'क्रीडो' १९०० के वसन्त में विदेश से प्रकाशित हुए थे। श्रीमती कुस्कोवा ने, शायद 'बिलोये'[113] में, जो लेख लिखा है, उससे अब यह बात स्पष्ट हो गयी है कि 'क्रीडो' की लेखिका वही थीं और उस समय विदेशों में रहनेवाले "अर्थवादियों" में श्री प्रोकोपोविच का बहुत प्रमुख स्थान था।

**जहां तक हमारी जानकारी है, कीयेव समिति की रचना उस समय से बदल गयी है।

नवजात और अभी बहुत निर्बल अंकुरों को विरोधियों के थपेड़ों से बचाकर न रखना बुद्धिमानी की बात नहीं होगी)। नहीं, अधिकतर "अर्थवादी" सचमुच दिली तौर पर हर तरह की सैद्धान्तिक बहसों, गुटों के मतभेदों, आम राजनीतिक सवालों, क्रान्तिकारियों का संगठन करने की योजनाओं, आदि को ग़लत समझते हैं (और "अर्थवाद" की प्रकृति ही ऐसी है कि उनको ऐसा समझना चाहिए)। "अरे, इन सब पचड़ों को विदेशों में पड़े हुए लोगों के लिए छोड़ो!" – एक बहुत सुसंगत "अर्थवादी" ने एक दिन मुझ से यह कहा था, और इस प्रकार एक बहुत प्रचलित (और सौ फ़ीसदी ट्रेड-यूनियनवादी) मत को व्यक्त किया था: उसने कहा कि हमारा काम मज़दूर आन्दोलन में, यहां अपने इलाक़ों के मज़दूर संगठनों में है; और बाक़ी चीज़ें मनगढ़न्त बातें हैं, ये 'राबोचेये देलो' के अंक १० में प्रकाशित हुए भावों के प्रतिध्वनित करनेवाले उस पत्र के लेखकों के शब्दों में, जो 'ईस्क्रा' के अंक १२ में प्रकाशित हुआ था, "विचारधारा के महत्व को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताने" की बातें हैं।

अब यह सवाल उठता है: रूसी "आलोचना" तथा रूसी बर्न्सटीनवाद की इन ख़ास विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए उन लोगों का क्या कर्तव्य होना चाहिए था जो केवल ज़बानी तौर पर नहीं, बल्कि असली तौर पर अवसरवाद का विरोध करना चाहते थे? सबसे पहले, उन्हें उस सैद्धान्तिक काम को फिर से जारी करने का प्रयत्न करना चाहिए था जो क़ानूनी मार्क्सवाद के काल में शुरू ही हुआ था और जिसकी ज़िम्मेदारी अब फिर ग़ैर-क़ानूनी कार्यकर्ताओं के कंधों पर आ पड़ी थी। बिना इस काम को किये आन्दोलन का सफलतापूर्वक उन्नति कर पाना असम्भव था। दूसरे, उन्हें उस क़ानूनी "आलोचना" का सक्रिय रूप से मुक़ाबला करना चाहिए था जो जनता के दिमाग़ को बहुत अधिक भ्रष्ट किये डाल रही थी। तीसरे, उन्हें व्यावहारिक आन्दोलन में फैले हुए मति-भ्रम और ढुलमुलपन का सक्रिय विरोध करना चाहिए था और अपने कार्यक्रम तथा कार्यनीति के स्तर को नीचे गिराने के हर सचेतन अथवा अचेतन प्रयत्न का भंडाफोड़ तथा खंडन करना चाहिए था।

सब जानते हैं कि 'राबोचेये देलो' ने इनमें से एक भी काम नहीं किया, और आगे हम इस सुविदित तथ्य के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से विचार करेंगे। परन्तु, इस समय हम केवल यह दिखाना चाहते हैं कि "आलोचना की स्वतंत्रता"

की मांग में और हमारी देशी आलोचना तथा रूसी "अर्थवाद" की ख़ास विशेषताओं में कितना बड़ा विरोध है। ज़रा उस प्रस्ताव के शब्दों पर एक नज़र डालिये जिसमें विदेशों में रहनेवाले रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ ने 'राबोचेये देलो' के दृष्टिकोण का समर्थन किया था।

> "सामाजिक-जनवाद के और अधिक सैद्धान्तिक विकास के लिए हम यह नितान्त आवश्यक समझते हैं कि जिस हद तक कोई आलोचना सामाजिक-जनवादी सिद्धान्त के वर्गीय एवं क्रान्तिकारी स्वरूप के ख़िलाफ़ नहीं जाती, उस हद तक पार्टी साहित्य में इस सिद्धान्त की आलोचना करने की स्वतंत्रता रहनी चाहिए।" ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ १०।)

और इस मत के पक्ष में दलीलें क्या दी जाती हैं? प्रस्ताव का "पहला भाग लूबेक पार्टी कांग्रेस के बर्न्सटीन सम्बंधी प्रस्ताव से मिलता है"... इन "संघ वालों" ने अपने भोलेपन में यह भी नहीं देखा कि इस तरह के नक़लचीपन के द्वारा उन्होंने कितने स्पष्ट रूप में ख़ुद अपने testimonium paupertatis (विचार-दारिद्र्य) को ज़ाहिर किया है!.. "लेकिन... अपने दूसरे भाग में यह प्रस्ताव आलोचना की स्वतंत्रता को उससे कहीं अधिक सीमित कर देता है जितना लूबेक पार्टी कांग्रेस ने किया था।"

तो क्या 'संघ' का प्रस्ताव रूसी बर्न्सटीनवादियों के ख़िलाफ़ था? यदि नहीं, तो लूबेक पार्टी कांग्रेस का ज़िक्र करना बिल्कुल बेहूदा बात है! परन्तु यह कहना सच नहीं है कि वह "आलोचना की स्वतंत्रता को सीमित कर देता है"। अपना हैनोवर वाला प्रस्ताव पास करके जर्मनों ने एक-एक करके **उन तमाम** संशोधनों को ठुकरा दिया था जिन्हें बर्न्सटीन ने पेश किया था, और अपने लूबेक वाले प्रस्ताव में उन्होंने **बर्न्सटीन** का नाम लेकर उसे **व्यक्तिगत** रूप से चेतावनी दी थी। परन्तु हमारे ये "स्वतंत्र" नक़लची **एक बार भी** रूसी "आलोचना" तथा रूसी "अर्थवाद" की **एक भी** अभिव्यक्ति की ओर इशारा नहीं करते, और उनका ऐसा न करके महज़ सिद्धान्त के वर्गीय एवं क्रान्तिकारी स्वरूप की चर्चा करना प्रस्ताव को तोड़ने-मरोड़ने के लिए और भी ज़्यादा मौक़ा देता है, ख़ास तौर पर ऐसी हालत में जब 'संघ' "तथाकथित अर्थवाद" और अवसरवाद को एक चीज़ मानने से इनकार करता है। ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ ८,

पैरा १।) पर यह सब तो हमने प्रसंगवश कहा। मुख्य बात ध्यान देने योग्य यह है कि रूस के क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों के प्रति अवसरवादियों का जो रुख़ है, वह जर्मनी के क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों के प्रति अवसरवादियों के रुख़ का ठीक उल्टा है। जैसा कि हम जानते हैं, जर्मनी के क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी, जो कुछ पहले से मौजूद है उसको, यानी उस पुराने कार्यक्रम और कार्यनीति को बरक़रार रखना चाहते हैं, जिसका कि समस्त जनता में प्रचार हो चुका है और कई दशकों का अनुभव जिसका पूरे बिस्तार के साथ स्पष्टीकरण कर चुका है। "आलोचक" परिवर्तन करना चाहते हैं, और चूंकि इन आलोचकों के साथ एक बहुत ही छोटा अल्पमत है, और चूंकि ये लोग अपने संशोधनवादी प्रयत्नों में भी बहुत घबराते और सकुचाते रहते हैं, इसलिए पार्टी के बहुमत ने यदि अपने आपको केवल इन "नयी बातों" को ठुकरा देने तक ही सीमित रखा, तो बात समझ में आती है। लेकिन रूस में, जो कुछ पहले से मौजूद है, उसे बरक़रार रखने के पक्ष में आलोचक तथा "अर्थवादी" हैं। "आलोचक" चाहते हैं कि हम उन्हें मार्क्सवादी समझते रहें और उन्हें "आलोचना की स्वतंत्रता" की गारंटी दें, जो उन्हें पूरी तौर से मिली हुई थी (क्योंकि, सच्ची बात यह है कि इन लोगों ने कभी भी किसी तरह के **पार्टी** सम्बंध को नहीं माना है*, और इसके अलावा हमारे यहां पार्टी की ऐसी कोई सर्वमान्य

---

* सार्वजनिक पार्टी सम्बंधों और पार्टी परम्पराओं के अभाव से ही रूस और जर्मनी में इतना बुनियादी अन्तर प्रकट होता है कि सभी बुद्धिमान समाजवादियों को आंखें बंद करके नक़ल करने से सावधान रहना चाहिए था। परन्तु रूस में "आलोचना की स्वतंत्रता" किस हद तक जाती है, उसकी एक मिसाल यहां दी जा सकती है। रूसी आलोचक श्री बुल्गाकोव ने आस्ट्रिया के आलोचक हेट्र्ज़ को डांटते हुए लिखा है : "हेट्र्ज़ कुछ स्वतंत्र परिणामों पर भी पहुंचे हैं, पर उसके बावजूद इस प्रश्न पर" (सहकारी समितियों के प्रश्न पर) "हेट्र्ज़ अपनी पार्टी के मत से बहुत ज़्यादा बंधे हुए नज़र आते हैं, और यद्यपि वह इस मत की कुछ तफ़सीली बातों से सहमत नहीं हैं, फिर भी वह उसके आम सिद्धान्त को त्यागने का साहस नहीं कर पाते।" ('पूंजीवाद और कृषि', खंड २, पृष्ठ २८७) राजनीतिक दृष्टि से दासता के बंधनों में जकड़े हुए एक ऐसे राज्य का एक नागरिक, जिसकी आबादी के हज़ार में से नौ सौ निनानवे लोगों को

संस्था कभी नहीं रही है जो अपनी सलाह देकर ही आलोचना की स्वतंत्रता को "कम" कर सकती); "अर्थवादी" चाहते हैं कि क्रान्तिकारी "वर्तमान आन्दोलन की सम्पूर्ण सत्ता" को स्वीकार करें ('राबोचेये देलो', अंक १०, पृष्ठ २५), अर्थात् जो कुछ मौजूद है उसकी वैधता को मानें; वे चाहते हैं कि "विचारधारा पर ज़ोर देनेवाले लोग" आन्दोलन को उस मार्ग से न "हटायें" जिस मार्ग को "भौतिक तत्वों और भौतिक वातावरण की परस्पर क्रिया ने निर्धारित किया है"। ('ईस्क्रा' के अंक १२ में प्रकाशित "पत्र"); वे चाहते हैं कि उसी संघर्ष को मान्यता दी जाये "जो मज़दूरों के लिए वर्तमान परिस्थितियों में सचमुच थोड़ा-बहुत सम्भव है," और एकमात्र सम्भव संघर्ष उस संघर्ष को माना जाये "जिसे वे आजकल सचमुच चला रहे हैं"। ("'राबोचाया मीस्ल' का विशेष क्रोड़पत्र", पृष्ठ १४)। इसके विपरीत, हम क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी स्वयं-स्फूर्ति की पूजा करने, यानी जो कुछ "इस समय" मौजूद है उसकी पूजा करने की इस प्रवृत्ति से असंतुष्ट हैं; हम मांग करते हैं कि पिछले कुछ बरसों से जिस कार्यनीति का चलन रहा है, उसे बदलना चाहिए; हम ऐलान करते हैं कि "संयुक्त होने के पहले और संयुक्त होने के लिए ज़रूरी है कि हम सबसे पहले अपने मतभेदों को स्पष्ट रूप से इंगित करनेवाली मज़बूत और निश्चित रेखाएं खींच दें"। (देखिये 'ईस्क्रा' के प्रकाशन की घोषणा।) सारांश यह कि जर्मन उसके समर्थक हैं जो कुछ पहले से मौजूद है और वे उसमें कोई परिवर्तन नहीं चाहते, और हम परिवर्तनों की मांग करते हैं और जो कुछ पहले से मौजूद है, उसकी दासता स्वीकार करने या उससे समझौता करने से हम इनकार करते हैं।

जर्मन प्रस्तावों के हमारे "स्वतंत्र" नक़लचियों ने इस "छोटे" से अन्तर को नहीं देखा है।

राजनीतिक दासता ने हृदय के अन्तरतम तक भ्रष्ट कर दिया है और जिन्हें पार्टी सम्मान और पार्टी सम्बंधों का ज़रा-सा भी ज्ञान नहीं है—ऐसे राज्य का एक नागरिक बड़े तिरस्कार के साथ एक सांविधानिक राज्य के नागरिक को इसलिए डांट रहा है कि वह "अपनी पार्टी के मत से बहुत ज़्यादा बंधा हुआ है!" ज़ाहिर है कि हमारे ग़ैर-क़ानूनी संगठनों के पास इसके सिवा और कोई काम नहीं है कि आलोचना की स्वतंत्रता के विषय में प्रस्ताव तैयार करते रहें...

(घ) सैद्धान्तिक संघर्ष के महत्व पर एंगेल्स के विचार

"आलोचना की स्वतंत्रता" के वीर रक्षकों ने 'राबोचेये देलो' के कालमों में जिन शत्रुओं के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए हथियार उठाये हैं, वे ये हैं: "रूढ़िवाद, मतवाद", "पार्टी में जड़ता का पैदा हो जाना – जो विचारों को ज़बर्दस्ती ज़ंजीरों में जकड़ने का अवश्यम्भावी दंड है।" हमें बहुत ख़ुशी है कि ये सवाल आज बहस के लिए उठाये गये हैं और हम उनके साथ केवल एक सवाल और जोड़ना चाहेंगे। वह सवाल यह है:

इसका निर्णय करेंगे कौन?

हमारे सामने प्रकाशकों के दो ऐलान पड़े हुए हैं। एक है: "रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ के सामयिक मुखपत्र 'राबोचेये देलो' का कार्यक्रम" ('राबोचेये देलो' के अंक १ से मुद्रित), और दूसरा "'श्रम मुक्ति' दल के प्रकाशन कार्य को फिर से शुरू करने की घोषणा" है। दोनों पर १८९९ की तारीख़ पड़ी है। यह वह समय था जब "मार्क्सवाद के संकट" पर बहस चलते हुए काफ़ी वक़्त बीत चुका था। और इन दोनों ऐलानों में हम क्या पाते हैं? पहले ऐलान में चाहे जितना तलाश कीजिये, पर आपको इस घटना का कोई ज़िक्र नहीं मिलेगा, न निश्चित रूप से यह बताया गया है कि इस सवाल पर यह नया मुखपत्र क्या रुख़ अपनानेवाला है। न तो इस कार्यक्रम में और न उन अनुपूरकों में जो 'संघ' की तीसरी कांग्रेस में १९०१[116] में स्वीकार किये गये थे, ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ १५-१८) सैद्धान्तिक कार्यों तथा उन आवश्यक समस्याओं के बारे में, जो इस समय उसके सामने हैं, एक शब्द भी नहीं कहा गया है। सैद्धान्तिक प्रश्नों ने यद्यपि इस काल में सारे संसार के सामाजिक-जनवादियों के दिमाग़ों के अन्दर हलचल पैदा कर रखी थी, पर उसके बावजूद 'राबोचेये देलो' का सम्पादक-मंडल इन प्रश्नों की सदा अवहेलना करता रहा है।

इसके विपरीत, दूसरा ऐलान सबसे पहले यह कहता है कि कुछ वर्षों से सिद्धान्त के प्रश्नों में बहुत कम दिलचस्पी ली जा रही है; वह ज़ोर देकर मांग करता है कि "सर्वहारा वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन के सैद्धान्तिक पहलू की ओर सतर्कता के साथ ध्यान दिया जाये" और हमारे आन्दोलन में पायी

जानेवाली "बर्न्सटीनवादी तथा अन्य क्रान्ति-विरोधी प्रवृत्तियों की निर्मम आलोचना" की जाये। 'ज़ार्या' के अभी तक जो अंक प्रकाशित हुए हैं उनसे पता चलता है कि इस कार्यक्रम पर किस तरह अमल किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विचारों में जड़ता आ जाने आदि के विरुद्ध जो लम्बी-चौड़ी बातें की गयी हैं, उनके पीछे सैद्धान्तिक विचारों के विकास के प्रति उदासीनता का रुख़ तथा इस क्षेत्र में घोर अकर्मण्यता छिपी हुई है। रूसी सामाजिक-जनवादियों के उदाहरण से वह बात विशेष रूप से स्पष्ट हो जाती है जो पूरे यूरोप में देखी गयी थी (और जिसे जर्मन मार्क्सवादियों ने भी बहुत दिन हुए देख लिया था) – यह कि जिस आलोचना की स्वतंत्रता का इतना शोर है, उसका मतलब एक सिद्धान्त की जगह पर दूसरे सिद्धान्त की स्थापना करना नहीं, बल्कि किसी भी तरह के सोच-समझकर माने गये तथा अविभाज्य सिद्धान्त से छुटकारा पा जाना होता है; उसका मतलब होता है कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा जमा करके कुनबा जोड़ना; उसका मतलब होता है सिद्धान्तहीनता। जिनको हमारे आन्दोलन की वास्तविक स्थिति की थोड़ी-सी भी जानकारी है, उनके लिए इस सत्य को न देखना असंभव है कि मार्क्सवाद के व्यापक प्रचार के साथ-साथ आन्दोलन का सैद्धान्तिक स्तर कुछ नीचा हो गया था। काफ़ी संख्या में ऐसे लोग, जिनको बहुत कम सैद्धान्तिक शिक्षा मिली थी या जिनको ज़रा भी शिक्षा नहीं मिली थी, आन्दोलन के व्यावहारिक महत्व तथा उसकी व्यावहारिक सफलताओं को देखकर उसमें शामिल हो गये थे। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब 'राबोचेये देलो' जीत की मुद्रा के साथ मार्क्स का यह कथन उद्धृत करता है कि "वास्तविक आन्दोलन का हर क़दम एक दर्जन कार्यक्रमों से अधिक महत्वपूर्ण होता है," तब वह कितनी व्यवहारहीनता का काम करता है। सैद्धान्तिक अव्यवस्था के काल में इन शब्दों को दुहराना किसी की अन्तिम क्रिया के समय शोक मनानेवालों से यह कहने के समान है कि "भगवान करे, यह दिन आपके लिए बार-बार आये!" इसके अलावा, मार्क्स के ये शब्द गोथा कार्यक्रम[117] सम्बंधी उनके उस पत्र से लिये गये हैं जिसमें उन्होंने सिद्धान्तों की स्थापना करने में कहीं की ईंट और कहीं का रोड़ा जमा करने की प्रवृत्ति की **तीव्र निन्दा की है**। मार्क्स ने पार्टी के नेताओं को लिखा था कि यदि आप लोग संयुक्त होना ही चाहते हैं तो आन्दोलन के व्यावहारिक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए समझौते

कीजिये, पर उसूलों के सवाल पर कभी कोई सौदेबाज़ी मत होने दीजिये, सिद्धान्तों के सवाल पर कोई "रिग्रायत" मत कीजिये। यह था मार्क्स का विचार, लेकिन फिर भी हमारे बीच ऐसे लोग हैं जो उनके नाम की ग्राड़ में सिद्धान्त के महत्व को कम करने की कोशिश कर रहे हैं!

क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बिना कोई क्रान्तिकारी ग्रान्दोलन नहीं हो सकता। इस समय सिद्धान्त पर जितना भी ज़ोर दिया जाये थोड़ा है, क्योंकि ग्राजकल ग्रवसरवाद के उपदेश देना फ़ैशन-सा बन गया है ग्रौर उसके साथ-साथ व्यावहारिक काम के ग्रत्यन्त संकुचित रूपों से लोगों को मोह हो गया है। ग्रौर फिर, रूसी सामाजिक जनवादियों के लिए तो तीन ग्रन्य कारणों से सिद्धान्त का महत्व ख़ास तौर पर बढ़ जाता है गोकि इन कारणों को लोग ग्रक्सर भूल जाते हैं: पहला कारण यह है कि हमारी पार्टी ग्रभी बन ही रही है, उसकी रूपरेखा ग्रभी तैयार ही हो रही है, ग्रौर ग्रभी तक वह क्रान्तिकारी विचारधारा की उन दूसरी प्रवृत्तियों से निपट नहीं पायी है, जिनसे यह ख़तरा है कि वे ग्रान्दोलन को सही मार्ग से हटा देंगी। इसके विपरीत, ग्रभी हाल में ही ग़ैर-सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारी विचारधाराग्रों में नये सिरे से जान पड़ गयी है (ग्रक्सेलरोद ने बहुत पहले "ग्रर्थवादियों" को ग्रागाह किया था कि यह होनेवाला है)[118]। ऐसी हालत में, जो पहली बार देखने में एक "महत्वहीन" ग़लती मालूम पड़ती है, वह ग्रागे चलकर बहुत शोचनीय परिणाम पैदा कर सकती है, ग्रौर गुटों के झगड़ों को तथा विभिन्न विचारधाराग्रों में सख़्ती के साथ फ़र्क़ करने को केवल बहुत ग्रदूरदर्शी लोग ही ग्रसामयिक या बेकार की चीज़ समझ सकते हैं। रूसी सामाजिक-जनवादी ग्रान्दोलन का ग्रानेवाले एक बहुत ही लम्बे काल में क्या भविष्य होगा, यह इस बात पर निर्भर कर सकता है कि ग्राज उसमें कौनसी "धारा" ज़ोर पकड़ती है।

दूसरे, सामाजिक-जनवादी ग्रान्दोलन सारतः एक ग्रन्तर्राष्ट्रीय ग्रान्दोलन है। इसका मतलब न सिर्फ़ यह है कि हमें जातीय ग्रंधराष्ट्रवाद का मुक़ाबला करना चाहिए, बल्कि इसका मतलब यह भी है कि एक नये देश में शुरू होनेवाला ग्रान्दोलन केवल उसी हालत में सफल हो सकता है जब वह दूसरे देशों के ग्रनुभव का उपयोग करे। ग्रौर इस ग्रनुभव का उपयोग करने के लिए केवल उसकी जानकारी रखना या नवीनतम प्रस्तावों की नक़ल कर लेना ही काफ़ी नहीं है। इसके लिए ज़रूरत इस बात की है कि इस ग्रनुभव को ग्रालोचनात्मक दृष्टि से ग्रंगीकार किया

जाये और उसे स्वतंत्र रूप से परखा जाये। आधुनिक मज़दूर आन्दोलन कितना बढ़ चुका है और कितनी शाखा-प्रशाखाओं में फैल चुका है, इसका जिसे थोड़ा भी ज्ञान है, वह यह भली भांति समझ सकेगा कि इस काम को पूरा करने के लिए सैद्धान्तिक शक्तियों तथा राजनीतिक (और साथ ही क्रान्तिकारी) अनुभव के कितने विशाल संचित कोष की आवश्यकता है।

तीसरे, रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के सामने जैसे राष्ट्रीय कार्य हैं, वैसे कार्य आज तक संसार की किसी समाजवादी पार्टी को नहीं करने पड़े थे। समस्त जनता को एकतंत्री शासन के जुए से मुक्त करने के लिए हमें जिन राजनीतिक तथा संगठनात्मक ज़िम्मेदारियों को पूरा करना पड़ेगा, उनपर विचार करने का हमें आगे अवसर मिलेगा। यहां हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि **सबसे आगे बढ़कर लड़नेवाली शक्ति की भूमिका केवल वही पार्टी पूरी तरह अदा कर सकती है जिसका पथप्रदर्शन सबसे उन्नत सिद्धान्त करता हो**। इस बात का ठोस मतलब समझने के लिए पाठक हर्ज़ेन, बेलींस्की, चेर्निशेव्स्की तथा गत शताब्दी के आठवें दशक के उन विलक्षण क्रान्तिकारियों की याद करें जो रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के पूर्वज थे, वे सोचें कि आज रूसी साहित्य सारे संसार के लिए कितना बड़ा महत्व प्राप्त करता जा रहा है, वे... लेकिन इतना काफ़ी है।

सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में सिद्धान्त के महत्व के विषय पर हमें एंगेल्स की वह बात उद्धृत करने की अनुमति दीजिये जो उन्होंने १८७४ में कही थी। एंगेल्स की राय में सामाजिक-जनवाद के महान संघर्ष के **दो रूप** (राजनीतिक और आर्थिक) **नहीं** हैं, जैसा कि हम लोगों में समझने का फ़ैशन चल गया है, **बल्कि उसके तीन रूप हैं, और एंगेल्स सैद्धान्तिक संघर्ष को पहले दो रूपों जितना ही महत्व देते हैं**। उन्होंने जर्मन मज़दूर आन्दोलन को, जो व्यावहारिक तथा राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली बन गया था, जो परामर्श दिया था, वह हमारी आजकल की समस्याओं और बहस के सवालों के दृष्टिकोण से इतना लाभदायक है कि हमें आशा है कि एंगेल्स की रचना *«Der deutsche Bauernkrieg»** के प्राक्कथन से,

---

* Dritter Abdruck. Leipzig, 1875. *Verlag der Genossenschaftsbuchdruckerei*. ('जर्मनी में किसान-युद्ध', तीसरा संस्करण, सहकारी प्रकाशक, लीपज़िग, १८७५।—सं०)

जो बहुत दिनों से एक अप्राप्य पुस्तक बन गयी है, एक लम्बा उद्धरण देने के कारण पाठक हमसे नाराज़ नहीं होंगे।

"जर्मन मज़दूरों को बाक़ी यूरोप के मुक़ाबले में दो बातों का बहुत फ़ायदा है। पहली बात यह है कि वे यूरोप के सबसे अधिक सिद्धान्त-प्रेमी लोगों में से हैं, और उन्होंने सिद्धान्त के महत्व की उस समझ को जीवित रखा है जो जर्मनी के तथाकथित "शिक्षित" वर्गों में लगभग एकदम मर चुकी है। संसार में अभी तक केवल एक वैज्ञानिक समाजवाद हुआ है, यानी जर्मन वैज्ञानिक समाजवाद, और वह कभी अस्तित्व में न आता यदि उसके पहले जर्मन दर्शन, विशेषकर हेगेल का दर्शन, न पैदा हो चुका होता। मज़दूरों में यदि सिद्धान्त की समझ न होती तो यह वैज्ञानिक समाजवाद उनकी नस-नस में उस तरह कभी न समा पाता जिस तरह वह आज समा गया है। इससे कितना बेहिसाब फ़ायदा हुआ है, इसका अन्दाज़ा एक तरफ़ तो इस बात से लगाया जा सकता है कि अंग्रेज़ मज़दूरों का आन्दोलन यदि अलग-अलग यूनियनों के शानदार संगठन के बावजूद इतने धीरे-धीरे रेंगता हुआ बढ़ रहा है, तो उसका एक मुख्य कारण हर प्रकार के सिद्धान्तों के प्रति अंग्रेज़ मज़दूरों की उदासीनता है; दूसरी तरफ़, इसका अन्दाज़ा इस बात से भी लगाया जा सकता है कि प्रूदोंवाद ने अपने मूल रूप में फ़ांसीसी और बेल्जियन मज़दूरों के बीच, तथा बकूनिन के हाथों और भी बिगड़ा हुआ रूप प्राप्त कर लेने के बाद स्पेन और इटली के मज़दूरों के बीच बहुत भ्रम और गड़बड़ी फैला दी थी।

"जर्मन मज़दूरों को दूसरे इस बात से फ़ायदा हुआ है कि यदि काल-क्रम के अनुसार देखा जाये तो वे मज़दूरों के आन्दोलन में सबसे आख़िर में शामिल हुए हैं। जिस प्रकार जर्मनी का सैद्धान्तिक समाजवाद यह कभी नहीं भूल सकता कि वह सेंट-साइमन, फ़ूरियें तथा ओवेन के कंधों पर टिका हुआ है—और उनके तमाम ऊटपटांग विचारों और उनके समस्त कल्पनावाद के बावजूद इन तीन व्यक्तियों को तमाम युगों के महान विचारकों में गिना जायेगा, और उनकी विलक्षण प्रतिभा ने ऐसी कितनी ही बातों को पहले से ही देख लिया था जिनके औचित्य को अब हम वैज्ञानिक ढंग से प्रमाणित कर रहे हैं—उसी प्रकार जर्मन मज़दूरों के व्यावहारिक आन्दोलन को भी यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि वह अंग्रेज़ और फ़ांसीसी मज़दूरों के आन्दोलनों के कंधों पर बढ़ा और विकसित हुआ

है, इन आन्दोलनों ने बड़ी महंगी क़ीमत देकर जो अनुभव प्राप्त किया था, जर्मन आन्दोलन ने उससे केवल लाभ उठाया है, और वह अब उन ग़लतियों से बच सका है, जिनसे बचना उस समय प्रायः असम्भव ही था। ज़रा सोचिए कि यदि अंग्रेज़ ट्रेड-यूनियनों तथा फ़्रांसीसी मज़दूरों के राजनीतिक संघर्षों की पृष्ठभूमि हमारे पास न होती, ख़ास तौर पर यदि हमारे पास वह महान प्रेरणा न होती जो हमें पेरिस कम्यून से प्राप्त हुई है, तो आज हम कहां होते?

"जर्मन मज़दूरों की तारीफ़ में यह कहना पड़ेगा कि अपनी विशेष परिस्थिति का लाभ उठाने में उन्होंने असाधारण समझ का परिचय दिया है। जबसे मज़दूर वर्ग का आन्दोलन शुरू हुआ है, तबसे यह पहला मौक़ा है जब कि संघर्ष उसके तीनों समन्वित तथा परस्पर सम्बंधित पहलुओं से, अर्थात् सैद्धान्तिक, राजनीतिक तथा व्यावहारिक-आर्थिक (पूंजीपतियों का प्रतिरोध) पहलुओं से बड़े सुनियोजित ढंग से चलाया जा रहा है। जर्मन आन्दोलन का बल, उसकी अजेय शक्ति मानो इसी बात में, इसी चतुर्मुखी हमले में निहित है।

"एक ओर तो इस लाभदायक परिस्थिति के कारण, और दूसरी ओर इस कारण कि अंग्रेज़ मज़दूरों के आन्दोलन की ख़ास द्वीपीय विशेषताएं हैं, और फ़्रांसीसी मज़दूरों के आन्दोलन को बलपूर्वक कुचल दिया गया है—इन तमाम बातों के कारण फ़िलहाल जर्मन मज़दूरों को सर्वहारा वर्ग के संघर्ष की सबसे अगली पंक्ति में स्थान मिल गया है। घटना-चक्र उन्हें कितने दिन तक इस सम्मानप्रद स्थान पर रहने देगा, यह पहले से नहीं कहा जा सकता। परन्तु हमें आशा करनी चाहिए कि जब तक भी वे इस स्थान पर रहेंगे, तब तक वे उसके योग्य सिद्ध होंगे। इसके लिए आवश्यक है कि संघर्ष और आन्दोलन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने प्रयत्नों को दुगना ज़ोरदार बनाया जाये। ख़ास तौर से नेताओं पर इसकी ज़िम्मेदारी है कि वे सभी सैद्धान्तिक सवालों की दिन प्रति दिन अधिक स्पष्ट समझ प्राप्त करें, पुराने विश्व-दृष्टिकोण से विरासत के रूप में मिली परम्परागत शब्दावलियों के प्रभाव से अपने को अधिकाधिक मुक्त करें, और इस बात को सदा याद रखें कि समाजवाद चूंकि अब एक विज्ञान बन गया है, इसलिए ज़रूरी है कि एक विज्ञान के रूप में उसका अभ्यास किया जाये, यानी अध्ययन किया जाये। हमारा काम यह होगा कि इस प्रकार जो

अधिकाधिक स्पष्ट समझ हमें प्राप्त हो, हम उसे और भी ज़्यादा जोश से आम मज़दूरों के बीच फैलायें और पार्टी तथा ट्रेड-यूनियन, दोनों के संगठनों को अधिकाधिक मज़बूत बनाते और जमाते चलें...

"...यदि जर्मन मज़दूर इस ढंग से बढ़ेंगे तो वे आन्दोलन की सबसे आगेवाली पंक्ति में तो नहीं होंगे—और इस आन्दोलन के हित में यह क़तई ज़रूरी नहीं है कि किसी देश विशेष के मज़दूर उसकी अगली पंक्ति में हों—फिर भी संघर्ष के मैदान में उन्हें सदा सम्मान का स्थान मिलेगा, और जब कभी कोई कठिन और अप्रत्याशित परीक्षा की घड़ी आयेगी या असाधारण घटनाएं उनसे और अधिक साहस, दृढ़तर संकल्प तथा अधिक क्रियाशीलता की मांग करेंगी, तब वे अपने को संघर्ष में निहत्था नहीं पायेंगे।"

एंगेल्स के शब्द भविष्यवाणी सिद्ध हुए। चन्द साल के अन्दर ही समाजवाद-विरोधी क़ानून के रूप में जर्मन मज़दूरों के सामने बहुत कठिन परीक्षा की घड़ी आयी। और जर्मन मज़दूरों ने सचमुच पूरी तैयारी के साथ उसका मुक़ाबला किया और वे विजयी हुए।

रूसी सर्वहारा वर्ग को उससे कई-गुनी कठिन परीक्षाओं में से गुज़रना पड़ेगा, उसे एक ऐसे दैत्य से लड़ना पड़ेगा जिसकी तुलना में एक वैधानिक देश का समाजवाद-विरोधी क़ानून एक बौना मात्र लगता है। अब हमारे सामने इतिहास ने एक ऐसा तात्कालिक काम पेश किया है जो दूसरे किसी देश के मज़दूरों के सभी **तात्कालिक** कामों में **सबसे अधिक क्रान्तिकारी** काम है। इस काम को पूरा करके, यानी यूरोप के ही नहीं, बल्कि (अब यह बात कही जा सकती है) एशिया के भी प्रतिक्रियावाद के सबसे शक्तिशाली गढ़ को नष्ट करके रूसी मज़दूर वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग का अग्रदल बन जायेगा। हमारे पूर्वज—पिछली शताब्दी के आठवें दशक के क्रांतिकारी—यह सम्मानित स्थान प्राप्त कर चुके हैं। यदि हम आज के आन्दोलन में—जो उनके आन्दोलन से हज़ार गुना अधिक व्यापक व गहरा है—वही लगन तथा संकल्प और उत्साह फूंक सकें, तो हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि हम भी वही सम्मानित स्थान प्राप्त करने में सफल होंगे जो हमारे पूर्वजों ने प्राप्त किया था।

२

जनता की स्वयं-स्फूर्ति और सामाजिक-जनवादियों की चेतना

हम कह चुके हैं कि हमें अपने आन्दोलन में, जो पिछली शताब्दी के आठवें दशक के आन्दोलन से कहीं अधिक व्यापक और गहरा है, वही लगन तथा संकल्प और उत्साह पैदा करना चाहिए जो उस ज़माने के आन्दोलन में पाया जाता था। वस्तुतः, हमारे विचार से तो अभी तक किसी ने इस बात में सन्देह नहीं किया है कि आजकल के आन्दोलन की शक्ति जनता की (प्रधानतया, औद्योगिक मज़दूर वर्ग की) जागृति में निहित है, और उसकी कमज़ोरी यह है कि क्रान्तिकारी नेताओं में चेतना तथा पहलक़दमी का अभाव है।

परन्तु अभी हाल में एक अत्यन्त आश्चर्यजनक खोज हुई है, जो इस सवाल पर अभी तक जितने मत थे, उन सबको उखाड़ फेंकनेवाली है। यह खोज 'राबोचेये देलो' ने की है। 'ईस्क्रा' और 'ज़ार्या' के साथ बहस चलाते हुए 'राबोचेये देलो' ने अलग-अलग सवालों पर अपने एतराज़ बताने तक ही अपने को सीमित नहीं रखा, बल्कि "आम मतभेदों" का एक और गहरा कारण बताने की भी कोशिश की। उसने कहा कि इन मतभेदों का कारण यह है कि "स्वयं-स्फूर्त तथा सचेतन, 'पद्धतिबद्ध' तत्व के **तुलनात्मक** महत्व का अलग-अलग ढंग से मूल्यांकन किया जाता है"। 'राबोचेये देलो' ने विपक्षियों पर आरोप लगाया है कि वे "**विकास के वस्तुगत अथवा स्वयं-स्फूर्त तत्व के महत्व को कम करके आंकते हैं**"।* हम इसके जवाब में यह कहते हैं: यह स्थापना इतनी महत्वपूर्ण है और वह रूस के सामाजिक-जनवादियों के बीच आजकल पाये जानेवाले सैद्धान्तिक एवं राजनीतिक मतभेदों के सार-तत्व पर प्रकाश डालकर उसे इतना स्पष्ट कर देती है कि यदि 'ईस्क्रा' और 'ज़ार्या'

---

* 'राबोचेये देलो', अंक १०, सितम्बर १९०१, पृष्ठ १७-१८। (शब्दों पर ज़ोर 'राबोचेये देलो' का दिया हुआ है।)

के साथ चलनेवाली बहस से इससे ज़्यादा और कोई नतीजा नहीं निकला कि 'राबोचेये देलो' को इन "आम मतभेदों" की टोह लग गयी, तो भी अकेले इस परिणाम पर ही हमें बड़ा सन्तोष है।

इसी लिए, चेतना और स्वयं-स्फूर्ति के बीच क्या सम्बंध है, यह सवाल सभी लोगों के लिए इतनी भारी दिलचस्पी रखता है, और इसी लिए ज़रूरी है कि इस सवाल पर अधिक विस्तार से विचार किया जाये।

(क) स्वयं-स्फूर्त उठान की शुरूआत

पिछले अध्याय में हम इस बात का ज़िक्र कर चुके हैं कि गत शताब्दी के अन्तिम दशक के मध्य में रूस के पढ़े-लिखे नौजवान मार्क्सवाद के सिद्धान्तों में **आम पैमाने पर** किस तरह दिलचस्पी रखते थे। १८९६ में पीटर्सबर्ग के औद्योगिक संग्राम[119] के बाद जो हड़तालें हुईं, उन्होंने भी इसी प्रकार सर्वव्यापी रूप धारण कर लिया था। इस बात ने कि ये हड़तालें सारे रूस में फैल गयीं, इस चीज़ को बिलकुल साफ़ कर दिया कि नये उठते हुए जन-आन्दोलन की जड़ें कितनी गहरी थीं, और यदि हमें "स्वयं-स्फूर्त तत्व" की चर्चा करना है तो ज़ाहिर है कि सबसे पहले और सबसे ज़्यादा हमें इस आन्दोलन को स्वयं-स्फूर्त समझना होगा। परन्तु स्वयं-स्फूर्ति भी कई प्रकार की होती है। पिछली शताब्दी के आठवें और सातवें दशकों में (और यहां तक कि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में भी) रूस में हड़तालें हुई थीं और उनके साथ मशीनों, आदि को "स्वयं-स्फूर्त" ढंग से तोड़फोड़ डाला गया था। इन "उपद्रवों" की तुलना में दसवें दशक की हड़तालों को हम "सचेतन" भी कह सकते हैं, क्योंकि उनसे ज़ाहिर होता था कि उस काल में मज़दूर आन्दोलन ने कितनी भारी प्रगति कर डाली थी। इससे प्रकट होता है कि मूलतः "स्वयं-स्फूर्त तत्व" चेतना के **बीज-रूप** के सिवा और कुछ नहीं है। शुरू के उपद्रव भी किसी हद तक तो चेतना के उभार की ओर इंगित करते ही थे: जो व्यवस्था मज़दूरों का उत्पीड़न कर रही थी, उसके स्थायित्व में उनका परम्परागत विश्वास नष्ट होने लगा था। मैं यह तो नहीं कहूंगा कि मज़दूर उस समय सामूहिक प्रतिरोध की आवश्यकता को समझने लगे थे, पर वे उसे महसूस ज़रूर करने लगे थे... और

अपने से बड़ों के सामने गुलामों की तरह सिर झुका देने की आदत को तो उन्होंने निश्चय ही त्याग दिया था। फिर भी यह **संघर्ष** के रूप में उतना नहीं, जितना निराशा और प्रतिहिंसा के विस्फोटों के रूप में प्रकट होता था। दसवें दशक में होनेवाली हड़तालों में चेतना का भाग अधिक स्पष्ट था; उनमें निश्चित मांगें पेश की जाती थीं, सोच-विचारकर हड़तालों का समय तै किया जाता था, दूसरी जगहों की ज्ञात घटनाओं तथा अन्य उदाहरणों पर बहस की जाती थी, इत्यादि। उपद्रव जबकि पीड़ितों के विद्रोह मात्र थे, सुनियोजित हड़तालें बीज-रूप में वर्ग-संघर्ष का प्रतिनिधित्व करती थीं, पर केवल बीज-रूप में। अपने में ये हड़तालें महज़ ट्रेड-यूनियन संघर्षों की गिनती में आती थीं, और अभी सामाजिक-जनवादी संघर्षों का रूप धारण नहीं कर पायी थीं। वे इस बात का प्रमाण थीं कि मज़दूरों और मालिकों के बीच विरोध बढ़ रहा है, परन्तु अभी मज़दूरों में यह चेतना नहीं पैदा हुई थी और न हो सकती थी कि आधुनिक काल की पूरी राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवस्था और उनके हितों के बीच एक ऐसा विरोध है जो कभी दूर नहीं हो सकता, मतलब यह कि अभी तक उनकी चेतना सामाजिक-जनवादी चेतना नहीं थी। और इस अर्थ में दसवें दशक की हड़तालें, "उपद्रवों" की तुलना में बहुत उन्नति की सूचक होते हुए भी, शुद्धतः एक स्वयं-स्फूर्त आन्दोलन ही थीं।

हम कह चुके हैं कि मज़दूरों में सामाजिक-जनवादी चेतना का पैदा होना **अभी असम्भव था**। यह चेतना उनमें बाहर से ही लायी जा सकती थी। सभी देशों का इतिहास यह बताता है कि मज़दूर वर्ग, मात्र अपने प्रयत्नों से केवल ट्रेड-यूनियन चेतना पैदा करने में सफल होता है, यानी यह विश्वास पैदा कर पाता है कि यूनियनों के रूप में अपना संगठन करना, मालिकों से लड़ना और आवश्यक श्रम-क़ानून बनवाने के लिए सरकार पर दबाव डालना ज़रूरी है, इत्यादि।* परन्तु समाजवाद का सिद्धान्त उन दार्शनिक, ऐतिहासिक एवं आर्थिक

---

* ट्रेड-यूनियनवाद "राजनीति" से, जैसा कुछ लोग सोचते हैं, एकदम अलग नहीं रहता। कुछ राजनीतिक प्रचार और संघर्ष (पर सामाजिक-जनवादी नहीं) ट्रेड-यूनियनें हमेशा करती रहती हैं। ट्रेड-यूनियन राजनीति तथा सामाजिक-जनवादी राजनीति में क्या अन्तर है, इसे हम अगले अध्याय में बतायेंगे।

सिद्धान्तों से उत्पन्न हुआ है जिनका सम्पत्तिवान वर्गों के शिक्षित प्रतिनिधियों, यानी बुद्धिजीवियों ने प्रतिपादन किया था। आधुनिक वैज्ञानिक समाजवाद के संस्थापक स्वयं मार्क्स और एंगेल्स, अपनी सामाजिक हैसियत की दृष्टि से पूंजीवादी बुद्धिजीवी वर्ग के लोग थे। इसी प्रकार रूस में सामाजिक-जनवाद की सैद्धांतिक विचारधारा का जन्म मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के स्वयं-स्फूर्त विकास से बिल्कुल स्वतंत्र ढंग से हुआ है, उसका जन्म क्रान्तिकारी-समाजवादी बुद्धिजीवियों में विचारों के विकास के स्वाभाविक और अवश्यम्भावी परिणाम के रूप में हुआ। जिस ज़माने की हम चर्चा कर रहे हैं, यानी दसवें दशक के मध्य में, यह विचारधारा न केवल 'श्रम मुक्ति' दल के पूर्णतया स्थापित कार्यक्रम का प्रतिनिधित्व करती थी, बल्कि वह रूस के अधिकतर क्रान्तिकारी युवकों को भी अपनी ओर खींच चुकी थी।

अतएव, हमारे यहां दोनों चीज़ें थीं: आम मज़दूरों में स्वयं-स्फूर्त जागृति आ गयी थी, वे सचेतन जीवन और सचेतन संघर्ष की ओर मुड़ गये थे; और साथ ही क्रान्तिकारी युवक समुदाय सामाजिक-जनवादी सिद्धान्त ग्रहण करके मज़दूरों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए उत्सुक था। इस सम्बंध में यहां इस तथ्य को दुहराना विशेष महत्व रखता है कि इस ज़माने के शुरूआती सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ता **बड़ी लगन के साथ आर्थिक आन्दोलन चलाते थे** (और इस काम में 'आन्दोलन के सम्बंध में' नामक पुस्तिका में, जो उस वक्त तक हस्तलिखित रूप में ही मिलती थी, दी गयी उपयोगी हिदायतें उनका पथप्रदर्शन करती थीं); इस तथ्य को आजकल लोग अक्सर भुला देते हैं (और अपेक्षाकृत कम लोगों को उसकी जानकारी है)। परन्तु वे इसे ही अपना एकमात्र काम नहीं समझते थे। इसके विपरीत, वे **शुरू से ही** रूसी सामाजिक-जनवाद के व्यापकतम ऐतिहासिक कामों को, और ख़ास तौर पर एकतांत्रिक शासन का तख़्ता उलटने के काम को, सामने लाते थे। उदाहरण के लिए, सन् १८९५ के अन्तिम दिनों में ही सामाजिक-जनवादियों के पीटर्सबर्ग वाले दल ने, जिसने 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग'[120] की स्थापना की थी, 'राबोचेये देलो' नामक एक समाचारपत्र का पहला अंक तैयार किया था। यह अंक प्रेस में छपने के लिए जाने ही वाला था कि ८ दिसम्बर १८९५ की रात को पुलिसवालों ने दल के एक सदस्य अनातोली अलेक्सेयेविच

वानेयेव* के घर पर छापा मारकर उसे ज़ब्त कर लिया, और इस प्रकार मूल 'राबोचेये देलो' दिन का प्रकाश देखने से वंचित रह गया। इस अंक के सम्पादकीय लेख में (सम्भव है कि तीसेक बरस में कोई 'रूस्स्काया स्तारिना'[121] पुलिस विभाग के संग्रहालय से इस अंक को खोद निकाले) रूस में मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक कामों का वर्णन किया गया था, जिनमें राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने का काम सबसे महत्वपूर्ण समझा गया था। इस अंक में 'हमारे मंत्रिमंडल के सदस्य क्या सोच रहे हैं?' शीर्षक एक लेख भी था जिसमें इस बात की चर्चा की गयी थी कि पुलिस ने प्राथमिक शिक्षा समितियों को तोड़ डाला है। इसके अलावा, इसमें न केवल पीटर्सबर्ग की, बल्कि रूस के अन्य भागों से आयी कुछ चिट्ठियां भी थीं (मिसाल के लिए, एक चिट्ठी में यारोस्लाव्ल गुबर्निया में मज़दूरों के पीटे जाने[122] का समाचार था)। यदि हम ग़लती नहीं कर रहे हैं तो दसवें दशक के रूसी सामाजिक-जनवादियों का यह "पहला प्रयत्न" कोई संकुचित, स्थानीय पत्र नहीं था, और "आर्थिक" पत्र तो निश्चय ही नहीं था, बल्कि वह एक ऐसा पत्र था जो हड़ताल के आन्दोलन को एकतंत्र के विरुद्ध चलनेवाले क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ जोड़ना चाहता था, और उन तमाम लोगों को सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की तरफ़ खींच लाना चाहता था, जिन्हें प्रतिक्रियावाद की दक़ियानूसी ताक़तें सता रही थीं। उस काल के आन्दोलन की अवस्था का जिसे तनिक भी ज्ञान है, वह इस बात में शक नहीं कर सकता कि ऐसे समाचारपत्र का राजधानी के मज़दूरों और क्रान्तिकारी बुद्धि-जीवियों में हार्दिक स्वागत और काफ़ी प्रसार होता। किन्तु इस प्रयास की असफलता से केवल यही प्रकट होता है कि उस काल के सामाजिक-जनवादी अपने क्रान्तिकारी अनुभव तथा व्यावहारिक प्रशिक्षा में कमी के कारण समय की तात्कालिक ज़रूरतों को पूरा करने में असमर्थ थे। 'सेंट पीटर्सबर्ग राबोची

---

*अ० अ० वानेयेव को निर्वासन का दंड मिलने से पहले जेलख़ाने में एकांत कारावास के दौरान में तपेदिक हो गया और १८९९ में पूर्वी साइबेरिया में इसी रोग से उनकी मृत्यु हो गयी। इसी लिए हमारे लिए उपरोक्त समाचार छापना सम्भव हुआ है, जिसकी सचाई की हम गारंटी करते हैं क्योंकि यह सूचना हमें ऐसे व्यक्तियों से मिली है जिनका अ० अ० वानेयेव से घनिष्ठ और प्रत्यक्ष परिचय था।

लिस्तोक'[123] और ख़ास तौर से 'राबोचाया गाज़ेता' तथा १८६८ के वसन्त में स्थापित रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के 'घोषणापत्र' के बारे में भी यही बात सच है। ज़ाहिर है कि तैयारी के इस अभाव के लिए उस काल के सामाजिक-जनवादियों को कोसने की बात हम सपने में भी नहीं सोचेंगे। परन्तु उस आन्दोलन के अनुभव से लाभ उठाने तथा उससे अमली सबक़ लेने के लिए ज़रूरी है कि हम उनकी अलग-अलग त्रुटियों के कारणों को और उनके महत्व को अच्छी तरह समझें। इसलिए इस बात को सिद्ध करने का बहुत महत्व है कि १८६५-६८ में जो सामाजिक-जनवादी काम कर रहे थे, उनमें से कुछ (शायद अधिकतर) उस समय भी, "स्वयं-स्फूर्त" आन्दोलन के बिल्कुल शुरू में भी एक बहुत ही व्यापक कार्यक्रम तथा लड़ाकू कार्यनीति लेकर सामने आना सम्भव समझते थे और उनकी समझ बिलकुल सही थी।* अधिकतर क्रान्तिकारियों में शिक्षा का अभाव चूंकि एक स्वाभाविक बात थी, इसलिए उससे कोई विशेष

---

*'रूसी सामाजिक-जनवादी संगठनों के मुखपत्रों' के नाम अपने 'ख़त' में ('ईस्क्रा', अंक १२) "अर्थवादियों" ने कहा है: "दसवें दशक के अन्तिम दिनों के सामाजिक-जनवादियों की कार्रवाइयों के प्रति विरोधी रुख़ अपनाते समय 'ईस्क्रा' यह भुला देता है कि उस समय ऐसी परिस्थितियां नहीं थीं जो छोटी-छोटी मांगों के लिए संघर्ष करने के अलावा किसी और तरह के काम की भी इजाज़त देती हों।" ऊपर हमने जो तथ्य बताये हैं, उनसे सिद्ध हो जाता है कि "ऐसी परिस्थितियां नहीं थीं" वाला कथन **सत्य के बिल्कुल विपरीत है**। दसवें दशक के अन्तिम दिनों में ही नहीं, बल्कि बीच के दिनों में भी छोटी-छोटी मांगों के लिए लड़ने के अलावा **दूसरे** कामों के लिए भी जितनी परिस्थितियां आवश्यक थीं, वे सब मौजूद थीं, सारी परिस्थितियां मौजूद थीं – अलावा इसके कि नेताओं की पर्याप्त शिक्षा नहीं हुई थी। हम लोगों में, सिद्धान्तवेत्ताओं में, नेताओं में पर्याप्त शिक्षा के अभाव को साफ़-साफ़ स्वीकार करने के बजाय, "अर्थवादी" सारा दोष "परिस्थितियों के अभाव" और भौतिक वातावरण के उन प्रभावों के मत्थे डाल देना चाहते हैं जो वह मार्ग निर्धारित करते हैं जिससे आंदोलन को हटाना किसी भी सिद्धान्तवेत्ता के लिए असम्भव होता है। यह स्वयं-स्फूर्ति के सामने गिड़गिड़ाना नहीं तो और क्या है? यह "सिद्धान्तवेत्ताओं" का स्वयं अपनी त्रुटियों के मोह में पड़ जाना नहीं तो और क्या है?

भय पैदा नहीं हो सकता था। जो काम थे, उनकी चूंकि सही-सही व्याख्या हो चुकी थी, और चूंकि इन कामों को पूरा करने के लिए बार-बार प्रयत्न करने की शक्ति भी मौजूद थी, इसलिए अस्थायी असफलताएं बहुत बड़ी दुर्घटनाएं नहीं समझी जाती थीं। क्रान्तिकारी अनुभव और संगठन की कला ऐसी चीज़ें हैं जो प्राप्त की जा सकती हैं, बशर्ते कि उनको प्राप्त करने की इच्छा हो, और बशर्ते कि हम अपनी त्रुटियों को पहचानते हों – जो क्रान्तिकारी काम के लिए आधी से ज़्यादा त्रुटियों को दूर कर देने के बराबर होता है!

परन्तु उस काल में जो बहुत बड़ा दुर्भाग्य नहीं था, वह बाद में तब सचमुच एक बड़ा दुर्भाग्य बन गया जब कि यह चेतना मन्द पड़ने लगी (उपरोक्त दल के कार्यकर्ताओं में यह चेतना बहुत जागरूक थी), जब कि ऐसे लोग – और यहां तक कि ऐसे सामाजिक-जनवादी संगठन भी – सामने आने लगे जो त्रुटियों को गुण समझने को तैयार थे और जिन्होंने **स्वयं-स्फूर्ति के सामने दासों की तरह गिड़गिड़ाने** के लिए एक **सैद्धान्तिक** आधार तैयार करने की भी कोशिश की। अब समय आ गया है कि इस धारा को सारांश में बताया जाये, जिसके सार-तत्व को "अर्थवाद" का ग़लत और अत्यधिक संकुचित नाम दिया जाता है।

(ख) स्वयं-स्फूर्ति के सामने सिर झुकाना। 'राबोचाया मीस्ल'

यह अधीनता साहित्य में किस रूप में प्रकट हुई, इसकी चर्चा करने से पहले हम निम्नलिखित लाक्षणिक तथ्य का ज़िक्र करना चाहेंगे (जो हमें उपरोक्त लोगों से मिला है) जिससे उन परिस्थितियों पर कुछ प्रकाश पड़ता है जिनमें भविष्य में चलकर रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की दो परस्पर-विरोधी धाराओं का रूप ग्रहण करनेवाली प्रवृत्तियां पीटर्सबर्ग में काम करनेवाले साथियों में पैदा हुईं और बढ़ीं। १८९७ के शुरू में, अपनी जलावतनी के ठीक पहले अ० अ० वानेयेव और उनके कई दूसरे साथियों ने एक गुप्त बैठक[124] में भाग लिया जिसमें 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' के "पुराने" और "नये" सदस्य शामिल हुए। बैठक में बातचीत मुख्यतया संगठन के प्रश्न पर और विशेषकर "मज़दूर-हितकारी कोष के नियमों" के बारे में हुई, जो अपने अन्तिम रूप में "लिस्तोक 'राबोत्निका'"[125]

के अंक ६–१० में पृष्ठ ४६ पर प्रकाशित हुए थे। तुरन्त ही मालूम हुआ कि "पुराने" सदस्यों में (जिन्हें पीटर्सबर्ग के सामाजिक-जनवादी हंसी में "दिसम्बरवादी" कहते हैं) और अनेक "नये" सदस्यों में (जिन्होंने बाद में 'राबोचाया मीस्ल' निकालने में सक्रिय सहयोग दिया) तीव्र मतभेद है, और उनमें बहुत गरम बहस हुई। जिस रूप में नियम प्रकाशित हुए थे, "नये" सदस्यों ने उसी रूप में उनके मुख्य सिद्धान्तों का समर्थन किया। "पुराने" सदस्यों ने कहा कि इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता इस चीज़ की नहीं है, बल्कि इसकी है कि 'संघर्ष करनेवाली लीग' को क्रान्तिकारियों के संगठन के रूप में मज़बूत किया जाये और विभिन्न मज़दूर-हितकारी कोषों तथा विद्यार्थियों के प्रचार-मण्डलों आदि को इस संगठन के मातहत रखा जाये। कहने की आवश्यकता नहीं कि बहस में भाग लेनेवालों को इस बात का तनिक भी आभास न था कि ये मतभेद दो धाराओं के अलग-अलग हो जाने की शुरुआत थे। इसके विपरीत, वे तो यह समझते थे कि तफ़सील की एक बात पर ये मतभेद आकस्मिक ढंग से उठ खड़े हुए हैं। परन्तु इस तथ्य से यह प्रकट होता है कि रूस में भी "अर्थवाद" "पुराने" सामाजिक-जनवादियों से लड़े बिना पैदा नहीं हुआ और न बढ़ा है (आजकल के "अर्थवादी" यह बात अक्सर भूल जाते हैं)। और यदि मोटे तौर पर इस संघर्ष के कोई चिन्ह "दस्तावेज़ों" के रूप में नहीं मिलते हैं, तो इसका **एकमात्र** कारण यही है कि उस काल में जो छोटे-छोटे मण्डल काम करते थे, उनमें भाग लेनेवाले लोग इतनी तेज़ी के साथ तबदील होते रहते थे कि उनके काम का सिलसिला कभी क्रमबद्ध नहीं हो पाता था, और इसलिए उनमें जो मतभेद प्रकट होते थे, वे कभी दस्तावेज़ों में दर्ज नहीं किये जाते थे।

जब 'राबोचाया मीस्ल' का प्रकाशन आरम्भ हुआ तब "अर्थवाद" दिन के प्रकाश में आया; पर यह बात भी एकबारगी नहीं हो गयी। हमें अपने दिमाग़ में इस बात की एक ठोस तसवीर बनानी चाहिए कि उस ज़माने के साथी किन परिस्थितियों में काम करते थे और अधिकतर रूसी मण्डल कितने कम समय तक जीवित रह पाते थे (और यह तसवीर ठीक-ठीक केवल वे लोग ही बना सकते हैं जो उस अनुभव से गुज़र चुके हैं), ताकि हम समझ सकें कि विभिन्न शहरों में नयी धारा की सफलताओं और असफलताओं में आकस्मिकता का कितना हाथ था और कितने दिनों तक इस "नयी" धारा के

समर्थकों और विरोधियों, दोनों ही के लिए यह निश्चित करना सम्भव नहीं हुआ – बल्कि सच तो यह है कि यह निश्चित करने का उनको कोई अवसर ही नहीं मिला – कि यह सचमुच कोई अलग धारा है या महज़ कुछ व्यक्तियों में शिक्षा का अभाव इस रूप में प्रकट हो रहा है। उदाहरण के लिए, 'राबोचाया मीस्ल' की साइक्लोस्टाइल मशीन पर छपकर जो पहली प्रतियां निकलीं, वे अधिकतर सामाजिक-जनवादियों तक पहुंचीं ही नहीं, और हम यदि यहां पहले अंक के सम्पादकीय लेख की चर्चा कर पा रहे हैं तो सिर्फ़ इसलिए कि उसे व० इ० ...[126] के एक लेख में उद्धृत किया गया था (देखिये "लिस्तोक 'राबोत्निका'", अंक ९–१०, पृष्ठ ४७ और उसके बाद के पृष्ठ)। और ज़ाहिर है कि यह महाशय इस नये पत्र की तारीफ़ के पुल बांधने में नहीं चूके थे, जो उपरोक्त पत्रों और पत्रों की योजनाओं से बहुत भिन्न था, और इस काम में उन्होंने विवेक की अपेक्षा उत्साह से अधिक काम लिया था*। यह सम्पादकीय लेख चर्चा करने के योग्य है क्योंकि वह 'राबोचाया मीस्ल' और आम तौर पर "अर्थवाद" की **मूल भावना** को सशक्त रूप में व्यक्त करता है।

यह कहने के बाद कि ज़ार की "नीली वर्दीधारी" पुलिस[127] मज़दूर आन्दोलन की प्रगति को कभी नहीं रोक सकती, सम्पादकीय लेख में आगे यह कहा गया है: "... मज़दूर आन्दोलन की शक्ति का कारण यह है कि आख़िर में मज़दूर अपनी क़िस्मत को नेताओं के हाथों से खुद अपने हाथों में ले रहे हैं" और आगे इस बुनियादी स्थापना को और विस्तार के साथ विकसित किया गया है। सच बात यह थी कि नेताओं को (यानी सामाजिक-जनवादियों को, 'संघर्ष करनेवाली लीग' के संगठनकर्ताओं को) पुलिस ने मज़दूरों के हाथों से ज़बर्दस्ती छीन लिया

---

* यहां चलते-चलते यह भी बता दिया जाये कि नवम्बर १८९८ में, जब ख़ास तौर पर विदेशों में "अर्थवाद" ने एक पूर्णतया अलग धारा का रूप धारण कर लिया था, 'राबोचाया मीस्ल' की तारीफ़ इन्हीं व० इ० ... नामक सज्जन ने की थी जो उसके थोड़े ही दिन बाद 'राबोचेये देलो' के सम्पादक-मंडल के सदस्य हो गये थे। फिर भी 'राबोचेये देलो' इस बात से इनकार करता था और आज भी इनकार करता है कि रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में दो धाराएं हैं।

था*, परन्तु इस लेख म बात इस तरह पेश की गयी है मानो मज़दूर इन नेताओं से लड़ रहे थे और अन्त में वे उनकी दासता से छुटकारा पाने में सफल हो गये! बजाय यह नारा बुलन्द करने के कि आगे बढ़ो, क्रान्तिकारी संगठन को मज़बूत बनाओ और राजनीतिक काम को और फैलाओ, **पीछे हटने** का और शुद्ध ट्रेड-यूनियन संघर्ष तक ही अपने को सीमित रखने का नारा बुलन्द किया गया। ऐलान किया गया कि "राजनीतिक लक्ष्य को कभी न भूलने के प्रयत्न में आन्दोलन का आर्थिक आधार पृष्ठभूमि में पड़ जाता है," और मज़दूर आन्दोलन का मुख्य नारा यह है कि "आर्थिक परिस्थितियों के लिए लड़ो" (!) या इससे भी बेहतर यह कि "मज़दूरों के साथी मज़दूर हैं"। घोषणा की गयी कि "आन्दोलन के लिए" हड़ताल-फ़ंड "दूसरे सौ संगठनों से अधिक मूल्यवान होते हैं" (अक्तूबर १८९७ के इस वक्तव्य की उस बहस से तुलना कीजिये जो "दिसम्बरवादियों" तथा नये सदस्यों के बीच १८९७ के शुरू में हुई थी), इत्यादि, इत्यादि। अब ऐसे नारों का फ़ैशन हो गया, जैसे: हमें "सबसे अच्छे" मज़दूरों पर नहीं, बल्कि आम, "औसत" मज़दूरों पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए; "राजनीति सदा आज्ञाकारी भाव से अर्थशास्त्र के पीछे-पीछे चलती है"** इत्यादि, इत्यादि, और ये नारे उन नौजवानों के विशाल समूह पर

---

*यह उपमा बिलकुल सही है, जैसा कि नीचे लिखी घटना से स्पष्ट हो जाता है। जब "दिसम्बरवादियों" की गिरफ़्तारी के बाद श्लूसेल्बुर्ग रोड के मज़दूरों में इस ख़बर का प्रचार किया गया कि उनकी गिरफ़्तारी न० न० मिख़ाइलोव नामक एक दांतों के डाक्टर की मदद से हुई है, जो ख़ुफ़िया पुलिस का एजेंट था और जिसका सम्पर्क एक ऐसे दल से था जो "दिसम्बरवादियों" से सम्बंधित था, तो मज़दूरों को इतना ग़ुस्सा आया कि उन्होंने इस आदमी को मार डालने का फ़ैसला कर लिया।

ये वाक्य 'राबोचाया मीस्ल' के पहले अंक के उस सम्पादकीय लेख से उद्धृत किये गये हैं, जिसका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि "रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के इन वी० वी० जैसे महाशयों" में कितनी सैद्धान्तिक शिक्षा थी जो उस समय "आर्थिक भौतिकवाद" की भोंड़ी विकृतियों को दुहराने में व्यस्त थे, जब कि मार्क्सवादी असली श्री वी० वी० के ख़िलाफ़ साहित्यिक युद्ध चला रहे थे जिन्हें राजनीति तथा अर्थशास्त्र के सम्बंध के प्रश्न पर **इसी प्रकार का मत रखने के कारण बहुत दिन पहले ही "प्रतिक्रियावादी हरकतों का उस्ताद" घोषित किया जा चुका था!

ज़बर्दस्त प्रभाव डाल रहे थे जो आन्दोलन की ओर तो आकर्षित हो गये थे, पर जिन्हें प्राय: मार्क्सवाद के केवल ऐसे टुकड़ों की ही जानकारी थी जिनका क़ानूनी ढंग के प्रकाशनों में प्रतिपादन किया जाता था।

चेतना पर पूरी तरह स्वयं-स्फूर्ति ने क़ाबू पा लिया था – उन "सामाजिक-जनवादियों" की स्वयं-स्फूर्ति ने जो श्री वी० वी० के "विचारों" को दुहराते थे, उन मज़दूरों की स्वयं-स्फूर्ति ने जो इस तरह के तर्कों के चक्कर में आ गये थे, जैसे: एक रूबल में एक कोपेक की बढ़ती समाजवाद और राजनीति से अधिक मूल्य रखती है और मज़दूरों को "यह समझकर लड़ना चाहिए कि वे किसी भावी पीढ़ी के लिए नहीं, बल्कि स्वयं अपने लिए और अपने बच्चों के लिए लड़ रहे हैं"। ('राबोचाया मीस्ल', अंक १ का सम्पादकीय लेख)। इस तरह के नारे पश्चिमी यूरोप के उस पूंजीपति वर्ग के सदा प्रिय अस्त्र रहे हैं जो समाजवाद से घृणा करने के कारण (जर्मन "सामाजिक-राजनीतिज्ञ" हिर्श की भांति) अंग्रेज़ ट्रेड-यूनियनवाद के पौधे को अपनी धरती पर लगाने की कोशिश कर रहा था और जो मज़दूरों को उपदेश दे रहा था कि वे शुद्ध ट्रेड-यूनियन संघर्ष* में भाग लेकर अपने लिए और अपने बच्चों के लिए लड़ेंगे, न कि किसी भावी पीढ़ी के किसी भावी समाजवाद के लिए। और अब इन पूंजीवादी नारों को "रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के वी० वी० जैसे लोग" दुहराने लगे हैं। यहां पर तीन बातों को नोट करना जरूरी है, क्योंकि **आजकल** के मतभेदों का और ज़्यादा विश्लेषण करने में हमें उनसे मदद मिलेगी**।

सबसे पहली बात यह है कि यदि, जैसा कि हमने ऊपर कहा है, चेतना पर स्वयं-स्फूर्ति ने क़ाबू पा लिया है तो यह बात भी **स्वयं-स्फूर्त ढंग से** हुई है। हो

---

*जर्मनों के पास तो इसके लिए विशेष शब्द भी है: «Nur-Gewerkschaftler», जिसका मतलब होता है: "शुद्ध ट्रेड-यूनियन" संघर्ष का समर्थक।

हमने **आजकल शब्द पर उन लोगों के हितार्थ ज़ोर दिया है जो बगुला-भगतों की तरह कंधे बिचकाकर कहते हैं: 'राबोचाया मीस्ल' पर अब हमले करना बड़ा आसान है, पर क्या यह गड़े मुर्दे उखाड़ना नहीं है? इन बगुला-भगतों को हम जवाब देते हैं: Mutato nomine de te fabula narratur (नाम बदल दो, बस तुम्हारी कहानी बन जायेगी – सं०)। ये लोग पूरी तरह 'राबोचाया मीस्ल' के विचारों के ग़ुलाम हैं – इसे हम **आगे साबित** करेंगे।

सकता है कि सुनने में यह बात तुक मिलाने जैसी लगती हो, पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि यह एक कटु सत्य है। एक-दूसरे के एकदम विरोधी दो दृष्टिकोणों के बीच खुला संघर्ष चले और उसमें एक दृष्टिकोण दूसरे पर विजय प्राप्त करे—उपरोक्त बात इस तरह नहीं बल्कि इस तरह हुई कि "पुराने" क्रान्तिकारियों की एक बढ़ती हुई संख्या को ज़ार की राजनीतिक पुलिस "छीन ले गयी" और उनकी जगह "रूसी सामाजिक-जनवाद के वी० वी० जैसे" अनेक "युवक" मैदान में आते गये। हर वह आदमी जो—मैं नहीं कहता कि **आजकल** के रूसी आन्दोलन में भाग ले चुका है, बल्कि कम से कम उसके वातावरण में सांस ले चुका है—वह अच्छी तरह जानता है कि यह बात सोलहों आने सच है। फिर भी यदि हम पाठकों पर इस बात के लिए ज़ोर डाल रहे हैं कि वे इस सर्वविदित सत्य के बारे में अपना दिमाग़ बिल्कुल साफ़ कर लें, और यदि उसे स्पष्ट करने के लिए हम 'राबोचेये देलो' के प्रथम प्रकाशन का पूरा हाल और १८९७ के शुरू के दिनों में "पुराने" तथा "नये" सदस्यों की बहसों का पूरा विवरण पाठकों के सामने रख रहे हैं, तो इसका कारण यह है कि आम लोग (या बहुत ही कम उम्र के नौजवान) इस तथ्य को नहीं जानते और कुछ लोग उनके इस अज्ञान से फ़ायदा उठाने की कोशिश कर रहे हैं तथा अपने "जनवाद" की शेख़ी बघार रहे हैं। हम आगे फिर इस बात की चर्चा करेंगे।

दूसरे, "अर्थवाद" के सबसे पहले साहित्यिक प्रकाशन में ही हमें यह बहुत ही अजीबोग़रीब बात दिखाई पड़ती है—जो आजकल के सामाजिक-जनवादियों में पाये जानेवाले तमाम मतभेदों को समझने के लिए बहुत उपयोगी बात है—कि "शुद्ध मज़दूर वर्ग के आन्दोलन" के समर्थक सर्वहारा संघर्ष के साथ घनिष्ठतम "सजीव" ('राबोचेये देलो' ने इसी शब्द का प्रयोग किया है) सम्पर्क रखने के सिद्धान्त के पुजारी, हर तरह के ग़ैर-मज़दूर बुद्धिजीवियों के (भले ही वे समाजवादी बुद्धिजीवी हों) विरोधी जब अपने मत के समर्थन में बोलते हैं तो उन्हें "शुद्ध ट्रेड-यूनियनवाद" के **पूंजीवादी** समर्थकों के तर्कों का सहारा लेना पड़ता है। इससे प्रकट होता है कि 'राबोचाया मीस्ल' अनजाने में शुरू से ही 'क्रीडो' के कार्यक्रम पर अमल करने लगा था। इससे प्रकट होता है (जिस बात को 'राबोचेये देलो' क़तई नहीं समझ सकता) कि **जो कोई भी** मज़दूर आन्दोलन की स्वयं-स्फूर्ति की पूजा करता है, जो कोई भी "सचेतन तत्व" की भूमिका को,

सामाजिक-जनवाद की भूमिका को, कम करके आंकता है, **वह चाहे ऐसा करना चाहता हो या न चाहता हो, पर असल में वह सदा मज़दूरों पर पूंजीवादी विचारधारा के असर को मज़बूत करता है।** वे तमाम लोग जो "विचारधारा के महत्व को बढ़ाकर आंकने"* और सचेतन तत्व की भूमिका को ज़बर्दस्ती ज़्यादा बताने**, आदि की बातें करते हैं, वे समझते हैं कि शुद्धतः मज़दूर वर्ग का आन्दोलन अपने लिए ख़ुद कोई स्वतंत्र विचारधारा विकसित कर सकता है और कर लेगा, बशर्ते कि मज़दूर "अपनी क़िस्मत को नेताओं के हाथों से छीनकर अपने हाथों में ले लें"। परन्तु इस तरह सोचना बहुत बड़ी ग़लती है। ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उसे पूरा करने के लिए हम नीचे आस्ट्रिया की सामाजिक-जनवादी पार्टी के नये प्रस्तावित कार्यक्रम पर कार्ल काउत्स्की की सर्वथा न्यायोचित तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण टिप्पणी को उद्धृत करेंगे***:

"हमारे बहुत से संशोधनवादी आलोचकों का विश्वास है कि मार्क्स ने यह कहा था कि आर्थिक विकास तथा वर्ग-संघर्ष न केवल समाजवादी उत्पादन की परिस्थितियों को पैदा कर देते हैं, बल्कि वे समाजवादी उत्पादन की आवश्यकता की **चेतना** (शब्दों पर ज़ोर काउत्स्की ने दिया है) को भी सीधे-सीधे तौर पर उत्पन्न कर देते हैं। और ये आलोचक हमें याद दिलाते हैं कि जो देश पूंजीवादी दृष्टि से सबसे ज़्यादा विकास कर चुका है, यानी इंगलैंड, वह इस चेतना से दूसरे तमाम देशों की अपेक्षा अधिक दूर है। यदि कोई कार्यक्रम के मसौदे के आधार पर अपनी राय क़ायम करे तो उसे लगेगा कि जिस समिति ने आस्ट्रिया की पार्टी के कार्यक्रम का मसौदा तैयार किया है, वह भी इस तथाकथित कट्टर मार्क्सवादी मत को मानती है जिसका ऊपर खंडन किया गया है। प्रस्तावित कार्यक्रम में कहा गया है: 'पूंजीवादी विकास से सर्वहारा वर्ग की संख्या में जितनी बढ़ती होती जाती है, उतना ही अधिक

---

* 'ईस्क्रा' के अंक १२ में "अर्थवादियों" का पत्र।

** 'राबोचेये देलो', अंक १०।

*** *«Neue Zeit»* ('नया ज़माना'–सं०), १९०१-०२, खंड २०, प्रथम भाग, अंक ३, पृष्ठ ७९। काउत्स्की ने समिति के जिस मसौदे का ज़िक्र किया है, वह कुछ संशोधनों के साथ (पिछले वर्ष के अन्त में) वियना कांग्रेस में स्वीकार किया गया था[128]।

वह पूंजीवाद से लड़ने के लिए बाध्य और उसमें समर्थ होता जाता है। सर्वहारा वर्ग में यह चेतना पैदा हो जाती है' कि समाजवाद सम्भव है और आवश्यक है। यहां ऐसा मालूम पड़ता है मानो सर्वहारा वर्ग-संघर्ष से आवश्यक रूप से और सीधे-सीधे समाजवादी चेतना पैदा हो जाती है। पर यह बिलकुल झूठी बात है। जाहिर है कि एक सिद्धान्त के रूप में समाजवाद की जड़ें आधुनिक आर्थिक सम्बंधों में हैं, उसी तरह जैसे कि सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष की जड़ें आधुनिक आर्थिक सम्बंधों में हैं और जैसे वह पूंजीपतियों की पैदा की हुई जनता की ग़रीबी और बदहाली के ख़िलाफ़ चलनेवाले संघर्ष से उत्पन्न होता है। परन्तु समाजवाद और वर्ग-संघर्ष साथ-साथ ही उभरते हैं और एक-दूसरे में से नहीं निकलते, दोनों भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में से उत्पन्न होते हैं। आधुनिक समाजवादी चेतना केवल गहरे वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर ही उत्पन्न हो सकती है। सच तो यह है कि समाजवादी उत्पादन के लिए आधुनिक अर्थशास्त्र उतना ही ज़रूरी है जितना आधुनिक प्रौद्योगिकी और सर्वहारा वर्ग लाख चाहने पर भी इन दोनों चीज़ों में से कोई भी पैदा नहीं कर सकता; दोनों ही आधुनिक सामाजिक प्रक्रिया से पैदा होते हैं। विज्ञान का वाहन सर्वहारा वर्ग नहीं, बल्कि **पूंजीवादी बुद्धिजीवी** है" (शब्दों पर ज़ोर काउत्स्की का है): "आधुनिक समाजवाद ने सबसे पहले इसी समुदाय के चन्द व्यक्तियों के दिमाग़ों में जन्म लिया था, और इन लोगों ने ही बौद्धिक दृष्टि से अधिक विकसित कुछ मज़दूरों को समाजवाद से परिचित कराया था, और जहां कहीं परिस्थितियां इस बात की इजाज़त देती थीं, वहां इन मज़दूरों ने समाजवाद को सर्वहारा वर्ग-संघर्ष में शामिल कर दिया था। इस प्रकार, समाजवादी चेतना एक ऐसी चीज़ है जो सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष में बाहर से डाली जाती है (von außen Hineingetragenes) और वह कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो इस संघर्ष के अन्दर से अपने आप (urwüchsig) पैदा हो जाती हो। अतएव, पुराने हाइनफ़ेल्ड वाले कार्यक्रम में बिल्कुल ठीक कहा गया था कि सामाजिक-जनवाद का कर्तव्य यह है कि सर्वहारा के अन्दर वह उसकी अपनी स्थिति की **चेतना** तथा उसके कर्तव्य की चेतना भर दे (यदि शब्दश: अनुवाद किया जाये तो: कूट-कूटकर भर दे)। यदि वर्ग-संघर्ष से चेतना अपने आप पैदा हो जाया करती तो इसकी कोई ज़रूरत न थी। नये मसौदे ने पुराने

कार्यक्रम की यह स्थापना नक़ल कर ली, और उसे उपरोक्त स्थापना के साथ जोड़ दिया। लेकिन इससे विचारों का क्रम बिल्कुल भंग हो गया..."

चूंकि आम मज़दूरों द्वारा अपने आन्दोलन के दौरान में ख़ुद कोई स्वतंत्र विचारधारा विकसित करने का कोई सवाल पैदा नहीं होता* इसलिए हमारे सामने **केवल ये रास्ते ही** रह जाते हैं: या तो हम पूंजीवादी विचारधारा को चूनें, या समाजवादी विचारधारा को। बीच का कोई रास्ता नहीं है (क्योंकि मनुष्य-जाति ने कोई "तीसरी" विचारधारा पैदा नहीं की है, और इसके अलावा, जो समाज वर्ग-विरोधों के कारण बंटा हुआ है, उसमें कोई ग़ैर-वर्गीय या वर्गोपरि विचारधारा कभी नहीं हो सकती)। अतएव, समाजवादी विचारधारा के महत्व को **किसी भी तरह** कम करके आंकने, उससे **ज़रा भी मुंह मोड़ने** का मतलब पूंजीवादी विचारधारा को मज़बूत करना होता है। **स्वयं-स्फूर्ति** की बहुत चर्चा हो रही है, परन्तु मज़दूर आन्दोलन के **स्वयं-स्फूर्त** विकास का परिणाम यह होता है कि यह आन्दोलन पूंजीवादी विचारधारा के आधीन हो जाता है, उसका विकास

---

*ज़ाहिर है कि इसका मतलब यह नहीं कि इस प्रकार की विचारधारा पदा करने में मज़दूर कोई भाग नहीं लेते। पर वे उसमें मज़दूरों की हैसियत से नहीं, बल्कि समाजवादी सिद्धान्तवेत्ताओं की हैसियत से, प्रूदों और वीटलिंग जैसे लोगों की हैसियत से भाग लेते हैं, दूसरे शब्दों में, विचारधारा को उत्पन्न करने में मजदूर केवल उसी समय और उसी हद तक भाग लेते हैं, जिस समय और जिस हद तक वे अपने युग के ज्ञान पर न्यूनाधिक रूप में अधिकार प्राप्त करने तथा उस ज्ञान को और विकसित करने में समर्थ होते हैं। और यदि हम चाहते हैं कि मज़दूरों में **यह काम कर पाने की समर्थता बढ़े**, तो हमें आम मज़दूरों की चेतना के स्तर को ऊपर उठाने की हर मुमकिन कोशिश करनी पड़ेगी; और मज़दूरों को यह करना पड़ेगा कि वे अपने को **"मज़दूरों के साहित्य"** की बनावटी संकुचित सीमाओं में बन्द न रखें और **आम साहित्य** पर अधिकाधिक अधिकार प्राप्त करना सीखें। "बन्द न रखें" की जगह "उन्हें बन्द न रखा जाये" कहना ज़्यादा सही होगा, क्योंकि मज़दूर ख़ुद वह सारा साहित्य पढ़ते हैं और पढ़ना चाहते हैं जो बुद्धिजीवियों के लिए लिखा जाता है और यह चन्द (बुरे) बुद्धिजीवियों का ही विचार है कि कारख़ानों के अन्दर की हालत के बारे में दो-चार बातों को बता देना और पुरानी जानी हुई बातों को बार-बार दुहराते रहना ही "मज़दूरों के लिए" काफ़ी है।

'क्रीडो' के **कार्यक्रम के अनुसार** होने लगता है, क्योंकि स्वयं-स्फूर्त मज़दूर आन्दोलन ट्रेड-यूनियनवाद होता है, जर्मन भाषा में कहें तो वह Nur-Gewerkschaftlerei होता है, और ट्रेड-यूनियनवाद का मतलब मज़दूरों को विचारधारा के मामले में पूंजीपति वर्ग का दास बनाकर रखना होता है। इसलिए हमारा काम, सामाजिक-जनवाद का काम, यह है कि **स्वयं-स्फूर्ति के खिलाफ़ लड़ें**, मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के उस स्वयं-स्फूर्त, ट्रेड-यूनियनवादी रुझान को **मोड़ें** जो उसे पूंजीपति वर्ग के साये में ले जाती है, और उसे क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद के साये में ले आय। अतः, 'ईस्क्रा' के अंक १२ में प्रकाशित "अर्थवादी" पत्र के लेखकों ने जो यह बयान किया है कि अत्यन्त तेजस्वी विचारकों की कोशिशें भी मज़दूर आन्दोलन को उस पथ से नहीं मोड़ सकतीं जो भौतिक तत्वों तथा भौतिक वातावरण की क्रिया-प्रतिक्रिया से निश्चित होता है—इस कथन का **पूर्ण रूप से यह मतलब होता है** कि इन सज्जनों ने समाजवाद को **त्याग दिया है**, और यदि इस पत्र के लेखकों में निडर होकर, सुसंगत ढंग से और बात की तह में जाकर यह सोचने की शक्ति होती कि वे क्या कह रहे हैं, जो साहित्यिक तथा सार्वजनिक कार्य के क्षेत्र में प्रवेश करनेवाले हर व्यक्ति को करना चाहिए, तो उनके लिए इसके सिवा और कोई काम न बचता कि वे "अपनी खोखली छाती पर अपने बेकार हाथ बांधकर खड़े हो जायें" और ... कार्य-क्षेत्र को या तो स्त्रूवे और प्रोकोपोविच जैसे उन महानुभावों के लिए, जो मज़दूर आन्दोलन को "कम से कम विरोध के मार्ग पर", अर्थात् पूंजीवादी ट्रेड-यूनियनवाद के मार्ग पर खींचे ले जा रहे हैं, या ज़ुबातोव जैसे लोगों के लिए ख़ाली छोड़ दें जो मज़दूर आन्दोलन को पादरियों और राजनीतिक पुलिसवालों की "विचारधारा" के मार्ग पर ले जा रहे हैं।

जर्मनी के उदाहरण की याद कीजिये। लासाल ने जर्मन मज़दूर आन्दोलन की कौनसी ऐतिहासिक सेवा की है? यही कि उसने आन्दोलन को ट्रेड-यूनियनवाद तथा सहकारिता के उस रास्ते से **मोड़ दिया** जिस रास्ते पर चलने का उपदेश प्रगतिशील दलवाले दे रहे थे और जिस रास्ते पर आन्दोलन स्वयं-स्फूर्त ढंग से **(और शुल्ज़े-डेलिच तथा उनकी तरह के अन्य लोगों की परम हितकारी सहायता से)** बढ़ रहा था। इस तरह के काम को पूरा करने के लिए स्वयं-स्फूर्त तत्व को कम करके आंकने का दुखड़ा रोने, एक प्रक्रिया-के-रूप-में-कार्यनीति का राग अलापने, और तत्वों तथा वातावरण की क्रिया-प्रतिक्रिया आदि की चर्चा करने

के बजाय कुछ बिल्कुल ही दूसरी बात करना ज़रूरी था। **स्वयं-स्फूर्ति के ख़िलाफ़ ज़ोरदार संघर्ष चलाना** ज़रूरी था, और अनेक वर्षों तक ऐसा संघर्ष चलाने के बाद ही बर्लिन की श्रमजीवी जनता को प्रगतिशील दल के एक स्तम्भ के बजाय, सामाजिक-जनवाद का एक सर्वोत्तम गढ़ बनाना संभव हुआ था। और यह संघर्ष आज भी ख़तम नहीं हुआ है (जैसा कि शायद वे लोग समझते हों जो जर्मन आन्दोलन का इतिहास प्रोकोपोविच से और उसका दर्शन स्त्रूवे से सीखते हैं)। जर्मन मज़दूर वर्ग आज भी, कहा जाये तो, कई विचारधाराओं में बंटा हुआ है। मज़दूरों का एक भाग कैथोलिक तथा राजतंत्रवादी यूनियनों में संगठित है, दूसरा भाग हिर्श और डुंकेर वाली यनियनों[129] में शामिल है जिनकी स्थापना अंग्रेज़ी ट्रेड-यूनियनवाद के पूंजीवादी उपासकों ने की थी, और तीसरा हिस्सा सामाजिक-जनवादी यूनियनों में संगठित है। तीसरा हिस्सा संख्या में बाक़ी सबसे कहीं बड़ा है, परन्तु सामाजिक-जनवादी विचारधारा यह प्रधानता दूसरी विचारधाराओं से दृढ़तापूर्वक संघर्ष चलाकर ही प्राप्त कर सकी है और तमाम दूसरी विचारधाराओं के विरुद्ध अडिग रूप से संघर्ष करके ही वह इसे क़ायम रख सकेगी।

परन्तु, पाठक प्रश्न करेगा कि आख़िर स्वयं-स्फूर्त आन्दोलन का, सबसे कम विरोध के मार्ग पर विकसित होनेवाले आन्दोलन का यह परिणाम क्यों होता है कि पूंजीवादी विचारधारा का प्रभुत्व हो जाता है? इसका कारण केवल यह है कि उत्पत्ति की दृष्टि से पूंजीवादी विचारधारा समाजवादी विचारधारा से बहुत पुरानी है, वह अधिक विकसित है और उसे फैलने की **कहीं अधिक** सुविधाएं मिली हुई हैं।* और किसी देश का समाजवादी आन्दोलन जितना नया हो,

---

*अक्सर कहा जाता है: मज़दूर वर्ग **स्वयं-स्फूर्त ढंग से** समाजवाद की ओर खिंचता है। यह इस माने में बिल्कुल सच है कि समाजवादी सिद्धान्त और सब सिद्धान्तों से अधिक गहराई और सचाई के साथ मज़दूर वर्ग की ग़रीबी और तबाही के कारणों की व्याख्या करता है, और इस कारण से मज़दूर इतनी आसानी से उसे ग्रहण कर लेते हैं, पर इसके लिए **एक शर्त है** और वह यह कि समाजवादी सिद्धान्त खुद स्वयं-स्फूर्ति के सामने सिर न झुका दे, **बशर्ते कि** समाजवादी सिद्धान्त स्वयं-स्फूर्ति को अपने अधीन बना ले। आम तौर पर लोग यह मान कर चलते हैं कि यह तो होता ही है, पर यही बात है जिसे 'राबोचेये देलो' भूल जाता है

उसे ग़ैर-समाजवादी विचारधाराओं की जड़ों को मज़बूत करने की तमाम कोशिशों के ख़िलाफ़ उतने ही ज़्यादा ज़ोर से लड़ना चाहिए और उतनी ही अधिक दृढ़ता से मज़दूरों को उन बुरे सलाहकारों के ख़िलाफ़ आगाह करना चाहिए जो "सचेतन तत्व का मूल्य अधिक आंकने" आदि के ख़िलाफ़ चिल्लाया करते हैं। 'राबोचेये देलो' के सुर में सुर मिलाकर, "अर्थवादी" पत्र के लेखकों ने भी सहनशीलता के उस अभाव की बड़ी निन्दा की है जो आन्दोलन के बचपन का लक्षण है। हमारा जवाब यह है: हां, हमारा आन्दोलन सचमुच अभी अपने बचपन में है और उसके अधिक तेज़ी से बढ़ने के लिए ज़रूरी है कि उसमें उन लोगों के प्रति सहनशीलता के अभाव का दोष हो जो स्वयं-स्फूर्ति की दासता स्वीकार करके आन्दोलन का विकास रोके हुए हैं। इससे अधिक हास्यास्पद और हानिकारक कोई बात नहीं हो सकती कि हम "पुराने लोग" होने का ढोंग रचें और दावा करें कि हम संघर्ष की सभी निर्णायक अवस्थाओं का अनुभव बहुत दिन पहले ही हासिल कर चुके हैं!

तीसरे, 'राबोचाया मीस्ल' के पहले अंक से मालूम होता है कि "अर्थवाद" के नाम से नयी धारा का असली स्वरूप पूरी तरह प्रकट नहीं होता (पर ज़ाहिर है कि हम इस नाम का प्रयोग करना बन्द नहीं करेंगे, क्योंकि जैसे भी हो, अब यह नाम चलन में आ गया है)। 'राबोचाया मीस्ल' राजनीतिक संघर्ष को एकदम नहीं छोड़ देता: उसके पहले अंक में मज़दूर-हितकारी कोष की जो नियमावली प्रकाशित हुई है, उसमें सरकार से लड़ने का भी एक जगह ज़िक्र है। परन्तु 'राबोचाया मीस्ल' का विश्वास है कि "राजनीति आज्ञाकारी भाव से सदा अर्थव्यवस्था के पीछे-पीछे चलती है" (और 'राबोचेये देलो' ने इसी स्थापना का एक नया संस्करण दिया है; उसने अपने कार्यक्रम में यह कहा है कि "रूस में यह बात और किसी भी देश से अधिक सत्य है कि आर्थिक संघर्ष को राजनीतिक

या तोड़-मरोड़ कर पेश करता है। मज़दूर वर्ग स्वयं-स्फूर्त ढंग से समाजवाद की ओर खिंचता है, परन्तु साथ ही यह भी सच है कि अधिक व्यापक रूप से फैली हुई पूंजीवादी विचारधारा (जो नाना प्रकार के रूपों में लगातार पुनर्जीवित होती रहती है) उससे भी अधिक स्वयं-स्फूर्त ढंग से अपने को मज़दूर वर्ग के ऊपर लादती रहती है।

संघर्ष से **अलग नहीं किया जा सकता**") । **यदि राजनीति का मतलब सामाजिक-जनवादी राजनीति से है**, तो 'राबोचाया मीस्ल' तथा 'राबोचेये देलो' की ये स्थापनाएं बिल्कुल ग़लत हैं। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, मज़दूरों का आर्थिक संघर्ष बहुधा पूंजीवादी राजनीति, क्लेरिकल राजनीति, आदि से जुड़ा हुआ होता है (हालांकि ऐसा नहीं है कि उसे इनसे अलग न किया जा सके)। पर यदि राजनीति से उसका मतलब ट्रेड-यूनियन राजनीति से यानी सभी मज़दूरों की उस कोशिश से है जिसका उद्देश्य सरकार पर दबाव डालकर अपनी स्थिति की कुछ लाक्षणिक विपदाओं को दूर करना होता है, पर जिससे मज़दूरों की यह स्थिति बदलती नहीं, यानी जिससे पूंजी की दासता से श्रम मक्त नहीं होता तो 'राबोचेये देलो' की स्थापनाएं बिल्कुल सही हैं। ज़ाहिर है कि यह कोशिश सभी करते हैं, चाहे वे इंगलैंड के ट्रेड-यूनियनवादी हों, जो समाजवाद के विरोधी हैं, या कैथोलिक मज़दूर हों, या "ज़ुबातोव" जैसी यूनियनों के मज़दूर हों, आदि, आदि। राजनीति राजनीति में अन्तर होता है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि 'राबोचाया मीस्ल' राजनीतिक संघर्ष से उतना इनकार नहीं करता जितना वह इस संघर्ष की **स्वयं-स्फूर्ति** के सामने, इसकी चेतना के अभाव के सामने सिर झुका देता है। उस राजनीतिक संघर्ष को (यह कहना ज़्यादा सही होगा कि मज़दूरों की राजनीतिक आकांक्षाओं और मांगों को) पूरी तरह मानते हुए भी जो खुद मज़दूर आन्दोलन में से स्वयं-स्फूर्त ढंग से पैदा होता है, वह इस बात के लिए क़तई तैयार नहीं है कि समाजवाद के आम कामों तथा रूस की वर्तमान परिस्थितियों के मुताबिक़ **स्वतंत्र रूप से** एक ठेठ **सामाजिक-जनवादी नीति निर्धारित की जाये।** आगे हम बतायेंगे कि 'राबोचेये देलो' भी यही ग़लती करता है।

(ग) 'आत्म-मुक्ति दल'[130] और 'राबोचेये देलो

'राबोचाया मीस्ल' के पहले अंक के सम्पादकीय लेख की, जिसकी बहुत कम लोगों को जानकारी थी और जिसे अब लोग लगभग भूल गये हैं, हमने इतने विस्तार से इसलिए चर्चा की क्योंकि वह साधारण विचारधारा जो बाद में असंख्य छोटे-छोटे झरनों के रूप में सामने आयी, सबसे पहले और सबसे स्पष्ट रूप में उसी लेख में व्यक्त हुई थी। व० इ० ... ने बिलकुल सही बात कही थी

जब उन्होंने 'राबोचाया मीस्ल' के पहले अंक तथा सम्पादकीय लेख की प्रशंसा करते हुए यह मत प्रकट किया था कि वह लेख "एक उग्र और चुनौती देनेवाली शैली" में लिखा गया था। ("लिस्तोक 'राबोत्निका'", अंक ९-१०, पृष्ठ ४९।) हर वह आदमी जिसके कुछ दृढ़ विचार होते हैं और जो समझता है कि उसके पास कोई नयी बात कहने के लिए है, वह सदा "चुनौती देनेवाली शैली" में ही लिखता है और अपने विचार इस तरह प्रकट करता है जिससे वे एकदम स्पष्ट हो जायें। "चुनौती" की शैली का अभाव केवल उन लोगों में होता है जो दो नावों पर एक साथ चढ़ने की कोशिश करते हैं, केवल इसी प्रकार के लोगों में यह क्षमता होती है कि वे एक रोज़ तो 'राबोचाया मीस्ल' की चुनौती की प्रशंसा करें और अगले रोज़ उसके विरोधियों के "चुनौती से भरे लेखों" की निन्दा करने लगें।

हम 'राबोचाया मीस्ल' के विशेष क्रोड़पत्र की यहां चर्चा नहीं करेंगे (वह "अर्थवादियों" के विचारों को और किसी भी प्रकाशन से अधिक सुसंगत ढंग से व्यक्त करता है और आगे कई विषयों के सम्बंध में उसपर हमें चर्चा करने का अवसर प्राप्त होगा), बल्कि 'मज़दूरों के आत्म-मुक्ति दल के घोषणापत्र' (मार्च १८९९, जो लन्दन के 'नकानूने'[131] नामक पत्र के अंक ७ में, जुलाई १८९९ में पुनः छपा था) का संक्षेप में ज़िक्र करेंगे। इस घोषणापत्र के लेखकों ने बिलकुल सही ही कहा है कि "रूस के मज़दूरों में **अभी जागृति पैदा हो ही रही है**, उन्होंने अभी-अभी सिर उठाकर अपने चारों ओर देखना शुरू ही किया है, और उन्हें संघर्ष का जो **पहला उपाय दिखाई पड़ता है वे सहज भाव से उसी पर लपक पड़ते हैं।**" परन्तु इससे ये लोग भी वही ग़लत निष्कर्ष निकाल लेते हैं जो 'राबोचाया मीस्ल' ने निकाला है; वे भूल जाते हैं कि यह सहज भाव वह अचेतनता (स्वयं-स्फूर्ति) है जिसकी सहायता करना समाजवादियों का काम है; और यह कि आधुनिक समाज में मज़दूरों को "संघर्ष का जो पहला उपाय दिखाई पड़ेगा", वह सदा ट्रेड-यूनियन संघर्ष का उपाय होगा, तथा "जो पहली विचारधारा दिखाई पड़ेगी" वह पूंजीवादी (ट्रेड-यूनियन) विचारधारा होगी। इसी तरह ये लेखक भी राजनीति को "त्यागते" नहीं, वे तो श्री वी० वी० के सुर में सुर मिलाकर महज़ यह कहते हैं (महज़!) कि राजनीति ऊपरी ढांचा होती है और इसलिए "राजनीतिक आन्दोलन को आर्थिक

संघर्ष के हित में चलाये जानेवाले आन्दोलन का ऊपरी ढांचा होना चाहिए, उसे इसी संघर्ष से पैदा होना चाहिए और उसके पीछे-पीछे चलना चाहिए।"

जहां तक 'राबोचेये देलो' का सम्बंध है, उसने अपना जीवन "अर्थवादियों" की "हिमायत" से शुरू किया था। उसने उस समय अपने पहले ही अंक में (अंक १, पृष्ठ १४१-१४२) एक **सफ़ेद झूठ** का सहारा लिया जब उसने यह कहा कि "वह नहीं जानता कि अक्सेलरोद ने" अपनी उस मशहूर पुस्तिका* में जिसमें उसने "अर्थवादियों" को चेतावनी दी थी, "किन नौजवान साथियों का ज़िक्र किया है"। इस झूठ को लेकर 'राबोचेये देलो' की अक्सेलरोद तथा प्लेख़ानोव से जो बहस छिड़ी, उसमें उसे मजबूर होकर यह मानना पड़ा कि "उसने अपने अज्ञान की बात इसलिए कही थी कि वह विदेशों में रहनेवाले सभी नौजवान सामाजिक-जनवादियों की इस अन्यायपूर्ण आरोप से **रक्षा करना** चाहता था" (अक्सेलरोद ने "अर्थवादियों" पर संकुचित दृष्टिकोण रखने का आरोप लगाया था)।[132] बात यह है कि यह आरोप सर्वथा न्यायपूर्ण था, और 'राबोचेये देलो' अच्छी तरह जानता है कि अन्य व्यक्तियों के साथ-साथ यह आरोप व० इ०... पर भी लागू होता था, जो उसके सम्पादकीय विभाग के एक सदस्य थे। यहां चलते-चलते मैं यह भी कह दूं कि इस बहस के दौरान में मेरी पुस्तिका 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के कार्य' का अक्सेलरोद ने जो मतलब लगाया था वह बिलकुल सही था, और 'राबोचेये देलो' ने जो मतलब लगाया था वह बिल्कुल ग़लत था। यह पुस्तिका १८९७ में 'राबोचाया मीस्ल' के निकलने के पहले लिखी गयी थी, जब मैं समझता था और सही समझता था कि सेंट पीटर्सबर्ग की 'संघर्ष करनेवाली लीग' की **प्रारम्भिक** प्रवृत्ति, जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है, अधिक प्रभाव रखती है। और वह प्रवृत्ति उस समय सचमुच अधिक प्रभाव रखती थी, कम से कम १८९८ के मध्य तक इस बात में ज़रा भी सन्देह नहीं था। अतएव, "अर्थवाद" के अस्तित्व और उसके खतरे को मिथ्या साबित करने की अपनी कोशिश में 'राबोचेये देलो' को एक ऐसी पुस्तिका का ज़िक्र करने का कोई अधिकार न था जो उस मत को प्रकट

---

* 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के वर्तमान कार्य और कार्यनीति', जेनेवा, १८९८। १८९७ में 'राबोचाया गाज़ेता' के नाम लिखे गये दो पत्र।

करती थी, जिसे सेंट पीटर्सबर्ग में १८९७-९८ में "अर्थवादी" मत ने **दबाकर ख़त्म कर दिया** था।*

परन्तु 'राबोचेये देलो' ने केवल "अर्थवादियों" की "हिमायत" ही नहीं की – वह ख़ुद भी लगातार उनकी बुनियादी ग़लतियों को दुहराता रहा। इस उलझाव का कारण यह है कि 'राबोचेये देलो' के कार्यक्रम की निम्नलिखित स्थापना का मतलब कई तरह से लगाया जाता है: "हमारे विचार से रूसी जीवन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता, जो संघ के **कार्यों** को (शब्दों पर ज़ोर हमारा है) और उसके साहित्यिक कार्य के स्वरूप को **निर्धारित करेगी**, वह **मज़दूर वर्ग का जन-आन्दोलन** है, (शब्दों पर ज़ोर 'राबोचेये देलो' ने दिया है) जो हाल के वर्षों में उठ खड़ा हुआ है।" जन-आन्दोलन एक अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना है, यह तथ्य विवाद से परे है। किन्तु मूल प्रश्न यह है कि मज़दूर वर्ग के जन-आन्दोलन द्वारा "कार्यों को निर्धारित" करने की बात का कोई क्या मतलब लगाये? उसके दो मतलब लगाये जा सकते हैं। **या तो** उसका

---

* 'राबोचेये देलो' ने जो पहला असत्य कहा था ("हम नहीं जानते कि अक्सेल्रोद ने किन नौजवान साथियों का ज़िक्र किया है"), उसको निभाने में तब उसने एक दूसरा असत्य और कह डाला जब उसने 'उत्तर' में लिखा: "जिस समय 'कार्य' की आलोचना प्रकाशित हुई थी, उस समय से अब तक कुछ आर्थिक एकांगेपन की प्रवृत्तियां पैदा हो गयी हैं, या कुछ रूसी सामाजिक-जनवादियों में न्यूनाधिक स्पष्टता के साथ उभर आयी हैं; ये प्रवृत्तियां हमारे आन्दोलन की उस अवस्था की तुलना में, जिसका वर्णन 'कार्य' में किया गया है, पीछे की ओर एक क़दम की द्योतक हैं" (पृष्ठ ९)। **१९०० में** प्रकाशित 'उत्तर' में यही कहा गया है। परन्तु 'राबोचेये देलो' का पहला अंक (जिसमें यह आलोचना प्रकाशित हुई थी) **अप्रैल १८९९ में** प्रकाशित हुआ था। तो क्या "अर्थवाद" ने केवल १८९९ में जन्म लिया था? नहीं। १८९९ वह वर्ष है जब **रूसी** सामाजिक-जनवादियों ने पहली बार "अर्थवाद" का विरोध किया था ('क्रीडो' के ख़िलाफ़ दिया गया संयुक्त बयान)। "अर्थवाद" का जन्म १८९७ में हुआ था, और 'राबोचेये देलो' को यह बात अच्छी तरह मालूम है, क्योंकि व० इ०... ने तो **नवम्बर १८९८ में** ही 'राबोचाया मीस्ल' की प्रशंसा करना शुरू कर दिया था (देखिये: "लिस्तोक 'राबोत्निका'", अंक ९-१०)।

यह मतलब है कि हमें इस आन्दोलन की स्वयं-स्फूर्ति के सामने सिर झुका देना चाहिए, यानी सामाजिक-जनवादी संगठन की भूमिका केवल इतनी रह जानी चाहिए कि वह मज़दूर आन्दोलन की अधीनता में रहे ('राबोचाया मीस्ल', 'आत्म-मुक्ति दल' और दूसरे "अर्थवादी" इसका यही अर्थ लगाते हैं), **या** उसका मतलब यह है कि जन-आन्दोलन ने हमारे सामने ऐसे **नये** सैद्धान्तिक, राजनीतिक तथा संगठनात्मक काम पेश कर दिये हैं जो उन कामों से कहीं अधिक पेचीदा हैं जिनसे हम जन-आन्दोलन के उठने के पहले वाले काल में सन्तोष कर सकते थे। 'राबोचेये देलो' का झुकाव पहले मतलब की ओर था और अब भी है, क्योंकि उसने किन्हीं नये कार्यों के बारे में कोई निश्चित बात नहीं कही है, बल्कि वह सदा इस प्रकार तर्क करता रहा है मानो "जन-आन्दोलन" ने हमें उन कामों को साफ़-साफ़ समझने व पूरा करने की आवश्यकता से **मुक्त कर दिया है**, जो इस आन्दोलन के कारण हमारें सामने आ गये हैं। यहां केवल इतना बता देना काफ़ी होगा कि 'राबोचेये देलो' के मतानुसार निरंकुश शासन का तख़्ता उलटने के कार्य को मज़दूर वर्ग के जन-आन्दोलन के **पहले** कार्य के रूप में स्थान देना सर्वथा असम्भव है, और उसने इस काम को (जन-आन्दोलन के हित में) नीचे गिराकर तात्कालिक राजनीतिक मांगों की लड़ाई में बदल दिया है। ('उत्तर', पृष्ठ २५)

हम 'राबोचेये देलो' के सम्पादक, ब० क्रिचेव्स्की के "रूसी आन्दोलन में आर्थिक तथा राजनीतिक संघर्ष" शीर्षक लेख की भी चर्चा नहीं करेंगे, जो उस पत्र के सातवें अंक में छपा है और जिसमें ये ही ग़लतियां* फिर दुहरायी

---

*उदाहरण के लिए, इस लेख में "मंज़िलों वाला सिद्धान्त" या राजनीतिक संघर्ष में "हिचकिचाते और बल खाते चलने" का सिद्धान्त इस रूप में व्यक्त किया गया है: "किन्तु राजनीतिक मांगों को, जिनका स्वरूप सारे रूस में एक सा है, शुरू में" (यह अगस्त १६०० में लिखा गया था!) "उस अनुभव के अनुरूप होना चाहिए जो मज़दूरों के सम्बंधित स्तर ने" (जी हां!) "आर्थिक संघर्ष में प्राप्त किया है। केवल (!) इस अनुभव के आधार पर ही राजनीतिक आन्दोलन शुरू किया जा सकता है और किया जाना चाहिए,"

गयी हैं, हम सीधे-सीधे 'राबोचेये देलो' के दसवें अंक पर आ जाते हैं। ब० क्रिचेव्स्की और मार्तिनोव ने 'ज़ार्या' और 'ईस्क्रा' पर जो बहुत से एतराज़ किये हैं, जाहिर है कि हम उनकी तफ़सील में नहीं जायेंगे। यहां हमें केवल उन सिद्धान्तों में दिलचस्पी है जिनका प्रतिपादन 'राबोचेये देलो' के दसवें अंक में किया गया है। उदाहरण के लिए, हम इस अजीबोग़रीब बात पर विचार नहीं करेंगे कि नीचे दी गयी दो स्थापनाओं में 'राबोचेये देलो' को "मौलिक विरोध" दिखाई देता है। पहली स्थापना यह है:

"सामाजिक-जनवाद अपने हाथ नहीं बांधता, वह अपनी कार्रवाइयों को पहले से सोचे हुए राजनीतिक संघर्ष के किसी एक तरीक़े

इत्यादि (पृष्ठ ११।) पृष्ठ ४ पर लेखक अपने ख़्याल के अनुसार अर्थवादी भटकाव के सर्वथा निराधार आरोप का विरोध करते हुए बड़े दुखी भाव से कहता है: "सामाजिक-जनवादियों में कौन यह नहीं जानता कि मार्क्स और एंगेल्स के सिद्धान्तों के अनुसार विभिन्न वर्गों के आर्थिक हितों की इतिहास में निर्णायक भूमिका रहती है, और **इसलिए** अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए ख़ास तौर पर सर्वहारा वर्ग के संघर्ष को अपने वर्गीय विकास तथा मुक्ति संग्राम के लिए पहले दर्जे का महत्व प्राप्त होना चाहिए?" (शब्द पर ज़ोर हमारा है।) यहां "इसलिए" शब्द का बिलकुल ग़लत प्रयोग किया गया है। आर्थिक हितों की निर्णायक भूमिका का यह **क़तई मतलब नहीं होता** कि आर्थिक (अर्थात् ट्रेड-यूनियन) संघर्ष का महत्व सबसे अधिक है, क्योंकि वर्गों के सबसे आवश्यक, "निर्णायक" हित तो **केवल** आम और आमूल **राजनीतिक** परिवर्तनों से ही पूरे हो सकते हैं। सर्वहारा वर्ग के बुनियादी आर्थिक हित तो ख़ास तौर पर केवल ऐसी राजनीतिक क्रान्ति से ही पूरे हो सकते हैं जो पूंजीपति वर्ग के अधिनायकत्व के स्थान पर सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व क़ायम करे। ब० क्रिचेव्स्की तो "रूसी सामाजिक-जनवाद के वी० वी० जैसे लोगों" के तर्कों को (अर्थात्, राजनीति सदा अर्थव्यवस्था के पीछे-पीछे चलती है, इत्यादि) और जर्मन सामाजिक-जनवाद के बर्न्सटीनवादियों के तर्कों को (उदाहरण के लिए, इस तरह के तर्कों के द्वारा वोल्टमान ने यह साबित करने की कोशिश की थी कि मज़दूरों को राजनीतिक क्रान्ति की बात सोचने के पहले सर्वप्रथम "आर्थिक शक्ति" प्राप्त करनी चाहिए) दुहराते हैं।

या योजना तक ही सीमित नहीं रखता। वह संघर्ष के सब उपायों को, जिस हद तक कि वे पार्टी के साधनों के अनुरूप हैं, मानता है," इत्यादि।

('ईस्क्रा', अंक १) *

और दूसरी स्थापना यह है:

"जब तक एक ऐसा मज़बूत संगठन न होगा जिसे हर प्रकार की परिस्थितियों में और विभिन्न कालों में चलाये गये राजनीतिक संघर्ष में परखा जा चुका हो, तब तक काम की ऐसी किसी व्यवस्थित योजना की बात नहीं हो सकती जो दृढ़ सिद्धांतों के प्रकाश में तैयार की गयी हो और जिसे अडिग भाव से कार्यान्वित किया जाये, जब कि वास्तव में केवल ऐसी योजना को ही कार्यनीति का नाम दिया जा सकता है।" ('ईस्क्रा', अंक ४) **

संघर्ष के सभी उपायों को, सभी योजनाओं और तरीक़ों को, जिस हद तक वे उपयोगी हों, **सिद्धान्ततः** स्वीकार करने और **किसी विशेष राजनीतिक परिस्थिति में** किसी कार्यनीति की बात कर सकने के लिए किसी योजना का सख़्ती से पालन करने की मांग के अंतर को न देखना चिकित्सा-विज्ञान द्वारा बीमारियों का इलाज करने के विभिन्न तरीक़ों को मान्यता देने और किसी ख़ास बीमारी के इलाज के लिए किसी निश्चित तरीक़े का उपयोग करने को एक ही बात समझने के बराबर है। परन्तु असली बात यह है कि 'राबोचेये देलो', जो ख़ुद उस मर्ज़ से बीमार है जिसे हमने स्वयं-स्फूर्ति के सामने सिर झुकाने का नाम दिया है, **इस** बीमारी के लिए "इलाज के किसी तरीक़े" को नहीं मानता। इसी लिए उसने यह विलक्षण आविष्कार किया है कि "योजना-के-रूप-में-कार्यनीति की बात मार्क्सवाद की मौलिक भावना के ख़िलाफ़ है" (अंक १०, पृष्ठ १८), यह कि कार्यनीति तो **"पार्टी के कार्यों के विकास की प्रक्रिया है जो पार्टी के विकास के साथ-साथ चलती है।"** (पृष्ठ ११, शब्दों पर ज़ोर 'राबोचेये देलो' का है।) इस बात की पूरी संभावना है कि बाद का यह वाक्य एक प्रसिद्ध उक्ति और 'राबोचेये देलो' की "धारा" का स्थायी

---

* देखिये लेनिन का 'हमारे आन्दोलन के अत्यन्त आवश्यक कार्य-भार' शीर्षक लेख। – सं०

** देखिये लेनिन का 'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख। – सं०

स्मृति-स्तम्भ बन जाये। **"किस ओर?"** – इस प्रश्न के उत्तर में एक प्रमुख पत्र कहता है: जिस बिन्दु से हम चले हैं, उसके तथा आन्दोलन में बाद में आनेवाले बिन्दुओं के बीच के फ़ासले को बदलते जाने की प्रक्रिया को ही आन्दोलन कहते हैं। गूढ़ता का यह अनुपम उदाहरण केवल एक अनोखी वस्तु ही नहीं है (इतना ही होता तो उसकी विस्तार से चर्चा करने की आवश्यकता नहीं थी), वह एक **पूरी धारा का कार्यक्रम है**, अर्थात् यह वही कार्यक्रम है जिसे र० म० ने ('राबोचाया मीस्ल' के विशेष क्रोड़पत्र में) इन शब्दों में व्यक्त किया था: वही संघर्ष वांछित है जो सम्भव है, और सम्भव संघर्ष वह होता है जो उस समय सचमुच चल रहा हो। सीमाहीन अवसरवाद की धारा यही है, जो अपने को चुपचाप स्वयं-स्फूर्ति के अनुरूप ढाल लेती है।

"योजना-के-रूप-में-कार्यनीति की बात मार्क्सवाद की मौलिक भावना के ख़िलाफ़ है!" पर यह तो मार्क्सवाद की बदनामी है; यह मार्क्सवाद को उस व्यंग-चित्र में बदल देना है जिसे नरोदनिकों ने हमसे लड़ने के लिए बनाया था। इसका मतलब है वर्ग सजग लड़ाकू कार्यकर्ताओं की पहल तथा क्रियाशीलता के महत्व को कम कर देना, जबकि इसके विपरीत मार्क्सवाद, सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ताओं की पहल तथा क्रियाशीलता को महान प्रेरणा देता है, उनके सामने व्यापकतम सम्भावनाओं के द्वार खोल देता है, और (यदि ऐसा कहना उचित हो तो) उन करोड़ों-करोड़ मज़दूरों की प्रचंड शक्ति को उनके हाथों में सौंप देता है जो "स्वयं-स्फूर्त ढंग से" संघर्ष के मैदान में उतर रहे हैं! अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन का पूरा इतिहास ऐसी योजनाओं से भरा पड़ा है जिन्हें अलग-अलग समय पर अलग-अलग राजनीतिक नेताओं ने पेश किया था। इनमें से कुछ योजनाएं ऐसी हैं जिनसे उनके रचयिताओं की दूरदर्शिता और उनके सही राजनीतिक तथा संगठनात्मक दृष्टिकोण की पुष्टि होती है, और कुछ ऐसी हैं जो अपने रचयिताओं की अदूरदर्शिता तथा ग़लत राजनीतिक दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देती हैं। जिस समय जर्मनी अपने इतिहास के एक सबसे महत्वपूर्ण मोड़ पर खड़ा था – जब साम्राज्य स्थापित हो चुका था, राइख़स्टाग खुल गयी थी और सार्वजनिक मताधिकार मिल चुका था – उस समय लीब्कनेख़्त के पास आम सामाजिक-जनवादी नीति तथा काम के लिए एक योजना थी और श्वीट्ज़र के पास एक दूसरी योजना थी। जब जर्मनी के

समाजवादियों के सर पर समाजवाद-विरोधी क़ानून का प्रहार हुआ, तो उस समय मोस्ट और हैस्सेलमैन्न के पास एक योजना थी – वे तुरन्त हिंसा और आतंक से जवाब देने को तैयार थे, और हौकबर्ग, श्रम्म तथा (कुछ हद तक) बर्न्सटीन के पास एक दूसरी योजना थी : इन लोगों ने सामाजिक-जनवादियों को यह सीख देना शुरू कर दिया था कि उन्होंने ग़लत ढंग की कटुता तथा क्रान्तिकारीपन का प्रदर्शन करके इस क़ानून की मुसीबत ख़ुद मोल ली है और अब उन्हें अपने व्यवहार को सुधार कर क्षमा प्राप्त करना चाहिए। एक तीसरी योजना उन लोगों ने रखी जिन्होंने एक ग़ैर-क़ानूनी अख़बार[133] निकालने की तैयारी की और बाद में उसे निकाला भी। इनमें से कौनसा मार्ग चुना जाये, इस सवाल को लेकर जो संघर्ष चला, उसके समाप्त हो जाने के अनेक वर्षों बाद, जब कि ख़ुद इतिहास ने निर्वाचित पथ की उपयोगिता के बारे में अपना निर्णय दे दिया है, अब पार्टी के विकास के साथ-साथ विकास करनेवाले पार्टी-कार्यों के विषय में गूढ़ प्रवचन देना बहुत आसान है। परन्तु जब चारों ओर मति-भ्रम* फैला हुआ है, जब रूसी "आलोचक" और "अर्थवादी" सामाजिक-जनवाद को ट्रेड-यूनियनवाद के स्तर पर उतारे दे रहे हैं, और जब आतंकवादी "योजना-के-रूप-में-कार्यनीति" को अपनाने के लिए ज़ोर दे रहे हैं जिससे पुरानी ग़लतियां बनी ही रहती हैं, तो ऐसे समय में इस तरह के गूढ़ प्रवचन देने तक ही सीमित रहना वास्तव में स्वयं अपने को "विचार-दारिद्र्य का प्रमाणपत्र" दे देना है। जब कि अनेकों रूसी सामाजिक-जनवादियों में पहल और क्रियाशीलता का "राजनीतिक प्रचार, आन्दोलन व संगठन के विस्तार का अभाव हो"**, जब उनके पास क्रांतिकारी कार्य के अधिक व्यापक संगठन की कोई "योजनाएं" न हों, तो ऐसे समय में यह कहना कि "योजना-के-रूप-में-कार्यनीति की बात मार्क्सवाद की मूल भावना के ख़िलाफ़

---

* मेहरिंग ने अपनी पुस्तक 'जर्मन सामाजिक-जनवाद का इतिहास' के उस अध्याय को «Ein Jahr der Verwirrung» (मति-भ्रम का वर्ष) शीर्षक दिया है, जिसमें उन्होंने यह बताया है कि नयी परिस्थिति में "योजना-के-रूप-में-कार्यनीति" चुनने में समाजवादियों ने शुरू में कैसी हिचकिचाहट तथा संकल्प के अभाव का परिचय दिया था।

** 'ईस्क्रा', अंक १ का सम्पादकीय लेख (देखिये लेनिन का 'हमारे आन्दोलन के अत्यन्त आवश्यक कार्य-भार' शीर्षक लेख)।– सं०

है", न केवल सिद्धान्त के क्षेत्र में मार्क्सवाद को विकृत करना है, बल्कि व्यवहार के क्षेत्र में भी **पार्टी को पीछे घसीटना** है।

'राबोचेये देलो' अपना उपदेश जारी रखते हुए कहता है:

> "क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी का काम केवल यह है कि वह अपने सचेतन काम से वस्तुगत विकास की गति को तेज़ कर दे, इस विकास को बन्द कर देना या उसकी जगह ख़ुद अपनी मनोगत योजनाओं को स्थापित करना, उसका काम नहीं है। 'ईस्क्रा' सिद्धान्ततः यह सब जानता है। परन्तु सचेतन क्रान्तिकारी कार्य को मार्क्सवाद जो बेहद महत्व देता है, उसके कारण 'ईस्क्रा' कार्यनीति के मामले में अपने कठमुल्लेपन के वशीभूत होकर, व्यवहारतः **विकास के वस्तुगत अथवा स्वयं-स्फूर्त तत्व के महत्व को कम करके आंकने लगता है।**" (पृष्ठ १८।)

श्री वी० वी० और उनकी बिरादरी में सिद्धान्तों के मामले में कैसा घोर मति-भ्रम फैला हुआ है, उसका यह एक और उदाहरण है। हम अपने दार्शनिक से प्रश्न करेंगे: मनोगत योजनाएं गढ़नेवाला वस्तुगत विकास के महत्व को कैसे कम करके आंकता है? ज़ाहिर है, जब वह यह भुला देता है कि यह वस्तुगत विकास कुछ वर्गों, स्तरों, और दलों, कुछ जातियों या जाति-समूहों, आदि की रचना करता है या उन्हें मज़बूत बनाता है, उन्हें नष्ट कर देता है या कमज़ोर बना देता है, और इस प्रकार एक ख़ास तरह के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक शक्ति-संयोजन के लिए और क्रान्तिकारी पार्टियों की स्थिति को निश्चित करने के लिए भूमिका का काम करता है, इत्यादि। यदि योजनाएं गढ़नेवाला यह करता है तो उसका अपराध यह नहीं होगा कि उसने स्वयं-स्फूर्त तत्व के महत्व को कम करके आंका, बल्कि इसके विपरीत, उसका अपराध यह होगा कि उसने **सचेतन** तत्व के महत्व को कम करके आंका, क्योंकि तब यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि उसमें वस्तुगत विकास को सही-सही समझने की "चेतना" नहीं थी। अतएव, स्वयं-स्फूर्ति तथा चेतना के "**तुलनात्मक** (शब्द पर ज़ोर 'राबोचेये देलो' का है) महत्व को आंकने" आदि की इन बातों से ही "चेतना" का पूर्ण अभाव प्रकट होता है। यदि "विकास के स्वयं-स्फूर्त तत्वों" को मनुष्य की समझ सचमुच पकड़ सकती है, तो उनके महत्व को ग़लत आंकना "सचेतन तत्व के महत्व को कम करके आंकने" के समान है। और यदि ये तत्व मनुष्य की समझ के बाहर हैं, तब

हम उन्हें जान नहीं सकते और इसलिए उनकी चर्चा नहीं कर सकते। फिर आख़िर ब० क्रिचेव्स्की किस बात को लेकर झगड़ रहे हैं? यदि वह समझते हैं कि 'ईस्क्रा' की "मनोगत योजनाएं" ग़लत हैं (जैसा कि उनके बारे में वह सचमुच ऐलान करते हैं), तो उन्हें यह बताना चाहिए कि इन योजनाओं में किन वस्तुगत तथ्यों को भुला दिया गया है, और तब उन्हें 'ईस्क्रा' पर यह दोष लगाना चाहिए कि उसने इन तथ्यों को भुलाकर **चेतना के अभाव** का परिचय दिया है, या उन्हीं के शब्दों में, "सचेतन तत्व के महत्व को कम करके आंका है।" परन्तु यदि ब० क्रिचेव्स्की महोदय मनोगत योजनाओं से नाराज़ तो होते हैं, लेकिन इसके सिवा और कोई तर्क नहीं पेश कर सकते कि इन योजनाओं में "सचेतन तत्व के महत्व को कम करके आंका गया है," (!!) तो उससे केवल यह प्रकट होता है: (१) कि जहां तक सिद्धान्तों का सवाल है, मार्क्सवाद की उनकी समझ कारेयेव तथा मिख़ाइलोव्स्की जैसे लोगों की सी है जिनका कि बेलतोव द्वारा काफ़ी मज़ाक़ उड़ाया जा चुका है, और (२) कि जहां तक व्यवहार का सम्बंध है, वह "विकास के उन स्वयं-स्फूर्त तत्वों" से खुश हैं जो हमारे क़ानूनी मार्क्सवादियों को बर्न्सटीनवाद की तरफ़ और हमारे सामाजिक-जनवादियों को "अर्थवाद" की तरफ़ घसीट ले गये हैं, और यह कि वह उन लोगों पर गुस्से से आग-बबूला हैं जिन्होंने यह पक्का इरादा कर लिया है कि वे किसी भी क़ीमत पर रूसी सामाजिक-जनवाद को "स्वयं-स्फूर्त" विकास के पथ से हटाकर ही दम लेंगे।

और उसके बाद कुछ ऐसी बातें आती हैं जिन्हें पढ़कर सचमुच हंसी आती है। "जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञान के तमाम आविष्कारों के बावजूद मनुष्य अपनी नस्ल को पुराने ढंग से ही बढ़ाता रहेगा उसी प्रकार सामाजिक विज्ञान के तमाम आविष्कारों तथा सचेतन लड़ाकों की संख्या में बढ़ती के बावजूद नयी समाज-व्यवस्था भविष्य में भी, **मुख्यतया** प्राकृतिक विस्फोटों के द्वारा ही जन्म लेगी।" (पृष्ठ १९)। जिस तरह हमारे बाप-दादा अपनी पुरानी अक़ल के मुताबिक यह कहा करते थे कि "बच्चे तो कोई भी बेवक़ूफ़ पैदा कर सकता है", उसी तरह आजकल (नरसिस तुपोरिलोव[134] जैसे) "आधुनिक समाजवादी" अपनी अक़ल के मुताबिक कहते हैं: नयी समाज-व्यवस्था के स्वयं-स्फूर्त जन्म में तो कोई भी बेवक़ूफ़ भाग ले सकता है। हमारा भी यही

मत है। इस प्रकार के कार्य में भाग लेने के लिए तो बस इतना आवश्यक है कि जब "अर्थवाद" का बोलबाला हो, तब "अर्थवाद" के सामने, और जब आतंकवाद का बोलबाला हो, तब आतंकवाद के सामने **हथियार डाल दिये जायें।** मिसाल के लिए, इस साल के वसन्त में जब आतंकवाद के आकर्षण के खिलाफ़ लोगों को चेतावनी देना नितान्त आवश्यक था, तब 'राबोचेये देलो' मानो अचम्भे में खड़ा रह गया क्योंकि उसके सामने एक ऐसी समस्या आ गयी थी जो उसके लिए "नयी" थी। और अब छः महीने बाद, जब समस्या का सामयिक महत्व कम हो गया है, तब वह एक ही साथ हमारे सामने यह घोषणा प्रस्तुत करता है कि "हमारे विचार से आतंकवादी भावनाओं के विकास को रोकना सामाजिक-जनवाद का काम नहीं है और न होना चाहिए" ('राबोचेये देलो', अंक १०, पृष्ठ २३) और दूसरी ओर वह हमारे सामने कांग्रेस का यह प्रस्ताव पेश करता है कि "कांग्रेस व्यवस्थित तथा आक्रामक आतंक को अनुपयुक्त समझती है" ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ १८)। कितनी सुन्दर, स्पष्ट और सुसंगत बात है! आतंक को रोकना ठीक नहीं है, पर उसे अनुपयुक्त घोषित करना सही है, और यह घोषणा इस तरह की गयी है जिससे अव्यवस्थित तथा रक्षात्मक आतंक "प्रस्ताव" की लपेट में न आये। मानना पड़ेगा कि इस प्रकार का प्रस्ताव पास करनेवाला आदमी ख़तरे से सर्वथा सुरक्षित और हर तरह की ग़लती से बचा रहता है, ठीक उसी तरह जैसे जो आदमी बोलता है, पर कुछ कहता नहीं, वह कभी ग़लती नहीं कर सकता! और इस तरह का प्रस्ताव तैयार करने के लिए बस इतना ही आवश्यक है कि आदमी में सदा आन्दोलन के **पीछे-पीछे चलने** की योग्यता हो। जब 'राबोचेये देलो' ने आतंक के सवाल को एक नया सवाल कहा और 'ईस्क्रा' ने उसका मज़ाक़ उड़ाया*, तो 'राबोचेये देलो' ने बड़े क्रोध के साथ 'ईस्क्रा' पर यह आरोप लगाया कि वह "पार्टी संगठन पर कार्यनीति सम्बंधी प्रश्नों के कुछ ऐसे हल लादने का दुस्साहस कर रहा है जिन्हें विदेशों में जा बसे लेखकों के एक दल ने पन्द्रह बरस पहले पेश किया था" (पृष्ठ २४)। सचमुच दुस्साहस है, और सचेतन तत्व के महत्व को कितना बढ़ा-चढ़ाकर आंकना है—पहले तो समस्याओं के

---

*देखिये लेनिन का 'कहां से आरम्भ करें ?' शीर्षक लेख।—सं०

सैद्धान्तिक हल ढूंढ़ निकालना और फिर संगठन के, पार्टी के, और जनता के सामने यह साबित करने की कोशिश करना है कि ये हल सही हैं!* इससे यह कितना ज़्यादा बेहतर है कि हम पहले से रटी-रटायी बातें सदा दोहराते रहें, और किसी पर कोई चीज़ "लादे" बिना हर "झोंके" के साथ–फिर चाहे वह "अर्थवाद" की दिशा में हो या आतंकवाद की दिशा में–बहते जायें। 'राबोचेये देलो' सांसारिक ज्ञान के इस महान सिद्धान्त का भी सामान्यीकरण कर डालता है और 'ईस्क्रा' तथा 'ज़ार्या' पर आरोप लगाता है कि उन्होंने "अपने कार्यक्रम को आन्दोलन के विरुद्ध ऐसे खड़ा कर रखा है मानो आकारहीन अव्यवस्था पर मंडराती कोई प्रेतात्मा हो।" (पृष्ठ २९) परन्तु सामाजिक-जनवाद का इसके सिवा और क्या काम है कि वह एक ऐसी "प्रेतात्मा" बने जो न सिर्फ़ स्वयं-स्फूर्त आन्दोलन पर मंडराये, बल्कि उस आन्दोलन को **"अपने कार्यक्रम" के स्तर तक उठाने** का प्रयत्न करे? निश्चय ही, आन्दोलन के **पीछे-पीछे** घिसटना उसका काम नहीं है: यदि वह बहुत अच्छा हुआ, तो भी उससे आन्दोलन की कोई सेवा न होगी; और बुरा हुआ तो उससे बहुत बड़ा नुक़सान हो जायेगा। किन्तु 'राबोचेये देलो' न केवल इस 'प्रक्रिया-के-रूप-में-कार्यनीति" का अनुसरण करता है, बल्कि उसे ऊंचा उठाकर एक सिद्धान्त के स्तर पर पहुंचा देता है, अतएव इस प्रवृत्ति को अवसरवाद नहीं, बल्कि **ख़्वोस्तीज़्म**** या पुछल्लावाद कहना ज़्यादा सही होगा। और हमें यह मानना पड़ेगा कि जिन लोगों ने सदा आन्दोलन के पीछे-पीछे चलने और उसका पुछल्ला बने रहने का फ़ैसला कर लिया है, वे "विकास के स्वयं-स्फूर्त तत्व के महत्व को कम करके आंकने की" ग़लती कभी कर ही नहीं सकते।

* * *

और इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की "नयी धारा" की बुनियादी ग़लती यह है कि वह

---

* यहां यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आतंक की समस्या का "सैद्धान्तिक" हल निकालकर 'श्रम मुक्ति' दल ने पुराने क्रान्तिकारी आन्दोलन के अनुभव का **सामान्यीकरण** किया था।

** रूसी भाषा में 'ख़्वोस्त' शब्द का अर्थ पूंछ है।–अनु०

स्वयं-स्फूर्ति के सामने सिर झुका देती है और यह नहीं समझती कि जनता की स्वयं-स्फूर्ति हम सामाजिक-जनवादियों से बहुत अधिक चेतना की मांग करती है। जनता में जितना ही अधिक स्वयं-स्फूर्त उभार होता है, आन्दोलन का विस्तार उतना ही बढ़ जाता है, और उतनी ही अधिक तेज़ी से, बल्कि उससे भी कहीं ज़्यादा तेज़ी से, सामाजिक-जनवाद के सैद्धान्तिक, राजनीतिक तथा संगठनात्मक काम में पहले से अधिक चेतना की मांग बढ़ जाती है।

रूस में जनता का स्वयं-स्फूर्त उभार इतनी तेज़ी से आया (और अब भी आ रहा है) कि नौजवान सामाजिक-जनवादी इतने बड़े-बड़े कामों के लिए तैयार नहीं थे। उनकी यह असमर्थता हम सब का, रूस के **सभी** सामाजिक-जनवादियों का दुर्भाग्य है। जनता का उभार अबाध गति से और लगातार बढ़ता गया, वह न केवल उन जगहों में जारी रहा जहां वह शुरू हुआ था, बल्कि वह नयी जगहों में और आबादी के नये हिस्सों में फैल गया (मज़दूर आन्दोलन के प्रभाववश विद्यार्थियों में, आम तौर पर बुद्धिजीवियों में, और यहां तक कि किसानों में भी फिर से बेचैनी पैदा हो गयी)। परन्तु क्रान्तिकारी अपने "सिद्धान्तों" और अपने काम दोनों ही में, इस उभार के **पीछे-पीछे घिसटते रहे**; वे एक ऐसा शृंखलाबद्ध संगठन नहीं बना सके जिसका बीते हुए काल से अटूट संबंध हो और जिसमें पूरे आन्दोलन का **नेतृत्व** करने की सामर्थ्य हो।

पहले अध्याय में हमने यह साबित किया था कि 'राबोचेये देलो' हमारे सैद्धान्तिक कामों के महत्व को कम करके आंकता है और "आलोचना की स्वतंत्रता" के फ़ैशनेबल नारे को बड़े "स्वयं-स्फूर्त ढंग से" दुहराता रहता है: यह कि जो लोग इस नारे की रट लगाते हैं, उनमें इस "चेतना" का अभाव है कि जर्मनी तथा रूस में अवसरवादी "आलोचकों" तथा क्रान्तिकारियों की स्थिति में कितना ज़मीन-आसमान का अन्तर है।

आनेवाले अध्यायों में हम यह बतायेंगे कि स्वयं-स्फूर्ति की पूजा करने की यह भावना सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के राजनीतिक कार्यों तथा संगठनात्मक काम के क्षेत्र में किस तरह प्रकट हुई।

३

ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति और सामाजिक-जनवादी राजनीति

एक बार फिर हम 'राबोचेये देलो' की प्रशंसा से आरम्भ करेंगे। 'ईस्क्रा' के साथ अपने मतभेदों के विषय में मार्तिनोव ने 'राबोचेये देलो' के दसवें अंक में जो लेख लिखा है, उसे उन्होंने शीर्षक दिया है: 'भंडाफोड़ करनेवाला साहित्य और सर्वहारा का संघर्ष'। इन मतभेदों का सार-तत्व उन्होंने इस तरह पेश किया है: "हम अपने को केवल उस व्यवस्था का भंडाफोड़ करने तक ही सीमित नहीं रख सकते जो उसके" (मज़दूर वर्ग की पार्टी के) "विकास के रास्ते में खड़ी है। हमें सर्वहारा के तात्कालिक तथा मौजूदा हितों से उत्प्रेरित होना चाहिए।" (पृष्ठ ६३) "...'ईस्क्रा'... वास्तव में, क्रान्तिकारी विरोध-पक्ष का मुखपत्र है, जो हमारे देश की वर्तमान अवस्था का, खासकर राजनीतिक अवस्था का भंडाफोड़ करता है... लेकिन, हम सर्वहारा के संघर्ष के साथ घनिष्ठ और सप्राण सम्पर्क क़ायम रखते हुए मज़दूर वर्ग के हित के लिए काम करते हैं और बराबर करते रहेंगे।" (पृष्ठ ६३) इस सूत्र के लिए हम मार्तिनोव के प्रति कृतज्ञता प्रकट किये बिना नहीं रह सकते। यह सूत्र सभी के लिए बहुत दिलचस्पी रखता है, क्योंकि वह न केवल 'राबोचेये देलो' के साथ हमारे मतभेदों को बल्कि राजनीतिक संघर्ष के बारे में हम लोगों और "अर्थवादियों" के बीच मोटे तौर पर जो मतभेद है उसको भी सार-रूप में अपने अंदर समेट लेता है। हम पहले बता चुके हैं कि "अर्थवादी" लोग "राजनीति" को एकदम नहीं त्याग देते, बल्कि वे सदा राजनीति की सामाजिक-जनवादी समझ की ओर से ट्रेड-यूनियनवादी समझ की ओर बहकते रहते हैं। मार्तिनोव भी ठीक इसी तरह बहकते हैं, और इसलिए हम उनके मत को इस प्रश्न पर "अर्थवादी" ग़लती का **नमूना** मानकर चलेंगे। जैसा कि हम आगे सिद्ध करने की कोशिश करेंगे, इससे 'राबोचाया मीस्ल' के 'विशेष क्रोड़पत्र' के लेखकों को या 'आत्म-मुक्ति दल' द्वारा प्रकाशित घोषणापत्र के रचयिताओं को, या 'ईस्क्रा' के १२ वें अंक में छपे "अर्थवादी" पत्र के लिखनेवालों को कोई शिकायत का मौक़ा नहीं होगा।

(क) राजनीतिक आन्दोलन और अर्थवादियों द्वारा उसका संकुचित किया जाना

हर आदमी जानता है कि रूसी मज़दूरों के आर्थिक* संघर्ष में जो व्यापक फैलाव और मज़बूती आयी है, वह आर्थिक दशा का, अर्थात् कारख़ानों व उद्योग-धंधों की हालत का, भंडाफोड़ करनेवाले "साहित्य" की रचना के साथ-साथ आयी है। इन "परचों" में ज़्यादातर कारख़ानों की हालत का भंडाफोड़ रहता था, और शीघ्र ही मज़दूरों में इस तरह के भंडाफोड़ की धुन पैदा हो गयी। जैसे ही मज़दूरों को यह महसूस हुआ कि सामाजिक-जनवादी मण्डल उन्हें एक नयी तरह के परचे देना चाहते हैं और दे सकते हैं, जिनमें ग़रीबी से ग्रस्त उनके जीवन के बारे में, उनकी कमरतोड़ मेहनत और अधिकारों के अभाव के विषय में पूरा सत्य लिखा रहेगा, वैसे ही कारख़ानों और फ़ैक्टरियों से पत्रों का तांता बंध गया। इस "भंडाफोड़ करनेवाले साहित्य" से न सिर्फ़ उस ख़ास कारख़ाने में जिसकी हालत का उसमें भंडाफोड़ किया गया था, बल्कि जहां कहीं भी उस भंडाफोड़ की ख़बर पहुंचती थी, उन तमाम कारख़ानों में हलचल पैदा हो जाती थी और चूंकि अलग-अलग उद्योगों तथा अलग-अलग उद्यमों में मज़दूरों की ग़रीबी और अभाव मोटे तौर पर एकसमान ही है, इसलिए "मज़दूरों की ज़िन्दगी की सचाई" **सभी** मज़दूरों को आन्दोलित करती थी। यहां तक कि सबसे ज़्यादा पिछड़े मज़दूरों में भी यह जोश पैदा हो गया कि उनकी बात भी "छापे में आये" – उनमें लूट और जुल्म की बुनियाद पर खड़ी आज की पूरी समाज-व्यवस्था के ख़िलाफ़ इस प्रारम्भिक ढंग के युद्ध की पवित्र भावना फैल गयी। और ज़्यादातर उदाहरणों में ये "परचे" सचमुच युद्ध की घोषणा के समान थे, क्योंकि उनके द्वारा जो भंडाफोड़ होता था वह मज़दूरों में

---

*ग़लतफ़हमी से बचने के लिए यहां यह बता देना आवश्यक है कि यहां पर, और इस पुस्तिका में हर जगह, आर्थिक संघर्ष से हमारा मतलब (इस शब्द के उस अर्थ के अनुसार जो हम लोगों के बीच स्वीकृत है) उस "व्यावहारिक आर्थिक संघर्ष" से है, जिसे एंगेल्स ने उस अंश में, जिसका उद्धरण हमने ऊपर दिया है, "पूंजीपतियों का विरोध" कहा है और जो स्वतंत्र देशों में व्यावसायिक, श्रमिक-संघीय अथवा ट्रेड-यूनियन संघर्ष कहलाते हैं।

उत्तेजना पैदा करने में बहुत मदद देता था, सबसे ज़्यादा उभरी हुई बुराइयों को दूर करने की संयुक्त मांगें इन परचों को पढ़कर मज़दूरों के बीच पैदा होती थीं, और इन मांगों के समर्थन में हड़तालें करने की तत्परता होती थी। और आख़िरी बात यह कि ख़ुद मालिकों को भी युद्ध की घोषणा के रूप में इन परचों का महत्व स्वीकार करना पड़ता था, यहां तक कि अक्सर तो वे संघर्ष शुरू होने का भी इन्तजार नहीं करते थे। जैसा कि हमेशा होता है, भंडाफोड़ करनेवाले परचों का प्रकाशन ही उनको कारगर बना देता था और वे एक बड़े नैतिक बल का महत्व प्राप्त कर लेते थे। कई बार तो एक परचे का प्रकाशन ही काफ़ी साबित हुआ और उसी से मज़दूरों की सारी या थोड़ी मांगें पूरी हो गयीं। सारांश यह कि आर्थिक (कारख़ानों की हालत का) भंडाफोड़ करनेवाले परचे आर्थिक संघर्ष का एक बड़ा साधन थे और अब भी हैं। और जब तक पूंजीवाद मौजूद है, जो मज़दूरों को अपनी हिफ़ाज़त के वास्ते लड़ने के लिए मजबूर करता है, तब तक उनका यह महत्व बना रहेगा। यहां तक कि यूरोप के सबसे अधिक उन्नत देशों में हम आज भी यह देखते हैं कि जब किसी पिछड़े हुए "व्यवसाय" या घरेलू उद्योग की किसी भूली हुई शाखा में बुराइयों का भंडाफोड़ किया जाता है, तो वह कार्य वर्ग-चेतना के उदय, ट्रेड-यूनियन संघर्ष की शुरुआत तथा समाजवाद के प्रसार का श्रीगणेश बन जाता है।*

---

* इस अध्याय में हम केवल **राजनीतिक** संघर्ष की, उसके अधिक व्यापक या अधिक संकुचित अर्थ में, चर्चा कर रहे हैं। इसलिए यहां पर हम 'ईस्क्रा' के विरुद्ध 'राबोचेये देलो' के इस आरोप का उल्लेख केवल लगे हाथों और एक अजीब बात के रूप में करेंगे कि आर्थिक संघर्ष के मामले में वह "हद से ज़्यादा ज़ब्त" से काम लेता है। ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ २७; जहां से मार्तिनोव ने इस बात को लिया है और नया मिर्च-मसाला मिलाकर अपनी पुस्तिका 'सामाजिक-जनवाद और मज़दूर वर्ग' में पेश किया है।) जो लोग यह आरोप लगाते हैं कि वे यदि हंड्रेडवेटों में या काग़ज़ के रीमों में यह हिसाब लगाते (जिस तरह हिसाब लगाने का उनको इतना शौक़ है) कि 'ईस्क्रा' के औद्योगिक स्तंभ में एक साल के अन्दर आर्थिक संघर्ष के बारे में कितना कहा गया है और उसकी तुलना इससे करते कि 'राबोचेये देलो' तथा 'राबोचाया मीस्ल' दोनों के औद्योगिक स्तंभों में मिलाकर कितना कहा गया है, तो उन्हें बड़ी आसानी से पता लग जाता कि वे इस मामले में भी पीछे हैं। ज़ाहिर है कि इस

रूस के अधिकतर सामाजिक-जनवादी कुछ समय से केवल कारख़ानों की हालत का भंडाफोड़ करने के काम को संगठित करने में लगभग डूबे हुए हैं। 'राबोचाया मीस्ल' की याद ताज़ा करते ही यह बात साफ़ हो जायेगी कि वे इस काम में किस हद तक डूब गये थे। यहां तक कि वे इस बात को भी भूल गये कि यह काम अभी तक **ख़ुद अपने में** बुनियादी तौर पर सामाजिक-जनवादी काम नहीं, बल्कि ट्रेड-यूनियन का काम है। सचाई यह है कि इन भंडाफोड़ों में महज़ **किसी ख़ास व्यवसाय** के मज़दूरों तथा मालिकों के सम्बंधों की चर्चा रहती थी, और उनसे केवल यह काम निकलता था कि अपनी श्रम-शक्ति को बेचनेवाले अपना "माल" ज़्यादा बेहतर दामों में बेचना और एक शुद्ध व्यापारिक सौदे को लेकर ख़रीदारों से लड़ना-झगड़ना सीखते थे। इन भंडाफोड़ों से (यदि क्रान्तिकारियों का कोई संगठन उनका सही उपयोग करता तो) सामाजिक-जनवादी कार्य का श्रीगणेश किया जा सकता था और वे इस काम का एक अंग बन सकते थे। परन्तु, उनके फलस्वरूप एक "शुद्ध" ट्रेड-यूनियनवादी संघर्ष और एक ग़ैरसामाजिक-जनवादी मज़दूर आन्दोलन भी खड़ा हो सकता था (और यदि स्वयं-स्फूर्ति की पूजा करने की भावना हो तो यह नतीजा निकलना लाज़िमी था)। सामाजिक-जनवाद श्रम-शक्ति की बिक्री के वास्ते केवल बेहतर दाम हासिल करने के लिए ही नहीं, बल्कि उस समाज-व्यवस्था को मिटाने के लिए भी मज़दूर वर्ग के संघर्ष का नेतृत्व करता है, जो सम्पत्तिहीन लोगों को धनिकों के हाथ बिकने के लिए मजबूर करती है। सामाजिक-जनवाद केवल मालिकों के किसी एक दल विशेष के साथ उसके संबंध के मामले में ही नहीं बल्कि आधुनिक समाज के सभी वर्गों के साथ और एक संगठित राजनीतिक शक्ति के रूप में राजसत्ता के साथ उसके सम्बंध के मामले में भी मज़दूर वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। अतएव, इससे निष्कर्ष निकलता

साधारण सी सचाई का आभास उन्हें ऐसे तर्क देने के लिए मजबूर करता है जिनसे उनकी उलझन स्पष्ट हो जाती है। ये लोग लिखते हैं: "'ईस्क्रा' को न चाहते हुए भी (!) ज़िंदगी के लाज़िमी तक़ाज़ों के सामने झुकना पड़ता है और कम से कम (!!) मज़दूर आंदोलन के बारे में चिट्ठियां छापने पर मजबूर (!) होना पड़ता है।" ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ २७)। ज़ाहिर है कि इस तर्क के सामने हमारा मुंह बंद हो जाता है!

है कि सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ताओं को न सिर्फ़ अपने को पूरी तरह आर्थिक संघर्ष तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए, बल्कि उन्हें आर्थिक मामलों का भंडाफोड़ करने के काम को संगठित करना अपनी कार्रवाइयों का प्रमुख अंग भी नहीं बनाना चाहिए। हमें मज़दूर वर्ग को राजनीतिक शिक्षा देने और उसकी राजनीतिक चेतना को विकसित करने के काम को बहुत सक्रिय रूप से हाथ में लेना चाहिए। **अब,** जबकि 'ज़ार्या' और 'ईस्क्रा' "अर्थवाद" पर पहली चोट कर चुके हैं, तब "सब लोग इस बात से सहमत हैं" (गोकि कुछ लोग, जैसा कि हम जल्द ही आगे देखेंगे, केवल शब्दों में ही इससे सहमत हैं)।

सवाल यह पैदा होता है: राजनीतिक शिक्षा में क्या होना चाहिए? क्या उसे केवल निरंकुश शासन के प्रति मज़दूर वर्ग की शत्रुता के विचार के प्रचार तक ही सीमित रखा जा सकता है? हरगिज़ नहीं। मज़दूरों को इतना ही **समझाना** काफ़ी नहीं है कि राजनीतिक दृष्टि से उनका उत्पीड़न हो रहा है (जिस प्रकार मज़दूरों को इतना ही **समझाना** काफ़ी नहीं था कि उनके हितों और मालिकों के हितों में परस्पर विरोध है)। इस उत्पीड़न की प्रत्येक ठोस मिसाल को लेकर आन्दोलन करना चाहिए (जिस प्रकार हमने आर्थिक उत्पीड़न की ठोस मिसालों को लेकर आन्दोलन करना शुरू कर दिया है)। और **यह** उत्पीड़न चूंकि समाज के विभिन्नतम वर्गों पर असर डालता है, और चूंकि यह जीवन तथा कार्य के औद्योगिक, नागरिक, वैयक्तिक, पारिवारिक, धार्मिक, वैज्ञानिक, आदि विभिन्न क्षेत्रों में प्रकट होता है, इसलिए क्या यह स्पष्ट नहीं है कि जब तक हम निरंकुश शासन के **सभी पहलुओं का राजनीतिक भंडाफोड़** संगठित नहीं करेंगे, तब तक हम मज़दूरों की राजनीतिक चेतना को विकसित करने के **अपने काम को पूरा नहीं कर सकेंगे**? ज़ुल्म की ठोस मिसालों को लेकर आन्दोलन करने के वास्ते ज़रूरी है कि इन मिसालों का भंडाफोड़ किया जाये (जिस प्रकार आर्थिक आन्दोलन चलाने के वास्ते ज़रूरी था कि कारख़ानों की बुराइयों का भंडाफोड़ किया जाये)।

कोई समझेगा कि यह तो बहुत सीधी और साफ़ बात है। पर पता यह चलता है कि राजनीतिक चेतना के **सभी पहलुओं को** विकसित करने की आवश्यकता को "सब लोग" केवल शब्दों में ही मानते हैं। मिसाल के लिए पता यह चलता है कि 'राबोचेये देलो' चौमुखा राजनीतिक भंडाफोड़ संगठित

करना (या संगठन की शुरूआत करना) तो दूर रहा, उल्टे 'ईस्क्रा' को भी, जो कि यह काम शुरू कर चुका है, **इस काम से पीछे घसीटने** की कोशिश कर रहा है। सुनिये: "मज़दूर वर्ग का राजनीतिक संघर्ष महज़" (असल में यह "महज़" ही तो नहीं है) "आर्थिक संघर्ष का ही सबसे विकसित, सबसे व्यापक और सबसे कारगर रूप है।" (अंक १ में पृष्ठ ३ पर प्रकाशित 'राबोचेये देलो' का कार्यक्रम।) "सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ताओं के सामने अब यह काम है कि, जहां तक सम्भव हो, वे आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप दें।" (मार्तिनोव, 'राबोचेये देलो', अंक १०, पृष्ठ ४२।) "आर्थिक संघर्ष जनता को राजनीतिक संघर्ष में खींचने का वह तरीक़ा है जिसका सबसे अधिक व्यापक रूप में उपयोग किया जा सकता है।" (संघ की कांग्रेस का प्रस्ताव और उसमें किये गये "संशोधन", 'दो कांग्रेसें', पृष्ठ ११ और १७।) जैसा कि पाठक देखते हैं, पहले अंक से लेकर "सम्पादकों के नाम हिदायतें" नामक सबसे नयी दस्तावेज़ तक 'राबोचेये देलो' इन स्थापनाओं से कूट-कूटकर भरा हुआ है, और राजनीतिक आन्दोलन तथा संघर्ष के बारे में उन सबसे स्पष्टत: एक ही मत प्रकट होता है। इस मत पर सभी "अर्थवादियों" में पाये जानेवाले इस दृष्टिकोण से विचार कीजिये कि राजनीतिक आन्दोलन को आर्थिक आन्दोलन के **पीछे चलना** चाहिए। क्या यह सच है कि आम तौर पर* आर्थिक संघर्ष जनता को राजनीतिक संघर्ष में खींचने का "वह

---

* "आम तौर पर" हम इसलिए कहते हैं कि 'राबोचेये देलो' आम सिद्धान्तों और पूरी पार्टी के आम कामों की चर्चा कर रहा है। निस्सन्देह, व्यवहार में कभी-कभी ऐसा भी होता है कि राजनीति को सचमुच अर्थतंत्र के पीछे-पीछे चलना ही **पड़ता है**, परन्तु जो प्रस्ताव सारे रूस पर लागू करने के लिए बनाया गया है, उसमें ऐसी बात केवल "अर्थवादी" ही कह सकते हैं। ऐसी सूरतें भी पैदा होती हैं जब "बिल्कुल शुरू से ही महज़ आर्थिक आधार पर" राजनीतिक आन्दोलन करना **सम्भव** होता है; 'राबोचेये देलो' को फिर भी यह बात सूझी कि "इसकी कोई आवश्यकता नहीं है"। ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ ११।) अगले अध्याय में हम दिखायेंगे कि किस प्रकार "राजनीतिज्ञों" व क्रान्तिकारियों की कार्यनीति न सिर्फ़ सामाजिक-जनवाद के ट्रेड-यूनियन सम्बंधी कामों को भुलाती नहीं है, बल्कि इसके विपरीत केवल उसी कार्यनीति से इन कामों को सुसंगत ढंग से **पूरा किया जा सकता है**।

तरीक़ा है जिसका सबसे अधिक व्यापक रूप में उपयोग किया जा सकता है"? यह बिल्कुल ग़लत है। पुलिस ज़ुल्म और निरंकुशता के अत्याचार की छोटी-बड़ी **सभी मिसालों** को – और केवल उन्हीं मिसालों को नहीं जिनका सम्बंध आर्थिक संघर्ष से होता है – जनता को "खींचने" के काम में किसी भी एतबार से इससे कम "व्यापक ढंग से प्रयोग" नहीं किया जा सकता। ज़ेम्स्त्वो (ज़िला बोर्ड) के अधिकारी[135], किसानों पर कोड़ों की मार, अफ़सरों की घूसख़ोरी, शहरों में "साधारण लोगों" के साथ पुलिस का व्यवहार, अकाल-पीड़ित लोगों पर अत्याचार, जनता के ज्ञान एवं शिक्षा प्राप्त करने के प्रयत्नों का दमन, ज़ोर-ज़बर्दस्ती से टैक्सों की वसूली, धार्मिक सम्प्रदायों का दमन, फ़ौजी सिपाहियों का अपमानजनक बरताव, और विद्यार्थियों तथा उदारपंथी बुद्धिजीवियों के साथ ऐसा व्यवहार मानों वे फ़ौज के सिपाही हों – ज़ुल्म की ये और ऐसी ही हज़ारों दूसरी मिसालें "आर्थिक" संघर्ष के साथ प्रत्यक्ष रूप से सम्बंधित न होते हुए भी क्या राजनीतिक आन्दोलन चलाने और जनता को राजनीतिक संघर्ष में खींचने के आम तौर पर **कम** "व्यापक ढंग से प्रयोग किये जा सकनेवाले" साधनों और अवसरों की द्योतक हैं? सत्य इसके बिल्कुल विपरीत है। मज़दूरों पर (ख़ुद उनपर या उन लोगों पर जिनसे उनका घनिष्ठ सम्बंध है) अलग-अलग जितने अत्याचार और ज़ुल्म होते हैं और उन्हें जितने तरीक़ों से अधिकारों से वंचित रखा जाता है, उन सबको यदि जोड़ा जाये, तो इसमें शक नहीं कि पुलिस के ऐसे ज़ुल्मों का हिस्सा बहुत छोटा रहेगा जिनका केवल आर्थिक संघर्ष से सम्बंध है। तब फिर हम पहले से ही अपने राजनीतिक आन्दोलन के क्षेत्र को यह कहकर क्यों **सीमित कर दें** कि उसका केवल **एक** ही तरीक़ा ऐसा है जिसका "सबसे अधिक व्यापक ढंग से उपयोग किया जा सकता है", जबकि सामाजिक-जनवादियों के पास आम तौर पर उसके अलावा भी अनेक ऐसे तरीक़े हैं जिनका "प्रयोग" कोई इससे कम "व्यापक ढंग से" नहीं किया जा सकता है?

बहुत, बहुत दिन हुए (एक वर्ष हुआ!..) 'राबोचेये देलो' ने लिखा था: "जैसे ही सरकार पुलिसवालों और राजनीतिक पुलिस को आम मज़दूरों के ख़िलाफ़ इस्तेमाल करती है," "जनता एक, या अधिक से अधिक चन्द हड़तालों के बाद तात्कालिक राजनीतिक मांगों को समझने लगती है" (अंक ७, पृष्ठ १५, **अगस्त** १९००)। पर अलग-अलग मंज़िलों वाला यह

अवसरवादी सिद्धान्त संघ ने अब त्याग दिया है, और कुछ हद तक हमारे साथ रिआयत करते हुए कहा है: "शुरू से ही, महज़ आर्थिक आधार पर राजनीतिक आन्दोलन चलाने की क़तई कोई आवश्यकता नहीं है।" ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ ११।) हमारे "अर्थवादियों" ने समाजवाद को पतन के कितने गहरे गढ़े में ढकेल दिया है, यह बात रूसी सामाजिक-जनवाद के भावी इतिहासकार के सामने लम्बी-लम्बी बहसों से उतनी स्पष्ट नहीं होगी, जितनी इस बात से कि अपनी पुरानी ग़लतियों में से कुछ को ख़ुद "संघ" ने ठीक करने की कोशिश की थी! परन्तु संघ सचमुच बहुत भोला है, यदि वह समझता है कि राजनीति को संकुचित करने के एक ढंग को त्याग देने पर हम संकुचित करने के उसके दूसरे ढंग को मानने के लिए तैयार हो जायेंगे! क्या इस मामले में भी यह कहना अधिक तर्कसंगत न होगा कि आर्थिक संघर्ष को अधिक से अधिक व्यापक आधार पर चलाना चाहिए, उसका हमेशा राजनीतिक आन्दोलन के लिए उपयोग करना चाहिए, लेकिन यह समझने की "क़तई कोई आवश्यकता नहीं है" कि जनता को सक्रिय राजनीतिक संघर्ष में खींचने के लिए आर्थिक संघर्ष ही **सबसे अधिक** व्यापक रूप में इस्तेमाल किया जा सकनेवाला तरीक़ा है?

संघ इस बात को बड़ा महत्व देता है कि उसने यहूदी मज़दूर संघ (बुंद)[136] की चौथी कांग्रेस के एक प्रस्ताव में इस्तेमाल किये गये "सबसे अच्छा तरीक़ा" शब्दों की जगह इन शब्दों का इस्तेमाल किया है: "ऐसा तरीक़ा... जिसका सबसे अधिक व्यापक रूप में उपयोग किया जा सकता है।" हम तसलीम करते हैं कि हमारे लिए यह कहना कठिन है कि इन दोनों प्रस्तावों में कौनसा बेहतर है। हमारी राय में **दोनों ही बदतर हैं**। संघ और बुंद दोनों ही राजनीति को आर्थिक एवं ट्रेड-यूनियनवादी जामा पहनाने की ग़लती करते हैं (कुछ हद तक शायद अनजाने में, परम्परा के वशीभूत होकर)। इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि यह ग़लती "सबसे अच्छा" शब्दों का इस्तेमाल करके की गयी है, या "जिसका सबसे अधिक व्यापक रूप में उपयोग किया जा सकता है" शब्दों का इस्तेमाल करके। यदि संघ ने यह कहा होता कि "आर्थिक आधार पर राजनीतिक आन्दोलन" एक ऐसा तरीक़ा है जिसका सबसे अधिक उपयोग किया जाता है (न कि "किया जा सकता है"), तो हमारे सामाजिक-

जनवादी ग्रान्दोलन के विकास के एक ख़ास युग के लिए उसकी यह बात सही होती। उसकी यह बात **"ग्रर्थवादियों"** के बारे में ग्रौर १८९८-१९०१ के (यदि अधिकांश नहीं तो) बहुत से व्यावहारिक कार्यकर्ताग्रों के बारे में बिलकुल सही होती, क्योंकि ये व्यावहारिक "ग्रर्थवादी" राजनीतिक ग्रान्दोलन का **उपयोग** (जिस हद तक वे उसका उपयोग करते भी थे) **लगभग शुद्ध ग्रार्थिक ग्राधार पर ही करते थे। इस तरह के** राजनीतिक ग्रान्दोलन को तो 'राबोचाया मीस्ल' ग्रौर 'ग्रात्म-मुक्ति दल' भी मानते थे, ग्रौर जैसा कि हम देख चुके हैं, इस तरह के राजनीतिक ग्रान्दोलन की तो उन्होंने सिफ़ारिश तक की थी। 'राबोचेये देलो' को इसकी **सख़्त निन्दा** करनी चाहिए थी कि ग्रार्थिक ग्रान्दोलन का उपयोगी कार्य करने के साथ-साथ राजनीतिक संघर्ष को हानिकारक ढंग से संकुचित किया जा रहा है, लेकिन, इसके बजाय वह (**"ग्रर्थवादी" लोगों द्वारा**) जिस तरीक़े का सबसे ज़्यादा **इस्तेमाल हो रहा है**, उसे ऐसा तरीक़ा ठहराता है जिसका सबसे ज़्यादा **इस्तेमाल किया जा सकता है**! कोई ग्राश्चर्य नहीं कि जब हम इन लोगों को "ग्रर्थवादी" कहते हैं, तो ये इसके सिवा ग्रौर कुछ नहीं कर सकते कि हमपर हर तरह की गालियों की बौछार करें, हमें "रहस्य खड़ा करनेवाले", "फूट डालनेवाले", "पोप के दूत", "मिथ्या प्रचारक"* ग्रादि कहें ग्रौर सारी दुनिया के सामने रोते फिरें कि हमने उनके साथ बड़ी ज़्यादती की है, तथा लगभग क़समें खा-खाकर यह कहें कि "ग्रब तो एक भी सामाजिक-जनवादी संगठन ऐसा नहीं है, जिसमें 'ग्रर्थवाद' का ज़रा-सा भी रंग हो"**। ग्ररे, ये दुष्ट, ग्रकारण बदनाम करनेवाले राजनीतिज्ञ! मानव-जाति के प्रति घृणा की भावना के कारण ही इन लोगों ने जान-बूझकर केवल दूसरों को परेशान करने के लिए "ग्रर्थवाद" का ग्राविष्कार किया होगा!

जब मार्तिनोव यह कहते हैं कि सामाजिक-जनवाद को "ग्रार्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" का काम हाथ में लेना चाहिए, तब वह सचमुच

---

*'दो कांग्रेसें' में ठीक इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया गया है, देखिये: पृष्ठ ३१, ३२, २८ ग्रौर ३०।

**'दो कांग्रेसें', पृष्ठ ३२।

अपने शब्दों का क्या ठोस अर्थ लगाते हैं? **अपनी श्रम-शक्ति की बिक्री में** बेहतर दाम पाने के लिए, जीवन तथा श्रम की परिस्थितियां सुधारने के लिए अपने मालिकों के ख़िलाफ़ मज़दूरों का सामूहिक संघर्ष ही आर्थिक संघर्ष होता है। यह संघर्ष आवश्यक रूप से औद्योगिक संघर्ष होता है, क्योंकि अलग-अलग व्यवसायों में मज़दूरों की हालत में बहुत फ़र्क़ होता है, और इसलिए इन हालतों को **सुधारने** की लड़ाई हरेक व्यवसाय को अलग-अलग लेकर ही हो सकती है (पश्चिमी देशों में एक-एक व्यवसाय में काम करनेवाले मज़दूरों की अलग-अलग यूनियनें, रूस में अलग-अलग व्यवसायों के मज़दूरों के अस्थायी संघ और परचे, आदि)। इसलिए "आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" का मतलब यह है कि "क़ानून बनवाकर तथा प्रशासनात्मक उपायों" द्वारा (मार्तिनोव ने अपने लेख के अगले पृष्ठ पर इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है—देखिये पृष्ठ ४३) इन अलग-अलग व्यवसायों के मज़दूरों की इन मांगों को पूरा कराने तथा अलग-अलग हर व्यवसाय में मज़दूरों की हालत को सुधारने की कोशिश की जाये। मज़दूरों की तमाम ट्रेड-यूनियनें ठीक यही करती हैं और सदा यही करती आयी हैं। पूर्णतया वैज्ञानिक (और "पूर्णतया" अवसरवादी) श्रीमान एवं श्रीमती वेब की रचनाएं पढ़िये, तो आपको मालूम होगा कि ब्रिटेन की ट्रेड-यूनियनें बहुत दिनों से "आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" के काम का महत्व मानती आयी हैं और इसी काम को करती आयी हैं; वे बहुत दिनों से इस बात के लिए लड़ रही हैं कि हड़ताल करने का अधिकार माना जाये, सहकारी एवं ट्रेड-यूनियन आन्दोलनों के रास्ते से तमाम क़ानूनी रुकावटें हटा ली जायें, स्त्रियों और बच्चों की रक्षा के लिए क़ानून बनाये जायें, स्वास्थ्य तथा कारख़ानों की हालत के सम्बंध में क़ानून बनाकर मज़दूरों की दशा में सुधार किया जाये इत्यादि।

अतएव, "आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" का यह रोबदार वाक्यांश जो सुनने में "बेहद" गम्भीर और क्रान्तिकारी लगता है, वास्तव में सामाजिक-जनवादी राजनीति को **गिराकर** ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति के स्तर पर ले आने की परम्परागत कोशिश को छिपाने के लिए आड़ का काम देता है! कहा जाता है कि 'ईस्क्रा' "जीवन में क्रान्ति पैदा करने से अधिक महत्व,

सूत्र में क्रान्ति पैदा करने को देता है"*; और 'ईस्क्रा' के इस एकांगीपन को ठीक करने के बहाने **आर्थिक सुधारों का संघर्ष** हमारे सामने कुछ इस तरह पेश किया जाता है मानो वह कोई बिलकुल नयी चीज़ हो। सच्ची बात यह है कि "आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" का मतलब आर्थिक सुधारों के लिए संघर्ष से अधिक और कुछ नहीं है। और यदि मार्तिनोव अपने ही शब्दों के महत्व पर थोड़ा विचार करते तो वह ख़ुद इसी सीधे-सादे नतीजे पर पहुंच जाते। अपनी सबसे बड़ी तोपों को 'ईस्क्रा' की ओर मोड़ते हुए वह कहते हैं, "आर्थिक शोषण, बेकारी, अकाल, आदि के ख़िलाफ़ क़ानून बनवाने और प्रशासनात्मक उपायों के लिए हमारी पार्टी सरकार के सामने ठोस मांगें पेश कर सकती थी और उसे ऐसा करना चाहिए था।" ('राबोचेये देलो' अंक १०, पृष्ठ ४२-४३।) प्रशासनात्मक उपायों के लिए ठोस मांगें – क्या इसका मतलब सामाजिक सुधारों के लिए मांग करना नहीं है? और हम निष्पक्ष पाठकों से फिर प्रश्न करते हैं – जब 'राबोचेये देलो' वादी (इस बेढंगे नाम के लिए मुझे क्षमा किया जाये!) 'ईस्क्रा' से अपना **मतभेद** आर्थिक सुधारों के लिए लड़ने की आवश्यकता की अपनी स्थापना को लेकर बताते हैं, तब हम यदि उन्हें छिपे हुए बर्न्सटीनवादी कहते हैं, तो क्या हम उनपर कोई मिथ्या आरोप लगाते हैं?

सुधारों के लिए लड़ना क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद के कार्य में हमेशा शामिल रहा है और आज भी शामिल है। परन्तु वह "आर्थिक" आन्दोलन का इस्तेमाल सरकार के सामने तरह-तरह के क़दम उठाने की मांगें ही नहीं, बल्कि यह मांग भी (और मुख्यतया यही मांग) पेश करने के लिए करता है कि सरकार निरंकुश शासन करना छोड़ दे। इसके अलावा, वह उसे अपना कर्तव्य समझता है कि यह मांग **केवल** आर्थिक संघर्ष के आधार पर ही नहीं,

---

*'राबोचेये देलो', अंक १०, पृष्ठ ६०। यह मार्तिनोव द्वारा इस स्थापना को कि "वास्तविक आन्दोलन का प्रत्येक क़दम एक दर्जन कार्यक्रमों से अधिक महत्वपूर्ण होता है" जिसके बारे में हम ऊपर अपना मत प्रकट कर चुके हैं, हमारे आन्दोलन की वर्तमान अव्यवस्थित हालत पर अपने ढंग से लागू करने का प्रयत्न है। वास्तव में यह बर्न्सटीन के उस कुख्यात वाक्य का ही रूसी अनुवाद है कि "आन्दोलन ही सब कुछ है, अंतिम उद्देश्य कुछ नहीं"।

बल्कि सार्वजनिक तथा राजनीतिक जीवन की ग्राम तौर पर सभी ग्रभिव्यक्तियों के ग्राधार पर सरकार के सामने पेश की जाये। सारांश यह कि क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद सुधारों के लिए संघर्ष को स्वतंत्रता ग्रौर समाजवाद के क्रान्तिकारी संघर्ष के ग्रधीन उसी तरह रखता है जैसे कोई एक भाग ग्रपने पूर्ण के ग्रधीन होता है। लेकिन मार्तिनोव ग्रलग-ग्रलग मंज़िलों वाले सिद्धान्त को एक नये रूप में फिर से जीवित करके राजनीतिक संघर्ष के विकास के लिए मानो एक शुद्ध ग्रार्थिक पथ निर्धारित करने की कोशिश कर रहे हैं। इस समय, जब क्रान्तिकारी ग्रान्दोलन उभार पर है, सुधारों के लिए लड़ने के एक तथाकथित विशेष "काम" को सामने लाकर वह पार्टी को पीछे घसीट रहे हैं ग्रौर "ग्रर्थवादी" तथा उदारपंथी, दोनों प्रकार के ग्रवसरवाद के हाथों में खेल रहे हैं।

ग्रस्तु, "ग्रार्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" की ऊपर से बड़ी गूढ़ लगनेवाली स्थापना के पीछे बेशर्मी के साथ सुधारों की लड़ाई को छिपाते हुए मार्तिनोव ने **शुद्धतः ग्रार्थिक** (वास्तव में केवल कारख़ानों की हालत के) **सुधारों को** इस तरह पेश किया है, मानो यह कोई ख़ास बात हो। उन्होंने ऐसा क्यों किया, यह हम नहीं जानते। हो सकता है, वह लापरवाही में ऐसा कर गये हों? पर यदि "कारख़ानों की हालत" में सुधारों के ग्रलावा भी उनके दिमाग़ में कुछ था, तो उनकी यह पूरी स्थापना जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, ग्रर्थहीन हो जाती है। या शायद उन्होंने यह सोचकर ऐसा किया हो कि सरकार केवल ग्रार्थिक क्षेत्र में ही कुछ "रिग्रायतें" दे सकती है?* यदि ऐसी बात है, तो यह एक विचित्र ग्रात्म-प्रवंचना है। कोड़ेबाज़ी, पासपोर्ट, ज़मीन के मुग्रावज़े की ग्रदायगी, धार्मिक सम्प्रदायों, सेंसरशिप, ग्रादि से सम्बंधित क़ानूनों के बारे में भी रिग्रायतें मिल सकती हैं ग्रौर मिलती रहती हैं। "ग्रार्थिक" रिग्रायतें (या झूठी रिग्रायतें) ज़ाहिर है कि सरकार के दृष्टिकोण से सबसे सस्ती ग्रौर सबसे ग्रधिक लाभदायक होती हैं, क्योंकि उनके ज़रिए उसे ग्राम मज़दूरों का विश्वास प्राप्त करने की ग्राशा

---

*पृष्ठ ४३: "ज़ाहिर है कि जब हम मज़दूरों को सरकार के सामने कुछ ग्रार्थिक मांगें पेश करने की राय देते हैं, तो इसका कारण यह है कि **ग्रार्थिक** क्षेत्र में निरंकुश सरकार ग्रावश्यकतावश कुछ रिग्रायतें देने को तैयार है।"

होती है। इसी कारण हम सामाजिक-जनवादियों को किसी भी हालत में या किसी तरह भी कोई ऐसी बात **नहीं करनी चाहिए** जिससे इस विश्वास (या ग़लतफ़हमी) के लिए आधार तैयार होता हो कि हम आर्थिक सुधारों को अधिक महत्व देते हैं, या उन्हें विशेष रूप से महत्वपूर्ण समझते हैं, आदि। क़ानून बनवाने तथा प्रशासनात्मक उपायों की जिन ठोस मांगों का ऊपर ज़िक्र किया गया है, उनके बारे में मार्तिनोव लिखते हैं: "इस प्रकार की मांगें कोरी नारेबाज़ी नहीं होंगी, क्योंकि उनसे ठोस नतीजों के निकलने की आशा होगी और इसलिए हो सकता है कि आम मज़दूर सक्रिय रूप से उनका समर्थन करें" ... भला हम "अर्थवादी" हैं, क़तई नहीं! हम तो सिर्फ़ नतीजों के "ठोसपन" के सामने उसी आजिज़ी से गिड़गिड़ाते हैं, जैसे बर्न्सटीन, प्रोकोपोविच, स्त्रूवे, र० म० जैसे लोग और उनका गिरोह गिड़गिड़ाता है। हम तो केवल (नरसिस तुपोरिलोव की तरह) लोगों को यह समझाना चाहते हैं कि वे तमाम चीज़ें जिनसे "किसी ठोस नतीजे की उम्मीद नहीं है", सब "कोरी नारेबाज़ी" हैं! हम तो केवल इस तरह तर्क करने की कोशिश कर रहे हैं मानो आम मज़दूरों में निरंकुश शासन के ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन करनेवाली **प्रत्येक कार्रवाई का** – भले ही उससे **रत्ती भर भी किसी ठोस नतीजे के निकलने की उम्मीद न हो** – समर्थन करने की क्षमता न हो (और मानो आम मज़दूरों ने उन तमाम लोगों के बावजूद, जो ख़ुद अपना कूपमंडूकपन और स्वार्थीपन मज़दूरों पर लाद देते हैं, अपनी यह क्षमता कभी की साबित न कर दी हो)!

उदाहरण के लिए, उन्हीं "उपायों" को ले लीजिये जो ख़ुद मार्तिनोव बेकारी और अकाल से पीड़ित लोगों की सहायता के लिए करवाना चाहते हैं। 'राबोचेये देलो' ने जो वादे किये हैं, उनसे यदि हम अन्दाज़ा लगायें, तो वह "क़ानून बनवाने तथा प्रशासनात्मक उपायों के लिए ऐसी ठोस" (क्या विधेयकों के रूप में?) "मांगों" का कार्यक्रम तैयार करने में व्यस्त है जिससे कुछ "ठोस नतीजे निकलने की उम्मीद हो"। लेकिन 'ईस्क्रा' ने जो "जीवन में क्रान्ति पैदा करने की अपेक्षा सूत्र में क्रान्ति पैदा करने को निरंतर अधिक महत्व देता है", बेकारी और पूरी पूंजीवादी व्यवस्था के अटूट सम्बंध को बताने की कोशिश की; उसने चेतावनी दी कि "अकाल आ रहा है", पुलिस का भंडाफोड़ किया कि वह "अकाल पीड़ितों से कैसे लड़ती है," और "दंड के अस्थायी नियमों"

के घोर अन्यायी रूप का पर्दाफ़ाश किया; और 'ज़ार्या' ने "घरेलू मामलों की समीक्षा" शीर्षक अकाल सम्बंधी लेख के एक हिस्से को एक आन्दोलन पुस्तिका के रूप में ख़ास तौर पर फिर से छापा। पर हे भगवन्! ये कट्टर मतवादी भी कितने "एकांगी" हैं; उनके कान इतने बहरे हैं कि वे "स्वयं जीवन" की पुकार को भी नहीं सुन पाते। ज़रा सोचिये, ज़रा कल्पना कीजिये कि उनके लेखों में एक भी – क्या आप विश्वास कर सकते हैं? – **एक भी** "ठोस मांग" ऐसी नहीं थी जिससे "कोई ठोस नतीजा निकलने की उम्मीद हो!" बेचारे मतवादी! इन लोगों को तो क्रिचेव्स्की और मार्तिनोव के पास भेजना चाहिए ताकि वे यह सीख सकें कि कार्यनीति विकास की एक प्रक्रिया है, उसकी जो कि विकसित होता है, इत्यादि, और यह कि हमें आर्थिक संघर्ष को **ही** राजनीतिक रूप देना है!

"अपने तात्कालिक क्रान्तिकारी महत्व के अलावा, मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष का" ("सरकार के ख़िलाफ़ **आर्थिक** संघर्ष"!!) "यह महत्व भी है कि उससे लगातार मज़दूरों के सामने यह बात साफ़ होती रहती है कि उनके कोई राजनीतिक अधिकार नहीं हैं।" (मार्तिनोव, पृष्ठ ४४।) हम इस अंश को उद्धृत कर रहे हैं तो इसलिए नहीं कि जो कुछ पहले ही कहा जा चुका है, उसे सौवीं या हज़ारवीं बार फिर दुहरायें, बल्कि "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष" के इस विलक्षण एवं नवीन सूत्र के लिए मार्तिनोव को हम धन्यवाद दें। क्या हीरा जैसा सूत्र है! "अर्थवादियों" में पाये जानेवाले तमाम छोटे-मोटे, आंशिक मतभेदों और अलग-अलग रंगों को कैसे अनुपम कौशल एवं चातुर्य से दूर करके यह स्पष्ट तथा संक्षिप्त सूत्र "अर्थवाद" के **सार-तत्व** को व्यक्त करता है: मज़दूरों को यह सलाह देने से शुरू करके कि उन्हें उस "राजनीतिक संघर्ष में" शामिल होना चाहिए, "जिसे वे सबके सामान्य हित में इस उद्देश्य से चलाते हैं कि सभी मज़दूरों की हालत में सुधार हो,"* अलग-अलग मंज़िलों वाले सिद्धान्त से होते हुए अन्त में जाकर कांग्रेस से "जिसका सबसे अधिक व्यापक रूप में उपयोग किया जा सकता है," प्रस्ताव का रूप धारण कर लेना, आदि। "सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" सरासर ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति है, जिसमें और सामाजिक-जनवादी राजनीति में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है।

---

*'राबोचाया मीस्ल', विशेष क्रोड़पत्र, पृष्ठ १४।

(ख) एक कहानी – मार्तिनोव ने प्लेख़ानोव को और गूढ़ कैसे बनाया

"कुछ दिनों से हमारे बीच कितनी बड़ी संख्या में सामाजिक-जनवादी लोमोनोसोव पैदा हो गये हैं!" – एक साथी ने एक रोज़ यह कहा; वह "अर्थवाद" की ओर झुकाव रखनेवाले बहुत से लोगों की इस आश्चर्यजनक प्रवृत्ति की ओर संकेत कर रहा था कि वे "अकेले ही" महान सत्यों का आविष्कार कर डालते हैं (जैसे यह कि आर्थिक संघर्ष मज़दूरों को अपने अधिकारों के अभाव के बारे में सोचने की प्रेरणा देता है), और ऐसा करते समय वे क्रान्तिकारी विचारधारा और क्रान्तिकारी आन्दोलन के पहले के तमाम विकास के दौरान में जो कुछ भी पैदा किया गया है उसे जन्मजात मेधावी पुरुषों की भांति असीम तिरस्कार के साथ भुला देते हैं। लोमोनोसोव-मार्तिनोव बिलकुल ऐसे ही जन्मजात मेधावी पुरुष हैं। उनके 'तात्कालिक प्रश्न' शीर्षक लेख पर एक नज़र डालिये और देखिये कि वह कैसे "अकेले ही" उस बात तक **लगभग पहुंच जाते हैं** जिसे अक्सेलरोद बहुत दिन पहले कह चुके हैं (ज़ाहिर है कि इनके बारे में हमारा लोमोनोसोव एक शब्द भी नहीं कहता); मिसाल के लिए, वह किस तरह यह समझना **शुरू कर रहे हैं** कि हम पूंजीपति वर्ग के विभिन्न स्तरों के विरोध की अवहेलना नहीं कर सकते ('राबोचेये देलो', अंक ९, पृष्ठ ६१, ६२, ७१; इसकी तुलना अक्सेलरोद के नाम "'राबोचेये देलो' के उत्तर" से कीजिये, पृष्ठ २२, २३-२४), इत्यादि। लेकिन अफ़सोस यह है कि वह केवल "लगभग पहुंच पाते हैं", और अभी "शुरू" ही कर रहे हैं, इससे ज़्यादा नहीं, क्योंकि अक्सेलरोद के विचारों को उन्होंने इतना कम समझा है कि वह "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" की बात करते हैं। 'राबोचेये देलो' ने तीन साल से (१८९८-१९०१) अक्सेलरोद को समझने की जी-तोड़ कोशिश की है, पर... पर अभी तक नहीं समझ पाया है! इसका शायद एक कारण यह है कि "मानव-जाति की भांति" सामाजिक-जनवाद भी सदा अपने सामने ऐसे ही काम रखता है, जिन्हें वह पूरा कर सकता है?

परन्तु हमारे इन लोमोनोसोवों की यही एक विशेषता नहीं है कि बहुत सी बातों के विषय में वे घोर अज्ञान रखते हैं (यह तो आधे दुर्भाग्य की बात

होती!), उनकी एक विशेषता यह भी है कि अपने अज्ञान का उन्हें तनिक भी आभास नहीं है। और यह सचमुच बड़े दुर्भाग्य की बात है; और इसी दुर्भाग्य का प्रताप है कि वे झटपट प्लेख़ानोव को "और गूढ़" बनाने की कोशिश करने लगते हैं।

> लोमोनोसोव-मार्तिनोव कहते हैं: "जिस समय प्लेख़ानोव ने यह पुस्तक" ('रूस में अकाल के विरुद्ध संघर्ष में समाजवादियों के काम') "लिखी थी, तब से दरिया में बहुत पानी बह चुका है। सामाजिक-जनवादी, जो दस वर्षों से मज़दूर वर्ग के आर्थिक संघर्ष का नेतृत्व कर रहे हैं ... अभी तक पार्टी की कार्यनीति के लिए कोई व्यापक सैद्धान्तिक आधार निर्धारित नहीं कर पाये हैं। अब यह सवाल बहुत ज़रूरी बन गया है, और यदि हम ऐसा सैद्धान्तिक आधार निर्धारित करना चाहते हैं, तो एक समय प्लेख़ानोव ने कार्यनीति के जिन सिद्धान्तों को विकसित किया था, हमें निश्चय ही उनको और गहरा बनाना होगा ... प्रचार और आन्दोलन के अन्तर की हमारी वर्तमान परिभाषा को प्लेख़ानोव की परिभाषा से भिन्न होना होगा।" (मार्तिनोव इसके कुछ पहले ही प्लेख़ानोव के इन शब्दों को उद्धृत कर चुके थे: "कोई प्रचारक एक या चन्द आदमियों के सामने अनेक विचार पेश करता है, आन्दोलनकर्ता केवल एक या चन्द विचार पेश करता है, परन्तु वह उन्हें आम जनता के सामने रखता है।") "हम प्रचार उसे कहेंगे जब आजकल की पूरी व्यवस्था का या उसके आंशिक रूपों का क्रान्तिकारी ढंग से स्पष्टीकरण किया जाये, चाहे वह चन्द व्यक्तियों को समझाने की भाषा में किया जाये या आम जनता को समझाने की भाषा में। आन्दोलन, यदि उसके बिलकुल सही अर्थ को लिया जाये तो," (जी हां!) "हम उसे कहेंगे जब जनता का कुछ ऐसे ठोस काम करने के लिए आवाहन किया जाये जिनसे सामाजिक जीवन में सर्वहारा वर्ग के सीधे क्रान्तिकारी हस्तक्षेप में सहायता मिलती हो।"

इस नयी मार्तिनोव शब्दावली के लिए, जो अधिक चुस्त और अधिक गूढ़ है, हम रूसी – और अन्तर्राष्ट्रीय – सामाजिक-जनवाद को बधाई देते हैं। अभी तक (प्लेख़ानोव की भांति, और अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के सभी

नेताओं की भांति) हम भी यही समझते थे कि जब, मिसाल के लिए, उसी बेकारी के प्रश्न पर प्रचारक बोलता है, तो उसे आर्थिक संकटों के पूंजीवादी रूप को समझाना चाहिए, उसे बताना चाहिए कि वर्तमान समाज में इस प्रकार के संकटों का आना क्यों अवश्यम्भावी है, और इसलिए क्यों इस समाज को समाजवादी समाज में बदलना ज़रूरी है, आदि। सारांश यह कि प्रचारक को सुननेवालों के सामने "बहुत से विचार" पेश करने चाहिए ताकि (अपेक्षाकृत) थोड़े से लोग इन विचारों को एक अविभाज्य और सम्पूर्ण इकाई के रूप में समझ सकें। परन्तु इसी प्रश्न पर जब कोई आन्दोलनकर्ता बोलेगा, तो वह किसी ऐसी बात का उदाहरण देगा जो सबसे अधिक ज्वलंत हो और जिसे उसके सुननेवाले सबसे व्यापक रूप से जानते हों मसलन भूख से किसी बेरोज़गार मज़दूर के परिवारवालों की मौत, बढ़ती हुई ग़रीबी, आदि और फिर इस मिसाल का इस्तेमाल करते हुए, जिससे सभी लोग अच्छी तरह परिचित हैं, वह "जनता" के सामने **बस एक विचार** रखने की कोशिश करेगा, यानी यह कि यह अंतर्विरोध कितना बेतुका है कि एक तरफ़ तो दौलत और दूसरी तरफ़ ग़रीबी बढ़ती जा रही है। इस घोर अन्याय के विरुद्ध आन्दोलनकर्ता जनता में असंतोष और गुस्सा **पैदा करने** की कोशिश करेगा तथा इस अन्तर्विरोध का और पूर्ण स्पष्टीकरण करने का काम वह प्रचारक के लिए छोड़ देगा। अतएव, प्रचारक मुख्यतया **छपी हुई** सामग्री का उपयोग करता है, और आन्दोलनकर्ता **जीवित** शब्दों का प्रयोग करता है। प्रचारक में आन्दोलनकर्ता से भिन्न गुण होने चाहिए। उदाहरण के लिए काउत्स्की और लफ़ार्ग को हम प्रचारक कहते हैं तथा बेबेल और गेद को हम आन्दोलनकर्ता का नाम देते हैं। व्यावहारिक कार्य का एक तीसरा अलग क्षेत्र या तीसरी अलग क़िस्म बनाना और इस कार्य में "कुछ ठोस क़दम उठाने के लिए जनता का आवाहन करने" को शामिल करना–यह सरासर बकवास है, क्योंकि एक अकेले कार्य के रूप में यह "आवाहन" या तो स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी रूप से सैद्धान्तिक पुस्तक, प्रचार पुस्तिका और आन्दोलनकारी भाषण के पूरक का काम करता है, और या वह केवल एक प्रबंधकर्ता का काम है। मिसाल के लिए, उस संघर्ष को लीजिये जो आजकल जर्मनी के सामाजिक-जनवादी अनाज-चुंगी के खिलाफ़ चला रहे हैं। सिद्धान्तवेत्ता लोग सरकार की शुल्क नीति के विषय में खोज करके पुस्तकें लिखते हैं और, उदाहरण के लिए, व्यापारिक संधियों तथा स्वतंत्र व्यापार के

समर्थन में संघर्ष का "आवाहन" करते हैं। प्रचारक यही काम सामयिक पत्रों में करता है और आन्दोलनकर्ता सार्वजनिक भाषणों में। जनता के "ठोस क़दम" ने आजकल यह रूप ले रखा है कि अनाज-चुंगी बढ़ाने के ख़िलाफ़ राइख़स्टाग के नाम प्रार्थना-पत्रों पर दस्तख़त किये जा रहे हैं। यह अप्रत्यक्ष ढंग से सिद्धान्तवेत्ताओं, प्रचारकों और आन्दोलनकर्ताओं ने और प्रत्यक्ष ढंग से उन मज़दूरों ने जनता से यह काम करने को कहा है जो प्रार्थना-पत्र की प्रतियां लेकर कारख़ानों में और अलग-अलग घरों में प्रार्थना-पत्रों पर दस्तख़त कराते घूम रहे हैं। "मार्तिनोव की शब्दावली" के अनुसार काउत्स्की और बेबेल दोनों ही प्रचारक हैं और जो लोग हस्ताक्षर करा रहे हैं वे आन्दोलनकर्ता हैं, इसका यही मतलब है न?

जर्मन उदाहरण से मुझे जर्मन शब्द "वेरबाल्लहोर्नुंग" (*Verballhornung*) की याद आ गयी जिसका हूबहू अर्थ लगाया जाये तो वह "बाल्लहोर्न करना" होता है। सोलहवीं सदी में लिपज़िग में जोहान्न बाल्लहोर्न नामक एक प्रकाशक था। उसने बच्चों की एक पाठ्य-पुस्तक छापी थी, जिसमें उस ज़माने की प्रथा के अनुसार उसने एक मुर्ग़े का चित्र भी दिया था, लेकिन इस चित्र में टांगों पर खांग के साथ एक साधारण मुर्ग़े को न दिखाकर एक ऐसा मुर्ग़ा बनाया गया था जिसकी टांगों पर खांग नहीं थे और जिसके पास दो अंडे पड़े हुए थे। और इस पाठ्य-पुस्तक के आवरण पर छपा था: "जोहान्न बाल्लहोर्न द्वारा **संशोधित** संस्करण"। बस तभी से जब कभी कोई ऐसा "संशोधन" करता है जिससे चीज़ पहले से भी बिगड़ जाये, तो उसे जर्मन लोग "बाल्लहोर्न करना" कहते हैं। और जब हम देखते हैं कि मार्तिनोव जैसे लोग प्लेख़ानोव को किस तरह "और गूढ़" बनाने की कोशिश कर रहे हैं, तो हमें बरबस बाल्लहोर्न की याद आ जाती है।

हमारे लोमोनोसोव ने इस गड़बड़-घोटाले का "आविष्कार" क्यों किया? यह बताने के लिए कि "जिस प्रकार डेढ़ दशाब्दी पहले प्लेख़ानोव ने किया था, उसी प्रकार अब 'ईस्क्रा' मामले के सिर्फ़ एक पहलू की तरफ़ ध्यान दे रहा है" (पृष्ठ ३९)। "'ईस्क्रा' के मतानुसार, कम से कम वर्तमान समय में, प्रचार सम्बंधी कार्यों की तुलना में आन्दोलन सम्बंधी कार्य पृष्ठभूमि में पड़ जाते हैं" (पृष्ठ ५२)। यदि हम मार्तिनोव की भाषा के इस नवीनतम सूत्र का साधारण मनुष्यों की भाषा में अनुवाद करें (क्योंकि अभी मनुष्य-जाति इस नयी शब्दावली को नहीं सीख पायी है), तो हमारे सामने यह बात आयेगी: 'ईस्क्रा' के मत के

अनुसार राजनीतिक प्रचार तथा राजनीतिक आन्दोलन के कामों की तुलना में "क़ानून बनवाने और प्रशासनात्मक उपायों के लिए सरकार के सामने ऐसी ठोस मांगें रखने" का काम पृष्ठभूमि में पड़ जाता है, जिनसे "कोई ठोस नतीजा निकलने की उम्मीद हो" (यदि हमें केवल एक बार फिर पुरानी मानवता की, जो अभी तक मार्तिनोव के स्तर तक नहीं उठ पायी है, पुरानी शब्दावली का प्रयोग करने की अनुमति मिल सके, तो इन मांगों को सामाजिक सुधारों की मांग भी कहा जा सकता है)। हम पाठकों को सुझाव देंगे कि वे इस स्थापना की तुलना नीचे लिखे अंश से करें:

> "इन कार्यक्रमों में" (वे कार्यक्रम जिन्हें क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी पेश किया करते हैं) "जो बात हमें अचम्भे में डाल देती है, वह यह है कि उनमें संसद के अन्दर (जो रूस में है ही नहीं) मज़दूरों की हलचल के फ़ायदों पर लगातार ज़ोर दिया जाता है, हालांकि (अपने क्रान्तिकारी शून्यवाद के कारण) वे कारख़ानों के मामलों के सम्बंध में नियम बनानेवाली मिल-मालिकों की परिषदों में (जो रूस में मौजूद हैं) मज़दूरों के भाग लेने के महत्व को ... या कम से कम नगरपालिकाओं की संस्थाओं में मज़दूरों के भाग लेने के महत्व को बिलकुल भुला देते हैं"...

इस निन्दोक्ति के लेखक ने यहां उसी विचार को किसी क़दर ज़्यादा बेबाकी, ज़्यादा सफ़ाई के साथ और बेझिझक पेश किया है जिसका हमारे लोमोनोसोव-मार्तिनोव ने अकेले ही आविष्कार किया था। लेखक का नाम है र० म०, और यह लेख छपा था "'राबोचाया मीस्ल' के विशेष क्रोड़पत्र" में (पृष्ठ १५)।

(ग) राजनीतिक भंडाफोड़ और "क्रान्तिकारी कार्य की शिक्षा"

'ईस्क्रा' के मुक़ाबले में "आम मज़दूरों की क्रियाशीलता को बढ़ाने" का अपना "सिद्धान्त" पेश करके मार्तिनोव ने वास्तव में इस क्रियाशीलता का **महत्व कम करके आंकने** की प्रवृत्ति का परिचय दिया, क्योंकि उन्होंने उसी आर्थिक संघर्ष को, जिसके गुण सारे "अर्थवादी" गाते रहे हैं, इस क्रियाशीलता को बढ़ाने

का अधिक वांछनीय, सबसे महत्वपूर्ण और "सबसे अधिक व्यापक ढंग से उपयोग में लाने योग्य" उपाय तथा उसके लिए सबसे व्यापक क्षेत्र बताया। यह ग़लती बहुत लाक्षणिक है ठीक इसलिए कि अकेले मार्तिनोव ने ही यह ग़लती नहीं की है। सच्ची बात यह है कि "आम मज़दूरों की क्रियाशीलता को" **केवल** उसी समय बढ़ाया जा सकता है जब कि इस क्रियाशीलता को सिर्फ़ "आर्थिक आधार पर राजनीतिक आन्दोलन चलाने" तक ही **सीमित न रखा जाये**। और राजनीतिक आन्दोलन के आवश्यक विस्तार की एक बुनियादी शर्त यह है कि **सर्वांगीण** राजनीतिक भंडाफोड़ किया जाये। इस तरह के भंडाफोड़ के अलावा और किसी तरीक़े से जनता की राजनीतिक चेतना बढ़ायी **नहीं जा सकती** और न उसे क्रान्तिकारी कार्य की शिक्षा ही दी जा सकती है। अतएव, इस प्रकार का काम पूरे अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के सबसे महत्वपूर्ण कामों में से एक है, क्योंकि राजनीतिक स्वतंत्रता मिलने पर भी इस प्रकार के भंडाफोड़ की आवश्यकता तनिक भी कम नहीं होगी; उससे केवल वह क्षेत्र बदल जायेगा, जिसका भंडाफोड़ किया जाता है। उदाहरण के लिए, जर्मन पार्टी आजकल ख़ास तौर पर अपनी स्थिति को तेज़ी से मज़बूत कर रही है और उसका असर फैल रहा है, और इसका कारण यही है कि वह अथक उत्साह के साथ राजनीतिक भंडाफोड़ कर रही है। मज़दूर वर्ग की चेतना उस वक़्त तक सच्ची राजनीतिक चेतना नहीं बन सकती, जब तक कि मज़दूरों को **बिना किसी अपवाद के** अत्याचार, उत्पीड़न, हिंसा और अनाचार के **सभी** मामलों से, चाहे उनका असर **किसी भी वर्ग** पर क्यों न पड़ता हो, विचलित होना नहीं सिखाया जायेगा। और उनको सामाजिक-जनवादी दृष्टिकोण से विचलित होना चाहिए, न कि किसी और दृष्टिकोण से। आम मज़दूरों की चेतना उस समय तक सच्ची वर्ग-चेतना नहीं बन सकती जब तक कि मज़दूर ठोस और ख़ास तौर पर रोज़मर्रा के (सामयिक) राजनीतिक तथ्यों और घटनाओं से दूसरे **प्रत्येक** सामाजिक वर्ग का और इन वर्गों के बौद्धिक, नैतिक एवं राजनीतिक जीवन की **सभी** अभिव्यक्तियों का अवलोकन करना नहीं सीखते; जब तक कि मज़दूर व्यवहार में पदार्थवादी विश्लेषण करना और समाज के **सभी** वर्गों, स्तरों और समूहों के जीवन तथा कार्यों के **सभी** पहलुओं का पदार्थवादी मूल्यांकन करना नहीं सीखते। जो लोग मज़दूर वर्ग को अपना ध्यान, अवलोकन और चेतना पूर्णतया, या मुख्यतया भी, केवल अपने पर केन्द्रित करना सिखाते

हैं, वे सामाजिक-जनवादी नहीं हैं, क्योंकि उसके आत्मोद्धार के लक्ष्य की पूर्ति का सम्बंध अभिन्न रूप से आधुनिक समाज के **सभी** अलग-अलग वर्गों के पारस्परिक सम्बंधों के बारे में पूर्णतः स्पष्ट सैद्धांतिक समझ से ही नहीं है, बल्कि यह कहना ज़्यादा सही होगा कि उसका अभिन्न सम्बंध सैद्धांतिक समझ से उतना नहीं है जितना राजनीतिक जीवन के अनुभव से प्राप्त की गयी इन बातों की व्यावहारिक समझ से है। यही कारण है कि हमारे "अर्थवादी" जिस विचार का प्रचार करते हैं, यानी यह कि आर्थिक संघर्ष जनता को राजनीतिक आन्दोलन में खींचने का वह तरीक़ा है जिसका सबसे अधिक व्यापक रूप में उपयोग किया जा सकता है, वह अपने व्यावहारिक महत्व में बहुत अधिक हानिकारक और घोर प्रतिक्रियावादी विचार है। सामाजिक-जनवादी बनने के लिए ज़रूरी है कि मज़दूर के दिमाग़ में ज़मींदार और पादरी, बड़े सरकारी अफ़सर और किसान, विद्यार्थी और आवारा आदमी की आर्थिक प्रकृति का और सामाजिक तथा राजनीतिक गुणों का एक स्पष्ट चित्र हो। उसे इन लोगों के गुणों और अवगुणों को जानना चाहिए, उसे उन नारों और बारीक सूत्रों का मतलब समझना चाहिए जिनकी आड़ में प्रत्येक **वर्ग** तथा स्तर अपनी वास्तविक इच्छा, अपना स्वार्थ और अपने "दिल की बात" **छुपाता** है, उसे समझना चाहिए कि विभिन्न संस्थाएं तथा क़ानून किन स्वार्थों को और किस प्रकार व्यक्त करते हैं। परन्तु यह "स्पष्ट चित्र" किताबों से नहीं मिल सकता। वह तो सिर्फ़ ज़िन्दा मिसालों और भंडाफोड़ से ही मिल सकता है; किसी समय हमारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है, जिन बातों के बारे में हर आदमी अपने ढंग से, शायद कानाफूसी की ही शक्ल में, बहस कर रहा है, जो घटनाएं घट रही हैं, जो आंकड़े प्रकाशित हुए हैं, या अदालतों में जो सज़ाएं सुनायी गयी हैं, आदि आदि – जब इन घटनाओं के घटित होते ही हम उनकी ज़िंदा मिसाल मज़दूरों के सामने रखेंगे, तुरंत उनका भंडाफोड़ करेंगे, तभी यह "स्पष्ट चित्र" प्राप्त हो सकता है। जनता को क्रान्तिकारी कार्य की शिक्षा देने की एक ज़रूरी और **बुनियादी** शर्त यह है कि इस प्रकार के सर्वांगीण राजनीतिक भंडाफोड़ किये जायें।

जनता के साथ पुलिस पाशविक दुर्व्यवहार करती है, धार्मिक सम्प्रदायों को बुरी तरह सताया जाता है, किसानों को कोड़ों से पीटा जाता है, सेंसर की निंदनीय व्यवस्था क़ायम है, फ़ौजी सिपाहियों को यातनाएं दी जा रही हैं, निर्दोष

से निर्दोष सांस्कृतिक संगठनों या कार्रवाइयों का दमन किया जाता है आदि – परन्तु रूसी मज़दूर इन तमाम बातों को लेकर कोई ख़ास क्रान्तिकारी कार्रवाई नहीं करते, आख़िर इसका क्या कारण है? क्या यह बात इसलिए है कि "आर्थिक संघर्ष" इस प्रकार की कार्रवाई के लिए उन्हें "प्रेरणा" नहीं देता, इसलिए कि इस तरह के कामों से "कोई ठोस नतीजा निकलने की उम्मीद" नहीं होती, इसलिए कि इस तरह के काम से कोई "ठोस नतीजा" नहीं निकलता? नहीं। हम फिर कहते हैं कि इस तरह का मत फैलाना महज़ उन लोगों के मत्थे दोष मढ़ना है जिनका कोई दोष नहीं है, यह ख़ुद अपने कूपमंडूकपन (जो बर्न्सटीनवाद भी है) के लिए आम मज़दूरों को दोषी क़रार देना है। हमें अपने को दोष देना चाहिए कि हम जन-आन्दोलन के पीछे घिसटते चलते हैं और अभी इस योग्य नहीं हुए हैं कि इन तमाम घृणित अनाचारों का काफ़ी व्यापक, ज़ोरदार और ख़ूब तेज़ी के साथ भंडाफोड़ संगठित कर सकें। जब हम यह काम करने लगेंगे (और हमें यह काम करना चाहिए तथा हम कर सकते हैं) तब पिछड़े से पिछड़ा मज़दूर भी समझने लगेगा **या महसूस करने लगेगा** कि विद्यार्थियों और धार्मिक सम्प्रदायों के सदस्यों पर, किसानों और लेखकों पर वे ही प्रतिक्रियावादी शक्तियां दमन और अत्याचार कर रही हैं जो ख़ुद मज़दूर को जीवन के पग-पग पर उत्पीड़ित और दलित कर रही हैं, और जब वह इस बात को महसूस करने लगेगा तो उसमें स्वयं इन तमाम अनाचारों का विरोध करने की प्रबल इच्छा पैदा होगी, और तब वह एक रोज़ सेंसर विभाग के अधिकारियों पर फ़िक़रे कसेगा, तो दूसरे रोज़ उस गवर्नर के महल के सामने प्रदर्शन करेगा जिसने बेरहमी से किसानों के विद्रोह को कुचला है, और तीसरे रोज़ पादरियों के कपड़े पहने उन राजनीतिक पुलिसवालों को सबक़ सिखायेगा जिनके अत्याचारों को देखकर मध्ययुगीन धार्मिक न्यायालयों की याद ताज़ी हो जाती है, आदि। आम मज़दूरों के सामने नित नया और सर्वांगीण भंडाफोड़ **करने** के सिलसिले में हमने अभी बहुत कम, लगभग नहीं के बराबर, काम किया है। हममें से बहुत से लोग अभी भी इसे नहीं समझते कि यह हमारा **आवश्यक कर्तव्य** है, और अब भी हम कारख़ानों के जीवन की संकुचित सीमाओं के अन्दर बन्द हैं और बड़े स्वयं-स्फूर्त ढंग से "नीरस दैनिक संघर्षों" के पीछे-पीछे घिसटते चलते हैं। ऐसी हालत में यह कहना कि "'ईस्क्रा' में आकर्षक एवं पूर्ण विचारों के प्रचार की तुलना में नीरस दैनिक संघर्षों की

प्रगति के महत्व को कम करके ग्रांकने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है" (मार्तिनोव, पृष्ठ ६१), पार्टी को पीछे घसीटना ग्रौर तैयारी के हमारे ग्रभाव तथा पिछड़ेपन को उचित ठहराना तथा उसकी प्रशंसा करना है।

जहां तक कार्य-क्षेत्र में कूदने के लिए जनता का ग्रावाहन करने का प्रश्न है, जैसे ही तेज राजनीतिक ग्रान्दोलन शुरू होगा ग्रौर सजीव तथा प्रभावोत्पादक ढंग से राजनीतिक भंडाफोड़ किया जायेगा, वैसे ही यह काम ग्रपने-ग्राप होने लगेगा। किसी ग्रपराधी को रंगे हाथों पकड़ लेना ग्रौर उसे तुरन्त जनता के सामने ग्रपराधी घोषित कर देना, यह ग्रपने-ग्राप में ऐसे कितने ही "ग्रावाहनों" से कहीं ग्रधिक कारगर होता है; ग्रक्सर उसका ऐसा ग्रसर होता है कि यह बताना भी ग्रसम्भव हो जाता है कि भीड़ का किसने "ग्रावाहन" किया था ग्रौर किसने प्रदर्शन, ग्रादि की ग्रमुक योजना सुझायी थी। कार्य-क्षेत्र में कूदने का ग्रावाहन – यदि हम ग्राम हवाई ग्रावाहन नहीं करना चाहते, बल्कि उसके ठोस ग्रर्थ में इस शब्द का प्रयोग कर रहे हैं तो – केवल घटनास्थल पर ही किया जा सकता है; इस तरह का ग्रावाहन केवल वे लोग ही कर सकते हैं जो ख़ुद मैदान में कूद पड़ते हैं, ग्रौर फ़ौरन कूद पड़ते हैं। ग्रौर सामाजिक-जनवादी प्रचारकों के रूप में हमारा काम यह है कि राजनीतिक भंडाफोड़ तथा राजनीतिक ग्रान्दोलन को हम ग्रौर गहरा, विस्तृत तथा तेज़ बनायें।

चलते-चलते दो-एक शब्द "कार्य-क्षेत्र में कूदने का ग्रावाहन देने" के बारे में भी कह दिये जायें। वसन्त ऋतु की घटनाग्रों[137] के **पहले वह एकमात्र पत्र** जिसने एक ऐसे मामले में हस्तक्षेप करने के लिए मज़दूरों का ग्रावाहन किया था जिससे कि निश्चय ही मज़दूरों के हक़ में कोई **ठोस नतीजा** निकलने की **उम्मीद** न थी, ग्रर्थात् फ़ौज में विद्यार्थियों की ज़बर्दस्ती भर्ती, **वह 'ईस्क्रा' था**। ११ जनवरी को जैसे ही "१८३ विद्यार्थियों को फ़ौज में भर्ती करने" का हुक्म जारी हुग्रा, वैसे ही 'ईस्क्रा' ने (ग्रपने फ़रवरी के ग्रंक २ में) इस विषय पर एक लेख प्रकाशित किया, ग्रौर किसी प्रदर्शन के शुरू होने के **पहले** ही उसने "विद्यार्थियों की मदद करने के लिए मज़दूरों का" खुलेग्राम **ग्रावाहन किया**, उसने "जनता" का ग्रावाहन किया कि उसे सरकार की इस दम्भपूर्ण चुनौती का खुलेग्राम जवाब देना चाहिए। हम पूछते हैं: इस ग्रनोखी बात का ग्राखिर क्या कारण है कि यद्यपि मार्तिनोव "कार्य-क्षेत्र में उतरने के ग्रावाहनों" की इतनी चर्चा करते हैं, ग्रौर

यहां तक कि "कार्य-क्षेत्र में उतरने के आवाहनों" को एक ख़ास ढंग का काम बताते हैं, फिर भी उन्होंने **इस** आवाहन के बारे में एक शब्द तक नहीं कहा? इसके बाद, क्या मार्तिनोव का यह आरोप सरासर कूपमंडूकता का परिचय नहीं देता कि 'ईस्क्रा' **एकांगीपन** का दोषी है, क्योंकि वह किन्हीं ऐसी मांगों के वास्ते संघर्ष करने का काफ़ी "आवाहन" नहीं करता जिनसे "कोई ठोस नतीजा निकलने की उम्मीद हो?"

हमारे "अर्थवादियों" को जिनमें 'राबोचेये देलो' भी शामिल है, सफलता इसलिए मिली कि वे पिछड़े हुए मज़दूरों को ख़ुश करने की कोशिश करते थे। लेकिन ऐसी मांगों के लिए, जिनसे कि "कोई ठोस नतीजा निकलने की उम्मीद हो", लड़ने, आदि की इन तमाम बातों को सामाजिक-जनवादी मज़दूर, क्रान्तिकारी मज़दूर (और ऐसे मज़दूरों की संख्या बढ़ रही है) क्रोध के साथ ठुकरा देगा, क्योंकि वह समझता है कि यह रूबल में एक कोपेक की वृद्धि कराने के पुराने राग का ही एक नया संस्करण है। ऐसा मज़दूर 'राबोचाया मीस्ल' तथा 'राबोचेये देलो' के अपने सलाहकारों से कहेगा: सज्जनो, आप लोग एक ऐसे काम में हद से ज़्यादा जोश-ख़रोश के साथ दख़ल देकर, जिसे हम ख़ुद बख़ूबी कर सकते हैं, अपना अमूल्य समय बेकार में नष्ट कर रहे हैं, और जो काम आपको सचमुच करना चाहिए, उसे आप नहीं कर रहे हैं। आपने यह कहकर कोई बड़ी होशियारी की बात नहीं कही है कि सामाजिक-जनवादियों का काम आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देना है; यह तो केवल पहला क़दम है, यह सामाजिक-जनवादियों का मुख्य काम नहीं है, क्योंकि दुनिया भर में, और रूस में भी, आर्थिक संघर्ष को राजनीतिक **रूप देने की शुरूआत तो अक्सर ख़ुद पुलिस ही कर देती है**, और उससे मज़दूर ख़ुद इस बात को समझना सीखते हैं कि सरकार किसकी मदद करती है।* "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़

---

* "आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" की मांग राजनीतिक कार्य के क्षेत्र में **स्वयं-स्फूर्ति के आधीन बने रहने की प्रवृत्ति** को सबसे स्पष्ट रूप में व्यक्त करती है। बहुधा आर्थिक संघर्ष **अपने-आप**, कहने का मतलब यह कि "क्रान्तिकारी कीटाणुओं यानी बुद्धिजीवियों" के हस्तक्षेप के बिना ही, वर्ग-चेतन सामाजिक-जनवादियों के हस्तक्षेप के बिना ही, राजनीतिक रूप धारण कर लेता

मज़दूरों के जिस आर्थिक संघर्ष" का आप लोग इतना शोर मचा रहे हैं, उससे ऐसा लगता है मानो आपने किसी नये अमरीका को खोज निकाला हो, वैसा संघर्ष इस समय रूस के अनेक दूरस्थ स्थानों में चल रहा है और उसे ऐसे मज़दूर चला रहे हैं जिन्होंने हड़तालों का तो नाम सुना है, पर जिन्होंने समाजवाद के बारे में लगभग कुछ भी नहीं सुना है। ऐसी ठोस मांगें उठाकर, जिनसे कोई ठोस नतीजा निकलने की उम्मीद हो, आप हम मज़दूरों में जो "क्रियाशीलता" पैदा करना चाहते हैं, उसका परिचय तो हम आज भी दे रहे हैं, अपने रोज़मर्रा के ट्रेड-यूनियनों के छोटे-मोटे कामों में ये ठोस मांगें उठा रहे हैं, और बहुधा इस कार्य में हमें किसी बुद्धिजीवी की सहायता नहीं लेनी पड़ती। परन्तु **यही** काम हमारे लिए काफ़ी नहीं है। हम बच्चे नहीं हैं कि केवल "आर्थिक" राजनीति की पतली लपसी से ही संतुष्ट हो जायें; हम तो हर वह चीज़ जानना चाहते हैं जो दूसरे लोग जानते हैं, हम राजनीतिक जीवन के **तमाम** पहलुओं को विस्तार से समझना चाहते हैं, हम प्रत्येक राजनीतिक घटना में **सक्रिय रूप से** भाग लेना चाहते हैं। और हम ऐसा कर सकें, इसके लिए आवश्यक है कि बुद्धिजीवी लोग

है। उदाहरण के लिए, समाजवादियों के कोई हस्तक्षेप न करने पर भी ब्रिटिश मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष ने राजनीतिक रूप धारण कर लिया। लेकिन सामाजिक-जनवादियों का काम यहीं खतम नहीं हो जाता कि वे आर्थिक आधार पर राजनीतिक आन्दोलन करें; उनका काम यह है कि वे ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति को सामाजिक जनवादी राजनीतिक संघर्ष में **बदलें**, और आर्थिक संघर्ष से मज़दूरों में राजनीतिक चेतना की जो चिनगारियां पैदा होती हैं, उनका **इस्तेमाल** इस मक़सद से **करें** कि मज़दूरों को **सामाजिक-जनवादी** राजनीतिक चेतना के स्तर तक **उठाया** जा सके। किन्तु मार्तिनोव जैसे लोग मज़दूरों की अपने आप उठती हुई राजनीतिक चेतना को और ऊपर उठाने तथा बढ़ाते जाने के बजाय, **स्वयं-स्फूर्ति के सामने शीश झुकाते हैं** और उबा देने की हद तक बार-बार यही बात दोहराते रहते हैं कि आर्थिक संघर्ष से मज़दूरों में स्वयं अपने राजनीतिक अधिकारों के अभाव का "एहसास पैदा होता है"। सज्जनो, यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि अपने आप उठती हुई ट्रेड-यूनियनवादी राजनीतिक चेतना को देखकर आपमें यह **एहसास नहीं पैदा हो पाता** कि सामाजिक-जनवादी होने के नाते आपके क्या काम हैं।

हमें वे बातें कम बतायें जो हम पहले से जानते हैं*, और वे बातें ज़्यादा बतायें जो हम अभी नहीं जानते और जो हम अपने कारखाने के अनुभव से और "आर्थिक" अनुभव से कभी नहीं सीख सकते, मतलब यह कि आप लोग हमें

---

*यह साबित करने के लिए कि "अर्थवादियों" से एक मज़दूर का यह काल्पनिक वार्तालाप सत्य पर आधारित है, हम दो ऐसे गवाहों की साक्षी देंगे, जिन्हें असंदिग्ध रूप में मज़दूर आन्दोलन का प्रत्यक्ष अनुभव है, और जिनपर हम "मतवादियों" का पक्ष लेने का सबसे कम सन्देह किया जा सकता है, क्योंकि उनमें से एक गवाह तो "अर्थवादी" है (जो 'राबोचेये देलो' को भी एक राजनीतिक मुखपत्र समझता है!); और दूसरा गवाह आतंकवादी है। पहले गवाह ने एक बहुत ही सच्चा और स्पष्ट लेख लिखा है, जिसका शीर्षक है: 'पीटर्सबर्ग का मज़दूर आन्दोलन और सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के व्यावहारिक कार्य', जो 'राबोचेये देलो' के अंक ६ में प्रकाशित हुआ था। लेखक ने मज़दूरों को तीन श्रेणियों में बांटा है: (१) वर्ग-चेतन क्रान्तिकारी, (२) बीच का स्तर, और (३) बाक़ी सब। उसका कहना है कि बीच के इस स्तर को "अक्सर अपने तात्कालिक आर्थिक हितों की अपेक्षा राजनीतिक जीवन के मसलों में कहीं ज़्यादा दिलचस्पी होती है, क्योंकि तात्कालिक आर्थिक हितों और आम सामाजिक परिस्थितियों के बीच जो सम्बंध है, उसे वह बहुत पहले से समझता है" ... 'राबोचाया मीस्ल' की "सख़्त आलोचना की गयी है": "वह सदा उन्हीं बातों को बार-बार दुहराता रहता है, जिनके बारे में हम बहुत दिन पहले जानकारी प्राप्त कर चुके हैं, जिनके विषय में हम बहुत पहले पढ़ चुके हैं", "राजनीतिक समीक्षा में फिर कुछ नहीं है" (पृष्ठ ३०-३१)। लेकिन तीसरा स्तर भी "जिसमें अपेक्षाकृत युवा और अधिक संवेदनशील मज़दूर शामिल होते हैं, जिनको शराबख़ाना और गिरजाघर अभी कम भ्रष्ट कर पाये हैं, जिन्हें शायद ही कभी कोई राजनीतिक साहित्य पाने का मौक़ा मिलता है—ये मज़दूर भी कुछ अस्पष्ट ढंग से राजनीतिक घटनाओं के बारे में बहस करते हैं, और विद्यार्थी उपद्रवों की उन्हें जो भी थोड़ी-बहुत ख़बरें मिल जाती हैं, उनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं," आदि। आतंकवादी ने यह लिखा है: "अपने शहर के तो नहीं, पर दूसरे शहरों के कारख़ानों की ज़िन्दगी की छोटी-छोटी बातों को वे एकाध बार पढ़ लेते हैं और फिर उन्हें नहीं पढ़ते ... ये बातें उन्हें नीरस लगती हैं ... मज़दूरों के किसी अख़बार में सरकार के बारे में कुछ न कहना ... मज़दूरों को छोटा बच्चा समझना है ... मज़दूर दुधमुंहे बच्चे नहीं हैं।" ('स्वोबोदा'[138], जिसे क्रान्तिकारी-समाजवादी दल प्रकाशित करता है, पृष्ठ ६९-७०।)

राजनीतिक ज्ञान दीजिये। आप बुद्धिजीवी लोग यह ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, और आपका **कर्तव्य** है कि अभी तक आपने हमें जो ज्ञान दिया है, उससे सौ-गुनी और हज़ार गुनी अधिक मात्रा में यह ज्ञान आप हमें दें; और आप यह ज्ञान हमें केवल उन दलीलों, पुस्तिकाओं और लेखों के रूप में ही न दें (जो अक्सर काफ़ी नीरस होते हैं–हमारी स्पष्टवादिता को माफ़ करें!) बल्कि हमारी सरकार और हमारे शासक वर्ग जीवन के तमाम क्षेत्रों में इस समय जो कुछ कर रहे हैं, उसका सजीव **भंडाफोड़** करते हुए आप हमें यह ज्ञान दें। इस ज़िम्मेदारी को पूरा करने में थोड़ा और जोश दिखाइये और **"आम मज़दूरों की क्रियाशीलता को बढ़ाने" की बातें थोड़ी कम कीजिये**! आप जितना समझते हैं, हम उससे कहीं अधिक क्रियाशील हैं और हम उन मांगों के लिए भी सड़कों पर खुलेआम लड़ने की सामर्थ्य रखते हैं, जिनसे ज़रा भी "ठोस नतीजे" निकलने की उम्मीद नहीं है! और हमारी क्रियाशीलता को "बढ़ाना" आपका काम नहीं है, क्योंकि **आपमें तो खुद क्रियाशीलता ही का अभाव है**। सज्जनो, स्वयं-स्फूर्ति के आगे थोड़ा कम शीश झुकाइये और **खुद अपनी** क्रियाशीलता को बढ़ाने की चिन्ता ज़्यादा कीजिये!

(घ) अर्थवाद और आतंकवाद में क्या समानता है?

पिछली टिप्पणी में हमने एक "अर्थवादी" का और एक ऐसे ग़ैर-सामाजिक-जनवादी आतंकवादी का मत उद्धृत किया था जो संयोग से उनसे सहमत था। परंतु, मोटे तौर पर कहा जाये तो इन दोनों में कोई आकस्मिक नहीं बल्कि एक अनिवार्य तथा आंतरिक सम्बंध है जिसकी हमें आगे चलकर तो चर्चा करनी ही पड़ेगी, लेकिन जनता को क्रान्तिकारी क्रियाशीलता की शिक्षा देने से सम्बंधित सवाल के बारे में उसपर हमें यहां भी थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। "अर्थवादियों" और आजकल के आतंकवादियों की जड़ एक है और वह है **स्वयं-स्फूर्ति की पूजा**, जिसकी चर्चा एक साधारण घटना के रूप में हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं और जिसपर यहां हम इस दृष्टि से विचार करेंगे कि राजनीतिक कार्य तथा राजनीतिक संघर्ष पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। जो लोग नीरस "दैनिक संघर्ष" पर ज़ोर देते हैं और जो लोग व्यक्तियों से बड़े से बड़े आत्म-

बलिदानी संघर्ष में उतरने की मांग करते हैं, उनमें इतना अन्तर है कि पहली नज़र में पाठक को हमारी बात में विरोधाभास दिखाई देगा। परन्तु यह कोई विरोधाभास नहीं है। "अर्थवादी" और आतंकवादी केवल स्वयं-स्फूर्ति के दो अलग-अलग छोरों के सामने शीश नवाते हैं: "अर्थवादी" "शुद्ध मज़दूर आन्दोलन" की स्वयं-स्फूर्ति के आगे शीश नवाते हैं; आतंकवादी उन बुद्धिजीवियों के प्रज्ज्वलित क्रोध की स्वयं-स्फूर्ति के आगे शीश नवाते हैं जिनमें या तो इस बात की क्षमता नहीं होती या जिन्हें इसका अवसर नहीं मिलता कि क्रान्तिकारी संघर्ष का मज़दूर आन्दोलन से सम्बंध जोड़कर दोनों को एक अविच्छिन्न इकाई बना दें। सचमुच उन लोगों की स्थिति बड़ी कठिन है जो यह विश्वास खो चुके हैं, या जो कभी यह विश्वास नहीं कर सके हैं कि उनके क्रोध तथा क्रान्तिकारी क्रियाशीलता के व्यक्त होने के लिए आतंक के सिवा कोई दूसरा मार्ग भी हो सकता है। इस प्रकार स्वयं-स्फूर्ति की उपरोक्त दोनों प्रकार की पूजाएं इसके अलावा और कुछ नहीं हैं कि 'क्रीडो' के इस कुख्यात कार्यक्रम को **कार्यान्वित करना आरम्भ कर दिया जाता है**: मज़दूरों को "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ अपना आर्थिक संघर्ष चलाने दो" ('क्रीडो' के लेखक से हम इस बात की माफ़ी चाहते हैं कि हम उनके विचारों को मार्तिनोव के शब्दों में रख रहे हैं! हमारे विचार से हमें ऐसा करने का अधिकार है, क्योंकि 'क्रीडो' भी यही कहता है कि आर्थिक संघर्ष में मज़दूरों को "राजनीतिक शासन से टकराना पड़ता है"), और राजनीतिक संघर्ष बुद्धिजीवियों को अपने बल-बूते पर चलाने दो – ज़ाहिर है, आतंकवाद की सहायता से! यह एक पूर्णतया तर्कसंगत और अवश्यम्भावी **निष्कर्ष** है जिसपर जोर देना ज़रूरी है, **हालांकि जो लोग** इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करना आरम्भ कर रहे हैं, **वे खुद यह नहीं महसूस करते** कि यह चीज़ अवश्यम्भावी है। राजनीतिक कार्य का अपना तर्क होता है, जो उन लोगों की चेतना से बिलकुल अलग चीज़ होती है जो अच्छे से अच्छे इरादों के साथ आतंक का या आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने का नारा देते हैं। नरक का रास्ता अच्छे इरादों से तैयार किया गया है। और इस मामले में अच्छे इरादों के बावजूद कोई "कम से कम विरोध के रास्ते" की ओर, 'क्रीडो' के **शुद्ध पूंजीवादी** कार्यक्रम के मार्ग पर स्वयं-स्फूर्त ढंग से खिंचते जाने से नहीं बच सकता। निश्चय ही यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि बहुत से रूसी उदारपंथी – वे जो खुलेआम अपने

को उदारपंथी कहते हैं और साथ ही वे भी जिन्होंने मार्क्सवाद का नक़ाब चेहरे पर डाल रखा है–आतंकवाद से हार्दिक सहानुभूति रखते हैं और आतंकवादी भावनाओं की वर्तमान लहर को बनाये रखने की कोशिश कर रहे हैं।

और क्रान्तिकारी-समाजवादी 'स्वोबोदा' दल के निर्माण से, जिसने अपना उद्देश्य मज़दूर आन्दोलन की हर तरह से मदद करना घोषित किया है, पर साथ ही जिसने अपने **कार्यक्रम** में आतंकवाद को, और सामाजिक-जनवाद से मज़दूर वर्ग को मानो मुक्त करने के काम को भी, शामिल किया है, प० ब० अक्सेलरोद की भविष्य को देख सकने की विलक्षण शक्ति एक बार फिर प्रमाणित हो जाती है, जिन्होंने **१८९७ के अन्त में ही** ('वर्तमान काल में हमारे कार्य तथा कार्यनीति') "भविष्य के दो मार्गों" की रूपरेखा सामने रखते समय सामाजिक-जनवाद के ढुलमुलपन के इन परिणामों के बारे में **अक्षरशः सही भविष्यवाणी कर दी थी**। रूस के सामाजिक-जनवादियों के बीच बाद में जितने मतभेद और झगड़े हुए, वे सब के सब इन दो मार्गों में मौजूद थे, जिस तरह बीज में पौधा मौजूद रहता है।*

---

* मार्तिनोव ने "दूसरे अधिक यथार्थवादी (?) दो मार्गों" की कल्पना की है ('सामाजिक-जनवाद और मज़दूर वर्ग', पृष्ठ १९): "या तो सामाजिक-जनवाद सर्वहारा के आर्थिक संघर्ष का नेतृत्व प्रत्यक्ष रूप से अपने हाथ में ले लेगा और ऐसा करके (!) उसे एक क्रान्तिकारी वर्ग-संघर्ष में बदल देगा" ... "ऐसा करके" का मतलब है प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक संघर्ष का नेतृत्व करके। क्या मार्तिनोव ऐसा एक भी उदाहरण दे सकते हैं जहां **केवल** व्यावसायिक संघर्ष का नेतृत्व करने से कोई ट्रेड-यूनियन आन्दोलन एक क्रान्तिकारी वर्ग आन्दोलन बन गया हो? क्या उनकी समझ में यह बात नहीं आती कि ऐसा "परिवर्तन" कर सकने के लिए हमें **सर्वांगीण** राजनीतिक आन्दोलन का सक्रिय रूप से "प्रत्यक्ष नेतृत्व" करना होगा?.. "या दूसरी सम्भावना यह है कि सामाजिक-जनवाद मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष का नेतृत्व अपने हाथ में न ले और इस प्रकार ... खुद अपने ही डैने काट डाले" ... 'राबोचेये देलो' की राय में, जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, 'ईस्क्रा' है जो आर्थिक संघर्ष का नेतृत्व अपने हाथ में नहीं लेता। परन्तु हम देख चुके हैं कि 'ईस्क्रा' आर्थिक संघर्ष का नेतृत्व करने की कोशिश **'राबोचेये देलो' से कहीं अधिक** करता है, पर वह अपने को उसी तक सीमित नहीं रखता और उसके नाम पर अपनी राजनीतिक ज़िम्मेदारियों को **संकुचित नहीं करता**।

इस दृष्टिकोण से यह बात भी साफ़ हो जाती है कि 'राबोचेये देलो' "अर्थवाद" की स्वयं-स्फूर्ति के सामने खड़े न रह सकने के कारण, आतंकवाद की स्वयं-स्फूर्ति के सामने भी क्यों खड़ा नहीं रह पाया है। यहां उन ख़ास दलीलों को नोट करना ज़रूरी है जिसे आतंकवाद के समर्थन में 'स्वोबोदा' पेश करता है। वह आतंकवाद की भयकारक भूमिका से "बिलकुल इनकार करता है" ('क्रान्तिवाद का पुनरुत्थान', पृष्ठ ६४), इसके बजाय वह उसके "उत्तेजना पैदा करनेवाले महत्व" पर ज़ोर देता है। यह एक लाक्षणिक बात है, एक तो इसलिए कि यह आतंकवाद पर ज़ोर देनेवाले परम्परागत (सामाजिक-जनवाद के पहले के) विचार-क्रम के छिन्न-भिन्न होने और टूटने की पहली मंज़िल की द्योतक है। यह स्वीकार करना कि सरकार को अब "आतंकित" नहीं किया जा सकता और इसलिए आतंक के द्वारा उसे छिन्न-भिन्न भी नहीं किया जा सकता है—यह तो संघर्ष की एक प्रणाली के रूप में, या कार्यक्रम द्वारा स्वीकृत एक कार्यक्षेत्र के रूप में, आतंकवाद को बिल्कुल निकम्मा घोषित कर देने के बराबर है। दूसरे, यह बात इसलिए और भी लाक्षणिक है कि उसके रूप में हमें इसकी एक मिसाल मिलती है कि लोग किस तरह "जनता को क्रान्तिकारी कार्य की शिक्षा देने" की हमारी फ़ौरी ज़िम्मेदारी को समझने में असफल रहते हैं। 'स्वोबोदा' आतंकवाद का इसलिए समर्थन करता है कि वह मज़दूर आन्दोलन को "उत्तेजित करने" और "ज़ोरों के साथ उकसाने" का एक तरीक़ा है। किसी ऐसी दूसरी दलील की कल्पना करना मुश्किल है जो ख़ुद इस तरह अपना काट करती हो! क्या रूसी जीवन में यों ही काफ़ी अत्याचार नहीं होते कि ख़ास "उत्तेजकों" का आविष्कार करने की ज़रूरत पड़े? दूसरी ओर, क्या यह स्पष्ट नहीं है कि जो लोग रूसी अत्याचारों से भी उत्तेजित नहीं होते और न हो सकते हैं, वे इने-गिने आतंकवादियों को सरकार से अकेले लड़ते देखकर भी अपनी "उंगलियां ही चिटकाते रहेंगे"? सचाई यह है कि रूसी जीवन में आज जो अनाचार पाया जाता है, उससे आम मज़दूरों में हद दर्जे की उत्तेजना है, लेकिन यदि कहा जा सकता है कि हम जनता की उत्तेजना की इन तमाम अलग-अलग बूंदों और धाराओं को एक जगह एकत्रित और केन्द्रित नहीं कर पाते जो, हम जितना सोचते हैं, उससे कहीं बड़े पैमाने पर रूसी जीवन की परिस्थितियों से पैदा होती रहती हैं, तो उन्हें **एक ही** विराट प्रवाह में जोड़ना आवश्यक है। यह काम

सफलतापूर्वक किया जा सकता है, इसका अकाट्य प्रमाण मज़दूर आन्दोलन की प्रचंड प्रगति और वह उत्कट उत्सुकता है जिसके साथ मज़दूर राजनीतिक साहित्य की मांग कर रहे हैं, जिसका ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं। दूसरी ओर, आतंकवादी कार्यों के लिए आवाहन करना और इसी भांति आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने का आवाहन करना केवल उस बेहद ज़रूरी ज़िम्मेदारी को **टालने** के दो अलग-अलग ढंग हैं जो आज रूसी क्रान्तिकारियों के कंधों पर आ पड़ी है, यानी सर्वांगीण राजनीतिक आन्दोलन को संगठित करना। 'स्वोबोदा' आन्दोलन का **स्थान** आतंकवादी कार्यों को **देना चाहता है**, और वह खुलेआम स्वीकार करता है कि "जैसे ही जनता के बीच ज़ोरदार और तेज़ आन्दोलन शुरू हो जायेगा, वैसे ही आतंकवादी कार्यों की उत्तेजित करनेवाली भूमिका समाप्त हो जायेगी"। ('क्रान्तिवाद का पुनरुत्थान', पृष्ठ ६८)। इसी से साबित होता है कि आतंकवादी और "अर्थवादी" दोनों ही, वसन्त के दिनों में हुई घटनाओं* के ज्वलन्त प्रमाण के बावजूद जनता की क्रान्तिकारी क्रियाशीलता का **महत्व कम करके आंकते** हैं, और आतंकवादी यदि जनता को "उकसाने" के बनावटी नुस्खों की तलाश करते हैं, तो अर्थवादी "ठोस मांगों" की बातें करते हैं। परन्तु राजनीतिक आन्दोलन के लिए तथा राजनीतिक भंडाफोड़ का संगठन करने के लिए **ख़ुद अपनी क्रियाशीलता** को बढ़ाने की ओर दोनों में से कोई भी काफ़ी ध्यान नहीं देता। और इस समय, या किसी और समय, दूसरा कोई काम इस काम **की जगह नहीं ले सकता।**

(च) जनवाद के लिए सबसे आगे बढ़कर लड़नेवाले के रूप में मज़दूर वर्ग

हम देख चुके हैं कि अधिक से अधिक व्यापक राजनीतिक आन्दोलन चलाना, और इसलिए सर्वांगीण राजनीतिक भंडाफोड़ को संगठन करना एक बिलकुल ज़रूरी, और **सबसे ज्यादा तात्कालिक ढंग से** ज़रूरी काम है—बशर्ते हम सचमुच सामाजिक-जनवादी ढंग से काम करना चाहते हों। परन्तु हम इस नतीजे पर **केवल** इस आधार पर पहुंचे थे कि मज़दूर वर्ग को राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक ज्ञान

---

*यहां उन विशाल जन-प्रदर्शनों की ओर इशारा है जो १६०१ के वसन्त में शुरू हुए थे। (१६०७ के संकस्रण में लेखक की टिप्पणी।—सं०)

की फ़ौरन ज़रूरत है। लेकिन यह सवाल को पेश करने का एक बहुत संकुचित ढंग है, कारण कि यह सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की आम तौर पर, और वर्तमान काल के रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की ख़ास तौर पर, आम जनवादी ज़िम्मेदारियों को भुला देता है। अपनी बात को और ठोस ढंग से समझाने के लिए हम मामले के उस पहलू को लेंगे जो "अर्थवादियों" के "सबसे ज़्यादा नज़दीक" है, यानी हम व्यावहारिक पहलू को लेंगे। "हर आदमी यह मानता है" कि मज़दूर वर्ग की राजनीतिक चेतना को बढ़ाना ज़रूरी है। सवाल यह है कि यह काम **कैसे** होगा, इसके लिए क्या करना आवश्यक है? आर्थिक संघर्ष के ज़रिए केवल मज़दूर वर्ग के प्रति सरकार के रवैये से सम्बंधित सवाल ही मज़दूरों की "समझ में आते हैं"। इसलिए, हम "आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" की **चाहे जितनी कोशिश करें**, पर आर्थिक संघर्ष की सीमाओं के अन्दर अन्दर रहते हुए हम मज़दूरों की राजनीतिक चेतना को **कभी भी ऊंचा** (सामाजिक-जनवादी राजनीतिक चेतना के स्तर तक) **नहीं उठा पायेंगे**, कारण कि **ये सीमाएं बहुत संकुचित हैं**। मार्तिनोव का सूत्र हमारे लिए थोड़ा-बहुत महत्व रखता है, इसलिए नहीं कि उससे चीज़ों को उलझा देने की मार्तिनोव की योग्यता प्रकट होती है, बल्कि इसलिए कि उससे वह बुनियादी ग़लती साफ़ हो जाती है जो सारे "अर्थवादी" करते हैं, अर्थात् उनका यह विश्वास कि मज़दूरों की राजनीतिक वर्ग-चेतना को **अन्दर से** यानी उनके आर्थिक संघर्ष से बढ़ाया जा सकता है; अर्थात् इस संघर्ष को एकमात्र (या कम से कम मुख्य) प्रारम्भिक बिन्दु मानकर, उसे अपना एकमात्र या कम से कम मुख्य आधार बनाकर राजनीतिक वर्ग-चेतना बढ़ायी जा सकती है। यह दृष्टिकोण बुनियादी तौर पर ग़लत है। "अर्थवादी" लोग चूंकि हमारी आलोचनाओं से नाराज़ हैं, इसलिए वे इन मतभेदों के मूल कारणों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से इनकार करते हैं, जिसका यह परिणाम होता है कि हम एक-दूसरे को क़तई नहीं समझ पाते। ऐसा लगता है मानो हम दो अलग-अलग बोलियों में बोलते हैं।

मज़दूरों में राजनीतिक वर्ग-चेतना **केवल बाहर से ही** लायी जा सकती है, यानी केवल आर्थिक संघर्ष के बाहर से, मज़दूरों और मालिकों के सम्बंधों के क्षेत्र के बाहर से वह जिस एकमात्र क्षेत्र से आ सकती है, वह राजसत्ता तथा सरकार के साथ **सभी** वर्गों तथा स्तरों के सम्बंधों का क्षेत्र है,

वह **सभी** वर्गों के आपसी सम्बंधों का क्षेत्र है। इसलिए, इस सवाल का जवाब कि मज़दूरों तक राजनीतिक ज्ञान ले जाने के लिए क्या करना चाहिए, केवल यह नहीं हो सकता कि "मज़दूरों में जाओ"। अधिकतर व्यावहारिक कार्यकर्ता, विशेषकर वे लोग जिनका झुकाव "अर्थवाद" की ओर है, अक्सर यह जवाब देकर ही संतोष कर लेते हैं। **मज़दूरों** तक राजनीतिक ज्ञान ले जाने के लिए सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ताओं को **जनसंख्या के सभी वर्गों में जाना चाहिए** और अपनी सेना की टुकड़ियों को **सभी दिशाओं में** भेजना चाहिए।

हमने इस कुघड़ सूत्र को जान-बूझकर चुना है, हमने जान-बूझकर अपना मत अति-सरल, एकदम दो-टूक ढंग से व्यक्त किया है—इसलिए नहीं कि हम विरोधाभासों का प्रयोग करना चाहते हैं, बल्कि इसलिए कि हम "अर्थवादियों" के दिमाग़ में उन कामों को "बिठाना" चाहते हैं जिनको वे बड़े अक्षम्य ढंग से अनदेखा कर देते हैं, हम उन्हें ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति और सामाजिक-जनवादी राजनीति का अन्तर समझाना चाहते हैं, जिसे समझने से वे इनकार करते हैं। अतएव हम पाठकों से यह प्रार्थना करेंगे कि वे झुंझलायें नहीं, बल्कि अन्त तक धैर्य से हमारी बात सुनें।

पिछले चन्द बरसों में जिस तरह का सामाजिक-जनवादी मण्डल सबसे अधिक प्रचलित हो गया है, ज़रा उसे लीजिये और उसके काम की जांच कीजिये। "मज़दूरों के साथ उसका सम्पर्क" रहता है और वह इससे संतुष्ट रहता है, वह परचे निकालता है, जिनमें कारख़ानों में पायी जानेवाली बुराइयों, पूंजीपतियों के साथ सरकार के पक्षपात और पुलिस के ज़ुल्म की निन्दा की जाती है। मज़दूरों की सभाओं में जो बहस होती है, वह इन विषयों की सीमा के बाहर कभी नहीं जाती या जाती भी है तो बहुत कम। ऐसा बहुत कम देखने में आता है कि क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास के बारे में, हमारी सरकार की घरेलू तथा वैदेशिक नीति के प्रश्नों के बारे में, रूस तथा यूरोप के आर्थिक विकास की समस्याओं के बारे में और आधुनिक समाज में विभिन्न वर्गों की स्थिति के बारे में कभी भाषणों या वाद-विवादों का संगठन किया जाता हो। और जहां तक समाज के अन्य वर्गों के साथ सुनियोजित ढंग से सम्पर्क स्थापित करने और बढ़ाने की बात है, उसके बारे में तो कोई सपने में भी नहीं सोचता। वास्तविकता यह है कि इन मण्डलों के अधिकतर सदस्यों की कल्पना के अनुसार

आदर्श नेता वह है जो एक समाजवादी राजनीतिक नेता के रूप में नहीं, बल्कि ट्रेड-यूनियन के मंत्री के रूप में कहीं अधिक काम करता है। क्योंकि ट्रेड-यूनियन का, मिसाल के लिए किसी ब्रिटिश ट्रेड-यूनियन का, मंत्री आर्थिक संघर्ष चलाने में हमेशा मज़दूरों की मदद करता है, वह कारख़ानों में होनेवाले अनाचारों का भंडाफोड़ करने में मदद करता है, उन क़ानूनों तथा नियमों के अनौचित्य का पर्दाफ़ाश करता है जिनसे हड़ताल करने और धरना देने (हर किसी को यह चेतावनी देने के लिए कि अमुक कारख़ाने में हड़ताल चल रही है) की स्वतंत्रता पर आघात होता है; वह मज़दूरों को समझाता है कि पंच-अदालतों के ज़ज, जो स्वयं पूंजीवादी वर्गों से आते हैं, सदा पूंजीपतियों का पक्ष लेते हैं, आदि, आदि। सारांश यह कि "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" ट्रेड-यूनियन का प्रत्येक मंत्री चलाता है और उसके संचालन में मदद करता है। परं इस बात को हम जितना ज़ोर देकर कहें थोड़ा है कि **बस इतने ही से** सामाजिक-जनवाद **नहीं हो जाता**। सामाजिक-जनवादी का आदर्श ट्रेड-यूनियन का मंत्री नहीं, बल्कि एक ऐसा **जन-नायक** होना चाहिए जिसमें अत्याचार और उत्पीड़न के प्रत्येक उदाहरण से, वह चाहे किसी भी स्थान पर हुआ हो और उसका चाहे किसी भी वर्ग या स्तर से सम्बंध हो, विचलित हो उठने की क्षमता हो; उसमें इन तमाम उदाहरणों का सामान्यीकरण करके पुलिसवालों की हिंसा तथा पूंजीवादी शोषण का एक अविभाज्य चित्र बनाने की क्षमता होनी चाहिए; उसमें इस बात की क्षमता होनी चाहिए कि वह प्रत्येक घटना से, यहां तक कि छोटी से छोटी घटना से भी, लाभ उठाकर अपने समाजवादी विश्वासों तथा अपनी जनवादी मांगों को **सभी लोगों** को समझा सके और **सभी लोगों** को सर्वहारा के मुक्ति-संग्राम का विश्व-ऐतिहासिक महत्व समझा सके। उदाहरण के लिए, (इंगलैंड की सबसे शक्तिशाली ट्रेड-यूनियनों में से एक, ब्वायलर-मेकर्स सोसायटी के विख्यात मंत्री एवं नेता) राबर्ट नाइट जैसे नेता की विल्हेल्म लीब्कनेख़्त जैसे नेता से तुलना करके देखिये और इन दोनों पर उन तुलनाओं को लागू करने की कोशिश कीजिये जिनको मार्तिनोव ने 'ईस्क्रा' के साथ अपनी बहस के दौरान में अंकित किया है। आप पायेंगे – मैं मार्तिनोव की एक-एक बात को लेता जाता हूं – कि जहां राबर्ट नाइट "जनता से कुछ ठोस काम करने की अपीलें" (पृष्ठ ३९) ज़्यादा करते थे, वहां विल्हेल्म लीब्कनेख़्त "आजकल की

पूरी व्यवस्था का, या उसकी आंशिक अभिव्यक्तियों का क्रान्तिकारी स्पष्टीकरण" (पृष्ठ ३८-३६) करने की ओर अधिक ध्यान देते हैं; जहां राबर्ट नाइट "सर्वहारा की तात्कालिक मांगों को निर्धारित करते हैं तथा उनको प्राप्त करने के उपाय बताते हैं" (पृष्ठ ४१), वहां विल्हेल्म लीब्कनेख़्त यह करने के साथ-साथ "विभिन्न विरोधी स्तरों की गतिविधियों का संचालन करने" तथा "उनके लिए काम का एक ठोस कार्यक्रम तैयार करने"* से नहीं हिचकते (पृष्ठ ४१); राबर्ट नाइट ही थे जिन्होंने "जहां तक सम्भव हो, आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देने" (पृष्ठ ४२) की कोशिश की और "सरकार के सामने ऐसी ठोस मांगें रखने में, जिनसे कोई ठोस नतीजा निकलने की उम्मीद हो" (पृष्ठ ४३) बड़े शानदार ढंग से कामयाब हुए; लेकिन लीब्कनेख़्त प्रायः "एकांगी" ढंग का "भंडाफोड़" करने में फंसे रहते हैं (पृष्ठ ४०); कि जहां राबर्ट नाइट "नीरस दैनिक संघर्ष की प्रगति" को अधिक महत्व देते थे (पृष्ठ ६१) वहां लीब्कनेख़्त "विलक्षण एवं सम्पूर्ण विचारों के प्रचार" (पृष्ठ ६१) को ज्यादा महत्वपूर्ण समझते थे; जहां लीब्कनेख़्त ने अपनी देखरेख में निकलनेवाले पत्र को "क्रान्तिकारी विरोध-पक्ष का एक ऐसा मुखपत्र बना दिया था जो कि समाज के विविध स्तरों के हितों के दृष्टिकोण से देश की अवस्था का, विशेषतया राजनीतिक अवस्था का भंडाफोड़ करता था" (पृष्ठ ६३), वहां राबर्ट नाइट "सर्वहारा वर्ग के संघर्ष के साथ घनिष्ठ और सजीव सम्पर्क रखते हुए मज़दूर वर्ग के हित के लिए लड़ते थे" (पृष्ठ ६३) – यदि "घनिष्ठ और सजीव सम्पर्क" रखने का मतलब स्वयं-स्फूर्ति के आगे शीश नवाना है, जिसपर हम ऊपर क्रिचेव्स्की तथा मार्तिनोव के उदाहरण का उपयोग करते हुए विचार कर चुके हैं – और "अपने प्रभाव के क्षेत्र को सीमित कर लेते थे", क्योंकि मार्तिनोव की तरह उनका भी यह विश्वास था कि "ऐसा करके वह उस प्रभाव को और गहरा बना देते थे" (पृष्ठ ६३)। संक्षेप में, आप देखेंगे कि मार्तिनोव यहां **वास्तव में** सामाजिक-

---

*मिसाल के लिए, फ़्रांस और प्रशा के युद्ध के समय लीब्कनेख़्त ने **पूरे जनवादी पक्ष** के लिए काम का एक कार्यक्रम बनाया था – और मार्क्स तथा एंगेल्स ने तो १८४८ में और भी बड़े पैमाने पर यह काम किया था।

जनवाद को ट्रेड-यूनियनवाद के स्तर पर उतार लाते हैं, इसलिए नहीं कि वह सामाजिक-जनवाद का भला नहीं चाहते, बल्कि केवल इसलिए कि प्लेख़ानोव को समझने की तकलीफ़ गवारा करने के बजाय उन्हें प्लेख़ानोव को और गूढ़ बनाने की जल्दी पड़ी हुई है।

लेकिन, हमें फिर अपनी स्थापना पर लौट आना चाहिए। हमने कहा था कि यदि कोई सामाजिक-जनवादी सचमुच सर्वहारा वर्ग की राजनीतिक चेतना को सर्वांगीण रूप से विकसित करना आवश्यक समझता है, तो उसे "समाज के सभी वर्गों में जाना चाहिए"। इससे नीचे लिखे ये सवाल पैदा होते हैं: यह काम कैसे किया जायेगा? क्या उसे करने के लिए हमारे पास काफ़ी साधन हैं? क्या सभी वर्गों में इस प्रकार का काम करने के लिए कोई आधार मौजूद है? क्या ऐसा करने का अर्थ या इसका नतीजा वर्गीय दृष्टिकोण से पीछे हटना नहीं होगा? आइये, हम इन सवालों पर थोड़ा विचार करें।

हमें सिद्धान्तवेत्ताओं के रूप में, प्रचारकों, आन्दोलनकर्ताओं और संगठनकर्ताओं के रूप में "समाज के सभी वर्गों में जाना चाहिए"। इस बात में किसी को सन्देह नहीं है कि सामाजिक-जनवादियों के सैद्धान्तिक काम का लक्ष्य समाज के विभिन्न वर्गों की सामाजिक तथा राजनीतिक स्थिति के सभी पहलुओं का अध्ययन करना होना चाहिए। परन्तु कारख़ानों के जीवन की विशेषताओं का अध्ययन करने का जितना प्रयत्न किया जाता है, उसकी तुलना में इस प्रकार के अध्ययन का काम बहुत ही कम, हद दर्जा कम, किया जाता है। मिसाल के लिए, समितियों और मण्डलों में आपको कितने ही ऐसे लोग मिलेंगे जो मसलन धातु-उद्योग की किसी विशेष शाखा के अध्ययन में ही डूबे हुए हैं, पर इन संगठनों में आपको ऐसे सदस्य शायद ही कभी ढूंढ़े मिलेंगे जो (जैसा कि अक्सर होता है, किसी कारणवश व्यावहारिक काम नहीं कर सकते) हमारे देश के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के किसी ऐसे तात्कालिक प्रश्न के सम्बंध में विशेष रूप से सामग्री एकत्रित कर रहे हों, जिससे समाज के अन्य हिस्सों में सामाजिक-जनवादी काम करने में मदद मिल सके। मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के वर्तमान नेताओं में से अधिकतर में प्रशिक्षा के अभाव की चर्चा करते हुए हम इस प्रसंग में भी प्रशिक्षा की बात का ज़िक्र किये बिना नहीं रह सकते, क्योंकि "सर्वहारा के संघर्ष के साथ घनिष्ठ और सजीव

सम्पर्क" की "अर्थवादी" अवधारणा से इसका भी गहरा सम्बंध है। ज़ाहिर है कि मुख्य बात समाज के सभी स्तरों में **प्रचार** और **आन्दोलन** का काम करने की है। पश्चिमी यूरोप के सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ता को इस मामले में उन सार्वजनिक सभाओं और प्रदर्शनों से जिनमें भाग लेने की **सबको** स्वतंत्रता होती है और इस बात से बड़ी आसानी हो जाती है कि वह संसद के अन्दर **सभी** वर्गों के प्रतिनिधियों से बातें करता है। हमारे यहां न तो संसद है और न सभा करने की आज़ादी, फिर भी हम वैसे मज़दूरों की बैठकें ज़रूर कर लेते हैं जो **सामाजिक-जनवादी** की बातों को सुनना चाहते हैं। हमें समाज के उन सभी वर्गों के प्रतिनिधियों की सभाएं बुलाने के तरीक़े भी खोज निकालना चाहिए जो किसी **जनवादी** की बातों को सुनना चाहते हैं, कारण कि वह आदमी सामाजिक-जनवादी नहीं है जो यह भूल जाता है कि "कम्युनिस्ट हर क्रान्तिकारी आन्दोलन का समर्थन करते हैं"[139], इसलिए हमारा कर्तव्य है कि अपने समाजवादी विश्वासों को एक क्षण के लिए भी न छिपाते हुए, हम **समस्त जनता के सामने आम जनवादी कामों** की व्याख्या करें तथा उनपर ज़ोर दें। वह आदमी सामाजिक-जनवादी नहीं हो सकता जो वास्तव में यह भूल जाता है कि **सभी** आम जनवादी समस्याओं को उठाने, उन्हें आगे बढ़ाने और हल करने में उसे **और सब लोगों से आगे रहना है**।

"पर यह तो सब मानते हैं!"—अधीर पाठक कह उठेंगे। और संघ की अन्तिम कांग्रेस ने 'राबोचेये देलो' के सम्पादक-मंडल को जो नयी हिदायतें दी हैं, उनमें साफ़ तौर पर यह कहा गया है: "सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की उन सभी घटनाओं को राजनीतिक प्रचार और आन्दोलन का विषय बनाया जाना चाहिए जिनका मज़दूर वर्ग पर या तो एक विशेष वर्ग के रूप में प्रत्यक्ष ढंग से, और या **स्वतंत्रता के संघर्ष में सभी क्रान्तिकारी शक्तियों के अग्रदल के रूप में**, प्रभाव पड़ता हो" ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ १७; शब्दों पर ज़ोर हमारा है)। हां, सचमुच ये बड़े सच्चे और बड़े सुन्दर शब्द हैं और हम पूर्णतया संतुष्ट हो जायेंगे यदि 'राबोचेये देलो' उन्हें **समझ जाये और अगली ही सांस में ठीक इनकी उल्टी बातें न कहने लगे**। कारण कि अपने को "अग्रदल" या आगे बढ़ा हुआ दस्ता कहने लगना ही काफ़ी नहीं है; हमें अग्रदल की तरह काम करना होगा; हमें इस तरह काम करना होगा जिससे अन्य **सभी** दस्ते

हमें देखें और यह मानने के लिए मजबूर हों कि हम सबके आगे-आगे चल रहे हैं। और हम पाठकों से पूछते हैं: क्या दूसरे "दस्तों" के प्रतिनिधि इतने मूर्ख हैं कि वे केवल हमारे यह कहने से ही इसे मान लेंगे कि हम "अग्रदल" हैं? ज़रा इस दृश्य की कल्पना कीजिये कि एक सामाजिक-जनवादी पढ़े-लिखे रूसी उग्रवादियों, या उदारपंथी संविधानवादियों के किसी "दस्ते" के पास जाता है और यह कहता है: हम अग्रदल हैं, "अब हमारे सामने काम यह है कि जहां तक सम्भव हो आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप दें।" यदि उग्रवादी या संविधानवादी में थोड़ी भी बुद्धि है (और रूस के उग्रवादियों तथा संविधानवादियों में बहुत से बुद्धिमान लोग हैं), तो वह इस भाषण को सुनकर केवल हंसेगा और कहेगा (ज़ाहिर है कि यह बात वह मन ही मन कहेगा, क्योंकि प्राय: वह अनुभवी कूटनीतिज्ञ भी होता है): "मालूम पड़ता है कि आपके 'अग्रदल' में सब बड़े भोले लोग भरे हुए हैं! वे इतना भी नहीं समझते कि मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष को **ही** राजनीतिक रूप देना तो हमारा काम है, पूंजीवादी-जनवाद के प्रगतिशील प्रतिनिधियों का काम है। अरे, पश्चिमी यूरोप के तमाम पूंजीवादियों की तरह हम भी तो मज़दूरों को राजनीति में खींचना चाहते हैं, **पर वह ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति ही होगी, न कि सामाजिक-जनवादी राजनीति**। मज़दूर वर्ग की ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति वास्तव में मज़दूर वर्ग की **पूंजीवादी राजनीति** ही होती है, और यहां 'अग्रदल' ने अपने जो काम बताये हैं, वे ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति का सूत्र हैं। यदि वे चाहते हैं, तो अपने को जी भरकर सामाजिक-जनवादी कह लें, पर मैं बच्चा नहीं हूं कि एक नाम पर भड़क जाऊं! लेकिन इन लोगों को उन लकीर के फ़कीर ख़तरनाक कट्टरपंथियों के असर में नहीं आना चाहिए, और उन सब लोगों को 'आलोचना करने की स्वतंत्रता' देना चाहिए जो अनजाने में सामाजिक-जनवाद को ट्रेड-यूनियनवादी दिशाओं में ढकेल रहे हैं!"

और जब हमारे संविधानवादी को यह पता चलेगा कि जो सामाजिक-जनवादी ऐसे समय में, जब हमारे आन्दोलन पर स्वयं-स्फूर्ति का लगभग पूर्ण आधिपत्य है, यह बात करते हैं कि सामाजिक-जनवाद अग्रदल है, वे किसी चीज़ से इतना ज़्यादा नहीं डरते जितना कि "स्वयं-स्फूर्त तत्व के महत्व को कम करके आंकने" और "विलक्षण तथा सम्पूर्ण विचारों के प्रचार के

मुक़ाबले में नीरस दैनिक संघर्ष की प्रगति के महत्व को कम करके आंकने", इत्यादि से डरते हैं, तब तो उसकी मन्द मुसकान होमर की सी हंसी में बदल जायेगी। यह "अग्रदल" भी कैसा है जो इस बात से डरता है कि कहीं चेतना स्वयं-स्फूर्ति से आगे न निकल जाये, जो किसी ऐसी साहसी "योजना" को पेश करने में घबड़ाता है जिसे वे सभी लोग भी मानने को मजबूर होते हैं जो हमसे भिन्न ढंग से सोचते हैं! ये लोग "हरावल" का मतलब "चंडावल" तो नहीं समझ रहे हैं?

मार्तिनोव की दलीलों के ज़रा इस उदाहरण पर भी ग़ौर कीजिये। पृष्ठ ४० पर वह फ़रमाते हैं कि बुराइयों का भंडाफोड़ करने की 'ईस्क्रा' की कार्यनीति एकांगी है, क्योंकि "सरकार के प्रति हम चाहे जितना अविश्वास और घृणा फैला दें, जब तक हम उसे उलटने के लिए पर्याप्त रूप से सक्रिय सामाजिक शक्ति का विकास नहीं करेंगे, तब तक हम अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पायेंगे।" यहां चलते-चलते यह बता दिया जाये कि यह जनता की क्रियाशीलता को बढ़ाने की वह चिन्ता है जिससे हम भली भांति परिचित हैं, जिसके साथ अपनी क्रियाशीलता को सीमित करते जाने की कोशिश जारी रहती है। लेकिन इस वक़्त मुख्य सवाल यह नहीं है। इसलिए, मार्तिनोव यहां **क्रान्तिकारी** शक्ति ("उलटने के लिए") का जिक्र करते हैं। और वह इससे नतीजा क्या निकालते हैं? साधारण काल में चूंकि विभिन्न सामाजिक स्तर अनिवार्यतः अलग-अलग चलते हैं, "इसलिए, स्पष्ट है कि हम सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ता विरोध-पक्ष के विभिन्न स्तरों की गतिविधि का एकसाथ संचालन नहीं कर सकते; हम उनपर काम का एक ठोस कार्यक्रम नहीं लाद सकते; हम उनसे यह नहीं कह सकते कि अपने रोज़मर्रा के हितों के लिए उन्हें किस तरह लड़ना चाहिए... उदारपंथी हिस्से अपने तात्कालिक हितों के लिए सक्रिय संघर्ष का खुद संचालन कर लेंगे और यह संघर्ष उन्हें हमारे राजनीतिक शासन के आमने-सामने लाकर खड़ा कर देगा।" (पृष्ठ ४१) इस प्रकार, क्रान्तिकारी शक्ति की और निरंकुश शासन को उलटने के लिए सक्रिय संघर्ष की बातों से शुरू करके, मार्तिनोव तुरन्त ट्रेड-यूनियन की शक्ति और तात्कालिक हितों के लिए सक्रिय संघर्ष की बात पर पहुंच जाते हैं! कहने की आवश्यकता नहीं कि हम लोग विद्यार्थियों, उदारपंथियों, आदि के "तात्कालिक हितों" के संघर्ष का नेतृत्व नहीं कर सकते,

परन्तु अत्यन्त आदरणीय "अर्थवादी" महानुभाव, जिस बात पर हम बहस कर रहे थे, वह यह नहीं थी! जिस बात पर हम बहस कर रहे थे, वह यह थी कि निरंकुश शासन का तख़्ता उलटने के काम में समाज के विभिन्न स्तरों का भाग लेना सम्भव और आवश्यक है या नहीं; और यदि हम "अग्रदल" बनना चाहते हैं तो "विरोध-पक्ष के अलग-अलग स्तरों की" **इन** "गतिविधियों" का नेतृत्व करना न केवल हमारे लिए **सम्भव** है, बल्कि उनका नेतृत्व करना हमारा कर्तव्य है। हमारे विद्यार्थी और उदारपंथी, आदि "हमारे राजनीतिक शासन के आमने-सामने आ खड़े होने" के लिए न केवल ख़ुद कोशिश करेंगे बल्कि निरंकुश सरकार की पुलिस और अफ़सर इस काम में उन्हें सबसे ज़्यादा मदद देंगे। परन्तु यदि "हम" समुन्नत जनवादी बनना चाहते हैं, तो हमें उन लोगों के दिमाग़ों में, जो अभी विश्वविद्यालय या केवल ज़ेम्स्त्वो (ज़िला बोर्डों) आदि की हालत से असंतुष्ट हैं, **यह बात बिठाने** का काम अपने हाथ में लेना होगा कि पूरी राजनीतिक व्यवस्था बेकार है। **हमें अपनी** पार्टी के नेतृत्व में एक सर्वांगीण राजनीतिक संघर्ष इस तरह संगठित करने का काम अपने हाथ में लेना होगा, जिससे उस संघर्ष को तथा हमारी पार्टी को विरोध-पक्ष के सभी हिस्सों से अधिक से अधिक समर्थन मिले। **हमें** अपने सामाजिक-जनवादी व्यावहारिक कार्यकर्ताओं को ऐसे राजनीतिक नेता बनाने की शिक्षा होगी जिनमें इस सर्वांगीण संघर्ष के प्रत्येक रूप का नेतृत्व करने की क्षमता हो, और जो बेचैन विद्यार्थियों, ज़िला बोर्डों के असंतुष्ट सदस्यों, धार्मिक सम्प्रदायों के खिन्न लोगों, नाराज़ प्राथमिक शिक्षकों आदि सभी लोगों के लिए सही समय पर "काम का एक ठोस कार्यक्रम निश्चित" कर सकें। इस कारण, मार्तिनोव का यह कहना **एकदम ग़लत है** कि "इन हिस्सों के सामने हम **केवल** बुराइयों का भंडाफोड़ करनेवालों की **नकारात्मक** भूमिका में ही सामने आ सकते हैं... हम **केवल** इन लोगों की उन आशाओं को समाप्त करने में मदद दे सकते हैं जो उन्होंने सरकार के विभिन्न आयोगों से बांध रखी हैं"। (शब्दों पर ज़ोर हमारा है।) यह कहकर मार्तिनोव इस बात को बिल्कुल साफ़ कर देते हैं कि वह यह **क़तई नहीं समझते** कि क्रान्तिकारी "अग्रदल" की असल में क्या भूमिका होनी चाहिए। यदि पाठक यह याद रखें, तो मार्तिनोव की इस अन्तिम बात का **असली मतलब** उनके सामने बिल्कुल साफ़ हो जायेगा: "'ईस्क्रा'

क्रान्तिकारी विरोध-पक्ष का एक ऐसा मुखपत्र है जो समाज के विविधतम हिस्सों के हितों के दृष्टिकोण से हमारे देश की वर्तमान अवस्था का, विशेषकर राजनीतिक अवस्था का, भंडाफोड़ करता है। लेकिन हम लोग सर्वहारा संघर्ष के साथ घनिष्ठ और सजीव सम्पर्क रखते हुए मज़दूर वर्ग के हित के लिए काम करते हैं और आगे भी करते रहेंगे। अपने सक्रिय प्रभाव के क्षेत्र को सीमित करके हम इस प्रभाव का उपयोग करने के काम को और पेचीदा बना देते हैं।" (पृष्ठ ६३) इस निष्कर्ष का असली मतलब यह होता है: 'ईस्क्रा' मज़दूर वर्ग की ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति को (हमारे व्यावहारिक कार्यकर्ता अपनी नासमझी, शिक्षा के अभाव या विश्वासों के कारण जिसकी सीमाओं में अक्सर अपने को बांधे रखते हैं) सामाजिक-जनवादी राजनीति के स्तर तक **उठाना** चाहता है, जब कि 'राबोचेये देलो' सामाजिक-जनवादी राजनीति को नीचे गिराकर ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति के स्तर पर **उतार लाना** चाहता है। और इससे भी बड़ी बात यह है कि वह दुनिया को यह विश्वास दिलाना चाहता है कि उसका यह मत हम सबके "समान ध्येय के अंदर सर्वथा संगत है"। (पृष्ठ ६३) इस भोलेपन पर कोई क्या कहे!

आगे बढ़िये: क्या हमारे पास समाज के **सभी** वर्गों के बीच अपना प्रचार करने और आन्दोलन चलाने के लिए पर्याप्त साधन हैं? ज़ाहिर है कि हैं। हमारे "अर्थवादी", जिनमें प्रायः इस बात से इनकार करने की प्रवृत्ति देखी जाती है, यह नहीं देखते कि हमारा आन्दोलन (लगभग) १८९४ से १९०१ तक कितनी विराट प्रगति कर चुका है। सच्चे "पुछल्लावादियों" की तरह वे अक्सर सुदूर अतीत में रहते हैं, उस ज़माने में रहते हैं जब आन्दोलन शुरू ही हो रहा था। उस समय सचमुच हमारे पास बहुत ही कम साधन थे, और उस समय यदि हम केवल मज़दूरों के बीच ही काम करते थे और जो कोई इस पथ से हटता था, उसकी यदि हम सख़्त निन्दा करते थे, तो यह सर्वथा स्वाभाविक और उचित था। उस समय हमारा कुछ काम मज़दूर वर्ग में अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना था। परन्तु, अब विराट शक्तियां आन्दोलन की ओर खिंच आयी हैं, शिक्षित वर्गों की नयी पीढ़ी के सर्वोत्तम प्रतिनिधि हमारे साथ आ रहे हैं, देश भर में ऐसे अनेक लोग हैं, जिन्हें मजबूर होकर दूर के प्रान्तों में रहना पड़ रहा है, जो पहले कभी आन्दोलन में हिस्सा ले चुके हैं या अब

उसमें हिस्सा लेना चाहते हैं, जो सामाजिक-जनवाद की ओर झुक रहे हैं (जब कि १८९४ में सामाजिक-जनवादियों को उंगलियों पर गिना जा सकता था)। हमारे आन्दोलन की एक प्रधान राजनीतिक और संगठनात्मक कमज़ोरी यह है कि हम **यह नहीं जानते** कि इन तमाम शक्तियों का **कैसे** उपयोग किया जाये और उन्हें उचित कांम कैसे दिया जाये (अगले अध्याय में हम इसपर अधिक विस्तार से चर्चा करेंगे)। इनमें से अधिकतर शक्तियां ऐसी हैं जिनको "मज़दूरों में जाने" का ज़रा भी अवसर नहीं मिलता, इसलिए यह भय निराधार है कि हम अपनी शक्तियों को अपने मुख्य काम से हटा लेंगे। और मज़दूरों को सच्चा, सर्वांगीण और सजीव राजनीतिक ज्ञान देने के लिए ज़रूरी है कि हर जगह हर सामाजिक स्तर में, और तमाम ऐसे स्थानों में जिनसे हम राजकीय यंत्र की अन्दरूनी प्रेरक शक्तियों को जान सकते हैं, "हमारे अपने आदमी" यानी सामाजिक-जनवादी हों। ऐसे लोगों की न केवल प्रचार और आन्दोलन के लिए, बल्कि उससे भी अधिक संगठन के लिए आवश्यकता है।

क्या समाज के सभी वर्गों के बीच काम करने की गुंजाइश है? जिन लोगों को यह सम्भावना नहीं दिखायी देती, वे अपनी चेतना के मामले में भी जनता की स्वयं-स्फूर्त जागृति से बहुत पिछड़े हुए हैं। मज़दूर आन्दोलन ने कुछ लोगों में असंतोष पैदा किया है तो कुछ में विरोध-पक्ष को समर्थन मिलने की आशा जगायी है, और कुछ में यह चेतना पैदा की है कि निरंकुश शासन अब जनता के लिए असहनीय हो गया है और उसका पतन अवश्यम्भावी है, और यह क्रम अब भी जारी है। हम केवल नाम के "राजनीतिज्ञ" और सामाजिक-जनवादी साबित होंगे (जैसा कि हम अक्सर साबित होते हैं), यदि हम यह नहीं महसूस करेंगे कि हमारा काम असंतोष की प्रत्येक अभिव्यक्ति को इस्तेमाल करना और यहां तक कि प्रारंभिक विरोध के भी प्रत्येक कण को एकत्रित करके उसका सर्वोत्तम उपयोग करना है। यह इस बात से बिल्कुल अलग है कि लाखों और करोड़ों श्रमजीवी किसान, दस्तकार, छोटे-छोटे कारीगर, आदि थोड़े भी योग्य और बुद्धिमान सामाजिक-जनवादियों की सीखों को सदा बड़ी उत्सुकता से सुनेंगे। वस्तुतः क्या समाज का एक भी ऐसा वर्ग है जिसमें अधिकारों के अभाव तथा अन्याय से असंतुष्ट कोई व्यक्ति, दल या मण्डल न हो, और इसलिए जो सबसे आवश्यक जनवादी परिवर्तनों के प्रवक्ताओं के रूप में

सामाजिक-जनवादियों के प्रचार की पहुंच के भीतर न हो? जो लोग इसका एक स्पष्ट चित्र चाहते हैं कि समाज के **सभी** वर्गों और स्तरों के बीच किसी सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ता का राजनीतिक आन्दोलन किस ढंग का होना चाहिए, उनको हम बतायेंगे कि इस आन्दोलन का प्रधान (किन्तु ज़ाहिर है कि एकमात्र नहीं) रूप **राजनीतिक भंडाफोड़** है, बशर्ते कि हम इस शब्द को व्यापक अर्थ में लें।

मैंने अपने लेख 'कहां से आरम्भ करें?' ('ईस्क्रा', अंक ४, मई १९०१) में, जिसकी मैं आगे और विस्तार से चर्चा करूंगा, लिखा था: "हमें समाज के हर उस हिस्से में, जो थोड़ा भी जागृत है, **राजनीतिक** भंडाफोड़ का शौक़ पैदा करना चाहिए। हमें इस बात से निराश नहीं होना चाहिए कि अभी राजनीतिक भंडाफोड़ करनेवाली आवाज़ें कमज़ोर, इनी-गिनी और सहमी हुई सी हैं। इसका कारण यह नहीं है कि पुलिस की निरंकुशता के सामने सबने सिर झुका दिया है; बल्कि इसका कारण यह है कि जो लोग भंडाफोड़ कर सकते हैं और करने को तैयार हैं, उनके पास ऐसा कोई मंच नहीं है जहां से वे बोल सकें, उनके पास ऐसे सुननेवाले नहीं हैं जो बोलनेवालों की बातों को उत्सुकता से सुनें और उनसे सहमति प्रकट करें, और इसका कारण यह है कि बोलनेवालों को जनता में वे तत्व कहीं दिखायी नहीं देते जिनके पास 'सर्वशक्तिमान' रूसी सरकार के ख़िलाफ़ अपनी शिकायत ले जाने से कोई फ़ायदा हो... हम अब इस स्थिति में हैं, और यह हमारा कर्तव्य है कि ज़ारशाही सरकार का देशव्यापी पैमाने पर भंडाफोड़ करने के लिए हम एक मंच प्रस्तुत करें। ऐसा मंच एक सामाजिक-जनवादी पत्र को ही होना चाहिए।"

राजनीतिक भंडाफोड़ के लिए सबसे आदर्श श्रोता मज़दूर वर्ग होता है जो सर्वांगीण तथा सजीव राजनीतिक ज्ञान की आवश्यकता के मामले में सबसे अव्वल और सबसे आगे है, और इस ज्ञान को सक्रिय संघर्ष में परिणत करने की क्षमता भी, भले ही उससे "कोई ठोस नतीजा" निकलने की उम्मीद न हो, उसी में सबसे ज़्यादा होती है। और **देशव्यापी** भंडाफोड़ का मंच केवल एक अखिल-रूसी पत्र ही हो सकता है। "एक राजनीतिक मुखपत्र के बिना आधुनिक यूरोप में किसी ऐसे राजनीतिक आन्दोलन की कल्पना नहीं की जा सकती, जो सचमुच इस नाम के योग्य हो," और इस मामले में हमें रूस

को भी निस्संदेह आधुनिक यूरोप में ही रखना होगा। हमारे देश में समाचारपत्र बहुत दिनों से एक शक्ति बन चुके हैं, नहीं तो सरकार उन्हें रिश्वत देने में और कात्कोव तथा मेश्चेर्स्की जैसे लोगों की मदद करने में हज़ारों रूबल ख़र्च न करती। और एकतांत्रिक रूस में यह कोई अनोखी बात न थी कि गुप्त रूप से निकलनेवाले पत्र सेंसरशिप की दीवारों को तोड़ डालें और क़ानूनी तथा रूढ़िवादी पत्रों को खुलेआम अपने बारे में चर्चा करने के लिए **मजबूर कर दें।** पिछली शताब्दी के आठवें दशक में, यहां तक कि छठे दशक में भी, यही बात देखने में आयी थी। उस समय की तुलना में आज जनता के ऐसे हिस्से बहुत अधिक व्यापक और अधिक गहरे हो गये हैं जो गुप्त रूप से निकलनेवाले ग़ैर-क़ानूनी पत्रों को पढ़ने के लिए, और 'ईस्क्रा' (अंक ७) को पत्र लिखनेवाले एक मज़दूर के शब्दों में, उनसे "किस तरह जीयें और किस तरह मरें" सीखने के लिए तैयार हैं[140]। जिस प्रकार आर्थिक भंडाफोड़ कारखानों के मालिकों के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा करता है उसी प्रकार राजनीतिक भंडाफोड़ **सरकार** के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा करता है। और भंडाफोड़ का यह आंदोलन जितना ही अधिक व्यापक और शक्तिशाली होगा, वह सामाजिक **वर्ग**, जिसने **युद्ध आरंभ करने के उद्देश्य से युद्ध की घोषणा की है**, संख्या में जितना बड़ा और जितना दृढ़संकल्प होगा, युद्ध की इस घोषणा का नैतिक महत्व भी उतना ही अधिक होगा। अतएव, स्वयं राजनीतिक भंडाफोड़ उस व्यवस्था को **छिन्न-भिन्न करने** का एक शक्तिशाली साधन हैं जिसका हम विरोध करते हैं, वे दुश्मन से उसके आकस्मिक अथवा अस्थायी सहयोगियों को अलग करने का साधन हैं, वे निरंकुश सरकार के स्थायी साझेदारों के बीच दुश्मनी और अविश्वास फैलाने का साधन हैं।

हमारे ज़माने में सिर्फ़ वही पार्टी क्रान्तिकारी शक्तियों का अग्रदल बन सकती है जो सचमुच **देशव्यापी** पैमाने पर भंडाफोड़ों का **संगठन करेगी**। "देशव्यापी" शब्द का बहुत ही गूढ़ अर्थ है। भंडाफोड़ करनेवाले ग़ैर-मज़दूर लोगों में से (और अग्रदल बनने के लिए हमें दूसरे वर्गों को अपनी ओर खींचना होगा) अधिकतर संभल-सभलकर चलनेवाले राजनीतिज्ञ और संतुलित दिमाग़ के व्यवहार-कुशल होते हैं। वे अच्छी तरह जानते हैं कि "सर्वशक्तिमान" रूसी सरकार की बात तो जाने दीजिये, एक छोटे-से सरकारी अफ़सर के ख़िलाफ़ भी "शिकायत" करना कितना ख़तरनाक होता है। और वे **हमारे पास** अपनी

शिकायतें केवल तभी लायेंगे जब वे देखेंगे कि उनकी शिकायतों का सचमुच कोई असर हो सकता है, और हम किसी **राजनीतिक ताक़त** के प्रतिनिधि हैं। बाहरी लोगों की नज़रों में ऐसी ताक़त बनने के लिए हमें ख़ुद अपनी चेतना, पहल और उत्साह को **बढ़ाने** का काम बहुत लगन और धैर्य से करना होगा। इस काम को पूरा करने के लिए चंडावल के सिद्धान्त और व्यवहार पर "हरावल" का ठप्पा लगा देने से काम नहीं चलेगा।

परन्तु, यदि हमें सही माने में सरकार का देशव्यापी पैमाने पर भंडाफोड़ संगठित करने का काम अपने हाथ में लेना है, तो हमारे आन्दोलन का वर्ग-स्वरूप किन बातों में व्यक्त होगा? – "सर्वहारा के संघर्ष के साथ घनिष्ठ और सजीव सम्पर्क क़ायम रखने" के अति-उत्साही समर्थक हमसे यह प्रश्न करेंगे। उत्तर है: इस बात में कि सार्वजनिक भंडाफ़ोड़ का यह काम हम सामाजिक-जनवादी करेंगे, कि हमारे आंदोलन से जितने भी प्रश्न उठेंगे, उन सबका सदा सच्ची सामाजिक-जनवादी भावना के साथ स्पष्टीकरण किया जायेगा और इस मामले में मार्क्सवाद को जान-बूझकर अथवा अनजाने में तोड़ने-मरोड़नेवाले विचारों को ज़रा भी आश्रय नहीं दिया जायेगा; इस बात में कि इस सर्वांगीण राजनीतिक आन्दोलन का संचालन एक ऐसी पार्टी करेगी, जो सरकार पर समस्त जनता के नाम पर दबाव डालने का काम, सर्वहारा की राजनीतिक स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के साथ-साथ उसे राजनीतिक शिक्षा देने का काम, और मज़दूर वर्ग के आर्थिक संघर्ष का नेतृत्व करने, अपने शोषकों के साथ मज़दूर वर्ग के जो झगड़े अपने-आप उठ खड़े होते हैं, और जो अधिकाधिक बढ़ती हुई संख्या में मज़दूरों को झकझोरकर हमारे पक्ष में ले आते हैं, उन सबको इस्तेमाल करने का काम – इन कामों को अभिन्न रूप से एकसाथ मिलाकर करती है!

परन्तु "अर्थवाद" की सबसे लाक्षणिक विशेषताओं में से एक यह है कि वह सर्वहारा वर्ग की सबसे ज़रूरी आवश्यकताओं (यानी राजनीतिक आन्दोलन तथा राजनीतिक भंडाफोड़ों के ज़रिए सर्वांगीण राजनीतिक शिक्षा देने की आवश्यकता) और साधारण जनवादी आन्दोलन की आवश्यकताओं के इस सम्बंध को – बल्कि हमें कहना चाहिए कि इस एकरूपता को – नहीं समझता। समझ का यह अभाव न केवल "मार्तिनोव-मार्का" शब्दों में प्रकट होता है, बल्कि उस तथाकथित वर्गीय दृष्टिकोण के हवालों में भी प्रकट होता है जिसका अर्थ वही

होता है जो इस शब्दावली का है। मिसाल के लिए, यह देखिये कि 'ईस्क्रा' के अंक १२ में प्रकाशित "अर्थवादी" पत्र के लेखकों ने इसे किस प्रकार व्यक्त किया है*। "'ईस्क्रा' अपने इस बुनियादी दोष" (विचारधारा को अधिक महत्व देने) "के कारण ही इस सवाल पर सदा एक सी राय नहीं दे पाता कि विभिन्न सामाजिक वर्गों तथा प्रवृत्तियों के प्रति सामाजिक-जनवादियों का क्या रुख़ होना चाहिए। 'ईस्क्रा' ने निरंकुशता के ख़िलाफ़ तुरन्त संघर्ष छेड़ने की समस्या को सैद्धान्तिक तर्क की एक प्रक्रिया के द्वारा" (और "पार्टी के कामों के विकास के द्वारा" नहीं, "जो पार्टी के विकास के साथ-साथ बढ़ते हैं") "हल कर दिया। पर सम्भवत: वह यह महसूस करता है कि मौजूदा हालत में मज़दूरों के लिए यह कितना मुश्किल काम होगा" ('ईस्क्रा' महसूस ही नहीं करता, बल्कि अच्छी तरह जानता है कि यह काम मज़दूरों को उन "अर्थवादी" बुद्धिजीवियों की अपेक्षा कम कठिन मालूम पड़ता है जिन्हें छोटे-छोटे बच्चों की फ़िक्र पड़ी हुई है, क्योंकि मज़दूर तो उन मांगों के लिए भी लड़ने को तैयार हैं जिनसे, अविस्मरणीय मार्तिनोव के शब्दों में, "कोई ठोस नतीजा निकलने की उम्मीद नहीं होती") ... "और चूंकि 'ईस्क्रा' में इतना सब्र नहीं है कि वह उस वक़्त तक इन्तज़ार कर सके जब तक कि मज़दूर इस संघर्ष के लिए और शक्ति न बटोर लें, इसलिए वह उदारपंथियों तथा बुद्धिजीवियों के बीच मददगारों की तलाश करने लगता है"...

हां, हां, हममें सचमुच अब उस वक़्त तक "इन्तज़ार" करने का "सब्र" नहीं रह गया है जिसकी उम्मीद तरह-तरह के "समझौतावादी" हमें बहुत दिनों से दिला रहे हैं, जब "अर्थवादी" **अपने** पिछड़ेपन का दोष मज़दूरों के मत्थे

---

*स्थानाभाव के कारण हम 'ईस्क्रा' में इस पत्र का, जो "अर्थवादियों" के दृष्टिकोण का बहुत अच्छा प्रतिनिधित्व करता है, पूरा-पूरा उत्तर नहीं दे पाये। हम इस पत्र के प्रकाशन से बहुत ख़ुश थे, क्योंकि हमारे पास विभिन्न सूत्रों से इस तरह की अफ़वाहें बहुत पहले पहुंच चुकी हैं कि 'ईस्क्रा' एक सुसंगत वर्गीय दृष्टिकोण का अनुसरण नहीं कर रहा है, और हम बहुत दिन से इन्तज़ार कर रहे थे कि कोई उचित अवसर मिले, या कोई बाक़ायदा हमपर यह आरोप लगाये तो हम उसका जवाब दें। और हमारी आदत है कि हम हमलों का जवाब अपना बचाव करके नहीं, बल्कि जवाबी हमले से देते हैं।

मढ़ना बन्द कर दगे और जब वे स्वयं अपनी शक्ति के अभाव को यह कहकर उचित ठहराना बन्द कर देंगे कि मज़दूरों में ताक़त की कमी है। हम अपने "अर्थवादियों" से पूछते हैं: "इस संघर्ष के लिए मज़दूर वर्ग के और शक्ति बटोरने" का क्या मतलब है? क्या यह स्पष्ट नहीं है कि इसका मतलब मज़दूरों को राजनीतिक शिक्षा देना और हमारे देश के घृणित एकतंत्र के **सभी** पहलुओं का उनके सामने भंडाफोड़ करना है? और क्या यह बात साफ़ नहीं है कि हमें **ठीक इसी काम के लिए** "उदारपंथियों और बुद्धिजीवियों के बीच वैसे मददगारों की ज़रूरत है, जो ज़िला बोर्डों, अध्यापकों, सांख्यिकों, विद्यार्थियों आदि पर होनेवाले राजनीतिक हमलों का भंडाफोड़ करने में हमारी मदद करने को तैयार हों? क्या इस आश्चर्यजनक हद तक "पेचीदा यंत्र" को समझना सचमुच इतना कठिन है? क्या प० ब० अक्सेलरोद १८९७ से ही बार-बार आप लोगों से यह नहीं कहते आये हैं: "रूसी सामाजिक-जनवादियों के लिए ग़ैर-सर्वहारा वर्गों में से समर्थक और प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहयोगी पाने की समस्या का हल प्रधानतया और मूलतया इस बात से निकलेगा कि खुद सर्वहारा वर्ग के अन्दर प्रचार-कार्य किस तरह से चलाया जाता है"? परन्तु मार्तिनोव और दूसरे "अर्थवादी" अब भी यह सोच रहे हैं कि **पहले** "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" चलाकर (ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति के लिए) मज़दूरों को शक्ति बटोरना चाहिए और **फिर**—शायद ट्रेड-यूनियनवादी "कार्य की शिक्षा" से सामाजिक-जनवादी कार्य की ओर "बढ़ चलना चाहिए"!

"... अपनी इस तलाश में," "अर्थवादी" आगे कहते हैं, "'ईस्क्रा' अक्सर वर्गीय दृष्टिकोण को त्याग देता है, वर्ग-विरोधों पर पर्दा डाल देता है और सरकार के ख़िलाफ़ फैले हुए असंतोष के आम स्वरूप को सबसे आगे रखता है, हालांकि इन 'सहयोगियों' में इस असंतोष की मात्रा और इसके कारण काफ़ी अलग-अलग होते हैं। उदाहरण के लिए, ज़िला बोर्डों के प्रति 'ईस्क्रा' का रुख़ इसी तरह का है"... कहा जाता है कि 'ईस्क्रा' "सरकार के आश्वासनों से असंतुष्ट जागीरदारों को मज़दूर वर्ग की मदद का वचन तो देता है, पर समाज के इन स्तरों के बीच जो वर्ग-विरोध पाये जाते हैं, उनके बारे में एक शब्द भी नहीं कहता।" यदि पाठक 'एकतंत्र और ज़िला बोर्ड' ('ईस्क्रा' के अंक २ और ४ में प्रकाशित)[141] शीर्षक लेखों को देखेंगे, क्योंकि **सम्भवतः** पत्र के लेखक इन्हीं

की ओर इशारा कर रहे हैं, तो वे पायेंगे कि इन लेखों* में "जागीरों पर आधारित नौकरशाही ढंग के ज़िला बोर्डों के नरम आन्दोलन" के प्रति और "यहां तक कि सम्पत्तिवान वर्गों की स्वतंत्र गतिविधियों" के प्रति **सरकार** के रुख़ की चर्चा की गयी है। इन लेखों में कहा गया है कि मज़दूर उस वक़्त चुप नहीं रह सकते जब सरकार ज़िला बोर्डों के ख़िलाफ़ जंग चला रही है, और ज़िला बोर्ड वालों का आवाहन किया गया है कि उन्हें अब नरम भाषण देना बन्द करना चाहिए, और जब क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद अपनी पूरी शक्ति के साथ सरकार का सामना कर रहा हो तब उन्हें दृढ़ता और मज़बूती के साथ बोलना चाहिए। यह स्पष्ट नहीं है कि पत्र के लेखकगण यहां किस बात से असहमत हैं। क्या उनका विचार है कि "सम्पत्तिवान वर्गों" और "जागीरों पर आधारित नौकरशाही ढंग के ज़िला बोर्डों" जैसे शब्दों को मज़दूर "नहीं समझेंगे"? क्या उनका विचार है कि नरम भाषण देना बन्द करने और दृढ़ता और मज़बूती के साथ बोलने के लिए ज़िला बोर्डों पर **ज़ोर डालना** "विचारधारा को अधिक महत्व देना" है? क्या उनका यह ख़्याल है कि यदि मज़दूरों को इस बात का ज़रा भी ज्ञान न हो कि निरंकुश शासन का ज़िला बोर्डों के प्रति **भी** ... क्या रवैया है, तब भी क्या वे निरंकुश शासन के ख़िलाफ़ संघर्ष करने के लिए "शक्ति बटोर सकेंगे"? इस सब पर भी कोई प्रकाश नहीं पड़ता। केवल एक बात साफ़ है और वह यह कि पत्र के लेखकों के दिमाग़ में इसका बहुत ही धुंधला चित्र है कि सामाजिक-जनवाद के राजनीतिक काम क्या हैं। यह बात उनके इस कथन से और भी स्पष्ट हो जाती है: "विद्यार्थी आन्दोलन के प्रति भी 'ईस्क्रा' का यही" (अर्थात् "वर्ग-विरोधों पर पर्दा डाल देने" का) "रुख़ है।" यानी हम लोगों को बजाय मज़दूरों से यह अपील करने के कि उन्हें सार्वजनिक प्रदर्शनों के द्वारा यह ऐलान करना चाहिए कि अनियंत्रित हिंसा, अव्यवस्था और अनाचार का वास्तविक केन्द्र विद्यार्थी नहीं बल्कि रूसी सरकार है ('ईस्क्रा', अंक २**) –

---

*और इन लेखों के **दरम्यान** जो समय गुज़रा, उसमें 'ईस्क्रा' ने (अंक ३ में) एक ऐसा लेख छापा था जिसमें ख़ास तौर पर देहात में पाये जानेवाले वर्ग-विरोधों की चर्चा की गयी थी। (देखिये लेनिन का 'मज़दूर पार्टी और किसान' शीर्षक लेख। – सं०)

**देखिये लेनिन का '१८३ विद्यार्थियों की फ़ौज में ज़बर्दस्ती भर्ती' शीर्षक लेख। – सं०

'राबोचाया मीस्ल' के अन्दाज़ में यक़ीनन दलीलें देनी चाहिए थीं! और इस तरह के विचार ये सामाजिक-जनवादी फ़रवरी और मार्च की घटनाओं के बाद १६०१ की शरद-ऋतु में व्यक्त कर रहे हैं जब कि विद्यार्थी आन्दोलन में एक नया उभार आनेवाला है, जिससे प्रकट होता है कि इस क्षेत्र में भी एकतंत्र के ख़िलाफ़ "स्वयं-स्फूर्त" विरोध, आन्दोलन का सचेतन रूप से सामाजिक-जनवादी नेतृत्व करने के काम से **आगे निकला जा रहा है**। पुलिस और कज़्ज़ाक जिन विद्यार्थियों को पीट रहे हैं, उनकी मदद में उठने की मज़दूरों की स्वयं-स्फूर्त भावना, सामाजिक-जनवादी संगठन के सचेतन कार्य से आगे निकली जा रही है!

"और फिर भी," पत्र के लेखक आगे लिखते हैं, "'ईस्क्रा' अन्य लेखों में हर तरह के समझौतों की कड़ी निन्दा करता है और उदाहरण के लिए, गेदवादियों के असहनशील व्यवहार का समर्थन करता है।" सामाजिक-जनवादियों में आजकल पाये जानेवाले मतभेदों के बारे में जो लोग प्रायः बड़े घमंड और बड़े हल्केपन के साथ यह कह देते हैं कि ये मतभेद बहुत ही छोटे हैं और उनको लेकर आन्दोलन के दो टुकड़े कर डालना उचित नहीं है, उन लोगों को हम इन शब्दों पर बहुत गम्भीरता से विचार करने की सलाह देंगे। एक तरफ़ कुछ ऐसे लोग हैं जो समझते हैं कि हमने अभी मज़दूरों को यह समझाने के लिए कि एकतंत्र विभिन्न वर्गों के साथ किस प्रकार दुश्मनी का बरताव करता है, और उन्हें यह बताने के लिए कि समाज के अलग-अलग हिस्से एकतंत्र का किस तरह विरोध करते हैं, बहुत ही कम काम किया है; दूसरी तरफ़ वे लोग हैं जो इस काम को "समझौता" करना – ज़ाहिर है "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" से समझौता – समझते हैं, क्या ये दोनों तरह के लोग एक संगठन के अन्दर रहकर सफलतापूर्वक काम कर सकते हैं?

हमने किसानों की मुक्ति की चालीसवीं वर्षगांठ पर (अंक ३* में) देहाती इलाक़ों में वर्ग-संघर्ष शुरू करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया और कहा कि वित्ते के गुप्त पुर्ज़े को लेकर स्थानीय स्वशासन तथा एकतंत्र के बीच ऐसा मतभेद पैदा हो गया है जिसे सुलझाया नहीं जा सकता (अंक ४)। नये क़ानून के सिलसिले में हमने सामन्ती ज़मींदारों पर और उस सरकार पर हमला किया जो उनकी

---

*देखिये लेनिन का 'मज़दूर पार्टी और किसान' शीर्षक लेख। – सं०

सेवा करती है (अंक ८*) ; और ग़ैर-क़ानूनी ढंग से होनेवाली ज़िला बोर्डों की कांग्रेस का स्वागत किया। हमने ज़िला बोर्डों से अनुरोध किया कि अब उन्हें ऐसी दरख़ास्तें देना बन्द करना चाहिए जिनसे ख़ुद उनके सम्मान को धक्का लगता है (अंक ८**), और उन्हें सामने आकर लड़ना चाहिए। हमने उन विद्यार्थियों की हिम्मत बढ़ायी जो राजनीतिक संघर्ष की आवश्यकता को महसूस करने लगे थे और जिन्होंने ऐसा संघर्ष शुरू भी कर दिया था (अंक ३), और साथ ही हमने (२५ फ़रवरी को मास्को के विद्यार्थियों की कार्यकारिणी समिति ने जो घोषणापत्र निकाला था उसकी चर्चा करते हुए, अंक ३ में) "शुद्ध विद्यार्थी" आन्दोलन के उन समर्थकों की "घोर नासमझी" पर सख़्त हमला किया जो विद्यार्थियों से यह कहते थे कि उन्हें सड़कों पर होनेवाले प्रदर्शनों में शामिल नहीं होना चाहिए। हमने 'रोस्सीया'[142] के धूर्त उदारपंथियों के "अर्थहीन सपनों" और उनकी "बगुला-भगती" का भंडाफोड़ किया (अंक ५), और साथ ही हमने इस बात की भी चर्चा की कि "शान्तिपूर्ण लेखकों, वृद्ध प्रोफ़ेसरों, वैज्ञानिकों, और ज़िला बोर्डों के प्रसिद्ध उदारपंथी सदस्यों" पर सरकार के यातना-गृहों में कैसे भीषण अत्याचार हो रहे हैं। (अंक ५, 'साहित्य पर पुलिस का छापा' शीर्षक लेख)। हमने इस बात का भंडाफोड़ किया कि "मज़दूरों की भलाई की राज्य की ओर से देखभाल" के कार्यक्रम का असली मतलब क्या है ; और हमने इसका स्वागत किया कि सरकार ने ख़ुद यह "तसलीम कर लिया" है कि "ऊपर से सुधार करके नीचे से इन सुधारों की मांग को उठने से रोक देना, इससे बेहतर है कि हम इन मांगों के उठाये जाने का इन्तज़ार करते रहें।" (अंक ६***)। हमने उन सांख्यिकों की हिम्मत बढ़ायी जो सरकार के विरोध में आवाज़ उठा रहे थे (अंक ७), और उन सांख्यिकों की निन्दा की जो हड़ताल-तोड़नेवालों का काम कर रहे थे (अंक ९)। जो कोई इस कार्यनीति को सर्वहारा की वर्ग-चेतना को धुंधला करना और **उदारवाद से समझौता करना** समझता है, वह केवल यही स्पष्ट कर देता है कि उसने 'क्रीडो' के कार्यक्रम का असली मतलब ज़रा

---

*देखिये लेनिन का 'सामन्तवादी, काम करते हुए' शीर्षक लेख।—सं०

**देखिये लेनिन का 'ज़ेम्स्त्वो की कांग्रेस' शीर्षक लेख।—सं०

***देखिये लेनिन का 'मूल्यवान स्वीकृतियां' शीर्षक लेख।—सं०

भी नहीं समझा है और वह उसका चाहे जितना भी खंडन क्यों न करता हो, पर वह **असल में उसी कार्यक्रम पर अमल कर रहा है!** कारण कि **ऐसा करके** वह सामाजिक-जनवादी आन्दोलन को "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" की ओर घसीट रहा है और **उदारवाद के सामने घुटने टेक रहा है,** वह **हर** "उदारपंथी" सवाल में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करने के और ऐसे सवाल की तरफ़ **स्वयं अपना** सामाजिक-जनवादी रुख़ स्पष्ट करने के कर्तव्य से विमुख हो रहा है।

(छ) एक बार फिर "मिथ्या प्रचारकों" के बारे में, एक बार फिर "घपलेबाज़ों" के बारे में

पाठकों को याद होगा कि यह शिष्ट शब्दावली 'राबोचेये देलो' की है जिसने इन शब्दों के द्वारा हमारे इस आरोप का जवाब दिया है कि वह "मज़दूर आन्दोलन को पूंजीवादी जनवाद का साधन बना देने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से ज़मीन तैयार कर रहा है"। अपने सरल स्वभाव के कारण 'राबोचेये देलो' ने तै कर डाला कि यह आरोप बहस के दौरान में किये गये एक हमले से अधिक कुछ नहीं है, मानो इन मतवादियों ने उसके विषय में हर तरह की भद्दी बातें कहने का निश्चय कर लिया हो। और भला पूंजीवादी जनवाद का साधन होने से ज़्यादा भद्दी बात और क्या हो सकती है? और इसलिए उसने मोटे-मोटे अक्षरों में आरोप का "खंडन" छापा है: "यह सरासर मिथ्या प्रचार के सिवा कुछ नहीं है" ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ ३०), "यह घपलेबाज़ी है" (पृष्ठ ३१), "यह स्वांग भरना है" (पृष्ठ ३३)। जुपिटर की तरह ही 'राबोचेये देलो' (हालांकि उसमें और जुपिटर में बहुत कम समानता है) इसलिए नाराज़ है कि वह ग़लती पर है, और जल्दी-जल्दी गालियां देकर वह यह साबित कर रहा है कि अपने विरोधियों के तर्क को समझने में वह असमर्थ है। लेकिन यदि वह थोड़ा भी सोचता तो उसकी समझ में आ जाता कि जन-आन्दोलन की स्वयं-स्फूर्ति की **किसी भी तरह** पूजा करने और सामाजिक-जनवादी राजनीति को **थोड़ा-बहुत भी** ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति के स्तर पर उतार लाने का मतलब मज़दूर आन्दोलन को पूंजीवादी जनवाद का अस्त्र बनाने के लिए ज़मीन तैयार करने के सिवा और कुछ नहीं है। स्वयं-स्फूर्त मज़दूर आन्दोलन

अपने से केवल ट्रेड-यूनियनवाद ही उत्पन्न कर सकता है (और लाज़िमी तौर पर उत्पन्न करता है), और मज़दूर वर्ग की ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति मज़दूर वर्ग की पूंजीवादी राजनीति ही होती है। मज़दूर वर्ग की राजनीति केवल इसी बात से सामाजिक-जनवादी राजनीति नहीं बन जाती कि वह राजनीतिक संघर्ष में, या यहां तक कि राजनीतिक क्रान्ति में, भाग ले रहा है। क्या 'राबोचेये देलो' इस बात से इनकार करने की हिम्मत कर सकता है? क्या वह अब इतने दिनों बाद भी सार्वजनिक रूप से, साफ़-साफ़ और बिना किसी लाग-लपेट के हमें यह बता सकता है कि उसकी समझ के मुताबिक अन्तर्राष्ट्रीय तथा रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के ज़रूरी सवाल क्या क्या हैं? नहीं, ऐसी किसी बात की वह कभी हिम्मत नहीं करेगा, क्योंकि उसने तो एक ही गुर पकड़ लिया है जिसे हम इस तरह बयान कर सकते हैं कि हर बात के जवाब में "नहीं" कहते जाओ: "यह मैं नहीं हूं, यह मेरा घोड़ा नहीं है, मैं नहीं चलाता इसे। हम 'अर्थवादी' नहीं हैं, 'राबोचाया मीस्ल' 'अर्थवाद के पक्ष' में नहीं है और रूस में 'अर्थवाद' कहीं है ही नहीं।" यह एक बहुत बढ़िया और "राजनीतिक" चाल है, पर इसमें बस एक ही दोष है। इस चाल का प्रयोग करनेवाले पत्रों को प्रायः लोग "जी-हुज़ूरी करनेवाला" कहते हैं।

'राबोचेये देलो' का विचार है कि आम तौर पर रूस में पूंजीवादी जनवाद केवल "कल्पना लोक की छाया" है ('दो-कांग्रेसें', पृष्ठ ३२)*। कितने सुखी हैं, ये लोग! शुतुरमुर्ग़ की तरह रेत में सिर घुसाकर समझते हैं कि चारों

---

*इसके आगे "रूस की उन ठोस परिस्थितियों" का हवाला दिया गया है जो "मज़दूर आन्दोलन को दैवी अनिवार्यता के साथ क्रान्तिकारी मार्ग पर ढकेल रही हैं"। परन्तु ये लोग यह बात समझने से इनकार करते हैं कि यह भी सम्भव है कि मज़दूर वर्ग के आंदोलन का क्रान्तिकारी मार्ग, सामाजिक-जनवादी मार्ग न हो! जब पश्चिमी यूरोप में निरंकुश सत्ता का राज्य था, तब वहां का पूरा पूंजीपति वर्ग मज़दूर वर्ग को क्रान्ति के मार्ग पर "ढकेलता था", जान-बूझकर ढकेलता था। परन्तु, हम सामाजिक-जनवादी उससे तो संतुष्ट नहीं हो सकते हैं। और यदि हम किसी भी तरह सामाजिक-जनवादी राजनीति को स्वयं-स्फूर्त ट्रेड-यूनियनवादी राजनीति के स्तर पर उतार ले आते हैं, तो ऐसा करके हम पूंजीवादी जनवाद के हाथों में खेलते हैं।

तरफ़ की हर चीज़ ग़ायब हो गयी है! वे उदारपंथी पब्लिसिस्ट जो हर महीने मार्क्सवाद पर अपनी विजय और मार्क्सवाद के पतन एवं लोप की घोषणा दुनिया के सामने किया करते हैं; वे उदारपंथी पत्र ('सेंट पीटरबर्गस्कीये वेदोमोस्ती'[143], 'रूस्स्कीये वेदोमोस्ती'[144], और अन्य बहुत से) जो मज़दूरों के पास वर्ग-संघर्ष की ब्रेन्तानो धारणा[145] और ट्रेड-यूनियन-मार्का राजनीति ले जानेवाले उदारपंथियों को प्रोत्साहन दिया करते हैं; मार्क्सवाद के वे प्रतिभाशाली आलोचक जिनकी वास्तविक प्रवृत्तियों को 'क्रीडो' ने इतनी अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया था और जिसकी रचनाएं ही केवल आजकल रूस में बिना किसी रोक-रुकावट के वितरित हो सकती हैं; ग़ैर-सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का वह उभार जो फ़रवरी तथा मार्च की घटनाओं के बाद से ख़ास तौर पर देखने में आ रहा है—ये सब चीज़ें बेशक केवल कल्पना लोक की छाया हैं! इन सबका पूंजीवादी जनवाद से कोई भी सम्बंध नहीं है!

'राबोचेये देलो' को तथा 'ईस्क्रा' के अंक १२ में प्रकाशित "अर्थवादी" पत्र के लेखकों को "इस बात के कारणों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए कि वसन्त-ऋतु की घटनाओं से सामाजिक-जनवाद की प्रतिष्ठा और आदर बढ़ने के बजाय, ग़ैर-सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों में इतना उभार क्यों आया?" इसका कारण यह था कि हमारे सामने जो काम थे, उनकी कसौटी पर हम पूरे नहीं उतरे। आम मज़दूर हमसे अधिक क्रियाशील निकले; हमारे पास ऐसे क्रान्तिकारी नेता और संगठनकर्ता नहीं थे जिन्हें पर्याप्त शिक्षा मिल चुकी हो, जिन्हें विरोधी-पक्ष के सभी हिस्सों की भावनाओं का पूरा-पूरा ज्ञान हो और जिनमें आन्दोलन के आगे-आगे चलने, स्वयं-स्फूर्त प्रदर्शन को एक राजनीतिक प्रदर्शन में बदलने, उसके राजनीतिक स्वरूप को और विस्तार देने, आदि की क्षमता हो। ऐसी परिस्थिति में, हमसे अधिक सक्रिय और मुस्तैद ग़ैर-सामाजिक-जनवादी लाज़िमी तौर पर हमारे पिछड़ेपन का फ़ायदा उठायेंगे; और तब मज़दूर—चाहे वे कितनी ही जान लड़ाकर और आत्म-बलिदान की भावना के साथ पुलिस और फ़ौज से लोहा क्यों न लेते हों, चाहे वे कितने ही अधिक क्रान्तिकारी क़दम क्यों न उठाते हों—पूंजीवादी जनवाद के पिछलगुआ, उन क्रान्तिकारियों की मदद करनेवाली शक्ति ही साबित होंगे, न कि सामाजिक-जनवादी अग्रदल की शक्ति। मिसाल के लिए, जर्मनी के सामाजिक-जनवादियों को लीजिये—

हमारे "अर्थवादी" उनके केवल कमज़ोर पहलुओं की ही नक़ल करना चाहते हैं। इसका क्या कारण है कि जर्मनी में **एक भी** राजनीतिक घटना ऐसी **नहीं** होती है जिससे सामाजिक-जनवाद की प्रतिष्ठा और साख न बढ़ती हो? इसका कारण यह है कि वहां सामाजिक-जनवाद इस दृष्टि से हमेशा सबसे आगे रहता है, कि वह प्रत्येक घटना का सबसे अधिक क्रान्तिकारी मूल्यांकन करता है और अन्याय के ख़िलाफ़ उठनेवाली हर आवाज़ का समर्थन करता है। वह अपने को इन लम्बे-चौड़े तर्कों की लोरी सुना-सुनाकर नहीं सुलाता कि आर्थिक संघर्ष मज़दूरों में अधिकारों के अभाव का एहसास पैदा करेगा और ठोस परिस्थितियां ख़ुद ही दैवी अनिवार्यता के साथ मज़दूर वर्ग को क्रान्ति के पथ की ओर ढकेलती जायेंगी। वह सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के हरेक क्षेत्र में और हरेक सवाल में दख़ल देता है: चाहे क़ैसर विल्हेल्म द्वारा किसी पूंजीवादी प्रगतिशील व्यक्ति को किसी शहर का मेयर मानने से इनकार करने का सवाल हो (अभी तक हमारे "अर्थवादी" जर्मनों को यह नहीं समझा पाये हैं कि यह वास्तव में उदारवाद से समझौता करना है!), चाहे "अनैतिक" प्रकाशनों तथा चित्रों पर रोक लगाने के क़ानूनों का मामला हो, चाहे प्रोफ़ेसरों के चुनाव में सरकार के दबाव डालने का सवाल हो, या कोई और सवाल हो। हर जगह सामाजिक-जनवादी सबसे आगे नज़र आते हैं, वे सभी वर्गों में राजनीतिक असंतोष पैदा करते हैं, सोते हुओं को जगाते हैं, पिछड़े लोगों को आगे बढ़ने की प्रेरणा देते हैं, और सर्वहारा की राजनीतिक चेतना तथा राजनीतिक क्रियाशीलता के विकास के लिए प्रचुर मात्रा में सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इस सबका परिणाम यह है कि समाजवाद के कट्टर से कट्टर शत्रु भी इस आगे बढ़े हुए राजनीतिक योद्धा का अदर करते हैं, और अक्सर कोई महत्वपूर्ण दस्तावेज़ पूंजीवादी हल्क़ों से, और यहां तक कि नौकरशाही तथा दरबारी हल्क़ों से बाहर निकलकर जादुई ढंग से *«Vorwärts»* के सम्पादकीय दफ़्तर में पहुंच जाता है।

तो, उस "विरोधाभास" का यही कारण है, जिसे समझना 'राबोचेये देलो' के लिए इतना कठिन है कि वह बस हाथ उठाकर चिल्लाने लगता है: "ये स्वांग भर रहे हैं!" सचमुच यह बात सोचने की है: हम, 'राबोचेये देलो' के लोग मज़दूर वर्ग के जन-आन्दोलन को अपनी **आधार-शिला** मानते हैं (और यह बात मोटे अक्षरों में छापते हैं!); हम हर किसी को स्वयं-स्फूर्त आन्दोलन

का महत्व कम करके आंकने के विरुद्ध चेतावनी देते फिरते हैं; हम आर्थिक संघर्ष को ही, **उसी को, उसी को**, राजनीतिक रूप देना चाहते हैं; हम सर्वहारा संघर्ष के साथ घनिष्ठ और सजीव सम्पर्क रखना चाहते हैं। और तब भी हमसे यह कहा जाता है कि हम मज़दूर आन्दोलन को पूंजीवादी जनवाद का अस्त्र बनाने के लिए ज़मीन तैयार कर रहे हैं। और इसे कौन लोग कहते हैं? जो उदारवाद से "समझौता करते" हैं, जो हर "उदारपंथी" सवाल में टांग अड़ाते हैं ("सर्वहारा के संघर्ष के साथ सजीव सम्पर्क रखने" को कितने गलत ढंग से समझा है इन्होंने!); जो विद्यार्थियों के बारे में और यहां तक कि (ज़रा सोचिये!) ज़िला बोर्डों के बारे में भी इतना माथा खपाते हैं, जो समाज के ग़ैर-सर्वहारा वर्गों में ("अर्थवादियों" की तुलना में) ज्यादा काम करना चाहते हैं! क्या यह "स्वांग भरना" नहीं है??

बेचारा 'राबोचेये देलो'! क्या वह इस गोरखधंधे को कभी हल कर सकेगा?

४

अर्थवादियों का नौसिखुआपन और क्रान्तिकारियों का संगठन

'राबोचेये देलो' के इस दावे से—जिसका कि हम ऊपर विश्लेषण कर चुके हैं—कि आर्थिक संघर्ष राजनीतिक आन्दोलन का सबसे अधिक व्यापक रूप से प्रयोग करने योग्य साधन है और यह कि अब हमारा काम आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप देना है, आदि, आदि, इससे न केवल हमारे राजनीतिक, बल्कि **संगठनात्मक** कामों के प्रति भी उसका संकुचित दृष्टिकोण प्रकट हो जाता है। "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" के लिए एक ऐसे अखिल-रूसी केन्द्रित संगठन की क़तई आवश्यकता नहीं है—और इसलिए ऐसे संघर्ष से कभी ऐसा संगठन उत्पन्न नहीं हो सकता है—जो राजनीतिक असंतोष, विरोध और क्रोध के हर प्रकार के सभी रूपों को एक लड़ी में पिरोकर उन्हें एक संयुक्त आक्रमण का रूप दे सके, एक ऐसा संगठन जो पेशेवर क्रान्तिकारियों का संगठन हो, और जिसका नेतृत्व समस्त जनता के सच्चे नेता करते हों। यह स्वाभाविक

ही है। किसी भी संगठन का स्वरूप स्वभावतया एवं अवश्यम्भावी रूप से इस बात से निर्धारित होता है कि उसके कामों का सार-तत्व क्या है। अतएव, ऊपर जिन दावों का विश्लेषण किया गया है, उन बातों को कहकर 'राबोचेये देलो' न केवल राजनीतिक कार्य की संकीर्णता को, बल्कि संगठनात्मक कार्य की संकीर्णता को भी उचित एवं पवित्र क़रार दे देता है। इस मामले में भी वह सदा की भांति एक ऐसे पत्र के रूप में सामने आता है जिसकी चेतना स्वयं-स्फूर्ति के आगे शीश झुका देती है। परन्तु संगठन के स्वयं-स्फूर्त ढंग से विकसित होते हुए रूपों की पूजा करना, और इसे महसूस न करना कि हमारा संगठनात्मक काम कितना संकुचित और भोंड़ा होता है और इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में हम अभी तक कितने "नौसिखुआ ढंग से" काम कर रहे हैं—यह न महसूस करना, मैं कहता हूं, आजकल के हमारे आन्दोलन की एक बीमारी बन गयी है। यह बीमारी आन्दोलन के गिराव के वक़्त नहीं पैदा होती, ज़ाहिर है कि यह बीमारी आन्दोलन के बढ़ाव के साथ आती है। परन्तु यही वह समय है जब हम लोगों के चारों ओर, आन्दोलन के नेताओं और संगठनकर्ताओं के चारों ओर, स्वयं-स्फूर्त क्रोध की मानो एक आंधी सी आयी हुई है, जब पिछड़ेपन की हिमायत करने और इस मामले में संकुचितपन को उचित ठहराने की हर प्रवृत्ति के ख़िलाफ़ डटकर लड़ना ज़रूरी है, और हम लोगों में फैले **नौसिखुएपन** के ख़िलाफ़ उन तमाम लोगों में, जो व्यावहारिक कार्य में भाग लेते हैं या जो यह काम शुरू करने की तैयारी कर रहे हैं, असंतोष पैदा करने की और उसे दूर करने का अडिग संकल्प पैदा करने की विशेष आवश्यकता है।

(क) नौसिखुआपन किसे कहते हैं?

१८९४-१९०१ के काल के एक प्रतिनिधि सामाजिक-जनवादी मण्डल के कार्य का संक्षिप्त विवरण देकर हम इस सवाल का जवाब देने का प्रयत्न करेंगे। हम यह बता चुके हैं कि इस काल में समस्त विद्यार्थी युवकों का समुदाय मार्क्सवाद में डूबा हुआ था। ज़ाहिर है कि ये विद्यार्थी मार्क्सवाद में केवल एक सिद्धान्त के रूप में नहीं डूबे हुए थे, बल्कि हम यह कहें कि वे एक सिद्धान्त के रूप में उसकी ओर इतना ज़्यादा आकर्षित नहीं हुए थे जितना इसलिए कि वह उन्हें

इस प्रश्न का उत्तर देता था: "क्या करें?" उसे वे दुश्मन के ख़िलाफ़ मैदान में उतर पड़ने के आवाहन के रूप में देखते थे। और ये नये योद्धा बहुत ही भोंड़े हथियार और प्रशिक्षा लेकर मैदान में उतरते थे। बहुत से उदाहरणों में तो उनके पास प्रायः एक भी हथियार और ज़रा भी प्रशिक्षा नहीं होती थी। वे इस तरह लड़ने चलते थे मानो किसान खेत में अपने हल छोड़कर और केवल एक-एक लाठी हाथ में उठाकर वहां से लड़ने के लिए दौड़ पड़े हों। विद्यार्थियों का मण्डल, जिसका आन्दोलन के पुराने सदस्यों से कोई सम्पर्क नहीं होता, जिसका दूसरे ज़िलों के या अपने ज़िले के दूसरे मण्डलों से, यहां तक कि उसी शहर के अन्य भागों के मण्डलों से (या दूसरे विश्वविद्यालयों से) कोई सम्पर्क नहीं होता, जो क्रान्तिकारी कार्य की विभिन्न शाखाओं का कोई संगठन नहीं करता, जो थोड़े-बहुत लम्बे समय के लिए भी कार्य की कोई योजना नहीं बनाता–ऐसा मण्डल झट मज़दूरों से सम्पर्क क़ायम करके काम शुरू कर देता है। मण्डल धीरे-धीरे अपना प्रचार-कार्य और आन्दोलन-कार्य बढ़ाता जाता है, अपने काम से वह मज़दूरों के अपेक्षाकृत बड़े हिस्सों की और पढ़े-लिखे वर्गों के भी कुछ लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर लेता है, जिनसे उसे रुपया भी मिल जाता है और जिनमें से "समिति" युवकों के नये दल भरती कर लेती है। समिति की (या संघर्ष लीग की) आकर्षण-शक्ति बढ़ जाती है, उसका कार्य-क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और उसका काम बिल्कुल स्वयं-स्फूर्त ढंग से फैल जाता है: वे ही लोग जो एक साल या चन्द महीने पहले विद्यार्थी मण्डल की सभाओं में बोला करते थे और इस प्रश्न पर बहस किया करते थे कि "किधर जाना है", जिन्होंने मज़दूरों के साथ सम्पर्क क़ायम किया था और क़ायम रखा था और जो परचे लिखते और छापते थे, अब क्रान्तिकारियों के दूसरे दलों से सम्पर्क क़ायम करते हैं, साहित्य जुटाते हैं, एक स्थानीय पत्र निकालने की तैयारी शुरू करते हैं, प्रदर्शन संगठित करने की बातें करने लगते हैं, और अन्त में खुली जंग शुरू कर देते हैं (यह खुली जंग परिस्थितियों के अनुसार कई रूप ले सकती है, जैसे आंदोलन चलाने के पहले परचे का प्रकाशन, या पत्र के पहले अंक का निकलना, या पहले प्रदर्शन का संगठित किया जाना)। और आम तौर पर पहली कार्रवाई के होते ही फ़ौरन और बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारियां हो जाती हैं। फ़ौरन और बड़े पैमाने पर इसलिए कि यह खुली जंग एक लम्बे और दृढ़

संघर्ष की किसी सुव्यवस्थित और अच्छी तरह से सोच-विचारकर बनायी हुई और क़दम-ब-क़दम तैयार की गयी योजना का परिणाम नहीं थी, बल्कि वह केवल मण्डलों के परम्परागत काम के स्वयं-स्फूर्त विकास का परिणाम थी; कारण कि लगभग हर जगह पुलिस स्वभावतया स्थानीय आन्दोलन के मुख्य नेताओं को जानती थी, क्योंकि उन्होंने अपने स्कूली ज़माने में ही "नाम कमा लिया था" और पुलिस सिर्फ़ इस इन्तज़ार में रहती थी कि उचित अवसर आये तो छापा मारे, वह मण्डल को अपना काम बढ़ाने के लिए जान-बूझकर काफ़ी समय दे देती थी ताकि जब वह जाल फेंके तो काफ़ी लोग रंगे हाथों पकड़े जायें, और कई पहचाने हुए आदमियों को सदा छुट्टा छोड़े रहती थी ताकि वे "नयी नस्ल पैदा कर सकें" (मेरा विचार है कि हमारे लोग और पुलिसवाले दोनों ही इस पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करते हैं)। इस तरह की जंग की तुलना बरबस उन किसानों की जंग से ही करना पड़ती है जो लाठियां लेकर आधुनिक फ़ौज से लड़ने निकल पड़ते हैं। और इस आन्दोलन की जीवन-शक्ति को देखकर सचमुच आश्चर्य होता है, क्योंकि उसके योद्धाओं में शिक्षा का पूर्ण अभाव होते हुए भी यह आन्दोलन फैलता गया, बढ़ता गया और उसने विजय भी हासिल की। यह सच है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से शुरू-शुरू में अस्त्रों का पिछड़ा हुआ होना न केवल अवश्यम्भावी था, बल्कि **उचित भी** था, क्योंकि उससे बड़े पैमाने पर योद्धाओं को भरती करने में मदद मिलती थी, परन्तु जब बड़ी लड़ाइयां शुरू हुईं (और १८९६ की गरमियों में जो हड़तालें हुईं, दरअसल उस समय से ही ये लड़ाइयां शुरू हो गयी थीं), तब हमारे लड़ाकू संगठनों के अन्दर जो दोष थे, वे अधिकाधिक प्रकट होने लगे। शुरू में सरकार घबरा गयी और उसने अनेकों ग़लत क़दम भी उठाये (उदाहरण के लिए, उसने समाजवादियों के कुकर्मों का वर्णन करते हुए जनता के नाम एक अपील निकाली, या राजधानी से निर्वासित करके मज़दूरों को प्रान्तीय औद्योगिक केन्द्रों में भेज दिया), परन्तु बहुत जल्द उसने अपने को संघर्ष की नयी परिस्थितियों के अनुरूप ढाल लिया और हर तरह के अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित अपने ख़ुफ़िया एजेंटों, गुप्तचरों और राजनीतिक पुलिसवालों के दस्ते जगह-जगह तैनात कर दिये, नित नयी जगहों पर छापे मारे जाने लगे, उनकी लपेट में इतने अधिक लोग आये, और स्थानीय मण्डलों का इस बुरी तरह सफ़ाया हुआ कि आम

मज़दूरों से उनका एक-एक नेता छिन गया, आन्दोलन ने इतना असंगठित और छुटपुट रूप धारण किया कि देखकर यक़ीन नहीं आता था, और काम में क्रम और गठाव बनाये रखना बिल्कुल असम्भव हो गया था। स्थानीय नेताओं का बुरी तरह इधर-उधर बिखरे रहना, मण्डलों की आकस्मिक सदस्यता, सैद्धान्तिक, राजनीतिक तथा संगठनात्मक प्रश्नों के सम्बंध में शिक्षा का अभाव और संकुचित दृष्टिकोण – ये तमाम बातें इन परिस्थितियों का लाज़िमी नतीजा थीं जिनका हमने ऊपर वर्णन किया है। हालत यह हो गयी कि कई जगहों पर मज़दूर हमारे अन्दर डटकर काम करने तथा गुप्त बातों को छिपा रखने की क्षमता का अभाव देखकर बुद्धिजीवियों में विश्वास खोने लगे और उनसे कन्नी काटने लगे, वे कहने लगे कि बुद्धिजीवी बहुत लापरवाह होते हैं और अपने को बहुत शीघ्र पुलिस के हवाले कर देते हैं!

जिस किसी को आन्दोलन का थोड़ा भी ज्ञान है, वह जानता है कि आख़िर अब सभी विचारशील सामाजिक-जनवादी काम करने के इन पिछड़े हुए तरीक़ों को एक बीमारी समझने लगे हैं। और जिस पाठक को आन्दोलन का विशेष ज्ञान नहीं है, वह भी जिससे यह न समझे कि हमने आन्दोलन की किसी विशेष अवस्था या विशेष बीमारी का "आविष्कार" कर डाला है, इसलिए हम एक बार फिर उसी गवाह की साक्षी देना चाहेंगे जिसे हम पहले उद्धृत कर चुके हैं। आशा है कि पाठक उद्धरण की लम्बाई के लिए हमें क्षमा करेंगे:

> व – व[146] ने 'राबोचेये देलो' के अंक ६ में लिखा है: "रूसी मज़दूरों की क्रान्ति के साधारण यंत्र की जहां एक ख़ास विशेषता यह है कि वह धीमी गति से अधिक व्यापक व्यावहारिक कार्य के युग में संक्रमण रहा है, और यह संक्रमण प्रत्यक्ष रूप से उस आम संक्रमणकाल पर निर्भर करता है जिससे होकर आजकल रूसी मज़दूर आन्दोलन गुज़र रहा है – वहां उसकी एक और ख़ास विशेषता भी है जो कम दिलचस्प नहीं है। हमारा मतलब **कार्य-क्षेत्र में उतरने के योग्य क्रान्तिकारी शक्तियों के आम अभाव*** से है, जो न केवल पीटर्सबर्ग में, बल्कि सारे रूस में महसूस किया जा रहा है। जैसे-जैसे मज़दूर आन्दोलन में आम तौर पर फिर से जान पड़ती जाती है,

---

*हर जगह शब्दों पर ज़ोर हमने दिया है।

मज़दूर जन-समुदाय का आम विकास होता जाता है, हड़तालें जितनी जल्दी-जल्दी होती जाती हैं और मज़दूरों का जन-संघर्ष अधिकाधिक खुला रूप धारण करता जाता है, जिससे सरकारी दमन, गिरफ़्तारियों, निर्वासनों और देशनिकालों का चक्र और तेज़ हो जाता है, वैसे-वैसे **सुदक्ष क्रान्तिकारी शक्तियों का यह अभाव अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है**, और, इसमें कोई सन्देह नहीं कि **इसका आन्दोलन के आम स्वरूप तथा गहराई पर प्रभाव पड़ना लाज़िमी** है। बहुत-सी हड़तालें हो जाती हैं और क्रान्तिकारी संगठन उनपर कोई ज़ोरदार और सीधा असर नहीं डाल पाते... आन्दोलनात्मक परचों और ग़ैर-क़ानूनी साहित्य की कमी महसूस होती है... मज़दूरों के मण्डलों के पास आन्दोलनकर्ता नहीं रहते ... इसके अलावा पैसे का हमेशा अभाव रहता है। सारांश यह कि **मज़दूर आन्दोलन का विकास क्रान्तिकारी संगठनों की प्रगति एवं विकास से आगे निकला जा रहा है**। सक्रिय क्रान्तिकारियों की संख्या इतनी कम है कि असंतुष्ट मज़दूरों के समस्त जन-समुदाय पर उनका जो प्रभाव है, उसे वे ख़ुद अपने हाथों में केन्द्रित नहीं रख पाते, और न ही इस असंतोष को तनिक भी व्यवस्थित एवं संगठित रूप दे पाते हैं ... विभिन्न मण्डलों तथा अलग-अलग क्रान्तिकारियों को एक सूत्र में बांधकर उनकी एकता नहीं स्थापित की जाती, और वे किसी ऐसे संयुक्त, मज़बूत एवं अनुशासनबद्ध संगठन का प्रतिनिधित्व नहीं करते जिसके सभी अंगों का सुनियोजित विकास होता हो"... और यह स्वीकार करने के बाद कि जो मण्डल टूट जाते हैं, उनके स्थान पर तुरंत नये मण्डलों का बनना "सिर्फ़ यह साबित करता है कि आन्दोलन में कितनी ज़बर्दस्त जीवन-शक्ति है... किन्तु उससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसके पास सुयोग्य क्रान्तिकारी कार्यकर्ता पर्याप्त संख्या में हैं," लेखक अन्त में कहता है: "पीटर्सबर्ग के क्रान्तिकारियों में व्यावहारिक शिक्षा का जो अभाव है, वह उनके काम के नतीजों में प्रकट होता है। हाल में जो मुक़दमे हुए हैं उनसे, ख़ास तौर पर 'आत्म-मुक्ति दल' तथा 'श्रम बनाम पूंजी' दल[147] के मुक़दमे से यह बात बिल्कुल साफ़ हो गयी है कि नौजवान आन्दोलनकर्ता, जिसे श्रम की हालत का विस्तृत ज्ञान नहीं होता, और इसलिए जो यह नहीं जानता कि

किस कारख़ाने में किन परिस्थितियों में आन्दोलन किया जा सकता है, जो गुप्त कार्य के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ है, और सामाजिक-जनवाद के केवल आम सिद्धान्तों को समझता है," (लेकिन क्या वह समझता है?) "वह शायद चार, पांच या छः महीने तक तो काम कर ले जाता है। पर उसके बाद गिरफ़्तारियां होने लगती हैं जिनसे बहुधा पूरा संगठन, और उसका एक हिस्सा तो हर हालत में, टूट जाता है। इसलिए, सवाल उठता है कि यदि दल की आयु का हिसाब महीनों में लगाया जाये, तब क्या वह सफलतापूर्वक और उपयोगी काम कर सकता है?.. मौजूदा संगठनों में जो दोष हैं, ज़ाहिर है कि वे सभी संक्रमणकाल के कारण नहीं हैं... ज़ाहिर है मौजूदा संगठनों के सदस्यों की संख्या और उनकी गुणात्मक रचना भी इसका कोई छोटा कारण नहीं है और हमारे सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ताओं को सबसे पहले... **संगठनों को कारगर ढंग से एक में मिलाने और अपने सदस्यों को सख़्ती से चुनने का काम हाथ में लेना चाहिए।**"

(ख) नौसिखुआपन और अर्थवाद

अब हम उस प्रश्न की चर्चा करेंगे जो निस्संदेह हर पाठक के दिमाग़ में उठ रहा है। क्या नौसिखुएपन का, विकास के काल की इस बीमारी का, जिसका **पूरे** आन्दोलन पर असर पड़ता है, "अर्थवाद" से भी कोई सम्बंध साबित किया जा सकता है जो रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की धाराओं में से **एक** है? हम समझते हैं कि किया जा सकता है। व्यावहारिक शिक्षा का अभाव, संगठनात्मक कार्य करने की क्षमता का अभाव, निःसंदेह **हम सभी में है**, इसमें वे लोग भी आ जाते हैं जो शुरू से ही क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के अडिग समर्थक रहे हैं। और सचमुच यदि केवल व्यावहारिक शिक्षा के अभाव की ही बात होती, तो व्यावहारिक कार्यकर्ताओं को कोई दोष नहीं दे सकता था। परन्तु "नौसिखुएपन" में कई और बातें भी आ जाती हैं: उसका मतलब है कि क्रान्तिकारी कार्य का क्षेत्र आम तौर पर संकीर्ण है, लोग यह बात नहीं समझते हैं कि इस प्रकार के संकुचित ढंग के कार्य के आधार पर क्रान्तिकारियों का कोई अच्छा संगठन नहीं बनाया जा सकता, और अन्त में इसका मतलब यह

भी है—और यह सबसे महत्वपूर्ण बात है—कि हम इस संकीर्णता को उचित ठहराने लगते हैं और उसे ऊंचा उठाकर एक विशेष "सिद्धान्त" के स्तर पर पहुंचा देते हैं, यानी इस सवाल पर भी स्वयं-स्फूर्ति के आगे शीश नवाने लगते हैं। एक बार इन कोशिशों को समझ लेने के बाद यह बिलकुल तै हो जाता है कि नौसिखुआपन "अर्थवाद" से सम्बंधित है, और जब तक हम "अर्थवाद" को आम तौर पर (अर्थात् मार्क्सवादी सिद्धान्त की, सामाजिक-जनवादी संगठन की भूमिका की, और उसके राजनीतिक कार्यों की संकुचित धारणा को) दूर नहीं करते, तब तक हम संगठनात्मक कार्य की इस संकीर्णता को दूर नहीं कर सकेंगे। और ये कोशिशें दो तरह से प्रकट हुई हैं। कुछ लोग यह कहने लगे: अभी तक आम मज़दूरों ने उन व्यापक तथा लड़ाकू राजनीतिक कामों को खुद अपने हाथों में नहीं लिया है, जिनको क्रान्तिकारी लोग उनपर "लादने" की कोशिश कर रहे हैं, फ़िलहाल मज़दूरों को **तात्कालिक** राजनीतिक मांगों के लिए लड़ते जाना चाहिए, उन्हें "मालिकों तथा सरकार के खिलाफ़ आर्थिक संघर्ष"* जारी रखना चाहिए (और स्वभावतया, जन-आन्दोलन की "समझ में आसानी से आ जानेवाले" इस संघर्ष के अनुरूप एक ऐसा संगठन भी होना चाहिए जिसे एकदम अशिक्षित नौजवान भी "आसानी से समझ सकें")। दूसरे लोग जो "धीरे-धीरे, चलने से" कोसों दूर रहते हैं यह कहने लगे: "राजनीतिक क्रान्ति करना" सम्भव और आवश्यक है, परन्तु उसके लिए सर्वहारा को दृढ़ और अटल संघर्ष की शिक्षा देने के वास्ते क्रान्तिकारियों का कोई मज़बूत संगठन बनाने की ज़रूरत नहीं है। ज़रूरी बस इतना है कि अपनी पुरानी परिचित "सहज प्राप्य" लाठी उठाओ और बढ़ चलो। रूपक के फेर में न पड़कर यदि हम अपनी बात सीधे-सीधे कहें तो इसका मतलब यह है कि हमें आम हड़ताल का संगठन करना चाहिए**, अथवा "उत्तेजना पैदा करनेवाले आतंकवादी कार्यों" के ज़रिए मज़दूर आन्दोलन की "आत्मा-विहीन" प्रगति को बढ़ावा देना चाहिए***। ये दोनों ही

---

* 'राबोचाया मीस्ल' और 'राबोचेये देलो', विशेषकर प्लेखानोव को 'उत्तर'।

** रूस में प्रकाशित तथा कीयेव समिति द्वारा पुनर्मुद्रित संकलन 'सर्वहारा संघर्ष' में 'राजनीतिक क्रान्ति कौन करेगा?' शीर्षक लेख देखिये।

*** 'क्रान्तिवाद का पुनरुत्थान' और 'स्वोबोदा'।

प्रवृत्तियां, अवसरवादी और "क्रान्तिवादी", प्रचलित नौसिखुएपन के आगे शीश नवा रही हैं, दोनों में से कोई भी यह नहीं मानती कि इस नौसिखुएपन को दूर किया जा सकता है, दोनों में से कोई भी यह नहीं समझती कि हमारा प्राथमिक तथा सबसे आवश्यक व्यावहारिक कार्य **क्रान्तिकारियों का एक ऐसा संगठन** खड़ा करना है जो राजनीतिक संघर्ष की शक्ति, उसके स्थायित्व और उसके अविराम क्रम को क़ायम रख सके।

हमने अभी कुछ देर पहले ब–व के इन शब्दों को उद्धृत किया था: "मज़दूर आन्दोलन का विकास क्रान्तिकारी संगठनों की प्रगति एवं विकास से आगे निकला जा रहा है।" "एक निकटवर्त्ती पर्यवेक्षक की" इस "मूल्यवान टिप्पणी" का (ब–व के लेख के विषय में 'राबोचेये देलो' ने इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है) हमारे लिए दोहरा महत्व है। उससे प्रकट होता है कि हमारा यह मत सही था कि रूसी सामाजिक-जनवाद के वर्तमान संकट का मुख्य कारण यह है कि **नेतागण** ("सिद्धान्तवेत्ता", क्रान्तिकारी, सामाजिक-जनवादी) **जनता के स्वयं-स्फूर्त उभार के मुक़ाबले में पिछड़ते जा रहे हैं**। उससे पता चलता है कि "अर्थवादी" पत्र ('ईस्क्रा', अंक १२ में) के लेखकों ने, क्रिचेव्स्की न और मार्तिनोव ने, स्वयं-स्फूर्त तत्व का महत्व कम करके आंकने के बारे में, नीरस दैनिक संघर्ष के बारे में, प्रक्रिया-के-रूप-में-कार्यनीति, आदि के बारे में जो तमाम दलीलें दी हैं, वे नौसिखुएपन के गीत गाने और उसका समर्थन करने के अलावा और कुछ नहीं हैं। जो लोग तिरस्कार के साथ नाक-भौं सिकोड़े बिना "सिद्धान्तवेत्ता" शब्द का उच्चारण नहीं कर सकते, जो लोग प्रचलित पिछड़ेपन एवं शिक्षा के अभाव के आगे शीश नवाने को "जीवन की वास्तविकताओं की समझ" कहते हैं, उनके व्यवहार से प्रकट होता है कि वे हमारे सबसे आवश्यक **व्यावहारिक** कार्यों को भी नहीं समझते। जो पिछड़े हुए हैं उनसे ये लोग चिल्लाकर कहते हैं: क़दम मिलाकर चलो! आगे मत भागो! जो संगठनात्मक काम में क्रियाशीलता तथा पहलक़दमी नहीं दिखा पाते, जो व्यापक एवं साहसी कार्यों की "योजनाएं" नहीं बना पाते, उनको ये लोग "प्रक्रिया-के-रूप-में-कार्यनीति" के उपदेश सुनाते हैं! हमारा सबसे बड़ा गुनाह यह है कि हम अपने राजनीतिक तथा **संगठनात्मक** कार्यों को रोज़मर्रा के आर्थिक संघर्ष के तात्कालिक, "ठोस", "मूर्त" हितों के स्तर पर **उतार**

लाते हैं; परन्तु ये लोग हमें बार-बार वही पुराना गीत सुनाते रहते हैं: आर्थिक संघर्ष को ही राजनीतिक रूप दें! हम फिर कहते हैं: इस तरह के व्यवहार से "जीवन की वास्तविकताओं की समझ" उतनी ही प्रकट होती है जितनी एक प्रचलित लोक-कथा के उस नायक में थी जिसने एक अर्थी को जाते देखकर यह कहा था: "भगवान करे, यह शुभ दिन बार-बार आये!"

याद कीजिये कि ये महा-बुद्धिमान लोग किस तरह नाक-भौं चढ़ाकर और किस अनुपम, एकदम "नरसिस" जैसे ढंग से प्लेख़ानोव को यह उपदेश सुनाया करते थे कि "मज़दूरों के **मण्डलों में** आम तौर पर" (जी हां!) "सच्चे और **व्यावहारिक** अर्थ में, यानी राजनीतिक मांगों के लिए उपयोगी एवं सफल **व्यावहारिक** संघर्ष के अर्थ में, राजनीतिक कार्यों को सम्पन्न करने की क्षमता नहीं" होती है। ("'राबोचेये देलो' का उत्तर", पृष्ठ २४।) महानुभावो, मण्डल कई प्रकार के होते हैं! ज़ाहिर है कि "नौसिखुओं" के मण्डलों में उस वक़्त तक राजनीतिक कामों को पूरा करने की क्षमता पदा नहीं हो सकती जब तक कि उन्हें अपने नौसिखुएपन का एहसास नहीं हो जाता और वे उसे त्याग नहीं देते। और यदि इन नौसिखुए लोगों को अपने पिछड़े हुए तरीक़ों से मोह हो गया हो, यदि वे "व्यावहारिक" शब्द को मोटे अक्षरों में लिखना पसन्द करते हों और समझते हों कि व्यावहारिक होने के लिए ज़रूरी है कि हम अपनी ज़िम्मेदारियों को जनता के सबसे पिछड़े हुए हिस्से की समझ के स्तर पर उतार लायें, तब तो ज़ाहिर है कि इन लोगों से कोई आशा नहीं रह जाती है और तब यह निश्चित है कि **आम तौर पर राजनीतिक कामों को पूरा करना उनके बस की बात नहीं है**। परन्तु अलेक्सेयेव व मिश्किन, ख़ाल्तूरिन व जेल्याबोव जैसे वीरों का मण्डल सच्चे तथा अत्यन्त व्यावहारिक अर्थ में राजनीतिक कार्यों को पूरा कर सकता है, और उसमें उन्हें पूरा करने की क्षमता इसीलिए उसी हद तक होती है जिस हद तक कि उनके ओजपूर्ण उपदेशों का अपने-आप जागृत होती हुई जनता पर प्रभाव पड़ता है और जिस हद तक उनके उबलते हुए जोश और क्रियाशीलता के प्रत्युत्तर तथा समर्थन में क्रान्तिकारी वर्ग में क्रियाशीलता आती है। प्लेख़ानोव ने बिल्कुल सही काम किया था, जब उन्होंने न केवल इस क्रान्तिकारी वर्ग की ओर संकेत किया था, न केवल यह

साबित किया था कि इस वर्ग में अपने-आप जागृति का आना अवश्यम्भावी तथा अनिवार्य है, बल्कि उस समय भी जब उन्होंने "मज़दूरों के मण्डलों" के सामने भी एक महान और उच्च राजनीतिक कार्य रखा था। तब से आज तक जो जन-आन्दोलन उभर आया है उसका ज़िक्र आप लोग करते हैं तो इस कार्य को **नीचा गिराने के लिए**, "मज़दूरों के मण्डलों" की क्रियाशीलता तथा क्षेत्र को **संकुचित करने के लिए**। यदि आप अपने पिछड़े हुए तरीक़ों के मोह में पड़े नौसिखुआ लोग नहीं हैं, तो और क्या हैं? आप लोग व्यावहारिक होने का गुमान करते हैं, पर आप यह नहीं समझ पाते, जिसे रूस का प्रत्येक व्यावहारिक कार्यकर्ता समझता है, कि क्रान्तिकारी आन्दोलन के लिए न केवल मण्डलों का, बल्कि अलग-अलग व्यक्तियों का उत्साह भी कैसे चमत्कार कर दिखाता है। या क्या आपका ख़याल यह है कि हमारा आन्दोलन पिछली सदी के आठवें दशक के जैसे वीरों को पैदा नहीं कर सकता? लेकिन क्यों? क्या इसलिए कि हम लोगों में शिक्षा का अभाव है? पर हम अपनी शिक्षा कर तो रहे हैं, आगे भी करते जायेंगे और उसे प्राप्त करके छोड़ेंगे! दुर्भाग्यवश, यह सच है कि "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" के ठहरे हुए पानी पर काई जम गयी है, हम लोगों में कुछ ऐसे लोग पैदा हो गये हैं जो स्वयं-स्फूर्ति के आगे घुटने टेककर प्रार्थना करते हैं, और सदा सहमे-सहमे (प्लेख़ानोव के शब्दों में) रूसी सर्वहारा का "पिछवाड़ा" देखते रहते हैं। पर इस काई को हम साफ़ कर देंगे। वह समय आ गया है जब रूस के क्रान्तिकारी एक सच्चे क्रान्तिकारी सिद्धान्त से अपना पथ आलोकित करते हुए, एक सचमुच क्रान्तिकारी तथा अपने आप जागृत होते हुए वर्ग पर भरोसा करते हुए, आख़िरकार – आख़िरकार! –अपनी समस्त विराट शक्ति को बटोरकर और सीना तानकर खड़े हो सकते हैं। ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि हमारे व्यावहारिक कार्यकर्ताओं का समुदाय, और उससे भी बड़ा उन लोगों का समुदाय जो अपनी पढ़ाई के ज़माने से ही व्यावहारिक कार्य करने का शौक़ रखता है, ऐसे हर सुझाव को उपेक्षा और तिरस्कार के साथ ठुकरा दे जो हमारे राजनीतिक कामों के स्तर को नीचे गिराने और हमारे संगठनात्मक कार्य के क्षेत्र को सीमित करने के उद्देश्य से रखा गया हो। और महानुभावो, इसे हम हासिल करेंगे, इसका आप इतमीनान रखें!

'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख में मैंने 'राबोचेये देलो' के जवाब में यह लिखा था: "किसी ख़ास सवाल के बारे में आंदोलन की कार्यनीति को या पार्टी-संगठन के किसी तफ़सीली सवाल से संबंधित कार्यनीति को चौबीस घंटे के अन्दर बदला जा सकता है, परन्तु इस सवाल पर कि एक लड़ाकू संगठन बनाना और जनता में राजनीतिक आन्दोलन चलाना आम तौर पर हमेशा और बिल्कुल ज़रूरी होता है या नहीं–ऐसे सवाल पर चौबीस घंटे के अन्दर, या चौबीस महीने के अन्दर भी, केवल वे ही लोग अपनी राय बदल सकते हैं जो सर्वथा सिद्धान्तहीन होते हैं।" 'राबोचेये देलो' ने इसका यह उत्तर दिया था: "'ईस्क्रा' ने अपने केवल इसी आरोप के बारे में यह दावा किया है कि वह तथ्यों पर आधारित है, परन्तु यह भी एकदम निराधार है। 'राबोचेये देलो' के पाठक अच्छी तरह जानते हैं कि शुरू से ही हम 'ईस्क्रा' के निकलने की बाट जोहे बिना न केवल राजनीतिक आन्दोलन चलाने के लिए कहते आ रहे हैं" ... (और इसके साथ-साथ वह यह भी कहता है कि न सिर्फ़ मज़दूरों के मण्डल, "बल्कि मज़दूर वर्ग का जन-आन्दोलन भी निरंकुश शासन का तख़्ता उलटने को अपना प्रारम्भिक राजनीतिक काम नहीं बना सकता," बल्कि उसका प्राथमिक काम तो केवल तात्कालिक राजनीतिक मांगों के लिए संघर्ष करना है, और यह कि "जनता एक हड़ताल के बाद, या कई हड़तालों के बाद तो हर हालत में, तात्कालिक राजनीतिक मांगों को समझने लगती है") ... "बल्कि रूस में काम करनेवाले साथियों के वास्ते हमने विदेशों से जो प्रकाशन भिजवाये थे, वे उस काल में **एकमात्र** सामाजिक-जनवादी राजनीतिक एवं आन्दोलनात्मक सामग्री थे" ... (और इस एकमात्र सामग्री में आप व्यापकतम राजनीतिक आन्दोलन को न केवल शुद्ध आर्थिक संघर्ष पर आधारित करते थे, बल्कि यह दावा करने की हद तक जाते थे कि यह संकुचित-सीमित आन्दोलन ही "सबसे अधिक व्यापक रूप में उपयोग के योग्य है"। और, सज्जनो, क्या आप लोग यह नहीं देखते कि आप की दलीलें ख़ुद ही यह साबित कर देती हैं कि–चूंकि **केवल** इसी प्रकार की सामग्री मिलती थी–इसलिए 'ईस्क्रा' का प्रकाशित होना तथा 'राबोचेये देलो' से उसका संघर्ष होना आवश्यक था?) ... "दूसरी ओर हमारे प्रकाशन-कार्य ने कार्यनीति के मामले में पार्टी की एकता के लिए सचमुच ज़मीन तैयार की"... (एकता इस विश्वास में कि कार्यनीति पार्टी

के कार्यों के विकास की प्रक्रिया है जो पार्टी के विकास के साथ-साथ बढ़ते जाते हैं? सचमुच बड़ी बहुमूल्य एकता रही होगी वह!) ... "और ऐसा करके एक 'लड़ाकू संगठन' बनाना सम्भव बनाया जिसके लिए संघ ने भरसक कोशिश की—जितना विदेश में काम करनेवाला कोई संगठन कर सकता था।" ('राबोचेये देलो', अंक १०, पृष्ठ १५)। इस तरह पैंतरे बदलने से काम नहीं चलेगा! इस बात से मैं सपने में भी इनकार नहीं करूंगा कि आप लोग जितनी भी कोशिश कर सकते थे, आपने ज़रूर की थी। मैंने तो कहा था और फिर कहता हूं कि आपके कर सकने की "सम्भावना" का **दायरा** भी आपके दृष्टिकोण की संकीर्णता से सीमित हो गया है। "तात्कालिक राजनीतिक मांगों" के लिए लड़ने के वास्ते, या "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" का संचालन करने के वास्ते एक "लड़ाकू संगठन" बनाने की बात करना ही हास्यास्पद है।

परन्तु, पाठक यदि नौसिखुएपन के प्रति "अर्थवादियों" के प्रेम के सचमुच नायाब नमूने देखना चाहते हैं, तो ज़ाहिर है कि उन्हें कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा जमा करके भानमती का कुनबा जोड़नेवाले ढुलमुल 'राबोचेये देलो' को छोड़कर सुसंगत एवं दृढ़संकल्प 'राबोचाया मीस्ल' को देखना चाहिए। उसके विशेष 'क्रोड़पत्र' के १३ वें पृष्ठ पर र० म० ने लिखा था: "अब दो शब्द ख़ास क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी कहलानेवाले लोगों के बारे में भी कह दिये जायें। यह सच है कि कई ऐसे अवसर आये हैं जब इन लोगों ने यह साबित कर दिखाया है कि 'ज़ारशाही के ख़िलाफ़ डटकर लड़ने' के लिए वे तैयार हैं। लेकिन दुर्भाग्य की बात यह है कि राजनीतिक पुलिस द्वारा निर्मम ढंग से सताये जाने पर हमारे ये क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी सोचने लगते हैं कि इस राजनीतिक पुलिस के ख़िलाफ़ चलनेवाला संघर्ष ही एकतंत्र के ख़िलाफ़ राजनीतिक संघर्ष है। यही कारण है कि वे आज तक यह नहीं समझ पाये हैं कि 'एकतंत्र के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए शक्तियां कहां से आयेंगी?'"

स्वयं-स्फूर्त आन्दोलन के इस पुजारी ने (इस शब्द के सबसे बुरे अर्थ में) पुलिस-विरोधी संघर्ष के प्रति तिरस्कार की कैसी अनुपम और शानदार भावना का प्रदर्शन किया है! यदि हम गुप्त रूप से कार्य का संगठन नहीं कर पाते, तो हमारे इस दोष को वह इस तर्क द्वारा **उचित ठहराने** के लिए तैयार है कि

जन-आन्दोलन के स्वयं-स्फूर्त विकास के साथ हमारे लिए राजनीतिक पुलिस से लड़ने का तनिक भी महत्व नहीं रह गया है!! इस बेहूदा निष्कर्ष को बहुत कम लोग मानेंगे; हमारे क्रान्तिकारी संगठन की ख़ामियों के सवाल ने इतना ज़रूरी रूप धारण कर लिया है कि इस दलील को कोई नहीं मानेगा। परन्तु, मिसाल के लिए, यदि मार्तिनोव इस बात को मानने से इनकार करते हैं, तो उसका कारण केवल यही होगा कि उनमें अपने विचारों को उनके तार्किक परिणाम तक ले जाने की योग्यता नहीं है, या उतना साहस नहीं है। सचमुच, यदि हमारा "काम" केवल जनता को ऐसी ठोस मांगें बुलन्द करने के लिए प्रेरित करना ही है जिनसे कोई ठोस नतीजा निकलने की उम्मीद हो, तब क्या क्रान्तिकारियों का टिकाऊ, केन्द्रित, एवं लड़ाकू संगठन बनाने के लिए ख़ास कोशिश करने की कोई ज़रूरत है? क्या यह "काम" ऐसी जनता भी नहीं कर सकती जो "राजनीतिक पुलिस से" क़तई नहीं "लड़ती"? इसके अलावा: क्या यह काम उस वक़्त तक पूरा हो सकता है जब तक कि चन्द नेताओं के अलावा ऐसे मज़दूर (जिनका प्रबल बहुमत होता है) भी उसमें भाग नहीं लेते जिनमें "राजनीतिक पुलिस से लड़ने" की तनिक भी **योग्यता नहीं होती**? ऐसे मज़दूर, यानी औसत ढंग के आम लोग, हड़तालों में और पुलिस तथा फ़ौज से सड़कों पर मुठभेड़ के समय महान साहस और आत्म-बलिदान की भावना का परिचय दे सकते हैं, और हमारे पूरे आन्दोलन के परिणाम को वे लोग **तै कर सकते हैं** (बल्कि कहना चाहिए कि केवल ऐसे ही लोग तै कर सकते हैं) – लेकिन **राजनीतिक** पुलिस से लड़ने के लिए विशेष गुणों की आवश्यकता होती है, उसके लिए **पेशेवर** क्रान्तिकारियों की ज़रूरत पड़ती है। और हमें न केवल इस बात की व्यवस्था करनी है कि जनता ठोस मांगें "पेश करे", बल्कि इसकी भी कि आम मज़दूर दिनोंदिन बढ़ती हुई संख्या में ऐसे पेशेवर क्रान्तिकारियों को भी "आगे बढ़ायें"। इस प्रकार हम इस प्रश्न पर पहुंच गये हैं कि पेशेवर क्रान्तिकारियों के संगठन और शुद्ध तथा आम मज़दूर आन्दोलन के बीच क्या सम्बंध है। यद्यपि साहित्य में इस प्रश्न की बहुत कम झलक मिलती है, फिर भी बातचीत के दौरान में, और उन साथियों से बहस करते समय जो न्यूनाधिक मात्रा में अर्थवाद की ओर झुक जाते हैं हम "राजनीतिज्ञ लोगों" को अक्सर इस सवाल की ओर बहुत ध्यान देना पड़ा है। यह एक ऐसा सवाल है जिसकी ख़ास तौर पर चर्चा

करनी होगी। परन्तु उसे शुरू करने से पहले हम एक और उद्धरण यहां देंगे, जिससे हमारी इस स्थापना की एक नयी मिसाल मिलेगी कि नौसिखुएपन तथा "अर्थवाद" के बीच क्या सम्बंध है।

अपने 'उत्तर' में श्री न० न०[148] ने लिखा था: "'श्रम मुक्ति' दल सरकार के खिलाफ़ प्रत्यक्ष संघर्ष छेड़ने की बात कहता है, पर वह यह नहीं सोचता कि इस संघर्ष के लिए भौतिक शक्तियां कहां से आयेंगी और न वह यही बताता है कि इस **संघर्ष का मार्ग** क्या होगा।" आखिर के शब्दों पर ज़ोर देते हुए लेखक ने "मार्ग" शब्द पर यह टिप्पणी लगा दी है: "यह नहीं कहा जा सकता कि अपनी बात को गुप्त रखने के लिए दल ने संघर्ष का मार्ग इंगित नहीं किया है, क्योंकि कार्यक्रम षड्यंत्र की नहीं बल्कि एक **जन-आन्दोलन** की बात करता है। और जनता गुप्त मार्गों पर आगे नहीं बढ़ सकती। क्या हम किसी गुप्त हड़ताल की कल्पना कर सकते हैं? क्या हम गुप्त प्रदर्शनों और खुफ़िया दरख़ास्तों की बात सोच सकते हैं?" («*Vademecum*», पृष्ठ ५६।) इस प्रकार लेखक "भौतिक शक्तियों" (हड़तालों तथा प्रदर्शनों के संगठनकर्ताओं) और संघर्ष के "मार्गों" के प्रश्न के बहुत निकट तक पहुंच जाता है, फिर भी वह अभी तक किंकर्तव्यविमूढ़ है, क्योंकि वह जन-आन्दोलन की "पूजा करता है", यानी वह उसे एक ऐसी चीज़ समझता है जो हमें क्रान्तिकारी काम करने की आवश्यकता से **मुक्त कर देती है**, और वह उसे ऐसी चीज़ नहीं समझता जिससे हमें प्रोत्साहन और क्रान्तिकारी कार्य करने की **प्रेरणा** मिलती हो। हड़ताल गुप्त नहीं हो सकती – उनके लिए जो उसमें भाग लेते हैं और जिनका उससे सीधा सम्बंध रहता है, लेकिन हड़ताल रूस के आम मज़दूरों के लिए "गुप्त" हो सकती है (और ज़्यादातर मामलों में रहती है), क्योंकि सरकार इसका पूरा प्रबंध कर लेती है कि हड़तालियों के साथ कोई सम्पर्क न रहने पाये और हड़ताल की कोई ख़बर न फैलने पाये और यही वह क्षेत्र है जिसमें "राजनीतिक पुलिस से संघर्ष" करने की ख़ास तौर पर आवश्यकता होती है, एक ऐसा संघर्ष जिसमें जनता की उतनी बड़ी संख्या कभी भाग नहीं ले सकती जितनी बड़ी संख्या हड़तालों में भाग लेती है। इस संघर्ष का संगठन उन लोगों को करना होगा जिनका पेशा ही क्रान्तिकारी कार्य करना है, और इस संघर्ष का संगठन "इस कला के समस्त नियमों" का पालन करते हुए ही होना चाहिए। इस बात से कि जनता अपने-आप आन्दोलन में खिंचती चली आ रही है, इस संघर्ष

को संगठित करने का काम **कम आवश्यक** नहीं हो जाता। इसके विपरीत, इस बात से तो संगठन और **अधिक आवश्यक** हो जाता है; क्योंकि यदि हम समाजवादी लोग प्रत्येक हड़ताल तथा प्रत्येक प्रदर्शन को गुप्त बना देने के पुलिस के प्रयत्नों को नहीं रोकेंगे, (और कभी-कभी स्वयं हड़ताल की गुप्त रूप से तैयारी नहीं करेंगे) तो हम जनता के प्रति अपने प्रत्यक्ष कर्तव्य की अवहेलना करेंगे। और हम इस काम को करने में **सफल** इसी लिए हो सकते हैं, कि अपने-आप जाग्रत होती हुई जनता अधिकाधिक संख्या में "पेशेवर क्रान्तिकारियों" को **अपने बीच से भी पैदा करती जायेगी** (बशर्ते कि हमें मज़दूरों को हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने की सलाह देने की धुन न सवार हो जाये)।

(ग) मज़दूरों का संगठन और क्रान्तिकारियों का संगठन

यह आशा करना स्वाभाविक ही है कि जो सामाजिक-जनवादी राजनीतिक संघर्ष और "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" को एक ही चीज़ मानता है, वह "क्रान्तिकारियों के संगठन" को कमोबेश "मज़दूरों का संगठन" जैसी ही कोई चीज़ समझेगा। और वास्तव में होता भी यही है, इसलिए जब संगठन की चर्चा छिड़ती है तो हम लोग एकदम अलग-अलग बोलियों में बातें करते मालूम पड़ते हैं। मिसाल के लिए, मुझे अच्छी तरह याद आ रहा है कि एक बार मेरी बातचीत एक काफ़ी सुसंगत "अर्थवादी" से हुई थी जिनसे मेरा पहले का कोई परिचय नहीं था[149]। हम लोग एक पुस्तिका को लेकर बहस कर रहे थे जिसका शीर्षक था: 'राजनीतिक क्रान्ति कौन करेगा?' हम बहुत जल्द इस बात पर एकमत हो गये कि इस पुस्तिका का मुख्य दोष यह है कि उसमें संगठन के प्रश्न को भुला दिया गया है। हम लोगों ने यह सोचना शुरू कर दिया था कि हमारे बीच पूरा मतैक्य है—पर... बातचीत के आगे बढ़ने पर पता चला कि हम लोग अलग-अलग बातें कह रहे हैं। वह पुस्तिका के लेखक से इसलिए नाराज़ थे कि उसने हड़ताल-फ़ंड, पारस्परिक सहायता समितियों, आदि के बारे में कुछ नहीं लिखा है, जबकि मेरा ख़याल राजनीतिक क्रान्ति "लाने" में एक आवश्यक तत्व के रूप में क्रान्तिकारियों के संगठन के बारे में था। इस मतभेद के प्रकट होते ही, शायद ही कोई ऐसा सैद्धांतिक सवाल रह

गया हो जिस पर मेरी और उन "अर्थवादी" महाशय की राय एक रही हो!

हमारे मतभेद का कारण क्या था? यह कि संगठन और राजनीति, दोनों के बारे में "अर्थवादी" लोग हमेशा ही सामाजिक-जनवाद से हटकर ट्रेड-यूनियनवाद का रास्ता पकड़ने के लिए उतारू रहते हैं। मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष से सामाजिक-जनवाद का राजनीतिक संघर्ष कहीं अधिक व्यापक और पेचीदा होता है। इसी तरह (और असल में इसी कारण) एक क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी पार्टी का संगठन, आर्थिक संघर्ष चलाने के लिए बनाये गये मज़दूरों के संगठनों से अवश्यम्भावी रूप से **भिन्न ढंग** का होगा। मज़दूरों का संगठन एक तो व्यावसायिक संगठन होता है, दूसरे, उसे अधिक से अधिक व्यापक संगठन होना पड़ता है; और तीसरे, उसके लिए ज़रूरी होता है कि वह कम से कम गुप्त हो (ज़ाहिर है कि यहां और आगे भी मैं केवल एकतांत्रिक रूस को ध्यान में रखकर बातें कर रहा हूं)। दूसरी ओर, क्रान्तिकारियों के संगठन को सबसे पहले और मुख्यतया ऐसे लोगों का संगठन होना चाहिए जिन्होंने क्रान्तिकारी कार्य को अपना पेशा बना लिया हो (इसीलिए मैं **क्रान्तिकारियों** के संगठनों की बातें करता हूं, जिससे मेरा मतलब क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों से है)। और चूंकि यह विशेषता ऐसे संगठन के सभी सदस्यों में होनी चाहिए, इसलिए यह आवश्यक होता है कि ऐसे संगठन में **मज़दूरों और बुद्धिजीवियों का भेद**, और अलग-अलग व्यवसायों तथा पेशों का सारा अन्तर **एकदम ख़तम कर दिया जाये**। ऐसे किसी भी संगठन के लिए यह ज़रूरी है कि वह बहुत फैला हुआ न हो तथा अधिक से अधिक गुप्त हो। तो आइये, ज़रा इस तीन-सूत्री अन्तर पर हम विचार करें!

जिन देशों में राजनीतिक स्वतंत्रता है, उनमें ट्रेड-यूनियनों और राजनीतिक संगठनों का अन्तर स्पष्ट होता है, और ट्रेड-यूनियनों तथा सामाजिक-जनवाद का भेद भी साफ़ होता है। हर देश की ऐतिहासिक, क़ानूनी, तथा अन्य परिस्थितियों के अनुसार वहां के सामाजिक-जनवाद तथा ट्रेड-यूनियनों का सम्बंध अलग-अलग ढंग का होता है—वह कमोबेश घनिष्ठ, पेचीदा, आदि हो सकता है (हमारी राय में यह सम्बंध जितना घनिष्ठ और जितना सरल हो सके उतना ही अच्छा है)। परन्तु स्वतंत्र देशों में ट्रेड-यूनियन संगठनों और सामाजिक-जनवादी पार्टी के संगठनों

के एक होने का कोई सवाल नहीं उठ सकता। लेकिन रूस में, पहले देखने पर ऐसा मालूम होता है कि तानाशाही के जूए ने सामाजिक-जनवादी संगठन और ट्रेड-यूनियनों के तमाम अन्तर को ख़तम कर दिया है, क्योंकि यहां मज़दूरों के **सभी** संगठनों और **सभी** मण्डलों पर रोक लगी हुई है, और मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष का प्रधान रूप और मुख्य अस्त्र – हड़ताल – एक दंडनीय अपराध (और कभी-कभी तो राजनीतिक अपराध भी!) माना जाता है। इसलिए, हमारे देश की परिस्थितियां, एक ओर तो आर्थिक संघर्ष में भाग लेनेवाले मज़दूरों को राजनीतिक सवालों में दिलचस्पी लेने के लिए ज़ोरदार ढंग से "प्रेरित करती" हैं, और दूसरी ओर वे सामाजिक-जनवादियों को इस बात के लिए "प्रेरित करती" हैं कि वे सामाजिक-जनवाद और ट्रेड-यूनियनवाद को एक चीज़ समझने लगें (और हमारे क्रिचेव्स्की, मार्तिनोव और उनके जैसे दूसरे लोग पहली "प्रेरणा" की तो ख़ूब चर्चा करते हैं, पर दूसरी "प्रेरणा" को बिलकुल भुला देते हैं)। ज़रा ऐसे लोगों की कल्पना कीजिये जो "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" में निनानवे प्रतिशत डूबे हुए हैं। इनमें से कुछ तो अपने **पूरे** कार्य-काल में (जो चार से छः महीने तक का होता है) कभी भी यह सोचने के लिए प्रेरित नहीं होंगे कि क्रान्तिकारियों के एक अधिक पेचीदा संगठन की आवश्यकता है, दूसरे लोगों को शायद काफ़ी व्यापक रूप से प्रचारित बर्न्सटीनवादी साहित्य मिल जायेगा, और उसे पढ़कर वे "नीरस दैनिक संघर्ष" की प्रगति के गूढ़ महत्व को समझने लगेंगे। कुछ और लोग शायद इस आकर्षक विचार में बह जायेंगे कि "सर्वहारा के संघर्ष के साथ घनिष्ठ और सजीव सम्पर्क" की – ट्रेड-यूनियन आन्दोलन तथा सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के बीच सम्पर्क की – एक नयी मिसाल दुनिया के सामने रखनी चाहिए। ऐसे लोग कह सकते हैं कि जो देश पूंजीवाद के क्षेत्र में, और इसलिए मज़दूर आन्दोलन के क्षेत्र में, जितनी ही देर से प्रवेश करता है, उस देश के समाजवादी ट्रेड-यूनियन आन्दोलन में उतना ही अधिक भाग ले सकते हैं तथा उसका उतना ही अधिक समर्थन कर सकते हैं, और उस देश में ग़ैर-सामाजिक-जनवादी ट्रेड-यूनियनों की उतनी ही कम गुंजाइश रह जाती है और रह जानी चाहिए। यहां तक इन लोगों की दलील बिलकुल सही है, पर दुर्भाग्य यह है कि कुछ लोग इससे आगे बढ़ जाते हैं और कल्पना करने लगते हैं कि सामाजिक-जनवादी आन्दोलन ट्रेड-यूनियनवाद के साथ एकदम घुल-मिल जायेगा।

'सेंट पीटर्सबर्ग की संघर्ष करनेवाली लीग के नियमों' के उदाहरण से हम शीघ्र ही देखेंगे कि इन सपनों का हमारी संगठन की योजनाओं पर कितना बुरा प्रभाव पड़ा है।

आर्थिक संघर्ष के लिए मज़दूरों को ट्रेड-यूनियनों में संगठित होना चाहिए। हर सामाजिक-जनवादी-मज़दूर को इन संगठनों की यथासम्भव सहायता करनी चाहिए और उनमें सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। यह सब सच है। परन्तु यह मांग करना क़तई हमारे हित में नहीं है कि केवल सामाजिक-जनवादियों को ही "ट्रेड"-यूनियनों का सदस्य होने के हक़ दिये जायें: इससे तो जनता पर हमारा असर कम ही होगा। ट्रेड-यूनियनों में उन सभी मज़दूरों को शामिल होने दीजिये जो मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ संघर्ष करने के लिए एक होने की आवश्यकता को महसूस करते हैं। यदि ट्रेड-यूनियन उन सभी लोगों की एकता स्थापित नहीं करेंगे जिनमें कम से कम यह प्राथमिक समझ पैदा हो चुकी है, और यदि वे बहुत **व्यापक ढंग** के संगठन नहीं बनेंगे तो वे अपने उद्देश्यों को कभी पूरा नहीं कर सकेंगे। और ये संगठन जितने ही अधिक व्यापक ढंग के होंगे, हमारा असर भी उन पर उतना ही अधिक व्यापक होगा — और यह असर केवल आर्थिक संघर्ष के 'स्वयं-स्फूर्त' विकास के कारण नहीं पैदा होगा, बल्कि वह ट्रेड-यूनियनों के समाजवादी सदस्यों की अपने साथियों को प्रभावित करने की प्रत्यक्ष और सचेतन कोशिशों का परिणाम भी होगा। परन्तु एक व्यापक संगठन गुप्त रूप से काम करने के तरीक़ों का सख़्ती से इस्तेमाल नहीं कर सकता (क्योंकि उसके लिए आर्थिक संघर्ष से कहीं अधिक प्रशिक्षा की आवश्यकता होती है)। सदस्यों की विशाल संख्या की आवश्यकता और गुप्त तरीक़ों को सख़्ती से अमल में लाने की ज़रूरत के विरोध को कैसे हल किया जाये? ट्रेड-यूनियनों को कम से कम गुप्त बनाने के क्या उपाय हैं? आम तौर पर इसके दो उपाय हैं: या तो ट्रेड-यूनियन संगठन क़ानूनी क़रार कर दिये जायें (और कुछ देशों में समाजवादी तथा राजनीतिक संगठनों के क़ानूनी होने के पहले ही यह हो गया था), और या संगठन को गुप्त तो रखा जाये, पर साथ ही उसे इतना "स्वतंत्र" और बिखरा हुआ, या जैसा कि जर्मन कहते हैं, उसे इतना **ढीला-ढाला** बना दिया जाये कि अधिकतर सदस्यों के सम्बंध में गुप्त तरीक़ों की ज़रूरत बस नहीं के बराबर रह जाये।

रूस में ग़ैर-समाजवादी और ग़ैर-राजनीतिक मज़दूर यूनियनों का क़ानूनी किया जाना शुरू हो चुका है, और इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे तेज़ी से बढ़ते हुए सामाजिक-जनवादी मज़दूर आन्दोलन के हर क़दम के साथ ट्रेड-यूनियनों को क़ानूनी कराने की कोशिशें ज़ोर पकड़ेंगी और उनको बढ़ावा मिलेगा — ज़्यादातर ऐसे प्रयत्न वर्तमान व्यवस्था के समर्थकों की ओर से हो रहे हैं, पर कुछ हद तक खुद मज़दूर और उदारपंथी बुद्धिजीवी भी इस तरह की कोशिशें कर रहे हैं। वसील्येव और ज़ुबातोव जैसे लोगों ने क़ानूनी क़रार दिये जाने का नारा उठाया है। ओज़ेरोव और वोर्म्स जैसे महानुभाव समर्थन करने का वचन दे चुके हैं, और मज़दूरों में भी इस नयी प्रवृत्ति के समर्थक दिखायी देने लगे हैं। अब आगे से हम इस प्रवृत्ति की उपेक्षा नहीं कर सकेंगे। हम उसके साथ किस तरह पेश आयें, इस पर सामाजिक-जनवादियों में दो मत नहीं हो सकते। इस आन्दोलन में ज़ुबातोव और वसील्येव जैसे लोग, राजनीतिक पुलिसवाले और पादरी जो भी खेल खेलते हैं, उनका हमें डटकर भंडाफोड़ करना चाहिए और मज़दूरों को समझाना चाहिए कि इन लोगों का असली मंशा क्या है। मज़दूरों की क़ानूनी सभाओं में उदारपंथी कार्यकर्ताओं के भाषणों में जो समझौतावादी, "मेल-मिलाप के" स्वर सुनायी पड़ें, हमें उनका भी भंडाफोड़ करना चाहिए और ऐसा करते समय इस बात की परवाह नहीं करनी चाहिए कि इस प्रकार की बातें भाषणकर्ता ने शान्तिपूर्ण वर्ग-सहयोग की वांछनीयता में सचमुच विश्वास रखने के कारण कही हैं, या उसका उद्देश्य सरकार की नज़रों में अच्छा बनने का था, और या वह केवल अपने फूहड़पन के कारण ऐसी बातें कह गया है। अन्त में, हमें मज़दूरों को पुलिस के फन्दों से बचने के लिए आगाह करना चाहिए, क्योंकि ऐसी खुली सभाओं में और ऐसे संगठनों में जिन्हें खुले तौर पर काम करने की इजाज़त होती है पुलिसवाले अक्सर "उग्र दिमाग़वालों" का पता लगाते हैं और ग़ैर-क़ानूनी संगठनों में अपने खुफ़िया दलालों को घुसाने के लिए क़ानूनी संगठनों का इस्तेमाल करने की कोशिश किया करते हैं।

परन्तु, यह सब करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मज़दूर आन्दोलन के क़ानूनी क़रार दिये जाने से **अन्त में जाकर** हमारा ही फ़ायदा होगा, न कि ज़ुबातोव जैसे लोगों का। इसके विपरीत, हमारा भंडाफोड़ आन्दोलन ही है जो हमें गेहूं को झाड़-झंखाड़ से अलग करने में मदद देगा। झाड़-झंखाड़ क्या है,

इसकी ग्रोर हम संकेत कर चुके हैं। गेहूं से हमारा मतलब यह है कि मज़दूरों के ग्रौर भी बड़े तथा ग्रौर भी पिछड़े हुए हिस्से सामाजिक एवं राजनीतिक प्रश्नों की ग्रोर ग्राकर्षित होंगे, हमारा मतलब यह है कि हम क्रान्तिकारी लोग उन कामों की ज़िम्मेदारियों से मुक्त हो जायेंगे जो बुनियादी तौर पर क़ानूनी काम हैं (क़ानूनी किताबों का वितरण, पारस्परिक सहायता, ग्रादि), ग्रौर जिनके विकास से हमें लाज़िमी तौर पर ग्रान्दोलन के लिए ग्रधिकाधिक सामग्री मिलती जायगी। इस ग्रर्थ में हम ज़ुबातोव ग्रौर ग्रोज़ेरोव जैसे लोगों से यह कह सकते हैं ग्रौर कहना चाहिए: सज्जनो, डटे रहो, ग्रपना पूरा ज़ोर लगाये रहो! जब कभी ग्राप लोग मज़दूरों के रास्ते में (या तो सीधे-सीधे उनको उकसावा देकर, या "स्त्रूवे-वाद"[150] की मदद से मज़दूरों को बड़े "ईमानदार ढंग से" भ्रष्ट करके) फन्दा डालेंगे, तब हम ग्रापका भंडाफोड़ करने की व्यवस्था करेंगे। पर जब कभी ग्राप लोग सचमुच कोई ग्रच्छा क़दम उठायेंगे, भले ही वह हद दर्जे का "सहमा हुग्रा ग्रौर उलझा हुग्रा" क़दम हो, तब हम यह कहेंगे: कृपया ग्रौर बढ़िये! ग्रौर ग्रच्छा क़दम केवल वही हो सकता है जिससे मज़दूरों के कार्यक्षेत्र में थोड़ा ही सही पर सचमुच कुछ विस्तार ग्राये। ग्रौर ऐसे प्रत्येक विस्तार से हमारा लाभ होगा ग्रौर उससे ऐसी क़ानूनी संस्थाग्रों के निर्माण में सहायता मिलेगी जहां पुलिस के ख़ुफ़िया एजेंट समाजवादियों का पता नहीं लगाया करेंगे, बल्कि जहां समाजवादियों को ग्रपने समर्थक मिलेंगे। संक्षेप में हमारा काम झाड़-झंखाड़ को काटकर साफ़ करना है। हमारा काम गमलों में गेहूं उगाना नहीं है। झाड़-झंखाड़ साफ़ करके हम गेहूं के लिए ज़मीन साफ़ कर देंगे। ग्रौर जबकि ग्रफ़ानासी इवानोविच ग्रौर पुलख़ेरिया इवानोव्ना[151] जैसे लोग गमलों में लगी फ़सल को सींचने में व्यस्त हैं, तो हमें न केवल ग्राज के झाड़-झंखाड़ को साफ़ करने के लिए, बल्कि कल की गेहूं की फ़सल काटने के लिए भी ग्रपने ग्रौज़ार तैयार रखने चाहिए*।

ग्रतएव, **हम** ट्रेड-यूनियनों को क़ानूनी क़रार दिलाकर एक ऐसा ट्रेड-यूनियन

---

*झाड़-झंखाड़ के विरुद्ध 'ईस्क्रा' के ग्रान्दोलन से नाराज़ होकर 'राबोचेये देलो' ने यह लिखा था: "'ईस्क्रा' को समय का चिन्ह (वसन्त के दिनों की) महान घटनाग्रों में उतना नहीं दिखायी पड़ता जितना कि मज़दूर ग्रान्दोलन को

संगठन बनाने की समस्या **हल** नहीं कर सकते जो कम से कम गुप्त और अधिक से अधिक व्यापक हो (परन्तु यदि ज़ुबातोव और ओज़ेरोव जैसे लोग हमें इस समस्या को हल करने का थोड़ा भी अवसर देते हैं, तो हमें बहुत ही ख़ुशी होगी – और इसके लिए जितना हो सके, उतने ज़ोरदार ढंग से हमें इन लोगों के ख़िलाफ़ लड़ना चाहिए।)। इसके बाद गुप्त ट्रेड-यूनियन संगठन का मार्ग बचता है, और इसके लिए **हमें** निश्चित रूप से उन मज़दूरों की अधिक से अधिक मदद करनी **चाहिए** जिन्होंने (जैसा हम निश्चित रूप से जानते हैं) इस मार्ग पर चलना शुरू कर दिया है। ट्रेड-यूनियन संगठन न केवल आर्थिक संघर्ष को विकसित और मज़बूत करने के लिए बहुत मूल्यवान साबित हो सकते हैं बल्कि वे राजनीतिक आन्दोलन और क्रान्तिकारी संगठन के लिए भी बहुत महत्वपूर्ण सहायक बन सकते हैं। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए, और नवजात ट्रेड-यूनियन आन्दोलन को सामाजिक-जनवादियों की वांछित दिशा में ले जाने के लिए सबसे पहले यह समझना ज़रूरी है कि लगभग पिछले पांच वर्ष से सेंट पीटर्सबर्ग के अर्थवादी संगठन की जिस योजना को लेकर इतने व्यस्त हैं, वह कितनी बेहूदा है। यह योजना जुलाई १८९७ में 'मज़दूर सहायता कोष की नियमावली' ("लिस्तोक 'राबोत्निका'", अंक ९-१०, पृष्ठ ४६, 'राबोचाया मीस्ल' अंक १ से लिया गया) और अक्तूबर १९०० में 'मज़दूरों के एक ट्रेड-यूनियन संगठन की नियमावली' (सेंट पीटर्सबर्ग में छपा एक ख़ास परचा, जो 'ईस्क्रा' के अंक १ में उद्धृत किया गया है) के रूप में प्रस्तुत की गयी थी। इन दोनों नियमावलियों का बुनियादी

'क़ानूनी क़रार' दिलाने के लिए ज़ुबातोव के एजेन्टों की दयनीय कोशिशों में। वह यह नहीं देखता कि ये तथ्य उसके विरुद्ध पड़ते हैं; कारण कि उनसे प्रकट होता है कि मज़दूर आन्दोलन ने सरकार की नज़रों में ख़तरनाक रूप धारण कर लिया है।" ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ २७) इन सब बातों की ज़िम्मेदारी उन कट्टरपंथी लोगों के "रूढ़िवाद" पर है जो "जीवन के ज़रूरी तक़ाज़ों" को भी अनदेखा कर देते हैं। ये लोग हठधर्मी के साथ गज़-गज़ भर ऊंचे गेहूं को तो देखने से भी इनकार करते हैं, पर एक-एक इंच ऊंचे झाड़-झंखाड़ को साफ़ करने में लगे हुए हैं! इससे क्या यह बात प्रकट नहीं हो जाती कि "रूसी मज़दूर आन्दोलन के विषय में इन लोगों का दृष्टिकोण विकृत है"? (उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ २७।)

दोष यह है कि उनमें एक व्यापक मज़दूर संगठन का ढांचा विस्तार से बताया गया है और उसे क्रान्तिकारियों का संगठन समझ लिया गया है। आइये, बादवाली नियमावली पर थोड़ा विचार करें, क्योंकि यह अधिक विस्तारपूर्वक बनायी गयी है। उसमें **बावन** पैराग्राफ़ हैं। तेईस पैराग्राफ़ों में उन "मज़दूर-मंडलों" की बनावट, काम करने के तरीक़े और क्षेत्र की चर्चा की गयी है, जो हर कारख़ाने में संगठित किये जायेंगे ("दस व्यक्तियों से अधिक नहीं") और वे "केन्द्रीय (फ़ैक्टरी) दलों" का चुनाव करेंगे। पैराग्राफ़ २ में कहा गया है कि "केन्द्रीय दल अपने कारख़ाने या वर्कशाप में होनेवाली सभी बातों पर नज़र रखता है और घटनाओं का ब्यौरा रखता है।" "केन्द्रीय दल चन्दा देनेवालों के सामने माहवार हिसाब पेश करता है" (पैरा १७), आदि। दस पैराग्राफ़ों में "ज़िला संगठन" का ज़िक्र है और उन्नीस पैराग्राफ़ों में 'मज़दूर संगठन की समिति' तथा 'सेंट पीटर्सबर्ग की संघर्ष करनेवाली लीग की समिति' के पेचीदा अन्तर्सम्बंध की विवेचना की गयी है (हर ज़िले के और "प्रबंधकर्ता दलों" के प्रतिनिधि – "प्रचारकों के दल, प्रांतों के साथ और विदेशों में स्थित संगठनों के साथ सम्पर्क रखनेवाले दल, गोदामों, प्रकाशनों तथा कोष की व्यवस्था करनेवाले दल")।

सामाजिक-जनवादी संगठन = मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष से संबंधित "प्रबंधकर्ता दल"! अर्थवादियों के विचार कैसे सामाजिक-जनवाद से हटकर ट्रेड-यूनियनवाद की ओर बहक जाते हैं, और वे इस विचार से कितने दूर हैं कि सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ता को सबसे पहले क्रान्तिकारियों का ऐसा संगठन बनाने की फ़िक्र करनी चाहिए जो सर्वहारा के **पूरे** मुक्ति-संग्राम का नेतृत्व कर सके – इसकी इससे बढ़िया मिसाल मिलना मुश्किल है। "मज़दूर वर्ग की राजनीतिक मुक्ति" की और "ज़ार की निरंकुशता" के ख़िलाफ़ संघर्ष की बातें करना, और फिर भी इस प्रकार की नियमावलियां बनाना यह बताता है कि इन लोगों ने यह तनिक भी नहीं समझा है कि सामाजिक-जनवाद के असली राजनीतिक काम क्या हैं। इनके लगभग पचास पैराग्राफ़ों में इस समझ की झलक तक नहीं मिलती कि जनता में व्यापकतम आधार पर राजनीतिक आन्दोलन चलाना आवश्यक है और इस आन्दोलन को ऐसा होना चाहिए जो रूसी निरंकुशता के हर पहलू पर और रूस के विभिन्न सामाजिक वर्गों की सभी विशेषताओं पर प्रकाश डाले। इस तरह के

नियमों से, राजनीतिक उद्देश्यों की बात तो जाने दीजिये, ट्रेड-यूनियनवादी उद्देश्यों को प्राप्त करने में भी कोई मदद नहीं मिल सकती, क्योंकि उसके लिए **व्यवसाय-वार** संगठन करना आवश्यक है जिसका इन नियमों में कोई ज़िक्र तक नहीं किया गया है।

पर सबसे ज़्यादा मार्के की बात शायद इस पूरी "व्यवस्था" का ज़रूरत से ज़्यादा भारी होना है। यह व्यवस्था एक-जैसे तथा हद दर्जे के फुटकर नियमों और तीन मंज़िलों वाली चुनाव-प्रणाली के ज़रिए एक-एक फ़ैक्टरी को "समिति" से बांधने की कोशिश करती है। अर्थवाद के संकुचित दृष्टिकोण की सीमाओं में जकड़ा हुआ दिमाग़ ऐसे नियमों के जंगल में खो जाता है, जिनसे सचमुच लाल फ़ीते और नौकरशाही की बू आती है। ज़ाहिर है कि तीन-चौथाई नियम व्यवहार में कभी लागू नहीं किये जाते; पर दूसरी ओर इस प्रकार का "षड्यंत्रकारी" संगठन, जिसका केन्द्रीय दल हर कारख़ाने में मौजूद हो, राजनीतिक पुलिस के लिए बहुत बड़े पैमाने पर छापे मारना बहुत आसान हो जाता है। पोलैंड के हमारे साथी भी अपने आन्दोलन में इस प्रकार के दौर से उस समय गुज़र चुके हैं, जब वहां हर किसी को मज़दूर-सहायता कोष का व्यापक संगठन खड़ा करने का जोश आया हुआ था, परन्तु जब उन्होंने देखा कि ऐसे संगठनों से केवल राजनीतिक पुलिसवालों को फ़सल काटने में मदद मिलती है, तब उन्होंने बहुत जल्द ही इस विचार को त्याग दिया। यदि हम मज़दूरों के व्यापक संगठन चाहते हैं, न कि व्यापक गिरफ़्तारियां, यदि हम पुलिसवालों को ख़ुश नहीं करना चाहते, तो इन संगठनों को हमें बिलकुल ग़ैर-रस्मी बनाकर रखना चाहिए। परन्तु क्या उस हालत में वे काम कर सकेंगे? आइये, हम देखें कि इनके काम क्या हैं: "... कारख़ाने में होनेवाली सभी बातों पर नज़र रखना और घटनाओं का ब्यौरा रखना।" (नियमावली का पैरा २।) क्या इस काम के लिए सचमुच किसी बाक़ायदा दल की ज़रूरत है? क्या यह काम बिना कोई विशेष दल बनाये और ग़ैर-क़ानूनी पत्रों को रिपोर्टें भेजकर बेहतर ढंग से नहीं हो सकता? "... कारख़ानों में पायी जानेवाली हालत को सुधारने के लिए मज़दूरों के संघर्षों का नेतृत्व करना।" (नियमावली का पैरा ३।) इस काम के लिए भी किसी बाज़ाब्ता दल की आवश्यकता नहीं है। कोई भी होशियार आन्दोलनकर्ता मामूली बातचीत के ज़रिए पता लगा सकता है कि मज़दूर

किन मांगों को **उठाना** चाहते हैं और फिर वह इन मांगों की सूचना क्रान्तिकारियों के एक संकुचित – व्यापक नहीं – संगठन को भेज सकता है ताकि उनके बारे में एक पर्चा तैयार हो जाये। "... एक कोष का संगठन करना ... जिसके लिए फ़ी रूबल दो कोपेक के हिसाब से चन्दा जमा करना होगा" (पैरा ९) ... चन्दा देनेवालों के सामने माहवार हिसाब पेश करना (पैरा १७) ... जो लोग चन्दा न दें, उन्हें सदस्यता से अलग कर देना (पैरा १०), इत्यादि। ख़ूब, इससे तो पुलिसवालों की बन जायेगी, क्योंकि उनके लिए इस "केन्द्रीय फ़ैक्टरी कोष" के भारी-भरकम गुप्त संगठन में घुस जाने, सारा धन ज़ब्त कर लेने और सभी अच्छे लोगों को गिरफ़्तार कर लेने से ज़्यादा आसान बात और क्या हो सकती है! इससे कहीं बेहतर इन्तज़ाम क्या यह नहीं होगा कि एक-एक या दो-दो कोपेक के ऐसे चंदा-टिकट जारी कर दिये जायें जिन पर किसी मशहूर (बहुत सीमित और बहुत ही गुप्त) संगठन की मुहर लगी हो, या किसी तरह के चंदा-टिकटों के बिना ही पैसा जमा किया जाये और उसका हिसाब सांकेतिक भाषा में किसी ग़ैर-क़ानूनी पत्र में छाप दिया जाये? इससे हमारा उद्देश्य पूरा हो जायेगा, लेकिन राजनीतिक पुलिस के लिए कोई सुराग़ पाना सौगुना मुश्किल हो जायेगा।

मैं इन नियमों का और भी विश्लेषण कर सकता हूं, पर मेरे विचार से जितना कहा जा चुका है, वही काफ़ी है। सबसे अधिक विश्वसनीय, अनुभवी और तपे हुए मज़दूरों का एक छोटा-सा गठा हुआ केन्द्र, जिसके ज़िम्मेदार प्रतिनिधि सभी ख़ास-ख़ास इलाक़ों में तैनात हों, और क्रान्तिकारियों के संगठन के साथ जिनका सम्बंध बहुत ही सख़्त ढंग के गुप्त नियमों के मुताबिक़ क़ायम हो – ऐसा केन्द्र जनता के व्यापकतम सहयोग से और बिना किसी बाज़ाब्ता संगठन के ट्रेड-यूनियन संगठन के **सभी** कामों को अंजाम दे सकता है, और इससे भी बड़ी बात यह है कि सामाजिक-जनवादी आन्दोलन जिस ढंग को पसंद करता है, उसी ढंग से वह इन तमाम कामों को कर सकता है। तमाम राजनीतिक पुलिसवालों के बावजूद **सामाजिक-जनवादी** ट्रेड-यूनियन आन्दोलन को **मजबूत** बनाने और विकसित करने का एकमात्र यही तरीक़ा है।

यह एतराज़ किया जा सकता है कि जो संगठन इतना ढीला-ढाला हो कि उसकी कोई रूपरेखा तक निश्चित न हुई हो और जिसके कोई बाक़ायदा बनाये गये और रजिस्टर में दर्ज सदस्य भी न हों, उसको संगठन का नाम देना ही **ग़लत**

है। यह बात सही हो सकती है। मैं नामों की परवाह नहीं करता। लेकिन, यह "बिना सदस्यों का संगठन" हर ज़रूरी काम कर दिखायेगा और शुरू से ही इस बात की गारंटी कर देगा कि हमारे भावी ट्रेड-यूनियनों तथा समाजवाद के बीच घनिष्ठतम सम्पर्क बना रहे। एकतांत्रिक शासन के अधीन केवल एक घोर कल्पनावादी ही ऐसा **व्यापक** संगठन बनाना चाहेगा जिसमें चुनाव होते हों, रिपोर्टें दी जाती हों, हर आदमी को वोट देने का अधिकार मिला हो, आदि, आदि।

इससे जो सबक़ निकलता है, वह बहुत ही सीधा-सादा है: यदि हम क्रान्तिकारियों के एक मज़बूत संगठन की ठोस नींव से शुरूआत करेंगे तो पूरे आन्दोलन के स्थायित्व की गारंटी हो जायेगी और हम सामाजिक-जनवादी आन्दोलन तथा ख़ास ट्रेड-यूनियन आन्दोलन दोनों के उद्देश्यों को हासिल करने में सफल होंगे। इसके विपरीत, यदि हम मज़दूरों के एक व्यापक संगठन से शुरूआत करेंगे, जिसे प्रायः सबसे ज़्यादा जनता की "पहुंच के अन्दर" समझा जाता है (पर जो दरअसल सबसे ज़्यादा राजनीतिक पुलिसवालों की पहुंच के अन्दर होता है, और जिससे क्रान्तिकारी लोग सबसे ज़्यादा आसानी से पुलिस के चंगुल में आ जाते हैं), तो हम इन दोनों में से किसी भी उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकेंगे। इस तरह हम अपना नौसिखुआपन दूर नहीं कर पायेंगे। और चूंकि हम बिखरे हुए रहेंगे और पुलिस बार-बार हमारी ताक़त को तोड़ती जायेगी, इसलिए हमारी कोशिशों का केवल यह नतीजा निकलेगा कि ज़ुबातोव और ओज़ेरोव के ढर्रे की यूनियनें सबसे ज़्यादा जनता की पहुंच के अन्दर हो जायेंगी।

दरअसल, क्रान्तिकारियों के इस संगठन को कौन-कौनसे काम करने चाहिए? इसकी अब हम विस्तार से विवेचना करेंगे। पर उसके पहले हम ज़रा अपने आतंकवादी की दलील पर भी विचार कर लें जो (दुर्भाग्यवश!) इस मामले में भी "अर्थवादी" का बिल्कुल नज़दीकी पड़ोसी है। 'स्वोबोदा' (अंक १) में—जो मज़दूरों के लिए निकाला जाता है—'संगठन' शीर्षक से एक लेख छपा है, जिसके लेखक ने अपने मित्रों की, यानी इवानोवो-वोज़नेसेंस्क के "अर्थवादी" मज़दूरों की हिमायत करने की कोशिश की है। वह लिखता है:

> "जब भीड़ मूक और सुषुप्तावस्था में होती है और जब आन्दोलन की जड़ें आम लोगों में नहीं होतीं, तब बुरा हाल होता है। मिसाल के

लिए, गरमियों में या किसी श्रौर छुट्टी में, विश्वविद्यालय वाले नगरों के विद्यार्थी अपने-अपने घरों को चल देते हैं और उनके जाते ही मज़दूरों का आन्दोलन ठप हो जाता है। क्या ऐसा मज़दूर आन्दोलन भी कोई असली ताक़त हासिल कर सकता है जिसे बाहर से धक्का देने की ज़रूरत पड़ती हो? हरगिज़ नहीं ... ऐसे आन्दोलन ने अभी अपने पैरों से चलना नहीं सीखा है; वह अब भी किसी की उंगली पकड़कर चलता है। हर क्षेत्र में यही हालत है। विद्यार्थी चले जाते हैं और पूरा काम बन्द हो जाता है। सबसे योग्य लोग गिरफ़्तार कर लिये जाते हैं—और मलाई के हटते ही सारा दूध खट्टा हो जाता है। यदि 'समिति' पकड़ ली जाती है, तो जब तक एक नयी समिति नहीं बन जाती, तब तक के लिए हर चीज़ ठप हो जाती है। और कोई नहीं कह सकता कि अगली समिति किस प्रकार की होगी—हो सकता है कि वह पहलेवाली समिति से बिलकुल भिन्न ढंग की हो। पहली समिति एक तरह की सीख दिया करती थी, नयी समिति हो सकता है कि उसकी बिलकुल उल्टी बात कहे। बीते हुए कल और आनेवाले कल का तार टूट जाता है, बीते हुए दिनों का अनुभव भविष्य का पथ आलोकित नहीं करता। और यह सब इसलिए होता है कि जड़ें भीड़ में अभी गहरी नहीं पहुंची हैं। काम सौ मूर्ख नहीं, बल्कि एक दर्जन बुद्धिमान करते हैं। एक दर्जन बुद्धिमान लोग एक झपट्टे में साफ़ हो सकते हैं, लेकिन जब संगठन भीड़ को समेटे रहता है, तब हर काम भीड़ करती है, और कोई लाख सिर मारने पर भी आन्दोलन को नहीं रोक सकता।" (पृष्ठ ६३।)

तथ्यों का वर्णन बिलकुल सही है। उनसे हमारे नौसिखुएपन का एक अच्छा चित्र मिल जाता है। परन्तु इस वर्णन से जो नतीजे निकाले गये हैं, वे मूर्खता और राजनीतिक अव्यवहारिकता, दोनों ही की दृष्टि से 'राबोचाया मीस्ल' को ही शोभा देते हैं। वे मूर्खता की हद के द्योतक इसलिए हैं कि लेखक आन्दोलन की "जड़ों" की "गहराई" के दार्शनिक एवं सामाजिक-ऐतिहासिक प्रश्न को इस प्राविधिक एवं संगठनात्मक प्रश्न के साथ मिला देता है कि राजनीतिक पुलिसवालों का सामना करने का सबसे अच्छा तरीक़ा क्या है। वे राजनीतिक अव्यवहारिकता की पराकाष्ठा के द्योतक इसलिए हैं कि लेखक बुरे नेताओं की जगह अच्छे नेताओं

को लाने के बजाय सभी तरह के नेताओं की जगह पर "भीड़" को ला बिठाने की बात सोचता है। जिस प्रकार राजनीतिक आन्दोलन के स्थान पर जनता को उभारने के लिए आतंकवादी कार्यों का प्रयोग करने का विचार हमें राजनीतिक दृष्टि से पीछे घसीटता है, उसी प्रकार यह विचार हमें संगठन के क्षेत्र में पीछे घसीटने की कोशिश करता है। वस्तुतः मैं सामग्री की बहुतायत से परेशान हूं और तै नहीं कर पा रहा हूं कि 'स्वोबोदा' ने जो भ्रम पैदा किया है उसे कहां से सुलझाना शुरू करूं। अपनी बात में स्पष्टता लाने के लिए, मैं एक मिसाल से शुरू करूंगा। जर्मनों को लीजिये। मैं आशा करता हूं कि कोई इस बात से इनकार नहीं करेगा कि जर्मनों के संगठन ने भीड़ को समेट लिया है, उनके यहां हर चीज़ भीड़ में से शुरू होती है, और वहां के मज़दूर आन्दोलन ने अपने पैरों पर चलना सीख लिया है? फिर भी, ज़रा ध्यान दीजिये कि वहां यह लाखों और करोड़ों की भीड़ अपने "एक दर्जन" परखे हुए नेताओं को कितना महत्व देती है, और कितनी दृढ़ता से उनसे चिपटी रहती है! पार्लामेंट में विरोधी पार्टियों के सदस्यों ने अक्सर समाजवादियों को यह कह-कहकर ताने दिये हैं: "अच्छे जनवादी हैं आप लोग! आप लोगों का यह मज़दूर आन्दोलन बस नाम भर का है, असल में तो साल-दर-साल नेताओं का वही पुराना गुट, वे ही बेबेल और लीब्कनेख़्त जमे रहते हैं। पीढ़ियां गुज़र जाती हैं और उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। आपके पार्लामेंट के सदस्य—जिन्हें कहा जाता है कि मज़दूर चुनते हैं—बादशाह सलामत द्वारा नियुक्त किये गये अफ़सरों से भी ज्यादा मुस्तक़िल हैं!" परन्तु जर्मन लोग हैं कि "भीड़" को "नेताओं" से लड़ा देने, भीड़ में दूषित और महत्वाकांक्षी भावनाएं जगाने, और "एक दर्जन बुद्धिमानों" में जनता का विश्वास नष्ट करके आन्दोलन की मज़बूती और स्थायित्व को ख़तम करने की इन धूर्ततापूर्ण कोशिशों को देखकर केवल तिरस्कार से मुसकरा देते हैं। जर्मनों में राजनीतिक चिन्तन काफ़ी विकसित हो चुका है और उन्होंने इतना काफ़ी राजनीतिक अनुभव संचित कर लिया है कि वे यह समझने लगे हैं कि ऐसे "एक दर्जन" परखे हुए और प्रतिभाशाली नेताओं के बिना (और प्रतिभाशाली लोग सैकड़ों की संख्या में नहीं पैदा होते), जिन्हें अपने काम की पूरी शिक्षा मिल चुकी हो, जो दीर्घकाल तक अनुभव प्राप्त कर चुके हों और जो पूर्ण सहयोग और ताल-मेल के साथ काम करते हों, आधुनिक समाज में कोई वर्ग दृढ़ता के साथ संघर्ष नहीं कर सकता।

जर्मनों के बीच भी ऐसे लफ़्फ़ाज़ हुए हैं जिन्होंने "सौ मूर्खों" की ख़ुशामद की है, उन्हें "एक दर्जन बुद्धिमानों" से ऊंचा स्थान दिया है, जनता के "ज़बर्दस्त घूंसों" का गुणगान किया है और (मोस्ट और हैस्सेलमैन्न की तरह) उसे विवेकहीन "क्रान्तिकारी" कार्य करने के लिए उकसाया है और दृढ़ तथा स्थिर-चित्त नेताओं के प्रति अविश्वास पैदा किया है। समाजवादी आन्दोलन के अन्दर पाये जानेवाले ऐसे तमाम तत्वों के ख़िलाफ़ दृढ़तापूर्वक और निर्ममतापूर्वक संघर्ष करके ही जर्मन समाजवाद पनप सका है और आज की यह विराट शक्ति बन सका है। लेकिन, आज जब रूस का सामाजिक-जनवाद केवल इसलिए संकट से गुज़र रहा है कि उसके पास अपने-आप जाग्रत होती हुई जनता का नेतृत्व करने के लिए पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित, विकसित एवं अनुभवी नेता नहीं हैं, तब हमारे ये अक़्ल के ठेकेदार मूर्खों जैसी गम्भीरता के साथ चीख-चीखकर कहते हैं: "जब आन्दोलन की जड़ें आम लोगों में नहीं होतीं, तब बुरा हाल होता है!"

"विद्यार्थियों की समिति किसी काम की नहीं होती; उसमें स्थायित्व नहीं होता।" यह बिलकुल सच बात है। परन्तु इससे जो नतीजा निकालना चाहिए वह यह है कि हमें पेशेवर **क्रान्तिकारियों** की समिति बनानी चाहिए और इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि पेशेवर क्रान्तिकारी बनने की क्षमता किसी विद्यार्थी में है या मज़दूर में। लेकिन, आप लोग इससे यह नतीजा निकालते हैं कि मज़दूर आन्दोलन को बाहर से धक्का नहीं देना चाहिए! अपने राजनीतिक भोलेपन के कारण आप यह नहीं देखते कि आप लोग हमारे अर्थवादियों के हाथों में खेल रहे हैं और हमारे नौसिखुएपन को बढ़ावा दे रहे हैं। मैं पूछता हूं कि हमारे विद्यार्थियों ने मज़दूरों को किस अर्थ में "धक्का दिया"? **केवल इस अर्थ में** कि विद्यार्थियों के पास स्वयं जो थोड़ा-बहुत राजनीतिक ज्ञान था, समाजवादी विचार के जो चन्द टुकड़े उन्होंने जमा कर लिये थे (क्योंकि आजकल के विद्यार्थियों का मुख्य बौद्धिक भोजन – क़ानूनी मार्क्सवाद – उन्हें केवल प्रारम्भिक ज्ञान या ज्ञान के चन्द टुकड़े ही दे सकता है), उन्हें वे मज़दूरों तक ले गये थे। **इस प्रकार का** "बाहर से धक्का देना" कभी बहुत ज्यादा नहीं हुआ है; इसके विपरीत, अभी तक हमारे आन्दोलन में यह बात बहुत कम, बहुत ही कम देखने में आयी है, क्योंकि हम लोग सदा अपने घोंघे के अन्दर ही बन्द पड़े रहे हैं; हम "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़" प्राथमिक "आर्थिक संघर्ष" की उपासना दासों की तरह हद से ज़्यादा

करते रहे हैं। हम पेशेवर क्रान्तिकारी इसे अपना फ़र्ज़ समझते हैं और समझेंगे कि अभी तक हमने **इस प्रकार के** जितने "धक्के बाहर से दिये" हैं, उससे सौ गुना ज़्यादा ज़ोर से आन्दोलन को "धक्के" दें। लेकिन इसी एक बात से कि आपने "बाहर से धक्का देने" जैसी घृणित शब्दावली का प्रयोग किया है – जिन शब्दों से मज़दूरों में (कम से कम उन मज़दूरों में जो उतने ही पिछड़े हुए हैं जितने कि आप लोग) लाज़िमी तौर पर उन **सभी** लोगों के प्रति अविश्वास का भाव पैदा होगा जो उनके पास बाहर से राजनीतिक ज्ञान और क्रान्तिकारी अनुभव ले जाते हैं, और इससे मज़दूरों में ऐसे **तमाम** लोगों का विरोध करने की सहज प्रवृत्ति उत्पन्न होगी – यह साबित हो जाता है कि आप लोग **लफ़्फ़ाज़** हैं और लफ़्फ़ाज़ लोग मज़दूर वर्ग के सबसे ख़राब दुश्मन होते हैं।

जी, हां! और अब इसका रोना शुरू मत कर दीजियेगा कि मैं बड़े "बंधुत्व-हीन तरीक़े" से बहस करता हूं। मैं आपके इरादों की पवित्रता में सपने में भी सन्देह नहीं करता। जैसा मैं कह चुका हूं कि आदमी केवल राजनीतिक भोलेपन के कारण भी लफ़्फ़ाज़ बन सकता है। परन्तु इसे मैंने साबित कर दिया है कि आप लोग लफ़्फ़ाज़ी पर उतर आये हैं और यह कहने में मैं कभी नहीं थकूंगा कि लफ़्फ़ाज़ मज़दूर वर्ग के सबसे ख़राब दुश्मन होते हैं। सबसे ख़राब दुश्मन इसलिए कि वे लोग भीड़ की बुरी प्रवृत्तियों को बढ़ावा देते हैं, और पिछड़ा हुआ मज़दूर यह नहीं पहचान पाता कि ये लोग जो अपने को मज़दूरों का मित्र बताते हैं, और कभी-कभी ईमानदारी के साथ पेश आते हैं, वे असल में उसके दुश्मन हैं। सबसे ख़राब दुश्मन इसलिए कि फूट और ढुलमुल-यक़ीनी के ज़माने में जब हमारे आन्दोलन की रूपरेखा अभी गढ़ी ही जा रही है, तब लफ़्फ़ाज़ी के ज़रिए भीड़ को गुमराह करने से ज़्यादा आसान और कोई बात नहीं है, और भीड़ को अपनी ग़लती बहुत बाद में अत्यन्त कटु अनुभव से ही मालूम होती है। यही कारण है कि आज रूस के प्रत्येक सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ता के लिए यह नारा होना चाहिए: 'स्वोबोदा' और 'राबोचेये देलो' से डटकर लड़ो, क्योंकि वे दोनों ही गिरकर लफ़्फ़ाज़ी के स्तर पर आ गये हैं (इस बारे में ज़्यादा विस्तार से हम दूसरी जगह चर्चा करेंगे*)।

---

* यहां हम केवल इतना कह दें कि "बाहर से धक्का देने" तथा संगठन के प्रश्न पर 'स्वोबोदा' के दूसरे उपदेशों के बारे में हमने जो कुछ कहा है, वह

"सौ मूर्खों के मुक़ाबले में एक दर्जन बुद्धिमानों का सफ़ाया करना ज़्यादा आसान होता है!" यह विलक्षण सत्य (जिसके लिए सौ मूर्ख सदा आपकी प्रशंसा करेंगे) आपको इतना स्पष्ट केवल इसलिए लगता है कि तर्क करते-करते आप यकायक एक प्रश्न को छोड़ दूसरे प्रश्न पर पहुंच गये हैं। आपने जिस बात की चर्चा शुरू की थी, और जिसकी चर्चा अब भी कर रहे हैं, वह थी एक "समिति" अथवा "संगठन" का सफ़ाया हो जाने की बात, और अब आप यकायक आन्दोलन की "जड़ों" का "गहराई मे" सफ़ाया करने के प्रश्न पर पहुंच गये हैं। ज़ाहिर है कि सचाई यह है कि हमारे आन्दोलन को मिटाना इसलिए असम्भव है कि उसकी सैकड़ों और लाखों जड़ें जनता में बहुत गहरे तक जा चुकी हैं, परन्तु इस समय चर्चा का विषय यह नहीं है। जहां तक "गहरी जड़ों" का प्रश्न है, तो आज भी, हमारे तमाम नौसिखुएपन के बावजूद, कोई हमारा "सफ़ाया" नहीं कर सकता, फिर भी हम यह शिकायत करते हैं और हमारा शिकायत करना लाज़िमी है कि **"संगठनों"** का सफ़ाया हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप आन्दोलन का क्रम बनाये रखना असम्भव हो जाता है। लेकिन आपने चूंकि **संगठनों** का सफ़ाया हो जाने का सवाल उठाया है और इस सवाल पर आप अड़े रहना ही चाहते हैं, इसलिए मैं ज़ोर देकर कहता हूं कि सौ मूर्खों की तुलना में एक दर्जन बुद्धिमानों का सफ़ाया करना कहीं ज़्यादा मुश्किल है। और आप भीड़ को मेरे "जनवाद-विरोधी" विचारों, आदि के ख़िलाफ़ चाहे जितना भी भड़कायें, पर मैं सदा यही कहूंगा। जैसा कि मैं बार-बार कह चुका हूं, संगठन के सम्बंध में "बुद्धिमानों" से मेरा मतलब **पेशेवर क्रान्तिकारियों** से है। उसमें इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि उनको विद्यार्थियों में से प्रशिक्षित किया गया है या मज़दूरों में से। मैं ज़ोर देकर यह कहता हूं: (१) नेताओं के एक स्थायी और लगातार काम करनेवाले संगठन के बिना कोई भी क्रान्तिकारी आन्दोलन टिकाऊ नहीं हो सकता; (२) जितने अधिक व्यापक पैमाने पर जनता स्वयं-स्फूर्त ढंग से संघर्ष में खिंचती आयेगी, आन्दोलन का आधार बनेगी और उसमें भाग लेगी, ऐसा

सभी "अर्थवादियों" पर **पूरी तरह** लागू होता है, जिनमें 'राबोचेये देलो' के समर्थक भी आ जाते हैं, कारण कि इन सबने या तो ख़ुद संगठन के विषय में ऐसे विचारों का सक्रिय रूप से प्रचार और समर्थन किया है, या वे उनमें बह गये हैं।

संगठन बनाना उतना ही ज़्यादा ज़रूरी होता जायेगा, और इस संगठन को उतना ही अधिक ठोस बनाना पड़ेगा (क्योंकि जनता के अधिक पिछड़े हुए हिस्सों को गुमराह करना लफ़्फ़ाज़ों के लिए ज़्यादा आसान होता है); (३) कि इस प्रकार के संगठन में मुख्यतया ऐसे लोगों को होना चाहिए जो अपने पेशे के रूप में क्रान्तिकारी कार्य करते हों; (४) कि एकतांत्रिक राज्य में इस प्रकार के संगठन की सदस्यता को हम जितना ही अधिक ऐसे लोगों तक **सीमित** रखेंगे जो अपने पेशे के रूप में क्रान्तिकारी कार्य करते हों और जो राजनीतिक पुलिस को मात देने की विद्या सीख चुके हों, ऐसे संगठन का "सफ़ाया करना" उतना ही अधिक मुश्किल होगा; और (५) मज़दूर वर्ग तथा समाज के अन्य वर्गों के उतने ही **अधिक** लोगों के लिए यह सम्भव हो सकेगा कि वे आन्दोलन में शामिल हों और उसमें सक्रिय रूप से काम करें।

मैं अपने "अर्थवादी", आतंकवादी और "अर्थवादी-आतंकवादी"* मित्रों को निमंत्रण देता हूं कि वे इन स्थापनाओं का खंडन करें। इस समय मैं केवल अन्त की दो स्थापनाओं की चर्चा करूंगा। यह प्रश्न कि "एक दर्जन बुद्धिमानों" का सफ़ाया करना ज़्यादा आसान है या "सौ मूर्खों" का, अन्त में उस प्रश्न का

---

* 'स्वोबोदा' को आतंकवादी न कहकर शायद यह नाम देना अधिक उचित होगा, क्योंकि 'क्रान्तिवाद का पुनरुत्थान' शीर्षक लेख में उसने आतंकवाद का समर्थन किया है और जिस लेख की हम इस समय आलोचना कर रहे हैं, उसमें उसने "अर्थवाद" की हिमायत की है। 'स्वोबोदा' के बारे में कहा जा सकता है कि "यदि वह कर सकता तो ज़रूर करता, पर कर नहीं सकता है।" 'स्वोबोदा' की मंशा और इरादे बड़े भले ह–पर नतीजा होता है सरासर गड़बड़ी; और इसका मुख्य कारण यह है कि 'स्वोबोदा' संगठन के क्रम को अटूट रखना तो ज़रूरी समझता है, पर वह क्रान्तिकारी चिन्तन तथा सामाजिक-जनवादी सिद्धान्त के क्रम के अटूट रहने की आवश्यकता को नहीं मानता। वह पेशेवर क्रान्तिकारी को पुनर्जीवित करना चाहता है ('क्रान्तिवाद का पुनरुत्थान'), और इसके लिए वह एक तो जनता को उभारने के वास्ते आतंकवादी कार्यों का प्रयोग करने, और दूसरे "औसत मज़दूरों का संगठन बनाने" का सुझाव रखता है ('स्वोबोदा', अंक १, पृष्ठ ६६ और उससे आगे), क्योंकि ऐसे संगठन को "बाहर से धक्का देने" की कम सम्भावना रहेगी। दूसरे शब्दों में वह घर को गर्म रखने के लिए लकड़ी जुटाने के वास्ते घर को ही ढा देना चाहता है।

रूप धारण कर लेता है जिस पर हम ऊपर विचार कर चुके हैं, यानी यह कि जब कार्य को सख़्ती के साथ गुप्त रखना आवश्यक हो, तब क्या एक जन-**संगठन** बनाना सम्भव है? किसी जन-संगठन में हम उस हद तक बातों को गुप्त नहीं रख सकते जिसके बिना सरकार के ख़िलाफ़ दृढ़ तथा अनवरत संघर्ष चलाने का सवाल ही नहीं उठ सकता। परन्तु तमाम गुप्त कामों को पेशेवर क्रान्तिकारियों की यथासंभव छोटी से छोटी संख्या के हाथों में केन्द्रित कर देने का मतलब यह नहीं होता कि ये क्रान्तिकारी ही "सब लोगों के लिए सोचा करेंगे", और भीड़ **आन्दोलन** में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेगी। इसके विपरीत, भीड़ अपने बीच में से अधिकाधिक संख्या में पेशेवर क्रान्तिकारियों को पैदा करेगी, क्योंकि वह समझेगी कि चन्द विद्यार्थियों और आर्थिक संघर्ष चलानेवाले चन्द मज़दूरों का एक जगह जमा होकर एक "समिति" बना लेना ही काफ़ी नहीं है, बल्कि पेशेवर क्रान्तिकारी बनने के लिए वर्षों तक शिक्षा लेना आवश्यक होता है; तब भीड़ केवल नौसिखुआ तरीक़ों के ही बारे में नहीं, बल्कि ऐसी शिक्षा के बारे में भी "सोचेगी"। **संगठन** के गुप्त कामों के केन्द्रीकरण का यह मतलब कदापि नहीं होता कि **आन्दोलन** के सभी कामों का केन्द्रीकरण कर दिया जायेगा। ग़ैर-क़ानूनी अख़बार के काम में जनता का बड़ी से बड़ी संख्या में और सक्रिय रूप से भाग लेना इस बात से कोई कम नहीं हो जायेगा कि अख़बार से सम्बंधित गुप्त काम "एक दर्जन" पेशेवर क्रान्तिकारियों के हाथों में केन्द्रित रहेंगे, बल्कि इसके विपरीत दस गुना **बढ़ जायेगा**। इस प्रकार, और केवल इसी प्रकार, हम इस बात की गारंटी कर सकेंगे कि ग़ैर-क़ानूनी साहित्य को पढ़ने, उसके लिए लिखने, और कुछ हद तक उसको बांटने का भी काम **एक तरह से गुप्त काम नहीं रह जायेगा**; क्योंकि बहुत जल्द पुलिस इस नतीजे पर पहुंच जायेगी कि हज़ारों की संख्या में बंटनेवाले प्रकाशनों की एक-एक प्रति को रोकने के लिए सरकार की पूरी अदालती और प्रशासन व्यवस्था को लागू करना बेकार है। यह बात न केवल प्रकाशनों पर, बल्कि आन्दोलन के प्रत्येक पहलू पर, और यहां तक कि प्रदर्शनों पर भी लागू होती है। प्रदर्शन में जनता के बड़ी संख्या में और सक्रिय रूप से भाग लेने में कोई कमी नहीं आयेगी, बल्कि उसमें इस बात से और फ़ायदा होगा कि इस काम के सारे गुप्त पहलुओं को – परचे तैयार करना, मोटे तौर पर योजनाएं बनाना, और हर शहरी मुहल्ले, हर औद्योगिक इलाक़े तथा हर

स्कूल-कालेज के लिए नेताओं को नियुक्त करना, आदि – "एक दर्जन" ऐसे अनुभवी क्रान्तिकारियों के हाथों में केन्द्रित कर दिया जाये, जिनकी प्रशिक्षा अपने पेशे के मामले में पुलिसवालों के टक्कर की हो (मैं जानता हूं कि मेरे "ग़ैर-जनवादी" विचारों पर एतराज़ किया जायेगा, पर इस विवेकहीन एतराज़ का मैं बाद में उचित जवाब दूंगा)। यदि बहुत ही गुप्त कामों को क्रान्तिकारियों के एक संगठन के हाथों में केन्द्रित कर दिया गया तो इससे ऐसे अनेक अन्य संगठनों के कार्य के विस्तार और गुण में कोई कमी नहीं आयेगी, बल्कि इसके विपरीत उसमें बढ़ती ही होगी, जो आम जनता के लिए होते हैं और इसलिए ज़्यादा से ज़्यादा ढीले होते हैं और यथासंभव कम गुप्त होते हैं, जैसे मज़दूरों के ट्रेड-यूनियन, मज़दूरों के आत्म-शिक्षा मंडल, ग़ैर-क़ानूनी साहित्य पढ़नेवाले मंडल, समाज के अन्य **तमाम** वर्गों में काम करनेवाले समाजवादी मंडल, और जनवादी मंडल भी, इत्यादि, इत्यादि। ऐसे मंडलों, ट्रेड-यूनियनों और संगठनों को हर जगह और **बड़ी से बड़ी** संख्या में होना चाहिए और उन्हें तरह-तरह के काम करने चाहिए। पर इन संगठनों को और **क्रान्तिकारियों** के संगठन को **एक चीज़ समझना**, उनके बीच जो फ़र्क़ है उसको मिटा देना और जनता की हद दर्जे की धुंधली समझ को – जो आज भी इस बात को बहुत कम समझती है कि जन-आन्दोलन में "काम करने" के लिए कुछ ऐसे लोगों का होना ज़रूरी है जो केवल सामाजिक-जनवादी कार्य करते हों, और ऐसे लोगों को बड़े धैर्य और अध्यवसाय के साथ अपने को पेशेवर क्रान्तिकारी बनने की **शिक्षा** देनी चाहिए – और भी धुंधला बना देना बेतुकी और ख़तरनाक बात है।

हां, यह समझ अविश्वसनीय रूप से धुंधली पड़ गयी है। संगठन के मामले में हमारा सबसे बड़ा गुनाह यह है कि **हमने अपने नौसिखुएपन से रूस में क्रान्तिकारियों की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचाया है**। जो आदमी सिद्धान्त के मामले में स्थूल और ढुलमुल है, जिसका दृष्टिकोण संकुचित है, जो अपनी काहिली को छिपाने के लिए जनता की स्वयं-स्फूर्ति की दुहाई देता है, जिसमें जनता के नेता से ज़्यादा ट्रेड-यूनियन के मंत्री की झलक अधिक मिलती है, जो ऐसी किसी व्यापक तथा साहसी योजना की कल्पना करने में असमर्थ है जिसका विरोधी भी आदर करें, और जो ख़ुद अपने पेशे की कला में – राजनीतिक पुलिस को मात देने

की कला में–अनुभवहीन और फूहड़ साबित हो चुका है, जाहिर है कि ऐसा आदमी क्रान्तिकारी नहीं बल्कि कम्बख़्त नौसिखुआ है!

इन दो-टूक बातों से कोई सक्रिय कार्यकर्ता नाराज़ न हो, क्योंकि जहां तक अपर्याप्त शिक्षा का प्रश्न है, मैं सबसे पहले अपने को ऐसे लोगों में शामिल करता हूं। मैं एक मंडल में काम किया करता था[152] जिसने अपने लिए बड़ा लम्बा-चौड़ा, सर्वतोमुखी कार्यक्रम बना रखा था, और उस मंडल के सदस्य, हम सभी लोग, इस बात का एहसास करके घोर पीड़ा का अनुभव करते थे कि हम इतिहास के एक ऐसे क्षण में नौसिखुआ साबित हो रहे हैं जब कि हम एक प्रसिद्ध उक्ति को बदलकर यह कह सकते थे: "बस, हमें क्रान्तिकारियों का एक संगठन दे दो, और हम पूरे रूस को उलट देंगे!" और उन दिनों जो शर्म मुझे जलाती थी, उसकी मैं जितनी ही याद करता हूं, उतना ही मुझे उन नामधारी सामाजिक-जनवादियों पर क्रोध आता है जिनकी सीखों ने "क्रान्तिकारियों के नाम को कलंकित कर रखा है", और जो यह नहीं समझते कि हमारा काम क्रान्तिकारियों को नौसिखुओं के धरातल पर उतार लाना नहीं, बल्कि नौसिखुओं को **ऊपर उठाकर** क्रान्तिकारियों के धरातल पर पहुंचा देना है।

(घ) संगठनात्मक कार्य का विस्तार

हम ब–व से "कार्यक्षेत्र में कूदने योग्य क्रान्तिकारी शक्तियों की उस कमी" के बारे में सुन चुके हैं जो "न सिर्फ़ पीटर्सबर्ग में, बल्कि पूरे रूस में महसूस की जा रही है"। इस बात से शायद ही किसी का मतभेद होगा। परन्तु सवाल यह है कि इस कमी का कारण क्या है? ब–व लिखते हैं:

> "हम इस घटना के ऐतिहासिक कारणों की व्याख्या में नहीं जायेंगे; यहां हम केवल इतना ही कहेंगे कि वह समाज जिसका मनोबल दीर्घकालीन राजनीतिक प्रतिक्रियावाद ने तोड़ दिया हो और पुराने तथा नये आर्थिक परिवर्तनों ने जिसे छिन्न-भिन्न कर रखा हो, वह **बहुत ही छोटी संख्या में ऐसे लोगों को** अपने बीच से पैदा करता है **जो क्रान्तिकारी कार्य के योग्य हों**; मज़दूर वर्ग अवश्य कुछ ऐसे क्रान्तिकारी कायकर्ताओं को जन्म देता है जिनसे ग़ैर-क़ानूनी संगठनों को कुछ हद तक नया बल मिलता है,

परन्तु इन क्रान्तिकारियों की संख्या वक़्त की ज़रूरत को देखते हुए बहुत नाकाफ़ी होती है। इसका और कारण यह भी है कि कारख़ाने के अन्दर रोज़ाना साढ़े ग्यारह घंटे काम करनेवाले मज़दूर की स्थिति ऐसी होती है कि वह मुख्यतया आन्दोलनकर्ता का ही काम कर सकता है, लेकिन प्रचार और संगठन, ग़ैर-क़ानूनी साहित्य का पुनर्मुद्रण और वितरण, परचों का प्रकाशन, आदि ऐसी ज़िम्मेदारियां हैं जो लाज़िमी तौर पर और मुख्यतया कुछ बहुत ही थोड़े से बुद्धिजीवियों के कंधों पर आ पड़ती हैं।" ('राबोचेये देलो', अंक ६, पृष्ठ ३८-३९।)

ब–व से हमारा बहुत सी बातों पर मतभेद है। ख़ास तौर पर उन शब्दों से हमारा मतभेद है जिनपर हमने ज़ोर दिया है और जिनसे यह बात सबसे ज़्यादा साफ़ हो जाती है कि ब–व यद्यपि हमारे नौसिखुएपन से तंग आ गये हैं (जैसा कि स्थिति पर सोचनेवाला हर व्यावहारिक कार्यकर्ता तंग आ गया है), परन्तु "अर्थवाद" से दबे होने के कारण वह इस असहनीय स्थिति से निकलने का कोई रास्ता तलाश करने में असमर्थ हैं। सच बात यह है कि समाज "काम" के योग्य **बहुत से** व्यक्तियों को जन्म देता है, पर हम उन सबसे काम नहीं ले पाते। इस दृष्टि से हमारे आन्दोलन की संकटमय तथा संक्रमणकालीन अवस्था का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है: **हमें लोग नहीं मिलते – हालांकि लोग बेशुमार** हैं। लोग बेशुमार हैं क्योंकि मज़दूर वर्ग तथा समाज के अन्य विभिन्न हिस्से भी वर्ष-प्रति-वर्ष अधिकाधिक ऐसे लोगों को जन्म देते जाते हैं जो असंतुष्ट हैं और अपना असंतोष व्यक्त करना चाहते हैं, जो उस निरंकुशता के ख़िलाफ़ संघर्ष में भरसक मदद करना चाहते हैं जिसके असहनीय रूप को अभी सबने तो नहीं पहचाना है, पर जिसे बढ़ती हुई संख्या में लोग दिनोंदिन अधिक तेज़ी से महसूस करने लगे हैं। साथ ही, हमें लोग इसलिए नहीं मिलते क्योंकि हमारे पास ऐसे नेता नहीं हैं, ऐसे राजनीतिक नेता, इतने प्रतिभाशाली संगठनकर्ता नहीं हैं, जो इतने व्यापक आधार पर और साथ ही ऐसे सुचारु तथा समुचित ढंग से काम का संगठन कर सकें जिससे सभी प्रकार की शक्तियों का, यहां तक कि छोटी से छोटी और महत्वहीन शक्तियों का भी, उसमें भाग लेना सम्भव हो। "क्रान्तिकारी संगठनों की प्रगति तथा विकास" न केवल मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के विकास

की तुलना में पिछड़ा हुआ है, जिसे ब – व भी मानते हैं, बल्कि वह जनता के हर हिस्से के आम जनवादी आन्दोलन के विकास की तुलना में भी पिछड़ा हुआ है। (आज ब – व शायद यह समझेंगे कि इससे उनके निष्कर्ष की ही पुष्टि होती है।) आन्दोलन का स्वयं-स्फूर्त आधार जितना विशाल है, उसकी तुलना में क्रान्तिकारी कार्य का विस्तार बहुत संकुचित है। उसे चारों ओर से "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" के अभागे सिद्धान्त ने जकड़ रखा है। और फिर भी इस समय न सिर्फ़ सामाजिक-जनवादी राजनीतिक आन्दोलनकर्ताओं को, बल्कि सामाजिक-जनवादी संगठनकर्ताओं को भी "समाज के सभी वर्गों के बीच जाना चाहिए"*। शायद ही किसी व्यावहारिक कार्यकर्ता को इस बात में सन्देह होगा कि सामाजिक-जनवादी संगठनकर्ता अपने संगठनात्मक कार्य की हज़ारों छोटी-मोटी ज़िम्मेदारियों को विभिन्न वर्गों के अलग-अलग प्रतिनिधियों के बीच बांट सकते हैं। हरेक को एक ख़ास तरह के काम की विशेष शिक्षा न देना हमारे काम की शैली का एक सबसे गंभीर दोष है, जिसके बारे में ब–व ने भी सख़्त और सही शिकायत की है। हमारे समान लक्ष्य के लिए जितना सारा काम होता है, उसे हम जितने ही छोटे-छोटे "टुकड़ों" में बांट देंगे, और अलग-अलग टुकड़ों को करने के लिए जितने ही अधिक आदमी खोज निकालेंगे (इनमें से अधिकांश लोग ऐसे होते हैं जो क़तई पेशेवर क्रान्तिकारी नहीं बन सकते), पुलिस के लिए इन तमाम "छोटे-मोटे कामों को पूरा करनेवाले कार्यकर्ताओं" को "जाल में फंसाना" उतना ही ज़्यादा मुश्किल हो जायेगा, और तब वह किसी छोटे-से मामले में होनेवाली गिरफ़्तारी से कोई इतना बड़ा "मुक़दमा" भी न खड़ा कर सकेगी जिससे "ख़ुफ़िया पुलिस" पर सरकार के ख़र्च का कोई औचित्य साबित हो सके। जहां तक यह प्रश्न है कि

---

* मिसाल के लिए, कुछ समय से फ़ौज में फिर से जनवादी भावना का असंदिग्ध पुनरुत्थान स्पष्टतः दिखाई दे रहा है। आंशिक रूप से इसका कारण यह है कि अब उन्हें मज़दूरों और विद्यार्थियों जैसे "दुश्मनों" से ज़्यादा अधिकाधिक बार सड़कों पर लड़ना पड़ रहा है। जब हमारे उपलब्ध साधन इस बात की इजाज़त दें, तब हमें अवश्य ही फ़ौज के सिपाहियों और अफ़सरों के बीच प्रचार और आन्दोलन का कार्य करने की दिशा में तथा पार्टी से सम्बंधित "सैनिक संगठन" बनाने की ओर गम्भीरता के साथ ध्यान देना चाहिए।

कितने लोग हमारी मदद करने को तैयार हैं, तो यह हम पिछले अध्याय में ही बता चुके हैं कि इस मामले में पिछले पांच वर्षों में बहुत ज़्यादा परिवर्तन हो चुका है। दूसरी ओर, काम के इन तमाम छोटे-छोटे टुकड़ों को एक लड़ी में पिरोने के लिए, जिससे कि काम तो बंटे पर आन्दोलन न बंट जाये, और इस प्रकार के छोटे-मोटे काम करनेवालों के मन में यह विश्वास पैदा करने के लिए कि उनका काम आवश्यक और महत्वपूर्ण है, जिस विश्वास के बिना वे कभी काम न करेंगे *,

---

* मुझे इस समय एक फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर की याद आ रही है जिसके बारे में मुझे एक साथी ने बताया था। यह फ़ैक्टरी इंस्पेक्टर सामाजिक-जनवादियों की मदद करना चाहता था और वास्तव में कर भी रहा था, पर उसे इस बात की बड़ी सख्त शिकायत थी कि वह नहीं जानता कि उसकी दी हुई "इत्तिला" क्रान्तिकारी केन्द्र तक पहुंचती भी है या नहीं उसकी मदद की सचमुच कितनी ज़रूरत है और वह जो कुछ छोटी-मोटी सेवा कर सकता है, उसका उपयोग करने की क्या सम्भावनाएं हैं। इसमें शक नहीं कि हर व्यावहारिक कार्यकर्ता इसी प्रकार के अनेक उदाहरण दे सकता है कि अपने नौसिखुएपन के कारण हम कितने ही सहयोगियों को खो देते हैं। इस तरह की सेवाएं जो स्वतः तो बहुत "छोटी" होती हैं, पर मिलकर बहुत अमूल्य हो जाती हैं, न केवल कारख़ानों के दफ़्तरों के बल्कि डाक विभाग, रेल विभाग, चुंगी विभाग के कर्मचारी तथा अफ़सर भी, अभिजात वर्ग में, पादरियों में और जीवन के **प्रत्येक** क्षेत्र में, यहां तक कि पुलिस और दरबारियों में भी, ऐसे लोग हैं जो हमारी इस प्रकार की सेवाएं कर सकते हैं और करेंगे! यदि हमारे पास एक असली पार्टी होती, क्रान्तिकारियों का एक सच्चा और लड़ाकू संगठन होता, तो अपने इन तमाम "सहायकों" में से हम किसी पर भी बेजा बोझ न लादते, उन्हें हर बार जल्दी-जल्दी और प्रायः ही अपने "ग़ैर-क़ानूनी संगठन" के हृदयस्थल में घसीटने की कोशिश न करते, बल्कि इसके विपरीत, हम इन सभी कार्यकर्ताओं का बड़े ध्यानपूर्वक पोषण करते, यहां तक कि ऐसे लोगों को इस प्रकार के कामों की ख़ास तौर पर शिक्षा भी देते और यह बात सदा ध्यान में रखते कि बहुत से विद्यार्थी तब पार्टी की कहीं अधिक सेवा कर सकते हैं जब वे "अल्पकालीन" क्रान्तिकारी न बनकर किसी ओहदे या पद पर बने रहें और पार्टी का केवल "सहायक" बनना क़बूल करें। परन्तु, मैं फिर कहता हूं कि इस कार्यनीति का उपयोग करने का अधिकार केवल उसी संगठन को है जिसने अपने पैर जमा लिये हों और जिसके पास सक्रिय कार्यकर्ताओं की कोई कमी न हो।

यह ज़रूरी है कि हमारे पास परखे हुए क्रान्तिकारियों का एक मज़बूत संगठन हो। ऐसा संगठन जितना ही गुप्त होगा, जनता को पार्टी में उतना ही व्यापक और उतना ही दृढ़ विश्वास होगा, और जैसा कि हम जानते हैं, युद्ध के समय न केवल अपनी सेना का खुद अपनी शक्ति में विश्वास दृढ़ करना आवश्यक होता है, बल्कि दुश्मन को और सभी **तटस्थ** लोगों को भी इस ताक़त का यक़ीन दिलाना पड़ता है; कभी-कभी तो **कुछ शक्तियों** की मित्रतापूर्ण तटस्थता ही मामले का निपटारा कर देती है। यदि हमारे पास ऐसा संगठन हो, जो मज़बूत सैद्धान्तिक नींव पर खड़ा हो और जिसके पास एक सामाजिक-जनवादी पत्र भी हो, तो इसका कोई डर नहीं रहेगा कि आन्दोलन की ओर जो बहुत से "बाहरी" लोग आकर्षित हुए हैं, वे उसे पथभ्रष्ट कर देंगे (इसके विपरीत, ख़ास तौर पर आजकल, जब चारों ओर नौसिखुएपन का बोलबाला है, हम यह देखते हैं कि बहुत से सामाजिक-जनवादियों का झुकाव तो 'क्रीडो' की ओर है, और वे सामाजिक-जनवादी होने की केवल कल्पना करते हैं)। संक्षेप में, हर आदमी को किसी ख़ास काम पर नियुक्त करने के लिए लाज़िमी तौर से पहले केन्द्रीकरण करना आवश्यक होता है, और फिर इस ढंग से काम करना, केन्द्रीकरण करने के काम को ज़रूरी बना देता है।

ब–व अपने उपरोक्त तर्क के पहले भाग में तो हर आदमी को कोई ख़ास काम देने की आवश्यकता बहुत अच्छी तरह बताते हैं, लेकिन, हमारी राय में, उसके दूसरे भाग में इस चीज़ के महत्व को कम कर देते हैं। मज़दूर क्रान्तिकारियों की संख्या अपर्याप्त है–वह कहते हैं। यह बात एकदम सच है, और हम फिर यह बात ज़ोर देकर कहेंगे कि "एक निकटवर्ती पर्यवेक्षक ने" इस बारे में जो "मूल्यवान राय दी है", उससे सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के वर्तमान संकट के कारणों, और फलस्वरूप उन्हें दूर करने के उपायों के बारे में हमारे मत की पूर्णतया पुष्टि हो जाती है। न केवल सभी क्रान्तिकारी आम तौर पर जनता की स्वयं-स्फूर्त जागृति की तुलना में पिछड़े हुए हैं, बल्कि मज़दूर क्रान्तिकारी भी मज़दूर जनता की स्वयं-स्फूर्त जागृति की तुलना में पिछड़े हुए हैं। और यह **तथ्य** अत्यंत स्पष्ट रूप से इस बात की पुष्टि कर देता है कि मज़दूरों के प्रति हमारे कर्तव्यों को लेकर हमें अक्सर जो "शिक्षण-शास्त्र" पढ़ाया जाता है, वह न केवल व्यावहारिक दृष्टि से बेतुका है, बल्कि **राजनीतिक दृष्टि से**

प्रतिक्रियावादी भी है। इस तथ्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा सबसे पहला और सबसे ज़रूरी कर्तव्य यह है कि हम मज़दूर क्रान्तिकारियों की शिक्षा का प्रबंध करें ताकि **पार्टी कार्य के मामले में** वे उसी स्तर के साथी बन सकें जिस स्तर के साथी बुद्धिजीवियों में से आये हुए क्रान्तिकारी होते हैं ("पार्टी कार्य के मामले में" शब्दों पर हमने ज़ोर दिया है क्योंकि ज़रूरी होते हुए भी और मामलों में मज़दूरों को बुद्धिजीवियों के स्तर पर ले आना न तो इतना आसान है और न इतना ज़रूरी ही है)। अतएव, **मुख्यतया** हमें मज़दूरों को क्रान्तिकारियों के स्तर तक **उठाने** की ओर ही ध्यान देना चाहिए; हमारा काम यह कदापि नहीं है कि हम "मज़दूर जनता" के स्तर पर **उतर आयें** जैसा कि "अर्थवादी" चाहते हैं, या "औसत मज़दूर" के स्तर पर **उतर आयें** जैसा कि 'स्वोबोदा' चाहता है (और जो इस प्रकार "अर्थवादी" "शिक्षण-शास्त्र" की दूसरी श्रेणी में पहुंच जाता है)। मैं मज़दूरों के लिए लोकप्रिय साहित्य की आवश्यकता से, और विशेष रूप से पिछड़े हुए मज़दूरों के लिए विशेष प्रकार के सरल (पर ज़ाहिर है कि वह भोंड़ा न हो) साहित्य की आवश्यकता से जरा भी इनकार नहीं करता। पर मुझे जो बात बुरी लगती है, वह यह है कि "शिक्षण-शास्त्र" के प्रश्नों को सदा राजनीति और संगठन के प्रश्नों से उलझा दिया जाता है। आप महानुभाव, जो "औसत मज़दूरों" के बारे में बहुत ही चिन्ता प्रकट करते हैं, मज़दूर राजनीति तथा मज़दूर संगठन की चर्चा करते समय आप उनसे **कुछ झुककर बात करने** की अपनी इच्छा द्वारा उनका अपमान ही करते हैं। गम्भीर बातों के बारे में गम्भीरता से बातें कीजिये, और शिक्षण-शास्त्र की बातें शिक्षण-शास्त्रियों के लिए छोड़ दीजिये, राजनीतिज्ञों और संगठनकर्ताओं को उनमें न घसीटिये! क्या बुद्धिजीवियों में भी उन्नत लोग, "औसत लोग" और "आम लोग" नहीं होते? क्या हर आदमी यह नहीं मानता कि बुद्धिजीवियों के लिए भी लोकप्रिय साहित्य की आवश्यकता होती है और क्या ऐसा साहित्य लिखा नहीं जाता? मान लीजिये कि किसी ने कालेज या हाई स्कूल के विद्यार्थियों को संगठित करने के बारे में एक लेख लिखा हो और उसमें बार-बार – इस अन्दाज़ से मानो कोई नया आविष्कार किया हो – यह दुहराया गया हो कि सबसे पहले हमें "औसत विद्यार्थियों का" संगठन बनाना चाहिए। यदि कोई ऐसा लेख लिखेगा, तो उसका मज़ाक़ बनाया ही जायेगा और यह उचित भी होगा। उससे कहा जायेगा: महाशय, यदि आपके

दिमाग़ में संगठन के बारे में कुछ विचार हों तो बताइये; इसे हम ख़ुद तै कर लेंगे कि कौन "औसत दर्जे" में आता है, कौन उसके ऊपर है, और कौन औसत से नीचे है। लेकिन यदि आपके पास संगठन के बारे में **अपने** कोई विचार नहीं हैं, तो "आम लोगों" और "औसत लोगों" की इस बहस से आप केवल हमें उकता देंगे। आपको समझना चाहिए कि "राजनीति" और "संगठन" के सवाल अपने-आप में इतने गम्भीर हैं कि उनपर केवल बहुत गम्भीरता से ही विचार किया जा सकता है। हम मज़दूरों को (और विश्वविद्यालयों तथा हाई स्कूलों के विद्यार्थियों को) शिक्षा देकर इस योग्य बना सकते हैं कि हम उनके साथ इन प्रश्नों पर **चर्चा कर सकें** और हमें उन्हें ऐसी **शिक्षा** देनी चाहिए; पर जब आप एक बार इन सवालों को उठा देते हैं, तो फिर आपको उनका असली जवाब देना ही चाहिए, आप "औसत लोगों" या "आम लोगों" की आड़ नहीं ले सकते, तब आप कोरी लफ़्फ़ाज़ी करके छुटकारा पाने की कोशिश नहीं कर सकते।*

इस काम के वास्ते पूरी तरह तैयार होने के लिए मज़दूर क्रान्तिकारी को भी पेशेवर क्रान्तिकारी बनना होगा। इसलिए ब–व का यह कहना सही नहीं है कि मज़दूर चूंकि साढ़े ग्यारह घंटे कारख़ाने में बिताता है, इसलिए (एक आन्दोलन के काम को छोड़कर) बाक़ी सभी क्रान्तिकारी कामों का बोझ "**लाज़िमी तौर पर** मुख्यतया बहुत ही थोड़े से बुद्धिजीवियों के कंधों पर आ पड़ता है"। पर ऐसा होना "लाज़िमी" नहीं है। ऐसा इसलिए होता है कि हम लोग पिछड़े हुए हैं, क्योंकि हम यह नहीं मानते कि हर योग्य मज़दूर को **पेशेवर**

---

*'स्वोबोदा' ने अंक १, पृष्ठ ६६ पर 'संगठन' शीर्षक लेख में लिखा है: "मज़दूरों की सेना की पदचाप उन तमाम मांगों को बल देगी जो रूसी **श्रमिकों** की ओर से उठायी जायेंगी।" ज़ाहिर है कि श्रमिक यहां मोटे टाइप में छपा है! और यही लेखक आगे कहता है: "मैं बुद्धिजीवियों का विरोधी क़तई नहीं हूं, लेकिन" (इसी **लेकिन** शब्द का श्चेद्रिन ने यह अर्थ बताया था: कान कभी भी माथे के ऊपर नहीं निकल सकते–हरगिज़ नहीं निकल सकते!) "लेकिन मुझे इस बात पर हमेशा बहुत झुंझलाहट होती है जब कोई आकर बड़े सुन्दर और आकर्षक शब्दों में यह मांग करता है कि उनको उनकी (उसकी?) सुन्दरता और अन्य गुणों के कारण स्वीकार कर लिया जाना चाहिए।" (पृष्ठ ६२।) हां, यह मुझे भी "हमेशा बहुत बुरा लगता है।"

आन्दोलनकर्ता, संगठनकर्ता, प्रचारक, साहित्य-वितरक, आदि बनने में मदद करना हमारा कर्तव्य है। इस मामले में हम बहुत शर्मनाक ढंग से अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं; जिस वस्तु का हमें विशेष ध्यानपूर्वक पालन-पोषण करना चाहिए, उसकी देखरेख करने की हममें योग्यता नहीं है। जर्मनों को देखिये: उनके पास हमसे सौ गुनी अधिक शक्तियां हैं। परन्तु वे अच्छी तरह जानते हैं कि "औसत लोगों" के बीच से सही माने में योग्य आन्दोलनकर्ता, आदि अक्सर नहीं निकलते हैं। इसलिए वे हर योग्य मज़दूर को तुरन्त ऐसी परिस्थितियों में रखने का प्रयत्न करते हैं जिनमें वह अपनी क्षमताओं का अधिक से अधिक विकास तथा उपयोग कर सके: उसे पेशेवर आन्दोलनकर्ता बनाया जाता है, उसे अपने कार्य का क्षेत्र बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है, उसे एक कारखाने से बढ़कर पूरे उद्योग में, और एक स्थान से बढ़कर पूरे देश में अपना कार्य-क्षेत्र फैलाने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। वह अपने पेशे का अनुभव प्राप्त करता है, अपने पेशे की विद्या सीखता है, वह अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाता है और अपना ज्ञान बढ़ाता है, वह दूसरे स्थानों के और दूसरी पार्टियों के प्रमुख राजनीतिक नेताओं को नज़दीक से देखता है, वह ख़ुद भी उनके स्तर तक उठने का प्रयत्न करता है। वह मज़दूर वर्ग के वातावरण के ज्ञान तथा समाजवादी विश्वासों की ताज़गी का उस कौशल के साथ अपने में समन्वय करने की कोशिश करता है जिसके बिना सर्वहारा अपने बहुत ही दक्ष शत्रुओं के ख़िलाफ़ दृढ़ संघर्ष **नहीं चला सकता**। आम मज़दूर इसी तरह और केवल इसी तरह बेबेल और आयर जैसे आदमी पैदा करते हैं। परन्तु जो चीज़ राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र देश में बहुत बड़ी हद तक अपने आप ही हो जाती है, उसी को रूस में अपनी कोशिशों के ज़रिये और सुनियोजित ढंग से हमारे संगठनों को पूरा करना होगा। जिस मज़दूर आन्दोलनकर्ता में थोड़ी भी प्रतिभा हो और जिसके विकास करने की थोड़ी भी "आशा" हो, उसे कारख़ाने में ग्यारह घंटे रोज़ काम करने के लिए **छोड़ नहीं देना चाहिए**। हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि उसकी जीविका का भार पार्टी अपने ऊपर ले ले, वह ठीक समय पर भूमिगत हो जाये, और अपने कार्य-क्षेत्र को बदल दे अन्यथा उसका अनुभव नहीं बढ़ेगा, उसका दृष्टिकोण व्यापक नहीं बनेगा, और वह राजनीतिक पुलिसवालों के ख़िलाफ़ संघर्ष में चन्द साल भी खड़ा नहीं रह सकेगा। जैसे-जैसे मज़दूर जनता का स्वयं-स्फूर्त उभार विस्तार और

गहराई में बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे मज़दूर जनता अपने बीच से न केवल प्रतिभाशाली आन्दोलनकर्ताओं को बल्कि प्रतिभाशाली संगठनकर्ताओं, प्रचारकों और "व्यावहारिक कार्यकर्ताओं" को भी बढ़ती हुई संख्या में उत्पन्न करती जाती है– यहां "व्यावहारिक कार्यकर्ताओं" का प्रयोग हमने उसके सबसे अच्छे अर्थों में किया है (हमारे बुद्धिजीवियों में उनकी संख्या बहुत ही कम है, क्योंकि वे प्राय: रूसी स्वभाव के मुताबिक़ किसी हद तक लापरवाह और सुस्त होते हैं)। जब हमारे पास विशेष शिक्षा पाये हुए ऐसे मज़दूर क्रान्तिकारियों के दस्ते होंगे जो काफ़ी तैयारियां कर चुके होंगे (और ज़ाहिर है कि इनमें "हर प्रकार के अस्त्रधारी" क्रान्तिकारी होंगे), तब दुनिया की कोई राजनीतिक पुलिस उनका मुक़ाबला नहीं कर सकेगी, क्योंकि क्रान्ति में अटूट निष्ठा रखनेवाले इन व्यक्तियों के दस्तों को आम मज़दूरों के व्यापकतम हिस्सों का पूर्ण विश्वास प्राप्त होगा। और यह सीधे-सीधे हमारा **दोष** है कि हमने मज़दूरों को यह मार्ग अपनाने के लिए, जो उनका और "बुद्धिजीवियों" का समान मार्ग है, पेशेवर क्रान्तिकारी बनने की शिक्षा प्राप्त करने के लिए बहुत ही कम "प्रोत्साहित" किया है, और अक्सर ऐसी बातों के बारे में मूर्खतापूर्ण भाषण सुना-सुनाकर हम उन्हें पीछे घसीटते रहते हैं कि आम मज़दूर या "औसत मज़दूर" वग़ैरह किन बातों को "समझ सकते" हैं।

और मामलों की तरह इस मामले में भी, हमारे संगठनात्मक काम का विस्तार निस्सन्देह इस कारण से सीमित है कि हम अपने सिद्धान्तों तथा राजनीतिक कामों को एक छोटे दायरे तक सीमित रखते हैं (यद्यपि अधिकतर "अर्थवादी" और नौसिखुए व्यावहारिक कार्यकर्ता इस बात को नहीं समझते)। ऐसा मालूम होता है कि स्वयं-स्फूर्ति की पूजा करने की भावना के कारण उन्हें उन बातों से एक क़दम भी इधर-उधर उठाने में डर लगता है जिन्हें आम जनता "समझ सकती है", उन्हें डर लगता है कि वे कहीं जनता की तात्कालिक एवं प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की ही आधीनता से बहुत ऊपर न उठ जायें। लेकिन, महानुभावो, डरिये नहीं! याद रखिये कि संगठन के मामले में हम इतने नीचे स्तर पर खड़े हैं कि **ज़रूरत से ज्यादा ऊपर उठ सकने** का विचार तक मन में लाना मूर्खता है!

(च) "षड्यंत्रकारी" संगठन और "जनवाद"

लेकिन फिर भी हमारे बीच ऐसे बहुत से लोग हैं जो "ज़िन्दगी की आवाज़" के मामले में इतने अधिक संवेदनशील हैं कि उन्हें दुनिया में किसी चीज़ से इतना डर नहीं लगता जितना "ज़िन्दगी की आवाज़" से और जो यहां प्रतिपादित किये गये विचारों को माननेवालों पर 'नरोदनाया वोल्या-वादी' होने का और "जनवाद" को न समझने आदि का आरोप लगाते हैं। इन आरोपों की चर्चा करना आवश्यक है, क्योंकि ज़ाहिर है कि 'राबोचेये देलो' ने भी उन्हें दोहराया है।

इन पंक्तियों का लेखक अच्छी तरह जानता है कि पीटर्सबर्ग के "अर्थवादियों" ने तो 'राबोचाया गाज़ेता' पर भी नरोदनाया वोल्या-वादी होने का आरोप लगाया था (और यदि कोई 'राबोचाया गाज़ेता' की तुलना 'राबोचाया मीस्ल' से करे तो यह बात बिल्कुल समझ में आ जाती है)। इसलिए जब 'ईस्क्रा' के निकलने के कुछ समय बाद ही एक साथी ने हमें बताया कि 'क' नगर के सामाजिक-जनवादी 'ईस्क्रा' को नरोदनाया वोल्या-वादी पत्र समझते हैं, तो हमें ज़रा भी आश्चर्य नहीं हुआ। ज़ाहिर है कि हमने इस आरोप को अपनी प्रशंसा समझा, क्योंकि अर्थवादियों ने भला किस अच्छे सामाजिक-जनवादी पर नरोदनाया वोल्या-वादी होने का आरोप नहीं लगाया है?

ये आरोप एक दोहरी ग़लतफ़हमी का नतीजा हैं। एक तो हम लोगों में क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास की इतनी कम जानकारी है कि हम किसी भी ऐसे लड़ाकू केन्द्रित संगठन को, जिसने ज़ारशाही के ख़िलाफ़ दृढ़ संघर्ष करने का ऐलान किया हो, 'नरोदनाया वोल्या' का नाम दे डालते हैं। लेकिन पिछली शताब्दी के आठवें दशक में क्रान्तिकारियों ने जो शानदार संगठन बना रखा था, और जिसे हमें अपना आदर्श बनाना चाहिए, उसे नरोदनाया वोल्या-वादियों ने नहीं, बल्कि **'ज़ेम्ल्या-इ-वोल्या-वादियों'**[153] ने बनाया था और जो बाद में 'चोर्नी पेरेदेल' और 'नरोदनाया वोल्या' नामक दो दलों में बंट गया था। अतएव, लड़ाकू क्रान्तिकारी संगठन को नरोदनाया वोल्या-वादियों की कोई ख़ास चीज समझना इतिहास और तर्क दोनों की दृष्टि से बेतुकी बात है, क्योंकि **कोई भी** क्रान्तिकारी धारा, जो सचमुच लड़ना चाहती है, ऐसे संगठन के बिना अपना काम नहीं चला सकती। नरोदनाया वोल्या-वादियों ने जो ग़लती की थी, वह यह नहीं थी

कि वे अपने संगठन में **सभी** असंतुष्ट लोगों को शामिल करने की कोशिश करते थे और इस संगठन को निरंकुशता के ख़िलाफ़ निर्णायक संघर्ष की ओर ले जाना चाहते थे; नहीं, यह तो उनका मुख्य ऐतिहासिक गुण था। उनकी ग़लती यह थी कि वे एक ऐसे सिद्धान्त पर भरोसा करते थे जो अपने सार-रूप में क़तई क्रान्तिकारी नहीं था; वे या तो यह जानते नहीं थे कि विकसित होते हुए पूंजीवादी समाज के अन्दर चलनेवाले वर्ग-संघर्ष के साथ अपने आन्दोलन को अविच्छिन्न रूप से कैसे जोड़ा जाये, या ऐसा करने में वे असमर्थ थे। और मार्क्सवाद को ज़रा भी न समझने पर (या "स्त्रूवे-वाद" की भावना से "समझने" पर) ही कोई यह राय बना सकता है कि मज़दूर वर्ग के स्वयं-स्फूर्त जन-आन्दोलन का जन्म हो जाने के कारण हमें क्रान्तिकारियों का उतना ही अच्छा – बल्कि उससे भी अच्छा – संगठन बनाने के काम से **छुटकारा** मिल गया है, जितना अच्छा संगठन 'ज़ेम्ल्या-इ-वोल्या' ने बनाया था। इसके विपरीत, यह आन्दोलन तो इस काम को हमारा कर्तव्य **बना देता है**; क्योंकि जब तक सर्वहारा के इस स्वयं-स्फूर्त संघर्ष का नेतृत्व क्रान्तिकारियों का एक मज़बूत संगठन नहीं करेगा, तब तक यह संघर्ष सच्चा "वर्ग-संघर्ष" नहीं बन सकता।

दूसरी बात यह है कि बहुत से लोग, जिनमें स्पष्टतः ब० क्रिचेव्स्की (देखिये: 'राबोचेये देलो', अंक १०, पृष्ठ १८) भी शामिल हैं, सामाजिक-जनवादियों की उन दलीलों का ग़लत मतलब लगाते हैं जिन्हें वे राजनीतिक संघर्ष के बारे में "षड्यंत्रकारी" दृष्टिकोण के ख़िलाफ़ सदा देते आये हैं। राजनीतिक संघर्ष को एक षड्यंत्र* तक **सीमित करने** का हमने सदा विरोध किया है, और ज़ाहिर है कि आगे भी उसका विरोध करते रहेंगे। पर, ज़ाहिर है कि इसका मतलब यह नहीं कि हम एक मज़बूत क्रान्तिकारी संगठन की ज़रूरत से इनकार करते हैं। और मिसाल के लिए, उपरोक्त टिप्पणी में जिस पुस्तिका का ज़िक्र किया गया है, उसमें राजनीतिक संघर्ष को एक षड्यंत्र तक सीमित करने के ख़िलाफ़ दलीलें देने के बाद (सामाजिक-जनवादी आदर्श के रूप में) एक इतने शक्तिशाली संगठन का विवरण दिया गया है जो "निरंकुशता को चकनाचूर करने

---

*देखिये: 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के कार्य', पृष्ठ २१, प० ल० लावरोव के ख़िलाफ़ दी गयी दलीलें।

के लिए" "विद्रोह का ... सहारा" ले सके और दूसरा "हर तरह का हमला" संगठित कर सके*। यदि संगठन के **रूप** को लिया जाये, तो एक ऐसे देश में जहां एकतांत्रिक राज्य है, एक मज़बूत क्रान्तिकारी संगठन को "षड्यंत्रकारी" संगठन भी कहा जा सकता है, क्योंकि फ़्रांसीसी भाषा के शब्द "कंसपिरेशन" (षड्यंत्रकारिता) का अर्थ लगभग वही होता है जो रूसी भाषा के शब्द "ज़ागोवोर" (षड्यंत्र) का होता है; और इस प्रकार के संगठन की बातों को अत्यन्त गुप्त रखना आवश्यक होता है। इस प्रकार के संगठन के लिए अपनी बातों को गुप्त रखना इतना आवश्यक होता है कि बाक़ी तमाम परिस्थितियों को (कितने सदस्य हों, वे कैसे चुने जायें, उनके क्या काम हों, आदि) इसी बात को ध्यान में रखते हुए तै करना पड़ता है। इसलिए इस आरोप से डर जाना हद दर्जे का भोलापन है कि हम सामाजिक-जनवादी लोग एक षड्यंत्रकारी संगठन खड़ा करना चाहते हैं। "अर्थवाद" के प्रत्येक विरोधी के लिए यह आरोप भी उतने ही हर्ष का विषय होना चाहिए जितना कि 'नरोदनाया वोल्या' के अनुयायी होने का आरोप।

एतराज़ किया जा सकता है कि इतने शक्तिशाली और इतने गुप्त संगठन के लिए, जिसके हाथों में गुप्त कार्य के सारे सूत्र केन्द्रित होंगे और जो लाज़िमी तौर पर एक केन्द्रीभूत संगठन होगा, यह ग़लती करना बहुत ही आसान होगा

---

*'रूसी सामाजिक-जनवादियों के कार्य', पृष्ठ २३। यहां हम इस बात का एक और उदाहरण देंगे कि या तो **'राबोचेये देलो'** इसे नहीं समझता कि वह क्या कह रहा है, या वह "हवा के साथ" रुख़ बदलता रहता है। 'राबोचेये देलो' के अंक १ में हम यह वाक्य मोटे अक्षरों में लिखा पाते हैं: "**इस पुस्तिका में जो विचार प्रकट किये गये हैं, उनका सार-तत्व बिल्कुल वही है जो कि 'राबोचेये देलो' के सम्पादकीय कार्यक्रम में दिया गया है।**" (पृष्ठ १४२) क्या सचमुच ऐसी बात है? क्या यह विचार कि जन-आन्दोलन का प्राथमिक काम एकतंत्र को उलटना नहीं होना चाहिए, 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के कार्य' शीर्षक पुस्तिका के विचारों से मिलता है? क्या "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" का सिद्धान्त, और मंज़िलों वाला सिद्धान्त भी, इस पुस्तिका के विचारों से मिलते हैं? इस बात का फ़ैसला हम स्वयं पाठकों पर छोड़ देते हैं कि क्या एक ऐसे मुखपत्र के, जो "बिल्कुल वही होने" का मतलब यह समझता हो, अपने कोई दृढ़ सिद्धान्त हो सकते हैं।

कि वह समय से पहले ही हमला कर बैठे, राजनीतिक असंतोष तथा मज़दूर वर्ग की बेचैनी तथा क्रोध की उग्रता बढ़ने के स्तर के अनुसार ऐसा हमला संभव और ज़रूरी होने से पहले ही बिना सोचे-समझे आन्दोलन को तेज़ कर दे। इसके जवाब में हम यह कहते हैं: ज़ाहिर है कि मोटे रूप में इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि कोई लड़ाकू संगठन बिना सोचे-समझे ऐसी लड़ाई शुरू **कर सकता है**, जिसमें संभव है उसकी पराजय हो और जिसे शायद किसी और परिस्थिति में टालना सम्भव होता। परन्तु ऐसे सवाल पर हम केवल हवाई तर्क करने तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकते, क्योंकि यों तो हर लड़ाई में पराजय की संभावना निहित रहती है, और इस सम्भावना को **कम करने** का इसके सिवा और कोई तरीक़ा नहीं है कि लड़ाई के लिए संगठित रूप से तैयारी की जाये। लेकिन, यदि हम रूस में इस समय पायी जानेवाली ठोस परिस्थितियों पर विचार करें, तो हम इसी ठोस नतीजे पर पहुंचने के लिए मजबूर होंगे कि एक मज़बूत क्रान्तिकारी संगठन ठीक इसीलिए नितान्त आवश्यक है कि वह आन्दोलन में दृढ़ता पैदा कर सके, और उसे समय से पहले हमले कर बैठने की ग़लती से **बचा सके**। और यह वर्तमान समय की ही विशेषता है कि जब अभी इस प्रकार का कोई संगठन मौजूद नहीं है, और क्रान्तिकारी आन्दोलन तेज़ी से और स्वयं-स्फूर्त ढंग से बढ़ रहा है, तभी एक-दूसरे के बिल्कुल उल्टे दो दृष्टिकोण (जो, जैसा कि उम्मीद करनी चाहिए, आगे चलकर "मिल जाते" हैं) **अभी से दिखाई देने लगे हैं**: अर्थात् एक ओर बिल्कुल बेतुका "अर्थवाद" है और नरमी के उपदेश हैं, और दूसरी ओर उतना ही बेतुका "उकसावा देनेवाला आतंकवाद" है जो "एक ऐसे आन्दोलन में – जो बढ़ रहा है और मज़बूत हो रहा है, पर जो अभी अपने अन्त की अपेक्षा अपने आरंभ के अधिक निकट है – उसके समाप्त होने के चिन्ह बनावटी तरीक़े से पैदा करने की कोशिश करता है।" (व० ज़ासुलिच, 'ज़ार्या', अंक २-३, पृष्ठ ३५३।) और 'राबोचेये देलो' के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे सामाजिक-जनवादी **अभी से मौजूद हैं** जो दोनों ही प्रकार की अति के शिकार हो जाते हैं। और बातों के अलावा, यह इसलिए भी कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि "मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ आर्थिक संघर्ष" से क्रान्तिकारियों को सन्तोष **कभी नहीं हो सकता**, और इस प्रकार के परस्पर विरोधी चरमपंथी दृष्टिकोणों का कहीं-कहीं

दिखायी पड़ने लगना अवश्यम्भावी होता है। बिना सोचे-समझे हमला कर बैठने से आन्दोलन की रक्षा और सफलता की आशा रखनेवाले हमलों की तैयारियां केवल एक ऐसा केन्द्रित और लड़ाकू संगठन ही कर सकता है, जो दृढ़ता के साथ सामाजिक-जनवादी नीति पर चलता हो, और जो मानो समस्त क्रान्तिकारी आकांक्षाओं और भावनाओं को संतुष्ट करता हो।

एक और एतराज़ किया जा सकता है। वह यह कि यहां संगठन के विषय में जो विचार व्यक्त किये गये हैं, वे "जनवाद के सिद्धान्तों" के ख़िलाफ़ पड़ते हैं। अब जहां कि पहला एतराज़ ख़ास तौर पर रूसी एतराज़ था, वहां यह एतराज़ **ख़ास तौर पर विदेशी** एतराज़ है। और केवल विदेशों में काम करनेवाला कोई संगठन ('रूसी सामाजिक-जनवादियों का संघ') ही अपने सम्पादक-मंडल को इस तरह की हिदायतें दे सकता था:

> "**संगठन के सिद्धान्त**। सामाजिक-जनवाद को सफलतापूर्वक विकसित और एकबद्ध करने के लिए पार्टी संगठन के व्यापक जनवादी सिद्धान्तों पर ज़ोर देना चाहिए, उनको विकसित करना चाहिए और उनके लिए लड़ना चाहिए। और यह इसलिए ख़ास तौर पर ज़रूरी हो गया है कि हमारी पार्टी के अन्दर कुछ जनवाद-विरोधी प्रवृत्तियां प्रकट हुई हैं।" ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ १८।)

अगले अध्याय में हम देखेंगे कि 'ईस्क्रा' की "जनवाद-विरोधी प्रवृत्तियों" से 'राबोचेये देलो' कैसे लड़ता है। फ़िलहाल हम केवल उस "सिद्धान्त" पर अधिक निकट से विचार करेंगे जिसे "अर्थवादी" लोग पेश करते हैं। यह बात शायद हरेक आदमी मानेगा कि "व्यापक जनवादी सिद्धान्त" के लिए पहले निम्नलिखित दो बातों का होना ज़रूरी है: एक, पूरी तरह प्रचार, और दूसरी, सभी पदों के लिए चुनाव। बिना प्रचार के, अर्थात् बिना ऐसे प्रचार के जो संगठन के सदस्यों तक ही सीमित न हो, जनवाद की कल्पना नहीं की जा सकती। हम जर्मन समाजवादी पार्टी को जनवादी संगठन इसलिए कहते हैं, कि वह जो कुछ करती है, सब खुलेआम करती है, यहां तक कि उसकी पार्टी कांग्रेस भी खुलेआम ही होती है। लेकिन ऐसे संगठन को कोई जनवादी नहीं कहेगा जो अपने

सदस्यों के अलावा और सब लोगों की नज़रों से गोपनीयता के परदे के पीछे छुपा रहता हो। इसलिए, "**व्यापक** जनवादी सिद्धान्त" को पेश करने से क्या लाभ है, जबकि गुप्त संगठन इस सिद्धान्त की बुनियादी शर्त को **पूरा नहीं कर सकता**? अतः "व्यापक सिद्धान्त" सुनने में गम्भीर, पर अन्दर से अर्थहीन शब्द साबित होते हैं। यही नहीं, उनसे इस समझ का भी पूर्ण अभाव प्रकट होता है कि संगठन के मामले में इस समय हमारे सामने ज़रूरी काम कौनसे हैं। हर आदमी जानता है कि हमारे क्रान्तिकारियों में "व्यापक रूप से" अपनी बातों को गुप्त रखने की कितनी कमी है। हम इस मामले में ब–व की कटु शिकायतों को सुन चुके हैं और हम उनकी इस सर्वथा न्यायोचित मांग से भी परिचित हैं कि "सदस्यों का चुनाव करते समय बड़ी सख़्ती बरतना चाहिए"। ('राबोचेये देलो', अंक ६, पृष्ठ ४२।) लेकिन फिर भी कुछ ऐसे लोग हैं जो "वास्तविकता का गहरा ज्ञान" रखने का दावा करते हैं, मगर आजकल की जैसी परिस्थिति में भी वे बातों को अधिक से अधिक गुप्त रखने पर नहीं, और सदस्यों का चुनाव करते समय ज़्यादा से ज़्यादा सख़्ती बरतने (और इसलिए, अपेक्षाकृत अधिक सीमित क्षेत्र से सदस्यों को चुनने) पर नहीं, बल्कि "**व्यापक** जनवादी सिद्धान्त" **पर ज़ोर** देते हैं! एकदम बिना पर की उड़ान इसी को कहा जाता है!

जनवाद के दूसरे लक्षण, यानी चुनाव के सिद्धान्त के विषय में भी स्थिति कुछ इससे बेहतर नहीं है। राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र देशों में लोग इस चीज़ को मानकर चलते हैं। जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी की नियमावली की धारा १ में लिखा है: "पार्टी की सदस्यता उन लोगों के लिए खुली है जो पार्टी कार्यक्रम के सिद्धान्तों को मानते हैं और पार्टी की हर मुमकिन मदद करते हैं।" और चूंकि पूरा राजनीतिक मैदान उसी तरह जनता की नज़रों के सामने रहता है जैसे नाट्यमंच दर्शकों की नज़रों के सामने, इसलिए अख़बारों तथा सार्वजनिक सभाओं से सबको मालूम होता रहता है कि कौन इन सिद्धान्तों को मानता है और कौन नहीं मानता, कौन पार्टी की मदद करता है और कौन उसका विरोध करता है। यह हर आदमी को मालूम रहता है कि अमुक राजनीतिक नेता ने अपना राजनीतिक जीवन किस प्रकार आरम्भ किया, उसका विकास किस तरह हुआ, जब परीक्षा की घड़ी आयी तो उसका व्यवहार कैसा रहा, और उसमें कौन-कौनसे गुण हैं, और इसलिए पार्टी के **सभी** सदस्य तमाम बातों की जानकारी रखते

हुए उस व्यक्ति को पार्टी में किसी पद के लिए चुन सकते हैं या चुनने से इंकार कर सकते हैं। राजनीतिक क्षेत्र में चूंकि पार्टी के लोगों के हर काम पर (अक्षरशः) सार्वजनिक नियंत्रण रहता है, इसलिए इस क्षेत्र में भी अपने आप काम करनेवाला वह यंत्र तैयार हो जाता है जिसे हम जीव-विज्ञान में "योग्यतम की जीत" का सिद्धान्त कहते हैं। पूरे प्रचार, चुनाव तथा सार्वजनिक नियंत्रण के द्वारा होनेवाला यह "प्राकृतिक चुनाव" इस बात की गारंटी कर देता है कि अन्तिम विश्लेषण में हर राजनीतिक नेता अपने "उचित स्थान पर" पहुंच ही जायेगा, उसे वही काम मिलेगा जो उसकी योग्यता तथा क्षमता को देखते हुए उसके लिए सबसे अधिक उपयुक्त होगा, वह अपने ऊपर अपनी ग़लतियों का असर महसूस करेगा और वह सारी दुनिया के सामने साबित कर दिखायेगा कि उसमें ग़लतियों को पहचानने और उनसे बचने की कितनी योग्यता है।

इस चित्र को ज़रा हमारे एकतंत्र के चौखटे में फ़िट करने की कोशिश करके तो देखिये! क्या हम रूस में इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि वे तमाम लोग जो "पार्टी कार्यक्रम के सिद्धान्तों को मानते हैं और पार्टी की हर मुमकिन मदद करते हैं," गुप्त रूप से कार्यरत क्रान्तिकारी के प्रत्येक क़दम पर नियंत्रण रख सकते हैं? क्या यह सम्भव है कि सभी क्रान्तिकारी मिलकर अपने एक साथी को किसी पद के लिए चुन लें, जब कि स्वयं कार्य के हित में यह आवश्यक होता है कि उस साथी का असली नाम और पता कम से कम "कुल" दस में से नौ क्रान्तिकारियों से **ज़रूरी तौर पर** छिपा रहे? 'राबोचेये देलो' जिन भारी-भरकम शब्दों का प्रयोग करता है, थोड़ा उनके असली अर्थ पर विचार कीजिये और आपको मालूम हो जायेगा कि जब चारों ओर एकतंत्र का अंधकार छाया हो और राजनीतिक पुलिस छांट-छांटकर लोगों को गिरफ़्तार कर रही हो, उस समय पार्टी के संगठन में "व्यापक जनवाद" **एक बेकार और हानिकारक खिलौने** से अधिक कुछ नहीं हो सकता। यह एक बेकार खिलौना है, क्योंकि सच्ची बात यह है कि लाख इच्छा के बावजूद **व्यापक** जनवाद के सिद्धान्त पर कोई क्रान्तिकारी संगठन न तो कभी चला है और न चल ही सकता था। यह एक हानिकारक खिलौना है, क्योंकि "व्यापक जनवादी सिद्धान्त" पर चलने की यदि ज़रा भी कोशिश की गयी तो उससे केवल पुलिस को ही बड़े पैमाने पर छापे मारने में मदद मिलेगी, उससे मौजूदा नौसिखुआपन हमेशा के लिए क़ायम रहेगा, उससे व्यावहारिक

कार्यकर्ताओं का ध्यान अपने को पेशेवर क्रान्तिकारियों के रूप में शिक्षित करने के बहुत ही गम्भीर और आवश्यक काम से हट जायेगा और वे चुनाव व्यवस्था के "काग़ज़ी" नियम तैयार करने में व्यस्त हो जायेंगे। "जनवाद का खेल" केवल विदेशों में ही, जहां ऐसे लोग अक्सर आपस में मिलते रहते हैं जिन्हें वास्तविक और सजीव काम करने का अवसर नहीं मिलता, कहीं-कहीं ही, ख़ास तौर पर विभिन्न छोटे-मोटे दलों में ही खेला जाता है।

क्रान्तिकारी मामलों में ऊपर से विवेकपूर्ण मालूम पड़नेवाला जनवाद का यह "सिद्धान्त" ला घुसेड़ने का 'राबोचेये देलो' का यह प्रिय हथकंडा कितना विवेकहीन है, यह दिखाने के लिए हम फिर एक गवाह पेश करेंगे। यह गवाह हैं लन्दन से निकलनेवाली पत्रिका 'नकानूने' के सम्पादक ए० सेरेब्रियाकोव। इन महाशय के हृदय में 'राबोचेये देलो' के लिए एक बड़ी कोमल भावना है, और प्लेख़ानोव तथा "प्लेख़ानोव-वादियों" के लिए गहरी घृणा भी है। विदेश स्थित 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' में जो फूट पड़ गयी थी, उसके विषय में अपने लेखों के द्वारा 'नकानूने' ने निश्चित रूप से 'राबोचेय देलो' का समर्थन किया था और प्लेख़ानोव पर गालियों की बौछार की थी। इसलिए जिस प्रश्न पर हम विचार कर रहे हैं, उसके बारे में इस गवाह का मूल्य और भी बढ़ जाता है। 'नकानूने' के अंक ७ (जुलाई १८९९) में ए० सेरेब्रियाकोव का एक लेख 'मज़दूरों के आत्म-मुक्ति दल का घोषणापत्र' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने कहा है कि "एक गम्भीर क्रान्तिकारी आन्दोलन में आत्म-प्रवंचना, नेतृत्व और तथाकथित एरियोपेगस* के बारे में बातें करना अशोभनीय" है। और बातों के अलावा इस लेख में ए० सेरेब्रियाकोव ने यह भी लिखा था:

"मिश्किन, रोगाचोव, जेल्याबोव, मिख़ाइलोव, पेरोव्स्काया, फ़िगनेर, आदि ने अपने को कभी नेता नहीं समझा और न कभी उन्हें किसी ने नेता चुना या नियुक्त किया था, हालांकि सच यह है कि वे नेता थे, क्योंकि प्रचार-कार्य के काल में, और सरकार के ख़िलाफ़ संघर्ष के काल

---

*एरियोपेगस: ऐथंस का सर्वोच्च न्यायालय जिसका इजलास एरियो नामक पहाड़ी पर होता था। — अनु०

में भी, काम का सारा बोझ यही लोग अपने कंधों पर संभालते थे, सबसे ख़तरनाक जगहों में ये ही लोग जाते थे, और सबसे अधिक लाभ इन्हीं लोगों के कामों से होता था। वे नेता इसलिए नहीं बन गये कि वे नेता होना चाहते थे, वल्कि इसलिए कि उनके साथियों को उनकी बुद्धिमानी, उनकी क्रियाशीलता और वफ़ादारी में विश्वास था। यह डर (क्योंकि यदि आप डरते नहीं तो इसकी इतनी चर्चा क्यों कर रहे हैं?) कि कोई एरियोपेगस आन्दोलन का मनमाने ढंग से संचालन किया करेगा—यह तो भोलेपन की हद है! उसका कहना कौन मानेगा?"

हम पाठक से पूछते हैं कि यह "एरियोपेगस" "जनवाद-विरोधी प्रवृत्तियों" से किस प्रकार भिन्न है? और क्या यह स्पष्ट नहीं है कि 'राबोचेये देलो' का "विवेकसंगत" संगठन का सिद्धान्त भी उतना ही विवेकहीन और अशोभनीय है? वह विवेकहीन इसलिए है कि "एरियोपेगस" का या "जनवाद-विरोधी प्रवृत्तियां" रखनेवाले व्यक्तियों का तब तक कोई कहना नहीं मानेगा, जब तक कि "उनके साथियों को उनकी बुद्धिमानी, क्रियाशीलता और वफ़ादारी में विश्वास" नहीं होगा; वह अशोभनीय इसलिए है कि इस सिद्धान्त के ज़रिए कुछ लोगों की घमंड की भावना उकसाने, हमारे आन्दोलन की वास्तविक स्थिति के बारे में कुछ लोगों के अज्ञान से फ़ायदा उठाने, और कुछ दूसरे लोगों के शिक्षा के अभाव तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास के बारे में उनके अज्ञान से फ़ायदा उठाने की, और इस प्रकार अपना मतलब साधने की पाखंडपूर्ण कोशिश की गयी है। हमारे आन्दोलन के सक्रिय कार्यकर्ताओं के लिए संगठन का एकमात्र सच्चा सिद्धान्त यही होना चाहिए कि वे संगठन की बातों को सख़्ती के साथ गुप्त रखें, सदस्यों का चुनाव करते समय ज़्यादा से ज़्यादा सख़्ती बरतें, और उन्हें शिक्षा देकर पेशेवर क्रान्तिकारी बनायें। इतना हो जाये तो "जनवाद" से भी बड़ी एक चीज़ की हमारे लिए गारंटी हो जायेगी; वह यह कि क्रान्तिकारियों के बीच सदा पूर्ण, भ्रातृत्वपूर्ण और पारस्परिक विश्वास क़ायम रहेगा। और यह हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि रूस में इसके स्थान पर सार्वजनिक जनवादी नियंत्रण स्थापित करने का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता। और यह समझना एक बड़ी ग़लती होगी कि सच्चा "जनवादी" नियंत्रण क़ायम करना चूंकि असम्भव है, इसलिए

क्रान्तिकारी संगठन के सदस्यों पर किसी प्रकार का भी नियंत्रण नहीं रहेगा। उनके पास जनवाद के (साथियों के एक ऐसे घनिष्ठ और गठे हुए दल में सीमित जनवाद जिसके सब सदस्यों का एक-दूसरे पर पूर्ण विश्वास रहता है) खिलौनों जैसे रूपों के बारे में सोचने का समय नहीं होता, पर उनमें अपनी **ज़िम्मेदारी** की बड़ी सजीव भावना होती है, क्योंकि वे अपने अनुभव से जानते हैं कि सच्चे क्रान्तिकारियों का संगठन एक अवांछित सदस्य से छुटकारा पाने के लिए बड़े से बड़ा क़दम उठाने में भी नहीं हिचकता। इसके अलावा, रूस के (और अन्तर्राष्ट्रीय) क्रान्तिकारी हल्क़ों में काफ़ी विकसित ऐसा जनमत भी पाया जाता है, जिसके पीछे एक लम्बा इतिहास है, और जो साथियों के प्रति अपने कर्तव्य की हर अवहेलना के लिए बहुत सख़्ती और निर्ममता के साथ दंड देता है (और "जनवाद" – खिलौना जनवाद नहीं बल्कि सच्चा जनवाद – भ्रातृत्व की अवधारणा का निश्चय ही एक अभिन्न अंग होता है!)। यदि आप इन सब बातों का ध्यान रखिये, तो आप समझ जायेंगे कि इस सारी चर्चा से और "जनवाद-विरोधी प्रवृत्तियों" के बारे में इन तमाम प्रस्तावों से नेताशाही के उस नाटक की फफूंदी जैसी बदबू आती है जो विदेशों में अक्सर खेला जाता है!

यह बताना भी ज़रूरी है कि इस प्रकार की बातचीत का एक दूसरा कारण भोलापन है, जो जनवाद के अर्थ के बारे में तरह-तरह के विचारों के उलझाव से उत्पन्न होता और बढ़ता है। ब्रिटेन के ट्रेड-यूनियनों के बारे में श्रीयुत तथा श्रीमती वेब ने जो पुस्तक लिखी है उसमें एक दिलचस्प अध्याय है, जिसका शीर्षक है: 'आदिम जनवाद'। इस अध्याय में लेखकों ने बताया है कि ब्रिटेन में अपने ट्रेड-यूनियनों के अस्तित्व के पहले काल में वहां के मज़दूर जनवाद के लिए यह बात नितान्त आवश्यक समझते थे कि यूनियन की व्यवस्था का सारा काम उसके सारे सदस्य करें; न सिर्फ़ तमाम सवाल सभी सदस्यों की वोट से तै होते थे, बल्कि यूनियन के पदाधिकारियों के तमाम काम भी सभी सदस्य बारी-बारी से करते थे। एक लम्बे ऐतिहासिक अनुभव के बाद ही मज़दूरों की समझ में यह बात आ सकी कि जनवाद की यह अवधारणा कितनी बेतुकी है, और उन्होंने यह समझा कि एक ओर प्रतिनिधि संस्थाओं तथा दूसरी ओर सारा समय देनेवाले पदाधिकारियों का इस्तेमाल करना कितना ज़रूरी है। जब अनेकों ट्रेड-यूनियनों का आर्थिक दिवाला निकल गया, तब कहीं जाकर मज़दूरों की समझ में यह बात

ग्रायी कि यूनियन के सदस्यों से लिये जानेवाले चन्दे ग्रौर उनको दी जानेवाली सहायता का ग्रनुपात केवल जनवादी वोट से निश्चित नहीं हो सकता, बल्कि उसके लिए बीमा के विशेषज्ञों से परामर्श करना भी ग्रावश्यक है। संसदवाद ग्रौर जनता द्वारा क़ानून बनाये जाने के बारे में काउत्स्की ने जो पुस्तक लिखी है, उसको भी ले लीजिये, ग्राप देखेंगे कि इस मार्क्सवादी सिद्धान्तवेत्ता ने वे ही निष्कर्ष निकाले हैं, जिनपर "स्वयं-स्फूर्त" ढंग से ग्रपना संगठन करनेवाले मज़दूर ग्रनेक वर्षों के व्यावहारिक ग्रनुभव के बाद पहुंचे हैं। काउत्स्की ने जनवाद के विषय में रिट्टिंगहोसेन की ग्रादिम धारणा का सख़्ती के साथ विरोध किया है। उन्होंने उन लोगों का मज़ाक़ उड़ाया है जो जनवाद के नाम पर यह मांग करते हैं कि "लोकप्रिय ग्रख़बारों का सम्पादन सीधे जनता को करना चाहिए"। काउत्स्की ने साबित कर दिया है कि सर्वहारा वर्ग-संघर्ष के सामाजिक-जनवादी नेतृत्व के **लिए पेशेवर** पत्रकारों, धारासभा के सदस्यों, ग्रादि का होना क्यों ग्रावश्यक है, उन्होंने उन "ग्रराजकतावादियों ग्रौर साहित्यकारों के समाजवाद" की कटु ग्रालोचना की है जो "रोब जमाने के लिए" कहते फिरते हैं कि क़ानून बनाने का काम तो सीधे सारी जनता को सौंप देना चाहिए, ग्रौर जो यह समझने में बिल्कुल ग्रसमर्थ हैं कि ग्राधुनिक समाज में इस विचार पर केवल एक सीमा तक ही ग्रमल किया जा सकता है।

जो लोग हमारे ग्रान्दोलन में व्यावहारिक काम कर चुके हैं, वे जानते हैं कि ग्राम विद्यार्थियों ग्रौर मज़दूरों में जनवाद की यह "ग्रादिम" धारणा कितनी ग्रधिक प्रचलित है। कोई ग्राश्चर्य नहीं कि यह धारणा संगठन के नियमों ग्रौर साहित्य में भी प्रवेश कर जाती है। बर्न्सटीन-पंथी "ग्रर्थवादियों" ने ग्रपने नियमों में एक यह धारा भी शामिल की थी: "धारा १०: यूनियन के पूरे संगठन के हितों से सम्बंध रखनेवाले तमाम मामलों का फ़ैसला यूनियन के तमाम सदस्यों के बहुमत से होगा।" ग्रौर इन लोगों की बात को दोहराते हुए ग्रातंकवादी मत के "ग्रर्थवादियों" ने यह नियम बनाया: "समिति का निर्णय केवल उसी समय ग्रमल में ग्रायेगा जब पहले उसे तमाम मंडलों में घुमा दिया गया होगा" ('स्वोबोदा', ग्रंक १, पृष्ठ ६७)। यह बात ध्यान देने की है कि सभी सदस्यों का व्यापक मत-संग्रह करानेवाली यह धारा इस मांग के **ग्रलावा** है कि **पूरा** संगठन चुनाव के सिद्धान्त के ग्राधार पर खड़ा किया जाये! ज़ाहिर है कि इस बिना पर

हम उन व्यावहारिक कार्यकर्ताओं की निन्दा नहीं करेंगे जिन्हें सच्चे जनवादी संगठनों के सिद्धान्त तथा व्यवहार के अध्ययन का बहुत कम अवसर मिला है। लेकिन जब नेतृत्व करने का दावा रखनेवाला 'राबोचेये देलो' ऐसी परिस्थितियों में भी अपने को व्यापक जनवादी सिद्धान्त के एक प्रस्ताव तक सीमित रखता है, तब इसे महज़ दूसरों पर अपना "रोब जमाने की कोशिश" करने के अलावा और क्या कहा जा सकता है?

(छ) स्थानीय तथा अखिल-रूसी कार्य

हमने यहां संगठन की जिस योजना की रूपरेखा दी है, उसपर यह एतराज़ करना कि यह योजना जनवाद के सिद्धान्तों के खिलाफ़ जाती है और यह एक षड्यंत्रकारी संगठन खड़ा करने की योजना है, बिल्कुल निराधार बातें हैं। फिर भी एक सवाल रह जाता है जो अक्सर उठाया जाता है और जिसपर विस्तार से विचार करना ज़रूरी है। वह सवाल है स्थानीय काम और अखिल-रूसी काम के पारस्परिक सम्बंध का। इस बात का भय प्रकट किया जाता है कि एक केन्द्रित संगठन के बनने से हो सकता है कि स्थानीय काम के मुक़ाबले में अखिल-रूसी काम को ज़्यादा महत्व दिया जाने लगे, मज़दूर आन्दोलन को धक्का पहुंचे, आम मज़दूरों से हमारा सम्पर्क कमज़ोर हो, और स्थानीय आन्दोलन की जड़ें आम तौर पर कमज़ोर हों। इस एतराज का हम यह जवाब देते हैं कि पिछले चन्द वर्षों से हमारे मज़दूर आन्दोलन की यही कमज़ोरी रही है कि हमारे स्थानीय कार्यकर्ता स्थानीय काम में बहुत ज़्यादा डूबे हुए रहे हैं; और इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि अब देशव्यापी काम को थोड़ा ज़्यादा महत्व दिया जाये और इससे हमारे स्थानीय आन्दोलन का तार और उसके साथ हमारा नाता टूटने या कमज़ोर होने के बजाय और मज़बूत बनेगा। केन्द्रीय और स्थानीय अख़बारों के सवाल को लीजिये। पाठकों से मैं चाहूंगा कि वे इस बात को न भूलें कि हम यहां अख़बारों के प्रकाशन के सवाल को एक **मिसाल** के तौर पर ही ले रहे हैं, जिससे आम क्रान्तिकारी कार्य के प्रश्न पर भी प्रकाश पड़ता है, जो कहीं अधिक व्यापक और वैविध्यपूर्ण होता है।

जन-आन्दोलन के पहले काल में (१८९६-९८) पार्टी के स्थानीय कार्यकर्ताओं ने 'राबोचाया गाज़ेता' नामक एक अखिल-रूसी पत्र निकालने की कोशिश की।

उसके बाद के काल में (१८६८-१६००) वैसे तो आन्दोलन ने बहुत प्रगति की, पर नेताओं का ध्यान पूरे तौर से स्थानीय पत्रों में ही लगा रहा। कुल जितने स्थानीय पत्र निकाले गये, यदि हम उन्हें गिनें, तो पता चलेगा* कि फ़ी महीने एक अंक का औसत पड़ता है। क्या इससे हमारा नौसिखुआपन एकदम साफ़ नहीं हो जाता? क्या इससे यह बात एकदम साफ़ नहीं हो जाती कि आन्दोलन की स्वयं-स्फूर्त प्रगति की तुलना में हमारा क्रान्तिकारी संगठन बहुत पिछड़ा है? यदि **इतनी ही संख्या में** अंक जगह-जगह बिखरे हुए स्थानीय दलों द्वारा न निकाले जाकर एक ही संगठन के द्वारा निकाले गये होते, तो न सिर्फ़ हमारी बहुत सी मेहनत बच जाती, बल्कि हमारे काम में कहीं अधिक टिकाऊपन आता और उसका तार न टूटता। इस साधारण सी बात को वे व्यावहारिक कार्यकर्ता अक्सर भूल जाते हैं जो **सक्रिय रूप से** और लगभग पूरे तौर पर केवल स्थानीय पत्रों के लिए काम कर रहे हैं (और दुर्भाग्य से अधिकतर उदाहरणों में आज भी यही बात सच है); और वे पत्रकार भी इस बात को भुला देते हैं जो इस प्रश्न पर कोरे शेख़चिल्लीपन का परिचय देते हैं। व्यावहारिक कार्यकर्ता तो साधारणतया यह दलील देकर संतोष कर लेते हैं कि एक अखिल-रूसी अख़बार का संगठन करना स्थानीय कार्यकर्ताओं के लिए "मुश्किल" है**, और कोई अख़बार न निकले, इससे तो स्थानीय अख़बार का निकलना बेहतर है ही। ज़ाहिर है कि यह बाद की दलील बिल्कुल सही है; और **आम तौर पर** स्थानीय अख़बारों के ज़बर्दस्त महत्व और उपयोगिता को स्वीकार करने में हम किसी भी व्यावहारिक कार्यकर्ता से पीछे नहीं रहेंगे। लेकिन सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि क्या हम उस बिखराव और नौसिखुएपन को दूर नहीं कर सकते जो रूस भर में फैले हुए स्थानीय अख़बारों

---

*देखिये, 'पेरिस कांग्रेस के सामने दी गयी रिपोर्ट'[154], पृष्ठ १४: "उस समय (१८६७) से १६०० के वसन्त तक विभिन्न स्थानों से विभिन्न पत्रों के तीस अंक प्रकाशित किये गये ... औसतन, फ़ी महीना एक से ज़्यादा अंक निकाले गये।"

यह मुश्किल देखने में भारी मालूम पड़ती है, पर असल में इतनी है नहीं। सच बात यह है कि आज एक भी ऐसा स्थानीय मंडल **नहीं है जो अखिल-रूसी काम के किसी न किसी अंग की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर न ले सकता हो। "यह मत कहो कि मैं नहीं कर सकता, कहो कि मैं नहीं चाहता।"

के ढाई साल के अन्दर तीस अंकों के निकलने से इतने स्पष्ट रूप में सामने आ जाता है? आप आम तौर पर स्थानीय पत्रों की उपयोगिता के बारे में निर्विवाद किन्तु बहुत ही आम बातें कहकर ही संतोष मत कर लीजिये! साथ में यह भी स्वीकार करने की हिम्मत कीजिये कि इन पत्रों के कुछ ग़लत पहलू भी हैं जो पिछले ढाई साल के अनुभव से साफ़ हो गये हैं। इस अनुभव से यह बात भी स्पष्ट हो गयी है कि जिन परिस्थितियों में हम काम करते हैं, उनमें इन स्थानीय अख़बारों में से अधिकांश सिद्धान्त के कच्चे साबित होते हैं, उनका राजनीतिक महत्व बहुत कम होता है, क्रान्तिकारी शक्तियों के व्यय की दृष्टि से वे बहुत ही महंगे पड़ते हैं और प्राविधिक दृष्टि से वे बहुत ही असंतोषजनक साबित होते हैं (ज़ाहिर है कि यहां मेरा मतलब उनकी छपाई की टेकनीक से नहीं, बल्कि इस बात से है कि वे कितने नियमित ढंग से और कितनी बार निकलते हैं)। ये त्रुटियां आकस्मिक नहीं हैं; वे उस बिखराव का अवश्यम्भावी परिणाम हैं, जिससे एक ओर तो इस काल में पायी जानेवाली स्थानीय अख़बारों की बहुतायत समझ में आ जाती है, और दूसरी ओर इस बहुतायत के कारण बिखराव और **ज्यादा बढ़ता जाता है**। अपने अख़बार को सिद्धान्त के मामले में दृढ़ बनाये रखना और उसे एक राजनीतिक मुखपत्र के स्तर तक उठा ले जाना एक अकेले स्थानीय संगठन की **सामर्थ्य के बिल्कुल बाहर होता है**, इतनी सामग्री जमा कर लेना और उसका इस्तेमाल करना – जिससे हमारे पूरे राजनीतिक जीवन पर प्रकाश पड़ सके – **उसकी ताक़त के बाहर होता है**। स्वतंत्र देशों में बहुत से स्थानीय अख़बारों की आवश्यकता साबित करने के लिए प्रायः यह दलील दी जाती है कि स्थानीय मज़दूरों से पत्र छपवाने में ख़र्चा कम पड़ता है और इन पत्रों के ज़रिए स्थानीय जनता तक अधिक मात्रा में और जल्दी सारी सूचनाएं पहुंचायी जा सकती हैं, जैसा कि अनुभव से साबित हो गया है यह **दलील** रूस में स्थानीय अख़बार निकालने के **ख़िलाफ़** पड़ती है। क्रान्तिकारी शक्तियों के व्यय की दृष्टि से ये बहुत ही ज्यादा महंगे साबित होते हैं, और वे **यदा-कदा ही** निकल पाते हैं, क्योंकि यह सीधी-सी बात है कि एक **ग़ैर-क़ानूनी** अख़बार निकालने के लिए, चाहे उसका

जा सकता। बहुधा ऐसा होता है कि गुप्त संगठन के पिछड़ेपन के कारण (हरेक व्यावहारिक कार्यकर्ता इस बात के अनेक उदाहरण दे सकता है) एक या दो अंकों के निकलने और बंटने के बाद तुरन्त ही पुलिस को **आम** गिरफ़्तारियां करने का मौक़ा मिल जाता है और फलस्वरूप ऐसा सफ़ाया होता है कि नये सिरे से दुबारा काम शुरू करना पड़ता है। एक सुसंगठित गुप्त यंत्र के लिए ऐसे क्रान्तिकारियों की आवश्यकता पड़ती है जिनको अपने पेशे की अच्छी तरह शिक्षा मिल चुकी हो, बहुत ही सुसंगत ढंग से श्रम का विभाजन किया जाये, लेकिन ये दोनों बातें ऐसी हैं जो किसी अलग-थलग काम करनेवाले स्थानीय संगठन के लिए, चाहे वह किसी समय कितना ही शक्तिशाली क्यों न रहा हो, सामर्थ्य के बाहर होती हैं। हमारे सम्पूर्ण आन्दोलन के न केवल सामान्य हितों की (मज़दूरों को सुसंगत रूप से समाजवादी तथा राजनीतिक सिद्धान्तों की शिक्षा देना), बल्कि विशिष्ट रूप से स्थानीय हितों की भी **ग़ैर-स्थानीय अख़बार बेहतर ढंग से सेवा कर सकते हैं**। पहली नज़र में हमारी बात में कुछ विरोधाभास मालूम पड़ेगा, पर पिछले ढाई साल का अनुभव, जिसका ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं, हमारी बात की सचाई को पूरी तरह साबित कर चुका है। हर आदमी यह बात मानेगा कि इन अख़बारों के तीस अकों को निकालने के लिए जिन स्थानीय शक्तियों ने काम किया था, उन सबको यदि एक अख़बार के निकालने में लगा दिया जाता, तो वे सौ नहीं तो कम से कम साठ अंक ज़रूर ही बड़ी आसानी से निकाल सकती थीं, और फलस्वरूप वह अख़बार आन्दोलन की विशिष्ट रूप से स्थानीय विशेषताओं को भी अधिक पूर्णता के साथ व्यक्त कर सकता था। यह सच है कि ऐसा संगठन खड़ा कर देना कोई आसान काम नहीं है; लेकिन हमें उसकी ज़रूरत तो महसूस करनी ही चाहिए। हर स्थानीय मंडल को इसके बारे में सोचना चाहिए, ऐसा संगठन खड़ा करने के लिए **सक्रिय रूप से काम** करना चाहिए, और इस बात का इन्तज़ार नहीं करना चाहिए कि कोई बाहर से उसपर दबाव डाले। उसे इस लालच में नहीं पड़ना चाहिए कि स्थानीय अख़बार अधिक लोकप्रिय होगा तथा अधिक नज़दीक से निकलेगा, क्योंकि जैसा कि हमारे क्रान्तिकारी अनुभव से पता चलता है, ये बातें बहुधा काल्पनिक और क्षणिक साबित होती हैं।

और वे पत्रकार सचमुच व्यावहारिक आन्दोलन का कोई उपकार नहीं करते जो यह सोचकर कि वे व्यावहारिक कार्यकर्ताओं के विशेष रूप से निकट हैं,

इन बातों के काल्पनिक एवं क्षणिक रूप को नहीं देखते, और इस एकदम खोखली दलील का सहारा लेते हैं: हमारे पास स्थानीय अख़बार होने चाहिए, हमारे पास क्षेत्रीय अख़बार होने चाहिए, और हमारे पास अखिल-रूसी अख़बार भी होने चाहिए। ज़ाहिर है कि आम तौर पर इन सभी की ज़रूरत है, लेकिन जब आप किसी ठोस संगठनात्मक समस्या को हल करने चलते हैं तो निश्चय ही आपको समय और परिस्थिति का ध्यान रखना पड़ता है। क्या यह कोरा शेख़चिल्लीपन नहीं है, जब 'स्वोबोदा' (अंक १, पृष्ठ ६८) "**अख़बार की समस्या** से सम्बंधित" एक विशेष लेख में यह कहता है: "हमारी राय में हर उस स्थान में, जहां थोड़े-बहुत भी मज़दूर जमा हों, मज़दूरों का अपना अख़बार होना चाहिए – ऐसा अख़बार नहीं जो बाहर से मंगाया जाता हो, बल्कि ख़ास उसी स्थान का अख़बार।" जिस पत्रकार ने ये शब्द लिखे हैं, यदि वह ख़ुद उनका अर्थ समझने के लिए तैयार नहीं है, तो कम से कम आप पाठकों को तो उसकी ओर से अवश्य ही उनका अर्थ समझ लेना चाहिए। ज़रा हिसाब लगाइये कि रूस में ऐसे स्थानों की संख्या यदि सैकड़ों में नहीं तो बीसों में तो ज़रूर है, "जहां थोड़े-बहुत भी मज़दूर जमा हों," और फिर सोचिये कि यदि हर स्थानीय संगठन ख़ुद अपना अख़बार निकालने की कोशिश करने लगे तो क्या वह महज़ हमारे नौसिखुएपन को बरक़रार रखना न होगा? ज़रा सोचिये कि इस बिखराव से पार्टी के स्थानीय कार्यकर्ताओं को अपना काम शुरू करते ही पकड़ लेने में – और वह भी बिना "किसी विशेष" माथापच्ची के – और इस तरह उन्हें सच्चे क्रान्तिकारी बनने से रोक देने में पुलिसवालों को कितनी मदद मिलेगी! लेखक ने आगे लिखा है कि एक अखिल-रूसी अख़बार के पाठकों को अपने शहर के अलावा दूसरे शहरों के कारख़ानों के मालिकों के हथकंडों के बारे में तथा "अपने शहर के अलावा दूसरे शहरों की फ़ैक्टरियों के अन्दर की ज़िन्दगी का विस्तृत विवरण" पढ़ना बिल्कुल अच्छा नहीं लगेगा। लेकिन "एक ओरेल निवासी ओरेल शहर के मामलात के बारे में पढ़ने से कभी नहीं ऊबेगा। प्रत्येक अंक में वह पढ़ेगा कि इस बार 'किनकी अच्छी तरह मरम्मत की गयी है' और किनको 'डांटा-फटकारा गया है', और उसका हृदय उत्साह से भर उठेगा।" (पृष्ठ ६९) हां, हां, ओरेल निवासी पाठक का हृदय यदि उत्साह से भर उठा है, तो हमारे पत्रकार की कल्पनाओं की उड़ान भी बहुत ऊंची होती जा रही है ज़रूरत से

ज़्यादा ऊंची। उसे अपने से यह पूछना चाहिए था: क्या इस बहुत ही घटिया क़िस्म की संकुचित स्थानीयता की हिमायत करना उचित है? कारख़ानों में पायी जानेवाली हालत का भंडाफोड़ होना चाहिए – इसका महत्व और इसकी आवश्यकता मानने में हम किसी से पीछे नहीं हैं, लेकिन हमें यह भी याद रखना चाहिए कि हम अब ऐसी अवस्था में पहुंच गये हैं जब पीटर्सबर्ग के रहनेवाले लोग पीटर्सबर्ग से निकलनेवाले 'राबोचाया मीस्ल' में पीटर्सबर्ग सम्बंधी पत्रों को पढ़कर ऊबने लगे हैं। स्थानीय फ़ैक्टरियों की हालत का भंडाफोड़ सदा परचों के ज़रिए किया जाता रहा है और आगे भी उसे **सदा इसी तरह किया जाना चाहिए**, लेकिन **अख़बार** का स्तर हमें ऊपर उठाना चाहिए, न कि नीचे गिराकर उसे कारख़ाने के परचे के धरातल पर ले आना चाहिए। "अख़बार" के लिए हमें "छोटी-मोटी" बातों का भंडाफोड़ करनेवाले लेख उतने नहीं चाहिए – जितने कारख़ानों के जीवन की बड़ी-बड़ी, लाक्षणिक बुराइयों का भंडाफोड़ करनेवाले लेख। ऐसे लेखों को ख़ास तौर से ज्वलंत तथ्यों पर आधारित होना चाहिए ताकि वे **सभी** मज़दूरों का और आन्दोलन के सभी नेताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सकें, सही माने में उनके ज्ञान-भंडार को बढ़ा सकें, उनके दृष्टिकोण को विस्तृत कर सकें, और नये इलाक़ों तथा मज़दूरों के नये हिस्सों को जगाने का काम आरम्भ कर सकें।

"इसके अलावा, स्थानीय अख़बार में कारख़ाने के प्रबंधकों तथा अन्य अधिकारियों के तमाम हथकंडों का झटपट भंडाफोड़ किया जा सकता है। लेकिन, एक आम अख़बार तक ख़बर के पहुंचते-पहुंचते, उस स्थान के निवासी भी घटना को भूल जायेंगे जहां कि घटना हुई थी। जब पाठक के हाथ में अख़बार पहुंचेगा तो वह कहेगा: 'भगवान जाने यह घटना कब हुई थी!'" (उपरोक्त।) जी हां! यही बात है! भगवान जाने यह घटना कब हुई होगी; और इसी स्रोत से हमें यह भी मालूम हुआ है कि ढाई साल के अन्दर अख़बारों के जो कुल मिलाकर ३० अंक प्रकाशित हुए थे, वे छः शहरों से निकले थे, यानी फ़ी शहर **हर छः महीने में एक अंक** का औसत पड़ता है! और यदि गम्भीरता से अपरिचित हमारा यह पत्रकार स्थानीय काम की उत्पादन-शक्ति के अपने अनुमान को तिगुना कर दे (जो किसी भी औसत दर्जे के शहर के लिए बिल्कुल ग़लत होगा क्योंकि हमारे नौसिखुएपन के रहते हुए काम की उत्पादन-शक्ति को थोड़ा-बहुत भी बढ़ा सकना

असम्भव है), तब भी हमें औसत हर दो महीने पर एक अंक से ज़्यादा नहीं मिलेगा, और इसको किसी भी तरह "झटपट भंडाफोड़ करना" नहीं कहा जा सकता। लेकिन, दसेक स्थानीय संगठनों को मिलाकर उनके प्रतिनिधियों को एक आम अख़बार का संगठन करने में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए भेजिये और वे ऐसी व्यवस्था कर देंगे कि हम हर पन्द्रह रोज़ बाद **सारे रूस में** छोटी-मोटी बुराइयों का नहीं, बल्कि बड़ी-बड़ी, लाक्षणिक बुराइयों का भंडाफोड़ कर सकेंगे। हमारे संगठनों की अवस्था का जिसे तनिक भी ज्ञान है, उसे इस बात में ज़रा भी सन्देह नहीं हो सकता। जहां तक दुश्मन को रंगे हाथों पकड़ने का सवाल है– यदि हम यह बात गम्भीरता के साथ कह रहे हैं और केवल कुछ पिटे-पिटाये शब्दों का प्रयोग नहीं कर रहे हैं–तो सच्ची बात यह है कि आम तौर पर ऐसा कर पाना एक ग़ैर-कानूनी अख़बार के सामर्थ्य के बाहर की बात है। यह काम तो केवल एक गुमनाम परचा ही कर सकता है, क्योंकि इस तरह का भंडाफोड़ घटना के अधिक से अधिक एक या दो दिन के अन्दर ही हो जाना चाहिए (उदाहरण के लिए छोटी-मोटी हड़तालों, प्रदर्शनों या किसी कारख़ाने में मज़दूरों के पीटे जाने, आदि को ले लीजिये)।

"मज़दूर केवल कारख़ानों में ही नहीं, शहरों में भी रहते हैं," हमारा लेखक आगे लिखता है, और इस प्रकार ऐसे सुसंगत ढंग से ठोस बातों से आम बात पर पहुंच जाता है जो स्वयं बोरीस क्रिचेव्स्की को ही शोभा देता, और वह म्युनिसिपल समितियों, म्युनिसिपल अस्पतालों, म्युनिसिपल स्कूलों, आदि की चर्चा करता है और ज़ोर देता है कि मज़दूरों के अख़बारों को आम म्युनिसिपल मामलों की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। यह मांग अपने में बड़ी अच्छी मांग है, पर साथ ही वह इस बात का भी एक बहुत अच्छा उदाहरण है कि स्थानीय अख़बारों के बारे में हमारी बहसें अक्सर किस तरह की खोखली और हवाई बातों तक ही सीमित रह जाती हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि यदि हर उस स्थान से सचमुच अख़बार निकलने लगें "जहां थोड़े-बहुत भी मज़दूर जमा हों" और उनमें म्युनिसिपल मामलों के बारे में इतनी विस्तृत सूचनाएं रहा करें जितनी 'स्वोबोदा' चाहता है, तो हमारी रूसी परिस्थितियों में यह लाज़िमी तौर पर बहुत घटिया क़िस्म के नगर-प्रेम का रूप धारण कर लेगा; उससे ज़ारशाही एकतंत्र पर एक अखिल-रूसी क्रान्तिकारी हमले के महत्व की चेतना कमज़ोर पड़ जायेगी,

श्रौर उस प्रवृत्ति के बहुत ही बलवान श्रंकुर – जिन्हें समूल नष्ट तो नहीं किया गया है पर जो अभी छुपे हुए हैं या जिन्हें अस्थायी रूप से दबा दिया गया है – फिर फलने-फूलने लगेंगे, जो इस प्रख्यात उक्ति के कारण बहुत बदनाम हो गयी है कि कुछ क्रान्तिकारी उन संसदों की तो बहुत चर्चा करते हैं जो अभी कहीं नहीं हैं, पर उन म्युनिसिपल समितियों के बारे में कुछ नहीं कहते जो हमारी आंखों के सामने जीती-जागती मौजूद हैं। हमने "लाज़िमी तौर पर" इसलिए कहा क्योंकि हम इस बात पर ज़ोर देना चाहते थे कि 'स्वोबोदा' निस्संदेह यह नहीं चाहता कि ऐसा हो, वह तो इसकी उल्टी चीज़ चाहता है। लेकिन सदिच्छाएं ही तो काफ़ी नहीं होतीं। यदि म्युनिसिपल मामलों के बारे में सही दृष्टिकोण से, और अपने पूरे काम की रोशनी में विचार करना है तो हमें सबसे **पहले** सही दृष्टिकोण को साफ़ तौर पर समझना पड़ेगा, उसे दृढ़ता के साथ स्थापित करना पड़ेगा, और यह काम दलीलों से नहीं बल्कि अनेक मिसालों द्वारा करना पड़ेगा ताकि यह दृष्टिकोण एक **परम्परा** की स्थिरता प्राप्त कर ले। अभी हम यह काम क़तई नहीं कर पाये हैं। फिर भी **पहले** यह कर चुकने के बाद ही हम सारे देश में फैले हुए स्थानीय अख़बारों की बात सोच सकते हैं और उनके बारे में चर्चा कर सकते हैं।

दूसरे, म्युनिसिपल मामलों के बारे में सचमुच अच्छे और रोचक ढंग से लिखने के लिए ज़रूरी है कि लिखनेवाले को इन मामलों की प्रत्यक्ष जानकारी हो केवल किताबी ज्ञान नहीं। परन्तु **रूस में कहीं भी** कोई ऐसा सामाजिक-जनवादी नहीं मिलेगा जिसे ऐसी जानकारी हो। म्युनिसिपल तथा राजकीय मामलों के बारे में अख़बारों में (सरल पुस्तिकाओं में नहीं) लिखने के लिए आवश्यक है कि हमारे पास ताज़ी और विविध प्रकार की सामग्री हो जिसे योग्य व्यक्ति ने एकत्रित तथा तैयार किया हो। और ऐसी सामग्री जमा करने तथा उसको अख़बार के वास्ते तैयार करने के लिए ज़रूरी है कि हमारे पास आदिम मंडल के उस "आदिम जनवाद" से बेहतर कोई संगठन हो, जिसमें हर आदमी हर काम करता था और सभी मत-संग्रह का नाटक खेलकर अपना मनोरंजन करते थे। इसके लिए ज़रूरी है कि सुदक्ष लेखक हों, सुदक्ष संवाददाता हों, और सामाजिक-जनवादी रिपोर्टरों की एक पूरी सेना हो जिसका दूर-दूर तक सम्पर्क हो, जो हर तरह के "सरकारी भेदों" को (जिनको लेकर रूस के सरकारी कर्मचारी इतराते तो

बहुत हैं, पर बहुत जल्दी ही उगल देते हैं) खोदकर निकाल सके, जो "पर्दे के पीछे" होनेवाली घटनाओं का पता लगा सके। उसके लिए हमारे पास ऐसे लोगों की एक पूरी सेना होनी चाहिए जिनको सर्वव्यापी और सर्वज्ञानी बनकर रहने का "काम पार्टी की ओर से सौंपा गया हो"। और हम लोग, सभी प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, और जातीय उत्पीड़न के ख़िलाफ़ लड़नेवाली पार्टी, हर जगह की जानकारी रखनेवाले लोगों की ऐसी एक सेना जुटा सकते हैं, उसे जमा कर सकते हैं, शिक्षित कर सकते हैं, जत्थेबन्द कर सकते हैं, और मैदान में उतार सकते हैं, और यह काम हमें करना ही होगा—पर अभी यह सब करना बाक़ी है। अधिकतर स्थानों में यह हालत है कि इस दिशा में एक भी क़दम उठाने के बजाय, बहुधा इसकी आवश्यकता तक **महसूस नहीं की जाती**। हमारे सामाजिक-जनवादी पत्रों को पलटिये और कूटनीतिक, सैनिक, धार्मिक, म्युनिसिपल, आर्थिक तथा अन्य मामलों और हथकंडों के बारे में सजीव और रोचक लेखों, समाचारों और भंडाफोड़ करनेवाली ख़बरों की तलाश कीजिये। आपको इन चीज़ों के बारे में **लगभग कुछ भी नहीं** मिलेगा या बहुत ही कम मिलेगा*। यही कारण है कि जब "कोई आदमी मेरे पास आकर बड़े सुन्दर और मोहक शब्दों में"

---

*यही कारण है कि बहुत ही अच्छे स्थानीय अख़बारों की मिसालों से भी दरअसल हमारे ही दृष्टिकोण की पुष्टि होती है। उदाहरण के लिए, 'यूज्नी राबोची'[155] (दक्षिणी मज़दूर) एक बहुत बढ़िया अख़बार है और वह सिद्धान्तों की अस्थिरता के दोष से भी सर्वथा मुक्त है। परन्तु यह अख़बार भी अक्सर बहुत देर में निकलने के कारण और पुलिस द्वारा बार-बार छापा मारे जाने के कारण स्थानीय आन्दोलन को वह चीज़ नहीं दे सका है जो वह उसे देना चाहता है। आज हमारी पार्टी को जिस चीज़ की सबसे सख़्त ज़रूरत है—यानी मज़दूर आन्दोलन के बुनियादी सवालों पर सिद्धान्तनिष्ठ बहस और व्यापक राजनीतिक आन्दोलन—वह स्थानीय अख़बार की सामर्थ्य के बाहर का काम सिद्ध हुआ है। और इस अख़बार ने जो विशेष रूप से मूल्यवान सामग्री छापी है—जैसे खान मालिकों के सम्मेलन, बेकारी की समस्या, आदि के बारे में—तो वह वास्तव में स्थानीय सामग्री नहीं थी, बल्कि वह ऐसी सामग्री थी जिसकी **पूरे रूस के लिए आवश्यकता थी**, न कि केवल दक्षिणी भाग के लिए। ऐसे लेख हमारे किसी सामाजिक-जनवादी पत्र में नहीं छपे हैं।

यह कहता है कि फ़ैक्टरी, म्युनिसिपल और सरकारी बुराइयों के भंडाफोड़ के लिए हर उस स्थान से अख़बार निकालने की आवश्यकता है, "जहां थोड़े-बहुत भी मज़दूर जमा हों," तब "मुझे सदा ही बड़ा क्रोध आता है!"

केन्द्रीय अख़बार के मुक़ाबले में स्थानीय अख़बारों की प्रधानता या तो दरिद्रता की सूचक होती है या समृद्धि की। दरिद्रता की सूचक उस समय जब आन्दोलन के पास बड़े पैमाने के उत्पादन के योग्य शक्तियां नहीं होतीं, वह नौसिखुएपन के दलदल में फंसकर हाथ-पैर मारता है, और "कारख़ानों के जीवन की छोटी-मोटी बातों" में नाक तक डूबा रहता है। समृद्धि की सूचक उस समय जब मज़दूर आन्दोलन सर्वांगीण भंडाफोड़ और चौमुखे आन्दोलन के काम पर **पूरी तरह क़ाबू पा चुका होता है** और जब वह केन्द्रीय अख़बार के अलावा बहुत से स्थानीय अख़बारों को प्रकाशित करने की आवश्यकता महसूस करता है। यह हर आदमी ख़ुद तै कर सकता है कि आजकल जो स्थानीय अख़बारों की प्रधानता है, वह दरिद्रता की सूचक है या समृद्धि की। मैं ख़ुद यहां केवल अपने निष्कर्ष को ठीक-ठीक रख देना चाहता हूं ताकि कोई ग़लतफ़हमी की गुंजाइश न रह जाये। अभी तक हमारे अधिकतर स्थानीय संगठन प्रायः केवल स्थानीय अख़बारों के बारे में ही सोचते रहे हैं और उनका लगभग सारा काम इन्हीं को लेकर होता रहा है। यह ठीक नहीं है – इसकी बिल्कुल उल्टी हालत होनी चाहिए। अधिकतर स्थानीय संगठनों को प्रधानतया एक अखिल-रूसी पत्र के प्रकाशन के बारे में सोचना चाहिए और उनके काम का मुख्य उद्देश्य भी यही होना चाहिए। जब तक यह नहीं किया जाता, तब तक हम **एक भी** ऐसा अख़बार **नहीं** निकाल पायेंगे जो **चौमुखे** अख़बारी आन्दोलन के ज़रिए मज़दूर आन्दोलन की थोड़ी-बहुत भी सेवा कर सकने में समर्थ हो। जब यह काम हो चुकेगा, तब आवश्यक केन्द्रीय अख़बार और आवश्यक स्थानीय अख़बारों के बीच अपने आप सही तरह के सम्बंध स्थापित हो जायेंगे।

* * *

पहली नज़र में देखने पर यह लगेगा कि स्थानीय काम के बजाय अखिल-रूसी काम को अधिक महत्व देने की आवश्यकता के बारे में हम जिस नतीजे पर पहुंचे हैं, वह विशिष्ट रूप से आर्थिक संघर्ष के क्षेत्र पर लागू नहीं होता। आर्थिक संघर्ष में मज़दूरों का प्रत्यक्ष शत्रु या तो उनका कोई अकेला मालिक

होता है, या फिर मालिकों का कोई दल होता है जिसके पास कोई ऐसा संगठन नहीं होता जो उस रूसी सरकार के शुद्ध-सैनिक तथा अत्यंत केंद्रित संगठन से तनिक भी मिलता-जुलता हो, जो छोटी से छोटी बातों में भी एक निश्चय के साथ चलती है और जो राजनीतिक संघर्ष में हमारी प्रत्यक्ष शत्रु है।

परन्तु बात ऐसी नहीं है। जैसा कि हम पहले भी कई बार कह चुके हैं, आर्थिक संघर्ष एक व्यावसायिक संघर्ष होता है, और इस कारण उसके लिए ज़रूरी होता है कि मज़दूरों का संगठन न केवल उनके काम करने के स्थान के अनुसार, बल्कि व्यवसाय के अनुसार हो। और हमारे मालिक लोग जितनी तेज़ी से तरह-तरह की कम्पनियों और सिंडीकेटों में संगठित होते जा रहे हैं, मज़दूरों के लिए व्यवसाय के अनुसार अपना संगठन करना उतना ही अधिक आवश्यक होता जा रहा है। हमारा बिखराव और हमारा नौसिखुआपन संगठन के उस काम के रास्ते में एक बड़ी भारी रुकावट है, जिसके लिए क्रान्तिकारियों की एक ऐसी अखिल-रूसी संयुक्त संस्था का होना आवश्यक है जो अखिल-रूसी ट्रेड-यूनियनों का नेतृत्व कर सके। इस उद्देश्य के लिए जिस प्रकार का संगठन होना चाहिए, उसका वर्णन हम ऊपर कर चुके हैं, और अब हम केवल अपने अख़बारों के प्रश्न के प्रसंग में इसके बारे में चन्द शब्द और कहेंगे।

इसमें शायद ही किसी को संदेह होगा कि हर सामाजिक-जनवादी अख़बार में ट्रेड-यूनियन (आर्थिक) संघर्ष के लिए एक विशेष **स्तम्भ** होना चाहिए। परन्तु ट्रेड-यूनियन आन्दोलन में जो बढ़ती हुई है, वह हमें ट्रेड-यूनियन के एक प्रेस के बारे में भी सोचने को मजबूर करती है। लेकिन, हमारा विचार है कि कुछ इने-गिने अपवादों को छोड़कर, इस समय रूस में ट्रेड-यूनियनों के अख़बारों का कोई सवाल नहीं उठ सकता, वे इस समय ऐश की सी चीज़ होंगे और हमें आजकल अक्सर रोज़ की रोटी भी नहीं मिलती है। हमारे ग़ैर-क़ानूनी काम की परिस्थितियों के अनुरूप ट्रेड-यूनियन प्रकाशनों का जो रूप हो सकता है, और जिसकी हमें आज भी आवश्यकता है, वह है **ट्रेड-यूनियन पुस्तिकाएं**। इन पुस्तिकाओं में हमें सम्बंधित व्यवसाय में मज़दूरों की हालत के विषय में और इस मामले में रूस के विभिन्न भागों में पाये जानेवाले भेदों के बारे में, सम्बंधित व्यवसाय के मज़दूरों की मुख्य मांगों के बारे में, इस व्यवसाय से सम्बंधित क़ानूनों की त्रुटियों के बारे में, इस व्यवसाय में मज़दूरों के आर्थिक संघर्ष की प्रमुख

घटनाओं के बारे में, उनके ट्रेड-यूनियन संगठन की प्रारम्भिक दशा, वर्तमान हालत और भविष्य की आवश्यकताओं इत्यादि के बारे में, तमाम **क़ानूनी*** और ग़ैर-क़ानूनी सामग्री एकत्रित करके सुनियोजित तथा व्यवस्थित ढंग से देनी होगी। ऐसी पुस्तिकाओं से एक तो हमारे सामाजिक-जनवादी अख़बारों को विभिन्न

---

*इस मामले में क़ानूनी सामग्री का विशेष महत्व है, और ऐसी सामग्री को सुनियोजित ढंग से जमा करने तथा उसका इस्तेमाल करने में हम ख़ास तौर पर पिछड़े हुए हैं। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि केवल क़ानूनी सामग्री के आधार पर तो किसी तरह एक ट्रेड-यूनियन पुस्तिका तैयार की जा सकती है, पर केवल ग़ैर-क़ानूनी सामग्री के आधार पर यह काम कभी नहीं किया जा सकता। 'राबोचाया मीस्ल' के प्रकाशनों में[156] जिस तरह के सवालों की चर्चा रहती है, उनके बारे में मज़दूरों से ग़ैर-क़ानूनी सामग्री जमा करने के सिलसिले में हम क्रान्तिकारियों की काफ़ी मेहनत बर्बाद करते हैं (जब कि इस काम में उनकी जगह बड़ी आसानी से क़ानूनी कार्यकर्ता ले सकते हैं), और तब भी हम कभी अच्छी सामग्री जमा नहीं कर पाते। इसका कारण यह है कि उस मज़दूर को जिसे बहुधा एक बड़े कारख़ाने के केवल एक खाते का और प्रायः हमेशा आर्थिक परिणामों का ज्ञान रहता है, लेकिन अपने काम की आम परिस्थितियों और मानदंडों का नहीं, वह जानकारी नहीं मिल सकती जो कारख़ाने के दफ़्तरों में काम करनेवाले कर्मचारियों के पास, या इंस्पेक्टरों, डाक्टरों, आदि के पास रहती है, और जो छोटे-छोटे अख़बारों के समाचारों में और उद्योग-धंधों, डाक्टरी व्यवसाय या ज़िला बोर्डों आदि से सम्बंध रखनेवाले विशेष प्रकाशनों में बिखरी हुई मिलती है।

मुझे अपना "पहला प्रयोग" अच्छी तरह याद है और मैं कभी नहीं चाहूंगा कि वह दुहराया जाये। एक मज़दूर मुझसे मिलने आया करता था। मैंने उससे कई हफ़्ते तक "जिरह" की और उस बड़े कारख़ाने में पायी जानेवाली हालतों के हरेक पहलू के बारे में उससे पूछा जिसमें वह काम करता था। यह तो सच है कि बड़ी मेहनत के बाद मुझे (केवल एक कारख़ाने की!) रिपोर्ट के लिए सामग्री मिल गयी, लेकिन जब कभी बातचीत ख़तम होती तो वह मज़दूर माथे का पसीना पोंछता और मुस्कराता हुआ मुझसे कहता: "आपके सवालों का जवाब देने से तो ओवरटाइम काम करना ज़्यादा आसान है!"

अपना क्रान्तिकारी संघर्ष हम जितने ही ज़ोरदार तरीक़े से चलायेंगे, "ट्रेड-यूनियन" काम के एक हिस्से को क़ानूनी क़रार देने के लिए सरकार उतनी ही ज़्यादा मजबूर होगी, और इस प्रकार वह हमारे कंधों का बोझ थोड़ा हल्का कर देगी।

व्यवसायों की ऐसी छोटी-मोटी तफ़सीली बातें छापने से छुटकारा मिल जायेगा जिनमें केवल उस व्यवसाय विशेष के मज़दूरों को ही दिलचस्पी होती है। दूसरे, ट्रेड-यूनियन संघर्ष में हमारा जो अनुभव होता है, उसका निचोड़ इन पुस्तिकाओं में दर्ज रहेगा, और आज जो जमा की हुई सामग्री बहुत से परचों और चिट्ठियों के रूप में खो जाती है, वह इन पुस्तिकाओं के रूप में सुरक्षित हो जायेगी; और इस सामग्री का सामान्यीकरण भी हो जायेगा। तीसरे, ये पुस्तिकाएं आन्दोलनकर्ताओं का पथप्रदर्शन करेंगी, क्योंकि मज़दूरों की हालत में अपेक्षाकृत बहुत धीरे-धीरे परिवर्तन होता है और किसी भी व्यवसाय के मज़दूरों की मुख्य मांगें बहुत लम्बे समय तक एक सी ही रहती हैं (उदाहरण के लिए, याद कीजिये कि मास्को के बुनकरों ने १८८५ में कौनसी मांगें पेश की थीं[157] और फिर उनकी तुलना उन मांगों से कीजिये जो १८९६ में पीटर्सबर्ग के मज़दूरों ने बुलन्द की थीं); इन मांगों और आवश्यकताओं को एक पुस्तिका के रूप में जमा कर दिया जाये, तो वह पिछड़े हुए इलाक़ों में या पिछड़े हुए मज़दूरों के बीच आर्थिक सवालों पर आन्दोलन करनेवालों के लिए कई वर्षों तक एक बड़ी उपयोगी गुटका का काम कर सकती है। किसी इलाक़े की सफल हड़तालों की मिसालों, मज़दूरों के अपेक्षाकृत ऊंचे जीवन-स्तर और बेहतर हालत की सूचना से दूसरे इलाक़ों के मज़दूरों में बार-बार उठकर लड़ने का उत्साह पैदा होगा। चौथी बात यह है कि ट्रेड-यूनियन संघर्ष के सामान्यीकरण का श्रीगणेश कर चुकने और इस प्रकार रूसी ट्रेड-यूनियन आन्दोलन और समाजवाद का नाता मज़बूत करने के बाद, सामाजिक-जनवादी साथ ही साथ इस बात का भी ख़्याल रखेंगे कि ट्रेड-यूनियन काम हमारे पूरे सामाजिक-जनवादी काम का न तो बहुत ही छोटा हिस्सा बनकर रह जाये और न बहुत बड़ा हिस्सा। दूसरे शहरों के संगठनों से कटे हुए किसी स्थानीय संगठन के लिए यह बहुत कठिन, और कभी-कभी तो लगभग असम्भव होता है कि वह अपना संतुलन क़ायम रख सके (और 'राबोचाया मीस्ल' की मिसाल से पता चलता है कि ट्रेड-यूनियनवाद की दिशा में कितनी भयानक अतिशयोक्ति की जा सकती है)। लेकिन क्रान्तिकारियों के एक ऐसे अखिल-रूसी संगठन को अपना संतुलन क़ायम रखने में कोई कठिनाई नहीं होगी, जो मार्क्सवाद पर दृढ़ता से आधारित हो, जो पूरे राजनीतिक संघर्ष का नेतृत्व करता हो और जिसके पास पेशेवर आन्दोलनकर्ताओं का एक दल हो।

५

एक अखिल-रूसी राजनीतिक अख़बार की "योजना"

ब० क्रिचेव्स्की ने हम लोगों पर "सिद्धान्त को व्यवहार से अलग करके उसे एक निर्जीव पंथ बना देने" की प्रवृत्ति का परिचय देने का आरोप लगाते हुए ('राबोचेये देलो', अंक १०, पृष्ठ ३०) लिखा है: "इस मामले में 'ईस्क्रा' ने जो सबसे गम्भीर भूल की है, वह है उसका एक आम पार्टी संगठन की 'योजना' पेश करना" (अर्थात् 'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख छापना)। और मार्तिनोव ने इसी विचार को दुहराते हुए घोषणा की है कि "विलक्षण तथा पूर्ण विचारों के प्रचार की तुलना में नीरस दैनिक संघर्ष की प्रगति के महत्व को कम करने की जो प्रवृत्ति 'ईस्क्रा' में पायी जाती है, वह... पार्टी के संगठन की उस योजना के रूप में अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी है, जो 'ईस्क्रा' के अंक ४ में 'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख में प्रकाशित हुई है।" (उपरोक्त, पृष्ठ ६१।) अन्त में, अभी हाल में ल० नदेज्दिन भी इस "योजना" पर (शब्द के दोनों ओर "अवतरण चिन्ह" व्यंग व्यक्त करने के उद्देश्य से लगाये गये थे) रोष प्रकट करनेवालों के दल में शरीक हो गये हैं। अपनी 'क्रान्ति की पूर्व-घड़ी' पुस्तिका में (जिसे **'स्वोबोदा'** नामक 'क्रान्तिकारी-समाजवादी दल' ने छापा है और जिसका परिचय हम पहले ही प्राप्त कर चुके हैं), जो हमारे पास अभी हाल में आयी है, वह कहते हैं: "इस समय एक अखिल-रूसी अख़बार से सम्बंधित किसी संगठन की बात करना कुर्सी-तोड़ विचारों और कुर्सी-तोड़ कार्य का प्रचार करना है" (पृष्ठ १२६), यह "साहित्यिकपने" का एक रूप है, आदि।

हमारे इस आतंकवादी की भी यदि वही राय निकली, जो "नीरस दैनिक संघर्ष की प्रगति" के हामियों की थी, तो उससे कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि राजनीति और संगठन से सम्बंध रखनेवाले अध्यायों में हम इन लोगों के इस अन्तरंग सम्बंध की जड़ों का पता लगा चुके हैं। परन्तु यहां इस बात की ओर ध्यान आकर्षित करना ज़रूरी है कि ल० नदेज्दिन ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने एक ऐसे लेख के विचार-क्रम को भी समझने की ईमानदारी के साथ

कोशिश की है जो उन्हें पसन्द नहीं आया है, और उसमें उठाये गये सवाल का जवाब देने की कोशिश की है, जब कि 'राबोचेये देलो' ने एक भी चीज़ ऐसी नहीं कही है जिसका विषय से सम्बंध हो, और उसने दूसरों पर अशोभनी तथा पाखंडपूर्ण हमलों के ज़रिए सवाल को और उलझा देने की कोशिश की है। यह काम यद्यपि रुचिकर नहीं है, फिर भी हमें इस अस्तबल की सफ़ाई में कुछ समय लगाना ही पड़ेगा।

(क) 'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख किसको बुरा लगा?*

'राबोचेये देलो' ने इस लेख को लेकर हमपर जो पुष्प-वर्षा की है, उसका एक गुच्छा आप भी देखिये। "कोई अख़बार पार्टी संगठन को नहीं बनाता, बल्कि बात ठीक इसकी उल्टी होती है" ... "'ईस्क्रा' एक ऐसा अख़बार बनना चाहता है जो पार्टी के **ऊपर** हो, जो **उसके नियंत्रण के बाहर रहे**, और जो ख़ुद अपने अलग एजेंट रखने के कारण पार्टी से स्वतंत्र हो" ... "यह किस चमत्कार का परिणाम है कि 'ईस्क्रा' उस पार्टी के, जिसका वह स्वयं एक अंग है, उन सामाजिक-जनवादी संगठनों को बिल्कुल भूल गया जो आज सचमुच मौजूद हैं?" ... "जिनके पास दृढ़ सिद्धान्त हैं और तदनुरूप एक योजना है, वे पार्टी के वास्तविक संघर्ष के सर्वोच्च निर्देशक होते हैं और पार्टी पर अपनी योजना थोपते हैं" ... "यह योजना हमारे जीवित और शक्तिशाली संगठनों को अंधकार की दुनिया की ओर ले जाती है और एजेंटों का एक मनगढ़न्त ताना-बाना खड़ा करना चाहती है" ... "यदि 'ईस्क्रा' की योजना कार्यान्वित हो गयी तो रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का—जो अभी बन ही रही है—नामोनिशान मिट

---

*'१२ साल के अन्दर' शीर्षक लेख-संग्रह में व्ला०इ० लेनिन ने पांचवें अध्याय का 'क' पैराग्राफ़ छोड़कर निम्नलिखित टिप्पणी दी: "क) पैराग्राफ़: 'कहां से आरंभ करें?' शीर्षक लेख किसको बुरा लगा?" इस संस्करण में छोड़ दिया गया है, क्योंकि उसका विषय 'राबोचेये देलो' और बुन्द के साथ 'ईस्क्रा' द्वारा "हुक्म देने" आदि वाले प्रयत्नों के प्रश्न तक ही सीमित है। और बातों के अलावा इस पैराग्राफ़ में बताया गया है कि ख़ुद बुन्द ने (१८९८–१८९९ में) 'ईस्क्रा' के सदस्यों को सम्बोधन करते हुए पार्टी का मुखपत्र पुनःस्थापित करने तथा 'साहित्यिक प्रयोगशाला' संगठित करने का प्रस्ताव पेश किया था।—स०

जायेगा" ... "जिस अख़बार को केवल प्रचार का एक साधन होना चाहिए, वह इस योजना के ज़रिए पूरे व्यावहारिक क्रान्तिकारी संघर्ष के नियमों की रचना करनेवाला अनियंत्रित तानाशाह बन जाना चाहता है" ... "इस सुझाव को सुनकर कि हमारी पार्टी को **पूरी तरह से** एक स्वतंत्र सम्पादक-मंडल के अधीन कर दिया जाये हमारी पार्टी को किस तरह से अपनी राय ज़ाहिर करना चाहिए?" आदि, आदि।

उपरोक्त उद्धरणों की बातों और उनके लहजे से पाठक यह समझ सकते हैं कि 'राबोचेये देलो' **नाराज़ हो उठा है**। अपना ख़याल करके नहीं, बल्कि पार्टी के उन संगठनों और समितियों का ख़याल करके जिनके सिलसिले में वह 'ईस्क्रा' पर यह आरोप लगाता है कि वह उन्हें अंधकार की दुनिया की ओर ले जाना और यहां तक कि उनका नामोनिशान भी मिटा देना चाहता है। भला क्या यह भयंकर बात नहीं है? पर अजीब बात तो कुछ और है। 'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख मई १६०१ में प्रकाशित हुआ था। 'राबोचेये देलो' के लेख सितम्बर १६०१ में छपे थे। और अब हम जनवरी १६०२ के बीच में हैं। लेकिन इन पांच महीनों में (सितम्बर से पहले और बाद में) पार्टी की **एक भी** समिति और **एक भी** संगठन ने उस दानव के ख़िलाफ़ बाक़ायदा अपनी आवाज़ बुलन्द नहीं की जो उन्हें अंधकार की दुनिया में ले जाना चाहता है, और फिर भी इन पांच महीनों में 'ईस्क्रा' में और अनेक स्थानीय तथा दूसरे प्रकाशनों में, रूस के सभी भागों से आये हुए सैकड़ों पत्र छप चुके हैं। इसका आख़िर क्या कारण है कि जिनको अंधकार के गढ़े में ढकेला जा रहा है, उनको ख़ुद इसका कुछ भी पता नहीं है और वे नाराज़ नहीं हुए हैं, हालांकि एक तीसरे साहब अलबत्ता नाराज़ हो गये हैं?

इसका कारण यह है कि पार्टी की समितियां और अन्य संगठन सचमुच काम कर रहे हैं और वे "जनवाद" का नाटक नहीं खेलते। समितियों ने 'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख पढ़ा, उन्होंने देखा कि इस लेख में "एक संगठन की ऐसी योजना की रूपरेखा तैयार करने" की कोशिश की गयी है "जिसपर अमल करने से **यह सम्भव होगा कि हम संगठन को सब तरफ़ से खड़ा करना शुरू कर सकें**," और चूंकि वे यह जानते थे और अच्छी तरह समझते थे कि जब तक लोगों को यह विश्वास नहीं हो जायेगा कि निर्माण की यह योजना आवश्यक

ग्रौर सही है, तब तक "सब तरफ़" तो क्या, **एक तरफ़ भी** संगठन को खड़ा करने की बात **नहीं** सोचेगी, इसलिए स्वभावतया समितियों को उन लोगों के साहस का बुरा मानने की बात कभी नहीं सूझी जिन्होंने 'ईस्क्रा' में कहा था: "यह सवाल इतना ज़रूरी ग्रौर महत्वपूर्ण है कि हम साथियों के सामने एक ऐसी योजना की रूपरेखा पेश करने का साहस कर रहे हैं, जिसे एक पुस्तिका में, जो इस समय छपाई के लिए तैयार की जा रही है, ग्रधिक विस्तार से समझाया गया है।" यदि लोग ग्रपने काम के बारे में ईमानदार हों, तो क्या यह बात उनकी समझ में नहीं ग्रायेगी कि यदि साथियों ने पेश की गयी योजना को **स्वीकार कर लिया**, तो वे उसपर महज़ इसलिए ग्रमल नहीं करेंगे कि वे "पराधीन" हैं, बल्कि इसलिए कि वे इस योजना को हमारे समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए ग्रावश्यक समझते हैं, ग्रौर यदि उन्होंने **योजना को स्वीकार नहीं किया**, तो "रूपरेखा" (बड़ा भारी-भरकम शब्द है न यह?) महज़ एक रूपरेखा ही रह जायेगी? ग्रौर क्या यह कोरी लफ़्फ़ाज़ी नहीं है कि योजना की रूपरेखा को "नोच-नोचकर" उसके टुकड़े-टुकड़े करके ग्रौर साथियों को उसे ठुकराने की सलाह देकर ही नहीं बल्कि ऐसे लोगों को, जिन्हें क्रान्तिकारी कार्य का कोई ग्रनुभव नहीं है, **केवल इस ग्राधार पर** रूपरेखा तैयार करनेवालों के ख़िलाफ़ **भड़काकर** भी योजना के ख़िलाफ़ लड़ा जाये कि उन्होंने "नियम बनाने" का ग्रौर "सर्वोच्च निर्देशक" के रूप में सामने ग्राने का साहस किया है, ग्रर्थात् उन्होंने एक योजना की रूपरेखा **पेश करने** की जुर्रत की है? यदि स्थानीय पार्टी कार्यकर्ताग्रों को **ऊपर उठाकर** ग्रधिक व्यापक विचारों, कार्यों, योजनाग्रों ग्रादि के धरातल तक ले ग्राने की कोशिश का न केवल इस ग्राधार पर कि ये विचार ग़लत हैं, बल्कि इस ग्राधार पर भी विरोध किया जाये कि **"ऊपर उठाने"** की "इच्छा" ही "निंदनीय" है, तो क्या हमारी पार्टी विकसित हो सकती है ग्रौर उन्नति कर सकती है? ल० नदेज्दिन ने भी हमारी योजना को "नोच-नोचकर टुकड़े-टुकड़े कर दिया" है, पर वह ऐसी लफ़्फ़ाज़ी पर नहीं उतरे हैं जिसके कारणों की तलाश हमें उनके भोलेपन या बहुत ही पिछड़े राजनीतिक विचारों के ग्रलावा कहीं ग्रौर करनी पड़े। उन्होंने शुरू में ही इस ग्रारोप को ज़ोरों के साथ ठुकरा दिया है कि हम लोग "पार्टी पर एक इंस्पेक्टरशाही" थोपना चाहते हैं। इसी लिए नदेज्दिन ने योजना की जो ग्रालोचना की है, उसका जवाब उसके गुणों-ग्रवगुणों के ग्राधार

पर दिया जा सकता है और दिया जाना चाहिए, पर 'राबोचेये देलो' तो केवल इसी योग्य है कि हम उपेक्षा के साथ उसे ठुकरा दें।

परन्तु "तानाशाही" और "पराधीनता" की चीख़-पुकार मचानेवाले लेखक को उपेक्षा के साथ ठुकरा देने के बावजूद हम ऐसे लोगों द्वारा पैदा किये गये भ्रमों को पाठकों के दिमाग़ से साफ़ करने के कर्तव्य से मुक्त नहीं हो जाते। और यहां हम "व्यापक जनवाद" जैसे नारों की असलियत दुनिया के सामने खोलकर रख सकते हैं। हमपर समितियों को भूल जाने और उन्हें अंधकार की दुनिया में ढकेल देने की इच्छा रखने या कोशिश करने, आदि के आरोप लगाये जाते हैं। पर ऐसी हालत में हम इन आरोपों का जवाब कैसे दे सकते हैं जब कि बातों को गुप्त रखने की आवश्यकता के कारण हम पाठकों के सामने **इस तरह के प्रायः कोई तथ्य नहीं रख सकते** जिनसे इन समितियों के साथ हमारे असली सम्बंध पर प्रकाश पड़ता हो? जो लोग भीड़ को भड़काने के उद्देश्य से तीव्र आरोपों की बौछार कर रहे हैं, वे हमसे इस कारण आगे मालूम पड़ते हैं क्योंकि उनमें ढिठाई है, और उन्हें प्रत्येक क्रान्तिकारी के इस कर्तव्य का तनिक भी ध्यान नहीं है कि उसने जिन सम्पर्कों और सम्बंधों को क़ायम कर रखा है या जिन्हें वह क़ायम करने की कोशिश कर रहा है, उनको उसे दुनिया से छिपाकर रखना चाहिए। स्वभावतया ऐसे लोगों से "जनवाद" के मैदान में होड़ करने को हम क़तई तैयार नहीं हैं। जहां तक उन पाठकों का सम्बंध है जो पार्टी के मामलों से अपरिचित हैं, उनके प्रति अपना कर्तव्य पूरा करने का हमारे सामने केवल यही तरीक़ा है कि हम उन्हें यह न बतायें कि क्या है और क्या होने जा रहा है, बल्कि जो कुछ हो चुका है और जो बीती हुई बातों के रूप में बताया जा सकता है, उसका केवल एक **कण** उनके सामने रख दें।

बुन्द ने इशारा किया है कि हम "लोगों की आंखों में धूल झोंक रहे हैं" *; विदेश-स्थित 'संघ' ने हमपर आरोप लगाया है कि हम पार्टी का नामोनिशान तक मिटा देना चाहते हैं। महानुभावो, आपको पूर्ण संतोष हो जायेगा जब हम गुज़रे हुए ज़माने के बारे में **चार तथ्य** जनता के सामने रखेंगे!

---

* 'ईस्क्रा', अंक ८। जातियों के प्रश्न पर हमारे लेख के जवाब में रूस और पोलैंड के केन्द्रीय यहूदी संघ की केन्द्रीय समिति का वक्तव्य।

पहला* तथ्य। 'संघर्ष लीग' नाम के अनेक संगठनों में से एक के सदस्यों ने, जिन्होंने हमारी पार्टी के बनाने में और जिन्होंने हमारी पहली पार्टी कांग्रेस में प्रतिनिधि भेजने में प्रत्यक्ष रूप से भाग लिया था, 'ईस्क्रा' दल के एक सदस्य के साथ मज़दूरों के लिए एक पुस्तक-माला प्रकाशित करने के सम्बंध में एक ऐसा समझौता किया था जिससे कि पूरे आन्दोलन की सेवा हो सके। पुस्तक-माला निकालने का प्रयत्न असफल रहा, और उसके लिए लिखी गयी पुस्तिकाएं 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के कार्य' और 'नया फ़ैक्टरी क़ानून' बहुत घूम-घामकर कुछ अन्य लोगों के ज़रिए विदेश पहुंच गयीं और वहां उनको प्रकाशित किया गया।

दूसरा तथ्य। बुन्द की केन्द्रीय समिति के सदस्यों ने 'ईस्क्रा' दल के एक सदस्य के सामने यह सुझाव रखा था कि एक "साहित्यिक प्रयोगशाला" का – बुन्द के उस समय के शब्दों में – संगठन किया जाये। सुझाव रखते हुए उन्होंने कहा था कि यदि यह चीज़ नहीं की गयी तो आन्दोलन बहुत ज़्यादा पीछे हट जायेगा। इस बातचीत के बाद 'रूस का मजदूर आन्दोलन'** नामक पुस्तिका प्रकाशित हुई थी।

तीसरा तथ्य। बुन्द की केन्द्रीय समिति ने एक प्रान्तीय शहर के ज़रिए 'ईस्क्रा' के एक सदस्य के सामने यह सुझाव रखा कि वह फिर से निकलनेवाले 'राबोचाया गाज़ेता' के सम्पादन का काम अपने हाथ में लें और ज़ाहिर है वह साथी इसके लिए तैयार हो गये। बाद में इस सुझाव को बदल दिया गया। उस साथी से कहा गया कि सम्पादक-मंडल के बारे में चूंकि कुछ नयी व्यवस्था हो गयी है, इसलिए अब उन्हें एक लेखक के रूप में उस पत्र में लिखना चाहिए।

---

* यहां हमने जान-बूझकर इन तथ्यों को उस क्रम में नहीं रखा है जिस क्रम में यह घटनाएं वास्तव में हुई थीं।

** इस पुस्तिका के लेखक ने मुझसे यह बता देने का अनुरोध किया है कि अपनी पहले वाली पुस्तिकाओं की तरह उन्होंने यह पुस्तिका भी 'संघ' को यह समझकर भेजी थी कि संघ के प्रकाशनों का सम्पादन 'श्रम मुक्ति' दल कर रहा है (कुछ कारणों से उन्हें उस समय – फ़रवरी १८६६ में – यह नहीं मालूम हो सका था कि सम्पादकों में परिवर्तन हो गया)। इस पुस्तिका को लीग[158] जल्द ही फिर से प्रकाशित करेगी।

ज़ाहिर है कि इस साथी ने यह सुझाव भी स्वीकार कर लिया। लेख भी भेजे गये (जिनकी नक़लें हमने बचा ली हैं) : 'हमारा कार्यक्रम', जिसमें सीधे-सीधे बर्न्सटीनवाद के खिलाफ़ और क़ानूनी साहित्य तथा 'राबोचाया मीस्ल' में व्यक्त होनेवाले नीति-परिवर्तन के खिलाफ़ आवाज़ बुलन्द की गयी थी; 'हमारा तात्कालिक कार्य' ("पार्टी का ऐसा मुखपत्र निकालना जो नियमित रूप से प्रकाशित हो और जिसका सभी स्थानीय दलों से घनिष्ठ सम्पर्क हो"; प्रचलित "नौसिखुएपन" की बुराइयां) ; 'ज़रूरी सवाल' (जिसमें इस एतराज़ पर विचार किया गया था कि एक केन्द्रीय मुखपत्र निकालने से **पहले** स्थानीय दलों के कार्य को विकसित करना ज़रूरी है, और जिसमें "क्रान्तिकारी संगठन" के सर्वोच्च महत्व पर और "संगठन, अनुशासन तथा बातों को गुप्त रखने की कला का चरम सीमा तक विकास करने" की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया था)। 'राबोचाया गाज़ेता' को फिर से निकालने के सुझाव पर अमल नहीं किया गया और ये लेख भी नहीं छपे।

चौथा तथ्य। जो समिति हमारी पार्टी की दूसरी नियमित कांग्रेस का संगठन कर रही थी, उसके एक सदस्य ने 'ईस्क्रा' दल के एक सदस्य के पास कांग्रेस का कार्यक्रम भेजा और सुझाव रखा कि फिर से निकलनेवाले 'राबोचाया गाज़ेता' का सम्पादन 'ईस्क्रा' दल करे। यह मानो प्रारम्भिक क़दम था, बाद में इस सुझाव को उस समिति ने, जिसका यह साथी सदस्य था, और बुन्द की केन्द्रीय समिति ने स्वीकार कर लिया; 'ईस्क्रा' दल को कांग्रेस के स्थान और समय की सूचना दे दी गयी। उसने (चूंकि कुछ निश्चित कारणों से उसे यक़ीन नहीं था कि वह कांग्रेस में अपना प्रतिनिधि भेज सकेगा) कांग्रेस के लिए अपनी लिखित रिपोर्ट तैयार की। इस रिपोर्ट में यह कहा गया था कि आज जब कि हर तरफ़ पूर्ण बिखराव का दौर-दौरा है, तब एक केन्द्रीय समिति का चुनाव कर लेने से केवल यही नहीं कि एकता की समस्या हल नहीं होगी, बल्कि हो सकता है कि ऐसा करने पर शीघ्र ही, तेज़ी के साथ और पूरी तैयारी के साथ पुलिस छापा मारे, उस समय के गोपनीयता के अभाव को देखते हुए जिसकी बहुत अधिक संभावना थी, और इस तरह पार्टी बनाने का शानदार विचार ही कुछ समय के लिए बदनाम हो जाये, और यह कि इसलिए समितियों और अन्य तमाम संगठनों से यह कहा जाये कि वे फिर से निकलनेवाले उस मुखपत्र का समर्थन

करें जो सबों का है और जो सभी समितियों के बीच **वास्तविक सम्पर्क** क़ायम करेगा और पूरे आन्दोलन के लिए **सही माने में** नेताओं के एक दल को शिक्षा देकर तैयार करेगा, कि जब यह दल विकसित और मज़बूत हो जायेगा, तब समितियां और पार्टी बहुत ही आसानी से इस दल को केन्द्रीय समिति में बदल सकेंगी। परन्तु पुलिस के कई छापों और गिरफ़्तारियों के परिणामस्वरूप यह कांग्रेस नहीं हो सकी। बातों को गुप्त रखने की दृष्टि से रिपोर्ट को नष्ट कर दिया गया, और उसे केवल चन्द साथी ही पढ़ पाये जिनमें एक समिति के सदस्य भी शामिल थे।

अब पाठक खुद तै कर सकते हैं कि हमें जनता की आंखों में धूल झोंकनेवाला बताकर बुन्द किस तरह के उपायों को काम में ला रहा है; और वह 'राबोचेये देलो' किस तरह के हथकंडों का प्रयोग कर रहा है जो हमपर यह आरोप लगा रहा है कि हम समितियों को अंधकार की दुनिया में ढकेल देने की कोशिश कर रहे हैं और पार्टी संगठन के "स्थान पर" एक ऐसा संगठन "स्थापित करना" चाहते हैं जो केवल एक अख़बार के विचारों का प्रचार करनेवाला संगठन होगा। समितियों के **बार-बार कहने पर ही** हमने इस विषय पर एक रिपोर्ट उनके सामने पेश की कि आम कार्य करने के लिए एक निश्चित योजना बनाना क्यों आवश्यक है। 'राबोचाया गाज़ेता' में छपे लेखों में और पार्टी कांग्रेस के लिए तैयार की गयी रिपोर्ट में हमने इस योजना को यदि और विस्तार से बताया, तो ऐसा हमने पार्टी संगठन के वास्ते ही किया था, और यह काम हमने उन लोगों के अनुरोध से ही किया था जिनका पार्टी में इतना प्रभाव था कि उन्होंने पार्टी में फिर से (सचमुच) जान डालने में पहलक़दमी की थी। और **हमारा सहयोग लेकर** पार्टी का अपना केन्द्रीय मुखपत्र **रस्मी तौर पर** फिर से निकालने की कोशिश **दो बार** असफल हो जाने के बाद ही हमने अपना यह आवश्यक कर्तव्य समझा कि हम एक **ग़ैर-रस्मी** मुखपत्र निकालें ताकि इस **तीसरी** कोशिश के समय साथियों के सामने केवल अटकलबाज़ी के सुझाव न हों बल्कि पिछले **अनुभव** के नतीजे उनके सामने रखे जायें। आज इस अनुभव के कुछ नतीजे सबके सामने हैं, और सब साथी खुद इसका फ़ैसला कर सकते हैं कि हमने अपनी ज़िम्मेदारियों को सही तौर पर समझा था या नहीं, और साथियों को उन लोगों के बारे में क्या सोचना चाहिए जो ऐसे लोगों को, जो कुछ दिन पहले की

घटनाओं से अभी अपरिचित हैं, केवल इसलिए गुमराह करने की कोशिश कर रहे हैं कि उनमें से कुछ के "जातीय" प्रश्न सम्बंधी विचारों की असंगतियों की ओर और कुछ के सिद्धान्तहीन ढुलमुलपन के अनौचित्य की ओर हमने जो संकेत किया था उसकी वजह से वे हमसे नाराज़ हो गये हैं।

(ख) क्या एक अख़बार सामूहिक संगठनकर्ता का काम कर सकता है?

'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख की मुख्य बात यह है कि उसमें **ठीक** इसी सवाल पर विचार किया गया है और इसका जवाब "हां" में दिया गया है। जहां तक हमें ज्ञान है, इस प्रश्न पर उसके गुणों और दोषों की दृष्टि से विचार करने और यह साबित करने की कोशिश कि इस सवाल का जवाब केवल "नहीं" में दिया जाना चाहिए, सिर्फ़ ल० नदेज्दिन ने की है। उनकी पूरी की पूरी दलील हम नीचे दे रहे हैं:

> "...हमें यह देखकर बड़ी ख़ुशी हुई कि 'ईस्क्रा' ने (अंक ४ में) एक अखिल-रूसी अख़बार की ज़रूरत का सवाल उठाया है, लेकिन हम इस बात से सहमत नहीं हो सकते कि यह सवाल लेख के शीर्षक 'कहां से आरम्भ करें?' से कोई मेल खाता है। निस्सन्देह, यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है। परन्तु न तो कोई अख़बार, न लोकप्रिय परचों की एक पूरी माला, और न घोषणापत्रों का एक पूरा पहाड़ ही क्रान्तिकारी काल में लड़ाकू संगठन का आधार बन सकते हैं। हमको विभिन्न स्थानों में मज़बूत राजनीतिक संगठन बनाने का काम हाथ में लेना चाहिए। हमारे पास ऐसे संगठन नहीं हैं; अभी तक हम मुख्यतया सजग मज़दूरों के बीच ही काम करते रहे हैं, और आम मज़दूर प्रायः केवल आर्थिक संघर्ष में लगे रहे हैं। **यदि स्थानीय पैमाने पर मज़बूत राजनीतिक संगठन शिक्षा प्राप्त करके तैयार नहीं होते, तो फिर एक सुसंगठित अखिल-रूसी अख़बार खड़ा करने से भी क्या लाभ होगा?** वह तो एक जलती हुई झाड़ी की तरह होगा, जो सदा जलती ही रहेगी, लेकिन किसी और को न जला पायेगी। 'ईस्क्रा' का ख़याल है कि उसके चारों ओर, उसके वास्ते काम करने के दौरान में, लोग जमा होंगे और संगठित हो जायेंगे। **परन्तु यदि थोड़ा और ठोस काम**

किया जाये, तो उसके इर्द-गिर्द जमा होना और संगठित होना ज्यादा आसान होगा! यह थोड़ा और ठोस काम यही होना चाहिए और लाज़िमी तौर पर होना चाहिए कि स्थानीय अख़बारों का व्यापक संगठन किया जाये, मज़दूरों की ताक़तों को तुरन्त प्रदर्शनों के लिए तैयार किया जाये, बेरोज़गारों के बीच स्थानीय संगठन जमकर काम करें (पुस्तिकाओं और परचों का नियमित वितरण करें, सभाएं करें, सरकार का विरोध करने की अपीलें निकालें, इत्यादि)। हमें चाहिए कि हम स्थानीय पैमाने पर सजीव राजनीतिक काम आरम्भ करें, और जब इस वास्तविक आधार पर एक में मिल जाने का समय आयेगा, तब वह कोई बनावटी या काग़ज़ी एकीकरण नहीं होगा। हम स्थानीय कार्य को एक अखिल-रूसी कार्य के रूप में एकीकृत अवश्य करेंगे, पर अख़बारों के ज़रिए नहीं!" ('क्रान्ति की पूर्व-घड़ी', पृष्ठ ५४।)

हमने इस ज़ोरदार उद्धरण के उन अंशों पर अपनी तरफ़ से ज़ोर दिया है जो इस बात की सबसे अच्छी मिसालें हैं कि हमारी योजना के बारे में लेखक की राय कितनी ग़लत है और उनका वह दृष्टिकोण आम तौर पर कितना दोषपूर्ण है जिसे वह 'ईस्क्रा' के दृष्टिकोण के विरोध में पेश करते हैं। यदि हम स्थानीय पैमाने पर मज़बूत राजनीतिक संगठन शिक्षित करके तैयार नहीं करेंगे, तो एक अखिल-रूसी अख़बार का बहुत बढ़िया संगठन करने से भी कोई लाभ न होगा! बिल्कुल सही है। लेकिन यही तो असल बात है कि मज़बूत राजनीतिक संगठनों को **शिक्षा देकर तैयार करने** का एक अखिल-रूसी अख़बार के अलावा **और कोई तरीक़ा नहीं है**। 'ईस्क्रा' ने अपनी "योजना" **पेश करने से पहले** जो अति-महत्वपूर्ण बात कही थी, उसे लेखक ने एकदम भुला दिया है। 'ईस्क्रा' ने कहा था: "एक ऐसे क्रान्तिकारी संगठन के निर्माण का नारा देना" आवश्यक है, "जिसमें **केवल नाम के लिए नहीं**, बल्कि कार्यरूप में सभी शक्तियों को मिलाकर चलने और आन्दोलन का नेतृत्व करने की क्षमता हो, यानी **जो संगठन प्रत्येक विरोध-आन्दोलन और प्रत्येक विस्फोट का किसी भी क्षण समर्थन करने को तैयार रहे**, और जो उनका उपयोग उन सैनिक शक्तियों को बढ़ाने और मज़बूत करने के लिए कर सके जो निर्णायक युद्ध के लिए आवश्यक होंगी।"

परन्तु 'ईस्क्रा' ने आगे यह लिखा था कि फ़रवरी और मार्च की घटनाओं के बाद अब इस बात को सिद्धान्त रूप में हर आदमी मान लेगा। फिर भी हमें जिस चीज़ की आवश्यकता है, वह यह नहीं है कि इस समस्या का सिद्धान्त रूप में हल निकाला जाये बल्कि यह कि **उसका कोई व्यावहारिक** हल निकले। हमें तुरन्त कोई निश्चित रचनात्मक योजना पेश करनी चाहिए ताकि हर आदमी निर्माण का काम आरम्भ कर सके और **हर तरफ़ से** संगठन बनना शुरू हो जाये। और अब हमें फिर व्यावहारिक हल से हटाकर एक ऐसी चीज़ की ओर घसीटा जा रहा है जो सिद्धान्त रूप में तो बिल्कुल सही, निर्विवाद और महान चीज़ है, पर आम मज़दूरों की दृष्टि से एकदम नाकाफ़ी और क़तई समझ में न आनेवाली चीज़ है, यानी हमसे "मज़बूत राजनीतिक संगठनों को शिक्षा देकर तैयार करने" के लिए कहा जा रहा है! सुयोग्य लेखक महोदय, यहां सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि शिक्षा देकर संगठन तैयार करने का काम **किस तरह** आरम्भ किया जाये और उसे **कैसे** पूरा किया जाये!

यह कहना सही नहीं है कि "अभी तक हम मुख्यतया सजग मज़दूरों के ही बीच काम करते रहे हैं और आम मज़दूर प्रायः केवल आर्थिक संघर्ष में ही लगे रहे हैं"। इस रूप में तो यह स्थापना सजग मज़दूरों को "आम" मज़दूरों के मुक़ाबले में खड़ा करने की उस प्रवृत्ति का रूप धारण कर लेती है जो 'स्वोबोदा' में अक्सर दिखाई पड़ती है और जो बुनियादी तौर पर ग़लत है। पिछले कुछ वर्षों में तो सजग मज़दूर भी "प्रायः केवल आर्थिक संघर्ष में ही लगे रहे हैं"। पहली बात यह है। दूसरी बात यह है कि यदि हम सजग मज़दूरों और बुद्धिजीवियों दोनों के बीच से इस संघर्ष के लिए नेता **तैयार नहीं करेंगे**, तो जनता राजनीतिक संघर्ष चलाना कभी नहीं सीखेगी, और ऐसे नेताओं की शिक्षा **केवल** इसी तरीक़े से हो सकती है कि वे हमारे राजनीतिक जीवन के रोज़मर्रा के **सभी** पहलुओं का और विभिन्न कारणों से तथा विभिन्न वर्गों की तरफ़ से होनेवाले विरोध-आन्दोलन तथा संघर्ष की **सभी कोशिशों** का, नियमित रूप से मूल्यांकन करते चलें। इसलिए, "राजनीतिक संगठनों को शिक्षा देकर तैयार करने" की बातें करना और साथ ही राजनीतिक अख़बार के "काग़ज़ी काम" का "स्थानीय पैमाने पर किये जानेवाले सजीव राजनीतिक काम" से **मुक़ाबला करना** एकदम हास्यास्पद बात है! अरे, 'ईस्क्रा' ने तो अपनी अख़बार की "योजना" को

बेरोज़गारों के ग्रान्दोलन, किसानों के विद्रोहों, ज़िला-बोर्डों के सदस्यों के ग्रसंतोष ग्रौर "ज़ारशाही के ग्रंधे तुर्क जल्लादों के ख़िलाफ़ जनता के क्रोध", ग्रादि का समर्थन करने के लिए "लड़ाकू मुस्तैदी" पैदा करने की "योजना" के ही ग्रनुरूप बनाया है। हर ग्रादमी, जिसे ग्रान्दोलन की थोड़ी भी जानकारी है, ग्रच्छी तरह जानता है कि स्थानीय संगठनों में से ग्रधिकतर इन चीज़ों के बारे में **कभी सपने में भी नहीं सोचते** कि "सजीव राजनीतिक काम" की जिन संभावनाग्रों की ग्रोर यहां संकेत किया गया है, उनमें से कई ऐसी हैं जिन्हें एक भी संगठन **कभी** कार्यान्वित **नहीं** कर पाया है, ग्रौर यह कि मिसाल के लिए, जब ज़िला-बोर्डों के बुद्धिजीवियों में बढ़ते हुए ग्रसंतोष ग्रौर विरोध की ग्रोर ध्यान ग्राकर्षित करने की कोशिश की जाती है, तो नदेज्दिन ("हे भगवन, तो क्या यह ग्रख़बार ज़िला-बोर्ड वालों के लिए निकाला गया है?" – 'पूर्व-घड़ी', पृष्ठ १२९), "ग्रर्थवादी" ('ईस्क्रा' के ग्रंक १२ में प्रकाशित उनका पत्र), ग्रौर बहुत से व्यावहारिक कार्यकर्ता एकदम निराश ग्रौर चिन्तित हो उठते हैं। ऐसी हालत में "ग्रारम्भ करने" का **केवल** यही तरीक़ा हो सकता है कि लोगों को इन तमाम चीज़ों के बारे में **सोचने** के लिए तैयार किया जाये, ग्रौर उन्हें प्रेरणा दी जाये कि वे ग्रसंतोष ग्रौर सक्रिय संघर्ष के सभी विविध रूपों का जोड़ लगायें ग्रौर सामान्यीकरण करें। ग्राज, जब कि सामाजिक-जनवादी कार्यों को बहुत निचले स्तर पर लाया जा रहा है, तब "सजीव राजनीतिक काम" को **केवल** सजीव राजनीतिक ग्रान्दोलन से ही **ग्रारम्भ** किया जा सकता है, ग्रौर यह उस वक़्त तक नहीं हो सकता जब तक कि हमारे पास एक ऐसा ग्रखिल-रूसी ग्रख़बार न हो जो जल्दी-जल्दी निकले ग्रौर जिसका सही तौर पर वितरण हो।

जो लोग 'ईस्क्रा' की "योजना" को "साहित्यिकपने" का सूचक समझते हैं, उन्होंने योजना का सार-तत्व ज़रा भी नहीं समझा है, ग्रौर वे सोचते हैं कि इस समय सबसे उपयोगी साधन के रूप में जिस चीज़ का सुझाव दिया गया है, वही लक्ष्य है। प्रस्तावित योजना के स्पष्टीकरण के लिए जो दो उपमाएं दी गयी थीं, उनका ग्रध्ययन करने की तकलीफ़ इन लोगों ने गवारा नहीं की है। 'ईस्क्रा' ने लिखा था: एक ग्रखिल-रूसी राजनीतिक ग्रख़बार का प्रकाशन वह **मुख्य सूत्र** होगा जिसके सहारे हम संगठन को (ग्रर्थात् एक ऐसे क्रान्तिकारी संगठन को, जो प्रत्येक विरोध-ग्रान्दोलन ग्रौर प्रत्येक विस्फोट का समर्थन करने के लिए

सदा तैयार रहे) अडिग भाव से विकसित कर सकेंगे तथा उसे अधिक गहरा और व्यापक बना सकेंगे। अब ज़रा मुझे कृपया यह बताइये: जब राजगीर लोग कोई बहुत बड़ी इमारत खड़ी करने के लिए, जितनी बड़ी इमारत पहले कभी न देखी गयी हो, उसके अलग हिस्सों में ईंटें बिछाते हैं, तब वे यदि प्रत्येक ईंट के वास्ते ठीक स्थान का पता लगाने के लिए, पूरे काम के अन्तिम लक्ष्य को सदा अपने सामने रखने के लिए, और न केवल हरेक ईंट का, बल्कि ईंट के हरेक टुकड़े का सही इस्तेमाल करने के लिए ताकि वह पहले बिछायी गयी और बाद में बिछायी जानेवाली ईंटों के साथ जुड़कर एक पूर्ण एवं सबको मिलाकर चलनेवाली रेखा बन जाये — इस सबके लिए यदि वे एक डोरी इस्तेमाल करते हैं, तो क्या उसे "काग़ज़ी" काम कहा जायेगा? और क्या अपने पार्टी जीवन में हम ठीक एक ऐसे ही समय से नहीं गुज़र रहे हैं जब कि हमारे पास ईंटें और ईंटें बिछानेवाले राजगीर तो हैं, पर सबका पथप्रदर्शन करनेवाली वह डोरी नहीं है जिसे सब देख सकें और जिसके मुताबिक़ सभी काम कर सकें? उन लोगों को चिल्लाने दीजिये, जो यह कहते हैं कि हम डोरी तानकर अपना हुक्म चलाना चाहते हैं! महानुभावो, यदि हम अपना हुक्म चलाना चाहते तो अपने मुखपृष्ठ पर हम "ईस्क्रा, अंक १" न लिखकर "राबोचाया गाज़ेता, अंक ३" लिखते, जैसा कि हमसे अनेक साथी लिखने के लिए कह रहे थे, और **जैसा लिखने का** हमें ऊपर बतायी गयी घटनाओं के बाद **पूरा अधिकार था**। परन्तु हमने यह नहीं किया। हम हर तरह के झूठे सामाजिक-जनवादियों से निर्ममतापूर्वक लड़ने के लिए अपने हाथों को स्वतंत्र रखना चाहते थे; हम यह चाहते थे कि यदि हम सही ढंग से अपनी डोरी तानते हैं, तो लोग उसका आदर इसलिए करें कि वह सही है, इसलिए नहीं कि उसे पार्टी के अधिकृत मुखपत्र ने ताना है।

"स्थानीय कार्य को केन्द्रीय संस्थाओं के रूप में जोड़ने का प्रश्न एक गोरखधंधा बन गया है," ल० नदेज्दिन हमें उपदेश देते हुए फ़रमाते हैं, "एकता के लिए एकरूप तत्वों की आवश्यकता होती है, और यह उसी चीज़ से पैदा हो सकती है जो दूसरों को जोड़ती हो; लेकिन यह जोड़नेवाला तत्व मज़बूत स्थानीय संगठनों की ही उपज हो सकता है, जो इस समय अपनी एकरूपता के लिए क़तई प्रसिद्ध नहीं हैं।" यह सत्य भी उतना ही प्राचीन तथा निर्विवाद है जितना यह सत्य कि हमें मज़बूत राजनीतिक संगठनों को शिक्षा देकर

तैयार करना चाहिए। और यह सत्य उतना ही बंजर भी है। **हर** सवाल "एक गोरखधंधा है" क्योंकि पूरा राजनीतिक जीवन एक ऐसी अन्तहीन ज़ंजीर है जो असंख्य कड़ियों से बनी है। राजनीतिज्ञ की पूरी कला इस बात में निहित है कि वह उस कड़ी का पता लगा सके और उस कड़ी को ज़्यादा से ज़्यादा मज़बूती से पकड़ सके, जिसके हमारे हाथों से छीन लिये जाने का सबसे कम अन्देशा हो, जो उस समय सबसे अधिक महत्वपूर्ण कड़ी हो, और जो ऐसी कड़ी हो जिसको पकड़ लेने से पूरी ज़ंजीर पर क़ाबू पा लेने की गारंटी हो जाये।* यदि हमारे पास ऐसे अनुभवी राजगीरों का एक दल हो जो मिलकर काम करने में इतने दक्ष हों कि वे बिना किसी निर्देशक डोर के ईंटों को बिलकुल सही स्थान पर रख सकते हों (और सिद्धान्त रूप से यह बात असम्भव हरगिज़ नहीं है), तो शायद हम किसी और कड़ी को पकड़ सकते हैं। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह है कि हमारे पास ऐसे अनुभवी राजगीर अभी नहीं हैं जिन्हें दल बनाकर काम करना आता हो, अक्सर ऐसी जगहों पर ईंटें बिछा दी जाती हैं जहां उनकी कोई ज़रूरत नहीं होती, ईंटें एक सामान्य डोर के अनुसार नहीं बिछायी जातीं, बल्कि इस तरह बिखेर दी जाती हैं कि दुश्मन कभी भी इमारत को इस तरह ढहा सकता है मानो वह ईंटों की नहीं बालू की बनी हुई हो।

अब दूसरी उपमा को लीजिये: "अख़बार न केवल सामूहिक प्रचारक और सामूहिक आन्दोलनकर्ता का, बल्कि सामूहिक संगठनकर्ता का भी काम करता है। इस दृष्टि से **उसकी तुलना** किसी बनती हुई इमारत के चारों ओर बांधे गये **पाड़ से की जा सकती है**; इससे इमारत की रूपरेखा प्रकट होती है और इमारत बनानेवालों को एक-दूसरे के पास आने-जाने में सहायता मिलती है जिससे वे काम का बंटवारा कर सकते हैं, अपने संगठित श्रम द्वारा प्राप्त आम परिणाम

---

*कामरेड क्रिचेव्स्की और कामरेड मार्तिनोव! मैं आप लोगों का ध्यान "तानाशाही", "अनियंत्रित अधिकार", "सर्वोच्च निर्देशक", आदि की इस भयंकर अभिव्यक्ति की ओर आकर्षित करना चाहता हूं! ज़रा सोचिये तो सही: हम लोग पूरी ज़ंजीर पर **क़ाबू पाना** चाहते हैं!! एक शिकायत फ़ौरन रवाना कर दीजिये। आपके लिए तो यहां 'राबोचेये देलो' के बारहवें अंक के वास्ते दो सम्पादकीय लेखों के लिए बना-बनाया मसाला तैयार है!

देख सकते हैं।"* क्या इस उद्धरण से यह मालूम होता है कि कोई कुर्सी-तोड़ लेखक अपनी भूमिका को बढ़ा-चढ़ाकर बता रहा है? पाड़ रहने के काम में नहीं आता, उसे खड़ा करने में सबसे सस्ता सामान इस्तेमाल किया जाता है; उसे अस्थायी रूप से, कुछ समय के लिए ही बनाया जाता है, और जैसे ही इमारत का ढांचा बनकर तैयार हो जाता है, वैसे ही इस ढांचे को गिराकर उसकी लकड़ी जलाने के काम में ले ली जाती है। जहां तक क्रान्तिकारी संगठनों की इमारत बनाने का सवाल है, अनुभव यह बताता है कि कभी-कभी वह बिना पाड़ बांधे भी बना ली जाती है – उदाहरण के लिए, पिछली शताब्दी के आठवें दशक को ले लीजिये। लेकिन वर्तमान समय में यह बात नहीं सोची जा सकती कि जिस इमारत की हमें ज़रूरत है, वह बिना पाड़ बांधे भी बन सकती है।

नदेज्दिन इससे सहमत नहीं हैं और कहते हैं: "'ईस्क्रा' का ख़याल है कि उस अख़बार के चारों ओर और उसके वास्ते काम करने के दौरान में, लोग जमा होंगे और संगठित हो जायेंगे। **परन्तु यदि काम थोड़ा और ठोस हो, तो उसके इर्द-गिर्द** जमा होना और संगठित होना **कहीं ज्यादा आसान होगा**"। बहुत खूब! बहुत खूब! "यदि काम थोड़ा और ठोस हो तो" ... एक रूसी कहावत है कि "कुएं में मत थूको, कहीं उसका पानी न पीना पड़ जाये"। परन्तु कुछ लोग हैं जिन्हें ऐसे कुएं का पानी पीने में कोई एतराज़ नहीं होता जिसमें थूका जा चुका है। इस थोड़ी और ठोस चीज़ के नाम पर "मार्क्सवाद के" हमारे शानदार, क़ानूनी "आलोचक" और 'राबोचाया मीस्ल' के ग़ैर-क़ानूनी प्रशंसक कैसी-कैसी घृणित बातें कह चुके हैं! हमारा काम हमारी अपनी संकुचित मनोवृत्ति, पहलक़दमी के अभाव और हिचकिचाहट के कारण कितना सीमित बना हुआ है, जिस बात को यही परम्परागत दलील देकर उचित ठहराया जाता है कि "यदि काम थोड़ा और ठोस हो तो उसके इर्द-गिर्द जमा होना कहीं ज़्यादा आसान होगा"! और नदेज्दिन – जो यह समझते हैं कि उनमें "जीवन की वास्तविकताओं" को पहचानने की विशेष क्षमता है, जो (बड़े वाक्पटु होने का

---

*मार्तिनोव ने 'राबोचेये देलो' (अंक १०, पृष्ठ ६२) में इस उद्धरण के पहले वाक्य को तो दिया, पर अन्य वाक्यों को छोड़ दिया, मानो वह या तो इसे साफ़ कर देना चाहते थे कि वह इस प्रश्न की मूल बातों पर विचार करने को तैयार नहीं हैं, या यह कि उनको समझने में ही असमर्थ हैं।

दावा करते हुए) "कुर्सी-तोड़" लेखकों को बड़े ज़ोरों के साथ बुरा-भला कहते हैं, और जो 'ईस्क्रा' पर यह आरोप लगाते हैं कि उसे हर जगह "अर्थवाद" ही दिखायी देता है, और जो यह समझते हैं कि वह कट्टरपंथियों और आलोचकों के इस विभाजन से बहुत ऊपर हैं–यह नहीं देखते कि अपनी दलीलों के ज़रिए वह उसी संकुचित मनोवृत्ति के हाथों में खेल रहे हैं जिस पर उन्हें इतना क्रोध आता है, और इस प्रकार वह ऐसे कुएं का पानी पी रहे हैं जिसमें थूका जा चुका है! हां, संकुचित मनोवृत्ति के ख़िलाफ़ किसी में जितना भी सच्चा क्रोध क्यों न हो, इस मनोवृत्ति की घुटने टेककर पूजा करनेवालों को ऊपर उठाने की किसी में कितनी भी उत्कट इच्छा क्यों न हो, लेकिन यह सब नाकाफ़ी होता है जबकि क्रोध करनेवाला आदमी स्वयं ही बिना पाल या पतवार के बहता चला जाता है और पिछली सदी के आठवें दशक के क्रान्तिकारियों की तरह "स्वयं-स्फूर्त ढंग से" ऐसी चीज़ों का सहारा लेने की कोशिश करता है जैसे, "भड़कावा देनेवाले आतंकवादी कार्य", "खेतिहर आतंक", "रणभेरी बजाना", आदि। अब ज़रा इस पर भी एक नज़र डाल लीजिये कि वे "थोड़े और ठोस" काम कौनसे हैं जिनके इर्द-गिर्द जमा और संगठित होना नदेज्दिन के ख़याल में "कहीं ज्यादा आसान" है: (१) स्थानीय अख़बार; (२) प्रदर्शनों की तैयारियां; और (३) बेरोज़गारों के बीच काम। इन कामों पर पहली नज़र डालते ही मालूम हो जायेगा कि उन्हें यों ही बिना सोचे-समझे चुन लिया गया है ताकि कुछ न कुछ कहने को हो जाये; क्योंकि हम उन पर चाहे किसी तरह भी विचार क्यों न करें, लेकिन हमारे लिए उनमें कोई ऐसी बात ढूंढना हास्यास्पद होगा जो लोगों को "जमा करने और संगठित करने" के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हो। अरे, यही नदेज्दिन महाशय कुछ पृष्ठ आगे लिखते हैं: "अब यह बात साफ़-साफ़ कह देने का समय आ गया है कि अलग-अलग स्थानों में बहुत ही घटिया क़िस्म के छोटे-छोटे काम किये जा रहे हैं और समितियां जो कुछ कर सकती थीं, उसका दसवां भाग भी नहीं कर रही हैं... एकता के सूत्र में जोड़नेवाले जो केन्द्र इस समय हमारे पास हैं, वे केवल कल्पना-लोक की वस्तुएं हैं, वे एक ढंग की क्रान्तिकारी नौकरशाही का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसके अन्दर लोग एक-दूसरे को सेनानायक नियुक्त किया करते हैं; और जब तक स्थानीय पैमाने पर मज़बूत संगठन नहीं बनते तब तक यही हालत रहेगी।" इस टिप्पणी में बात को थोड़ा बढ़ा-चढ़ाकर

तो ज़रूर कहा गया है, पर इसमें संदेह नहीं कि उसमें बहुत सी कड़वी किन्तु सच्ची बातें भी मौजूद हैं, लेकिन क्या नदेज्दिन इस बात को नहीं समझते कि स्थानीय पैमाने पर होनेवाले घटिया क़िस्म के काम का पार्टी कार्यकर्ताओं के संकुचित दृष्टिकोण के साथ, उनकी गतिविधि के संकुचित दायरे के साथ सम्बंध है, और यह कि स्थानीय संगठनों में ही बन्द रहनेवाले पार्टी कार्यकर्ताओं के शिक्षा के अभाव के कारण उनके दृष्टिकोण तथा गतिविधि का संकुचित रहना अवश्यम्भावी है? क्या 'स्वोबोदा' में प्रकाशित संगठन सम्बंधी लेख के लेखक की तरह नदेज्दिन भी यह भूल गये हैं कि (१८९८ से) स्थानीय अख़बारों के व्यापक रूप में निकलने लगने के साथ ही साथ किस तरह "अर्थवाद" और "नौसिखुएपन" में भी बहुत ज़ोर आ गया था? यदि थोड़े भी सन्तोषजनक ढंग से "व्यापक रूप में स्थानीय अख़बारों" को निकालना सम्भव होता – (और हम ऊपर दिखा चुके हैं कि कुछ इने-गिने स्थानों को छोड़कर यह काम असम्भव है) – तब भी एकतंत्र पर एक **आम** हल्ला बोलने और एक **संयुक्त** संघर्ष का नेतृत्व करने के लिए **सभी** क्रान्तिकारी शक्तियों को "जमा और संगठित" करना स्थानीय अख़बारों के लिए सम्भव नहीं था। यह न भूलिये कि हम यहां अख़बार की **केवल** लोगों को "जमा करने" और संगठित करनेवाली भूमिका की चर्चा कर रहे हैं, और हम बिखराव के समर्थक नदेज्दिन से उलटकर वही व्यंगपूर्ण सवाल पूछ सकते हैं जो उन्होंने हमसे पूछा है: "क्या हमारे लिए कोई २,००,००० क्रान्तिकारी संगठनकर्ता तैयार करके छोड़ गया है?" इसके अलावा, "प्रदर्शनों की तैयारियों" को 'ईस्क्रा' की योजना के **विरोध में** पेश नहीं किया जा सकता, कारण कि इस योजना में अधिक से अधिक व्यापक रूप में प्रदर्शनों का संगठन करना भी शामिल है और यह **योजना के उद्देश्यों में से एक है**। जिस सवाल पर बहस है, वह यह है कि इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए किन व्यावहारिक **साधनों** का उपयोग किया जाये। नदेज्दिन इस आख़िरी बात को लेकर भी गड़बड़ा गये हैं, क्योंकि वह यह बात भूल गये हैं कि प्रदर्शनों की "तैयारी" केवल वे ही लोग कर सकते हैं जो पहले से "जमा और संगठित" हो गये हों (जब कि अभी तक अधिकांश प्रदर्शन बड़े स्वयं-स्फूर्त ढंग से होते रहे हैं), और जमा और संगठित करने की **योग्यता का** ही हममें **अभाव** है। "बेरोज़गारों के बीच काम।" फिर वही उलझाव नज़र आता है, क्योंकि यहां भी पहले से जत्थेबन्द सेना के एक फ़ौजी पैंतरे का सवाल है, न कि सेना **को**

जत्थेबंद करने की योजना का। यहां भी नदेज्दिन ने इस बात को कि हमारी बिखराव की हालत ने, "२,००,००० संगठनकर्ताओं" के अभाव ने हमें कितना सख़्त नुक़सान पहुंचाया है, कितना कम करके आंका है, इसका पता इस बात से चलता है: बहुत से लोगों ने (जिनमें नदेज्दिन भी शामिल हैं) शिकायत की है कि 'ईस्क्रा' बेरोज़गारी के बारे में बहुत कम समाचार छापता है, और देहाती जीवन के बहुत आम मामलों के बारे में उसमें जो चिट्ठियां छपती हैं, वे यों ही लगे हाथों होती हैं। शिकायत सही है, मगर 'ईस्क्रा' "बिना कोई अपराध किये ही अपराधी है"। हम देहात में भी "डोर लटकाने" की कोशिश करते हैं, पर क्या करें, वहां कोई राजगीर ही नहीं है, और इसलिए **मजबूर होकर** हम **हर उस आदमी को** प्रोत्साहन देते हैं जो हमें बहुत साधारण बातों के बारे में भी ख़बरें देता है, इस आशा से कि इस तरह से इस क्षेत्र में हमारे सम्वाददाताओं की **संख्या** बढ़ जायेगी और अन्त में **हम सभी** सही माने में सबसे महत्वपूर्ण तथ्यों को **छांटने** की कला **सीख जायेंगे**। परन्तु जिस सामग्री के आधार पर हमें यह कला सीखना और सिखाना है, वह इतनी कम है कि यदि हमने पूरे रूस के लिए उसका निचोड़ नहीं निकाला, तो हमारे पास सीखने-सिखाने को बहुत कम मसाला होगा। इसमें शक नहीं कि जिस किसी में आन्दोलनकर्ता के रूप में कम से कम उतनी योग्यता, और आवारों के जीवन का उतना अधिक ज्ञान हो, जितना कि नदेज्दिन में मालूम पड़ता है, तो वह बेरोज़गारों के बीच आन्दोलन चलाकर आन्दोलन की बहुमूल्य सेवा कर सकता है—लेकिन इस प्रकार का व्यक्ति यदि इस काम में अपने प्रत्येक क़दम की ख़बर रूस के अपने **सभी** साथियों को नहीं देता, ताकि दूसरे लोग, जो सब के सब अभी तक किसी नये ढंग का काम हाथ में लेने की योग्यता नहीं रखते उसके उदाहरण से सीख सकें, तो वह अपनी क्षमताओं को दफ़न कर देने का दोषी है।

एकता का महत्व, "जमा और संगठित होने" की आवश्यकता—ये बातें तो अब हर किसी की ज़बान पर हैं; परन्तु ज़्यादातर लोगों के दिमाग़ में इस बारे में कोई निश्चित विचार नहीं है कि काम शुरू कहां से किया जाये और यह एकता किस तरह स्थापित की जाये। मान लीजिये कि हम किसी शहर के अलग-अलग मुहल्लों के मण्डलों को "एक करना" चाहते हैं, तो शायद हर कोई यह बात मान लेगा कि उसके लिए **समान संस्थाओं** का होना आवश्यक है, यानी सबको

मिलाकर केवल एक "संघ" का नाम दे देने से काम नहीं चलेगा, बल्कि इसके लिए ज़रूरी होगा कि सचमुच **समान ढंग का** काम हो, मुहल्लों के बीच सामग्री, अनुभव तथा कार्यकर्ताओं का आदान-प्रदान हो, और न सिर्फ़ मुहल्लेवार कामों का बंटवारा हो, बल्कि नगर-व्यापी पैमाने पर भी ख़ास तरह के कामों के लिए अलग-अलग कार्यकर्ताओं को ख़ास तौर पर तैयार किया जाये। हर कोई मानेगा कि किसी एक मुहल्ले के "साधनों से" (ज़ाहिर है कि यहां मतलब सामग्री और कार्यकर्ताओं से है) कोई बड़ा गुप्त संगठन (वाणिज्य की भाषा में) अपना पूरा ख़र्च भी नहीं चला सकता, और यह संकुचित क्षेत्र किसी विशेषज्ञ को अपनी प्रतिभा का विकास करने का पर्याप्त अवसर नहीं दे सकता। लेकिन कई शहरों को एक साथ जोड़ने के बारे में भी यही बात लागू होती है, क्योंकि एक पूरा इलाक़ा भी इस मामले में बहुत संकुचित क्षेत्र **साबित होगा**, और हमारे सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के इतिहास में यह बात साबित हो चुकी है: राजनीतिक आन्दोलन और संगठनात्मक कार्य के प्रसंग में हम इस बात को पहले ही विस्तार से साबित कर चुके हैं। जिस चीज़ की हमें सबसे अधिक, सबसे पहले और तत्काल आवश्यकता है, वह यह है कि हम काम के दायरे को फैलायें, और **नियमित** और **समान** काम के आधार पर विभिन्न शहरों के बीच **वास्तविक** सम्पर्क क़ायम करें, क्योंकि बिखराव हमारे लोगों के गले में चक्की के पाट की तरह लटका हुआ है, जो ('ईस्क्रा' के एक संवाददाता के शब्दों में) एक "लीक में फंस" गये हैं, उन्हें कोई ज्ञान नहीं है कि दुनिया में क्या हो रहा है, और वे न तो यह जानते हैं कि उन्हें किससे सीखना है और न ही यह कि अनुभव संचय करने और व्यापक ढंग के कार्यों को करने की अपनी इच्छा को पूरा करने का क्या तरीक़ा है। और मैं फिर ज़ोर देकर कहता हूं कि **वास्तविक** सम्पर्क क़ायम करना केवल एक समान अख़बार के द्वारा ही **शुरू** किया जा सकता है क्योंकि वही एक ऐसा नियमित अखिल-रूसी उद्योग हो सकता है, जो विविध प्रकार के कार्यों के परिणामों का सार-तत्व निकालकर उसे सबके सामने पेश करेगा। और इस तरह जनता को उन **तमाम** अनगिनत राहों पर अनथक गति से चलने के लिए **प्रेरित** करेगा जो सबकी सब उसी तरह क्रान्ति की ओर ले जाती हैं जैसे तमाम सड़कें रोम को जाती हैं। यदि हम केवल नाम के लिए एकता नहीं चाहते, तो हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे प्रत्येक मण्डल **तुरन्त** अपने,

समझ लीजिये, चौथाई साधनों को **संयुक्त** कार्य में **सक्रिय रूप से** लगाने के लिए **अलग कर दे** और तब अख़बार तुरन्त ही इस कार्य की आम रूपरेखा, उसका आकार-प्रकार, और उसका स्वरूप उसके सामने पेश करने लगेगा,* उसे ठीक-ठीक वतायेगा कि अखिल-रूसी कार्य में सबसे ज़्यादा कौनसी ख़ामियां महसूस की जा रही हैं, आन्दोलन की कहां कमी है और सम्पर्क कहां कमज़ोर हैं, और इस लम्बी-चौड़ी आम मशीन में कहां और कौन पुर्ज़े ऐसे हैं जिनकी मरम्मत हो सकती है, या जिनकी जगह बेहतर पुर्ज़े लगाये जा सकते हैं। तब कोई ऐसा मण्डल, जिसने अभी काम शुरू नहीं किया है लेकिन जो काम की तलाश कर रहा है, एक अलग छोटे से कारख़ाने में काम करनेवाले उस कारीगर की तरह नहीं जिसे इसका कोई ज्ञान नहीं है कि उससे पहले "उद्योग" का कितना विकास हो चुका है या उद्योग में प्रचलित उत्पादन के तरीक़ों का आम स्तर क्या है, बल्कि वह एक ऐसे विशाल व्यवसाय के एक साझीदार की तरह काम शुरू कर सकता है जो एकतंत्र के ख़िलाफ़ सम्पूर्ण आम क्रान्तिकारी आक्रमण का **सूचक होगा।** और इस विशाल यंत्र का प्रत्येक पुर्ज़ा जितना ही निर्विकार होगा, समान कार्य के लिए छोटे-छोटे अनेक काम करनेवालों की संख्या जितनी ही बड़ी होगी, उतना ही ज़्यादा हमारा जाल – हमारा संगठन – अधिक सुगठित होता जायेगा, और तब पुलिस के अवश्यम्भावी छापों से हमारी पांतों में उतनी ही कम अव्यवस्था और निराशा फैलेगी।

अख़बार का (यदि वह सचमुच अख़बार कहलाने के योग्य है, यानी यदि वह मासिक पत्रिका की तरह महीने में एक बार नहीं बल्कि महीने में चार बार नियमित रूप से निकलता है) केवल वितरण करने के दौरान में ही **वास्तविक** सम्पर्क क़ायम होने लगेंगे। इस समय क्रान्तिकारी काम के लिए शहरों के बीच सूचना का आदान-प्रदान शायद ही कभी होता है, कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह नियम से नहीं, बल्कि अपवाद-स्वरूप ही होता है। पर

---

*इसके लिए एक **शर्त** है: वह यह कि वह मण्डल उस अख़बार की नीति के साथ सहानुभूति रखता हो और उसके साथ सहयोग करने में – जिसका अर्थ केवल साहित्यिक सहयोग नहीं बल्कि आम क्रान्तिकारी सहयोग है – कोई लाभ देखता हो। **'राबोचेये देलो' के लिए नोट**: जो क्रान्तिवादी कार्य को महत्व देते हैं न कि जनवाद का नाटक खेलने को, जो "सहानुभूति" को अधिक से अधिक सक्रिय और सजीव सहयोग से अलग नहीं करते, वे इस शर्त को मानकर चलते हैं।

यदि हमारे पास एक अख़बार हो तो इस प्रकार का आदान-प्रदान एक नियम बन जायेगा, और तब ज़ाहिर है न सिर्फ़ अख़बार का वितरण होगा, बल्कि उसके द्वारा अनुभव, सामग्री, कार्यकर्ताओं और साधनों का आदान-प्रदान भी होने लगेगा (और इस बात का अधिक महत्व है)। तब संगठनात्मक काम का दायरा एकबारगी पहले से कई गुना विस्तार प्राप्त कर लेगा और एक स्थान में जो सफलता हासिल होगी, वह और दक्षता प्राप्त करने की स्थायी प्रेरणा बन जायेगी और देश के अन्य भागों में काम करनेवाले साथियों के अनुभव का उपयोग करने की इच्छा को जागृत करेगी। स्थानीय काम आज से कहीं अधिक सर्वांगीण और वैविध्यपूर्ण बन जायेगा। तब राजनीतिक और आर्थिक भंडाफोड़ के लिए सारे रूस से एकत्रित सामग्री से सभी पेशों और **विकास के प्रत्येक स्तर** के मज़दूरों को बौद्धिक भोजन मिलेगा, उससे विविध विषयों पर भाषण देने और पढ़कर सुनाने के लिए सामग्री मिलेगी, जिनके लिए, इसके अलावा, क़ानूनी अख़बारों के इशारों से, जनता में चलनेवाली चर्चा से और सरकार के "शर्मनाक" बयानों से भी सुझाव मिलेंगे। रूस के सभी भागों में हर प्रदर्शन और हर विस्फोट पर सभी पहलुओं से विचार-विमर्श होगा और उनके गुणों तथा दोषों को परखा जायेगा; बाक़ी लोगों के साथ क़दम से क़दम मिलाकर चलने की और उनसे अधिक अच्छा काम करने की (हम समाजवादी हर प्रकार की प्रतिद्वंद्विता या हर तरह की "प्रतियोगिता" के ख़िलाफ़ हरगिज़ नहीं हैं!) और पहले जो कुछ मानो स्वयं-स्फूर्त ढंग से प्रकट हो जाया करता था, अब उसके लिए सचेतन ढंग से तैयारी करने की इच्छा उत्पन्न होगी, किसी विशेष स्थान की या किसी विशेष मौक़े की सुविधाजनक परिस्थितियों से लाभ उठाकर आक्रमण की योजना में संशोधन करने की इच्छा उत्पन्न होगी, इत्यादि। इसके साथ-साथ, तब स्थानीय काम के इस पुनरुत्थान का परिणाम यह नहीं होगा कि प्राणपण से और बदहवास होकर **सारी** ताक़त को लगा दिया जाये और **सारे** साधनों को झोंक दिया जाये, जैसा कि आजकल हर प्रदर्शन के लिए, या स्थानीय अख़बार का हर अंक निकालने के सिलसिले में अक्सर होता है। एक तो पुलिस के लिए हमारी "जड़ों" तक पहुंचना पहले से बहुत ज़्यादा मुश्किल हो जायेगा, क्योंकि वह यह नहीं जान पायेगी कि इन जड़ों की किस मुहल्ले में तलाश करनी चाहिए। दूसरे, नियमित रूप से समान कार्य करने के दौरान में हमारे लोग यह भी सीख जायेंगे कि किसी **ख़ास**

हमले का ज़ोर ग्राम सेना से संबंधित दस्ते की ताक़त के अनुसार कैसे घटाया-बढ़ाया जाता है (आजकल कभी कोई इसकी फ़िक्र नहीं करता क्योंकि दस में से नौ हमले स्वयं-स्फूर्त ढंग से होते हैं), और इससे न सिर्फ़ साहित्य को, बल्कि क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को भी एक स्थान से दूसरे स्थान "भेजने" में आसानी होगी।

इस समय इन साधनों को प्रायः सीमित ढंग के स्थानीय काम में ख़र्च और नष्ट किया जा रहा है, परन्तु जब उपरोक्त परिस्थितियां पैदा होंगी, तब हमेशा इस बात की सम्भावना रहेगी और अवसर पैदा हुआ करेंगे कि जो आन्दोलनकर्ता या संगठनकर्ता थोड़ी भी योग्यता रखते हों, उन्हें देश के एक कोने से हटाकर दूसरे कोने में भेज दिया जाये। शुरू में लोग पार्टी के काम के लिए पार्टी के ख़र्चे से छोटी-छोटी यात्राएं करेंगे, बाद में उन्हें इस बात की आदत पड़ जायेगी कि पार्टी ही उनका सारा ख़र्चा चलाये, वे पेशावर क्रान्तिकारी बन जायेंगे और सच्चे राजनीतिक नेता बनने के लिए अपने को शिक्षित करेंगे।

और यदि हम सचमुच ऐसी हालत पैदा करने में सफल हो जायें जिसमें सभी, या कम से कम अधिकतर स्थानीय समितियां, स्थानीय दल और मण्डल समान उद्देश्य के लिए सक्रिय रूप से काम करने लगें, तो हम निकट भविष्य में ही एक ऐसा साप्ताहिक अख़बार प्रकाशित करने में कामयाब होंगे जिसकी दसियों हज़ार प्रतियां रूस भर में नियमित रूप से वितरित हुआ करेंगी। यह अख़बार एक ऐसी बड़ी धौंकनी का हिस्सा बन जायेगा जो वर्ग-संघर्ष और जनता के रोष की प्रत्येक चिनगारी को सुलगाकर धधकती हुई आग में बदल देगी। एक ऐसी चीज़ के इर्द-गिर्द, जो अपने में एक बहुत मासूम और बहुत ही छोटी चीज़ है, पर जो एक नियमित और अपने पूरे अर्थ में **समान** प्रयास है, परखे हुए योद्धाओं की एक स्थायी सेना नियमबद्ध तरीक़े से जमा होती जायेगी और लड़ने की शिक्षा प्राप्त करती जायेगी। इस आम संगठनात्मक ढांचे की सीढ़ियों और पाड़ के सहारे शीघ्र ही हमारे क्रान्तिकारियों में से सामाजिक-जनवादी जेल्याबोव जैसे और हमारे मज़दूरों में से रूसी बेबेल जैसे लोग पैदा होने और सामने आने लगेंगे, और वे पूरी जत्थेबन्द सेना का नेतृत्व अपने हाथों में संभाल लेंगे तथा रूस के कलंक और अभिशाप से हिसाब चुकाने के लिए देश की समस्त जनता को जगायेंगे।

हमें इसी का स्वप्न देखना चाहिए!

* * *

"हमें स्वप्न देखना चाहिए!" मैंने ये शब्द लिखे ही थे कि मैं यकायक चौंक पड़ा। मुझे ऐसा लगा मानो मैं एक "एकता सम्मेलन" में बैठा हूं और मेरे सामने 'राबोचेये देलो' के सम्पादक तथा लेखक-गण बैठे हुए हैं। कामरेड मार्तिनोव उठते हैं और मेरी ओर रुख़ करके बड़ी कठोर मुद्रा के साथ कहते हैं: "जनाब, मुझे यह प्रश्न करने की इजाज़त दीजिये कि क्या किसी स्वायत्त-अधिकारप्राप्त सम्पादक-मंडल को पहले पार्टी समितियों की राय लिये बिना सपना देखने का अधिकार है?" और उनके बाद कामरेड क्रिचेव्स्की उठते हैं और वह (कामरेड प्लेख़ानोव को बहुत पहले ही ज़्यादा गूढ़ बनानेवाले कामरेड मार्तिनोव को भी दार्शनिक ढंग से और ज़्यादा गूढ़ बनाते हुए) और भी अधिक कठोर मुद्रा के साथ कहते हैं: "मैं और आगे जाता हूं। मैं पूछता हूं कि क्या किसी मार्क्सवादी को सपना देखने का कोई अधिकार है, जबकि वह यह जानता है कि मार्क्स के मतानुसार मनुष्य-जाति अपने सामने सदा ऐसे काम रखती है जिन्हें वह पूरा कर सकती है, और यह कि कार्यनीति पार्टी के कामों के विकास की प्रक्रिया है, जो पार्टी के विकास के साथ बढ़ रहे हैं?"

इन कठोर प्रश्नों का विचार मात्र मेरा ख़ून सर्द कर देता है और मेरे मन में सिवा इसके और कोई इच्छा नहीं रह जाती कि कहीं कोई ऐसी जगह मिल जाये जहां मैं छिप जाऊं। सो मैं पिसारेव की पीठ के पीछे छिपने की कोशिश करूंगा।

पिसारेव ने सपनों और वास्तविकता के अन्तर के विषय में लिखा था: "अन्तर कई तरह का होता है। मेरा सपना स्वाभाविक घटना-क्रम से आगे जा सकता है या घटनाओं की दिशा से बिल्कुल अलग एक ऐसी दिशा में जा सकता है जिस दिशा में घटनाओं का स्वाभाविक प्रवाह कभी नहीं जायेगा। पहली सूरत में मेरे सपने से किसी प्रकार की हानि न होगी, बल्कि सम्भव है कि उससे श्रमजीवी मानव की क्रियाशीलता को बल मिले और उसमें नया जोश आ जाये... ऐसे सपनों में कोई बात ऐसी नहीं होती जिससे श्रमिकों की शक्ति के बहक जाने या पंगु हो जाने की आशंका हो। इसके विपरीत, यदि मनुष्य से इस प्रकार के सपने देखने की क्षमता बिल्कुल छीन ली जाये, यदि उसमें समय-समय पर घटनाओं से आगे निकल जाने और जिस चीज़ के तैयार करने में अभी उसने हाथ ही लगाया है, उसकी पूरी तसवीर मन में बनाने की क्षमता न रहे, तो मैं

नहीं समझता कि फिर कला और विज्ञान के क्षेत्र में तथा व्यावहारिक प्रयासों के क्षेत्र में व्यापक तथा श्रमसाध्य कार्य का बीड़ा उठाने और उसे पूरा करने की प्रेरणा मनुष्य को कहां से मिलेगी ... सपनों तथा वास्तविकता के अन्तर से कोई हानि नहीं होती है, पर शर्त सिर्फ़ यह है कि सपना देखनेवाला व्यक्ति अपने स्वप्न में सचमुच विश्वास करता हो, जीवन का ध्यानपूर्वक अवलोकन करता हो, जीवन के तथ्यों का अपने कल्पना के महलों से मिलान करता रहता हो, और यह कि वह आम तौर से अपने सपनों को साकार करने के लिए ईमानदारी से काम करता हो। यदि सपनों का जीवन से थोड़ा सा भी सम्बंध है, तो सब ठीक है।"[159]

दुर्भाग्य की बात है कि हमारे आन्दोलन में इस प्रकार के सपने बहुत कम देखे जाते हैं। और इसकी ज़्यादा ज़िम्मेदारी उन लोगों पर है जो इस बात पर गुमान करते हैं कि उनके विचार सदा बड़े संतुलित रहते हैं और वे हमेशा "ठोस वास्तविकता" के "नज़दीक" रहते हैं—हमारा मतलब क़ानूनी आलोचना और ग़ैर-क़ानूनी "पुछल्लावाद" के प्रतिनिधियों से है।

(ग) हमें किस ढंग के संगठन की आवश्यकता है?

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे पाठक की समझ में यह बात आ गयी होगी कि हमारी "योजना-के-रूप-में-कार्यनीति" यह है कि हम आक्रमण का **नारा** फ़ौरन देने के ख़िलाफ़ हैं, हम मांग करते हैं कि "दुश्मन के क़िले के चारों ओर बाक़ायदा घेरा डाल दिया जाये", या दूसरे शब्दों में, हम यह मांग करते हैं कि इस वक़्त सारी कोशिश स्थायी सेना को एकत्रित करने, संगठित करने और उनकी **जत्थेबन्दी करने** में लगा दी जाये। जब 'राबोचेये देलो' "अर्थवाद" से उछलकर एकदम आक्रमण के लिए शोर मचाने लगा (जिसके लिए उसने **अप्रैल** १६०१ में, "लिस्तोक 'राबोचेवो देला'"[160], अंक ६ में बड़ा शोर मचाया था) और हमने इसपर उसका मज़ाक़ बनाया, तो वह तुरन्त हमपर यह आरोप लगाने के लिए झपट पड़ा कि हम लोग "लकीर के फ़कीर" हैं, हम अपना क्रान्तिकारी कर्तव्य नहीं समझते, सतर्कता पर ज़ोर देते हैं, इत्यादि। ज़ाहिर है कि हम लोगों को न तो यह देखकर ही कोई विशेष आश्चर्य हुआ कि जिन लोगों में सिद्धान्तों का पूर्ण अभाव है, और जो "प्रक्रिया-के-रूप-में-कार्यनीति" की बड़ी-बड़ी बातें करके सब दलीलों से कतराते हैं, वे ही लोग हमपर इस तरह के आरोप लगा

रहे हैं, और न ही हमें यह देखकर कोई ताज्जुब हुआ कि नदेज्दिन भी, जो खुद हर प्रकार के टिकाऊ कार्यक्रमों तथा कार्यनीति के मूल सिद्धान्तों को आम तौर पर घोर उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, इन्हीं आरोपों को दुहरा रहे हैं।

कहा जाता है कि इतिहास कभी अपने को दुहराता नहीं। लेकिन नदेज्दिन इस बात की जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं कि इतिहास अपने को दुहराये और "क्रान्तिकारी संस्कृतिवाद" की तीव्र निन्दा करने, "बिगुल बजाने", तथा "क्रान्ति की पूर्व-घड़ी का विशेष दृष्टिकोण रखने" आदि के बारे में शोर मचाने में बड़ी लगन के साथ त्काचोव की नक़ल कर रहे हैं। शायद वह इस मशहूर उक्ति को भूल गये हैं कि यदि कोई मूल ऐतिहासिक घटना सही माने में एक दुखान्त नाटक के रूप में सामने आती भी है, तो दूसरी बार जब उसकी नक़ल की जाती है, तो वह महज़ प्रहसन बनकर रह जाती है[161]। सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के जिस प्रयत्न की तैयारी त्काचोव की सीख के द्वारा हुई थी और जो प्रयत्न "भयभीत करनेवाले" उस आतंक द्वारा कार्यान्वित हुआ था, जो सही माने में भयभीत करनेवाला था, वह एक शानदार प्रयत्न था, लेकिन एक छोटे त्काचोव का "भड़कानेवाला" आतंक केवल हास्यास्पद है, और जब औसत मज़दूरों के संगठन का विचार भी उसके साथ जुड़ जाता है, तब तो वह विशेष रूप से हास्यास्पद बन जाता है।

नदेज्दिन ने लिखा: "यदि 'ईस्क्रा' केवल अपने साहित्यिकपने से मुक्त हो जाता, तो वह इस बात को महसूस करने लगता कि ये बातें (जैसे कि अंक ७ में 'ईस्क्रा' के नाम एक मज़दूर का पत्र आदि जैसी मिसालें) इस सचाई की ओर संकेत करती हैं कि जल्द ही, बहुत जल्द ही, वह 'चढ़ाई' शुरू होनेवाली है; और इस वक़्त (जी हां!) एक अखिल-रूसी अख़बार के साथ जुड़े संगठन की बातें करना – कुर्सी-तोड़ों के विचारों का प्रचार करना और उनकी तरह काम करना है।" यह भी सचमुच कैसा कल्पनातीत गड़बड़घोटाला है: एक तरफ़ तो भड़कानेवाले आतंक तथा "औसत मज़दूरों के संगठन" के साथ-साथ यह राय कि स्थानीय अख़बार जैसी "थोड़ी और ठोस" चीज़ के गिर्द लोगों को जमा करना कहीं "ज़्यादा आसान" है – और दूसरी तरफ़ यह ख़याल कि "इस वक़्त" एक अखिल-रूसी संगठन की बात करना कुर्सी-तोड़ों के विचारों का प्रचार करना है, या स्पष्ट और दो-टूक शब्दों में "इस वक़्त" इस काम के लिए बहुत देरी हो गयी है! लेकिन फिर "स्थानीय अख़बारों के व्यापक संगठन" का क्या होगा –

प्रिय नदेज्दिन साहब, क्या उसके लिए बहुत देरी नहीं हो गयी है? ग्रौर इस दृष्टिकोण के साथ 'ईस्क्रा' के दृष्टिकोण तथा कार्यनीति की तुलना कीजिये: भड़कानेवाले ग्रातंक की बात बकवास है, ग्रौसत मज़दूरों का संगठन बनाने ग्रौर स्थानीय ग्रख़बारों के **व्यापक रूप में** प्रकाशन की बात करने का मतलब "ग्रर्थवाद" के लिए एकदम दरवाज़ा खोल देना है। हमें क्रान्तिकारियों के एक ही ग्रखिल-रूसी संगठन की बात करनी चाहिए ग्रौर जब तक वह सच्ची चढ़ाई – काग़ज़ी चढ़ाई नहीं – शुरू नहीं हो जाती, तब तक यह कभी न समझना चाहिए कि इस प्रकार का संगठन बनाने के लिए ग्रब बहुत देरी हो गयी है।

नदेज्दिन ने ग्रागे लिखा है: "हां, जहां तक संगठन का सम्बंध है, परिस्थिति बहुत ग्रच्छी हरगिज़ नहीं है। हां, 'ईस्क्रा' का यह कहना बिल्कुल सही है कि हमारे सैनिकों में से ग्रधिकांश स्वयंसेवक तथा विद्रोही हैं... हमारी ताक़त की हालत का ऐसा संतुलित चित्र उपस्थित करके ग्रापने एक ग्रच्छा काम किया है। पर, इसके साथ-साथ, ग्राप यह क्यों भूल जाते हैं कि यह **भीड़ हमारी क़तई नहीं है**, ग्रौर इसलिए वह **हमसे नहीं पूछेगी** कि लड़ाई कब शुरू की जाये, बल्कि एकदम सीधे जाकर 'विद्रोह' शुरू कर देगी... जब भीड़ ख़ुद ग्रपनी स्वाभाविक विनाशकारी शक्ति के साथ फूट पड़ती है तब यह **सम्भव है** कि वह उस 'नियमित सेना' को धक्का मारकर रास्ते से हटा दे जिसके ग्रन्दर हम इतने दिनों से बहुत ही व्यवस्थित ढंग का संगठन पैदा करने की कोशिशें लगातार कर रहे थे, पर कभी उसमें **सफल** नहीं हुए थे।" (शब्दों पर ज़ोर हमारा है।)

कैसा ग्राश्चर्यजनक तर्क है! चूंकि "भीड़ हमारी नहीं है", **इसी लिए** तो इसी क्षण "चढ़ाई करने" की चीख़-पुकार मचाना मूर्खतापूर्ण ग्रौर ग्रशोभनीय है, क्योंकि चढ़ाई का मतलब नियमित सेना का हमला होता है, न कि भीड़ का स्वयं-स्फूर्त विस्फोट। चूंकि इस बात की **सम्भावना** है कि भीड़ नियमित सेना को धक्का मारकर रास्ते से हटा दे, इसी लिए तो ग्रावश्यक है कि हम नियमित सेना में "बहुत ही व्यवस्थित ढंग का संगठन पैदा करने" के ग्रपने काम द्वारा स्वयं-स्फूर्त उभार के साथ रहें, उससे किसी भी हालत में "पिछड़ने न पायें", क्योंकि जितना ही हम इस प्रकार का संगठन पैदा करने में "सफल" होंगे, उतनी

ही अधिक यह सम्भावना बढ़ती जायेगी कि भीड़ नियमित सेना को धक्का मारकर रास्ते से न हटा पायेगी, बल्कि नियमित सेना भीड़ के आगे-आगे रहकर उसका नेतृत्व करने में कामयाब होगी। नदेज्दिन के दिमाग़ में उलझाव है क्योंकि वह समझते हैं कि जिन सैनिकों का नियमित रूप से संगठन किया जा रहा है, वे किसी ऐसे काम में लगे हुए हैं जो उनको भीड़ से काटकर अलग कर देता है, जब कि सचाई यह है कि ये सैनिक केवल चौमुखा और सर्वांगीण राजनीतिक आन्दोलन चला रहे हैं, यानी ये ठीक एक ऐसे काम में लगे हुए हैं जो भीड़ की अचेतन विनाशकारी शक्ति को और क्रान्तिकारियों के संगठन की सचेतन विनाशकारी शक्ति को **एक-दूसरे के समीप लाता है और उन्हें मिलाकर एक कर देता है**। महानुभावो, आप उन लोगों को दोष देना चाहते हैं जो निर्दोष हैं। क्योंकि यह तो 'स्वोबोदा' दल है जो अपने **कार्यक्रम में** आतंकवादी कार्रवाइयों को शामिल करके आतंकवादियों का एक संगठन खड़ा करना चाहता है; और ऐसा संगठन सचमुच हमारे सैनिकों को उस भीड़ के निकट होने से रोकेगा जो दुर्भाग्य से अभी तक हमारी नहीं है और जो दुर्भाग्यवश हमसे अभी यह नहीं पूछती, या कभी-कभार ही पूछती है, कि लड़ाई कब और कैसे शुरू की जाये।

'ईस्क्रा' को भयभीत करने की कोशिश में नदेज्दिन आगे यह कहते हैं: "जिस तरह हम हाल की घटनाओं के समय चूक गये – जो निर्मेघ आकाश से वज्रपात के समान हमपर टूट पड़ी थीं – उसी तरह हम स्वयं क्रान्ति के समय भी चूक जायेंगे।" इस वाक्य पर उपरोक्त वाक्य के प्रसंग में विचार कीजिये तो एकदम स्पष्ट हो जायेगा कि 'स्वोबोदा' ने जिस "क्रान्ति की पूर्व-घड़ी के दृष्टिकोण" का ख़ास तौर से आविष्कार किया है, वह कितना मूर्खतापूर्ण है*। स्पष्ट शब्दों में कहा जाये तो इस विशेष "दृष्टिकोण" का निचोड़ यह निकलता है: "अब" बहस करने और तैयारी करने का समय नहीं रह गया है। पर, हे "साहित्यिकपने" के योग्य विरोधी, यदि बात ऐसी ही है तो फिर "सिद्धान्त** तथा कार्यनीति

---

* 'क्रान्ति की पूर्व-घड़ी', पृष्ठ ६२।

** और हां, "सिद्धान्त के प्रश्नों का सिंहावलोकन" नामक अपनी रचना में नदेज्दिन ने सिद्धान्त के प्रश्नों की विवेचना में निम्नलिखित उद्धरण के सिवा शायद और कोई योग नहीं दिया है; और यह उद्धरण "क्रान्ति की पूर्व-घड़ी के दृष्टिकोण" से एक बहुत अजीब चीज़ है: "कुल मिलाकर देखा जाये

के प्रश्नों पर" १३२ पृष्ठों की एक पुस्तिका लिखने से क्या लाभ था? आपके विचार में क्या "क्रान्ति की पूर्व-घड़ी का दृष्टिकोण" रखनेवालों के लिए इससे कहीं अधिक शोभनीय बात यह न होती कि वे १,३२,००० परचे निकालते और उनमें केवल इस तरह की संक्षिप्त ललकार रहती: "उन्हें मार भगाओ!"?

जो लोग देशव्यापी राजनीतिक आन्दोलन को 'ईस्क्रा' की तरह अपने कार्यक्रम, अपनी **कार्यनीति और अपने संगठनात्मक कार्य** की आधारशिला मानते हैं, उन्हें इस बात का सबसे कम ख़तरा है कि क्रान्ति आयेगी और चली जायेगी और कुछ हो नहीं पायेगा। जो लोग सारे रूस में एक अखिल-रूसी अख़बार से सम्बद्ध संगठनों का जाल बुनने के काम में लगे हुए थे, उनके लिए वसन्त के दिनों की घटनाएं यकायक नहीं हुई थीं, बल्कि इसके विपरीत उनकी बदौलत हम इन घटनाओं की भविष्यवाणी भी कर सके। न ही ये लोग उन प्रदर्शनों के समय चूके थे जिनका 'ईस्क्रा' के अंक १३ और १४ में वर्णन किया गया था[162], बल्कि उन्होंने इन प्रदर्शनों में भाग लिया था और इस बात को साफ़ तौर पर समझकर भाग लिया था कि अपने-आप उठती हुई भीड़ की मदद करना उनका कर्तव्य है; और उसके साथ ही साथ उन्होंने अख़बार के ज़रिए रूस के सभी साथियों को इन प्रदर्शनों का अधिक घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने तथा उनके अनुभव से लाभ उठाने में मदद दी थी। और यदि ये लोग जीवित रहे तो वे उस क्रान्ति के समय भी नहीं चूकेंगे जिसमें

तो इस समय हमारे लिए बर्न्सटीनवाद की तीव्रता कम होती जा रही है, और उसी तरह इस सवाल का महत्व भी घटता जा रहा है कि क्या श्री अदमोविच ने यह साबित कर दिया है कि श्री स्त्रूवे सम्मान के अधिकारी हैं, या क्या इसके विपरीत श्री स्त्रूवे श्री अदमोविच का खंडन करेंगे और इस्तीफ़ा देने से इनकार कर देंगे – सच्ची बात यह है कि अब इन चीज़ों से कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि क्रान्ति की घड़ी आ पहुंची है।" (पृष्ठ ११०) सिद्धान्त के सवाल पर ल० नदेज्दिन के मन में कितनी असीम उपेक्षा है, इसका इससे अच्छा उदाहरण दूसरा नहीं मिल सकता। हम "क्रान्ति की पूर्व-घड़ी" की घोषणा कर चुके हैं, **इसलिए** अब इससे "कोई अन्तर नहीं पड़ता" कि कट्टरपंथी लोग आलोचकों को मार भगाने में कामयाब होंगे या नहीं! और हमारे ये विद्वान यह नहीं देख पाते कि आलोचकों से हमने जो सैद्धान्तिक लड़ाइयां लड़ी हैं, उनके नतीजों की हमें ठीक क्रान्ति के दौरान में ही आवश्यकता होगी, ताकि हम उन लोगों की **व्यावहारिक** स्थापनाओं का भी दृढ़ता के साथ मुक़ाबला कर सकें।

सबसे पहले और सबसे अधिक इस बात की आवश्यकता होगी कि हममें आन्दोलन करने का काफ़ी अनुभव हो, जनता के प्रत्येक विरोध-प्रदर्शन का (सामाजिक-जनवादी ढंग से) समर्थन करने की योग्यता हो, और स्वयं-स्फूर्त आन्दोलन को अपने मित्रों की ग़लतियों और शत्रुओं के फन्दों से बचाते हुए संचालित करने की क्षमता हो!

इस प्रकार हम अब उस अन्तिम कारण पर आ जाते हैं जो हमें एक समान अख़बार के लिए मिल-जुलकर काम करने के आधार पर एक अखिल-रूसी अख़बार के गिर्द संगठन की योजना पर इतना ज़ोर देने के लिए विवश कर रहा है। केवल ऐसा संगठन ही उस **लचकीलेपन** की गारंटी कर सकता है जिसका एक लड़ाकू सामाजिक-जनवादी संगठन में होना आवश्यक है, अर्थात् यह योग्यता कि संघर्ष की तेज़ी से बदलती हुई नाना प्रकार की परिस्थितियों के अनुरूप वह तेज़ी से अपने को बदलता जाये, कि "एक ओर तो जब किसी दुश्मन की ताक़त अपने से बहुत ज़्यादा हो और जब उसने अपनी सारी शक्ति एक स्थान पर लगा रखी हो, तब वह खुली लड़ाई से बच जाये, और दूसरी ओर वह इस दुश्मन की कमज़ोरियों से फ़ायदा उठा सके और उसपर ऐसे समय और ऐसे स्थान पर हमला करे जब और जहां दुश्मन को इसकी सबसे कम आशंका हो।"* यह सचमुच एक

---

* 'ईस्क्रा', अंक ४, 'कहां से आरम्भ करें?'– नदेज्दिन ने लिखा है: "क्रान्तिकारी संस्कृतिवादी, जो क्रान्ति की पूर्व-घड़ी का दृष्टिकोण नहीं मानते, इस बात से ज़रा भी चिन्तित नहीं हैं कि उन्हें अभी एक दीर्घ काल तक काम करना पड़ेगा।" (पृष्ठ ६२) हमारा जवाब यह है: यदि हम **एक दीर्घ काल तक काम करने के वास्ते** राजनीतिक कार्यनीति और संगठनात्मक योजना नहीं बनायेंगे, और उसके साथ-साथ **इसी काम के दौरान में** अपनी पार्टी को इस योग्य नहीं बनायेंगे कि जब कभी घटनाचक्र में तेज़ी आये तो वह अपने कर्तव्य-स्थल पर मौजूद रहे और हर कठिनाई का सामना करते हुए अपनी ज़िम्मेदारियों को मुस्तैदी के साथ पूरा करे, तो हम अपने को कोरे राजनीतिक जुआरी साबित करेंगे। नदेज्दिन ने अभी कल ही अपने को सामाजिक-जनवादी कहना शुरू किया है, और केवल वही यह भूल सकते हैं कि सामाजिक-जनवाद का लक्ष्य सारी मानवता के जीवन की परिस्थितियों में मौलिक परिवर्तन करना है, और इसलिए किसी सामाजिक-जनवादी को इस सवाल से "चिन्तित" होने का अधिकार नहीं है कि उसके काम के पूरे होने में कितना समय लगेगा।

बहुत बड़ी ग़लती होगी यदि हम केवल विस्फोटों और सड़कों पर फूट पड़नेवाले संघर्षों की आशा से, या केवल "नीरस दैनिक संघर्ष की प्रगति" के आधार पर अपना पार्टी संगठन खड़ा करेंगे। हमें तो अपना रोज़मर्रा का काम **हमेशा** चलाते जाना और सदा हर बात के लिए तैयार रहना है, क्योंकि बहुधा यह बताना असम्भव होता है कि विस्फोटों का काल कब समाप्त हो जायेगा और कब उसकी जगह शान्ति का काल आरम्भ हो जायेगा। और जब ऐसे मामले में पहले से कुछ कह सकना सम्भव भी हो, तब भी हम अपनी इस दूरदर्शिता से लाभ न उठा पायेंगे और संगठन को फिर से नहीं गढ़ सकेंगे, क्योंकि एक ऐसे देश में जहां एकतांत्रिक शासन क़ायम है, ये परिवर्तन आश्चर्यजनक तेज़ी से होते हैं और कभी-कभी तो यनिचारों[163] द्वारा रात को एक बार छापा मारे जाने से ही ऐसे परिवर्तन आरम्भ हो जाते हैं। और ख़ुद क्रान्ति को भी एक कार्य या घटना हरगिज़ नहीं समझना चाहिए (जैसा कि नदेज्दिन जैसे लोग सम्भवतः समझते हैं); वह तो एक ऐसा क्रम होता है जिसमें कमोबेश ज़ोरदार विस्फोट और न्यूनाधिक निश्चल शान्ति के काल बारी-बारी से बहुत जल्दी-जल्दी आते रहते हैं। इस कारण हमारे पार्टी संगठन की गतिविधियों का प्रधान तत्व, इस गतिविधि का केन्द्र, एक ऐसा काम होना चाहिए जो ज़्यादा से ज़्यादा ज़ोरदार विस्फोटों के काल में भी सम्भव तथा आवश्यक हो और पूर्ण शान्ति के काल में भी, अर्थात् उसे राजनीतिक आन्दोलन का ऐसा काम होना चाहिए जो सारे रूस में फैला हो, जो जीवन के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाले, और जो जनता के अधिक से अधिक व्यापक हिस्सों के बीच हो। परन्तु आज के रूस में, एक काफ़ी जल्दी-जल्दी निकलनेवाले अखिल-रूसी अख़बार के अभाव में, ऐसे काम की **कल्पना भी नहीं की जा सकती**। इस अख़बार के चारों ओर जो संगठन खड़ा होगा, उसके **सहयोगियों** का (यहां इस शब्द का हम उसके अधिक से अधिक व्यापक अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं, अर्थात् अख़बार के लिए काम करनेवाले सभी लोगों का) जो संगठन बनेगा, वह क्रान्तिकारी कार्य के घोर "मन्दी" के काल में पार्टी के सम्मान और प्रतिष्ठा को क़ायम रखने और पार्टी के तार को टूटने से बचाने से लेकर **देशव्यापी सशस्त्र विद्रोह** की तैयारी करने, उसका समय निश्चित करने और उसे सफल बनाने तक, **हर चीज़ के लिए** तैयार रहेगा।

ज़रा एक ऐसी साधारण घटना का चित्र अपने सामने रखिये जो रूस में

अक्सर हुआ करती है–यानी किसी एक स्थान में या कई स्थानों पर पुलिस को हमारे संगठन का पूरा पता लग जाता है और वह सारे के सारे साथियों को गिरफ़्तार कर लेती है। हमारे **तमाम** स्थानीय संगठन चूंकि एक समान और **संयुक्त** काम नियमित रूप से नहीं करते, इसलिए पुलिस के ऐसे हमलों के परिणामस्वरूप हमारा काम कई महीनों के लिए ठप हो जाता है। लेकिन, यदि सभी स्थानीय संगठनों के सामने एक समान काम हो, तो बहुत बड़ा हमला होने पर भी दो या तीन मुस्तैद साथी चन्द हफ़्तों के अन्दर ही युवकों के नये मण्डल खड़े कर सकते हैं और उनका सम्पर्क समान केन्द्र के साथ क़ायम कर सकते हैं, और जैसा कि सभी जानते हैं आजकल भी ऐसे मण्डल बड़ी जल्दी पैदा हो जाते हैं। और जब सब लोग उस समान काम को अच्छी तरह समझने लगेंगे, जो पुलिस के हमले के कारण ठप हो जाता है, तो नये मण्डल और भी तेज़ी से बन सकेंगे और केन्द्र से सम्पर्क क़ायम कर सकेंगे।

दूसरी ओर, एक जन-विद्रोह का चित्र भी अपने सामने रखिये। अब तो सम्भवत: हर आदमी यह मानेगा कि हमें इस सम्भावना को ध्यान में रखना चाहिए और उसके लिए तैयारी करनी चाहिए। लेकिन **कैसे**? निश्चय ही केन्द्रीय समिति सभी स्थानों में विद्रोह की तैयारी करने के लिए अपने एजेंट नियुक्त नहीं कर सकती! यदि हमारे पास एक केन्द्रीय समिति होती भी, तब भी वह रूस की वर्तमान परिस्थिति में इस प्रकार के एजेंट नियुक्त करके कुछ भी न बना पाती। परन्तु एक समान अख़बार को क़ायम करने और उसका वितरण करने के दौरान में एजेंटों* का जो जाल देश में बिछेगा, वह "हाथ पर हाथ रखकर बैठा"

---

*हाय, हाय! मेरे मुंह से फिर वह भयानक शब्द "एजेंट" निकल गया जो मार्तिनोव जैसे लोगों के जनवादी कानों को इतना बुरा लगता है! मुझे आश्चर्य है कि जब पिछली सदी के आठवें दशक के वीरों को यह शब्द बुरा नहीं लगता था, तो फिर दसवें दशक के इन नौसिखुओं को उससे इतनी चिढ़ क्यों है? मुझे यह शब्द पसन्द है, क्योंकि उससे बहुत साफ़ तौर पर और दो-टूक ढंग से यह बात प्रकट हो जाती है कि ये सारे एजेंट एक **समान उद्देश्य** की पूर्ति में मन, वचन और कर्म से लगे हुए हैं। और यदि मुझे इस शब्द की जगह किसी और शब्द का प्रयोग करना ही पड़े, तो एक ही ऐसा शब्द है जिसे मैं इस्तेमाल कर सकता हूं, और वह है "सहयोगी"; पर उससे कुछ साहित्यिकपने

विद्रोह के आवाहन की प्रतीक्षा नहीं करेगा, बल्कि वह नियमित ढंग से वह काम करेगा जिससे विद्रोह होने पर उसमें सफलता की सम्भावना अधिक से अधिक निश्चित बनेगी। इस प्रकार का काम मज़दूर जनता के अधिक से अधिक व्यापक हिस्सों से, और उन तमाम लोगों से हमारे सम्पर्क को मज़बूत करेगा जो एकतंत्र से असंतुष्ट हैं, और जिनके साथ सम्पर्क मज़बूत करना विद्रोह के लिए बहुत आवश्यक है। यही वह काम है जो हममें आम राजनीतिक परिस्थिति का सही-सही मूल्यांकन करने, और फलस्वरूप विद्रोह के वास्ते सही समय निश्चित करने की योग्यता बढ़ायेगा। यही वह काम है जो **सभी** स्थानीय संगठनों को सारे रूस में हलचल पैदा कर देनेवाले एक जैसे राजनीतिक सवालों और घटनाओं पर एकसाथ हरकत में आने और इन "घटनाओं" के प्रत्युत्तर के रूप में ज़्यादा से ज़्यादा ज़ोरदार, एक जैसी और उपयोगी कार्रवाई करने की शिक्षा देगा; क्योंकि विद्रोह तो वास्तव में, सरकार के आचरण के प्रति समस्त जनता की सबसे ज़्यादा ज़ोरदार, एक जैसी और उपयोगी "प्रतिक्रिया" ही है। और अन्त में, यही वह काम है जो रूस भर के तमाम क्रान्तिकारी संगठनों को एक-दूसरे के साथ ज़्यादा से ज़्यादा अटूट और साथ ही अधिक से अधिक गुप्त सम्पर्क रखना सिखायेगा, और इस तरह **सच्ची** पार्टी एकता को जन्म देगा – क्योंकि ऐसे सम्पर्क के अभाव में विद्रोह की योजना पर सामूहिक रूप से विचार करना और विद्रोह के फ़ौरन पहले उसकी तैयारी से सम्बंधित क़दम उठाना असम्भव होगा, क्योंकि यह सारा काम बहुत ही ख़ुफ़िया ढंग से करना होता है।

सारांश यह कि "एक अखिल-रूसी राजनीतिक अख़बार की योजना" कट्टरता और साहित्यिकपने के रोगों से बीमार कुर्सी-तोड़ कार्यकर्ताओं के दिमाग़ की उपज नहीं है (जैसा कि वे लोग समझते हैं जिन्होंने इस योजना पर बहुत कम विचार किया है), बल्कि यह विद्रोह के लिए तुरन्त और चौमुखी तैयारियां करने की ऐसी अत्यन्त व्यावहारिक योजना है, जो साथ ही साथ हमारे रोज़मर्रा के साधारण काम को एक क्षण के लिए भी नहीं भुलाती है।

और बिखराव की बू आती है। हमें जिस चीज़ की आवश्यकता है, वह है एजेंटों के एक सैनिक संगठन की। परन्तु मार्तिनोव जैसे अनेक लोग (विशेषकर विदेशों में), जिन्हें "एक-दूसरे को तरक़्क़ी देकर सेनानायक नियुक्त करने" में विशेष आनन्द आता है, शायद "पासपोर्ट दिलानेवाला एजेंट" न कहकर यह कहना पसन्द करेंगे: "क्रान्तिकारियों को पासपोर्ट दिलानेवाले विशेष विभाग का प्रधान," इत्यादि।

निष्कर्ष

रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के इतिहास को साफ़-साफ़ तीन कालों में बांटा जा सकता है।

पहला काल लगभग दस वर्ष का है–कोई १८८४ से १८९४ तक। यह सामाजिक-जनवाद के सिद्धान्त तथा कार्यक्रम के जन्म लेने तथा मज़बूत होने का काल था। रूस में इस नयी धारा के समर्थकों की संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती थी। सामाजिक-जनवाद बिना मज़दूर आन्दोलन के था, एक राजनीतिक पार्टी की हैसियत से मानो अभी उसका गर्भ में ही विकास हो रहा था।

दूसरा काल तीन या चार वर्ष का है–१८९४ से १८९८ तक। इस काल में सामाजिक-जनवाद ने एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में, आम जनता के उभार के रूप में, एक राजनीतिक पार्टी के रूप में रंगमंच पर प्रवेश किया। यह उसके बचपन और किशोरावस्था का ज़माना था। इस काल में बुद्धिजीवियों में सार्वत्रिक रूप से यह भावना फैली कि नरोदवाद से लड़ना चाहिए और मज़दूरों के बीच जाकर काम करना चाहिए, और सभी मज़दूरों के दिलों में हड़ताल करने की तीव्र भावना उत्पन्न हुई। आन्दोलन प्रचंड वेग से आगे बढ़ा। अधिकतर नेता बहुत ही नौजवान थे जो उस "पैंतीस वर्ष की उम्र" पर भी अभी नहीं पहुंचे थे जो श्री न० मिख़ाइलोव्स्की की नज़रों में एक ढंग की प्राकृतिक सीमान्त रेखा है। अपनी नौउम्रता के कारण ये नेता व्यावहारिक कार्य के लिए अयोग्य साबित हुए और वे आश्चर्यजनक तेज़ी के साथ मैदान से ग़ायब होने लगे। लेकिन उनमें से अधिकतर के कार्य का क्षेत्र बहुत विस्तृत था। उनमें से बहुतों ने अपना क्रान्तिकारी चिन्तन 'नरोदनाया वोल्या' के समर्थकों के रूप में आरम्भ किया था। उनमें से लगभग सभी अपनी युवावस्था में बड़े उत्साह के साथ

आतंकवादी वीरों की पूजा किया करते थे। इन वीरतापूर्ण परम्पराओं के मुग्धकारी प्रभाव से मुक्त होने के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता थी, और इस संघर्ष के दौरान में नौजवान सामाजिक-जनवादियों को उन लोगों से अपने व्यक्तिगत सम्बंध तोड़ लेने पड़े जो 'नरोदनाया वोल्या' के प्रति वफ़ादारी पर दृढ़ थे और जिनका नौजवान सामाजिक-जनवादी गहरा सम्मान करते आये थे। संघर्ष ने सामाजिक-जनवादियों को अपनी शिक्षा करने, अलग-अलग धाराओं का ग़ैर-क़ानूनी साहित्य पढ़ने, और क़ानूनी नरोदवाद के प्रश्नों पर निकट से विचार करने के लिए मजबूर किया। इस संघर्ष में शिक्षा प्राप्त करके सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ता मज़दूर आन्दोलन में घुसे; पर उन्होंने मार्क्सवाद के उन सिद्धान्तों को, जो ख़ूबी के साथ उनका पथप्रदर्शन कर रहे थे या एकतंत्र का तख़्ता उलटने के काम को "एक क्षण के लिए भी" नहीं भुलाया। १८९८ के वसन्त में पार्टी का निर्माण इस काल के सामाजिक-जनवादियों का सबसे महत्वपूर्ण और साथ ही **अन्तिम** कार्य था।

तीसरे काल की तैयारी, जैसा कि हम देख चुके हैं, १८९७ में हुई थी और १८९८ में उसने निश्चित रूप से दूसरे काल का स्थान ले लिया था (१८९८-?)। यह फूट, विसर्जन और ढुलमुलपन का काल था। जब आदमी लड़कपन पार करके जवानी में प्रवेश करने को होता है, तो उसकी आवाज़ फट जाती है। इसी प्रकार इस काल में, रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की आवाज़ भी फटने लगी और उसमें एक झूठा स्वर सुनाई देने लगा। एक ओर तो स्त्रूवे और प्रोकोपोविच, बुल्गाकोव और बेरदियाएव जैसे महानुभावों की रचनाओं में, और दूसरी ओर व० इ०... और र० म०, ब० क्रिचेव्स्की और मार्तिनोव जैसे लोगों की रचनाओं में। परन्तु केवल नेतागण ही थे जो इधर-उधर अलग-थलग भटकते फिरते थे और वापस चले जाते थे, ख़ुद आन्दोलन तो प्रचंड गति से बढ़ता और विकास करता गया। सर्वहारा संघर्ष मज़दूरों के नये हिस्सों तक पहुंचा, पूरे रूस में फैल गया, और इसके साथ-साथ उसने अप्रत्यक्ष रूप से विद्यार्थियों में और जनता के दूसरे हिस्सों में भी फिर से जनवादी भावना जगायी। परन्तु नेताओं की चेतना स्वयं-स्फूर्त उभार के विस्तार और वेग के अनुरूप न बढ़ पायी; सामाजिक-जनवादी कार्यकर्ताओं में एक नयी तरह के लोगों की बहुतायत हो गयी—इस तरह के पार्टी-कार्यकर्ताओं की जिनकी शिक्षा केवल "क़ानूनी" मार्क्सवाद के साहित्य के

आधार पर हुई थी जो कि जनता के स्वयं-स्फूर्त उभार के कारण चेतना की आवश्यकता जितनी ही बढ़ती जाती थी, उतना ही अधिक अपर्याप्त साबित होता जाता था। नेतागण न केवल सिद्धान्त ("आलोचना की स्वतंत्रता") और व्यवहार ("नौसिखुआपन") के मामले में पिछड़े हुए थे, बल्कि वे तरह-तरह की भारी-भरकम दलीलों के ज़रिए अपने पिछड़ेपन को उचित ठहराने की कोशिश किया करते थे। क़ानूनी साहित्य में ब्रेन्तानो-वादियों ने और ग़ैर-क़ानूनी साहित्य में पुछल्लावादियों ने सामाजिक-जनवाद को विकृत करके ट्रेड-यूनियनवाद के स्तर पर पहुंचा दिया था। ख़ास तौर पर जब से सामाजिक-जनवादियों के "नौसिखुएपन" के कारण ग़ैर-सामाजिक-जनवादी क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों में नया जीवन पड़ने लगा, तब से तो 'क्रीडो' के कार्यक्रम पर अमल भी किया जाने लगा।

यदि पाठकों को यह शिकायत है कि मैंने केवल 'राबोचेये देलो' नामक किसी पत्र की बहुत ज़्यादा विस्तार से चर्चा की है, तो मैं उत्तर में उनसे यह कहूंगा : 'राबोचेये देलो' ने इस काल में "ऐतिहासिक" महत्व प्राप्त कर लिया था, क्योंकि इस तीसरे काल की "मूल भावना" को वह सबसे अच्छे ढंग से व्यक्त करता था*। इस काल में कैसी फूट और कैसा ढुलमुलपन था, लोग किस तरह "आलोचना", "अर्थवाद" और आतंकवाद की अनेक बातों को मान लेने के लिए तैयार हो जाते थे, इसके बहुत अच्छे उदाहरण सुसंगत र० म० की रचनाओं में उतने नहीं मिलते, जितने कि हवा के साथ रुख़ बदलनेवाले क्रिचेव्स्की और मार्तिनोव जैसे लोगों की कृतियों में मिलते हैं। इस काल की प्रधान विशेषता यह नहीं है कि किसी "परम" का कोई पुजारी व्यावहारिक कार्य की ओर घोर उपेक्षा की दृष्टि से देखता था, बल्कि इस काल की प्रधान विशेषता बहुत ही घटिया क़िस्म के छोटे-छोटे कामों में व्यस्त रहना और साथ ही सिद्धान्त

---

*पाठक की इस शिकायत के जवाब में मैं यह जर्मन कहावत भी दुहरा सकता हूं: Den Sack schlägt man, den Esel meint man (तुम पीट रहे हो बोरे को, पर असल में मारना चाहते हो गधे को)। अकेला 'राबोचेये देलो' ही नहीं, बल्कि **आम** व्यावहारिक कार्यकर्ता तथा **सिद्धान्तवेत्ता** भी "आलोचना" के फ़ैशन की लहर में बह गये थे। वे स्वयं-स्फूर्ति के सवाल पर गड़बड़ा गये थे और हमारे राजनीतिक तथा संगठनात्मक कार्यों की सामाजिक-जनवादी धारणा को तिलांजलि देकर ट्रेड-यूनियनवादी धारणा पर उतर आये थे।

की एकदम अवहेलना करना है। इस काल के महारथियों को "महान सूत्रों" को एकदम ठुकरा देने का इतना शौक़ नहीं था जितना उनको बिगाड़कर भोंड़ा बना देने का था: उनके हाथों में पड़कर वैज्ञानिक समाजवाद एक अविभाज्य क्रान्तिकारी सिद्धान्त नहीं रह गया, बल्कि वह एक ऐसी पंचमेल खिचड़ी बन गया जिसमें जर्मनी में प्रकाशित होनेवाली हर नयी पाठ्य-पुस्तक की बातों को "बेख़ौफ़ होकर" डाल दिया जाता था; "वर्ग-संघर्ष" का नारा इन लोगों को और भी व्यापक तथा अधिक ज़ोरदार कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं करता था, बल्कि वह उनके लिए थके हुओं को आराम पहुंचानेवाला शर्बत बन गया है, क्योंकि "आर्थिक संघर्ष का राजनीतिक संघर्ष से अटूट सम्बंध होता है"; पार्टी के विचार ने उन्हें क्रान्तिकारियों का एक लड़ाकू संगठन बनाने की प्रेरणा नहीं दी, बल्कि उसे एक प्रकार की "क्रान्तिकारी नौकरशाही" को, और बच्चों की तरह "जनवादी" रूपों का नाटक खेलने को उचित ठहराने के लिए इस्तेमाल किया गया।

हम नहीं जानते कि यह तीसरा काल कब समाप्त होगा और चौथा कब आरम्भ होगा (लेकिन बहुत से लक्षण ऐसे अवश्य दिखायी देने लगे हैं जो चौथे काल के आरम्भ होने की सूचना दे रहे हैं)। हम इतिहास के क्षेत्र से वर्तमान के क्षेत्र में, और कुछ हद तक भविष्य के क्षेत्र में प्रवेश कर रहे हैं। लेकिन हमारा दृढ़ विश्वास है कि चौथे काल में लड़ाकू मार्क्सवाद मज़बूत होगा, रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन संकट से निकलकर पूर्ण युवावस्था की शक्ति प्राप्त करेगा, और समाज के सबसे अधिक क्रान्तिकारी वर्ग का अग्रदल अवसरवादी पृष्ठदल को "हटाकर उसका स्थान ग्रहण करेगा"।

इस प्रकार की "रद्दोबदल" करने का नारा देने के अर्थ में, और ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उसका मानो सारांश निकालते हुए, हम "क्या करें?" इस प्रश्न का यह संक्षिप्त उत्तर दे सकते हैं:

तीसरे काल का अन्त करो!

'ईस्क्रा' और 'राबोचेये देलो' को एक करने का प्रयत्न

'ईस्क्रा' ने 'राबोचेये देलो' के साथ संगठनात्मक सम्बंधों के मामले में जो नीति अपनायी है और जिसका उसने सुसंगत ढंग से पालन किया है, अभी उसका वर्णन करना बाक़ी है। 'ईस्क्रा' के अंक १ में प्रकाशित 'विदेश-स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ में फूट' शीर्षक लेख में इस कार्यनीति की पूरी व्याख्या की जा चुकी है। शुरू से ही हमने यह दृष्टिकोण अपनाया था कि हमारी पार्टी की पहली कांग्रेस में विदेश-स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों के जिस **असली** 'संघ' को विदेशों में पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार किया गया था, वह बाद में दो संगठनों में **बंट गया था**; कि अभी यह सवाल तय होने को बाक़ी है कि विदेशों में हमारी पार्टी का प्रतिनिधि कौन है, अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी ब्यूरो[164] में रूस का प्रतिनिधित्व करने के लिए जब पेरिस की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के समय विभाजित 'संघ' के दोनों भागों से एक-एक आदमी को लेकर दो प्रतिनिधि चुने गये थे, तब वास्तव में इस प्रश्न को केवल अस्थायी तौर पर और कुछ विशेष परिस्थितियों के लिए ही तय किया गया था। हमने ऐलान किया था कि 'राबोचेये देलो' बुनियादी तौर पर **ग़लत** है; सिद्धान्त की दृष्टि से हमने ज़ोरदार तरीक़े से 'श्रम मुक्ति' दल का पक्ष लिया था, लेकिन साथ ही हमने इस फूट की तफ़सील में जाने से इनकार कर दिया था और यह स्वीकार किया था कि शुद्ध व्यावहारिक कार्य के क्षेत्र में 'संघ' की बड़ी सेवाएं हैं*।

अतएव, हमारी नीति, एक हद तक, प्रतीक्षा करने की नीति थी; हमने

---

*फूट के बारे में हमारी राय केवल इस विषय का साहित्य पढ़ने पर ही नहीं बल्कि हमारे संगठन के कई सदस्यों ने विदेश जाकर जो जानकारी हासिल की थी, उस पर भी आधारित थी।

रूस के अधिकतर सामाजिक-जनवादियों में उस [समय प्रचलित इस मत को एक हद तक मान लिया था कि "अर्थवाद" के कट्टर से कट्टर विरोधी भी 'संघ' के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम कर सकते हैं, क्योंकि 'संघ' कई बार सिद्धान्त के मामले में 'श्रम मुक्ति' दल के साथ अपनी सहमति प्रकट कर चुका था और ऊपर से देखने में यह नहीं मालूम पड़ता था कि वह सिद्धान्त और कार्यनीति के बुनियादी प्रश्नों के विषय में स्वतंत्रता का दावा करता है। हमारी नीति अप्रत्यक्ष रूप से इस बात से सही साबित हो गयी कि (दिसम्बर, १६०० में) लगभग 'ईस्क्रा' के पहले अंक के निकलने के साथ ही तीन सदस्य 'संघ' से अलग हो गये और उन्होंने तथाकथित "पहल करनेवालों का दल" बना लिया, तथा फिर से समझौता कराने की बातचीत में मध्यस्थ के रूप में (१) 'ईस्क्रा' संगठन के विदेश विभाग, (२) 'सोत्सिअल-देमोक्रात' क्रान्तिकारी संगठन[165] को और (३) 'संघ' को अपनी सेवाएं अर्पित कीं। पहले दो संगठनों ने तुरन्त अपनी सहमति की घोषणा कर दी, **तीसरे ने सुझाव को ठुकरा दिया**। यह सच है कि जब पिछले वर्ष "एकता" सम्मेलन में एक वक्ता ने ये बातें बतायीं, तो 'संघ' की प्रबंध-समिति के एक सदस्य ने घोषणा की कि 'संघ' ने वह सुझाव **केवल** इसलिए ठुकराया था कि वह "पहल करनेवालों के दल" की बनावट से असंतुष्ट था। इस सफ़ाई को उद्धृत कर देना तो मैं अपना कर्तव्य समझता हूं, पर मैं यह कहने से नहीं चूक सकता कि यह कोई सन्तोषजनक सफ़ाई नहीं है: जब यह मालूम हो गया था कि दो संगठन बातचीत चलाने के लिए तैयार हो गये हैं, तो 'संघ' उनके साथ किन्हीं और लोगों को बीच में डालकर, या ख़ुद सीधे बात शुरू कर सकता था।

१६०१ के वसन्त में 'ज़ार्या' (अंक १, अप्रैल) और 'ईस्क्रा' (अंक ४, मई)* दोनों ने 'राबोचेये देलो' के साथ खुली बहस शुरू की। 'ईस्क्रा' ने ख़ास तौर पर 'राबोचेये देलो' की "ऐतिहासिक करवट" की आलोचना की थी, जिसने अपने **अप्रैल** के क्रोड़पत्र में, यानी वसन्त की घटनाओं के बाद, आतंकवादी कार्रवाइयों तथा "ख़ून का बदला ख़ून से लेने" की उन अपीलों के मामले में, जिनमें उस वक़्त बहुत से लोग बह गये थे, ढुलमुलपन का सबूत दिया था।

---

* देखिये लेनिन का 'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख। – सं०

इस आलोचना-प्रत्यालोचना के बावजूद 'संघ' ने "समझौता करानेवालों" के एक नये दल[166] को बीच में डालकर समझौते की बातचीत चलाना स्वीकार किया। जून में उपरोक्त तीनों संगठनों के प्रतिनिधियों का एक प्रारम्भिक सम्मेलन हुआ और उसने "सिद्धान्त के प्रश्नों पर" बहुत व्यापक "मतैक्य" के आधार पर एक समझौते का मसौदा तैयार किया जिसे 'संघ' ने 'दो कांग्रेसें' नामक पुस्तिका में और लीग ने "'एकता' सम्मेलन के दस्तावेज़" नामक पुस्तिका में प्रकाशित किया।

सिद्धान्त-सम्बंधी इस समझौते से (जिसे ज़्यादा लोग जून सम्मेलन के प्रस्ताव कहते हैं) यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि हमने एकता के लिए एक निहायत आवश्यक शर्त यह पेश की थी कि अवसरवाद के प्रत्येक रूप का आम तौर पर और रूसी अवसरवाद के प्रत्येक रूप का ख़ास तौर पर **बहुत ही ज़ोरदार तरीक़े से** विरोध किया जाये। समझौते के पहले पैराग्राफ़ में यह लिखा है: "हम सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष में अवसरवाद को ले आने की हर कोशिश का विरोध करते हैं – उन कोशिशों का जो तथाकथित "अर्थवाद", बर्न्सटीनवाद, मिलेरांवाद, आदि के रूप में प्रकट हुई हैं।" "सामाजिक-जनवादी कार्य के क्षेत्र में ... क्रान्तिकारी मार्क्सवाद के सभी विरोधियों के ख़िलाफ़ सैद्धान्तिक संघर्ष भी शामिल है" (४, ग); "संगठनात्मक तथा आन्दोलनात्मक कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में सामाजिक-जनवाद को एक क्षण के लिए भी यह न भूलना चाहिये कि रूसी मज़दूर वर्ग का तात्कालिक कार्य एकतंत्र का तख़्ता उलटना है" (५, क); ... "आन्दोलन, जो केवल मजूरी और पूंजी के रोजमर्रा के संघर्ष के आधार पर ही नहीं होगा" (५, ख); ... "शुद्ध आर्थिक संघर्ष और आंशिक राजनीतिक मांगों के संघर्ष की किसी मंज़िल को ... न मानते हुए ..." (५, ग); ..."हम आन्दोलन के लिए इसे महत्वपूर्ण समझते हैं कि उन प्रवृत्तियों की आलोचना की जाये जिन्होंने आन्दोलन के प्रारम्भिक रूपों के आदिम स्वरूप को ... और संकुचितपन को एक सिद्धान्त बना रखा है" (५, घ)। कोई बिलकुल बाहर का आदमी भी, जिसने इन प्रस्तावों को थोड़ा-बहुत भी ध्यान से पढ़ा है, उनके लिखने के ढंग से ही समझ जायेगा कि उनकी धार ऐसे लोगों के ख़िलाफ़ रखी गयी थी जो अवसरवादी और "अर्थवादी" थे, जो, एक क्षण के लिए ही सही, एकतंत्र का तख़्ता उलटने का उद्देश्य भूल जाते हैं, जो मंज़िलों के सिद्धान्त को

मानते हैं, जिन्होंने संकुचितपन को ऊंचा उठाकर एक सिद्धान्त के स्तर पर पहुंचा दिया है, इत्यादि। और जिस किसी को 'राबोचेये देलो' के ख़िलाफ़ 'श्रम मुक्ति' दल, 'ज़ार्या' तथा 'ईस्क्रा' द्वारा चलायी गयी बहसों का थोड़ा भी ज्ञान है, वह इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं कर सकता कि इन प्रस्तावों में एक-एक करके उन तमाम ग़लतियों का खंडन किया गया था जिनमें 'राबोचेये देलो' फंस गया था। अतएव, जब 'संघ' के एक सदस्य ने "एकता" सम्मेलन में यह कहा कि 'राबोचेये देलो' के अंक १० में जो लेख छपे हैं, वे 'संघ' की किसी नयी "ऐतिहासिक करवट" के कारण नहीं प्रकाशित किये गये हैं, बल्कि प्रस्तावों के हद से ज़्यादा "हवाई-पन" के कारण* उनकी ज़रूरत पड़ी थी, तो एक वक्ता ने उसका मज़ाक़ उड़ाकर बिलकुल सही काम किया। उसने कहा कि प्रस्ताव हवाई नहीं हैं, बल्कि इतने ज़्यादा ठोस हैं कि देखकर आश्चर्य होता है: उन पर एक नज़र डालते ही मालूम हो जाता है कि वे किसी को "पकड़ने" के लिए लिखे गये हैं।

इस वाक्य को लेकर सम्मेलन में एक दिलचस्प घटना हुई। एक तरफ़ तो ब० क्रिचेव्स्की ने "पकड़ने" शब्द को पकड़ लिया, उनका ख़याल था कि यह शब्द ग़लती से मुंह से निकल गया है और उसने हमारे बुरे इरादों को खोल दिया है ("दूसरों को फंसाने के लिए जाल बिछाना")। और वह रुआंसा मुंह बनाकर बोले: "मैं पूछता हूं कि ये लोग किसको पकड़ना चाहते हैं, किसको?" तभी प्लेख़ानोव ने व्यंग करते हुए जड़ दिया: "हां, सचमुच किसको?" ब० क्रिचेव्स्की ने जवाब दिया: "मैं कामरेड प्लेख़ानोव की जानकारी बढ़ाने के लिए यह बताना चाहता हूं कि यह जाल **'राबोचेये देलो' के सम्पादक-मंडल** के लिए बिछाया गया था" (आम हंसी), "पर हम पकड़ में नहीं आये।" (बायीं ओर से एक आवाज़: "आप लोगों के लिए यह तो और भी बुरा हुआ!") दूसरी तरफ़ 'बोर्बा' दल (समझौता करानेवालों का एक दल) के एक सदस्य ने प्रस्तावों में 'संघ' के संशोधनों का विरोध करते हुए और हमारे वक्ता का समर्थन करने की इच्छा से कहा कि यह बिलकुल ज़ाहिर बात है कि "पकड़ना" शब्द बहस की गरमी में मुंह से निकल गया था।

---

*'दो कांग्रेसें' में पृष्ठ २५ पर यह दलील फिर दोहरायी गयी है।

जहां तक मेरी राय का सम्बंध है, मैं समझता हूं कि जिस वक्ता ने इन विचाराधीन शब्दों का प्रयोग किया था, वह इस "सफ़ाई" से खुश नहीं होगा। मेरा विचार है कि "किसी को पकड़ने के लिए"—इन शब्दों के रूप में "मज़ाक-मज़ाक में एक सच्ची बात कह दी गयी"। हमने 'राबोचेये देलो' पर हमेशा ढुलमुलपन और अस्थिरता का आरोप लगाया है, और स्वभावतया हमारे लिए यह **आवश्यक** था कि हम उसे **पकड़ने** की कोशिश करें ताकि उसका यह ढुलमुलपन बन्द हो जाये। इसमें बुरे इरादे का भाव लेशमात्र भी नहीं था, क्योंकि यहां तो हम सिद्धान्तों की अस्थिरता पर बहस कर रहे थे। और हम 'संघ' को ऐसे भ्रातृत्वपूर्ण ढंग से "पकड़ने" में सफल हो गये* कि खुद ब० क्रिचेव्स्की ने और 'संघ' की प्रबंध-समिति के एक दूसरे सदस्य ने भी जून के प्रस्तावों पर हस्ताक्षर कर दिये।

'राबोचेये देलो' के अंक १० में जो लेख प्रकाशित हुए हैं (हमारे साथियों ने इस अंक को पहली बार सम्मेलन में पहुंचने पर, बैठकों के शुरू होने के चन्द रोज़ पहले, देखा), उनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गरमी और पतझड़ के मौसमों के बीच के काल में 'संघ' ने एक नयी करवट ली थी: "अर्थवादी" फिर ऊपर आ गये थे और सम्पादक-मंडल, जो हवा के हर झोंके के साथ रुख़ बदलता था, फिर "सबसे कट्टर बर्न्सटीनवादियों" और "आलोचना की स्वतंत्रता" की

---

* बिलकुल यही बात है: जून के प्रस्तावों की भूमिका में हमने कहा था कि रूसी सामाजिक-जनवाद ने कुल मिलाकर हमेशा 'श्रम मुक्ति' दल के सिद्धान्तों का समर्थन किया है और 'संघ' की विशेष सेवा प्रकाशन तथा संगठन के क्षेत्र में रही है। दूसरे शब्दों में, हमने यह घोषणा की थी कि हम बीती हुई तमाम बातों को भूल जाने के लिए और 'संघ' के साथियों ने (आन्दोलन के लिए) जो उपयोगी कार्य किया है, उसे स्वीकार करने के लिए पूरी तरह तैयार हैं, **बशर्ते कि** 'संघ' उस ढुलमुलपन को बन्द कर दे जिसे हमने "पकड़ने" की कोशिश की थी। जो भी निष्पक्ष व्यक्ति जून के प्रस्तावों को पढ़ेगा, वह उसका केवल यही मतलब लगायेगा। यदि 'संघ' (अंक १० के लेखों तथा संशोधनों में) "अर्थवाद" की ओर नयी करवट लेकर फूट **पैदा कर देने** के बाद उन बातों को लेकर जो हमने उसकी सेवाओं के बारे में कही थीं हम पर **दोरंगी बातें करने** का आरोप लगाता है ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ ३०) तो इस प्रकार के आरोप पर हम केवल मुसकरा सकते हैं।

हिमायत करने, "स्वयं-स्फूर्त्ति" का समर्थन करने, और मार्तिनोव की ज़बानी हमारे राजनीतिक प्रभाव के क्षेत्र को (इस प्रभाव को और गूढ़ बनाने के तथाकथित उद्देश्य से) "सीमित करने के सिद्धान्त" के उपदेश सुनाने निकल पड़ा था। एक बार फिर पार्वुस की यह उक्ति सत्य साबित हो गयी कि अवसरवादी को किसी सूत्र के द्वारा पकड़ना बहुत कठिन है। अवसरवादी तो **किसी भी** सूत्र पर हस्ताक्षर कर सकता है और फिर उतनी ही आसानी से उसे त्याग भी सकता है, क्योंकि अवसरवाद निश्चित और दृढ़ सिद्धान्तों के अभाव का ही तो नाम है। आज अवसरवादियों ने यह ऐलान किया है कि वे अवसरवाद को आन्दोलन के अन्दर लाने की **तमाम** कोशिशों का विरोध करेंगे और **हर तरह के** संकुचितपन का विरोध करेंगे; आज उन्होंने बड़ी गम्भीरता के साथ वचन दिया है कि वे "एकतंत्र का तख़्ता उलटने के उद्देश्य को कभी एक क्षण के लिए भी नहीं भूलेंगे" और "केवल मजूरी और पूंजी के रोज़मर्रा के संघर्ष के आधार पर ही आन्दोलन नहीं चलायेंगे", आदि, आदि। पर कल ही वे अपना बात करने का ढंग बदल देंगे और स्वयं-स्फूर्ति तथा नीरस दैनिक संघर्ष की प्रगति की हिमायत करने के बहाने या ऐसी मांगों को, जिनसे कोई ठोस नतीजा निकलने की उम्मीद हो, बढ़ावा देने के बहाने एक बार फिर अपनी पुरानी चाल चलने लगेंगे। यह बात बार-बार ज़ोर देकर कहते रहने से कि अंक १० के लेखों में "'संघ' ने कोई ऐसी बात न तो देखी थी और न अब देखता है, जिससे यह प्रकट होता हो कि 'संघ' ने सम्मेलन में स्वीकार किये गये मसौदे के आम सिद्धान्तों को किसी तरह त्याग दिया है" ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ २६) – 'संघ' केवल यह जता रहा है कि मतभेद की मूल बातों को समझने की उसमें या तो तनिक भी योग्यता नहीं है, या फिर इच्छा नहीं है।

'राबोचेये देलो' के अंक १० के निकलने के बाद हम केवल एक यही कोशिश कर सकते थे कि हम एक आम बहस छेड़ दें जिससे यह पता लग सके कि क्या 'संघ' के सभी सदस्य इन लेखों से और उसके सम्पादक-मंडल से सहमत हैं। 'संघ' इसी बात को लेकर हमसे ख़ास तौर पर नाराज़ है और हम पर उसकी पांतों में फूट डालने और दूसरे लोगों के मामलों में टांग अड़ाने की कोशिश करने आदि का आरोप लगा रहा है। ज़ाहिर है कि ये आरोप निराधार हैं, क्योंकि जब एक ऐसा सम्पादक-मंडल चुना गया हो जो हवा के हर झोंके के साथ, वह

कितना ही हल्का क्यों न हो, "रुख़ बदलता" है, तब सब कुछ हवा के रुख़ पर निर्भर करता है, और हमने इस रुख़ की व्याख्या कुछ ऐसी गुप्त बैठकों में की थी जिनमें सिवा उन संगठनों के सदस्यों के और कोई न था, जो एक होना चाहते थे। जून प्रस्तावों में जो संशोधन 'संघ' के नाम पर पेश किये गये हैं, उनसे समझौते की आशा का अन्तिम लेश भी जाता रहा है। ये संशोधन इस बात के दस्तावेज़ी सबूत हैं कि 'संघ' ने "अर्थवाद" की ओर एक नयी करवट ली है और उसके अधिकतर सदस्य 'राबोचेये देलो' के अंक १० से सहमत हैं। संशोधनों में कहा गया था कि जहां अवसरवाद के विभिन्न रूपों का ज़िक्र आता है, उस अंश में से "तथाकथित अर्थवाद" शब्दों को काट दिया जाये (दलील यह थी कि इन दो शब्दों का "अर्थ" अस्पष्ट है – परन्तु यदि ऐसा था तो ज़रूरत सिर्फ़ यह थी कि एक प्रचलित भूल के स्वरूप की और सही व्याख्या कर दी जाती), और "मिलेरांवाद" शब्द को काट दिया जाये (हालांकि ब० क्रिचेव्स्की ने 'राबोचेये देलो', अंक २-३, पृष्ठ ८३-८४ में, और उससे भी ज़्यादा खुले तौर पर *«Vorwärts»* में इसका समर्थन किया था*)। बावजूद इसके कि जून के प्रस्तावों ने इस बात का निश्चित रूप से संकेत किया था कि सामाजिक-जनवाद का काम "**हर तरह के** राजनीतिक, **आर्थिक** एवं सामाजिक उत्पीड़न के ख़िलाफ़ सर्वहारा के **हर प्रकार के** संघर्ष का नेतृत्व करना है," और इस प्रकार जून के प्रस्तावों ने संघर्ष के इन विभिन्न रूपों में व्यवस्था और एकता पैदा करने का आवाहन किया था – इस सबके बावजूद 'संघ' ने इन बिलकुल फ़ालतू शब्दों को भी जोड़ दिया: "आर्थिक संघर्ष जन-आन्दोलन को ज़ोरदार तरीक़े से बढ़ावा देता है" (ख़ुद अपने में इस कथन से कोई मतभेद नहीं हो सकता, पर संकुचित "अर्थवाद" की मौजूदगी में यह लाज़िमी था कि उसका ग़लत मतलब लगाने का मौक़ा दिया जाये)। इसके अलावा, जून प्रस्तावों में "राजनीति" को सीधे-सीधे **संकुचित बना देने** की भी कोशिश की गयी। यह दोनों तरह से किया गया – एक तो, "एकतंत्र का तख़्ता उलटने के उद्देश्य को एक

---

* इस विषय पर *«Vorwärts»* में, उसके वर्तमान सम्पादक काउत्स्की और 'ज़ार्या' के बीच एक वाद-विवाद चल गया। हम रूसी पाठक को इस वाद-विवाद से परिचित कराने से न चूकेंगे[167]।

क्षण के लिए भी नहीं भूलना चाहिए" अंश से "एक क्षण के लिए भी" शब्दों को काट दिया गया, और दूसरे, ये शब्द उसमें जोड़े गये: "आर्थिक संघर्ष जनता को सक्रिय राजनीतिक संघर्ष में खींचने का एक ऐसा तरीक़ा है जिसका **सबसे अधिक व्यापक रूप में** उपयोग किया जा सकता है।" स्वभावतया, ऐसे संशोधनों के पेश हो जाने के बाद हमारे पक्ष के तमाम वक्ताओं ने एक-एक करके बोलने से इनकार कर दिया। उन्होंने समझ लिया कि उन लोगों के साथ बातचीत जारी रखना बेकार है, जो एक बार फिर "अर्थवाद" की ओर मुड़ रहे थे और ढुलमुलपन दिखाने की स्वतंत्रता प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे।

"'संघ' ने 'राबोचेये देलो' के स्वतंत्र लक्षणों और स्वायत्ता की सुरक्षा को भावी समझौते के टिकाऊपन की सबसे आवश्यक शर्त समझा था, पर 'ईस्क्रा' इसी को समझौते के रास्ते में सबसे बड़ा रोड़ा समझता है।" ('दो कांग्रेसें', पृष्ठ २५।) यह बहुत ग़लत बात है। हम 'राबोचेये देलो' की आज़ादी पर कभी हाथ नहीं डालना चाहते थे*। हां, यदि "स्वतंत्र गुणों" का मतलब सिद्धान्त और व्यवहार के सैद्धान्तिक प्रश्नों के सम्बंध में स्वतंत्र हो जाना है, तो हमें उसके गुणों की स्वतंत्रता को मानने से **क़तई इनकार** था: इसमें शक नहीं कि जून के प्रस्तावों में गुणों की **ऐसी** स्वतंत्रता का विरोध किया गया था क्योंकि व्यवहार में ऐसे "स्वतंत्र गुणों" का मतलब, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सदा तरह-तरह के ढुलमुलपन में फंस जाना रहा है जिससे हम लोगों में पायी जानेवाली फूट बढ़ती है जो पार्टी के दृष्टिकोण से एक असहनीय बात है। 'राबोचेये देलो' के अंक १० में जो लेख छपे हैं, उनसे और उसके "संशोधनों" से यह बात बिलकुल साफ़ हो गयी कि वह ठीक इसी तरह की स्वतंत्रता को क़ायम रखना चाहता है, और उसकी इस इच्छा का यह स्वाभाविक और अवश्यम्भावी परिणाम था कि फूट पड़ गयी और युद्ध की घोषणा कर दी गयी। परन्तु इस अर्थ में हम सब 'राबोचेये देलो' के "स्वतंत्र गुणों" को मानने के लिए तैयार थे कि उसे कुछ ख़ास

---

* बशर्ते कि एकीकृत संगठनों की सर्वोच्च संयुक्त समिति बनाने के सिलसिले में सम्पादकीय सलाह-मशविरे को स्वतंत्रता का सीमित कर दिया जाना न समझा जाये। लेकिन जून में 'राबोचेये देलो' ने यह बात मान ली थी।

साहित्यिक कामों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। इन कामों का यदि उचित ढंग से बंटवारा किया जाता तो स्वभावतया हमें इतनी चीज़ों की आवश्यकता थी: (१) एक वैज्ञानिक पत्रिका, (२) एक राजनीतिक पत्र, और (३) लोकप्रिय लेख-संग्रह और लोकप्रिय पुस्तिकाएं। कामों के इस प्रकार के बंटवारे को स्वीकार करके ही 'राबोचेये देलो' यह साबित कर सकता था कि वह अपने उस ग़लत रास्ते को **ईमानदारी के साथ** हमेशा के लिए त्याग देना चाहता है, जिसका विरोध जून के प्रस्तावों में किया गया था। कामों के इस प्रकार के बंटवारे से ही झगड़े-झंझट की सारी सम्भावना दूर हो सकती थी और एक ऐसे टिकाऊ समझौते के लिए पक्की गारंटी हो सकती थी जो इसके साथ ही हमारे आन्दोलन के एक नये उभार और नयी सफलताओं का आधार भी बन सकता।

अब रूस के किसी भी सामाजिक-जनवादी को इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता कि क्रान्तिकारी और अवसरवादी प्रवृत्तियों के बीच अंतिम रूप से जो सम्बंध-विच्छेद हुआ है, वह किन्हीं "संगठनात्मक" परिस्थितियों के कारण नहीं हुआ, बल्कि उसका कारण यह था कि अवसरवादी लोग अवसरवाद के स्वतंत्र गुणों को मज़बूत करना चाहते थे और क्रिचेव्स्की तथा मार्तिनोव जैसे लोगों के उपदेशों के ज़रिए साथियों में दिमाग़ी उलझाव पैदा करने का अपना काम जारी रखना चाहते थे।

लेखन-काल: १९०१ की शरद–
फ़रवरी, १९०२
एक अलग पुस्तक के रूप में
मार्च, १९०२ में
स्टुटगार्ट में प्रकाशित हुई

व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खंड ५, पृष्ठ ३१९-४९४

'क्या करें?' में संशोधन

'क्या करें?' शीर्षक पुस्तिका के पृष्ठ १४१* पर मैंने "पहल करनेवालों" के जिस "दल" का ज़िक्र किया है, उसने मुझसे कहा है कि विदेश स्थित सामाजिक-जनवादी संगठनों में फिर से समझौते कराने की कोशिशों में इस दल का जो भाग रहा है, उसके सम्वंध में मैं एक भूल को सुधार दूं: "इस दल के तीन सदस्यों में से केवल एक १६०० के अन्त में 'संघ' से अलग हुआ था; बाक़ी दो ने १६०१ में 'संघ' को तब छोड़ा था जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि 'संघ' से यह मनवा सकना असम्भव है कि उसे विदेश स्थित 'ईस्क्रा' संगठन तथा 'क्रान्तिकारी सोत्सिअल-देमोक्रात संगठन' के साथ बैठकर बातचीत करना चाहिए, 'पहल करनेवालों के दल' का यही सुझाव था। 'संघ' की प्रबंध-समिति ने पहले इस प्रस्ताव को यह कहकर ठुकरा दिया कि 'पहल करनेवालों के दल' में जो व्यक्ति शामिल हैं, उन्हें मध्यस्थ बनने का 'कोई अधिकार नहीं है', और विदेश स्थित 'ईस्क्रा' संगठन से सीधे सम्पर्क स्थापित करने की इच्छा प्रकट की। लेकिन, उसके थोड़े समय बाद ही 'संघ' की प्रबंध-समिति ने 'पहल करनेवालों के दल' को इत्तिला दी कि 'ईस्क्रा' के पहले अंक के प्रकाशन के बाद, जिसमें 'संघ' में फूट पड़ जाने का समाचार था, 'संघ' ने अपना फ़ैसला बदल दिया है और अब वह 'ईस्क्रा' से बातचीत नहीं करना चाहता। इसके बाद 'संघ' की प्रबंध-समिति के एक सदस्य द्वारा दिये गये इस बयान का मतलब किसी के लिए समझ सकना कठिन हो जाता है कि समझौते की बातचीत चलाने का प्रस्ताव 'संघ' द्वारा ठुकरा दिये जाने का केवल यह कारण था कि 'संघ' 'पहल करनेवालों

---

* इस खंड का पृष्ठ ३७८ देखिये। – सं०

के दल' की बनावट से असंतुष्ट था। यह सच है कि यह समझना भी इतना ही कठिन है कि गत जून में 'संघ' की प्रबंध-समिति ने बातचीत चलाना क्यों स्वीकार कर लिया था क्योंकि 'ईस्क्रा' के पहले अंक का वह लेख तो उस वक़्त भी मौजूद था और 'संघ' के प्रति 'ईस्क्रा' का 'नकारात्मक' रुख़ और भी ज़्यादा ज़ोरदार ढंग से 'ज़ार्या' के पहले अंक में और 'ईस्क्रा' के चौथे अंक में व्यक्त हुआ था, और ये दोनों अंक जून सम्मेलन के पहले ही प्रकाशित हो गये थे।"

न० लेनिन

'ईस्क्रा', अंक १६,
१ अप्रैल, १६०२

व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण,
खंड ५, पृष्ठ ४६३-४६४

एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे

(हमारी पार्टी का संकट)[168]

भूमिका

हर लम्बे, भीषण तथा उग्र संघर्ष के दौरान में कुछ समय बाद आम तौर पर वे केन्द्रीय और बुनियादी प्रश्न उभरकर सामने आने लगते हैं जिनको लेकर वह संघर्ष होता है, जिनके निर्णय पर उस संघर्ष का अन्तिम परिणाम निर्भर करता है, और जिनके मुक़ाबले में संघर्ष की तमाम छोटी-मोटी घटनाएं अधिकाधिक पृष्ठभूमि में पड़ती जाती हैं।

हमारी पार्टी के भीतर जो संघर्ष चल रहा है, और जिसपर आज छः महीने से पार्टी के सभी सदस्यों का ध्यान केन्द्रित है, उसमें भी अब यही स्थिति है। और यहां पर पूरे संघर्ष की जो रूपरेखा पाठक के सामने प्रस्तुत की गयी है, उसमें चूंकि मुझे बहुत ही कम दिलचस्पी रखनेवाली बहुत सी छोटी-छोटी बातों का और अनेक ऐसे झगड़ों का ज़िक्र करना पड़ा है जिनका सचमुच तनिक भी महत्व नहीं है, ठीक इसी लिए, मैं शुरू में ही दो बहुत ही दिलचस्प, सचमुच केन्द्रीय तथा बुनियादी बातों की ओर पाठक का ध्यान आकर्षित करना ज़रूरी समझता हूं जिनका निस्सन्देह बहुत बड़ा ऐतिहासिक महत्व है, और जो आज हमारी पार्टी के सामने सबसे ज़रूरी राजनीतिक प्रश्न हैं।

पहला सवाल यह है कि दूसरी पार्टी कांग्रेस[169] में हमारी पार्टी का "बहुमत" तथा "अल्पमत" में जो विभाजन हो गया है, जिसने रूसी सामाजिक-जनवादियों के पुराने तमाम विभाजनों को पृष्ठभूमि में डाल दिया है, उसका राजनीतिक महत्व क्या है।

दूसरा सवाल यह है कि संगठनात्मक प्रश्नों पर नये 'ईस्क्रा' ने जो रुख़ अपनाया है, उसका, जिस हद तक वह सचमुच किन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित है, सिद्धान्त की दृष्टि से क्या महत्व है।

पहले सवाल का सम्बंध इससे है कि हमारी पार्टी का अन्दरूनी संघर्ष कहां से शुरू हुआ, उसका स्रोत क्या है, उसके कारण क्या हैं और उसका बुनियादी

राजनीतिक स्वरूप क्या है। दूसरे सवाल का सम्बंध इससे है कि इस संघर्ष का अन्तिम परिणाम क्या होगा, उसका खातमा किस तरह होगा, और उसमें जो कुछ सैद्धान्तिक क्षेत्र का है उसे जोड़ने पर तथा जो कुछ महज़ थुक्का-फ़ज़ीहत से ताल्लुक़ रखता है उसे घटा देने पर आख़िर में कुल क्या सैद्धान्तिक सामग्री बच रहती है। पहले सवाल का जवाब देने के लिए, हमने पार्टी कांग्रेस में चलनेवाले संघर्ष का विश्लेषण किया है; और दूसरे सवाल का जवाब देने के लिए, हमने नये 'ईस्क्रा' के सिद्धान्तों के नवीन तत्वों का विश्लेषण किया है। मेरी पुस्तिका का नब्बे प्रतिशत भाग इन्हीं दोनों विश्लेषणों में गया है और उनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि "बहुमत" हमारी पार्टी का क्रान्तिकारी पक्ष है और "अल्पमत" अवसरवादी पक्ष है; इन दो पक्षों के बीच इस समय जो मतभेद हैं वे अधिकांशतः कार्यक्रम तथा कार्यनीति के प्रश्नों से नहीं, बल्कि केवल संगठनात्मक प्रश्नों से सम्बंध रखते हैं; नया 'ईस्क्रा' अपनी स्थिति को गूढ़ता प्रदान करने का जितना अधिक प्रयत्न करता है और इस स्थिति में से सम्पादक-मंडल में नये नाम जुड़वाने के लिए की गयी तमाम थुक्का-फ़ज़ीहत जितनी अधिक साफ़ होती जाती है उतनी ही अधिक स्पष्टता के साथ नये 'ईस्क्रा' के स्तंभों में जो नयी विचारधारा उभरकर सामने आती है वह संगठन के मामलों में अवसरवाद की विचारधारा है।

हमारी पार्टी के संकट के सम्बंध में जितना साहित्य आजकल मिलता है, उसकी मुख्य कमज़ोरी यह है कि जहां तक तथ्यों के अध्ययन और स्पष्टीकरण का सम्बंध है, उसमें पार्टी कांग्रेस की कार्यवाही का विश्लेषण लगभग नहीं के बराबर मिलता है; और जहां तक संगठन के प्रश्न के मूल सिद्धान्तों की व्याख्या का सम्बंध है तो उसमें उस संबंध का कोई विश्लेषण नहीं किया गया है जो कि एक तरफ़ तो नियमावली की पहली धारा की स्थापना करने में कामरेड मार्तोव और कामरेड अक्सेल्रोद ने जो बुनियादी ग़लती की थी तथा उस स्थापना को उन्होंने उचित ठहराने के लिए जो तर्क दिये थे और दूसरी तरफ़ संगठन के सवाल पर 'ईस्क्रा' के वर्तमान सिद्धान्तों की पूरी "प्रणाली" (जहां तक उनकी कोई प्रणाली है) के बीच असंदिग्ध रूप से मौजूद है। ऐसा लगता है कि 'ईस्क्रा' के वर्तमान सम्पादकों को यह सम्बंध दिखायी तक नहीं देता, हालांकि "बहुमत" के साहित्य में पहली धारा वाले विवाद के महत्व का बार-बार ज़िक्र किया गया है। सच तो यह है कि कामरेड अक्सेल्रोद और कामरेड मार्तोव आजकल केवल

पहली धारा वाली अपनी प्रारम्भिक ग़लती को ही विकसित कर रहे हैं, उसे और गहरा तथा व्यापक बना रहे हैं। सच तो यह है कि संगठनात्मक प्रश्नों पर अवसरवादियों का पूरा रुख़ यानी, मज़बूत और गठे हुए पार्टी संगठन के बजाय एक बिखरा हुआ संगठन चाहना; पार्टी का निर्माण करने में ऊपर से नीचे की ओर बढ़ने और पार्टी कांग्रेस तथा उसके द्वारा स्थापित की गयी संस्थाओं से आरम्भ करने के विचार का ("नौकरशाही" विचार का) विरोध करना; उनकी नीचे से ऊपर की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति, जो हर प्रोफ़ेसर, हर स्कूली विद्यार्थी और "हर हड़ताली" को अपने को पार्टी का सदस्य घोषित करने का हक़ दे देगी; उस "औपचारिकतावाद" से बैर रखना जो मांग करता है कि हर पार्टी-मेम्बर को पार्टी से मान्यता प्राप्त किसी न किसी संगठन में शरीक होना चाहिए; उस पूंजीवादी बुद्धिजीवी की मनोवृत्ति की ओर झुकना, जो "संगठनात्मक सम्बंधों को केवल भावात्मक रूप में ही मानने" को तैयार होता है; अवसरवादी गूढ़ता और अराजकतावादी शब्दावली इस्तेमाल करने का शौक़; केन्द्रीयता के मुक़ाबले में स्वायत्ततावाद को बेहतर समझना – सारांश यह कि वह सब कुछ जो आजकल नये 'ईस्क्रा' के स्तंभों में इतनी इफ़रात के साथ फल-फूल रहा है, वह पहली धारा वाले विवाद के समय ही सामने आने लगा था और इस समय वह केवल उस पहली ग़लती की पूर्ण एवं स्पष्ट व्याख्या करने के कार्य को अधिकाधिक सुगम बना रहा है।

जहां तक पार्टी कांग्रेस की कार्यवाही का सम्बंध है, तो उसकी जो सचमुच अनुचित अवहेलना की गयी है उसका केवल यही कारण बताया जा सकता है कि हमारी बहसें थुक्का-फ़ज़ीहत के नीचे दबकर रह गयी हैं, और एक कारण शायद यह भी है कि इस कार्यवाही में बहुत ही कड़ुवा सत्य एक बहुत ही बड़ी मात्रा में मौजूद है। पार्टी कांग्रेस की कार्यवाही में हमें अपनी पार्टी की वास्तविक दशा का एक ऐसा चित्र मिलता है जो अपनी यथार्थता, पूर्णता, सर्वांगीणता, समृद्धता और विश्वसनीयता के कारण एक अनोखा और बेमिसाल चित्र है; यह विचारों, भावनाओं और योजनाओं का एक ऐसा चित्र है जिसे ख़ुद आन्दोलन में भाग लेनेवालों ने खींचा है; यह पार्टी में पायी जानेवाली अलग-अलग राजनीतिक प्रवृत्तियों का चित्र है, जिससे उनकी तुलनात्मक शक्ति, उनके आपसी सम्बंध, और उनके संघर्ष स्पष्ट हो जाते हैं। पार्टी कांग्रेस की कार्यवाही से, और केवल उसी से, यह समझ में आ सकता है कि मण्डलों के पुराने, संकुचित सम्बंधों के अवशेषों

को एकदम हटाकर उनकी जगह पर पार्टी के एकमात्र, विशाल सम्बंध की स्थापना करने में हम किस हद तक सफल हुए हैं। जो पार्टी मेम्बर भी पार्टी के मामलों में सोच-समझकर हिस्सा लेना चाहता है, उसका फ़र्ज़ है कि हमारी पार्टी कांग्रेस का ध्यानपूर्वक अध्ययन करे। अध्ययन करने की बात मैंने जान-बूझकर कही है, क्योंकि कार्यवाही में जो कच्चे माल का ढेर लगा हुआ है उसे महज़ पढ़ जाना कांग्रेस की पूरी तसवीर पाने के लिए काफ़ी नहीं है। उसका ध्यानपूर्वक और स्वतंत्र अध्ययन करके ही कोई इस योग्य हो सकता है (और उसे इस योग्य होना पड़ेगा) कि भाषणों के संक्षिप्त सारांश को, बहसों के नीरस अंशों को, और छोटे-छोटे सवालों पर (जो कि देखने में ही छोटे मालूम होते हैं) छिड़ जानेवाले छोटे-छोटे झगड़ों को मिलाकर वह पार्टी कांग्रेस की एक मुकम्मल तसवीर तैयार कर ले, और हर प्रमुख वक्ता की सजीव आकृति उभरकर उसकी आंखों के सामने आ जाये और कांग्रेस में भाग लेनेवाले प्रतिनिधियों के प्रत्येक दल का राजनीतिक स्वरूप पूरी तौर पर स्पष्ट हो जाये। यदि इन पंक्तियों का लेखक पाठक में पार्टी कांग्रेस की कार्यवाही का विस्तृत तथा स्वतंत्र अध्ययन करने का उत्साह पैदा करने में सफल हुआ, तो वह समझेगा कि उसकी मेहनत वृथा नहीं गयी।

एक शब्द सामाजिक-जनवाद के विरोधियों के बारे में भी कह दें। वे हमारे झगड़ों को देखकर ख़ुश होते हैं और मुंह बनाते हैं; वे मेरी पुस्तिका से कुछ इधर-उधर के ऐसे टुकड़े उठाकर अपने मतलब के वास्ते इस्तेमाल करने की कोशिश ज़रूर करेंगे जिनमें हमारी पार्टी के दोषों और ख़ामियों की चर्चा की गयी है। लेकिन रूस के सामाजिक-जनवादी अब संघर्ष की आग में तपकर इतने पक्के ज़रूर हो गये हैं कि इस तरह की खरोंचों से वे ज़रा भी परेशान नहीं होंगे, और उनके बावजूद अपनी आत्म-आलोचना और अपनी ख़ामियों का ख़ुद निर्ममतापूर्वक भण्डाफोड़ करने का काम जारी रखेंगे और जैसे-जैसे मज़दूर वर्ग का आन्दोलन विकसित होगा, वैसे-वैसे ये दोष और ख़ामियां निस्सन्देह और अवश्यम्भावी रूप से दूर होती जायेंगी। और जहां तक इन महानुभावों का, हमारे विरोधियों का, सम्बंध है, दूसरी कांग्रेस की कार्यवाही में हमारी पार्टी की असली हालत का जैसा पूर्ण चित्र सामने रखा गया है, वे ज़रा अपनी "पार्टियों" की **असली** हालत का उससे थोड़ा भी मिलता-जुलता चित्र हमारे सामने रखने की कोशिश करके देखें।

मई, १६०४ **न० लेनिन**

क) पार्टी कांग्रेस की तैयारी

कहावत है कि चौबीस घण्टे तक अदालत को कोसने का हर मुजरिम को हक़ होता है। हर पार्टी की हर कांग्रेस की तरह हमारी पार्टी कांग्रेस को भी कुछ ऐसे लोगों के बारे में अपना फ़ैसला सुनाना था जो नेता बनने का दावा करते थे मगर नाकामयाब रहे थे। आज "अल्पमत" के ये प्रतिनिधि अपनी इस अदालत को ऐसे भोलेपन के साथ कोस रहे हैं कि देखकर किसी को भी दया आ जाये और ये लोग पार्टी कांग्रेस को बदनाम करने, उसके महत्व को कम करने और उसकी प्रतिष्ठा को ख़त्म कर देने की जी-तोड़ कोशिश कर रहे हैं। यह कोशिश शायद सबसे ज़्यादा साफ़ शक्ल में उस लेख में ज़ाहिर हुई है जो 'ईस्क्रा' के ५७ वें अंक में छपा है। यह लेख प्राक्तिक[170] ने लिखा है जिनको सबसे बड़ा धक्का इस बात से लगा है कि पार्टी कांग्रेस को सर्वशक्तिमान "देवता" के समान समझा जाता है। यह विचार नये 'ईस्क्रा' की एक ऐसी लाक्षणिक प्रवृत्ति है जिसे चुपचाप टाला नहीं जा सकता। नये 'ईस्क्रा' के सम्पादकगण, जिनमें से अधिकतर को पार्टी कांग्रेस ने **ठुकरा दिया था**, एक तरफ़ तो अपने को "पार्टी का सम्पादक-मण्डल" कहते हैं और दूसरी तरफ़ वे ऐसे लोगों को गले लगाते हैं जो दावा करते हैं कि पार्टी कांग्रेस कोई देवता नही थी। कितनी भलमनसाहत है उनकी, है न? महानुभावो, इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि पार्टी कांग्रेस कोई देवता नहीं थी लेकिन हम उन लोगों को क्या कहें जिन्होंने पार्टी कांग्रेस में हार जाने के **बाद** उस पर "कालिख पोतना" शुरू कर दिया है?

हम थोड़ा उन मुख्य घटनाओं की याद दिलायें जो पार्टी कांग्रेस की तैयारी के दौरान में हुई थीं।

'ईस्क्रा' ने शुरू में ही, १९०० में अपने प्रकाशन की सूचना देते समय,

ऐलान कर दिया था कि एक होने के पहले यह ज़रूरी है कि मतभेदों की सीमा-रेखा खींच दी जाये। 'ईस्क्रा' ने १६०२ के सम्मेलन[171] को पार्टी कांग्रेस के बजाय एक प्राइवेट बैठक बना देने की कोशिश की थी*। १६०२ की गरमियों तथा शरद ऋतु में, जब 'ईस्क्रा' ने सम्मेलन में चुनी गयी संगठन समिति को पुनर्जीवित किया, तब उसने हद से ज़्यादा एहतियात बरता था। आख़िरकार, मतभेदों की सीमा-रेखा खींचने का काम ख़तम हो गया—जैसा कि हम सभी ने आम तौर पर स्वीकार किया। संगठन समिति १६०२ के बिल्कुल अंत में बनायी गयी। 'ईस्क्रा' ने उसकी दृढ़ स्थापना का स्वागत किया और अपने ३२ वें अंक के **सम्पादकीय** लेख में यह घोषणा की कि पार्टी कांग्रेस बुलाना **सबसे ज़्यादा ज़रूरी** और तात्कालिक काम बन गया है**। इसलिए हमपर लेशमात्र भी यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि हमने दूसरी पार्टी कांग्रेस को बुलाने में जल्दबाज़ी दिखायी। असल में, हम तो इस उसूल पर चल रहे थे कि पैर फैलाने से पहले चादर को सात बार नाप लेना चाहिए; हमें यह मानकर चलने का पूर्ण नैतिक अधिकार था कि जब एक बार पैर फैला लिये जायेंगे तब हमारे साथी रोना और चादर को फिर से नापना शुरू न कर देंगे।

संगठन समिति ने दूसरी पार्टी कांग्रेस के लिए बहुत ही बारीक़ और नपे-तुले क़ायदे-क़ानून बनाये (कुछ लोग शायद उन्हें बहुत औपचारिक ढंग के और नौकरशाही अन्दाज़ के क़ायदे-क़ानून भी कहें, क्योंकि आजकल ये लोग इस तरह की शब्दावली अपने राजनीतिक ढुलमुलपन को छुपाने के लिए इस्तेमाल करते हैं); उसने उनको सभी समितियों से पास कराया और अन्त में ख़ुद उनको पास किया और १८ वीं धारा में यह उपबंध किया कि "पार्टी कांग्रेस के सभी फ़ैसले और उसके द्वारा किये गये सभी चुनाव पूरी पार्टी के फ़ैसले समझे जायेंगे और उनको मानना सभी पार्टी संगठनों के लिए ज़रूरी होगा। किसी को किसी भी बहाने से उनपर एतराज़ करने का हक़ न होगा और उनको रद्द करने या बदलने का हक़ सिर्फ़ अगली पार्टी कांग्रेस को होगा"***। अपने में ये शब्द कितने मासूम लगते

---

*देखिये: दूसरी कांग्रेस की कार्यवाही, पृष्ठ २०।

**देखिये लेनिन का 'संगठन समिति के स्थापित किये जाने का विज्ञापन' शीर्षक लेख।

***देखिये: दूसरी पार्टी कांग्रेस की कार्यवाही, पृष्ठ २२-२३ और ३८०।

हैं, जब उन्हें पास किया गया था तो किसी ने चूं तक नहीं की थी और सबने समझा था कि यह तो स्वतः स्पष्ट बात है। मगर अब ये शब्द कितने अजीब लगते हैं—जैसे किसी ने "अल्पमत" के ख़िलाफ़ फ़सला सुना दिया हो! है न यह बात? यह नियम क्यों बनाया गया था? कोई रस्म पूरी करनी थी? क़तई नहीं। यह फ़ैसला इसलिए ज़रूरी समझा गया था, और सचमुच वह था भी इसी लिए ज़रूरी कि पार्टी बहुत से अलग-थलग स्वतंत्र दलों से मिलकर बनी थी जो पार्टी कांग्रेस को मानने से इनकार कर सकते थे। इस फ़ैसले में, वास्तव में, सभी क्रान्तिकारियों ने अपनी **स्वतंत्र इच्छा** को व्यक्त किया था जिसकी कि आजकल इतनी ज्यादा और इतनी बेतुकी चर्चा हो रही है, हालांकि "स्वतंत्र" शब्द का प्रयोग उस चीज़ के लिए किया जाता है जिसको दरअसल "उच्छृंखल" कहा जाना चाहिए। इस नियम को मानकर मानो रूस के सभी सामाजिक-जनवादी परस्पर **वचनबद्ध** हो गये थे। यह फ़ैसला इस बात की गारंटी करने के उद्देश्य से दिया गया था कि पार्टी कांग्रेस करने में जो अकूत मेहनत ख़र्च होगी, जो पैसा ख़र्च होगा और जो ख़तरा उठाना पड़ेगा, वह सब बेकार नहीं जायेगा और पार्टी कांग्रेस कोरा तमाशा बनकर नहीं रह जायेगी। इस तरह पहले से ही इस बात का ऐलान कर दिया गया था कि जो कोई पार्टी कांग्रेस के फ़ैसलों को और उसके द्वारा किये हुए **चुनावों** को मानने से इनकार करेगा वह **वचनभंग** करने का दोषी समझा जायेगा।

इसलिए जब नया 'ईस्क्रा' यह नयी खोज करता है कि पार्टी कांग्रेस कोई देवता नहीं थी और उसके फ़ैसले कोई पवित्र चीज़ नहीं हैं, तो हम पूछते हैं कि वह किसका मज़ाक बना रहा है? क्या इस खोज का अर्थ यह है कि "संगठन" के सवाल पर अब इन लोगों के कुछ "ये विचार" हो गये हैं, या यह महज़ पुरानी करतूतों पर पर्दा डालने की नयी कोशिशें हैं?

ख) पार्टी कांग्रेस में विभिन्न दलबंदियों का महत्व

इस प्रकार, पार्टी कांग्रेस खूब तैयारी के बाद और सभी को पूरा-पूरा प्रतिनिधित्व देकर बुलायी गयी थी। कांग्रेस के बैठने पर उसके अध्यक्ष ने जो वक्तव्य दिया था (देखिये कार्यवाही, पृष्ठ ५४), उसमें भी यह बात व्यक्त हुई

थी कि ग्राम तौर पर सभी लोग यह मानते थे कि कांग्रेस में ठीक लोग ठीक संख्या में इकट्ठा हुए थे और उसके फ़ैसलों को मानना सबके लिए **क़तई लाज़िमी** था।

कांग्रेस के सामने मुख्य काम क्या था? 'ईस्क्रा' ने सिद्धांतों तथा संगठन का जो आधार पेश किया था, उस आधार पर एक **सच्ची** पार्टी का निर्माण करना। 'ईस्क्रा' के पिछले तीन साल के काम ने, और इस बात ने कि ज़्यादातर समितियां इस काम को मानती थीं, पार्टी कांग्रेस के कार्य की यह दिशा पहले से ही निश्चित कर दी थी। 'ईस्क्रा' का कार्यक्रम और उसकी धारा को ही पार्टी का कार्यक्रम और धारा बनना था। 'ईस्क्रा' की संगठनात्मक योजनाओं को पार्टी के संगठन के नियमों का रूप धारण करना था। लेकिन, कहने की आवश्यकता नहीं कि यह परिणाम बिना संघर्ष के नहीं प्राप्त हो सकता था। कांग्रेस में चूंकि सभी मतों के प्रतिनिधि शरीक थे, इसलिए ऐसे संगठन भी वहां मौजूद थे जिन्होंने बड़े ज़ोरदार ढंग से 'ईस्क्रा' का विरोध किया था (बुंद और 'रावोचेये देलो') और ऐसे संगठन भी थे जो शाब्दिक रूप में 'ईस्क्रा' को प्रमुख मुखपत्र मानते हुए भी असल में अपने ही ढर्रे पर चल रहे थे और सिद्धान्त के मामले में अस्थिरता दिखाते थे ('यूज़्नी राबोची' दल और कई समितियों के प्रतिनिधि जो इस दल से सम्बंधित थे)। ऐसी हालत में यह लाज़िमी था कि पार्टी कांग्रेस **'ईस्क्रा' की धारा की विजय के लिए होनेवाले संघर्ष का अखाड़ा बन जाये**। जो कोई भी कांग्रेस की कार्यवाही को तनिक भी ध्यान से पढ़ेगा वह तुरन्त यह बात समझ जायेगा कि कांग्रेस सचमुच ऐसा अखाड़ा बन गयी थी। अब हमारा काम यह है कि पार्टी कांग्रेस में विभिन्न सवालों पर जो मुख्य दल सामने आयें, उनको विस्तार से अंकित करें और कार्यवाही के रूप में जो सुनिश्चित तथ्य हमारे सामने हैं उनके आधार पर यह मालूम करें कि प्रमुख दलों में से प्रत्येक का राजनीतिक रूप क्या था। पार्टी कांग्रेस की बहसों तथा वोटों का विश्लेषण करके हमें यह पता लगाना है कि आख़िर वे तमाम दल, धाराएं, और उपधाराएं कौनसी थीं जो पार्टी कांग्रेस में 'ईस्क्रा' के नेतृत्व में एक पार्टी में एकबद्ध होनेवाली थीं। हमारे सामाजिक-जनवादी, वास्तव में, क्या चाहते हैं, इस बात को समझने के लिए और उनके मतभेदों के कारणों को समझने के लिए—इन दोनों ही बातों के लिए इस बात का स्पष्टीकरण बुनियादी महत्व

रखता है। यही कारण है कि मैंने लीग की कांग्रेस में अपने भाषण में और नये 'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल के नाम अपने ख़त में विभिन्न दलों का विश्लेषण सबसे आगे रखा था। मेरे विरोधी, "अल्पमत" के प्रतिनिधि (जिनके नेता मार्तोव हैं), इस प्रश्न का सार-तत्व समझने में बिल्कुल असमर्थ रहे हैं। उनपर जो यह आरोप लगाया गया था कि वे अवसरवाद की ओर झुक गये हैं, उससे अपने को निर्दोष सिद्ध करने की कोशिश में उन्होंने लीग की कांग्रेस में केवल ब्योरे की बातों में संशोधन पेश करने तक ही अपने को सीमित रखा; लेकिन पार्टी कांग्रेस में भाग लेनेवाले विभिन्न दलों का मैंने जो चित्र पेश किया था उसके मुक़ाबले में उन्होंने उससे **किसी भी प्रकार से भिन्न** कोई चित्र पेश करने की कोशिश तक नहीं की। अब मार्तोव ने 'ईस्क्रा' (अंक ५६) में यह साबित करने की कोशिश की है कि कांग्रेस में भाग लेनेवाले विभिन्न राजनीतिक दलों के बीच विभाजन की रेखा खींचने की हर कोशिश महज़ "मण्डलों की राजनीतिक अखाड़ेबाज़ी" है। बड़े कड़े शब्द हैं ये, कामरेड मार्तोव! लेकिन नये 'ईस्क्रा' की कड़ी भाषा का एक ख़ास गुण है: कांग्रेस से लेकर आज तक अलग-अलग मंज़िलों पर इन महानुभावों ने जितनी तरह की अलग-अलग बातें कही हैं उनको एक जगह इकट्ठा भर कर दीजिये, तो इस सारी कड़ी भाषा की धार **पूरी तरह और मुख्यतया** वर्तमान सम्पादक-मण्डल के ख़िलाफ़ मुड़ जाती है। महानुभावो, ज़रा अपना चेहरा भी तो देखिये! कहलाते हो पार्टी के सम्पादक और बातें करते हो मण्डलों की राजनीतिक अखाड़ेबाज़ी की!

कांग्रेस में हमारे संघर्ष से संबंधित तथ्य अब मार्तोव को इतने बुरे लगते हैं कि वह उनको एकदम छिपा जाना चाहते हैं। उनका कहना है कि "'ईस्क्रा'-वादी वह है जिसने पार्टी कांग्रेस में और उसके पहले 'ईस्क्रा' का पूर्ण समर्थन किया हो—जिसने उसके कार्यक्रम का तथा उसके संगठन सम्बंधी विचारों का प्रचार किया हो और जिसने उसकी संगठनात्मक नीति का समर्थन किया हो। इस प्रकार के 'ईस्क्रा'-वादी पार्टी कांग्रेस में चालीस से अधिक थे। 'ईस्क्रा' के कार्यक्रम के समर्थन में और 'ईस्क्रा' को पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र के रूप में स्वीकार करनेवाले प्रस्ताव के पक्ष में इतने ही वोट पड़े थे।" अब ज़रा कांग्रेस की कार्यवाही खोलिये, उसमें (पृष्ठ २३३ पर) आप देखेंगे कि एक अकीमोव को छोड़कर, जिन्होंने किसी तरफ़ वोट नहीं दिया था, **सभी ने** कार्यक्रम के पक्ष में

वोट दिया था। यानी, कामरेड मार्तोव हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं कि बुंदवादी ब्रूकर और मार्तिनोव ने 'ईस्क्रा' के "पूर्ण समर्थक" होने का **परिचय दिया था** और उसके संगठन-सम्बंधी विचारों का **प्रचार किया था!** यह तो हास्यास्पद बात है! कांग्रेस के **बाद**, उसमें जितने भी लोग शरीक हुए थे, वे **सब के सब** समान रूप से पार्टी के मेम्बर हो गये (और सब तो मेम्बर भी नहीं हुए, क्योंकि बुंद-वादी अलग हो गये थे), यह एक बात है, और कांग्रेस **में** किस दलबंदी के कारण संघर्ष हुआ था, यह बिल्कुल दूसरी बात है; यहां इन दोनों बातों को मिला दिया गया है। कांग्रेस के बाद **कौनसे तत्व** "बहुमत" के रूप में सामने आये और **कौनसे** "अल्पमत" के रूप में, इसका अध्ययन करने के बजाय हमको यह रस्मी सूचना दी जाती है कि सब "कार्यक्रम को मानते हैं"!

'ईस्क्रा' को पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र के रूप में स्वीकार करनेवाले प्रस्ताव से संबंधित मतदान को लीजिये। आप देखेंगे कि मार्तिनोव ही ने जिनको कामरेड मार्तोव अब बड़े साहस के साथ, और ऐसे साहस के साथ जिसका किसी बेहतर चीज़ के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए था, 'ईस्क्रा' के संगठन-सम्बन्धी विचारों और संगठनात्मक नीति का समर्थन करने का श्रेय देते हैं—उन मार्तिनोव ने ही प्रस्ताव के दो हिस्सों को अलग कर देने पर ज़ोर दिया था: एक वह हिस्सा जिसमें केवल इसका ज़िक्र हो कि 'ईस्क्रा' को केन्द्रीय मुखपत्र के रूप में स्वीकार किया गया और दूसरा जिसमें उसकी सेवाओं को स्वीकार किया जाये। अब प्रस्ताव के पहले हिस्से पर (जिसमें 'ईस्क्रा' की सेवाओं को स्वीकार किया गया था और उसके प्रति **समर्थन** प्रकट किया गया था) वोट लिये गये, तो **केवल पैंतीस वोट** उसके पक्ष में पड़े; दो वोट ख़िलाफ़ (अकीमोव और ब्रूकर) और ग्यारह लोग तटस्थ रहे (मार्तिनोव, पांच बुंद-वादी, और पांच वोट सम्पादक-मण्डल के जिनमें मार्तोव और मेरे दो-दो वोट थे और एक वोट प्लेख़ानोव का था)। इस तरह, इस सवाल पर भी—जो सवाल मार्तोव के मौजूदा विचारों के हिसाब से उनके लिए सबसे लाभदायक था और जिसे उन्होंने स्वयं चुना था—इस सवाल पर भी 'ईस्क्रा'-विरोधी दल स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है (उसमें पांच बुंद-वादी थे और तीन 'राबोचेये देलो'-वादी)। अब प्रस्ताव के दूसरे हिस्से से संबंधित मतदान को लीजिये, जिसमें 'ईस्क्रा' को केन्द्रीय मुखपत्र के रूप में स्वीकार किया गया था मगर इसका न तो कोई कारण बताया गया था और

न ही उसके प्रति किमी तरह का समर्थन प्रकट किया गया था (कार्यवाही, पृष्ठ १४७) : उसके **पक्ष में** चवालीस वोट पड़े थे ; आजकल मार्तोव इन सबको 'ईस्क्रा'-वादियों के वोट मानते हैं। कुल वोट इक्यावन थे ; उनमें से पांच वोट सम्पादकों के निकाल दीजिये जो तटस्थ रहे, बचे छयालीस वोट ; दो ने प्रस्ताव के **खिलाफ़** वोट दिया (अकीमोव और ब्रूकर ने) ; नतीजा यह निकलता है कि बाक़ी चवालीस में **पांचों बुंद-वादी** भी शामिल थे। और इसलिए, कांग्रेस में बुंद-वादियों ने "'ईस्क्रा' का पूरी तरह समर्थ किया था" – सरकारी 'ईस्क्रा' ने इस तरह सरकारी इतिहास लिखना शुरू किया है! विषय से थोड़ा आगे बढ़कर हम पाठक को यह बताना चाहेंगे कि इस सरकारी सत्य के आविष्कार का असली कारण क्या है : **यदि बुंद-वादी और 'राबोचेये देलो'-वादी कांग्रेस से अलग न हो गये होते** तो 'ईस्क्रा' का वर्तमान सम्पादक-मंडल पार्टी का सच्चा सम्पादक-मण्डल होता (और आज की तरह पार्टी का केवल नामधारी सम्पादक-मंडल बनकर न रह जाता) ; इसीलिए, पार्टी के वर्तमान तथाकथित सम्पादक-मण्डल के इन सबसे अधिक विश्वसनीय संरक्षकों को 'ईस्क्रा'-वादी घोषित करना अत्यन्त आवश्यक था। आगे मैं इस विषय की अधिक विस्तार से चर्चा करूंगा।

अगला सवाल यह है कि यदि कांग्रेस में 'ईस्क्रा'-वादी तथा 'ईस्क्रा'-विरोधी तत्वों के बीच संघर्ष हुआ था तो क्या वहां कोई बीच के, ढुलमुल नहीं थे जो दोनों पक्षों में से कभी एक की तरफ़ झुक जाते हों कभी दूसरे की तरफ़? जो भी हमारी पार्टी से थोड़ा भी परिचित है और जो जानता है कि आम तौर पर सभी कांग्रेसों का कैसा रंग-रूप हुआ करता है, वह बिना किसी जानकारी के भी यही कहेगा कि हां, ऐसे ढुलमुल तत्व पार्टी कांग्रेस में ज़रूर रहे होंगे। मगर कामरेड मार्तोव को अब इन ढुलमुल तत्वों की याद करना बहुत नागवार है, इसलिए, वह 'यूज्नी राबोची' दल को और उन प्रतिनिधियों को जिनका झुकाव इस दल की ओर था, पक्के 'ईस्क्रा'-वादियों के रूप में पेश करते हैं और उनके साथ हमारे मतभेदों को महत्वहीन और बहुत छोटे मतभेद बताते हैं। सौभाग्य से, अब हमारे सामने पूरी कार्यवाही लिखी हुई मौजूद है और हम इस प्रश्न का उत्तर – जो कि, ज़ाहिर है, तथ्यों का प्रश्न है – लिखित प्रमाण के आधार पर दे सकते हैं। कांग्रेस में मोटे तौर पर क्या दलबंदी थी, इसके बारे में हमने ऊपर जो कुछ

कहा है, उसमें, ज़ाहिर है, इस प्रश्न का पूरा उत्तर देने का नहीं बल्कि केवल इस प्रश्न को सही ढंग से पेश करने का दावा किया गया है।

जब तक हम अलग-अलग राजनीतिक दलों का विश्लेषण नहीं करते, जब तक हम पार्टी कांग्रेस को निश्चित धाराओं के संघर्ष के रूप में नहीं देखते, तब तक हम अपने मतभेदों को क़तई नहीं समझ सकते। बुंद-वादियों तक को 'ईस्क्रा'-वादियों में शामिल करके मार्तोव ने अलग-अलग धाराओं पर पर्दा डाल देने की जो कोशिश की है, वह महज़ सवाल को टाल देने का एक ढंग है। तथ्यों पर विचार किये बिना भी, रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के पार्टी कांग्रेस के पहले के इतिहास के आधार पर हम तीन मुख्य दलों को अलग-अलग देख सकते हैं (बाद में इस निष्कर्ष की जांच हो जाये और विस्तार से अध्ययन कर लिया जाये): 'ईस्क्रा'-वादी, 'ईस्क्रा'-विरोधी और अस्थिर, ढुलमुल, डांवांडोल तत्व।

ग) कांग्रेस का आरम्भ। संगठन समिति वाली घटना

सबसे अधिक सुविधा इसी में रहेगी कि पार्टी कांग्रेस की बैठकें जिस क्रम में हुईं, उसी क्रम में बहसों तथा वोटों का विश्लेषण किया जाये ताकि क्रमशः यह बात स्पष्ट होती जाये कि अलग-अलग राजनीतिक धाराएं किस तरह अधिकाधिक स्पष्ट होती गयीं। केवल जब नितान्त आवश्यक होगा तभी हम इस क्रम को भंग करके ऐसे सवालों पर विचार करेंगे, जिनका मुख्य विषय से गहरा सम्बंध है, या मुख्य दलों से मिलते-जुलते दलों की चर्चा करेंगे। बिल्कुल निष्पक्ष रहने के लिए हम **सभी** महत्वपूर्ण वोटों का ज़िक्र करने की कोशिश करेंगे, मगर उन छोटे-छोटे सवालों पर लिये गये अनगिनत वोटों को, ज़ाहिर है, हम छोड़ देंगे जिनमें हमारी कांग्रेस का बहुत अधिक समय गया (इसका कारण कुछ हद तक तो हमारी अनुभवहीनता तथा अलग-अलग सवालों को आयोगों और पूरी बैठकों के बीच बांटने के कौशल का अभाव था और कुछ हद तक यह था कि अक्सर बहसों में इस तरह बाल की खाल निकाली जाती थी कि लगता था कि जान-बूझकर अड़ंगा डाला जा रहा है)।

पहला सवाल जिसपर अलग-अलग धाराओं के मतभेदों को स्पष्ट करनेवाली बहस हुई वह यह था कि "पार्टी में बुंद की स्थिति" शीर्षक विषय को कांग्रेस

के "कार्यक्रम" में पहला स्थान दिया जाये या नहीं (कार्यवाही, पृष्ठ २९-३३)। 'ईस्क्रा'-वादियों के दृष्टिकोण से, जिसका समर्थन प्लेख़ानोव, मार्तोव, त्रोत्स्की और मैंने किया था, इस मामले में कोई सन्देह नहीं हो सकता था। हमारी राय यह थी कि अगर बुंद हमारे रास्ते पर चलने से और संगठन के उन सिद्धान्तों को मानने से इनकार करता है जिनपर 'ईस्क्रा' के साथ पार्टी के बहुमत का मतैक्य है, तो यह "नाटक करना" बेकार और निरर्थक होगा कि हम एक ही रास्ते पर चल रहे हैं; इस तरह तो हम महज़ कांग्रेस को ज़बर्दस्ती लम्बा खींचेंगे (जैसा कि बुंद ने उसे खींचा)। बाद में बुंद ने पार्टी से अलग होकर यह बात बिल्कुल सिद्ध भी कर दी कि हमारी राय बिल्कुल सही थी। इस सवाल पर पहले ही इस विषय से सम्बंधित साहित्य में काफ़ी रोशनी पड़ चुकी थी और हर पार्टी मेम्बर, जो थोड़ा-बहुत भी सोचता था, वह इस बात को साफ़ तौर पर समझता था कि अब इस मामले में सिर्फ़ यह बाक़ी रह गया है कि बिना लाग-लपेट के सवाल को पेश कर दिया जाये और साफ़-साफ़ और पूरी ईमानदारी के साथ दो में से एक चीज़ को चुन लिया जाये : या तो स्वायत्त शासन (तब हम साथ रहेंगे) और या संघ (तब हमारे रास्ते अलग हो जायेंगे)।

मगर बुंदवाले, जो अपनी सम्पूर्ण नीति में हमेशा असली सवालों से कन्नी काटते रहे हैं, इस सवाल पर भी गोलमोल बातें करना और टालमटोल करना चाहते थे। इसमें कामरेड अकीमोव भी उनके साथ हो लिये, जिन्होंने, स्पष्टतः 'राबोचेये देलो' के सभी अनुयायियों की तरफ़ से, फ़ौरन संगठन के सवालों पर 'ईस्क्रा' के साथ अपने मतभेदों को सामने रख दिया (कार्यवाही, पृष्ठ ३१)। बुंद और 'राबोचेये देलो' का समर्थन कामरेड माख़ोव ने किया (जिनके निकोलायेव समिति के प्रतिनिधि की हैसियत से दो वोट थे – इस समिति ने कुछ ही समय पहले 'ईस्क्रा' का समर्थन किया था!)। कामरेड माख़ोव के दिमाग़ में यह सवाल बिल्कुल अस्पष्ट था और उनकी राय में दूसरी "दुखती रग" यह थी कि "हम जनवादी प्रणाली चाहते हैं या इसके विपरीत" (ज़रा इस पर ग़ौर कीजियेगा!) "केन्द्रीयता चाहते हैं" – हूबहू यही बात "पार्टी के" मौजूदा सम्पादक-मण्डल का बहुमत आजकल कह रहा है जिसे कांग्रेस के समय तक इस "दुखती रग" का पता नहीं लगा था!

इस प्रकार, बुंद, 'राबोचेये देलो' तथा कामरेड माख़ोव ने 'ईस्क्रा'-

वादियों का विरोध किया। इन सबके मिलाकर दस वोट होते थे, जो हमारे ख़िलाफ़ पड़े (पृष्ठ ३३)। **तीस वोट** हमारे **पक्ष में** पड़े—और जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, 'ईस्क्रा'-वादियों के वोट बहुधा इसी संख्या के लगभग रहे। ग्यारह ने वोट नहीं दिया, स्पष्टतः उन्होंने दोनों "पक्षों" में से किसी का साथ नहीं दिया। यह बात काफ़ी दिलचस्प है कि जब हमने बुंद की नियमावली की दूसरी धारा पर वोट लिये (इस दूसरे नियम के अस्वीकार कर दिये जाने के कारण ही बुंद पार्टी से अलग हो गया), तब भी उसके पक्ष में पड़नेवाले वोट और तटस्थ रह जानेवाले वोट कुल मिलाकर दस होते थे (कार्यवाही, पृष्ठ २८९) और तटस्थ रहनेवालों में तीन 'राबोचेये देलो'-वादी (ब्रूकर, मार्तिनोव, और अकीमोव) और कामरेड माख़ोव थे। बुंद के मसले को कार्यक्रम में कौनसा **स्थान** दिया जाये, इस सवाल पर वोट में अलग-अलग दलों की जो स्थिति प्रकट हुई, वह **संयोगवश वैसी नहीं थी**। स्पष्ट ही ये तमाम साथी 'ईस्क्रा' से न केवल इस वैधानिक प्रश्न पर मतभेद रखते थे कि बहस का क्रम क्या हो, बल्कि **बुनियादी बातों पर** भी उनका मतभेद था। 'राबोचेये देलो' को किस बुनियादी बात पर मतभेद था, यह सब अच्छी तरह जानते हैं, और जहां तक कामरेड माख़ोव का सम्बन्ध है उन्होंने अपना रुख़ उस भाषण में बहुत ही बेमिसाल ढंग से व्यक्त कर दिया था जो उन्होंने बुंद के पार्टी से अलग हो जाने के सम्बन्ध में दिया था (कार्यवाही, पृष्ठ २८९-९०)। इस भाषण पर थोड़ा विचार करना उपयोगी होगा। कामरेड माख़ोव ने कहा कि संघ को अस्वीकार करनेवाले प्रस्ताव के बाद "रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में बुंद की स्थिति का प्रश्न मेरे लिए सिद्धान्त का प्रश्न नहीं रह गया है, बल्कि वह असली राजनीति का सवाल बन गया है जिसका सम्बंध एक ऐसे जातीय संगठन से है जिसका ऐतिहासिक तौर पर विकास हुआ है।" अपने भाषण में आगे चलकर वक्ता ने कहा कि "यहां पर मुझे लाज़िमी तौर पर उन तमाम नतीजों को ध्यान में रखना पड़ा जो हमारे वोट से हो सकते थे और इसलिए मैं दूसरे नियम के पूरे के पूरे के लिए वोट देता।" कामरेड माख़ोव ने "असली राजनीति" की भावना को अच्छी तरह हृदयंगम किया है: सिद्धान्त में वह संघ को **पहले ही** अस्वीकार कर चुके थे, **इसलिए** व्यवहार में नियमावली में एक ऐसा नियम शामिल करने के पक्ष में वह **वोट देते** जिससे संघ क़ायम हो जाता! और इस "अमली" साथी ने अपनी गूढ़ सिद्धान्तनिष्ठ स्थिति की

व्याख्या इन शब्दों में की है: "लेकिन" (र्चेद्रिन का प्रसिद्ध "लेकिन") "चूंकि कांग्रेस के बाक़ी सभी प्रतिनिधियों की लगभग सर्वसम्मति से दूसरी राय थी, इसलिए इस हालत में मेरा किसी भी पक्ष में वोट देना केवल एक सैद्धान्तिक बात ही होती (!!) और उसका कोई व्यावहारिक महत्व न होता, इस कारण मैंने वोट के समय तटस्थ रहना ही उचित समझा ताकि सिद्धान्त में" (भगवान बचाये हमें ऐसे सिद्धान्तों से!) "यह बात स्पष्ट हो जाये कि इस प्रश्न पर मेरे मत और बुंद के उन प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्त किये गये मत में क्या अन्तर है, जिन्होंने इस बात के पक्ष में वोट दिया था। इसके विपरीत, यदि बुंद के प्रतिनिधियों ने इस सवाल पर वोट न दिया होता जैसा कि वे पहले आग्रह कर रहे थे, तो मैं इसके पक्ष में वोट देता।" इस अनबूझ पहेली को कौन बूझ सकता है? एक सिद्धान्तनिष्ठ सज्जन हैं जो इसलिए ज़ोर से "हां" नहीं कहते कि अमली तौर पर उससे कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि बाक़ी सब "नहीं" कह रहे हैं!

कार्यक्रम में बुंद के मसले का कौनसा स्थान रहे, इस सवाल पर वोट हो जाने के बाद 'बोर्बा' दल का सवाल कांग्रेस के सामने आया। और इस सवाल पर भी बहुत ही दिलचस्प दलबंदियां सामने आयीं। पार्टी कांग्रेस के सामने जो "सबसे नाज़ुक" मसला था, यानी यह मसला कि पार्टी की केन्द्रीय संस्थाओं में कौन लोग रहेंगे उससे इस सवाल का गहरा सम्बंध था। कांग्रेस में कौन लोग भाग लेंगे, इस प्रश्न को तै करने के लिए जो आयोग नियुक्त किया गया था, उसने 'बोर्बा' दल को बुलाने के ख़िलाफ़ फ़ैसला किया था और उसका यह फ़ैसला संगठन समिति के **दो बार किये गये** निर्णय (देखिये कार्यवाही, पृष्ठ ३८३ और ३७५) और **आयोग में उसके प्रतिनिधियों** की रिपोर्ट (पृष्ठ ३५) के अनुकूल था।

संगठन समिति के सदस्य, कामरेड येगोरोव ने कहा कि "'बोर्बा' का सवाल" (ध्यान दीजिये: 'बोर्बा' का न कि इस दल के किसी विशेष सदस्य का) "मेरे लिए एक नया सवाल है।" और यह कहकर उन्होंने मध्यांतर की मांग की। जिस सवाल पर संगठन समिति दो बार फ़ैसला कर चुकी थी, वह संगठन समिति के एक सदस्य के लिए कैसे एक नया सवाल बन गया, यह बात अब तक एक रहस्य बनी हुई है। मध्यांतर में संगठन समिति की एक बैठक हुई (कार्यवाही, पृष्ठ ४०); संगठन समिति के जितने सदस्य पार्टी कांग्रेस में उपस्थित थे

वे इस बैठक में शरीक हुए (उसके कुछ सदस्य जो कि 'ईस्क्रा'-संगठन के पुराने सदस्य थे, कांग्रेस में अनुपस्थित थे)*। 'बोर्बा' के सवाल पर बहस शुरू हुई। 'राबोचेये देलो'-वादी (मार्तिनोव, अकीमोव, और ब्रूकर – देखिये पृष्ठ ३६-३८) पक्ष में और 'ईस्क्रा'-वादी (पावलोविच, सोरोकिन, लांगे[173], त्रोत्स्की, मार्तोव, आदि) विरोध में बोले। एक बार फिर कांग्रेस उन्हीं दलों में बंट गयी जिनका हम पहले परिचय प्राप्त कर चुके हैं। 'बोर्बा' के सवाल पर बड़ी ज़बर्दस्त टक्कर शुरू हो गयी और कामरेड मार्तोव ने विस्तृत वर्णन से भरा (पृष्ठ ३८) एक "जोशीला" भाषण दिया जिसमें उन्होंने इस बात की ओर ठीक ही संकेत किया कि रूस में और विदेशों में काम करनेवाले दलों को "समान प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया है" और कहा कि यह बात "अच्छी" नहीं है कि एक विदेशी दल को कोई "विशेषाधिकार" दिये जायें (ये सुनहरे शब्द हैं, जो कांग्रेस के बाद की घटनाओं की रोशनी में आज विशेष रूप से शिक्षाप्रद हैं!) और यह भी कहा कि हमें पार्टी में "संगठनात्मक अराजकता को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए जिसकी ख़ास विशेषता यह होती है कि बिना किसी सैद्धान्तिक कारण के भी पार्टी में फूट पड़ जाती है" (हमारी पार्टी कांग्रेस में "अल्पमत" ... के माथे पर क्या बेचूक निशाना बैठा है!)। 'राबोचेये देलो' के अनुयायियों को छोड़कर और **किसी ने भी** खुलकर तथा तर्कसंगत उद्देश्यों के साथ 'बोर्बा' का समर्थन नहीं किया और आख़िर वक्ताओं की सूची समाप्त हो गयी (पृष्ठ ४०)। कामरेड अकीमोव और उनके मित्रों को इस बात का श्रेय देना पड़ेगा कि कम से कम उन्होंने बचकर निकलने या छिपने की कोशिश नहीं की, बल्कि उन्होंने अपनी नीति सफ़ाई के साथ रखी और जो कुछ वे कहना चाहते थे सफ़ाई के साथ कहा।

जब वक्ताओं की सूची समाप्त हो गयी, जब **इस विषय पर** बोलना अवैधानिक हो गया, **तब** कामरेड येगोरोव ने "बड़े आग्रह के साथ यह मांग की कि संगठन समिति ने अभी-अभी जो फ़ैसला किया है उसे सुना जाये"। कोई आश्चर्य नहीं यदि इस तिकड़म पर प्रतिनिधियों को बहुत ग़ुस्सा आया और

*इस बैठक के सम्बन्ध में पावलोविच का 'पत्र'[172] देखिये। पावलोविच संगठन समिति के एक सदस्य थे, जो कांग्रेस के पहले **सर्वसम्मति से** सम्पादक-मण्डल के अभिकर्ता के रूप में उसके सातवें सदस्य चुने गये थे (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ४४)।

अधिवेशन के अध्यक्ष, कामरेड प्लेख़ानोव न इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि "कामरेड यगोरोव अपनी इस मांग पर इतना आग्रह कर रहे हैं"। ऐसी हालत में हर शख़्स दो ही रास्ते देखता है: या तो वह मूल प्रश्न पर स्पष्टता के साथ और निश्चित रूप में अपनी राय पूरी कांग्रेस के सामने रख दे, और या कुछ न कहे। लेकिन पहले तो वक्ताओं की सूची को समाप्त हो जाने देना और फिर "बहस का जवाब" देने के बहाने उसी विषय पर जिसपर कांग्रेस में बहस चल रही थी, संगठन समिति का एक **नया** फ़ैसला कांग्रेस के सामने पेश कर देना पीठ में छुरी भोंक देने के समान था!

दोपहर के भोजन के बाद फिर अधिवेशन शुरू हुआ और ब्यूरो ने, जो उस वक़्त भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ था, "वैधानिकता" को त्यागकर वह तरीक़ा अपनाने का फ़ैसला किया जो कांग्रेसों में केवल हालत बहुत बिगड़ जाने पर ही अपनाया जाता है; यानी "साथियों के ढंग से समझाना"। संगठन समिति के प्रतिनिधि पोपोव ने संगठन समिति का फ़ैसला सुना दिया जिसे एक सदस्य पावलोविच (पृष्ठ ४३) की राय के ख़िलाफ़ बाक़ी सभी सदस्यों ने स्वीकार किया था और जिसमें कांग्रेस से सिफ़ारिश की गयी थी कि रियाज़ानोव को बुला लिया जाये।

पावलोविच ने कहा कि उन्होंने यह मत प्रकट किया था और अब भी उनका यही मत है कि संगठन समिति की यह बैठक वैधानिक नहीं थी और उसका यह नया फ़ैसला **"उसके पुराने फ़ैसले के ख़िलाफ़ जाता है"**। इस वक्तव्य से शोर मच गया। कामरेड येगोरोव ने, जो ख़ुद संगठन समिति के सदस्य थे और 'यूज्नी राबोची' दल के भी, इस प्रश्न की बुनियादी बात का साफ़-साफ़ जवाब देने से बचना चाहा और पूरा ध्यान अनुशासन के सवाल की ओर आकृष्ट करने की कोशिश की। उन्होंने कहा कि कामरेड पावलोविच ने पार्टी का अनुशासन तोड़ा है(!) क्योंकि उसके विरोध में उनकी बात सुनने के बाद संगठन समिति ने यह फ़ैसला किया था कि "पावलोविच के अलग मत को कांग्रेस के सामने न रखा जाये"। अब बहस पार्टी के अनुशासन के सवाल पर होने लगी और कामरेड प्लेख़ानोव ने (सब लोगों की पुरजोश तालियों के बीच) कामरेड येगोरोव की नसीहत के लिए कहा कि **"हम अनुल्लंघनीय आदेश जैसी किसी चीज़ को नहीं मानते"** (पृष्ठ ४२; देखिये पृष्ठ ३७९ पर कांग्रेस की नियमावली जिसमें से ७वीं धारा यह है: "प्रतिनिधियों के अधिकारों को अनुल्लंघनीय आदेशों द्वारा सीमित

नहीं किया जाना चाहिए। प्रतिनिधियों को अपने अधिकारों का प्रयोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता और स्वाधीनता है।")। "कांग्रेस पार्टी की सर्वोच्च संस्था है," और इसलिए पार्टी के अनुशासन और कांग्रेस की नियमावली का उल्लंघन वह आदमी करता है जो किसी भी प्रतिनिधि को पार्टी जीवन से सम्बंधित **किसी भी** प्रश्न पर **सीधे** कांग्रेस के सामने अपनी बात कहने से किसी भी तरह रोकता है। इस तरह सवाल ने इस दुविधा की शक्ल अख़्तियार कर ली कि मण्डल-भावना को पहला स्थान दिया जाये या पार्टी-भावना को? विभिन्न निकायों या मण्डलों के काल्पनिक अधिकारों अथवा नियमों की रक्षा के लिए कांग्रेस में प्रतिनिधियों के अधिकारों पर प्रतिबंध लगाये जायें, या कांग्रेस से पहले, और सचमुच पार्टी की संस्थाएं बाक़ायदा बनने तक के लिए, नीचे के **तमाम** निकाय और पुराने दल **पूरी तरह**, और केवल नाम के लिए नहीं बल्कि सचमुच ख़तम कर दिये जायें। पाठक यह बात समझ गये होंगे कि कांग्रेस के शुरू में ही (तीसरी बैठक में) और वह भी उस कांग्रेस में जिसका उद्देश्य पार्टी की सच्चे मानों में पुनर्स्थापना करना था, इस विवाद का सिद्धान्त की दृष्टि से कितना गहरा महत्व था। ('यूज्नी राबोची' जैसे) पुराने मण्डलों तथा छोटे-छोटे दलों और नया जन्म लेनेवाली पार्टी के बीच जो टक्कर हो रही थी वह मानो इसी विवाद के चारों ओर केंद्रित थी। और 'ईस्क्रा'-विरोधी दल फ़ौरन अपनी असली शक्ल में सामने आ गये: बुंद-वादी अब्रामसन, 'ईस्क्रा' के वर्तमान सम्पादक-मण्डल के प्रबल समर्थक कामरेड मार्तिनोव, और हमारे पुराने परिचित कामरेड माख़ोव, सब ने पावलोविच के ख़िलाफ़ येगोरोव और 'यूज्नी राबोची' का साथ दिया। कामरेड मार्तिनोव ने, जो आजकल संगठन के मामले में अपनी "जनतांत्रिकता" का प्रदर्शन करने में मार्तोव और अक्सेलरोद के कान काट रहे हैं, फ़ौज ... तक की मिसाल दी जहां ऊपर के अफ़सर से केवल नीचे के अफ़सर की मारफ़त ही अपील की जा सकती है!! जो कोई भी कांग्रेस में मौजूद था या जिस किसी ने भी कांग्रेस के पहले के हमारी पार्टी के अन्दरूनी इतिहास का मनन किया था, वह अच्छी तरह समझता था कि इस मामले में 'ईस्क्रा' का जो "गठा हुआ" विरोध किया गया, उसका असली मतलब क्या था। विरोधी पक्ष का उद्देश्य था (हालांकि शायद उसके सभी प्रतिनिधि हमेशा इस उद्देश्य को नहीं समझते थे और कभी-कभी वे अपने शैथिल्य के कारण ही इस उद्देश्य का अनुसरण करते थे) छोटे-छोटे दलों की आज़ादी की,

उनके व्यक्तिवाद की, और उनके संकुचित स्वार्थों की रक्षा करना और उनको उस व्यापक पार्टी में विलीन हो जाने से बचाना जिसका निर्माण 'ईस्क्रा' के सिद्धान्तों पर हो रहा था।

कामरेड मार्तोव ने, जिन्होंने उस समय तक मार्तिनोव का साथ देना नहीं शुरू किया था, इस सवाल के बारे में ठीक यही दृष्टिकोण अपनाया। कामरेड मार्तोव ने उन लोगों का ज़ोरदार विरोध किया और सही विरोध किया, "पार्टी के अनुशासन के बारे में जिनकी कल्पना इससे आगे नहीं जा पाती कि किसी भी क्रान्तिकारी के **निचले स्तर के** उस दल विशेष के प्रति, जिसमें वह शामिल है, क्या कर्तव्य हैं"। मण्डलों के तरीक़ों के समर्थकों को समझाते हुए मार्तोव ने कहा: "एक संयुक्त पार्टी के भीतर किसी **अनिवार्य**" (शब्द पर ज़ोर मार्तोव का) "दलबंदी को बरदाश्त नहीं किया जा सकता।" उस वक़्त वे यह नहीं देख सके कि कांग्रेस के अंत में और उसके बाद उनके अपने राजनीतिक आचरण के लिए ये शब्द कैसे मर्मान्तिक प्रहारों का काम करेंगे ... संगठन समिति के बारे में कोई अनिवार्य दलबंदी बरदाश्त नहीं की जा सकती, लेकिन सम्पादक-मण्डल के बारे में बरदाश्त की जा सकती है। जब मार्तोव इसे अपने आपको केन्द्र में रखकर देखते हैं तब वह अनिवार्य दल की निन्दा करते हैं, मगर ज्यों ही उनमें केन्द्र की रचना से असंतोष पैदा होता है, त्यों ही वह उसका समर्थन करने लगते हैं ...

यह बात काफ़ी दिलचस्प है कि अपने भाषण में कामरेड मार्तोव ने न सिर्फ़ कामरेड येगोरोव की "गम्भीर ग़लती" पर ख़ास ज़ोर दिया, बल्कि उन्होंने उस राजनीतिक अस्थिरता की भी निन्दा की जिसका संगठन समिति ने परिचय दिया था। मार्तोव ने सर्वथा उचित क्रोध के साथ कहा: "संगठन समिति की तरफ़ से एक सुझाव पेश किया गया है जो आयोग की रिपोर्ट के **ख़िलाफ़ जाता है**" (और हम यह जोड़ दें कि आयोग की रिपोर्ट संगठन समिति के सदस्यों की रिपोर्ट पर आधारित थी – पृष्ठ ४३, कोल्त्सोव का भाषण) "और **जो संगठन समिति के पिछले सुझावों के ख़िलाफ़ जाता है**" (शब्दों पर ज़ोर मेरा है)। जैसा कि स्पष्ट है, **उस समय**, "बदलने" के पहले, मार्तोव साफ़ तौर पर यह समझते थे कि 'बोर्बा' की जगह रियाज़ानोव को ले आने से संगठन समिति के कामों के परस्पर विरोधी स्वरूप और उसकी अस्थिरता में कोई और कमी नहीं आती (बदलने के बाद मार्तोव इस मामले को किस ढंग से देखने लगे, यह पार्टी

के सदस्य लीग की कांग्रेस की कार्यवाही के पृष्ठ ५७ पर देख सकते हैं)। उस समय मार्तोव ने अनुशासन का विश्लेषण करने तक ही अपने को सीमित नहीं किया, बल्कि बिना लाग-लपेट के संगठन समिति से पूछा कि: "ऐसी कौनसी नयी बात हो गयी है जिसके कारण आपको अपनी राय **बदल देनी पड़ी है?**" (शब्दों पर ज़ोर मेरा है)। और सचमुच जब संगठन समिति ने अपना प्रस्ताव पेश किया था तो उसे अकीमोव, आदि की तरह अपने मत का खुल्लमखुल्ला समर्थन करने की भी हिम्मत नहीं हुई थी। मार्तोव इस बात से इनकार करते हैं (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ५६), लेकिन जो कोई भी कांग्रेस की कार्यवाही को पढ़ेगा वह देखेगा कि वह ग़लती पर हैं। संगठन समिति की ओर से प्रस्ताव पेश करते हुए पोपोव ने उसके उद्देश्यों के बारे में **एक शब्द भी नहीं कहा** (पार्टी कांग्रेस की कार्यवाही, पृष्ठ ४१)। येगोरोव ने पूरे सवाल को अनुशासन का सवाल बना दिया और प्रश्न के सार-तत्व के विषय में उन्होंने केवल इतना ही कहा कि: "संभव है कि संगठन समिति के पास कोई नये कारण रहे हों" (मगर यह मालूम नहीं हुआ कि क्या सचमुच उसके पास कोई नये कारण थे और यदि थे तो क्या?) ... "हो सकता है, वह किसी को नामज़द करना भूल गयी हो, या ऐसा ही कोई और कारण हो" ("या कोई और कारण हो" – यह तर्क ही वक्ता का एकमात्र सहारा था, क्योंकि संगठन समिति 'बोर्बा' के सवाल को भूल नहीं सकती थी, उसपर वह दो बार कांग्रेस से पहले और एक बार आयोग में बहस कर चुकी थी)। "संगठन समिति ने यह फ़ैसला इसलिए नहीं किया कि उसने 'बोर्बा' की तरफ़ अपना रुख़ बदल दिया है, बल्कि इसलिए कि वह पार्टी के भावी केन्द्रीय संगठन का कार्य आरम्भ होने के समय से ही उसके रास्ते से तमाम अनावश्यक रोड़ों को हटा देना चाहती है।" यह कारण बताना नहीं, कारण बताने से कन्नी काटना है। हर ईमानदार सामाजिक-जनवादी को (और हमें कांग्रेस में भाग लेनेवाले किसी भी प्रतिनिधि की ईमानदारी में ज़र्रा बराबर शक नहीं है) इस बात की चिन्ता रहती है कि जिन चीज़ों को **वह** रास्ते के छिपे हुए रोड़े **समझे** उनको **ऐसे तरीक़ों** से हटा दे जिन्हें **वह** उचित **समझता है**। कारण बताने का मतलब होता है चीज़ों के बारे में अपनी राय साफ़-साफ़ बताना और उसको समझाना। उसका मतलब पिटी-पिटाई बातों को दुहराना नहीं होता। और "'बोर्बा' की तरफ़ अपना रुख़ बदले

बिना" उसके लिए कारण बताना **असम्भव था**, क्योंकि जब संगठन समिति ने अपने पहले फ़ैसले और बाद में उनके उल्टे फ़ैसले किये थे, उस वक़्त उसे भी रास्ते के छिपे हुए रोड़ों को हटाने की ही फ़िक्र थी, मगर उस वक़्त वह जिन बातों को 'रोड़ा" समझती थी वे इसकी बिल्कुल उल्टी चीज़ थीं। और कामरेड मार्तोव ने इस दलील की बहुत सख़्त और बहुत कसकर आलोचना की, उन्होंने कहा कि यह एक "टुच्ची" दलील है जिसका उद्देश्य **"असली सवाल को बातों में उड़ा देना"** है और उन्होंने संगठन समिति को सलाह दी कि उसे **"इस बात से नहीं डरना चाहिए कि लोग क्या कहेंगे"**। इन शब्दों में इस राजनीतिक धारा का पूरा स्वरूप और उसका तात्पर्य सामने आ जाता है जिसका कांग्रेस में इतना बड़ा हाथ रहा और जिसकी ख़ास विशेषताएं हैं: उसमें स्वाधीनता का अभाव, उसका टुच्चापन, उसकी अपनी कोई नीति न होना, उसका इस बात से डरना कि लोग क्या कहेंगे, सदा दो निश्चित मतों के बीच ढुलमुल रहना, अपने विश्वास की साफ़-साफ़ घोषणा करने से डरना – एक शब्द में कहा जाये तो उसमें "दलदल"* की सभी विशेषताएं मौजूद हैं।

अस्थिर दल की इस राजनीतिक अदृढ़ता का एक परिणाम यह हुआ कि एक बुंद-वादी यूदिन को छोड़कर (पृष्ठ ५३) और **किसी ने भी** कांग्रेस में इस आशय का प्रस्ताव पेश **नहीं** किया कि 'बोर्बा' दल के किसी एक सदस्य को बुलाया जाये। यूदिन के प्रस्ताव को पांच वोट मिले – जो ज़ाहिर है सबके सब बुंद-वादियों के वोट

---

*हमारी पार्टी में आजकल कुछ लोग हैं जो इस शब्द को सुनते ही घबरा जाते हैं और बहस चलाने के ग़ैर-कामरेडाना तरीक़ों के बारे में चीख़ने-चिल्लाने लगते हैं। यह एक अजीब बिगड़ी हुई संवेदनशीलता है ... जिसका कारण वैधानिकता का ग़लत प्रकार का प्रेम है! जिस किसी राजनीतिक पार्टी को इस बात का थोड़ा भी ज्ञान है कि अन्दरूनी संघर्ष क्या होता है, वह इस शब्द का प्रयोग करने से नहीं बच सकी है; विरोधी पक्षों के बीच जो अस्थिर तत्व इधर से उधर लुढ़का करते हैं, उनके लिए सदा इसी शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां तक कि जर्मन लोगों को भी, जो अपने अन्दरूनी संघर्ष को सुनिश्चित सीमाओं के भीतर रखना बहुत अच्छी तरह जानते हैं, «versumpft» शब्द (जिसका अर्थ दलदल है – सं०) को बुरा नहीं मानते, उन्हें इससे तनिक भी डर नहीं लगता और वे उसे सुनकर कभी इस प्रकार के हास्यास्पद वैधानिकता-प्रिय संकोच का प्रदर्शन नहीं करते।

रहे होंगे : ढुलमुल लोग फिर चोला बदल गये! बीच के दल के कितने वोट थे, यह मोटे तौर पर 'बोर्बा' के प्रश्न पर कोल्त्सोव और यूदिन के प्रस्तावों पर वोटों के बंटवारे से मालूम हो जाता है। 'ईस्क्रा'-वादी प्रस्ताव को बत्तीस वोट मिले (पृष्ठ ४७), बुंद-वादी प्रस्ताव को सोलह मिले, यानी आठ 'ईस्क्रा'-विरोधी वोट, दो वोट कामरेड माखोव के (पृष्ठ ४६), चार वोट 'यूज्नी राबोची' **दल** के सदस्यों के, और दो और वोट। हम एक क्षण में यह सिद्ध कर देंगे कि वोटों का यह विभाजन आकस्मिक नहीं समझा जा सकता; लेकिन पहले हम संक्षेप में इस बात पर विचार करेंगे कि संगठन समिति वाली इस घटना के बारे में मार्तोव की **इस समय** क्या राय है। लीग में मार्तोव ने यह राय ज़ाहिर की कि "पावलोविच आदि ने भावनाओं को उभारा था"। मगर कांग्रेस की कार्यवाही उठाकर देखिये; आपको फ़ौरन मालूम हो जायेगा कि 'बोर्बा' तथा संगठन समिति के ख़िलाफ़ सबसे अधिक विस्तृत, आवेशपूर्ण और तीखे भाषण खुद मार्तोव ने दिये थे। पावलोविच के मत्थे "दोष मढ़ने" का प्रयत्न करके मार्तोव ख़ुद अपनी अस्थिरता ज़ाहिर कर देते हैं; कांग्रेस से पहले, मार्तोव ने पावलोविच को ही सम्पादक-मण्डल का सातवां सदस्य चुना था। कांग्रेस में मार्तोव ने येगोरोव के मुक़ाबले में पावलोविच का पूरा-पूरा समर्थन किया था (पृष्ठ ४४), लेकिन जब वह पावलोविच से हार गये तो उनपर "भावनाएं उभारने" का आरोप लगाने लगे। यह बिल्कुल हास्यास्पद बात है।

'ईस्क्रा' (अंक ५६) में मार्तोव ने इस बात पर बड़ा व्यंग किया है कि इस बात को बहुत महत्व दिया गया कि 'क' को बुलाया जाये या 'ख' को। लेकिन यहां फिर व्यंग की चोट खुद मार्तोव पर पड़ती है, क्योंकि संगठन समिति वाली इसी घटना के कारण ही इतने "महत्वपूर्ण" सवाल पर विवाद आरम्भ हुआ था कि केन्द्रीय समिति अथवा केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल में 'क' को बुलाया जाये या 'ख' को। यह अशोभनीय बात है कि यदि खुद **अपने** "निचले स्तर के दल" (पार्टी के मुक़ाबले में) का मामला हो तो एक मापदण्ड लगाया जाये और यदि **किसी दूसरे का** हो तो दूसरे मापदण्ड का प्रयोग किया जाये। यह किसी मामले की ओर पार्टी का रुख़ नहीं, बल्कि कूपमण्डूकों का रुख़ है और मण्डल मनोवृत्ति का परिचायक है। लीग में मार्तोव ने जो भाषण दिया है (पृष्ठ ५७), उसकी उनके कांग्रेस के भाषण (पृष्ठ ४४) से तुलना भर कर लेने

से यह बात सिद्ध हो जाती है। लीग के भाषण में मार्तोव ने और बातों के दौरान में कहा था, "मेरी समझ में नहीं आता कि लोग कैसे एक तरफ़ तो किसी न किसी तरह 'ईस्क्रा'-वादी कहलाने की कोशिश करते हैं और फिर 'ईस्क्रा'-वादी होने में उन्हें शर्म भी आती है!" "कहलाने" और "होने" के इस अन्तर को न समझ पाना भी काफ़ी अजीब बात है–यह कहनी और करनी का अन्तर है। मार्तोव ने ख़ुद कांग्रेस में **अपने को** अनिवार्य दलबंदियों का विरोधी **कहा था**, मगर कांग्रेस के बाद वह ऐसी दलबंदी के समर्थक **हो गये** ...

घ) 'यूज्नी राबोची' दल का भंग किया जाना

संगठन समिति के सवाल पर प्रतिनिधियों में जिस प्रकार का विभाजन देखने में आया, वह सम्भवतः एक आकस्मिक चीज़ लगे। मगर ऐसा समझना ग़लत होगा और इस ग़लत मत का खण्डन करने के लिए हम घटना-क्रम से थोड़ा अलग हटकर एक ऐसी घटना पर विचार करेंगे जो कांग्रेस के अन्त में हुई थी, मगर जिसका पिछली घटना से बहुत घनिष्ठ सम्बंध था। यह घटना थी 'यूज्नी राबोची' दल का भंग किया जाना। 'ईस्क्रा' की संगठनात्मक धारा–यानी पार्टी की तमाम शक्तियों को एक में मिला देने और उनके बीच फूट फैलानेवाली अराजकता को दूर करने की धारा–**एक** ऐसे दल के हितों से टकरायी, जिसने उस समय तो उपयोगी काम किया था जब असल में पार्टी नहीं थी, मगर जो अब, जब कि काम का केन्द्रीकरण हो रहा था, बेकार हो गया था। यदि उसके दलीय हितों के दृष्टिकोण से देखा जाये तो 'यूज्नी राबोची' दल को भी "पहले की तरह बने रहने" और भंग न किये जाने का दावा करने का उतना ही अधिकार था जितना पुराने 'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल को था। लेकिन पार्टी के हितों का तक़ाज़ा था कि यह दल अपनी शक्तियों को "उचित पार्टी संगठनों" में शामिल हो जाने दे (पृष्ठ ३१३, कांग्रेस द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव का अन्तिम अंश)। मण्डलों के हितों तथा "सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकता" के दृष्टिकोण से एक उपयोगी दल का भंग किया जाना लाज़िमी तौर पर एक "नाज़ुक मसला" (कामरेड रूसोव तथा कामरेड डेयट्श द्वारा प्रयुक्त शब्द) मालूम पड़ता था, क्योंकि पुराने 'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल की भांति वह भी भंग होना नहीं चाहता था। लेकिन पार्टी

के हितों के दृष्टिकोण से उसका भंग किया जाना, उसका पार्टी में "मिला दिया जाना" (गूसेव के शब्द) नितान्त आवश्यक था। 'यूज्नी राबोची' दल ने दो-टूक ऐलान कर दिया कि वह अपने को भंग घोषित करना "आवश्यक नहीं समझता" और यह मांग की कि "कांग्रेस इस सवाल पर अपनी निश्चित राय दे" और अपना मत "तुरन्त हां या नहीं में" प्रकट करे। 'यूज्नी राबोची' दल ने भी "बने रहने" के उसी अधिकार की खुल्लमखुल्ला मांग की, जिसकी मांग पुराने 'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल ने उस समय आरम्भ कर दी थी... जब वह भंग कर दिया गया था। कामरेड येगोरोव ने कहा: "हालांकि व्यक्तिगत रूप से हम सब एक संयुक्त पार्टी के सदस्य हैं, मगर फिर भी उसमें कई ऐसे संगठन शामिल हैं जिन्होंने **ऐतिहासिक विकास के फलस्वरूप संगठनों का रूप धारण कर लिया है** और जिनको हमें इस रूप में स्वीकार करना पड़ता है... यदि ऐसा कोई संगठन पार्टी के लिए **हानिकारक नहीं है तो उसे भंग करने की कोई आवश्यकता नहीं है।"**

इस प्रकार, बिल्कुल निश्चित रूप से एक महत्वपूर्ण **सैद्धान्तिक** प्रश्न उठ खड़ा हुआ; और सभी 'ईस्क्रा'-वादियों ने ढुलमुल तत्वों का निर्णायक रूप से विरोध किया, क्योंकि अभी 'ईस्क्रा'-वादियों के अपने दलीय हित तो सामने आये नहीं थे (बुंद-वादी तथा 'राबोचेये देलो' दल के दो प्रतिनिधि कांग्रेस छोड़कर चले जा चुके थे; वरना इसमें सन्देह नहीं कि वे भी "ऐतिहासिक विकास द्वारा जनित इन संगठनों को स्वीकार करने" का तन-मन से समर्थन करते)। वोट लेने पर पता चला कि भंग करने के **पक्ष में इकतीस वोट**, विरोध में पांच वोट पड़े और पांच तटस्थ रह गये हैं (इन पांच में से ४ 'यूज्नी राबोची' दल के सदस्यों के वोट थे, और बेलोव के पुराने बयानों को देखने से लगता है कि सम्भवतः बाक़ी पांचवां वोट उनका रहा होगा – देखिये पृष्ठ ३०८)। इस प्रकार यहां स्पष्ट देखा जा सकता है कि **दस वोटों** के एक दल ने 'ईस्क्रा' की सुसंगत संगठनात्मक योजना का साफ़-साफ़ विरोध किया और पार्टी-सिद्धान्तों के मुक़ाबले में मण्डलों के सिद्धान्त का समर्थन किया। बहस के दौरान में, 'ईस्क्रा'-वादियों ने सवाल को ऐन सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से पेश किया (देखिये लांगे का भाषण, पृष्ठ ३१५)। उन्होंने नौसिखुएपन और फूट का विरोध किया, अलग-अलग संगठनों की "भावनाओं" की ओर ध्यान देने से इनकार किया, और साफ़-साफ़ ऐलान किया कि "यदि 'यूज्नी राबोची' के साथियों ने पहले, दो-एक साल पहले, सिद्धान्तों के प्रति

कुछ अधिक निष्ठा दिखाई होती तो पार्टी में एकता जल्दी स्थापित हो गयी होती और कार्यक्रम के उन सिद्धान्तों की बहुत पहले विजय हो गयी होती जिनको हमने यहां स्वीकार किया है!" ओर्लोव, गूसेव, ल्यादोव, मुराव्योव, रूसोव, पावलोविच, ग्लेबोव, और गोरिन ने भी इसी आशय के भाषण दिये। कांग्रेस में साफ़-साफ़ और बार-बार इस बात की ओर इशारा किया गया था कि 'यूज्नी राबोची' की "नीति" में और माखोव, आदि, की "नीति" में सिद्धान्तों का अभाव है; "अल्पमत" के 'ईस्क्रा'-वादियों ने, जिनकी तरफ़ से डेयट्श बोले थे, इसका कोई प्रतिवाद नहीं किया और न ही इस बात से कोई मतभेद प्रकट किया, उल्टे, उन्होंने बड़े ज़ोरदार शब्दों में इन विचारों का समर्थन किया, "अराजकता" की निन्दा की, और इस बात का स्वागत किया कि कामरेड रूसोव ने "सवाल को बिना लाग-लपेट के पेश कर दिया है" (पृष्ठ ३१५) – उन्हीं कामरेड रूसोव ने जिन्होंने **इसी बैठक में** पुराने सम्पादक-मण्डल के सवाल को भी विशुद्ध पार्टी-आधार पर "विना किसी लाग-लपेट के पेश करने" की जुर्रत की थी – अंधेर है! (पृष्ठ ३२५)।

'यूज्नी राबोची' दल को भंग कर देने के प्रस्ताव से उस दल को बहुत क्रोध आया, जिसके चिन्ह कार्यवाही में भी देखने को मिलते हैं (यह न भूलना चाहिए कि कार्यवाही में बहसों की धुंधली झलक भर ही मिलती है, क्योंकि उसमें पूरे भाषण नहीं, बल्कि उनका बहुत संक्षिप्त सारांश और कुछ अंश मात्र ही दिये गये हैं)। किसी ने 'यूज्नी राबोची' दल के साथ साथ 'राबोचाया मीस्ल' दल का नाम भर ले दिया कि कामरेड येगोरोव ने यहां तक कह डाला कि यह "सरासर झूठ" है – इससे यह भी पता चलता है कि कांग्रेस में आम तौर पर सुसंगत "अर्थवाद" के प्रति क्या भावना थी। बहुत बाद में भी, यानी ३७ वीं बैठक में येगोरोव ने 'यूज्नी राबोची' दल के भंग किये जाने का बहुत झुंझलाहट के साथ ज़िक्र किया (पृष्ठ ३५६) और अनुरोध किया कि कार्यवाही में यह भी लिख लिया जाये कि 'यूज्नी राबोची' पर जब बहस चली तो उसके दौरान में इस दल के सदस्यों से प्रकाशन के ख़र्च या केन्द्रीय मुखपत्र तथा केन्द्रीय समिति द्वारा नियंत्रण के बारे में कोई सवाल नहीं पूछा गया। 'यूज्नी राबोची' के विषय में बहस के दौरान में कामरेड पोपोव ने कुछ इस तरह का संकेत किया कि कांग्रेस में एक गठा हुआ बहुमत है जो पहले से इस दल के भाग्य का निर्णय कर चुका

है। उन्होंने कहा (पृष्ठ ३१६) : "**अब कामरेड गूसेव और कामरेड ओर्लोव के भाषणों के बाद सब कुछ साफ़ हो गया है।**" इन शब्दों का क्या मतलब था, यह बिल्कुल साफ़ है : अब, जबकि 'ईस्क्रा'-वादियों ने अपना मत प्रकट कर दिया है और एक प्रस्ताव पेश कर दिया है, सब कुछ साफ़ हो गया है; यानी यह बात साफ़ हो गयी है कि 'यूज्नी राबोची' दल को उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ भंग कर दिया जायेगा। यहां पर ख़ुद 'यूज्नी राबोची' दल के प्रवक्ता ने 'ईस्क्रा'-वादियों (और उनमें भी गूसेव तथा ओर्लोव जैसे 'ईस्क्रा'-वादियों) और अपने अनुयायियों के बीच यह स्पष्ट अन्तर माना है कि वे संगठन के मामलों में दो भिन्न "नीतियों" का प्रतिनिधित्व करते थे। और जब आजकल का 'ईस्क्रा' 'यूज्नी राबोची' दल को (और वहुत सम्भव है माख़ोव को भी?) "सच्चे 'ईस्क्रा'-वादियों" के रूप में पेश करता है, तो उससे केवल यही बात सिद्ध होती है कि नया सम्पादक-मण्डल कांग्रेस की (इस दल के दृष्टिकोण से) सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं को भूल गया है और उन सारे चिन्हों को ढक देने के लिए बेचैन है जिनसे उन तत्वों का पता चलता है, जिनसे मिलकर तथाकथित "अल्पमत" बना है।

दुर्भाग्य से, एक लोकप्रिय पत्रिका निकालने का सवाल कांग्रेस में नहीं उठाया गया। कांग्रेस के पहले और कांग्रेस के दौरान में बैठकों के बाहर, सभी 'ईस्क्रा'-वादियों ने इस सवाल पर बड़ी उत्सुकता से बहस चलायी थी, और वे इस नतीजे पर पहुंचे थे कि पार्टी के जीवन के वर्तमान क्षण में इस तरह का कोई पत्र निकालने का बीड़ा उठाना या किसी मौजूदा पत्र को ऐसे पत्र में बदल देना बहुत ही विवेकहीन बात होगी। 'ईस्क्रा'-विरोधियों ने कांग्रेस में इसके विपरीत मत प्रकट किया; 'यूज्नी राबोची' दल ने भी अपनी रिपोर्ट में यही किया। और यदि दस हस्ताक्षरों के साथ ऐसा कोई प्रस्ताव कांग्रेस के सामने नहीं आया, तो या तो संयोगवश ऐसा नहीं किया गया या इन साथियों को ऐसा सवाल उठाने की इच्छा नहीं हुई जिसपर "उनके मत के अनुसार फ़ैसला होने की कोई आशा नहीं थी"।

च) भाषाओं की समानता वाली घटना

अब हम फिर कांग्रेस की बैठकों पर क्रमानुसार विचार करेंगे।

यह बात हमारी समझ में भली भांति आ चुकी है कि कांग्रेस के कार्यक्रम में जो सवाल थे उनपर बहस शुरू होने के पहले ही यह बात साफ़ ज़ाहिर हो

गयी थी कि कांग्रेस में न केवल एक सुनिश्चित 'ईस्क्रा'-विरोधी दल है (जिसके आठ वोट हैं), बल्कि बीच के ढुलमुल तत्वों का भी एक दल है जो आठ 'ईस्क्रा'-विरोधियों का समर्थन करने के लिए तैयार रहता है और जिसकी मदद से उनके वोट बढ़कर लगभग सोलह या अठारह हो जाते हैं।

बुंद का पार्टी में क्या स्थान हो—इस सवाल पर कांग्रेस में हद से ज़्यादा, अनावश्यक विस्तार के साथ बहस हुई और यह सवाल एक सिद्धान्त स्थापित करने का सवाल बन गया; समस्या का व्यावहारिक हल निकालने का प्रश्न संगठन के सवाल पर बहस होने तक के लिए स्थगित कर दिया गया। कांग्रेस के पहले जो साहित्य प्रकाशित हुआ था उसमें इस प्रश्न से सम्बंधित विषयों की काफ़ी चर्चा हो चुकी थी, इसलिए कांग्रेस में जो बहस हुई उसमें नयी बातें अपेक्षाकृत बहुत कम सुनने को मिलीं। लेकिन यह बात उल्लेखनीय है कि 'राबोचेये देलो' के समर्थकों ने (मार्तिनोव, अकीमोव, और ब्रूकर ने) मार्तोव के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए, यह बात साफ़ कर दी कि वे उस प्रस्ताव को नाकाफ़ी समझते हैं और उससे जो नतीजे निकाले गये हैं उनसे उनको मतभेद है। (पृष्ठ ६६, ७३, ८३, और ८६)।

बुंद के स्थान पर बहस करने के बाद कांग्रेस ने कार्यक्रम पर विचार करना आरम्भ किया। यह बहस मुख्यतया ऐसे कुछ ख़ास संशोधनों को लेकर हुई जिनका कुछ विशेष महत्व नहीं था। सिद्धान्त के मामलों में 'ईस्क्रा'-विरोधियों का जो विरोध था वह केवल कामरेड मार्तिनोव के भाषण में प्रकट हुआ जब उन्होंने उस कुख्यात अंश पर हमला किया जिसमें स्वयंस्फूर्ति और चेतना का प्रश्न पेश किया गया था। ज़ाहिर है, बुंद-वादियों और 'राबोचेये देलो'-वादियों में से एक-एक आदमी ने मार्तिनोव का समर्थन किया। मार्तिनोव ने जो आपत्तियां की थीं, वे कितनी बेतुकी थीं, यह, दूसरे लोगों के अलावा, मार्तोव और प्लेख़ानोव ने बताया। यहां हम इस विचित्र बात का भी ज़िक्र कर दें कि 'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल ने (शायद नये सिरे से सोचने के फलस्वरूप) अब मार्तिनोव का मत स्वीकार कर लिया है और कांग्रेस में उन्होंने जो कुछ कहा था, अब वे ठीक उसकी उल्टी बातें कह रहे हैं![174] शायद इस तरह वे "सिलसिला क़ायम रखने" के प्रसिद्ध सिद्धान्त का ही अनुसरण कर रहे हैं... अब हम केवल उस वक़्त तक इन्तज़ार ही कर सकते हैं जब तक कि सम्पादक-मण्डल इस सवाल के बारे में अपने

दिमाग़ की पूरी सफ़ाई न कर ले और हमें ठीक-ठीक यह न बता दे कि वह किस हद तक मार्तिनोव से सहमत है, किन बातों पर सहमत है और कब से सहमत है। इस बीच हम सिर्फ़ यह सवाल करना चाहते हैं कि क्या किसी ने **पार्टी** का कभी कोई ऐसा मुखपत्र देखा है जिसका सम्पादक-मण्डल कांग्रेस में वह जो कुछ कह चुका हो, कांग्रेस के बाद ठीक उसका उल्टा कहने लगे ?

'ईस्क्रा' को केन्द्रीय मुखपत्र के रूप में स्वीकार करने के प्रश्न पर जो बहस हुई उसको छोड़कर (उसकी हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं), और नियमावली की बहस की शुरूआत पर भी फ़िलहाल विचार न करके (उसपर नियमावली की पूरी बहस के प्रसंग में विचार करना अधिक सुविधाजनक होगा), हम उन सैद्धान्तिक मतभेदों पर विचार करना आरम्भ करते हैं जो कि कार्यक्रम की बहस के दौरान में प्रकट हुए। पहले हम एक ब्यौरे की बात का उल्लेख करेंगे जो अत्यंत लाक्षणिक बात है, यानी सानुपातिक प्रतिनिधित्व पर बहस। 'यूज्नी राबोची' के कामरेड येगोरोव का कहना था कि कार्यक्रम में यह बात शामिल कर ली जाये, और यह बात उन्होंने इस ढंग से कही कि पोसादोव्स्की को (जो कि अल्पमत के एक 'ईस्क्रा'-वादी थे) उठकर कहना पड़ा कि यह तो "एक गम्भीर मतभेद की बात है"; और उनकी यह बात ठीक ही थी। पोसादोव्स्की ने कहा: "इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि हमारे बीच इस बुनियादी सवाल पर मतभेद है कि **क्या हमें अपनी भावी नीति को कुछ ख़ास मूलभूत जनवादी सिद्धान्तों के अधीन बना देना चाहिए और इन सिद्धान्तों में कोई निरपेक्ष गुण देखना चाहिए,** या सभी जनवादी सिद्धान्तों को मात्र अपनी पार्टी के हितों के अधीन समझना चाहिए? मैं निश्चित रूप से दूसरे मत के पक्ष में हूं।" प्लेख़ानोव ने पोसादोव्स्की के विचारों के साथ "पूरी तरह अपनी सहमति प्रकट की" और उनसे भी अधिक निश्चित और ज़ोरदार शब्दों में "जनवादी सिद्धान्तों में निरपेक्ष गुण" देखने और जनवादी सिद्धान्तों के विषय में "हवाई ढंग से" सोचने पर एतराज़ किया। उन्होंने कहा: "प्रमेयात्मक रूप से ऐसी सूरत की भी कल्पना की जा सकती है जब हम, सामाजिक-जनवादी, सार्विक मताधिकार का विरोध करें। एक समय था जब इटली के गणतंत्रों के पूंजीपति वर्ग ने अभिजात वर्ग के सदस्यों को राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर दिया था। सम्भव है कि क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग उच्च वर्गों के राजनीतिक अधिकारों को उसी

प्रकार सीमित कर दे जिस प्रकार एक समय में उच्च वर्गों ने उसके राजनीतिक अधिकारों को सीमित किया था।" प्लेख़ानोव के भाषण का स्वागत हुआ तालियों से और **सिसकारियों से**। जब किसी ने हाल के बीच से चिल्लाकर कहा "सिसकारी मत भरो!" और प्लेख़ानोव ने टोकनेवाले को मना किया और कहा कि साथियों को अपना मत प्रकट करने में हिचकिचाना नहीं चाहिए तो कामरेड येगोरोव ने उठकर कहा कि "ऐसे भाषणों पर चूंकि तालियां बजायी जाती हैं, इसलिए मुझे भी सिसकारी भरनी पड़ती है।" कामरेड गोल्डब्लाट के अलावा (बुंद के एक प्रतिनिधि) कामरेड येगोरोव ने भी पोसादोव्स्की और प्लेख़ानोव के विचारों के विरोध में भाषण दिया। दुर्भाग्य से, तभी बहस बन्द कर दी गयी और उससे जो सवाल सामने आ रहा था, वह भी तुरन्त ओझल हो गया। लेकिन अब कामरेड मार्तोव इस सवाल का महत्व कम करने या एकदम ख़तम कर देने की जो कोशिश कर रहे हैं, वह बिल्कुल बेकार है। उन्होंने लीग की कांग्रेस में कहा है: (प्लेख़ानोव के) "इन शब्दों से कुछ प्रतिनिधियों को बड़ा क्रोध आया; इस परिस्थिति को आसानी से बचाया जा सकता था यदि कामरेड प्लेख़ानोव यह बात और जोड़ देते कि ऐसी शोचनीय परिस्थिति की तो, ज़ाहिर है, कल्पना करना भी असम्भव है कि अपनी जीत को मज़बूत करने के लिए सर्वहारा वर्ग को ऐसे राजनीतिक अधिकारों को कुचलना पड़े, जैसे अख़बारों की स्वतंत्रता... (प्लेख़ानोव: "मुझे बख़्शिये।") (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ५८) यह स्पष्टीकरण कामरेड पोसादोव्स्की के उस निश्चित वक्तव्य के **एकदम** ख़िलाफ़ पड़ता है जिसमें उन्होंने **कांग्रेस में** बोलते हुए "गम्भीर मतभेद" और "एक बुनियादी सवाल" पर मतों की भिन्नता का ज़िक्र किया था। इस बुनियादी सवाल पर, कांग्रेस में उपस्थित सभी 'ईस्क्रा'-वादियों ने 'ईस्क्रा'-विरोधी "दक्षिण पक्ष" (गोल्डब्लाट) और "मध्य पक्ष" (येगोरोव) के प्रवक्ताओं का **विरोध** किया। यह एक वास्तविकता है, और साहस के साथ यह भी कहा जा सकता है कि यदि इस सवाल पर या इससे मिलते-जुलते किसी और सवाल पर "मध्य पक्ष" (मैं आशा करता हूं कि मीठा बोलने के "गद्दीधारी" समर्थकों को यह शब्द इतना बुरा नहीं लगेगा जितना कोई और शब्द लगता...) को **"बिना रोक-टोक के"** बोलने का मौक़ा मिला होता (यानी यदि कामरेड येगोरोव या माखोव बोले होते) तो फ़ौरन एक गम्भीर मतभेद सामने आ गया होता।

"भाषाओं की समानता" पर जो बहस हुई उसमें मतभेद और भी स्पष्ट

रूप से मामने आया (कार्यवाही, पृष्ठ १७१ और उसके आगे के पृष्ठ)। इस सवाल पर बहस उतनी ज़ोरदार नहीं हुई जितने ज़ोरदार ढंग से वोट पड़े। यदि इसकी गिनती की जाये कि इस सवाल पर कितनी बार वोट पड़े तो **सोलह** जैसी अविश्वसनीय संख्या सामने आती है। किस सवाल पर सोलह बार वोट पड़े? इस सवाल पर कि क्या कार्यक्रम में लिंग इत्यादि **और भाषा** के आधार पर किसी भेदभाव के बिना सभी नागरिकों की समानता की बात कहना काफ़ी है, या "भाषा की स्वतंत्रता" अथवा "भाषाओं की समानता" की बात भी स्पष्ट रूप से दर्ज कर देना ज़रूरी है। लीग की कांग्रेस में भाषण देते हुए कामरेड मार्तोव ने काफ़ी सही तौर पर इस घटना का असली मतलब खोल कर रखा; वहां उन्होंने कहा कि "कार्यक्रम के एक सूत्र को किस प्रकार लिखा जाये, इस छोटे से सवाल को लेकर जो विवाद शुरू हुआ, वह एक सिद्धान्त का सवाल बन गया, क्योंकि आधी कांग्रेस कार्यक्रम आयोग को उलट देने के लिए तैयार बैठी थी।" बिल्कुल यही बात है*। झगड़े का तात्कालिक कारण सचमुच बहुत

---

*कामरेड मार्तोव ने आगे कहा: "इस मौक़े पर प्लेखानोव की गधों वाली जुमलेबाज़ी से बहुत नुक़सान हुआ।" (जब भाषाओं की स्वतंत्रता के सवाल पर बहस हो रही थी, तभी मेरे ख़याल से, एक बुंद-वादी ने दूसरी संस्थाओं के साथ-साथ नस्ली घोड़ों के फ़ार्मों का भी ज़िक्र किया। इसपर प्लेखानोव ने दबी ज़बान में लेकिन काफ़ी ज़ोर से कहा कि "घोड़े तो नहीं बोलते, मगर गधे कभी-कभी बोलते हैं।") ज़ाहिर है, मुझे इस जुमलेबाज़ी में कोई विशेष नम्रता, रवादारी, व्यवहार-पटुता, या लचकीलापन नहीं दिखाई देता। लेकिन मुझे यह बात अजीब लगती है कि मार्तोव ने, जो कि यह मानते थे कि विवाद एक **सिद्धान्त के सवाल** को लेकर था, यह पता लगाने की क़तई कोई कोशिश नहीं की कि आख़िर यह कौनसा सिद्धान्त था और उसपर कांग्रेस में कौन कौनसे दृष्टिकोण व्यक्त हुए थे। इसके विपरीत वह केवल जुमलेबाज़ी के "नुक़सानदेह नतीजों" का ही ज़िक्र करके ख़ामोश हो गये। यह सचमुच एक नौकरशाही और औपचारिक रुख़ है! यह सच है कि तीखी जुमलेबाज़ी की वजह से "कांग्रेस में अक्सर बहुत नुक़सान हुआ"। ऐसी जुमलेबाज़ी न सिर्फ़ बुंद-वादियों के बारे में, बल्कि उन लोगों के बारे में भी की जाती थी जिनका बुंद-वादी कभी-कभी समर्थन कर देते थे और यहां तक कि उनको हार से बचा लेते थे। लेकिन, जब एक बार आप यह मान लेते हैं कि यह घटना एक सिद्धान्त के सवाल से सम्बंध रखती थी, तब आप कुछ मज़ाक़ की बातों के "अनौचित्य" (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ५८) की चर्चा करके मूल सवाल से नहीं कतरा सकते।

छोटा था; फिर भी यह एक **सिद्धान्त का** सवाल बन गया और इसका नतीजा यह हुआ कि विवाद ने बहुत ही कटु रूप धारण कर लिया, और बात यहां तक बढ़ी कि कार्यक्रम आयोग को **"उलटने"** की कोशिशें हुईं, यह सन्देह प्रकट किया गया कि कुछ लोग **"कांग्रेस को गुमराह करना"** चाहते हैं (येगोरोव को मार्तोव पर इसका शक था!) और बहुत ही गाली-गलौज के ढंग के वैयक्तिक आक्षेप लोगों पर किये गये (पृष्ठ १७८)। यहां तक कि कामरेड पोपोव ने इस बात पर "खेद प्रकट किया कि छोटी-छोटी बातों से **ऐसा वातावरण** पैदा हो गया" (शब्दों पर ज़ोर मेरा है; देखिये पृष्ठ १८२) जैसा कि (१६, १७ और १८ तारीख़ों की) तीन बैठकों में व्याप्त रहा।

इन तमाम बयानों से बहुत ही निश्चित एवं स्पष्ट रूप में यह अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने आता है कि "सन्देह" और अत्यन्त कटु संघर्ष ("उलट देने") का वातावरण – जिसकी ज़िम्मेदारी बाद में लीग की कांग्रेस में 'ईस्क्रा'-वादी बहुमत के मत्थे मढ़ दी गयी – असल में **हमारे बहुमत और अल्पमत में विभाजित हो जाने के बहुत पहले ही** पैदा हो गया था। मैं फिर कहता हूं, यह बहुत ही भारी महत्व का तथ्य है, एक मूलभूत तथ्य है, और इसको न समझने के कारण बहुत से लोग गम्भीरता से पूर्णतया विहीन यह मत बना लेते हैं कि कांग्रेस के अन्त में जो बहुमत सामने आया वह बनावटी था। कामरेड मार्तोव अब कहते हैं कि कांग्रेस में नब्बे प्रतिशत प्रतिनिधि 'ईस्क्रा'-वादी थे; उनके इस मौजूदा दृष्टिकोण को मान लेने पर इस बात का कोई कारण ढूंढ़े नहीं मिलता और यह बिल्कुल बेतुकी बात मालूम पड़ती है कि ऐसी कांग्रेस में बहुत "छोटी-छोटी बातों" पर और किसी अत्यन्त महत्वहीन कारण से ऐसा झगड़ा शुरू हो जाये जो "सिद्धान्त का मामला" बन जाये और जिसके फलस्वरूप कांग्रेस द्वारा बनाया हुआ आयोग उलटते-उलटते बचे। "नुक़सानदेह जुमलेबाज़ी" का रोना रोकर या उस पर अफ़सोस ज़ाहिर करके इस **तथ्य** से कतराना हास्यास्पद बात होगी। सख़्त जुमलेबाज़ियों के कारण यह झगड़ा **सिद्धान्त का मामला** नहीं बन सकता था; यह रूप तो वह केवल कांग्रेस में भाग लेनेवाले राजनीतिक दलों और धाराओं के स्वरूप के कारण ही धारण कर सकता था। यह झगड़ा सख़्त फ़िकरों या जुमलेबाज़ियों से नहीं पैदा हुआ था – ये चीज़ें तो केवल इस वास्तविकता की **द्योतक** थीं कि कांग्रेस में जिस तरह की राजनीतिक दलबंदी थी उसमें ही कोई

"विरोध" निहित था, उसमें झगड़े की सारी बातें पहले से ही मौजूद थीं, और इस दलबंदी में एक ऐसी आंतरिक विषमरूपता निहित थी जो ज़रा-सा कारण मिलते ही, **छोटे से छोटा** कारण मिलते ही, यकायक प्रचण्ड वेग से फूट पड़ी।

दूसरी ओर, मैं जिस दृष्टिकोण से कांग्रेस को देखता हूं, और घटनाओं की एक निश्चित राजनीतिक व्याख्या के रूप में जिसपर ज़ोर देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं – भले ही यह व्याख्या कुछ लोगों को बहुत बुरी लगे – उस दृष्टिकोण से **सिद्धान्त के** सवाल पर होनेवाला यह अत्यन्त उग्र विवाद, जो एक "छोटे-से" कारण से पैदा हुआ था, बिल्कुल बोधगम्य और अनिवार्य मालूम होता है। कांग्रेस में चूंकि 'ईस्क्रा'-वादियों और 'ईस्क्रा'-विरोधियों का यह संघर्ष **चौबीसों घण्टे** चलता रहता था, उनके बीच में चूंकि कुछ ढुलमुल तत्व थे, और क्योंकि ये ढुलमुल तत्व 'ईस्क्रा'-विरोधियों के साथ मिलकर एक-तिहाई वोटों पर अधिकार रखते थे (मेरे हिसाब के अनुसार, जो ज़ाहिर है, मोटा-मोटा हिसाब ही है, ५१ में से १०+८ = १८ वोट), इसलिए यह बात बिल्कुल स्पष्ट और स्वाभाविक है कि **'ईस्क्रा'-वादियों का यदि एक छोटा सा भाग भी उनसे अलग हो जाता**, तो 'ईस्क्रा'-विरोधी धारा की जीत की सम्भावना पैदा हो जाती, और इसलिए "बहुत तीव्र" संघर्ष होना स्वाभाविक था। ऐसे संघर्ष किसी अनुचित कटु बात या आलोचना का फल नहीं होते थे, बल्कि वे एक ख़ास तरह की राजनीतिक दलबंदी का परिणाम थे। कटु बातों से राजनीतिक संघर्ष नहीं पैदा हुआ था; कांग्रेस में जो दलबंदी थी, उसमें ही जो राजनीतिक झगड़ा मौजूद था, उससे कटु बातें और तीखी आलोचनाएं पैदा होती थीं – और असल में, कांग्रेस के राजनीतिक महत्व तथा उसके नतीजों का मूल्यांकन करने में मार्तोव के साथ हमारा जो सैद्धान्तिक मतभेद है, उसका सार-तत्व इन्हीं दो दृष्टिकोणों के रूप में व्यक्त होता है।

पूरी कांग्रेस में कुल तीन बार ऐसा मौक़ा आया जब कि 'ईस्क्रा'-वादियों की एक छोटी सी संख्या अपने अधिकांश साथियों से अलग हो गयी – भाषाओं की समानता के सवाल पर, नियमावली की पहली धारा को लेकर, और चुनाव के अवसर पर – और तीनों बार भयानक संघर्ष हुआ जिसका अन्तिम परिणाम उस गहरे संकट के रूप में सामने आया जिसमें आज पार्टी फंस गयी है। यदि हम इस संकट को और इस संघर्ष को राजनीतिक दृष्टि से समझना चाहते हैं तो हमें

अपने को केवल जुमलेबाज़ियों के अनौचित्य तक सीमित नहीं रखना चाहिए, बल्कि उन धाराओं की राजनीतिक दलबंदियों पर विचार करना चाहिए, जिनके बीच में कांग्रेम में टक्कर हुई थी। इसलिए, जहां तक मतभेदों का कारण पता लगाने का सम्बन्ध है, "भाषाओं की समानता" वाली घटना हमारे लिए दोहरी दिलचस्पी रखती है, क्योंकि इस सवाल के समय मार्तोव 'ईस्क्रा'-वादी थे (उस समय तक थे!) और 'ईस्क्रा'-विरोधियों तथा "मध्य" पक्ष का उन्होंने जितना डटकर मुक़ाबला किया था, उतना शायद और किसी ने भी नहीं किया था।

युद्ध आरम्भ हुआ कामरेड मार्तोव और बुंद-वादियों के नेता कामरेड लाइबर के एक विवाद से (पृष्ठ १७१-१७२)। मार्तोव ने दलील पेश की कि "नागरिकों की समानता" काफ़ी है। "भाषाओं की स्वतंत्रता" की बात अस्वीकार कर दी गयी पर तुरन्त ही "भाषाओं की समानता" का प्रस्ताव पेश हो गया, और लाइबर की तरफ़ से कामरेड येगोरोव भी झगड़े में शरीक हो गये। मार्तोव ने कहा कि "जब बोलनेवाले यह आग्रह करते हैं कि सब जातियां समान हैं और वे असमानता को भाषाओं के क्षेत्र में देखते हैं" तो यह सरासर **शब्द-पूजा** है, "क्योंकि, इस सवाल पर बिल्कुल उल्टे दृष्टिकोण से विचार किया जाना चाहिए: जातियों के बीच असमानता है और उसका एक प्रमाण यह भी है कि कुछ जातियों के लोगों को अपनी मातृभाषा का प्रयोग करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है" (पृष्ठ १७२)। उस समय मार्तोव की यह बात सोलहों आने सच थी। लाइबर और येगोरोव की इस बात पर अड़े रहने की सरासर बेबुनियाद कोशिश कि उनकी स्थापना ही सही है, और उनकी यह साबित करने की बेबुनियाद कोशिश कि हम लोग जातियों की समानता के सिद्धान्त का या तो पालन करना नहीं चाहते या कर नहीं सकते, सचमुच एक तरह की शब्द-पूजा थी। वास्तव में, ये लोग "शब्द पूजकों" के नाते सिद्धान्त की नहीं, बल्कि शब्दों की पूजा करते थे, और कोई भी काम करते समय उनको कोई सिद्धान्त की ग़लती करने का डर नहीं होता था, बल्कि यह डर होता था कि लोग क्या कहेंगे। इस मामले में हमारे पूरे "मध्य पक्ष" ने बिल्कुल स्पष्ट रूप से उसी ढुलमुल मनोवृत्ति का परिचय दिया (अगर "दूसरों" ने इसके लिए हमें दोष दिया तो क्या होगा?), जो हमने संगठन समिति वाली घटना के सिलसिले में देखी थी। इस पक्ष के एक दूसरे प्रवक्ता ल्वोव ने, जो खान-क्षेत्र के प्रतिनिधि थे और

जिनके विचार 'यूज्नी राबोची' से मिलते-जुलते थे, कहा कि "उनके विचार में सीमान्त के ज़िलों ने भाषाओं के दमन का जो सवाल उठाया है, वह बहुत ही गम्भीर सवाल है। हमारे कार्यक्रम में भाषा के बारे में कुछ कहा जाना बहुत महत्वपूर्ण है ताकि किसी को यह सन्देह न रहे कि सामाजिक-जनवादियों में भी रूसी-करण की कोई प्रवृत्ति है।" यह सचमुच सवाल की "गम्भीरता" का अनोखा स्पष्टीकरण है। यह सवाल बहुत गम्भीर है, **क्योंकि** सीमान्त के ज़िलों को किसी तरह का सन्देह करने का अवसर नहीं रहना चाहिए! यह वक्ता सवाल के सार-तत्व के विषय में कुछ भी नहीं कहता, वह शब्द-पूजा के आरोप का कोई उत्तर नहीं देता, बल्कि तर्क के पूर्ण अभाव का परिचय देकर और इस बात की आड़ लेकर कि सीमान्त के जिले क्या कहेंगे, वह खुद यह बात पूरी तरह सिद्ध कर देता है कि आरोप बिल्कुल सही है। उसको जवाब दिया जाता है कि सीमान्त के ज़िले जो कुछ भी **कहेंगे**, वह **झूठ** होगा। मगर इसपर विचार करने के बजाय कि यह बात झूठ है या सच, वह उत्तर देता है: "**मगर उनको सन्देह हो सकता है।**"

सवाल को **इस तरह** पेश करना और उसके साथ-साथ यह दावा करना कि यह गम्भीर और महत्वपूर्ण सवाल है, यह इसको निस्सन्देह सिद्धान्त का प्रश्न बना देता है—मगर ज़ाहिर है कि उस सिद्धान्त का प्रश्न नहीं जो लाइबर, येगोरोव, और ल्वोव जैसे लोग उसमें देखना पसन्द करते। यहां सिद्धान्त का सवाल यह है कि कार्यक्रम की साधारण एवं आधारभूत स्थापनाओं को अपनी-अपनी विशिष्ट परिस्थितियों में लागू करने और इसके लिए उनको विकसित करने का काम पार्टी के स्थानीय संगठनों तथा सदस्यों के लिए छोड़ दिया जाये, या केवल इस डर से कि किसी के मन में कोई सन्देह रह जायेगा कार्यक्रम में छोटी-छोटी विस्तार की बातें और विशिष्ट टिप्पणियां भर दी जायें, एक-एक बात सौ बार दुहरायी जाये और शब्दाडंबर रचा जाये? यहां सिद्धान्त का सवाल यह है कि यदि कुछ साथी शब्दाडंबर रचने का विरोध करते हैं तो उसमें सामाजिक-जनवादियों को साधारण जनवादी अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं को सीमित करने का प्रयत्न कैसे दिखाई दे सकता है (या उनको इस तरह का कोई "सन्देह" कैसे हो सकता है?)? "भाषाओं" को लेकर जो यह झगड़ा चला, उसे देखकर हमारे मन में यह सवाल उठा कि आख़िर हम लोग जड़पूजावाद कब छोड़ेंगे और इस शब्द-पूजा से कब मुक्ति पायेंगे!

इस झगड़े के दौरान में कई बार नाम पुकारकर वोट लिये गये, जिससे यह बात ख़ास तौर पर साफ़ हो जाती है कि इस संघर्ष में प्रतिनिधियों की दलबंदी किस प्रकार थी। इस सवाल पर तीन बार वोट लिये गये। 'ईस्क्रा'-विरोधियों ने (जिनके आठ वोट थे) और उनके अलावा बहुत थोड़े-से हेर-फेर के साथ पूरे मध्य पक्ष ने (माखोव, ल्वोव, येगोरोव, पोपोव, मेद्वेदेव, इवानोव, ज़ार्योव, और बेलोव – इनमें से केवल अन्तिम दो ने शुरू में कुछ ढुलमुलपन दिखाया, वे कभी तटस्थ रह गये, और कभी उन्होंने हमारे साथ वोट दिया; जब तीसरी बार वोट लिये गये, तब कहीं जाकर उनकी स्थिति पूरी तरह स्पष्ट हुई) निरंतर डटकर 'ईस्क्रा' के मूल गुट का विरोध किया। 'ईस्क्रा'-वादियों में से कई लोग अलग हो गये – मुख्यतया काकेशस के प्रतिनिधि (जो संख्या में तीन थे मगर जिनके वोट छः थे) – और इसके फलस्वरूप, अन्त में जाकर "शब्द-पूजा" की धारा का पलड़ा भारी हो गया। जब तीसरी बार वोट लिये गये और दोनों धाराओं के अनुयायियों ने अपनी-अपनी स्थिति पूर्णतया स्पष्ट कर दी तो काकेशस के तीन प्रतिनिधि अपने छः वोटों के साथ 'ईस्क्रा'-वादी बहुमत से अलग हो गये और दूसरे पक्ष के साथ जा मिले; दो प्रतिनिधि – पोसादोव्स्की और कोस्तिच – जिनके दो वोट थे, 'ईस्क्रा'-वादी अल्पमत से अलग हो गये। पहली और दूसरी बार वोट लिये जाने के समय, 'ईस्क्रा'-वादी बहुमत के लेंस्की, स्तेपानोव और गोर्स्की ने और अल्पमत के डेयट्श ने अपने-अपने पक्ष का साथ छोड़कर दूसरे पक्ष का साथ दिया या किसी तरफ़ वोट नहीं दिया। **'ईस्क्रा' के (कुल तैंतीस वोटों में से) आठ वोटों के अलग हो जाने का नतीजा यह हुआ कि 'ईस्क्रा'-विरोधियों और ढुलमुल तत्वों के संयुक्त मोर्चे का पलड़ा भारी हो गया।** नियमावली की पहली धारा पर वोट लिये जाने के समय और चुनाव के समय, कांग्रेस में पायी जानेवाली दलबन्दी का यह **बुनियादी तथ्य** फिर सामने आया (फ़र्क़ केवल यह हुआ कि इन सवालों पर कुछ **दूसरे** 'ईस्क्रा'-वादियों ने अपने पक्ष का साथ छोड़ दिया)। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि चुनाव में जिन लोगों की हार हुई अब उन लोगों ने इस हार के **राजनीतिक कारणों** की ओर से और इस बात की ओर से अपनी आंखें बिल्कुल मूंद ली हैं कि धाराओं और उपधाराओं का वह संघर्ष **शुरू किन बातों को लेकर हुआ था** जिसने अस्थिर तथा राजनीतिक दृष्टि से ढुलमुल लोगों को धीरे-धीरे बेनक़ाब कर दिया

और पार्टी की नज़रों में अधिकाधिक निर्ममतापूर्वक उनका पर्दाफ़ाश कर दिया। भाषाओं की समानता वाली घटना ने इस संघर्ष को हमारे सामने इसलिए और भी स्पष्ट कर दिया कि उस समय तक कामरेड मार्तोव अकीमोव और माख़ोव की प्रशंसा और सराहना के पात्र नहीं बन पाये थे।

छ) कृषि सम्बन्धी कार्यक्रम

सिद्धान्त के मामले में 'ईस्क्रा'-विरोधियों तथा "मध्य पक्ष" वालों का ढुलमुलपन कृषि सम्बन्धी कार्यक्रम की उस बहस से भी स्पष्ट हो गया जिसमें कांग्रेस का काफ़ी समय लगा (देखिये कार्यवाही, पृष्ठ १९०-२२६) और उसके दौरान में कई बहुत ही दिलचस्प सवाल सामने आये। जैसी कि आशा की जाती थी (कामरेड लाइबर और कामरेड येगोरोव की कुछ फुटकर टिप्पणियों के बाद), इस कार्यक्रम के ख़िलाफ़ हमला कामरेड मार्तिनोव ने शुरू किया। उन्होंने "इस विशेष ऐतिहासिक अन्याय" को दूर करने की आवश्यकता के बारे में वही पुरानी दलील दुहरायी, क्योंकि, उनका कहना था कि उसके द्वारा हम लोग अप्रत्यक्ष रूप से "कुछ दूसरे ऐतिहासिक अन्यायों को भी प्रतिष्ठित कर रहे हैं," इत्यादि। कामरेड येगोरोव ने भी उनका समर्थन किया, जिनके दिमाग़ में तो "यह भी स्पष्ट नहीं था कि इस कार्यक्रम का क्या महत्व है"। उन्होंने पूछा कि "क्या यह कार्यक्रम स्वयं हमारे लिए है, यानी, क्या यह हमारी मांगों को पेश करता है, या हम इसका प्रचार करना चाहते हैं?" (!?!?) कामरेड लाइबर ने कहा कि वह भी "वे ही बातें कहना चाहते हैं जो कामरेड येगोरोव ने कही हैं"। कामरेड माख़ोव सदा की तरह हर बात पर बड़ा ज़ोर देकर बोले। उन्होंने कहा कि "अधिकतर (?) वक्ता यह क़तई नहीं समझ पाये हैं कि प्रस्तावित कार्यक्रम का क्या मतलब है और उसके उद्देश्य क्या हैं"। उन्होंने फ़रमाया कि जो कार्यक्रम पेश किया गया है, "उसे सामाजिक-जनवादी कृषि सम्बंधी कार्यक्रम नहीं समझा जा सकता," उससे तो ... "कुछ ऐसी बू आती है जैसे इतिहास के अन्यायों का प्रतिकार करने का खेल खेला जा रहा हो", उसपर "कुछ-कुछ लफ़्फ़ाज़ी और दुस्साहस का रंग चढ़ा हुआ है"। इस गूढ़ सूत्र का सैद्धान्तिक औचित्य सिद्ध करने के लिए जिस तरह वास्तविकता का मख़ौल बनाया जाता है और एक बहुत

पेचीदा तथ्य को जिस तरह हद से ज्यादा सरल बना कर पेश किया जाता है, वह विकृत मार्क्सवाद में बड़ी प्रचलित बात है: हमसे कहा जाता है कि 'ईस्का'-वादी "किसानों को इस तरह पेश करते हैं जैसे उनका कोई एकरूप वर्ग हो, मगर चूंकि किसान बहुत समय पहले ही (?) अलग-अलग वर्गों में बंट गये थे, इसलिए जब भी उन सबके लिए एक ही कार्यक्रम पेश किया जायेगा तो लाज़िमी तौर पर वह पूरा कार्यक्रम लफ़्फ़ाज़ी से भरा हुआ होगा और जब उसे अमल में लाया जायेगा तो पता नहीं उसके क्या नतीजे होंगे" (पृष्ठ २०२)। यहां कामरेड माखोव ने यह "रहस्य खोल दिया है" कि हमारे कृषि सम्बंधी कार्यक्रम का बहुत से ऐसे सामाजिक-जनवादी भी क्यों विरोध करते हैं जो 'ईस्का' को स्वीकार करने को तो तैयार हैं – (जैसा कि खुद माखोव स्वीकार करते थे), मगर जो उसकी विचारधारा को, उसके सैद्धान्तिक तथा कार्यनीति सम्बंधी मत को तनिक भी नहीं समझ पाये हैं। इस कार्यक्रम को यदि नहीं समझा गया और आज भी यदि नहीं समझा जा रहा है तो उसका कारण यह नहीं है कि किन्हीं ख़ास सवालों पर मतभेद हैं; उसका कारण यह है कि रूस की मौजूदा किसान अर्थ-व्यवस्था जैसी पेचीदा और बहुत से पहलू रखनेवाली वास्तविकता पर मार्क्सवाद को लागू करते समय उसे विकृत बना दिया जाता है। और इस विकृत मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आधार पर 'ईस्का'-विरोधी तत्वों के नेता (लाइबर और मार्तिनोव) और "मध्य पक्ष" के नेता (येगोरोव और माखोव) बहुत जल्दी एकमत हो गये। कामरेड येगोरोव ने 'यूज्नी राबोची' दल तथा उसकी ओर झुकाव रखनेवाले दलों और मण्डलों की एक ख़ास विशेषता को भी स्पष्ट रूप में व्यक्त किया, अर्थात् यह कि उन्होंने किसान आन्दोलन के महत्व को नहीं समझा है, और वह यह भी नहीं समझ पाये हैं कि जब प्रथम प्रसिद्ध किसान विद्रोह हुए थे, तब हम सामाजिक-जनवादियों की कमज़ोरी यह नहीं थी कि हमने किसान आन्दोलन के महत्व को बढ़ा-चढ़ाकर आंका था, बल्कि इसके विपरीत हमारी कमज़ोरी असल में यह थी कि हमने उसके महत्व को कम करके आंका था (और हमारे पास इतने साधन नहीं थे कि उस आन्दोलन से लाभ उठा सकते)। कामरेड येगोरोव ने कहा, "सम्पादक-मण्डल को किसान आन्दोलन से जैसा मोह है, वैसा मोह मुझे क़तई नहीं है; किसानों की हलचल के बाद से बहुत से सामाजिक-जनवादियों को यह मोह हो गया है।" किन्तु, दुर्भाग्य से, कामरेड येगोरोव ने कांग्रेस को

यह ठीक-ठीक बताने का कष्ट नहीं किया कि **सम्पादक-मण्डल** को जो यह मोह हो गया था वह किन बातों में व्यक्त होता है। उन्होंने 'ईस्क्रा' में प्रकाशित सामग्री का कोई ठोस हवाला देने की तकलीफ़ नहीं की। इसके अलावा, वह यह भूल गये कि हमारे कृषि संबंधी कार्यक्रम की **सभी** बुनियादी बातों को 'ईस्क्रा' अपने तीसरे अंक में ही*, यानी किसानों की हलचल के **बहुत पहले**, निर्धारित कर चुका था। जो 'ईस्क्रा' को केवल शब्दों में ही नहीं "स्वीकार करते", वे यदि उसके सैद्धान्तिक एवं कार्यनीति सम्बंधी सिद्धान्तों की ओर थोड़ा और ध्यान दिया करें तो उनका कोई अहित न होगा!

"नहीं, हम किसानों में ज़्यादा कुछ नहीं कर सकते!" कामरेड येगोरोव ने कहा और आगे उन्होंने बताया कि यह बात उन्होंने किसी विशेष "मोह" का प्रतिवाद करने के लिए नहीं, बल्कि हमारे पूरे मत का खण्डन करने के लिए कही थी। उन्होंने बताया कि "इसका मतलब यह है कि हमारा नारा किसी दुस्साहसवादी नारे के साथ प्रतियोगिता नहीं कर सकता"। यह स्थापना इन साथियों के सिद्धान्तहीन रवैये को बिल्कुल स्पष्ट कर देती है; इसके अनुसार हर बात अलग-अलग पार्टियों के नारों की "प्रतियोगिता" का सवाल बनकर रह जाती है! और यह बात वक्ता ने उस सैद्धान्तिक स्पष्टीकरण पर "संतोष" प्रकट करने के बाद कही थी जिसमें यह कहा गया था कि हम लोग अस्थायी असफलताओं से घबराये बिना अपने आन्दोलन के द्वारा स्थायी सफलता प्राप्त करना चाहते हैं और जब तक हमारे कार्यक्रम का मज़बूत सैद्धान्तिक आधार नहीं होगा, तब तक (क्षणिक "प्रतियोगियों" के तमाम शोरगुल के बावजूद) स्थायी सफलता मिलना असम्भव है (पृष्ठ १९६)। यह भी कैसा विचार-विभ्रम है! पहले "संतोष" प्रकट किया जाता है और फिर उसके तुरन्त बाद ही उस पुराने "अर्थवाद" से लिये गये भोंडे सूत्र दुहरा दिये जाते हैं, जिसके लिए हर सवाल–केवल कृषि-समस्या ही नहीं बल्कि पूरा कार्यक्रम और आर्थिक तथा राजनीतिक संघर्ष की पूरी कार्यनीति भी–केवल "नारों की प्रतियोगिता" से तै होता था! कामरेड येगोरोव ने कहा: "आप खेतिहर मज़दूर को इसके लिए नहीं मजबूर कर सकते कि वह धनी किसान के साथ कंधे से कंधा मिलाकर ज़मींदारों द्वारा

---

*देखिये लेनिन का 'मज़दूर पार्टी और किसान' शीर्षक लेख।–सं०

छीने हुए खेतों के (ओत्रेज़्की) लिए लड़े, क्योंकि ऐसे बहुत काफ़ी खेत तो इसी धनी किसान के हाथ में हैं।"

यहां भी समस्या को ठीक उसी तरह सरल बनाकर पेश किया गया है जिस तरह अवसरवादी "अर्थवाद" किया करता था, जिसका यह कहना था कि मज़दूर को उन चीज़ों के वास्ते लड़ने को "मजबूर करना" असंभव है, जो आज काफ़ी हद तक पूंजीपति वर्ग के हाथ में हैं और जो कल को और भी ज़्यादा हद तक उसके हाथ में चली जायेंगी। यहां फिर समस्याओं को विकृत रूप में देखने का वही तरीक़ा सामने आ जाता है जो यह भूल जाता है कि खेतिहर मज़दूर और धनी किसान के मोटे तौर पर पूंजीवादी सम्बंधों की रूस में अपनी कुछ विशेषताएं हैं। छिने हुए खेतों के द्वारा अब खेतिहर मज़दूरों का **भी** उत्पीड़न हो रहा है, सचमुच उत्पीड़न हो रहा है, और इसलिए खेतिहर मज़दूर को अपनी दासता की स्थिति से मुक्ति पाने के वास्ते लड़ने के लिए "मजबूर करने" की आवश्यकता नहीं है। "मजबूर करने" की आवश्यकता है कुछ बुद्धिजीवियों को–इसके लिए तैयार करने की कि वे अपने कामों को अधिक व्यापक दृष्टि से देखें, इसके लिए मजबूर करने की कि वे विशिष्ट प्रश्नों पर बहस करते समय पिटे-पिटाये सूत्रों से काम लेना बन्द करें, इस बात के लिए मजबूर करने की कि वे हमारे उद्देश्यों को जटिल बना देनेवाली तथा उनमें संशोधन कर देनेवाली विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति को भी ध्यान में रखें। कृषि संबंधी कार्यक्रम के ये विरोधी खेतिहर मज़दूरों के जीवन की ठोस परिस्थितियों को क्यों भूल जाते हैं, इसका केवल एक ही कारण नज़र आता है। वह यह कि इन साथियों के मन में यह पूर्वाग्रह जड़ जमाये हुए है कि किसान मूर्ख होता है। कामरेड मार्तोव ने ठीक ही कहा था (पृष्ठ २०२) कि कामरेड माख़ोव तथा कृषि संबंधी कार्यक्रम के अन्य विरोधियों के भाषणों में यह पूर्वाग्रह नज़र आता है।

पूरे सवाल को हद से ज़्यादा सरल बनाकर उसे केवल मज़दूर और पूंजीपति के फ़र्क़ के सवाल के रूप में पेश करने के बाद "मध्य पक्ष" के प्रवक्ताओं ने हमेशा की तरह ख़ुद अपनी संकुचित मनोवृत्ति को किसान पर थोप देने की कोशिश की। कामरेड माख़ोव ने कहा: "चूंकि मैं किसान को उसके संकुचित वर्ग-दृष्टिकोण की सीमाओं के भीतर काफ़ी होशियार आदमी समझता हूं, ठीक इसीलिए मेरा विश्वास है कि वह ज़मीन पर क़ब्ज़ा करने और उसका बंटवारा

करने के निम्न-पूंजीवादी आदर्श का समर्थन करेगा।" ज़ाहिर है यहां दो अलग-अलग चीज़ों को एक-दूसरे में मिला दिया गया है: एक तो किसान के वर्ग-दृष्टिकोण को निम्न-पूंजीवादी दृष्टिकोण बताया गया है; और दूसरे, उसके इस दृष्टिकोण को **सीमित कर दिया गया है,** उसे "संकुचित सीमाओं के भीतर" बांध दिया गया है। यही येगोरोव और माखोव जैसे लोगों की असली ग़लती है (जैसे मार्तिनोव और अकीमोव जैसे लोगों की असली ग़लती यह थी कि वे सर्वहारा के दृष्टिकोण को "संकुचित सीमाओं के भीतर" बांध देते थे)। मगर तर्कशास्त्र और इतिहास दोनों हमें यही बताते हैं कि निम्न-पूंजीवादी वर्ग दृष्टिकोण न्यूनाधिक संकुचित और न्यूनाधिक प्रगतिशील हो सकता है और उसका ठीक यही कारण है कि निम्न-पूंजीवादी वर्ग की दुहरी स्थिति होती है। और हमारा काम यह है कि किसान की संकुचित मनोवृत्ति ("मूर्खता") को देखकर या उसे "पूर्वाग्रहों" के वशीभूत पाकर किसी भी हालत में निराशा से हाथ पर हाथ रखकर बैठ न जायें, बल्कि इसके विपरीत उसके दृष्टिकोण को अधिक व्यापक बनाने और उसके विवेक को उसके पूर्वाग्रहों पर विजय प्राप्त करने में सहायता देने के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहें।

रूस की कृषि समस्या पर मार्क्सवाद को विकृत रूप में प्रस्तुत करनेवालों का दृष्टिकोण अपने चरम रूप में कामरेड माखोव के भाषण के अन्तिम शब्दों में प्रगट हुआ जिसमें पुराने 'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल के इस वफ़ादार समर्थक ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। यह बात अकारण नहीं थी कि इन शब्दों का तालियों से स्वागत हुआ... हां, यह सच है कि ये व्यंग की तालियां थीं। प्लेख़ानोव के इस वक्तव्य से कि हमें ज़मीन के आम बंटवारे[175] के आन्दोलन से कोई घबराहट नहीं है और इस प्रगतिशील (पूंजीवादी प्रगतिशील) आन्दोलन को रोकने की कोई कोशिश हम नहीं करेंगे, कामरेड माखोव को बड़ा धक्का लगा और उन्होंने कहा: "ज़ाहिर है, मैं नहीं जानता कि यहां किस चीज़ को दुर्भाग्य की बात कहूं। लेकिन यह क्रान्ति – यदि इसे क्रान्ति कहा जा सकता है तो – क्रान्तिकारी क्रान्ति नहीं होगी। उसे क्रान्ति नहीं, बल्कि प्रतिक्रिया कहना ज़्यादा सही होगा **(हंसी)**; वह ऐसी क्रान्ति होगी जो दंगे-फ़साद से ज़्यादा मिलती-जुलती होगी ... ऐसी क्रान्ति हमें पीछे फेंक देगी और फिर उस स्थिति पर लौटने में काफ़ी समय लगेगा जिस स्थिति में हम आज हैं। आज हमारे पास

फ़ांसीसी क्रान्ति के मुक़ाबले में बहुत कुछ ज़्यादा है **(व्यंगात्मक तालियां)**, हमारे पास एक सामाजिक-जनवादी पार्टी है" **(हंसी)** ... हां, ऐसी सामाजिक-जनवादी पार्टी जो माख़ोव जैसी दलीलें देगी, या जिसके केन्द्रीय संगठन माख़ोव जैसे लोगों पर निर्भर रहेंगे, वह केवल हंसी के ही योग्य होगी ...

इस प्रकार, हम देखते हैं कि ऐसे सवालों पर भी जो केवल सैद्धान्तिक सवाल थे और जो कृषि संबंधी कार्यक्रम के प्रसंग में सामने आये थे, कांग्रेस में फ़ौरन फिर वही दलबंदी हो गयी जिसका हम पहले भी परिचय प्राप्त कर चुके हैं। विकृत मार्क्सवाद की तरफ़ से 'ईस्क्रा'-विरोधी (आठ वोट) झगड़े में कूद पड़े, और उनके पीछे-पीछे "मध्य पक्ष" के नेता, येगोरोव और माख़ोव जैसे लोग भी धीरे-धीरे भटकते-भटकते उसी संकुचित दृष्टिकोण की सीमाओं में खिंच आये। इसलिए यह बात बिल्कुल स्वाभाविक है कि कृषि संबंधी कार्यक्रम की कुछ बातों पर जब वोट लिये गये तो उसके पक्ष में ३० और ३५ वोट पड़े (पृष्ठ २२५ और २२६), यानी लगभग उतने ही वोट पड़े जितने इस सवाल पर पड़े थे कि बुंद के प्रश्न पर किस क्रम में विचार किया जाये, या जितने संगठन समिति वाली घटना के समय पड़े थे, या जितने 'यूज्नी राबोची' को बंद कर देने के सवाल पर पड़े थे। जब भी कोई ऐसा सवाल उठता था जो कि प्रचलित और पिटे-पिटाये सवालों से थोड़ा भी भिन्न होता था, या जो इस बात की थोड़ी भी मांग करता था कि मार्क्स के सिद्धान्तों को कुछ ख़ास तरह के और नये (जर्मनों के लिए नये) सामाजिक एवं आर्थिक सम्बंधों पर स्वतंत्र रूप से लागू किया जाये, तभी उन 'ईस्क्रा'-वादियों के साथ केवल साठ प्रतिशत वोट रह जाते थे, जो समस्याओं के स्तर तक उठ सकते थे, और पूरा "मध्य पक्ष" उलटकर लाइबर और मार्तिनोव जैसे लोगों का समर्थन करने लगता था। और फिर भी कामरेड मार्तोव इस स्पष्ट तथ्य पर पर्दा डालने की कोशिश करते हैं और ऐसे तमाम सवालों पर पड़े वोटों पर किसी भी प्रकार की टीका-टिप्पणी करने से घबराकर कतरा जाते हैं जिन पर मतभेद साफ़ तौर पर सामने आ गये थे!

कृषि संबंधी कार्यक्रम की बहस से यह बात साफ़ तौर पर स्पष्ट हो जाती है कि 'ईस्क्रा'-वादियों को कांग्रेस के एक अच्छे-ख़ासे चालीस प्रतिशत हिस्से से लोहा लेना पड़ा था। इस सवाल पर काकेशस के प्रतिनिधियों ने बिल्कुल सही रुख़ अपनाया—शायद बहुत बड़ी हद तक इस कारण कि अपने-अपने स्थानों में

वे अनेक प्रकार के सामन्ती अवशेषों का घनिष्ठ परिचय प्राप्त कर चुके थे और इसलिए वे उन हवाई, स्कूली लड़कों जैसी, कोरी तुलनाओं से सतर्क रहना सीख गये थे जिनसे माखोव जैसे लोग संतुष्ट हो जाते थे। मार्तिनोव, लाइबर, माखोव और येगोरोव का विरोध किया प्लेखानोव ने, गूसेव ने (जिन्होंने घोषणा की कि "देहात में हमारे काम के बारे में" ... कामरेड येगोरोव ने ... "जैसे निराशावादी दृष्टिकोण का परिचय दिया है, वैसा दृष्टिकोण मुझे रूस में काम करनेवाले साथियों में अक्सर देखने का अवसर मिला है"), कोस्त्रोव[176] ने, कार्स्की ने और त्रोत्स्की ने। त्रोत्स्की ने ठीक ही कहा था कि कृषि संबंधी कार्यक्रम के आलोचक जो "ईमानदारी की सलाह" दे रहे हैं, उसमें "**सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकता** की बू बहुत ज़्यादा आती है"। कांग्रेस की राजनीतिक दलबंदी के अध्ययन के सम्बंध में, यहां सिर्फ़ यह कह देना जरूरी है कि अपने भाषण के इस अंश में (पृष्ट २०८) कामरेड त्रोत्स्की का कामरेड लांगे को येगोरोव और माखोव की कोटि में रखना उचित नहीं था। कार्यवाही को जो कोई भी ध्यान से पढ़ेगा वह यह देखेगा कि लांगे और गोरिन ने येगोरोव और माखोव से काफ़ी भिन्न रुख़ अपनाया था। ज़मींदारों द्वारा छीने हुए खेतों के बारे में जो स्थापना की गयी थी, वह लांगे और गोरिन को पसन्द नहीं थी; वे हमारे कृषि सम्बन्धी कार्यक्रम के मूल विचार को अच्छी तरह समझते थे, मगर वे उसको **एक भिन्न ढंग से** लागू करने की कोशिश कर रहे थे। वे रचनात्मक ढंग से कोई ऐसी स्थापना तैयार करने का प्रयत्न कर रहे थे जो और भी कम आपत्तिजनक हो, और कार्यक्रम के लेखकों को समझाने के लिए, या तमाम ग़ैर-'ईस्क्रा'-वादियों के खिलाफ़ उनके साथ मिलने के उद्देश्य से वे बार-बार प्रस्ताव पेश करते थे। मिसाल के लिए, कृषि संबंधी पूरे कार्यक्रम को रद्द कर देने (पृष्ठ २१२, **नौ** वोट पक्ष में और अड़तीस खिलाफ़) और उसकी अलग-अलग बातों को अस्वीकार कर देने (पृष्ठ २१६ आदि) के संबंध में माखोव ने जो प्रस्ताव रखे थे उनकी लांगे की स्थिति के साथ, जिन्होंने ज़मींदारों द्वारा छीनी गयी जमीनों वाली धारा को अपने ढंग से **पेश किया था** तुलना भर कर लेने से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगी कि उनमें कितना बुनियादी फ़र्क़ था*।

---

*देखिये गोरिन का भाषण, पृष्ठ २१३।

ऐसी दलीलों का ज़िक्र करते हुए, जिनमें "सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकता" की बू आती थी, कामरेड त्रोत्स्की ने कहा कि "क्रांति के आनेवाले ज़माने में हमें किसानों के साथ सम्बंध स्थापित करना चाहिए" ... "इस काम को ध्यान में रखते हुए, माख़ोव और येगोरोव का संशयवाद और राजनीतिक 'दूरदर्शिता' किसी भी अदूरदर्शिता से ज़्यादा हानिकारक है।" अल्पमत के एक दूसरे 'ईस्क्रा'-वादी, कामरेड कोस्तिच ने बहुत सही तौर पर इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया था कि कामरेड माख़ोव ने "अपने में और अपने सिद्धान्तों के स्थायित्व में विश्वास के अभाव" का परिचय दिया है। हमारे "मध्य पक्ष" पर यह वर्णन पूरी तरह चरितार्थ होता है। आगे कामरेड कोस्तिच ने कहा: "अपने नैराश्य में कामरेड माख़ोव कामरेड येगोरोव के साथ हैं, हालांकि उनमें थोड़ा-थोड़ा अन्तर भी है। कामरेड माख़ोव यह भूल जाते हैं कि सामाजिक-जनवादी पहले से ही किसानों के बीच काम कर रहे हैं और यथासंभव उनके आन्दोलन का संचालन कर रहे हैं। और उनका नैराश्य हमारे काम के विस्तार को संकुचित बना रहा है।" (पृष्ठ २१०)

कार्यक्रम पर कांग्रेस में जो बहस हुई उसकी समीक्षा समाप्त करते हुए उस संक्षिप्त वहस की चर्चा कर देना उचित होगा जो विरोधात्मक धाराओं का समर्थन करने के सवाल पर हुई थी। हमारा कार्यक्रम साफ़-साफ़ कहता है कि सामाजिक-जनवादी पार्टी "ऐसे हर **विरोधात्मक** तथा क्रान्तिकारी आन्दोलन" का समर्थन करती है, जो "**रूस की मौजूदा सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के ख़िलाफ़ हो**"। किसी को भी लगेगा कि इस आख़िरी शर्त से यह बात बिल्कुल साफ़ हो जाती है कि हम **ठीक-ठीक किन** विरोधात्मक धाराओं का समर्थन करते हैं। यह कल्पना करना कठिन था कि जिस प्रश्न को इतनी अच्छी तरह हृदयंगम किया जा चुका था, उस पर अब भी "उलझन या ग़लतफ़हमी" की कोई गुंजाइश हो सकती है, मगर **इस सवाल पर भी** तुरन्त वे अलग-अलग धाराएं सामने आ गयीं जो हमारी पार्टी के अन्दर बहुत पहले विकसित हो चुकी थीं! ज़ाहिर है कि यहां ग़लतफ़हमियों का नहीं, **अलग-अलग विचारधाराओं** का सवाल था। माख़ोव, लाइबर और मार्तिनोव ने फ़ौरन ख़तरे की घण्टी बजायी और एक बार फिर वे एक ऐसे "गठे हुए" अल्पमत में हो गये कि सम्भवतया कामरेड मार्तोव को इसे भी साज़िश, चालबाज़ी, कूटनीति या ऐसी ही किसी और सुन्दर चीज़ का

नतीजा बताना पड़ेगा (देखिये लीग की कांग्रेस में उनका भाषण), जिन चीज़ का सहारा वे लोग लेते हैं जो अल्पमत और बहुमत दोनों ही प्रकार के "गढ़े हुए" दलों के निर्माण के राजनीतिक कारणों को समझने में असमर्थ होते हैं।

माख़ोव ने फिर भोंड़े ढंग से मार्क्सवाद के सरलीकरण से आरम्भ किया। उन्होंने घोषणा की, "हमारे देश में एकमात्र क्रान्तिकारी वर्ग सर्वहारा वर्ग है," और इस सही स्थापना से उन्होंने फ़ौरन यह ग़लत निष्कर्ष निकाला कि "बाक़ी सब का कोई महत्व नहीं है; वे सब तो महज़ पिछलग्गू हैं **(आम हंसी)** ... हां, वे महज़ पिछलग्गू हैं और सिर्फ़ अपने फ़ायदे के चक्कर में रहते हैं। मैं इन लोगों का समर्थन करने के ख़िलाफ़ हूं।" (पृ० २२६) कामरेड माख़ोव ने जिस बेमिसाल ढंग से अपने मत का प्रतिपादन किया उससे (उनके) बहुत से (समर्थक) संकोच में पड़ गये, लेकिन वास्तव में, लाइबर और मार्तिनोव ने जब "विरोधात्मक" शब्द को काट देने या उसको सीमित कर देने के लिए उसके स्थान पर "जनवादी विरोधात्मक" शब्दों का प्रयोग करने का प्रस्ताव कांग्रेस के सामने रखा था, तो वे भी इसी मत के पक्ष में थे। मार्तिनोव के इस संशोधन के ख़िलाफ़ प्लेख़ानोव ने डंडा उठाया और बिल्कुल ठीक उठाया। उन्होंने कहा: "हमें उदारपंथियों की आलोचना करनी चाहिए, उनके ढीलेपन का पर्दाफ़ाश करना चाहिए। यह सही है ... मगर सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के अलावा बाक़ी सभी आन्दोलनों की संकुचित मनोवृत्ति और परिसीमाओं का भंडाफोड़ करने के साथ-साथ सर्वहारा वर्ग को यह समझाना भी हमारा कर्त्तव्य है कि निरंकुश शासन के मुक़ाबले में तो ऐसा विधान भी एक आगे बढ़ा हुआ क़दम होगा जो सार्वत्रिक मताधिकार नहीं देता और इसलिए ऐसे विधान के मुक़ाबले में सर्वहारा वर्ग को वर्तमान शासन-व्यवस्था को पसंद नहीं करना चाहिए।" कामरेड मार्तिनोव, लाइबर और माख़ोव ने इससे मतभेद प्रकट किया और वे अपने उसी मत पर डटे रहे जिस पर अक्सेलरोद, स्तारोवेर तथा त्रोत्स्की ने और एक बार फिर प्लेख़ानोव ने हमला किया। इस सवाल पर फिर कामरेड माख़ोव ने अपने पिछले कारनामों को मात कर दिया। पहले उन्होंने कहा कि (सर्वहारा वर्ग के सिवा) दूसरे वर्गों का "कोई महत्व नहीं है" और यह कि वह "उनका समर्थन करने के ख़िलाफ़" हैं। फिर उन्होंने यह स्वीकार करने की कृपा की कि "पूंजीपति वर्ग बुनियादी तौर पर तो प्रतिक्रियावादी होता है, मगर अक्सर क्रान्तिकारी भी

बन जाता है – मिसाल के लिए सामन्तवाद तथा उसके अवशेषों के ख़िलाफ़ चलनेवाले संघर्ष में।" मगर आगे फिर पहले से ज़्यादा ख़राब रुख़ लेते हुए कामरेड माख़ोव ने फ़रमाया: "लेकिन कुछ ऐसे समूह हैं जो हमेशा (?) प्रतिक्रियावादी रहते हैं – जैसे दस्तकार।" बाद में पुराने सम्पादक-मण्डल का समर्थन करते-करते हमारे "मध्य पक्ष" के जिन नेताओं के मुंह में फेन उतर आया है, उन्होंने ऐसे अनमोल सिद्धान्तों की स्थापना की थी! पश्चिमी यूरोप तक में, जहां दस्तकारों की श्रेणियों की पद्धति बहुत मज़बूत थी, निरंकुशता के पतन के युग में शहरों के दूसरे निम्न-पूंजीपतियों की तरह ही दस्तकार भी असाधारण रूप से अत्यन्त क्रान्तिकारी थे। और किसी भी रूसी सामाजिक-जनवादी के लिए तो यह ख़ास तौर पर बहुत ही बेहूदा बात है कि निरंकुश शासन के पतन के पचास या सौ बरस बाद, आज के इस युग में, पश्चिम के साथी मौजूदा दस्तकारों के बारे में जो कुछ कहते हैं, वह बस उसी को दुहरा दे। रूस में यह कहना कि राजनीतिक सवालों पर पूंजीपति वर्ग के मुक़ाबले दस्तकार प्रतिक्रियावादी रुख़ अपनाते हैं – यह केवल एक रटी हुई बात को तोते की तरह दुहरा देना है।

दुर्भाग्य से, कार्यवाही में यह बात दर्ज नहीं है कि इस सवाल पर मार्तिनोव, माख़ोव, और लाइबर के अस्वीकृत संशोधनों के पक्ष में कितने वोट पड़े थे। हम सिर्फ़ इतना ही कह सकते हैं कि इस सवाल पर भी 'ईस्क्रा'-विरोधी तत्व और "मध्य पक्ष" के एक नेता* उसी तरह एक हो गये जैसे हम पहले भी

---

*उसी दल के, "मध्य पक्ष" के, एक दूसरे नेता, कामरेड येगोरोव, विरोधात्मक धाराओं का समर्थन करने के सवाल पर एक और मौक़े पर, समाजवादी-क्रान्तिकारियों[177] के बारे में कामरेड अक्सेलरोद के प्रस्ताव के प्रसंग में, बोले (पृष्ठ ३५९)। कामरेड येगोरोव को इस बात में "अंतर्विरोध" दिखायी दिया कि एक तरफ़ तो कार्यक्रम में हर विरोधात्मक तथा क्रान्तिकारी प्रवृत्ति का **समर्थन** करने की मांग की गयी है, और, दूसरी तरफ़, समाजवादी-क्रान्तिकारियों तथा उदारपंथियों दोनों की ओर **शत्रुता का** रुख़ अपनाया जा रहा है। यद्यपि कामरेड येगोरोव ने अपनी बात एक दूसरे ढंग से कही, प्रश्न पर विचार करने का उनका तरीक़ा औरों से थोड़ा भिन्न था, मगर फिर भी उनकी बात से यह साफ़ हो गया कि मार्क्सवाद की उनकी समझ भी उसी प्रकार की संकुचित समझ है और 'ईस्क्रा' (जिसे वह "स्वीकार" कर चुके थे) के दृष्टिकोण के प्रति उनका रवैया भी उसी प्रकार का अस्थिर तथा आधी शत्रुता का रुख़ है जिस प्रकार की समझ और जिस प्रकार का रवैया कामरेड माख़ोव, कामरेड लाइबर और कामरेड मार्तिनोव का है।

कई बार उन्हें 'ईस्क्रा'-वादियों के ख़िलाफ़ एक होते देख चुके हैं। **कार्यक्रम** की **पूरी** बहस का निचोड़ निकालते हुए, हम अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि कांग्रेस में एक भी बहस, जिसमें थोड़ी भी गर्मी आयी हो और जिसका विषय आम दिलचस्पी का विषय रहा हो, ऐसी नहीं थी जिसमें उन धाराओं और उपधाराओं का अन्तर स्पष्ट न हो गया हो, जिनके बारे में अब कामरेड मार्तोव और नये 'ईस्क्रा' का सम्पादक-मण्डल चुप्पी साधे हुए हैं।

ज) पार्टी की नियमावली। कामरेड मार्तोव का मसौदा

कार्यक्रम के बाद कांग्रेस ने पार्टी की नियमावली पर विचार करना आरम्भ किया (यहां पर हम केन्द्रीय मुखपत्र के उपरोक्त प्रश्न को और प्रतिनिधियों की रिपोर्टों को छोड़ देते हैं, जिन्हें अधिकतर प्रतिनिधि दुर्भाग्य से संतोषजनक ढंग से पेश करने में असमर्थ रहे थे)। कहने की आवश्यकता नहीं कि पार्टी की नियमावली का प्रश्न हम सब के लिए बहुत महत्व रखता था। आख़िर, 'ईस्क्रा' शुरू से ही न केवल साहित्यिक मुखपत्र के रूप में, बल्कि **संगठनात्मक** केन्द्र के रूप में भी काम करता रहा था। 'ईस्क्रा' ने अपने चौथे अंक के एक सम्पादकीय लेख ('कहां से आरम्भ करें?') में संगठन की एक पूरी योजना* पेश की थी और **तीन साल** से वह सुनियोजित ढंग से और लगातार उसी योजना का प्रचार कर

---

*'ईस्क्रा' को पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र के रूप में स्वीकार करने के प्रश्न पर भाषण करते हुए कामरेड पोपोव ने और बातों के साथ यह भी कहा था: "मुझे 'कहां से आरम्भ करें?' शीर्षक लेख की याद आती है जो 'ईस्क्रा' के अंक ३ या ४ में छपा था। रूस में काम करनेवाले बहुत से साथियों का ख़याल था कि यह लेख छापने में विवेक से काम नहीं लिया गया; दूसरे साथियों को वह लेख बे-सिर-पैर का लगा और बहुमत (? शायद कामरेड पोपोव के इर्द-गिर्द रहनेवालों का बहुमत) यह समझता था कि केवल महत्वाकांक्षा के कारण यह लेख लिखा गया है" (पृष्ठ १४०)। जैसा कि पाठक को मालूम है, मुझे बहुत दिनों से यह सुनने की आदत है कि मेरे राजनीतिक विचारों का मूल कारण महत्वाकांक्षा है—आजकल कामरेड अक्सेल्रोद और कामरेड मार्तोव भी यही प्रचार कर रहे हैं।

रहा था। जब दूसरी पार्टी कांग्रेस ने 'ईस्क्रा' को केन्द्रीय मुखपत्र के रूप में स्वीकार किया था तो इस विषय से सम्बंधित प्रस्ताव की भूमिका की तीन धाराओं में से (पृष्ठ १४७) दो धाराओं में **ठीक इसी योजना का और संगठन के इन्हीं सिद्धान्तों का ज़िक्र था जिनका 'ईस्क्रा' प्रचार करता आया था,** यानी, पार्टी के **व्यावहारिक** कार्य का संचालन करने तथा एकता स्थापित करने में 'ईस्क्रा' की प्रमुख भूमिका। इसलिए, यह स्वाभाविक बात है कि 'ईस्क्रा' का कार्य और पार्टी को संगठित करने का पूरा काम, पार्टी को **सचमुच** पुनर्स्थापित करने का पूरा काम, उस समय तक समाप्त **नहीं** समझा जा **सकता** था जब तक कि संगठन के विषय में पूरी पार्टी कुछ निश्चित विचारों को अपना न लेती और बाज़ाब्ता तौर पर उन्हें अपने विधान में न दर्ज कर लेती। यह कार्य पार्टी के संगठन की नियमावली के द्वारा सम्पन्न होना था।

'ईस्क्रा' जिन मुख्य विचारों को पार्टी के संगठन का आधार बनाना चाहती थी, वे बुनियादी तौर पर निम्नलिखित दो विचार थे: एक केन्द्रीयता का विचार जो संगठन के तमाम अलग-अलग तथा विस्तार के तमाम सवालों को त करने की प्रणाली को सिद्धान्त रूप में निर्धारित करता था; और दूसरा सैद्धांतिक नेतृत्व के मामले में मुखपत्र की, अख़बार की, विशेष भूमिका का विचार, जिसने राजनीतिक दासता की परिस्थितियों के बीच मज़दूर वर्ग के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की कुछ अस्थायी तथा विशिष्ट आवश्यकताओं को इस समझ के साथ ध्यान में रखा कि क्रान्तिकारी चढ़ाई के लिए **प्राथमिक** अड्डा विदेशों में स्थापित किया जायेगा। पहला विचार, जो सिद्धान्त की दृष्टि से एकमात्र सही विचार था, पूरी नियमावली में कूट-कूट कर भर गया; दूसरे विचार की आवश्यकता चूंकि देश और कार्य-पद्धति विशेष से सम्बंधित कुछ अस्थायी परिस्थितियों के कारण हुई थी, इसलिए उसने एक ऐसे सुझाव का रूप धारण किया, जो **ऊपर से देखने में** केन्द्रीयता का उल्लंघन प्रतीत होता था, अर्थात् यह सुझाव कि पार्टी के **दो केन्द्र** स्थापित किये जायें–एक **केन्द्रीय मुखपत्र** और दूसरा **केन्द्रीय समिति**। पार्टी संगठन के बारे में 'ईस्क्रा' के इन दोनों प्रधान विचारों का मैं 'ईस्क्रा' (अंक ४) के सम्पादकीय लेख 'कहां से आरम्भ करें?' और 'क्या करें?' नामक पुस्तिका में प्रतिपादन कर चुका था और अंततः 'एक साथी के नाम पत्र' में इन दोनों ही विचारों की बड़े विस्तार के साथ ऐसे रूप में विवेचना की जा चुकी थी जो

नियमावली से मिलता-जुलता था। वास्तव में, यदि 'ईस्क्रा' का पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र के रूप में स्वीकार किया जाना कोरी काग़ज़ी कार्रवाई और केवल शाब्दिक बात नहीं रहनी थी, तो नियमावली की जिन धाराओं में इन्हीं विचारों को बांधना था उन्हें नपे-तुले शब्दों में प्रतिपादित कर देने के लिए मसौदे तैयार करने का कुछ काम करना ही बाक़ी रह गया था। 'एक साथी के नाम पत्र' के नये संस्करण की भूमिका में मैं पहले ही यह कह चुका हूं कि यदि उस पुस्तिका से पार्टी नियमावली की तुलना भर करके देख लिया जाये तो तुरन्त मालूम हो जायेगा कि संगठन के विषय में दोनों के बिल्कुल एक से विचार हैं।

'ईस्क्रा' के संगठन-सम्बंधी विचारों को नियमावली में प्रतिपादित करने के लिए मसौदे तैयार करने के काम के बारे में मैं एक घटना का ज़िक्र करना ज़रूरी समझता हूं, जिसकी चर्चा कामरेड मार्तोव ने की है। लीग की कांग्रेस (देखिये पृष्ठ ५८) में मार्तोव ने कहा: "... यदि केवल तथ्यों का वर्णन कर दिया जाये तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि इस धारा (धारा १) के बारे में मेरा अवसरवादी भटकाव लेनिन के लिए कितना अप्रत्याशित था। कांग्रेस के डेढ़ या दो महीने पहले मैंने लेनिन को अपना मसौदा दिखाया था, जिसमें पहली धारा उसी रूप में प्रतिपादित की गयी थी जिस रूप में मैंने उसे कांग्रेस के सामने पेश किया था। लेनिन ने मेरे मसौदे पर यह एतराज़ किया कि उसे बहुत ज्यादा फैलाकर लिखा गया है और उन्होंने मुझसे कहा कि उनको केवल एक बात पसन्द आयी है और वह है पहली धारा का मूल विचार – पार्टी-सदस्यता की परिभाषा – जिसे कुछ संशोधनों के साथ वह अपनी नियमावली में शामिल कर लेंगे, क्योंकि उनके ख़याल से मैंने उसका प्रतिपादन ठीक ढंग से नहीं किया था। इस प्रकार आप ख़ुद देख सकते हैं कि लेनिन बहुत दिन पहले से मेरी स्थापना से परिचित थे और इस विषय पर मेरे विचारों को जानते थे। इस प्रकार, आप देख सकते हैं कि मैं कांग्रेस के सामने चेहरे पर नक़ाब उलटकर आया था; मैंने अपने विचारों को छिपाया नहीं था। मैं लेनिन को चेतावनी दे चुका था कि मैं इस बात का विरोध करूंगा कि किसी भी समिति में आपस की रज़ामंदी से नये नाम जोड़ दिये जायें और इस सिद्धान्त का भी विरोध करूंगा कि केन्द्रीय समिति तथा केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादकमण्डल में केवल सर्वसम्मति से ही नये नाम जोड़े जायें, इत्यादि।"

जहां तक आपस की रज़ामंदी से नये नाम जोड़ने का विरोध करने की इस चेतावनी का सम्बंध है, असलियत क्या थी यह हम उपयुक्त समय आने पर देखेंगे। फ़िलहाल हम मार्तोव की नियमावली के "खुले नक़ाब" पर विचार करेंगे। लीग की कांग्रेस में जब मार्तोव ने अपने भद्दे ढंग से लिखे हुए मसौदे वाली घटना का सिर्फ़ अपनी याददाश्त के सहारे जिक्र करना शुरू किया तो, जैसा कि आम तौर पर होता है, वह बहुत सी बातों को भूल गये और इसीलिए वह फिर गड़बड़घोटाले में फंस गये (अपने इस मसौदे को, चूंकि वह भद्दे ढंग से लिखा गया था, मार्तोव ने खुद कांग्रेस में वापिस ले लिया था, लेकिन कांग्रेस के बाद वह अपने स्वभाव के अनुसार उसे फिर बाहर निकाल लाये)। ख़याल हो सकता था कि पहले भी ऐसी काफ़ी घटनाएं हो चुकी थीं जिनसे सबक़ लेकर मार्तोव निजी बातचीत का हवाला देने और केवल अपनी याददाश्त पर निर्भर रहने की कोशिश नहीं करेंगे (लोगों को स्वभावतया केवल अपने फ़ायदे की बातें ही याद आती हैं), फिर भी कामरेड मार्तोव के पास क्योंकि दूसरी सामग्री का अभाव था, इसलिए उन्होंने इस घटिया सामग्री को इस्तेमाल किया और अब तो कामरेड प्लेख़ानोव भी उनका अनुकरण करने लगे हैं – लगता है, बुरी मिसालों पर लोग जल्दी चलने लगते हैं।

मार्तोव के मसौदे की पहली धारा के "मूल विचार" को मैं "पसन्द कर" ही नहीं सकता था, क्योंकि उस मसौदे में **एक भी ऐसा विचार** नहीं था जो कांग्रेस के सामने आया हो। कामरेड मार्तोव की याददाश्त ने उन्हें धोखा दिया है। सौभाग्य से मुझे अपने कागज़ों में मार्तोव का मसौदा मिल गया है, और उसमें **"पहली धारा उस रूप में नहीं लिखी गयी है जिस रूप में उन्होंने उसे कांग्रेस के सामने पेश किया था"।** सो यह तो है "खुले नक़ाब" की असलियत!

मार्तोव के मसौदे की पहली धारा: "रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का सदस्य वह है जो उसके कार्यक्रम को मानते हुए, पार्टी की संस्थाओं (वाह!) के नियंत्रण तथा नेतृत्व में पार्टी के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सक्रिय रूप से काम करता है।"

मेरे मसौदे की पहली धारा इस प्रकार थी: "पार्टी सदस्य वह है जो पार्टी के कार्यक्रम को स्वीकार करता है, जो पार्टी की धन से तथा किसी पार्टी संगठन में वैयक्तिक रूप से भाग लेकर, दोनों तरह सहायता करता है।"

कांग्रेस में मार्तोव ने इस रूप में पहली धारा पेश की थी और इसी रूप में वह कांग्रेस द्वारा स्वीकार की गयी: "रूसी सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी का सदस्य वह है जो उसके कार्यक्रम को स्वीकार करता है, पार्टी की धन से सहायता करता है और उसके किसी संगठन के निर्देशन में पार्टी की नियमित रूप से व्यक्तिगत मदद करता है।"

इस तुलना से यह बात बिल्कुल साफ़ है कि मार्तोव के मसौदे में कोई **विचार** नहीं है, बल्कि **कोरे शब्द भर** हैं। यह तो मानी हुई बात है कि पार्टी के सदस्यों को पार्टी की **संस्थाओं** के नियंत्रण तथा निर्देशन में काम करना चाहिए, **और कोई सूरत हो ही नहीं सकती**, और इस तरह की बातें केवल वे ही लोग कहते हैं जिन्हें मतलब की कोई बात कहे बिना कुछ न कुछ कहते रहने से बड़ा प्रेम होता है, जो "पार्टी के नियमों" को शब्दों और नौकरशाही ढंग के सूत्रों की (यानी ऐसे सूत्रों की, जो सम्बंधित प्रश्न के लिए बिल्कुल बेकार होते हैं और केवल ऊपरी शोभा बढ़ाने के काम में आते हैं) बाढ़ में डुबो देना पसन्द करते हैं। पहली धारा का **मूल विचार** केवल उसी समय खुलता है जब यह प्रश्न किया जाता है कि क्या **पार्टी की संस्थाएं** पार्टी के ऐसे सदस्यों को **सचमुच** अपने निर्देशन में रख सकती हैं जो किसी **पार्टी संगठन में शामिल नहीं हैं**। कामरेड मार्तोव के मसौदे में इस विचार का कोई चिन्ह तक नहीं है। इसलिए "इस प्रश्न पर" कामरेड मार्तोव के "विचारों" को **मेरे लिए जानना असम्भव था**, क्योंकि कामरेड मार्तोव के मसौदे में **इस विषय** पर **कोई विचार थे ही नहीं।** कामरेड मार्तोव ने तथ्यों का जो विवरण दिया है, वह **गड़बड़घोटाला** सिद्ध हो जाता है।

दूसरी ओर, कामरेड मार्तोव के बारे में यह बता देना ज़रूरी है कि मेरे मसौदे से वह यह जान गये थे कि "इस विषय पर मेरे क्या विचार थे" और उन्होंने उनका कोई विरोध नहीं किया था। मेरा मसौदा सम्पादक-मण्डल के हर सदस्य को कांग्रेस के दो या तीन हफ़्ते पहले दिखा दिया गया था, लेकिन उन्होंने मेरे विचारों का न तो सम्पादक-मण्डल में खंडन किया और न ही प्रतिनिधियों की उपस्थिति में किया, जो **केवल** मेरे ही मसौदे को जानते थे। इसके अलावा, **कांग्रेस में** भी, जब मैंने **नियमावली के आयोग का चुनाव होने के पहले** अपनी

प्रस्तावित नियमावली पेश की* और उसके समर्थन में भाषण दिया तो कामरेड मार्तोव ने साफ़ शब्दों में ऐलान किया कि: "मैं बताना चाहता हूं कि जिन नतीजों पर कामरेड लेनिन पहुंचे हैं, मैं उनसे सहमत हूं। **केवल दो सवालों पर उनसे मेरा मतभेद है**" (शब्दों पर ज़ोर मेरा है): एक इस सवाल पर कि काउंसिल का निर्माण कैसे किया जाये, और दूसरे केवल सर्वसम्मति से नये सदस्य जोड़ने के सवाल पर (पृष्ठ १५७)। **इस समय तक पहली धारा को लेकर मतभेद की कोई बात नहीं थी।**

घेरे की स्थिति पर अपनी पुस्तिका में कामरेड मार्तोव ने अपनी नियमावली को एक बार फिर और बहुत विस्तार से याद करने की ज़रूरत महसूस की है। उन्होंने हमें विश्वास दिलाया है कि कुछ छोटी-छोटी बातों को छोड़कर वह अपनी नियमावली पर आज भी (फ़रवरी १९०४ में—तीन महीने बाद क्या परिस्थिति होगी हम नहीं कह सकते) हस्ताक्षर करने को तैयार हैं; इस नियमावली से "यह बात साफ़ तौर पर ज़ाहिर हो जाती है कि वह केन्द्रीयता की अतिशयता को नापसंद करते हैं" (पृष्ठ चौथा)। अपना यह मसौदा कामरेड मार्तोव ने कांग्रेस के सामने क्यों नहीं पेश किया, **अब** वह उसका पहला कारण यह बताते हैं कि

---

*यहां लगे हाथों इस बात का भी ज़िक्र कर दिया जाये कि कार्यवाही आयोग ने परिशिष्ट ११ में "**कांग्रेस में लेनिन द्वारा पेश की गयी**" प्रस्तावित नियमावली छापी है (पृष्ठ ३९३)। यहां पर कार्यवाही आयोग ने भी थोड़ी गड़बड़ कर दी है। उसने मेरे **मूल** मसौदे को, जो कि सभी प्रतिनिधियों को (और बहुतों को कांग्रेस के पहले ही) दिखाया गया था उस मसौदे के साथ गड़बड़ा दिया है जो मैंने **कांग्रेस के सामने पेश किया था** और **मूल मसौदे** को कांग्रेस में पेश किये गये मसौदे के नाम से **छाप दिया है**। ज़ाहिर है, अपने मसौदों के प्रकाशन पर मुझे कोई एतराज़ नहीं है, यहां तक कि यदि **तैयारी की अलग-अलग मंज़िलों के मेरे सभी** मसौदे छाप दिये जायें तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं है; लेकिन इस तरह गड़बड़ करके भ्रम फैलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। और भ्रम फैला है, क्योंकि पोपोव और मार्तोव ने (देखिये पृष्ठ १५४ और १५७) मेरे उस मसौदे की कुछ स्थापनाओं की आलोचना की है जिसे मैंने वास्तव में कांग्रेस के सामने पेश किया था, हालांकि कार्यवाही आयोग द्वारा प्रकाशित **मसौदे में ये स्थापनाएं नहीं हैं** (देखिये पृष्ठ ३९४ पर धाराएं ७ और ११)। यदि थोड़ी और सावधानी बरती जाती तो उपरोक्त पृष्ठों का मिलान करने पर यह ग़लती आसानी से पकड़ में आ जाती।

"'ईस्क्रा' से उन्होंने जो शिक्षा पायी थी उसने उनमें नियमावलियों के लिए उपेक्षा की भावना पैदा कर दी थी" (जब भी कामरेड मार्तोव को यह सुविधाजनक होता है तब उनके लिए 'ईस्क्रा' शब्द का अर्थ मण्डलों की संकुचित मनोवृत्ति न रहकर एक अत्यधिक सुसंगत विचारधारा बन जाता है! लेकिन यह सचमुच बड़े खेद की बात है कि तीन साल तक 'ईस्क्रा' में सीखने के बाद भी उनमें उस अराजकतावादी शब्दाडम्बर के प्रति उपेक्षा की भावना नहीं पैदा हुई जिसके द्वारा बुद्धिजीवी की अस्थिर मनोवृत्ति सर्वसम्मति से स्वीकार किये गये नियमों को भी भंग करने को उचित ठहरा सकती है)। दूसरा कारण, आप देखते नहीं, यह था कि कामरेड मार्तोव "उस मूल संगठनात्मक केन्द्र की कार्यनीति में, जो कि 'ईस्क्रा' नाम से जाना जाता था, किसी भी तरह कलह का बीज बोना" नहीं चाहते थे। कितनी सुसंगत बात है, है न? पहली धारा की अवसरवादी स्थापना, या केन्द्रीयता की अतिशयता से संबंधित **सिद्धान्त** के प्रश्न पर कलह से (जो केवल मंडलों के हद से ज्यादा संकुचित दृष्टिकोण से ही भयानक प्रतीत हो सकता था) कामरेड मार्तोव को इतना डर लगता था कि उन्होंने अपना मतभेद सम्पादक-मण्डल जैसे केन्द्र के सामने भी नहीं रखा! लेकिन केन्द्रीय संगठनों में कौन लोग हों, इस **व्यावहारिक** सवाल पर कामरेड मार्तोव ने (उस सच्चे और **आधारभूत संगठनात्मक केन्द्र**) 'ईस्क्रा'-संगठन के अधिकतर सदस्यों के वोटों के ख़िलाफ़ बुंद और 'राबोचेये देलो'-वादियों से मदद मांगी। जो लोग प्रश्न का निर्णय करने की सबसे ज़्यादा योग्यता रखते हैं, उनके द्वारा समस्या के मूल्यांकन में "मण्डल-मनोवृति" से इन्कार करने के लिए वह एक नामधारी सम्पादक-मण्डल की हिमायत करने में ख़ुद "मण्डल-मनोवृत्ति" को चुपके से अन्दर ले आनेवाले जिन शब्दों का प्रयोग करते हैं, उनमें जो "कलह" है वह कामरेड मार्तोव को दिखायी नहीं देता। उनको दण्ड देने के लिए हम नियमावली का उनका मसौदा **पूरा का पूरा** उद्धृत कर देंगे और तब देखेंगे कि उनसे कौनसे **विचार** और किस प्रकार की **अतिशयता** प्रकट होती है*:

---

*यहां मैं यह बता देना आवश्यक समझता हूं कि दुर्भाग्य से कामरेड मार्तोव के मसौदे का पहला संस्करण मुझे नहीं मिल सका, जिसमें अड़तालीस पैरे थे और जिसमें उद्देश्यहीन औपचारिकतावाद की "अतिशयता" का दोष इससे भी ज़्यादा था।

"पार्टी नियमावली का मसौदा। – १. पार्टी-सदस्यता – (१) रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का सदस्य वह है जो उसके कार्यक्रम को मानते हुए, पार्टी की संस्थाओं के नियंत्रण तथा नेतृत्व में पार्टी के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सक्रिय रूप से काम करता है। – (२) पार्टी के हितों के प्रतिकूल आचरण के कारण पार्टी के किसी सदस्य को पार्टी से निकालने के प्रश्न का फ़ैसला केन्द्रीय समिति करेगी। [किसी को पार्टी से निकालने का फ़ैसला, उसके कारण बताते हुए, पार्टी की फ़ाइलों में सुरक्षित रखा जायेगा और मांगने पर हर पार्टी समिति को भेजा जायेगा। दो या उससे अधिक पार्टी-समितियों की मांग पर, किसी सदस्य को पार्टी से निकालने के केन्द्रीय समिति के फ़ैसले के खिलाफ़ पार्टी कांग्रेस से अपील की जा सकेगी]" ... मार्तोव के मसौदे के उन हिस्सों को मैं बड़े कोष्ठकों में बन्द कर रहा हूं जो **स्पष्टतः** अर्थहीन हैं, क्योंकि उनमें न सिर्फ़ "विचारों" का अभाव है, बल्कि निश्चित शर्तों या मांगों का भी अभाव है – इसका एक उदाहरण यह है कि "नियमावली" में मार्तोव ने बेमिसाल तरीक़े से यह भी निर्धारित कर दिया है कि किसी को पार्टी से निकालने का फ़ैसला **ठीक-ठीक कहां** सुरक्षित रखा जायेगा, या यह उपबंध कि पार्टी के किसी सदस्य को पार्टी से निकाल देने के केन्द्रीय समिति के फ़ैसले के खिलाफ़ (आम तौर पर उसके सभी फ़ैसलों के खिलाफ़ नहीं?) कांग्रेस के सामने अपील की जा सकती है। यह सचमुच लफ़्फ़ाज़ी की अतिशयता है या असली दफ़्तरशाही शब्दाडम्बर जिसके कारण फ़ालतू, स्पष्टतः बेकार और लाल फ़ीताशाही ढंग की धाराएं और उपधाराएं गढ़ी जाती हैं। "... २. स्थानीय समितियां – (३) स्थानीय काम में पार्टी-समितियां पार्टी का प्रतिनिधित्व करती हैं ..." (कितनी नयी और कितनी अक्लमन्दी की बात है!) "...(४) [अधिकृत पार्टी-समितियां वे हैं जो दूसरी पार्टी-कांग्रेस के समय मौजूद हैं और जिनके प्रतिनिधि इस कांग्रेस में भाग ले रहे हैं]। – (५) चौथी धारा में जिन समितियों का ज़िक्र है उनके अलावा नयी समितियों को केन्द्रीय समिति नियुक्त करेगी, [जो कि या तो सम्बंधित स्थानीय संगठन के मौजूदा सदस्यों को ही स्थानीय समिति के रूप में मान लेगी, या उनमें सुधार करके स्थानीय समिति नियुक्त कर देगी]। – (६) समितियां

नये लोगों को लेकर अपनी सदस्यता बढ़ा सकती हैं। – (७) केन्द्रीय समिति को यह अधिकार होगा कि वह किसी भी स्थानीय समिति में (ऐसे) नये साथियों को जोड़ दे (जिनको वह जानती है), मगर ऐसे नये सदस्यों की संख्या समिति के सदस्यों की कुल संख्या के एक-तिहाई से अधिक नहीं होगी ..." नौकरशाही का इससे अच्छा उदाहरण मिलना असम्भव है। एक-तिहाई से अधिक क्यों नहीं? इसमें क्या उद्देश्य है? और इस प्रकार की सीमा लगाने का क्या अर्थ है, जिससे कोई चीज़ सीमित नहीं होती, क्योंकि बार-बार नये **सदस्य जोड़े जा सकते हैं**? "... (८) [यदि किसी स्थानीय समिति में फूट पड़ जाती है, या वह दमन के कारण टूट जाती है" (क्या इसका यह मतलब है कि उसके सब सदस्य नहीं पकड़े गये हैं?) "तो केन्द्रीय समिति उसकी पुन:स्थापना कर देगी"] ... (क्या ७ वीं धारा का उल्लंघन करके? और क्या कामरेड मार्तोव को यह ८ वीं धारा सुव्यवस्थित आचरण से संबंधित उन रूसी क़ानूनों जैसी नहीं लगती जिनके द्वारा नागरिकों को आदेश दिया गया है कि वे सप्ताह में काम के दिनों में काम किया करें और छुट्टियों के दिन आराम किया करें?) "... (९) [यदि किसी स्थानीय समिति की कार्रवाइयां पार्टी के हितों के प्रतिकूल समझी जायें तो साधारण पार्टी कांग्रेस केन्द्रीय समिति को उस स्थानीय समिति की रचना में परिवर्तन करने का आदेश दे सकती है। ऐसी सूरत में, पुरानी स्थानीय समिति भंग समझी जायेगी और उसके कार्य-क्षेत्र में रहनेवाले साथियों के लिए यह ज़रूरी नहीं होगा कि वे उसकी अधीनता* स्वीकार करें।"] ... इस पैरे में जो उपबंध किया गया है वह भी उतना ही लाभदायक है जितना कि वह उपबंध जो आज तक इस रूसी क़ानून में मौजूद है कि "बिना किसी अपवाद के सभी लोगों के लिए नशे में धुत्त बन जाने की मनाही है"। "... (१०) [पार्टी की स्थानीय समितियां अपने-अपने क्षेत्रों में पार्टी की प्रचार, आंदोलन और संगठन-सम्बंधी सभी कार्रवाइयों का संचालन करेंगी और

---

*हम इस शब्द की ओर कामरेड अक्सेलरोद का ध्यान खींचते हैं। यह तो सचमुच भयानक चीज़ है! यही तो उस "जैकोबिनवाद" की जड़ है जो सम्पादक-मण्डल में परिवर्तन करने की हद तक चला जाता है ...

केन्द्रीय समिति तथा केन्द्रीय मुखपत्र को पार्टी के जो साधारण कार्य सौंपे गये हैं उनको पूरा करने में अपनी शक्ति भर वे उनकी मदद देंगी"]... उफ़! भगवान के लिए, यह तो बताइये कि इस सब का क्या उद्देश्य है?.. (११) ["स्थानीय संगठन के अन्दरूनी विनियम स्थानीय समिति तथा उसके अधीन काम करनेवाले दलों के सम्बंध" (सुन रहे हैं, कामरेड अक्सेल्रोद?) "और इन दलों के अधिकारों तथा स्वायत्त शासन की सीमाएं" (अधिकारों की सीमाएं और स्वायत्त शासन की सीमाएं क्या एक ही चीज़ नहीं हैं?) "ख़ुद स्थानीय समिति निर्धारित करेगी और केन्द्रीय समिति तथा केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल को उसकी सूचना दे देगी"] ... (एक बात छूट गयी: यह नहीं बताया गया कि ये सूचनाएं कहां रखी जायेंगी) ... "(१२) [स्थानीय समितियों के अधीन काम करनेवाले सभी साथियों और दलों को यह मांग करने का अधिकार होगा कि किसी भी विषय पर उनका मत और उनकी इच्छा पार्टी की केन्द्रीय समिति तथा उसके केन्द्रीय मुखपत्र को सूचित कर दी जायें।]—(१३) स्थानीय पार्टी समितियां अपनी आय का एक निश्चित भाग केन्द्रीय समिति के कोष में देंगी; यह भाग कितना होगा यह केन्द्रीय समिति तै करेगी।—३. (रूसी भाषा के अलावा) अन्य भाषाओं में प्रचार करने के लिए संगठन।—(१४) [किसी ग़ैर-रूसी भाषा में प्रचार करने और जिन मज़दूरों में यह प्रचार होता हो उनका संगठन करने के लिए उन स्थानों में जहां इस विशेष प्रकार के प्रचार और ऐसे संगठनों की आवश्यकता समझी जाये, अलग संगठन भी क़ायम किये जा सकते हैं।] —(१५) इस प्रकार की आवश्यकता है या नहीं, इसका निर्णय पार्टी की केन्द्रीय समिति करेगी, और मतभेद होने पर मामला पार्टी कांग्रेस के सामने पेश किया जायेगा" ... इस धारा का पहला भाग नियमावली में इसके बाद के उपबंधों को देखते हुए बेकार है और दूसरा भाग जिसमें बताया गया है कि मतभेद पैदा होने पर क्या होगा, बिल्कुल हास्यास्पद बात है ... "(१६) [१४ वीं धारा में जिन स्थानीय संगठनों का जिक्र है उनको अपने विशेष मामलों में स्वायत्त शासन का अधिकार रहेगा, मगर वे स्थानीय समिति के नियंत्रण में काम करेंगे और उसके मातहत रहेंगे, इस नियंत्रण का क्या रूप होगा और समिति तथा विशेष संगठन के बीच किस

प्रकार का संगठनात्मक सम्बंध रहेगा, यह बात स्थानीय समिति निर्धारित करेगी" ... (ख़ैर, भगवान की कृपा से आख़िर यह बात साफ़ हो गयी कि खोखले शब्दों की यह भरमार बिल्कुल फ़ालतू थी।) ... "जहां तक पार्टी के समान मामलों का संबंध है, ये संगठन समिति के संगठन के एक भाग के रूप में काम करेंगे।]–(१७) [१४ वीं धारा में जिन स्थानीय संगठनों का ज़िक्र किया गया है, वे अपने विशेष उद्देश्यों को कारगर ढंग से पूरा करने के हेतु एक स्वायत्त लीग बना सकते हैं। इस प्रकार की लीग के अपने प्रकाशन तथा अपनी प्रशासन समितियां हो सकती हैं, ये प्रकाशन तथा ये प्रशासन समितियां सीधे पार्टी की केन्द्रीय समिति के नियंत्रण में रहेंगी। इस प्रकार की लीग अपनी नियमावली ख़ुद बनायेगी, लेकिन उसको केन्द्रीय समिति से स्वीकार कराना आवश्यक होगा।]–(१८) [१७ वीं धारा में जिस स्वायत्त लीग का उल्लेख है, उसमें पार्टी की स्थानीय समितियां भी सम्मिलित हो सकती हैं, बशर्ते कि स्थानीय परिस्थितियों के कारण वे मुख्यतया सम्बंधित भाषा में प्रचार करती हों। **नोट**–स्वायत्त लीग का भाग होते हुए भी ऐसी समिति पार्टी की समिति ही रहेगी।"] ... (यह पूरा पैरा बहुत अनमोल है और विलक्षण बुद्धि का परिचय देता है, नोट तो उससे भी बढ़कर है।) ... "(१९) [स्वायत्त लीग में शामिल स्थानीय संगठन लीग की केन्द्रीय संस्थाओं के साथ जो सम्बन्ध स्थापित करेंगे उन पर स्थानीय समितियों का नियंत्रण रहेगा।]–(२०) [हर स्वायत्त लीग के केन्द्रीय प्रकाशनों तथा केन्द्रीय प्रशासन समिति का पार्टी की केन्द्रीय समिति के साथ वही सम्बंध रहेगा जो पार्टी की स्थानीय समितियों का होता है।]–४. केन्द्रीय समिति और पार्टी के अख़बार।–(२१) [पार्टी की केन्द्रीय समिति और उसके राजनीतिक एवं वैज्ञानिक अख़बार सम्पूर्ण पार्टी के प्रतिनिधि होंगे।]–(२२) केन्द्रीय समिति का काम होगा कि: वह पार्टी की सभी व्यावहारिक कार्रवाइयों का आम संचालन करे; पार्टी की समस्त शक्तियों के समुचित उपयोग तथा वितरण की व्यवस्था करे; पार्टी के तमाम हिस्सों की कार्रवाइयों पर नियंत्रण रखे; स्थानीय संगठनों को साहित्य पहुंचाये; पार्टी के कार्य यंत्र का संगठन करे; पार्टी-कांग्रेस बुलाये।–(२३) पार्टी के अख़बारों का काम होगा कि: वे पार्टी जीवन का सैद्धान्तिक

नेतृत्व करें; पार्टी कार्यक्रम के सम्बन्ध में शिक्षा दें, और सामाजिक-जनवाद के विश्व-दृष्टिकोण का वैज्ञानिक तथा अख़बारी ढंग से प्रतिपादन करने की ज़िम्मेदारी संभालें।—(२४) पार्टी की सभी स्थानीय समितियां तथा स्वायत्त लीगें पार्टी की केन्द्रीय समिति तथा पार्टी के मुखपत्रों के सम्पादक-मण्डलों से सीधे संपर्क रखेंगी और उनको समय-समय पर अपने-अपने क्षेत्रों में आन्दोलन तथा संगठन-कार्य की प्रगति की सूचना देती रहेंगी।—(२५) पार्टी के अख़बारों का सम्पादक-मंडल पार्टी कांग्रेस में नियुक्त किया जायेगा और अगली कांग्रेस तक काम करेगा।—(२६) [सम्पादक-मण्डल अपने अन्दरूनी मामलों में स्वाधीन होगा] और उसे इस बात का अधिकार होगा कि वह दो कांग्रेसों के बीच के समय में कुछ नये सदस्य सम्पादक-मंडल में जोड़ ले या कुछ सदस्यों को बदल दे, मगर ऐसा करने पर उसे हर बार केन्द्रीय समिति को सूचित करना पड़ेगा।—(२७) केन्द्रीय समिति द्वारा जारी किये गये या उसके द्वारा अधिकृत सभी वक्तव्यों का समिति की मांग पर पार्टी के अख़बार में छापा जाना ज़रूरी होगा।—(२८) विविध प्रकार के साहित्यिक कार्य के लिए केन्द्रीय समिति पार्टी के अख़बारों के सम्पादक-मण्डलों की सहमति से विशेष साहित्यिक दलों की स्थापना करेगी।—(२९) केन्द्रीय समिति पार्टी कांग्रेस में नियुक्त की जायेगी और अगली कांग्रेस तक काम करेगी। केन्द्रीय समिति नये सदस्यों को लेकर अपने सदस्यों की संख्या बढ़ा सकती है, नये मेम्बरों की संख्या पर कोई प्रतिबंध नहीं होगा, मगर हर बार उसको पार्टी के केन्द्रीय अख़बारों के सम्पादक-मण्डलों को सूचित कर देना होगा।—५. विदेश-स्थित पार्टी संगठन।—(३०) विदेश-स्थित पार्टी संगठन विदेश में रहनेवाले रूसियों के बीच प्रचार का कार्य करेगा और उनमें जो समाजवादी तत्व हैं उनका संगठन करेगा। उसका संचालन एक निर्वाचित प्रशासन समिति करेगी।—(३१) पार्टी में शामिल स्वायत्त लीगें भी विदेश में अपनी शाखाएं क़ायम कर सकती हैं ताकि वे इन लीगों के विशेष उद्देश्यों की पूर्ति में मदद दे सकें। ये शाखाएं विदेश-स्थित साधारण संगठन के भीतर स्वायत्त दलों के रूप में काम करेंगी।—६. पार्टी कांग्रेस। —(३२) पार्टी में सबसे ऊंचा अधिकार उसकी कांग्रेस का होता है।—(३३) [पार्टी-कांग्रेस पार्टी का कार्यक्रम, नियमावली, और उसके काम का

मार्गदर्शन करनेवाले सिद्धान्त निर्धारित करेगी। वह पार्टी की समस्त संस्थाओं के कार्य पर नियंत्रण रखेगी, और उनके बीच उठनेवाले झगड़ों को तै करेगी।] – (३४) कांग्रेस में इनको अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होगा: (क) पार्टी की सभी स्थानीय समितियां; (ख) पार्टी में शामिल सभी स्वायत्त लीगों की केन्द्रीय प्रशासन समितियां; (ग) पार्टी की केन्द्रीय समिति और उसके केन्द्रीय मुखपत्रों के सम्पादक-मण्डल; (घ) विदेश-स्थित पार्टी संगठन। – (३५) जो प्रतिनिधि किसी कारण से कांग्रेस में ख़ुद भाग न ले सके, वह अपनी तरफ़ से वोट देने का अधिकार किसी और प्रतिनिधि को दे सकता है, मगर किसी प्रतिनिधि को तीन से अधिक प्रतिनिधियों की ओर से वोट देने का अधिकार न होगा। अनुपस्थित प्रतिनिधि अपनी ओर से वोट देने का अधिकार दो प्रतिनिधियों के बीच बांट सकता है। कोई भी अपने प्रतिनिधि को यह आदेश नहीं दे सकता कि वह अमुक प्रश्न पर अमुक मत दे। – (३६) केन्द्रीय समिति को यह अधिकार होगा कि पार्टी कांग्रेस में वह जिन साथियों की उपस्थिति उपयोगी समझती हो, उनको कांग्रेस में भाग लेने का निमंत्रण दे दे; लेकिन ऐसे साथियों को केवल बोलने का अधिकार होगा, वोट देने का नहीं। – (३७) कार्यक्रम या पार्टी की नियमावली में संशोधन करने के लिए कांग्रेस में उपस्थित प्रतिनिधियों के दो-तिहाई वोटों की आवश्यकता होगी; दूसरे सब सवाल साधारण बहुमत से तै हो सकते हैं। – (३८) पार्टी-कांग्रेस वैधानिक समझी जायेगी यदि उसमें कांग्रेस के समय तक काम करनेवाली आधी से अधिक पार्टी-समितियों के प्रतिनिधि मौजूद हों। – (३९) पार्टी-कांग्रेस हर दो साल में एक बार बुलायी जायेगी। [यदि किन्हीं ऐसे कारणों से जो केन्द्रीय समिति के वश में न हों कांग्रेस इस निश्चित समय के अन्दर न बुलायी जा सके तो केन्द्रीय समिति उसे अपनी ज़िम्मेदारी पर स्थगित कर देगी।"]

यदि किसी पाठक ने इस तथाकथित नियमावली को अंत तक पढ़ने का धैर्य दिखाया है, ऐसे पाठक बिरले ही होंगे, तो कम से कम वह मुझसे यह आशा नहीं करेगा कि मैं उसको यह बताऊं कि मैं किन ख़ास कारणों से नीचे लिखे

नतीजों पर पहुंचा हूं। पहला नतीजा: यह नियमावली प्रायः असाध्य जलंधर रोग से पीड़ित है। दूसरा नतीजा: इस नियमावली में संगठन-सम्बंधी किन्हीं ऐसे ख़ास तरह के विचारों का पता लगाना असम्भव है जो केन्द्रीयता की अतिशयता को नापसन्द करते हों। तीसरा नतीजा: अपनी नियमावली की ३६ धाराओं में से ३८ से ज़्यादा धाराओं को दुनिया की नज़रों से छिपाकर (और पार्टी कांग्रेस में उनपर बहस न होने देकर) कामरेड मार्तोव ने बहुत अक़्लमंदी का काम किया है। सिर्फ़ यह बात कुछ अजीब लगती है कि इतना सब कुछ छिपाने के बाद भी वह यह दावा करते हैं कि वह चेहरे पर नक़ाब डालकर पार्टी कांग्रेस के सामने नहीं आये थे।

झ) 'ईस्क्रा'-वादियों में फूट पड़ने **के पहले** केन्द्रीयता पर बहस

नियमावली की पहली धारा की स्थापना के सवाल पर विचार करने से पहले, जो सचमुच दिलचस्प सवाल है और जिससे निस्सन्देह अलग-अलग विचारधाराओं के अस्तित्व का पता चलता है, हम नियमावली की उस संक्षिप्त आम बहस पर थोड़ा और विचार कर लें जिसमें कांग्रेस की १४ वीं बैठक का पूरा वक़्त और १५ वीं बैठक का कुछ हिस्सा लगा था। यह बहस भी कुछ महत्व रखती है, क्योंकि यह केन्द्रीय संस्थाओं के चुनाव के सवाल पर 'ईस्क्रा' संगठन में एकदम फूट पड़ जाने से **पहले हुई थी**। नियमावली पर आम तौर से, और समितियों में नये सदस्य जोड़ने के सवाल पर ख़ास तौर से, जो बहस बाद में हुई वह 'ईस्क्रा' संगठन में फूट पड़ जाने के **बाद** हुई थी। स्वाभाविक है कि फूट से **पहले** हम अधिक निष्पक्षता के साथ अपने विचार प्रगट कर सकते थे, इस एतबार से कि उस समय तक हमारे विचार इस प्रश्न से अधिक स्वतंत्र थे कि केन्द्रीय समिति में कौन लोग चुने जायेंगे—और, यह एक ऐसा प्रश्न था जिसके बारे में हम सबके दिल में खलबली थी। जैसा कि मैं पहले ही बता चुका हूं, संगठन के मामले में कामरेड मार्तोव ने अपने को **मेरे विचारों का समर्थक** बताया था (पृष्ठ १५७), लेकिन साथ ही यह भी कहा था कि वह दो **विशिष्ट सवालों** पर मतभेद रखते हैं। इसके विपरीत 'ईस्क्रा'-विरोधी और "मध्य पक्ष" वाले

दोनों ही तुरन्त ही 'ईस्क्रा' की पूरी संगठन की योजना (और, फलस्वरूप, पूरी की पूरी नियमावली) के दो **बुनियादी** विचारों के विरुद्ध मैदान में आये: एक केन्द्रीयता के विरुद्ध और दूसरे "दो केन्द्रों" के विरुद्ध। कामरेड लाइबर ने मेरी नियमावली के बारे में कहा कि यह तो "संगठित अविश्वास" है और उनको दो केन्द्रों के सुझाव में **विकेन्द्रीकरण** दिखायी दिया (कामरेड पोपोव और कामरेड येगोरोव को भी उसमें यही दिखाई पड़ा)। कामरेड अकीमोव ने इच्छा प्रकट की कि स्थानीय समितियों को और अधिक व्यापक अधिकार दिये जायें और ख़ास तौर पर उनको "अपनी रचना में स्वयं परिवर्तन कर सकने का अधिकार दिया जाये"। "उनको अपने काम में अधिक स्वतंत्रता दी जानी चाहिए ... जिस प्रकार केन्द्रीय समिति रूस के सभी सक्रिय संगठनों के प्रतिनिधियों द्वारा चुनी जाती है, उसी प्रकार स्थानीय समितियां अपने-अपने स्थान के सक्रिय कार्यकर्ताओं द्वारा चुनी जानी चाहिए। और अगर इसकी भी इजाज़त नहीं दी जा सकती तो केन्द्रीय समिति स्थानीय समितियों में कितने सदस्यों को नियुक्त कर सकती है, इसकी कोई सीमा बांध दी जानी चाहिए ..." (पृष्ठ १५८)। जैसा कि आप देख सकते हैं, कामरेड अकीमोव ने "केन्द्रीयता की अतिशयता" के ख़िलाफ़ एक दलील पेश की। मगर कामरेड मार्तोव इन वज़नी दलीलों की तरफ़ से भी अपने कान उस वक़्त तक बन्द किये रहे, जब तक कि केन्द्रीय संस्थाओं की रचना के सवाल पर हार जाने के बाद वह अकीमोव के अनुयायी बन जाने के लिए तैयार नहीं हो गये। यहां तक कि जब कामरेड अकीमोव ने मार्तोव को ख़ुद **उनकी नियमावली का एक "मूल विचार"** सुझाया (७ वीं धारा जिसके द्वारा स्थानीय समितियों के सदस्यों को नियुक्त करने का केन्द्रीय समिति का अधिकार सीमित कर दिया गया था), तब भी मार्तोव ने उनकी बात को अनसुनी कर दिया! उस वक़्त तक कामरेड मार्तोव हम लोगों से "कलह" नहीं चाहते थे और इसलिए वह कामरेड अकीमोव से और ख़ुद अपने से "कलह" बर्दाश्त करने को तैयार थे ... उस वक़्त "दैत्याकार केन्द्रीयता" के विरोधी केवल वे ही लोग थे जिनके लिए 'ईस्क्रा' की केन्द्रीयता स्पष्टतः **अहितकर** थी: उसका विरोध किया अकीमोव, लाइबर और गोल्डब्लाट ने, जिनका बहुत संभल-संभल कर और बड़ी सतर्कता के साथ (ताकि ज़रूरत पड़ने पर फ़ौरन लौट सकें) **अनुकरण किया** येगोरोव आदि ने (देखिये पृष्ठ १५६ और २७६)। उस समय

तक पार्टी का प्रबल बहुमत बहुत अच्छी तरह यह बात समझता था कि बुंद, 'यूज्नी राबोची', आदि के संकुचित मण्डल-स्वार्थों के कारण ही केन्द्रीयता का विरोध किया जाता है। और सच तो यह है कि पार्टी का बहुमत आज भी यह बात समझता है कि पुराने 'ईस्क्रा' का सम्पादक-मण्डल अपने संकुचित मण्डल-स्वार्थों के कारण केन्द्रीयता का विरोध कर रहा है।

उदाहरण के लिए, कामरेड गोल्डब्लाट के भाषण को ले लीजिये (पृष्ठ १६०-१६१)। वह मेरी "दैत्याकार" केन्द्रीयता का विरोध करते हैं और उनका यह कहना है कि इससे नीचे के संगठन "नष्ट हो जायेंगे", कि उसकी "नस-नस में केन्द्र के हाथ में अनियंत्रित शक्तियां दे देने और किसी भी तरह की रोक-थाम के बग़ैर हर चीज़ में हस्तक्षेप करने का अधिकार दे देने की इच्छा भरी हुई है," कि उससे नीचे के संगठनों के हाथ में "केवल एक ही अधिकार रह जायेगा— वह है बिना किसी चीं-चपड़ के ऊपर से आये हुए हुक्म को बजा लाने का अधिकार" इत्यादि। उनका विचार है कि "मसौदे में जिस प्रकार के केन्द्र का सुझाव दिया गया है वह शून्य में काम करेगा, उसके इर्द-गिर्द कोई संगठन नहीं होंगे, बल्कि बिखरे हुए व्यक्तियों का एक समूह मात्र होगा जिसके बीच उसके कार्यवाहक घूमा करेंगे।" लेकिन कांग्रेस में हार जाने के बाद मार्तोव और अक्सेलरोद जैसे लोगों ने भी हमें ठीक इसी तरह की **झूठी लफ़्फ़ाज़ी** सुनायी थी। जब बुंद ने **हमारी** केन्द्रीयता का विरोध किया था और साथ ही खुद **अपनी** केन्द्रीय संस्था के हाथ में **और भी अधिक निश्चित रूप में** अनियंत्रित अधिकार रख छोड़े थे (मिसाल के लिए सदस्यों को भर्ती करने और निकालने और यहां तक कि कांग्रेस में प्रतिनिधियों को प्रवेश करने से रोक देने तक का अधिकार), तब लोग उस पर हंसे थे। और पूरे प्रश्न का अच्छी तरह विश्लेषण करने के बाद, लोग **अल्पमत** की चीख़-पुकार पर भी हंसेंगे, क्योंकि ये साथी जब अल्पमत में थे तब वे केन्द्रीयता और नियमावली के ख़िलाफ़ शोर मचाते थे, मगर अब चूंकि वे अपना बहुमत बनाने में कामयाब हो गये हैं इसलिए उन्होंने झट से नियमावली से फ़ायदा उठाना शुरू कर दिया है।

दो केन्द्रीय संस्थाओं के सवाल पर भी अलग-अलग दल साफ़ तौर पर देखे जा सकते थे। लाइबर, अकीमोव, पोपोव, और येगोरोव ने **सभी** 'ईस्क्रा'-वादियों का विरोध किया (अकीमोव ने वह राग छेड़ा जिसे आजकल अक्सेलरोद

और मार्तोव अलाप रहे हैं; उन्होंने कहा कि काउंसिल में केन्द्रीय समिति के मुक़ाबले में केन्द्रीय मुखपत्र का पलड़ा भारी हो गया है)। दो केन्द्रीय संस्थाओं की योजना संगठन-सम्बंधी उन विचारों का तर्कसंगत निष्कर्ष थी, जिनका **पुराना** 'ईस्क्रा' सदा से प्रचार करता आया था (और जिनका पोपोव और येगोरोव जैसे लोग भी **मौखिक रूप से** समर्थन कर चुके थे!)। **पुराने** 'ईस्क्रा' की नीति 'यूज्नी रावोची' की योजनाओं के बिल्कुल ख़िलाफ़ जाती थी। 'यूज्नी रावोची' की योजनाएं यह थीं कि केन्द्रीय मुखपत्र के मुक़ाबले में एक समानान्तर लोकप्रिय पत्र भी निकाला जाये और व्यवहार में उसे प्रधान मुखपत्र बना दिया जाये। इसी से यह असंगति पैदा हुई जो पहली नज़र में इतनी विचित्र मालूम होती थी कि 'ईस्क्रा'-वादियों के सभी विरोधी और पूरा का पूरा "दलदल" एक ही केन्द्रीय संस्था के, यानी **देखने में और भी अधिक केन्द्रीयता के पक्ष में** थे। ज़ाहिर है, कुछ ऐसे प्रतिनिधि भी थे (ख़ास तौर पर "दलदल" में) जो साफ़-साफ़ यह नहीं देख पाते थे कि 'यूज्नी रावोची' की संगठनात्मक योजनाओं का क्या परिणाम हो सकता है, और घटनाक्रम के अनुसार अनिवार्य रूप से होगा, मगर जो ख़ुद अपने दृढ़ताहीन चरित्र और आत्मविश्वास के अभाव के कारण 'ईस्क्रा'-विरोधियों के पीछे चल रहे थे।

नियमावली की **इस** बहस (यानी, 'ईस्क्रा'-वादियों में फूट पड़ने से पहले होनेवाली बहस) के दौरान में 'ईस्क्रा'-वादियों ने जो भाषण दिये उनमें विशेष रूप से महत्वपूर्ण कामरेड मार्तोव (इनके भाषण मेरे संगठनात्मक विचारों से "मेल खाते" थे) और कामरेड त्रोत्स्की के भाषण थे। कामरेड त्रोत्स्की ने कामरेड अकीमोव और कामरेड लाइबर को इस तरह जवाब दिया कि उनके उत्तर के एक-एक शब्द से "अल्पमत" का कांग्रेस के बाद का आचरण और उसके सिद्धान्त सरासर झूठे सिद्ध हो जाते हैं। कामरेड त्रोत्स्की ने कहा: "उन्होंने" (कामरेड अकीमोव ने) "कहा है कि नियमावली में काफ़ी स्पष्टता के साथ यह नहीं बताया गया है कि केन्द्रीय समिति के अधिकारों का क्षेत्र क्या है। मैं उनकी राय से सहमत नहीं हो सकता। इसके विपरीत, यह व्याख्या बहुत स्पष्ट और निश्चित है और उसका मतलब यह है कि पार्टी चूंकि एक इकाई है इसलिए स्थानीय समितियों पर उसका नियंत्रण रहना नितान्त आवश्यक है। कामरेड लाइबर ने, मेरे शब्दों का प्रयोग करते हुए कहा कि यह नियमावली 'संगठित अविश्वास'

है। यह बात सच है। लेकिन मैंने इन शब्दों का प्रयोग उस नियमावली के लिए किया था जिसे बुंद के प्रवक्ताओं ने पेश किया था और जो पूरी पार्टी के प्रति पार्टी के एक हिस्से के संगठित अविश्वास को व्यक्त करती थी। इसके विपरीत, हमारी नियमावली" (उस समय, केन्द्रीय संस्थाओं के चुनाव के सवाल पर हार होने के पहले नियमावली "हमारी" थी!) "पार्टी के सभी हिस्सों की तरफ़ पूरी पार्टी के संगठित अविश्वास की, यानी सभी स्थानीय, क्षेत्रीय, जातीय तथा अन्य संगठनों पर पार्टी के नियंत्रण की द्योतक है।" (पृष्ठ १५८) हां, **हमारी** नियमावली का **यहां** ठीक वर्णन किया गया है, और जो लोग अब बिना किसी संकोच के हमें आश्वस्त कर रहे हैं कि "संगठित अविश्वास" की योजना, या "घेरे की स्थिति" की योजना – जो एक ही चीज़ें हैं – षड्यंत्रकारी बहुमत के दिमाग़ की उपज है और उसी ने उसे जारी किया है, हम उनको सलाह देंगे कि वे इस बात को सदा अपने दिमाग़ में रखें। ऊपर जिस भाषण का उद्धरण हमने दिया है, उसकी विदेश-स्थित लीग की कांग्रेस में दिये गये भाषणों से तुलना भर करके देखिये, आपको मालूम हो जायेगा कि मार्तोव और उनके साथियों में राजनीतिक दृढ़ता का कितना घोर अभाव है, और यह कि इस बात के अनुसार कि विचाराधीन नीचे की संस्था उनकी अपनी है या किसी और की उनके विचार कितनी तेज़ी से बदलते हैं।

ट) नियमावली की पहली धारा

इस धारा की जिन अलग-अलग स्थापनाओं को लेकर कांग्रेस में एक दिलचस्प बहस हुई, उन्हें हम ऊपर बता चुके हैं। लगभग दो बैठकें इस बहस में गयीं और अन्त में **दो बार नाम पुकार-पुकार** कर वोट लिये गये (यदि मैं ग़लती नहीं कर रहा हूं तो पूरी कांग्रेस में कुल मिलाकर केवल आठ बार नाम पुकारकर वोट लिये गये थे; केवल बहुत महत्वपूर्ण सवालों पर ही इस तरह वोट लिये जाते थे, क्योंकि उसमें बहुत ज़्यादा समय लग जाता था)। विचाराधीन प्रश्न निस्सन्देह सिद्धान्त का था। कांग्रेस ने इस बहस में बहुत ज़्यादा दिलचस्पी दिखायी। **सभी** प्रतिनिधियों ने इस सवाल पर वोट दिया – जो (हर बड़ी कांग्रेस की तरह) हमारी कांग्रेस के लिए काफ़ी नायाब बात थी और जिससे भी यह बात साफ़

हो जाती है कि विभिन्न पक्षों के लोगों ने इस सवाल में कितनी ज़्यादा दिलचस्पी दिखायी।

आख़िर, विवाद-ग्रस्त प्रश्न का सार-तत्व क्या था? मैं कांग्रेस में भी यह बात कह चुका हूं और उसके बाद भी मैं बार-बार यह बात दुहरा चुका हूं कि "(पहली धारा को लेकर) हम लोगों के बीच जो मतभेद पैदा हो गया है, मैं उसको इतना महत्वपूर्ण कदापि नहीं समझता कि वह पार्टी के लिए जीवन और मृत्यु का प्रश्न बन जाये। नियमावली में एक अहितकर धारा की वजह से निश्चय ही हम लोग नष्ट नहीं हो जायेंगे!" (पृष्ठ २५०)* इस मतभेद से सिद्धान्तों की भिन्नता अवश्य प्रकट होती थी, मगर यदि बात इतनी ही होती तो उससे वह अनैक्य (और यदि बिना लाग-लपेट के बात कही जाये तो वह फूट) कभी न पैदा होता जो कांग्रेस के बाद पैदा हो गया। लेकिन हर **छोटा** मतभेद **बड़ा** मतभेद बन सकता है, यदि उस पर आग्रह किया जाये, यदि उसको सब चीज़ों से आगे रखा जाय, यदि लोग उस मतभेद की तमाम जड़ों और शाखाओं का पता लगाने में **लग जायें**। **हर छोटा** मतभेद **भारी** महत्व धारण कर सकता है, यदि वह निश्चित रूप से कुछ ग़लत विचारों की दिशा में एक **मोड़** की शुरुआत का काम दे और यदि, अन्य नये मतभेदों के कारण, इन ग़लत विचारों के साथ ऐसे **अराजकतावादी** काम भी जुड़ जायें जिनसे पार्टी फूट के कगार पर पहुंच जाती है।

इस छोटे से मतभेद के सिलसिले में भी ठीक यही बात थी, पहली धारा को लेकर जो अपेक्षाकृत महत्वहीन मतभेद पैदा हुआ था, उसने अब अत्यधिक महत्व धारण कर लिया है क्योंकि इसी के पैदा होते ही कुछ साथी अल्पमत की अवसरवादी गूढ़ता और अराजकतावादी लफ़्फ़ाज़ी की ओर मुड़ गये (ख़ास तौर पर लीग की कांग्रेस में, और बाद को नये 'ईस्क्रा' के स्तम्भों में)। यहीं से 'ईस्क्रा'-विरोधियों तथा "दलदल" के साथ 'ईस्क्रा'-वादी अल्पमत के उस संयुक्त मोर्चे की **शुरुआत हुई** जिसने अंत में चुनाव का समय आते-आते एक निश्चित रूप धारण कर लिया था और जिसको समझे बग़ैर उस बड़े और बुनियादी मतभेद को **समझना असम्भव है** जो केन्द्रीय संस्थाओं के चुनाव के सवाल

---

*देखिये, २ (१५) अगस्त १९०३ को रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में पार्टी की नियमावली से संबंधित बहस के दौरान में लेनिन का दूसरा भाषण।—सं०

पर सामने आया। पहली धारा के विषय में मार्तोव और अक्सेलरोद ने जो छोटी-सी ग़लती की थी, उसमे (जैसा कि मैंने लीग की कांग्रेस में कहा था) हमारी हांडी ज़रा-सी चिटक गयी थी। या तो हांडी को कसकर बांध दिया जाता और एक सख़्त **गिरह** लगा दी जाती (मगर फांसी के फंदे वाली गिरह नहीं, जैसा कि मार्तोव ने समझा जो कि लीग की कांग्रेस के दौरान भर अर्ध-विक्षिप्त अवस्था में रहे)। या **सब** लोग दरार को चौड़ा करने और हांडी के टुकड़े-टुकड़े कर देने में जुट जाते। उत्साही मार्तोववादियों ने बहिष्कार और इसी प्रकार के जिन अन्य अराजकतावादी उपायों का प्रयोग किया उनके परिणामस्वरूप हुआ भी यही। पहली धारा को लेकर जो मतभेद पैदा हुआ था उसका केन्द्रीय संस्थाओं के चुनाव में कम हाथ नहीं था। और इस सवाल पर मार्तोव की जो हार हुई, उसके फलस्वरूप उन्होंने एक "सैद्धांतिक संघर्ष" आरम्भ कर दिया जिसमें वह हद दर्जे के यांत्रिक और यहां तक कि बहुत ही आपत्तिजनक तरीक़ों का भी इस्तेमाल करने लगे (इसकी मिसाल 'विदेश-स्थित रूसी क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों की लीग' की कांग्रेस में उनके भाषण हैं)।

इन तमाम घटनाओं के बाद, अब पहली धारा के सवाल ने इस प्रकार **भारी महत्व** धारण कर लिया है और हमें साफ़ तौर पर समझना होगा कि इस धारा पर वोट लिये जाने के समय कांग्रेस में जो अलग-अलग दलबंदियां थीं उनकी शक्ल क्या थी, और—जो इससे कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण बात है—पहली धारा को लेकर जो **विभिन्न विचारधाराएं** व्यक्त हुईं या व्यक्त होने लगीं, उनका असली स्वरूप क्या था। **अब**, उन तमाम घटनाओं के बाद जिनसे पाठक परिचित हैं, सवाल इस तरह **पेश हुआ है** कि: क्या, जैसा कि मैंने पार्टी कांग्रेस में कहा था (पृष्ठ ३३३) यह बात सच है कि मार्तोव की स्थापना पर जिसका अक्सेलरोद ने समर्थन किया था, उनके (या दोनों के) ढुलमुलपन, अस्थिरता तथा राजनीतिक अस्पष्टता की, अथवा जैसा कि प्लेख़ानोव ने लीग की कांग्रेस में अनुमान लगाया था (लीग की कार्यवाही पृष्ठ १०२ और अन्य पृष्ठों पर), जोरेसवाद तथा अराजकतावाद की ओर मार्तोव के (या दोनों के) भटकाव की छाप थी, या क्या यह सच है कि मेरी स्थापना पर, जिसका प्लेख़ानोव ने समर्थन किया था, केन्द्रीयता की एक ग़लत, नौकरशाही, औपचारिकता-प्रेमी, पोम्पादूरवादी[178], ग़ैर-सामाजिक-जनवादी समझ की छाप थी? **अवसरवाद तथा अराजकतावाद, या**

नौकरशाही तथा दफ़्तरशाही की ? – अब, एक छोटे से मतभेद के बड़ा मतभेद बन जाने के बाद सवाल इस तरह **पेश हुआ है**। और मेरी स्थापना के **गुणों और अवगुणों** पर विचार करते समय हमें प्रश्न का ठीक **यही** रूप **ध्यान में रखना चाहिए**, जिसे पूरे घटना-चक्र ने हम सब पर लाद दिया है और जो, यदि बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण न मालूम पड़े तो मैं कहूं, ऐतिहासिक तौर पर विकसित किया हुआ रूप है।

इन गुणों-अवगुणों की समीक्षा हम कांग्रेस की बहस के विश्लेषण से आरम्भ करेंगे। पहला भाषण, कामरेड येगोरोव का, सिर्फ़ इसलिए दिलचस्पी का है कि उनका रुख़ (non liquet, अभी तक यह बात मेरे दिमाग़ में साफ़ नहीं है, मैं अभी तक नहीं जानता कि सचाई किस तरफ़ है) उन बहुत से प्रतिनिधियों के रुख़ को व्यक्त करता था जिनके लिए इस सचमुच एकदम नये और काफ़ी पेचीदा और विस्तृत सवाल के ग़लत और सही पहलुओं को समझना बहुत कठिन सिद्ध हो रहा था। अगले भाषण ने, जो कामरेड अक्सेलरोद का था, तुरन्त सिद्धान्त का सवाल खड़ा कर दिया। कांग्रेस में यह कामरेड अक्सेलरोद का पहला सैद्धांतिक भाषण था, बल्कि कहना चाहिए कि कांग्रेस में यह उनका एकदम पहला भाषण था, और यह दावा करना मुश्किल है कि कुविख्यात "प्रोफ़ेसर" के साथ उनका प्रथम प्रयास बहुत सफल रहा। कामरेड अक्सेलरोद ने कहा: "मैं समझता हूं कि हमें पार्टी तथा संगठन – इन दो अवधारणाओं में भेद करना चाहिए। यहां इन दो अवधारणाओं को एक में मिला दिया गया है। और यह गड़बड़ ख़तरनाक है।" यह मेरी स्थापना के ख़िलाफ़ पहली दलील थी। इस पर थोड़ी और गहराई से विचार कीजिये। जब मैं यह कहता हूं कि पार्टी को **संगठनों*** **का जोड़**

---

* "संगठन" शब्द का प्रयोग प्रायः दो अर्थों में होता है; उसका एक व्यापक अर्थ है और एक संकुचित अर्थ। संकुचित अर्थ में उसका मतलब है: लोगों के समूह का कोई प्राथमिक संगठन, भले ही वह कितना ही कम संगठित क्यों न हो। व्यापक अर्थ में उसका मतलब है: ऐसे संगठनों का जोड़ जहां विभिन्न संगठन जुड़कर एक इकाई बन गये हों। मिसाल के लिए, नौ-सेना, सेना, अथवा राज्य कुछ संगठनों (संकुचित अर्थ में) के जोड़ भी हैं और साथ ही वे विविध प्रकार के सामाजिक संगठन (व्यापक अर्थ में) भी हैं। शिक्षा-विभाग एक संगठन (व्यापक अर्थ में) है और उसमें बहुत-से अलग-अलग संगठन (संकुचित अर्थ में)

(केवल गणित वाला जोड़ नहीं, बल्कि एक जटिल जोड़) होना चाहिये, तब क्या उसका मतलब यह होता है कि मैं पार्टी और संगठन जैसी दो अलग-अलग अवधारणाओं को "एक में मिला देता" हूं? हरगिज़ नहीं! इन शब्दों के द्वारा तो मैं अपनी यह इच्छा, यह मांग, बहुत स्पष्ट और दो-टूक शब्दों में व्यक्त कर देता हूं कि वर्ग का अग्रदल होने के नाते पार्टी को यथासंभव अधिक से अधिक **संगठित** होना चाहिए और अपनी पांतों में पार्टी को केवल ऐसे तत्वों को भर्ती करना चाहिए जिनमें **कम से कम एक अल्पतम मात्रा में तो संगठित होने की क्षमता हो**। इसके विपरीत, मेरा विपक्षी पार्टी में संगठित और असंगठित तत्वों को साथ **जमा कर देता है**। जो लोग आदेश मानते हैं और जो नहीं मानते, जो आगे बढ़े हुए तत्व हैं और जो पिछड़े हुए तत्व हैं और सदा पिछड़े हुए ही रहेंगे – क्योंकि जो पिछड़े हुए हैं, मगर सुधर सकते हैं, उनको तो संगठन में शामिल किया जा सकता है – दोनों तरह के लोगों को वे एकसाथ पार्टी में इकट्ठा कर देना चाहते हैं। यह **गड़बड़** सचमुच **ख़तरनाक** है। इसके बाद कामरेड अक्सेलरोद ने "बीते हुए काल के एकदम गुप्त और केन्द्रीभूत संगठनों" ('ज़ेम्ल्या-इ-वोल्या' और 'नरोद्नाया वोल्या') का उदाहरण दिया: उन्होंने कहा कि इन संगठनों के इर्द-गिर्द "बहुत-से ऐसे लोग इकट्ठा हो गये थे जो संगठन में शामिल नहीं थे, मगर एक न एक ढंग से उसकी मदद किया करते थे और पार्टी के सदस्य समझे जाते थे ... सामाजिक-जनवादी संगठन में और भी सख़्ती के साथ इस सिद्धान्त का पालन होना चाहिए।" यहां पर हम प्रश्न के एक **मूल** पहलू पर पहुंच जाते हैं: क्या "यह सिद्धान्त" – जिसकी बदौलत ऐसे लोग भी अपने को पार्टी का सदस्य कहते हैं जो पार्टी के किसी संगठन के अंग नहीं होते और केवल "एक-न-एक ढंग से पार्टी की मदद करते हैं" – क्या यह सिद्धान्त एक सामाजिक-जनवादी

हैं। इसी प्रकार पार्टी एक संगठन (व्यापक अर्थ में) है और उसे संगठन **होना चाहिए**; इसके साथ ही पार्टी को बहुत-से अलग-अलग संगठनों (संकुचित अर्थ में) से मिलकर बनना चाहिए। इसलिए, जब कामरेड अक्सेलरोद ने पार्टी और संगठन – इन दो अवधारणाओं में भेद करने की बात कही थी, तब एक तो उन्होंने "संगठन" शब्द के व्यापक तथा संकुचित अर्थ के अन्तर को ध्यान में नहीं रखा था, और, दूसरे, वह यह भूल गये थे कि वह ख़ुद संगठित और असंगठित तत्वों को **साथ जमा किये दे रहे हैं।**

सिद्धान्त है? और प्लेख़ानोव ने इस प्रश्न का एकमात्र सम्भव उत्तर इन शब्दों में दिया: "उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक का उदाहरण ग़लत दिया गया है। उस समय एक सुसंगठित और सुदृढ़ अनुशासन में बंधा हुआ केन्द्र मौजूद था, उसके इर्द-गिर्द उसके पैदा किये हुए विभिन्न प्रकार के संगठन थे, और इन संगठनों के बाहर जो कुछ रह जाता था, वह अव्यवस्था और अराजकता थी। इस अव्यवस्था के संघटक तत्व अपने को पार्टी का सदस्य कहते थे, मगर इससे ध्येय को लाभ नहीं, बल्कि हानि ही होती थी। हमें आठवें दशक की अराजकता की नक़ल नहीं करनी चाहिए, बल्कि उससे बचना चाहिए।" इस प्रकार, जिसे कामरेड अक्सेलरोद एक सामाजिक-जनवादी "सिद्धान्त" बता कर पेश करना चाहते थे, वह वास्तव में एक **अराजकतावादी सिद्धान्त** है। इस तर्क का खण्डन करने के लिए आपको यह सिद्ध करना होगा कि संगठन के बाहर भी नियंत्रण, नेतृत्व और अनुशासन **सम्भव** हैं, और "अव्यवस्था के तत्वों" को पार्टी के सदस्य की उपाधि देना **आवश्यक** है। कामरेड मार्तोव की स्थापना के समर्थक **दोनों में से एक भी** बात नहीं सिद्ध कर सके और न कर सकते थे। कामरेड अक्सेलरोद ने एक "ऐसे प्रोफ़ेसर की मिसाल दी जो अपने को सामाजिक-जनवादी समझता है और कहता है"। इस उदाहरण में जो विचार निहित था उसे उसके तर्कसंगत परिणाम तक पहुंचाने के लिए कामरेड अक्सेलरोद को हमें यह और बताना चाहिए था कि क्या संगठित सामाजिक-जनवादी खुद भी इस प्रोफ़ेसर को सामाजिक-जनवादी समझते हैं? इस दूसरे प्रश्न को न उठाकर कामरेड अक्सेलरोद ने अपनी दलील को अधूरा ही छोड़ दिया। और सचमुच दो में से एक बात ही सम्भव है। या तो संगठित सामाजिक-जनवादी इस प्रोफ़ेसर को सामाजिक-जनवादी मानते हैं— और उस हालत में फिर वे इन प्रोफ़ेसर साहब को किसी सामाजिक-जनवादी संगठन में शामिल क्यों नहीं करते? क्योंकि इस प्रकार किसी संगठन में शामिल होने पर भी प्रोफ़ेसर साहब की "घोषणा" उनके अमल से मेल खा सकेगी और कोरी बकवास नहीं रह जायेगी (जैसी कि प्रोफ़ेसरों की घोषणाएं प्रायः रह जाती हैं)। और यदि संगठित सामाजिक-जनवादी लोग प्रोफ़ेसर महोदय को सामाजिक-जनवादी **नहीं** मानते, तो उस हालत में प्रोफ़ेसर साहब को पार्टी सदस्य जैसी सम्मानित और उत्तरदायित्वपूर्ण उपाधि का प्रयोग करने देना बेकार, निरर्थक और **हानिकारक** होगा। इसलिए, प्रश्न अन्त में यह रूप धारण कर लेता है कि

या तो संगठन के सिद्धान्त को सुसंगत ढंग से अमल में लाया जाये, या फिर फूट और अराजकता के आगे शीश नवाया जाये। हम पार्टी की रचना **सामाजिक-जनवादियों** के उस पहले से बनकर तैयार और गठे हुए संगठन के आधार पर करना चाहते हैं जिसने, मिसाल के लिए, पार्टी कांग्रेस संगठित की थी और जो आगे पार्टी के विभिन्न प्रकार के संगठनों को बनायेगा और बढ़ायेगा, या हम अपने को केवल इस सुखद वाक्य से संतुष्टकर लेना चाहते हैं कि जो भी मदद करता है, वही पार्टी का सदस्य है? कामरेड अक्सेलरोद ने आगे कहा: "अगर हम लेनिन की स्थापना अपनाते हैं तो हम ऐसे लोगों के एक हिस्से को उठाकर अलग फेंक देंगे, जो सीधे-सीधे संगठन के भाग न होते हुए भी पार्टी के सदस्य हैं।" कामरेड अक्सेलरोद मुझ पर आरोप लगाना चाहते थे कि मैंने दो भिन्न विचारों को एक में मिला दिया है; मगर यहां वह खुद साफ़-साफ़ यही गुनाह कर रहे हैं: वह पहले से ही यह मान लेते हैं कि जो भी मदद करता है वह पार्टी का सदस्य **है**, हालांकि पूरा झगड़ा इसी बात पर है और हमारे विरोधियों को अभी यह **साबित करना** बाक़ी है कि इस प्रकार की व्याख्या आवश्यक और उपयोगी है। और "उठाकर अलग फेंक देने" का क्या अर्थ है? पहली नज़र में तो यह सचमुच कोई बड़ी भयानक चीज़ मालूम होती है। यदि केवल उन्हीं संगठनों के सदस्य पार्टी के सदस्य माने जाते हैं जो पार्टी के संगठन समझे जाते हैं, तो भी जो वे लोग "सीधे-सीधे" पार्टी के किसी संगठन के सदस्य नहीं हो सकते, वे भी किसी ऐसे संगठन में काम कर सकते हैं जो पार्टी का संगठन न हो, मगर पार्टी से सम्बंधित हो। इसलिए, इस अर्थ में किसी को उठाकर अलग फेंकने का कोई सवाल नहीं है कि उसे काम करने से और आन्दोलन में भाग लेने से रोक दिया जायेगा। इसके विपरीत, **सच्चे** सामाजिक-जनवादियों से मिलकर बने पार्टी के संगठन जितने ही ज़्यादा मज़बूत होंगे और पार्टी के **भीतर** ढुलमुलपन और अस्थिरता जितनी ही कम होगी, पार्टी के इर्द-गिर्द रहनेवाले और उसके नेतृत्व में चलनेवाले मज़दूर **जनता** के तत्वों पर पार्टी का असर उतना ही अधिक व्यापक, बहुमुखी, गहरा और लाभदायक होगा। क्योंकि आख़िर पार्टी को, जो कि मज़दूर-वर्ग का अग्रदल है, पूरे वर्ग के साथ न गड़बड़ा देना चाहिए। और कामरेड अक्सेलरोद ठीक यही ग़लती करते हैं (जो हमारे अवसरवादी "अर्थवाद" की लाक्षणिकता है) जब वह यह कहते हैं कि: "सबसे

पहले, ज़ाहिर है, हम पार्टी के सबसे अधिक सक्रिय तत्वों का, क्रान्तिकारियों का संगठन बनायेंगे; लेकिन चूंकि हमारी पार्टी एक वर्ग की पार्टी है, इसलिए हमें यह एहतियात बरतना पड़ेगा कि कोई ऐसे लोग पार्टी के बाहर न छूट जायें जो कि शायद बहुत सक्रिय रूप से तो नहीं, पर सचेतन रूप से पार्टी का साथ देते हैं।" पहली बात तो यह है कि केवल क्रान्तिकारियों के संगठन ही नहीं, बल्कि पार्टी के संगठन माने जानेवाले मज़दूर-संगठनों की भी एक **पूरी संख्या** सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के सक्रिय तत्वों में गिनी जायेगी। दूसरे, इस तथ्य से कि हम एक वर्ग की पार्टी हैं, कैसे, किस दलील से यह निष्कर्ष निकलता है कि जो पार्टी में **शामिल** हैं, और जो पार्टी का **साथ देते** हैं, उनमें कोई भेद नहीं करना चाहिए? असलियत इसकी ठीक उलटी है: क्योंकि लोगों की चेतना और क्रियाशीलता का स्तर अलग-अलग होता है, ठीक इसीलिए यह ज़रूरी है कि पार्टी के साथ उनकी निकटता में भेद किया जाये। हम एक वर्ग की पार्टी हैं और इसलिए यह ज़रूरी है कि **लगभग पूरा वर्ग** (और युद्ध के समय, या गृह-युद्ध के काल में, पूरा वर्ग) हमारी पार्टी के नेतृत्व में चले और अधिक से अधिक घनिष्ठ रूप में पार्टी से सम्बद्ध रहे। मगर यदि कोई यह समझता है कि पूंजीवाद के रहते हुए कभी भी पूरा वर्ग, या लगभग पूरा वर्ग अपने अग्रदल की, अपनी सामाजिक-जनवादी पार्टी की, चेतना एवं क्रियाशीलता के स्तर तक पहुंच सकता है, तो यह केवल मनीलोववाद[179] और पुछल्लावाद है। आज तक कभी भी किसी विवेकपूर्ण सामाजिक-जनवादी ने इस बात में कोई सन्देह नहीं किया है कि पूंजीवाद के रहते हुए ट्रेड-यूनियन संगठन भी (जो ज़्यादा आदिम ढंग के संगठन होते हैं और पिछड़े हुए हिस्सों की समझ में ज़्यादा आसानी से आ जाते हैं) पूरे मज़दूर वर्ग को या लगभग पूरे मज़दूर वर्ग को अपने अन्दर नहीं समेट सकते। अग्रदल और उसकी ओर आकर्षित होनेवाले पूरे जन-समूह के बीच जो अन्तर है उसको भूल जाना, यह भूल जाना कि अग्रदल का सदा यह कर्तव्य होता है कि वह जन-समूह के अधिक से अधिक व्यापक हिस्सों को इस सबसे अधिक विकसित स्तर तक **उठाये**, इसका मतलब केवल अपने को धोखा देना है; इसका मतलब हमारे सामने जो काम हैं उनकी विशालता की ओर से आंखें मूंद लेना और इन कामों को संकुचित कर देना है। और जो लोग पार्टी का साथ देते हैं और जो पार्टी में शामिल हैं, या जो सचेतन तथा सक्रिय हैं और जो केवल मदद देते हैं, उनमें कोई भेद न

करना ठीक इसी तरह से आंखें मूंद लेना और इसी तरह से असलियत को भूल जाना है।

संगठनात्मक अस्पष्टता को **उचित ठहराने के लिए**, संगठन और विसर्जन को एक ही चीज़ सिद्ध करने को **उचित ठहराने के लिए** यह दलील देना कि हम एक वर्ग की पार्टी हैं, यह नदेज्दिन की ग़लती को दुहराना है जिसने "आन्दोलन की 'जड़ों' की 'गहराई' के दार्शनिक एवं सामाजिक-ऐतिहासिक प्रश्न को प्राविधिक एवं संगठनात्मक प्रश्न के साथ" मिला दिया था ('क्या करें?', पृष्ठ ९१)*। इस तरह कामरेड अक्सेलरोद ने अपनी पूरी निपुणता से जो विचारों की गड़बड़ पैदा की, उसको कामरेड मार्तोव की स्थापना के समर्थन में उनके बाद बोलनेवाले वक्ताओं ने दर्जनों बार दुहराया। मार्तोव ने कहा कि "पार्टी के सदस्य की उपाधि का जितना अधिक प्रसार होगा उतना ही अच्छा है," मगर उन्होंने यह नहीं बताया कि एक ऐसी **उपाधि** के प्रसार से क्या लाभ होगा जिसका वास्तविकता से कोई मेल नहीं है। क्या इस बात से इनकार किया जा सकता है कि पार्टी के जो सदस्य किसी संगठन के अंग नहीं हैं, उन पर नियंत्रण रखने की बात महज़ एक कोरी कल्पना है? और यदि किसी कोरी कल्पना का बहुत प्रसार हो जाये तो उससे लाभ नहीं, हानि ही होती है। मार्तोव ने कहा: "हमें तो ख़ुशी ही होगी यदि हर हड़ताली, हर प्रदर्शनकारी, अपने कामों की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुए, अपने को पार्टी का सदस्य घोषित कर सके।" (पृष्ठ २३९) क्या सचमुच बात ऐसी ही है? क्या सचमुच **हर हड़ताली** को **अपने को पार्टी का सदस्य घोषित कर देने** का अधिकार होना चाहिए? इस वक्तव्य में कामरेड मार्तोव ने, सामाजिक-जनवाद को महज़ हड़ताल कराने के स्तर पर **उतारकर**, अपनी ग़लती को बेतुकेपन की हद तक पहुंचा दिया है; और इस तरह वह केवल अकीमोव जैसे लोगों की दुःखद ग़लतियों को दुहरा रहे हैं। हमें ख़ुशी ही होगी यदि सामाजिक-जनवादी हर हड़ताल का नेतृत्व करने में कामयाब हों, क्योंकि सर्वहारा वर्ग के वर्ग-संघर्ष की प्रत्येक अभिव्यक्ति का नेतृत्व करना उनका तात्कालिक तथा निर्विवाद कर्तव्य है, और हड़तालें इस संघर्ष की सबसे गम्भीर और सबसे प्रबल अभिव्यक्ति हैं। लेकिन यदि हम संघर्ष के इस

---

*इस खंड का पृष्ठ २९८-३०१ देखिये। – सं०

प्राथमिक रूप को, जो कि अपनी प्रकृति से ही ट्रेड-यूनियनवादी रूप से अधिक कुछ नहीं है, और बहुमुखी तथा सचेतन सामाजिक-जनवादी संघर्ष को **एक ही चीज़ समझने लगेंगे**, तो यह हमारा पुछल्लावाद होगा। यदि हमने हर हड़ताली को "अपने को पार्टी का सदस्य घोषित करने" का अधिकार दिया तो हम अवसरवादी ढंग से एक **सरासर झूठी बात को वैध रूप देने** के दोषी होंगे, क्योंकि **अधिकतर हड़तालियों के बारे में** यह "घोषणा" **झूठी** होगी। यदि हम अपने को और दूसरों को यह विश्वास दिलाने की कोशिश करेंगे कि पूंजीवाद में "अशिक्षित" और अनिपुण मज़दूरों के व्यापक हिस्सों को जिस अन्तहीन फूट, दमन और कुंठा का अवश्यम्भावी रूप से शिकार होना पड़ता है, उसके बावजूद **हर हड़ताली** सामाजिक-जनवादी और सामाजिक-जनवादी पार्टी का सदस्य **हो** सकता है तो हम आत्म-प्रवंचना और दिवस-स्वप्नों से मन बहलाने की ग़लती करेंगे। "**हड़ताली**" वाली यही मिसाल हर हड़ताल का सामाजिक-जनवादी ढंग से नेतृत्व करने के **क्रान्तिकारी प्रयत्न** और उस **अवसरवादी लफ़्फ़ाज़ी** के अन्तर को एकदम स्पष्ट कर देती है, जो **हर** हड़ताली को पार्टी का सदस्य घोषित कर देती है। हमारी पार्टी इस माने में एक वर्ग की पार्टी है कि हम **व्यवहार में** लगभग पूरे मज़दूर वर्ग का, और यहां तक कि पूरे मज़दूर वर्ग का, सामाजिक-जनवादी ढंग से नेतृत्व करते हैं; लेकिन इससे यह नतीजा तो केवल अकीमोव जैसे लोग ही निकाल सकते हैं कि हमें **शब्दों में** पार्टी और वर्ग को एक ही चीज़ बना देना चाहिए।

इसी भाषण में कामरेड मार्तोव ने कहा कि "मैं षड्यंत्रकारी संगठन से नहीं डरता", मगर उसके बाद उन्होंने यह भी जोड़ दिया कि "मेरे लिए षड्यंत्रकारी संगठन का तभी कुछ अर्थ है जब वह एक व्यापक सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी सें घिरा हो।" (पृष्ठ २३९) अपने कथन में स्पष्टता लाने के लिए उन्हें कहना यह चाहिए था कि उनके लिए षड्यंत्रकारी संगठन का तभी कुछ अर्थ है जब वह एक व्यापक सामाजिक-जनवादी मज़दूर **आन्दोलन** से घिरा हो। और इस रूप में कामरेड मार्तोव की स्थापना से न सिर्फ़ किसी को मतभेद प्रकट करने की आवश्यकता न होती, बल्कि वह एक स्वयंसिद्ध सत्य बन जाती। मैं इस बात की चर्चा इसलिए कर रहा हूं कि बाद के वक्ताओं ने कामरेड मार्तोव के इस स्वयंसिद्ध सत्य को इस अत्यन्त **साधारण तथा अत्यन्त भोंड़े** तर्क में बदल दिया कि

लेनिन "पार्टी के सदस्यों की कुल संख्या को षड्यंत्रकारियों की कुल संख्या तक सीमित कर देना चाहता है"। कामरेड पोसादोव्स्की और कामरेड पोपोव दोनों ही इस नतीजे पर पहुंचे, जिसे सुननेवाला इस पर केवल मुसकरा सकता है, और जब मार्तिनोव और अकीमोव ने भी यही बात दुहरायी, तब एक अवसरवादी सूत्र के रूप में उसकी असलियत एकदम जाहिर हो गयी। आजकल कामरेड अक्सेलरोद पाठकों को नये सम्पादक-मण्डल के संगठन-सम्बन्धी नये विचारों से परिचित कराने के लिए इसी तर्क का नये 'ईस्क्रा' में प्रतिपादन कर रहे हैं। मैंने कांग्रेस में, उस पहली बैठक में ही जिसमें पहली धारा पर बहस हुई थी, यह कह दिया था कि हमारे विरोधी इस घटिया हथियार से फ़ायदा उठाना चाहते हैं, और इसलिए अपने भाषण में (पृष्ठ २४०) मैंने यह चेतावनी दी थी कि "हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि पार्टी संगठन में केवल पेशेवर क्रान्तिकारी ही होंगे। हमें बहुत ही संकुचित और गुप्त संगठनों से लेकर, बहुत व्यापक, स्वतंत्र और ढीले-ढाले संगठनों तक हर प्रकार, हर रूप और हर रंग के, अत्यन्त विविध संगठनों की आवश्यकता है।" यह एक ऐसा स्वतःस्पष्ट और निर्विवाद सत्य है कि मैंने उसकी बहुत चर्चा करना अनावश्यक समझा था। लेकिन, आज, जब हमें इतनी सारी बातों में पीछे घसीट लाया गया है, तब इस विषय के बारे में भी हमें कुछ "पिछले पाठ दुहराने पड़ेंगे"। यह करने के लिए मैं 'क्या करें?' और 'एक साथी के नाम पत्र' से कुछ अंश उद्धृत करूंगा।

"... अलेक्सेयेव व मिश्किन, ख़ाल्तूरिन व जेल्याबोव जैसे वीरों का मण्डल सच्चे तथा अत्यन्त व्यावहारिक अर्थ में राजनीतिक कार्यों को पूरा कर सकता है, और उसमें उन्हें पूरा करने की क्षमता इसीलिए उसी हद तक होती है जिस हद तक कि उनके ओजपूर्ण उपदेशों का अपने-आप जागृत होती हुई जनता पर प्रभाव पड़ता है और जिस हद तक उनके उबलते हुए जोश और क्रियाशीलता के प्रत्युत्तर तथा समर्थन में क्रान्तिकारी वर्ग में क्रियाशीलता आती है।"* सामाजिक-जनवादी **पार्टी** बनने के लिए हमारे वास्ते ज़रूरी है कि हम, ठीक इस **वर्ग** का **समर्थन** प्राप्त करें। ज़रूरत इस बात की नहीं है कि षड्यंत्रकारी संगठन पार्टी से घिरा हो – जैसा कि कामरेड मार्तोव सोचते हैं, बल्कि इस बात की है कि पार्टी क्रान्तिकारी

---

* इस खंड का पृष्ठ २८३ देखिये। – सं०

वर्ग से, सर्वहारा वर्ग से घिरी हों, और पार्टी में षड्यंत्रकारी तथा ग़ैर-षड्यंत्रकारी दोनों प्रकार के संगठन हों।

"... आर्थिक संघर्ष के लिए मज़दूरों को ट्रेड-यूनियनों में संगठित होना चाहिए। हर सामाजिक-जनवादी-मज़दूर को इन संगठनों की यथासम्भव सहायता करनी चाहिए और उनमें सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए ... परन्तु यह मांग करना क़तई हमारे हित में नहीं है कि केवल सामाजिक-जनवादियों को ही ट्रेड-यूनियनों का सदस्य होने के हक़ दिये जायें: इससे तो जनता पर हमारा असर कम ही होगा। ट्रेड-यूनियनों में उन सभी मज़दूरों को शामिल होने दीजिये जो मालिकों तथा सरकार के ख़िलाफ़ संघर्ष करने के लिए एक होने की आवश्यकता को महसूस करते हैं। यदि ट्रेड-यूनियन उन सभी लोगों की एकता स्थापित नहीं करेंगे जिनमें कम से कम यह प्राथमिक समझ पैदा हो चुकी है, और यदि वे बहुत **व्यापक ढंग** के संगठन नहीं बनेंगे तो वे अपने उद्देश्यों को कभी पूरा नहीं कर सकेंगे। और ये संगठन जितने ही अधिक व्यापक ढंग के होंगे, हमारा असर भी उन पर उतना ही अधिक व्यापक होगा – और यह असर केवल आर्थिक संघर्ष के 'स्वयं-स्फूर्त' विकास के कारण नहीं पैदा होगा, बल्कि वह ट्रेड-यूनियनों के समाजवादी सदस्यों की अपने साथियों को प्रभावित करने की प्रत्यक्ष और सचेतन कोशिशों का परिणाम भी होगा।" (पृष्ठ ८६)* और हां, ट्रेड-यूनियनों की मिसाल पहली धारा के विवादग्रस्त प्रश्न का मूल्यांकन करने के लिए विशेष महत्व रखती है। सामाजिक-जनवादियों में इस बात पर दो मत नहीं हो सकते कि इन यूनियनों को सामाजिक-जनवादी संगठनों के "नियंत्रण और निर्देशन" में काम करना **चाहिए**। लेकिन **इस आधार पर**, ट्रेड-यूनियनों के तमाम सदस्यों को अपने को सामाजिक-जनवादी पार्टी का सदस्य "घोषित" करने का हक़ दे देना, यह तो ज़ाहिर तौर पर बिल्कुल बेतुकी बात होगी और उससे एक दुहरा ख़तरा पैदा हो जायेगा: उससे एक तरफ़ तो ट्रेड-यूनियन आन्दोलन के आकार को **संकुचित कर देने** और इस प्रकार मज़दूरों की एकता को कमज़ोर कर देने का ख़तरा पैदा हो जायेगा; और दूसरी तरफ़ सामाजिक-जनवादी पार्टी के दरवाज़े अस्पष्टता और ढुलमुलपन के लिए खोल देने का ख़तरा पैदा हो जायेगा। जर्मन सामाजिक-

---

*इस खंड का पृष्ठ २९२ देखिये। – सं०

जनवादियों को इसी तरह की एक समस्या को व्यावहारिक रूप से हल करना पड़ा था, हमारा मतलब पीस-रेट पर काम करनेवाले हैम्बर्ग के राजगीरों वाले प्रख्यात मामले से है[180]। वहां सामाजिक-जनवादियों ने एक क्षण के लिए भी यह ऐलान करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखलायी कि सामाजिक-जनवादी हड़ताल तोड़ना कलंक की बात समझते हैं, यानी यह स्वीकार करने में उन्होंने कोई देर नहीं की कि हड़तालों का संचालन करना और उनमें मदद देना **उनका** ज़रूरी कर्तव्य है। लेकिन इसके साथ-साथ उन्होंने उतनी ही दृढ़ता के साथ यह मांग ठुकरा दी कि ट्रेड-यूनियनों के हितों को पार्टी के हित समझा जाये और हर अलग-अलग ट्रेड-यूनियन के हरेक काम की **ज़िम्मेदारी पार्टी के मत्थे मढ़ी जाये**। ट्रेड-यूनियनों में अपनी भावना भरने और उनको अपने प्रभाव में लाने की पार्टी को कोशिश करनी चाहिए और वह यह कोशिश करेगी, लेकिन ट्रेड-यूनियनों को अपने असर में लाने के लिए ही यह ज़रूरी है कि वह इन यूनियनों के पूर्णतया सामाजिक-जनवादी तत्वों में (जो तत्व सामाजिक-जनवादी पार्टी में शामिल हैं) और उन तत्वों में भेद करे जो पूरी तरह सचेतन और राजनीतिक तौर पर पूरी तरह सक्रिय नहीं हैं और इन दो प्रकार के तत्वों को एक न समझ बैठें, जैसा कि कामरेड अक्सेलरोद चाहते हैं।

"यदि बहुत ही गुप्त कामों को क्रान्तिकारियों के एक संगठन के हाथों में केन्द्रित कर दिया गया तो इससे ऐसे अनेक अन्य संगठनों के कार्य के विस्तार और गुण में कोई कमी नहीं आयेगी, बल्कि इसके विपरीत उसमें बढ़ती ही होगी, जो आम जनता के लिए होते हैं और इसलिए ज़्यादा से ज़्यादा ढीले होते हैं और यथासम्भव कम गुप्त होते हैं, जैसे मज़दूरों के ट्रेड-यूनियन, मज़दूरों के आत्म-शिक्षा मण्डल, ग़ैर-कानूनी साहित्य पढ़नेवाले मण्डल, समाज के अन्य **तमाम** वर्गों में काम करनेवाले समाजवादी मण्डल और जनवादी मण्डल भी, इत्यादि, इत्यादि। ऐसे मण्डलों, ट्रेड-यूनियनों और संगठनों को हर जगह और **बड़ी से बड़ी** संख्या में होना चाहिए और उन्हें तरह-तरह के काम करने चाहिए। पर इन संगठनों को और **क्रान्तिकारियों** के संगठनों को **एक चीज़ समझना**, उनके बीच जो फ़र्क़ है उसको मिटा देना ... बेतुकी और ख़तरनाक बात है।" (पृष्ठ ६६)* इस उद्धरण

---

*इस खंड का पृष्ठ ३०७ देखिये। – सं०

से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कामरेड मार्तोव के लिए मुझे यह याद दिलाने की क़तई कोई आवश्यकता नहीं थी कि क्रान्तिकारियों के संगठन को मज़दूरों के व्यापक संगठनों से **घिरा** होना चाहिए। 'क्या करें?' में मैं यह बात पहले ही बता चुका था और 'एक साथी के नाम पत्र' में मैंने इस विचार को और ठोस रूप दिया था। उसमें मैंने लिखा था कि कारख़ानों के मण्डल "हमारे लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं; क्योंकि आख़िर हमारे आन्दोलन की मुख्य शक्ति **बड़े-बड़े** कारख़ानों के मज़दूरों के संगठन में निहित होती है, बड़े कारख़ानों (और मिलों) में मज़दूरों का प्रमुख भाग काम करता है, केवल संख्या की ही दृष्टि से प्रमुख नहीं बल्कि इससे भी बढ़कर प्रभाव, विकास और संघर्ष की क्षमता की दृष्टि से। हर कारख़ाना हमारा क़िला होना चाहिए ... कारख़ाने की उपसमिति को कोशिश करनी चाहिए कि तरह-तरह के मण्डलों (अथवा अभिकर्ताओं) की एक विस्तृत व्यवस्था द्वारा वह पूरे कारख़ाने में, यथासंभव ज़्यादा से ज़्यादा मज़दूरों तक पहुंच जाये ... तमाम दलों, मण्डलों, उपसमितियों, आदि की हैसियत समितीय संस्थाओं अथवा समिति की शाखाओं की होनी चाहिए। इनमें से कुछ खुले आम रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में शामिल होने की इच्छा का ऐलान करेंगी, और अगर समिति **उनकी दरख़ास्त मान लेती** है तो वे (समिति की हिदायतों के मुताबिक, या उसकी रज़ामन्दी से) पार्टी में शामिल हो जायेंगी। वे कुछ निश्चित कामों की ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ले लेंगी, और पार्टी-समितियों के आदेश मानने का वादा करेंगी, **उनको सब पार्टी सदस्यों के समान अधिकार प्राप्त होंगे**, और उनको फ़ौरन समिति की सदस्यता के लिए उम्मीदवार समझा जाने लगेगा; इत्यादि। दूसरे दल, मण्डल या उपसमितियां रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में **शामिल नहीं होंगी**, और उनकी हैसियत पार्टी के सदस्यों द्वारा बनाये गये अथवा किसी न किसी पार्टी-दल से सम्बंधित मण्डलों की होगी, इत्यादि।" (पृष्ठ १७-१८)* जिन शब्दों पर मैंने ज़ोर दिया, उनसे ख़ास तौर पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पहली धारा की अपनी स्थापना के **मूल विचार** को मैं 'एक साथी के नाम पत्र' में पहले ही पूरी तौर पर व्यक्त कर

---

*देखिये लेनिन का 'हमारे संगठनात्मक कार्यों के संबंध में एक साथी के नाम पत्र' शीर्षक लेख। – सं०

चुका था। उसमें पार्टी में भर्ती होने की शर्तें साफ़ शब्दों में बतायी गयी थीं; अर्थात्: (१) एक ख़ास हद तक संगठन का होना और (२) किसी पार्टी-समिति की मंजूरी। इसके एक पृष्ठ बाद मैंने मोटे तौर पर यह भी बता दिया था कि कौनसे दल और संगठन पार्टी में भर्ती किये जाने चाहिए (और कौनसे नहीं) और उसके कारण भी मैंने स्पष्ट कर दिये थे। मैंने कहा था: "साहित्य बांटनेवाले दलों को रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में शामिल होना चाहिए और उन्हें उसके कुछ सदस्यों तथा पदाधिकारियों से परिचित होना चाहिए। मज़दूरों की हालत की जांच करने और ट्रेड-यूनियन की मांगें तैयार करने के लिए बनाये गये दल के लिए रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में शामिल होना ज़रूरी नहीं है। पार्टी के एक या दो सदस्यों **के साथ** आत्म-शिक्षा में लगे हुए विद्यार्थियों, अफ़सरों या दफ़्तर के बाबुओं के दल को तो कभी-कभी यह भी नहीं मालूम होना चाहिए कि ये साथी पार्टी के सदस्य हैं, इत्यादि।" (पृष्ठ १८-१९)

"खुले नक़ाब" सम्बन्धी सामग्री की एक मिसाल और लीजिये। जबकि कामरेड मार्तोव का मसौदा पार्टी और संगठनों के सम्बंधों के प्रश्न को छूता तक नहीं है, मैंने कांग्रेस को लगभग एक बरस पहले ही बता दिया था कि कुछ संगठनों को पार्टी में शामिल होना चाहिए और कुछ को नहीं। कांग्रेस में मैंने जिस विचार का प्रतिपादन किया, उसकी स्पष्ट रूपरेखा 'एक साथी के नाम पत्र' में पहले ही मैंने दे दी थी। इस पूरे मसले को और भी ठोस रूप में इस तरह पेश किया जा सकता है। आम तौर पर इस बात का ख़याल रखते हुए कि संगठन कितना व्यवस्थित है और, ख़ास तौर पर इस बात का ख़याल रखते हुए कि संगठन को कितना गुप्त रहना है, मोटे तौर पर इतनी तरह के संगठन हो सकते हैं: (१) क्रान्तिकारियों के संगठन; (२) मज़दूरों के यथासंभव व्यापकतम तथा विविधतम संगठन (यहां मैंने अपने को मज़दूर वर्ग तक सीमित रखा है, यह बात तो ज़ाहिर है कि कुछ परिस्थितियों में दूसरे वर्गों के कुछ तत्व भी इन संगठनों में शामिल होंगे)। उपरोक्त दो प्रकार के संगठनों के मिलने से पार्टी बनती है। इनके अलावा, (३) पार्टी से सम्बंधित मज़दूरों के संगठन होंगे; (४) मज़दूरों के ऐसे संगठन जो पार्टी से सम्बंधित तो नहीं हैं, मगर जो व्यवहार में पार्टी के नियंत्रण तथा निर्देशन में काम करते हैं, और (५) मज़दूर वर्ग के असंगठित तत्व, जो कम से कम वर्ग-संघर्ष की बड़ी-बड़ी अभिव्यक्तियों के काल में आंशिक रूप से सामाजिक-जनवादी

पार्टी के निर्देशन में काम करने लगते हैं। मेरी दृष्टि से, समस्या का मोटे तौर पर यह रूप है। इसके विपरीत, कामरेड मार्तोव की दृष्टि से पार्टी की सीमा-रेखा सदा बिल्कुल अस्पष्ट रहती है, क्योंकि "हर हड़ताली अपने को पार्टी सदस्य घोषित कर सकता है"। इस अस्पष्टता से हमें क्या मिलता है? एक बहु-प्रचलित "उपाधि"। उससे नुक़सान यह होता है कि हम **संगठन को छिन्न-भिन्न करनेवाले** एक विचार के, यानी वर्ग और पार्टी को एक ही चीज़ समझने के, शिकार हो जाते हैं।

ऊपर हमने जो साधारण स्थापनाएं की हैं, उनके प्रमाण में पहली धारा पर कांग्रेस में बाद को जो बहस हुई, उसपर हम एक सरसरी नज़र डालेंगे। कामरेड ब्रूकर ने मेरी स्थापना का समर्थन किया (और इससे कामरेड मार्तोव को बहुत संतोष हुआ), लेकिन ऐसा लगता है कि मेरे साथ **उनके** संयुक्त मोर्चे में और मार्तोव के साथ कामरेड अकीमोव के संयुक्त मोर्चे में यह भेद था कि मेरे साथ ब्रूकर का संयुक्त मोर्चा एक ग़लतफ़हमी पर आधारित था। कामरेड ब्रूकर "न तो पूरी नियमावली से सहमत थे और न उसकी पूरी भावना को सही समझते थे" (पृष्ठ २३९)। वह मेरी स्थापना का इसलिए समर्थन करते थे कि 'राबोचेये देलो' के समर्थक जिस प्रकार का जनवाद चाहते हैं, कामरेड ब्रूकर की राय में मेरी स्थापना उस प्रकार के **जनवाद का आधार** बन सकती थी। कामरेड ब्रूकर उस समय तक इस मत को नहीं स्वीकार कर पाये थे कि राजनीतिक संघर्ष में कभी-कभी **कम बुरी चीज़** को चुनना ज़रूरी हो जाता है; कामरेड ब्रूकर यह नहीं समझ पाये थे कि हमारी जैसी कांग्रेस में जनवाद का प्रचार करना बेकार था। कामरेड अकीमोव ने अधिक सूक्ष्म बुद्धि का परिचय दिया। उन्होंने बिल्कुल सही ढंग से सवाल को पेश किया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि "कामरेड मार्तोव और कामरेड लेनिन में विवाद इस बात पर है कि उनके समान उद्देश्य की पूर्ति किस (स्थापना) से सबसे अच्छे ढंग से होगी।" (पृष्ठ २५२) "मगर", उन्होंने आगे कहा, "ब्रूकर और मैं वह स्थापना चुनना चाहते हैं जिससे **इस उद्देश्य की पूर्ति में सबसे कम सहायता मिलेगी**। इस दृष्टि से मैं मार्तोव की स्थापना का समर्थन करता हूं।" और कामरेड अकीमोव ने साफ़-साफ़ कहा कि उनकी राय में "इन लोगों का जो उद्देश्य है" (यानी, प्लेख़ानोव, मार्तोव और मेरा जो उद्देश्य है – अर्थात् क्रान्तिकारियों का एक ऐसा संगठन बनाना जो पूरे आन्दोलन

का निर्देशन करे) "वही अव्यवहारिक और हानिकारक" है; कामरेड मार्तिनोव* की भांति उन्होंने भी "अर्थवादियों" के इस विचार का समर्थन किया कि "क्रान्तिकारियों का संगठन" अनावश्यक है। उनका "यह दृढ़ विश्वास था कि जीवन की वास्तविकताओं का मार्ग चाहे मार्तोव की स्थापना से रोका जाये और चाहे लेनिन की स्थापना से, अन्त में वे समस्त बाधाओं को मार्ग से हटाकर हमारे पार्टी संगठन में घुस ही आयेंगी।" "जीवन की वास्तविकताओं" की यह "पुछल्लावादी" अवधारणा यदि कामरेड मार्तोव के मन में न होती तो उसपर समय ख़र्च करना व्यर्थ होता। कामरेड मार्तोव का दूसरा भाषण (पृष्ठ २४५) आम तौर पर इतना दिलचस्प है कि उसपर विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

कामरेड मार्तोव की पहली दलील यह थी कि पार्टी के ऐसे सदस्यों पर, जो किसी पार्टी संगठन के अंग नहीं हैं, इन संगठनों का नियंत्रण रखना "व्यावहारिक है, क्योंकि किसी भी आदमी को कोई काम देने के बाद समिति उसपर निगाह रख सकती है।" (पृष्ठ २४५) यह स्थापना बहुत मार्के की है, क्योंकि उससे – यदि मुझे इन शब्दों का प्रयोग करने की अनुमति हो तो – "यह भेद खुल जाता है" कि मार्तोव की इस स्थापना की **किसको** आवश्यकता है और **असल में** उससे किसको मदद मिलेगी – स्वच्छंद बुद्धिजीवियों को या मज़दूर दलों

---

*परन्तु कामरेड मार्तिनोव कामरेड अकीमोव और अपने बीच एक अन्तर दिखाना चाहते थे; वह यह बताना चाहते थे कि षड्यंत्रकारी का अर्थ गुप्त नहीं होता और इन दो शब्दों के पीछे दो अलग-अलग अवधारणाएं छिपी हुई हैं। मगर षड्यंत्रकारी और गुप्त में क्या अन्तर है, यह न तो कामरेड मार्तिनोव ने स्पष्ट किया और न ही कामरेड अक्सेल्रोद ने, जो कि अब मार्तिनोव के क़दमों पर चल रहे हैं। कामरेड मार्तिनोव ने यह "साबित करने" की कोशिश की कि मैंने – मिसाल के लिए 'क्या करें?' में (या 'कार्य' में) (देखिये 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के कार्य' शीर्षक लेख। – सं०) यह स्पष्ट घोषणा नहीं की थी कि मैं "राजनीतिक संघर्ष को षड्यंत्र तक **सीमित कर देने**" का विरोधी हूं। कामरेड मार्तिनोव इस कोशिश में थे कि उनका भाषण सुननेवाले यह बात **भूल जायें** कि जिन लोगों का मैं विरोध कर रहा था, वे उसी प्रकार **क्रांतिकारियों के संगठन** की कोई आवश्यकता **नहीं देखते थे**, जिस प्रकार अब कामरेड अकीमोव नहीं समझते।

तथा मज़दूर जनता को। सच बात तो यह है कि मार्तोव की स्थापना के दो अर्थ लगाये जा सकते हैं: (१) यह कि जो कोई भी पार्टी के किसी संगठन के निर्देशन में नियमित रूप से पार्टी की वैयक्तिक सहायता करता है, उसे यह अधिकार है कि वह (कामरेड मार्तोव के अपने शब्दों में) **"अपने को"** पार्टी का सदस्य **"घोषित कर दे"**, और (२) यह कि हर पार्टी-संगठन को यह **अधिकार** है कि जो कोई भी उसके निर्देशन में नियमित रूप से उसकी वैयक्तिक सहायता करता है, वह उसे पार्टी का सदस्य **मान ले**। इनमें से केवल पहला अर्थ ही "हर हड़ताली" को अपने को पार्टी का सदस्य घोषित करने का अवसर देता है, और इसलिए **केवल वही** तुरन्त लाइबर, अकीमोव और मार्तिनोव जैसे लोगों को भा गया। लेकिन, ज़ाहिर है कि मार्तोव की स्थापना का यह अर्थ शब्दाडम्बर मात्र है, क्योंकि वह पूरे मज़दूर वर्ग पर लागू होगा और पार्टी तथा वर्ग के बीच जो अन्तर है वह सब मिट जायेगा, "हर हड़ताली" को अपने नियंत्रण और निर्देशन में रखने की बात केवल "प्रतीकात्मक" ढंग से ही की जा सकती है। इसीलिए, अपने दूसरे भाषण में कामरेड मार्तोव झट से खिसककर इस दूसरी व्याख्या पर पहुंच गये (हालांकि, हम लगे हाथों यह भी बता दें, **कांग्रेस** ने कोस्तिच के प्रस्ताव[181] को अस्वीकार करके इस व्याख्या को **प्रत्यक्ष रूप से ठुकरा दिया था** – पृष्ठ २५५) कि समिति लोगों को काम देगी और इसपर नज़र रखेगी कि वे काम कैसे पूरे किये जा रहे हैं। ज़ाहिर है कि इस तरह के ख़ास कामों की ज़िम्मेदारी कभी **आम** मज़दूरों को, या **हज़ारों** सर्वहारा को नहीं दी जायेगी (जिनकी कामरेड अक्सेल्रोद और कामरेड मार्तिनोव ने चर्चा की थी)। ऐसे कामों की ज़िम्मेदारी बहुधा उन **प्रोफ़ेसरों** को दी जायेगी जिनका कामरेड अक्सेल्रोद ने ज़िक्र किया था, उन **हाई स्कूलों के उन विद्यार्थियों** को दी जायेगी जिनकी कामरेड लाइबर और कामरेड पोपोव को इतनी चिन्ता थी (पृष्ठ २४१) और उन **क्रान्तिकारी युवकों** को दी जायेंगी जिनकी चर्चा कामरेड अक्सेल्रोद ने अपने दूसरे भाषण में की थी (पृष्ठ २४२)। सारांश यह कि कामरेड मार्तोव की स्थापना या तो महज़ कागज़ पर एक अर्थहीन वाक्य रह जायेगी, या उससे मुख्यतया और सम्भवत: केवल "**उन बुद्धिजीवियों को**" लाभ होगा जिनमें "**पूंजीवादी व्यक्तिवाद कूट-कूट कर भरा हुआ है**" और जो संगठन में शामिल होना नहीं चाहते। मार्तोव की स्थापना, **ऊपर से देखने में** सर्वहारा वर्ग के व्यापक हिस्सों के हितों की रक्षा करती है, मगर, **असल में**,

उससे उन **पूंजीवादी बुद्धिजीवियों** का हित-साधन होता है जो सर्वहारा वर्ग के अनुशासन और संगठन से घबराते हैं। इस बात से इनकार करने का ज़िम्मा कोई नहीं लेगा कि आधुनिक पूंजीवादी समाज के **एक अलग हिस्से के रूप में बुद्धिजीवियों** की आम तौर पर ठीक **यही** मुख्य विशेषता होती है कि उनमें **व्यक्तिवाद** होता है और संगठन और अनुशासन में चलने की क्षमता नहीं होती (मिसाल के लिए, बुद्धिजीवियों के सम्बंध में काउत्स्की के प्रसिद्ध लेखों को देखिये)। और हां, यह बुद्धिजीवियों का एक ऐसा गुण है जो समाज की इस कोटि को मज़दूर वर्ग की तुलना में नीचे गिरा देता है; सर्वहारा वर्ग को बुद्धिजीवी में अक्सर जो ढीलापन और अस्थिरता दिखाई देती है, उसका एक यह कारण भी है; और बुद्धिजीवियों की इस मनोवृत्ति का उनकी आम जीवन-पद्धति से, उनके जीविका कमाने के ढंग से गहरा सम्बंध है, जो बहुत-सी बातों में **जीवन की निम्नपूंजीवादी पद्धति से** मिलता-जुलता है (हर व्यक्ति का अलग-अलग या छोटे-छोटे समूहों में काम करना, आदि)। अन्त में यह कोई संयोग की बात नहीं है कि कामरेड मार्तोव् की स्थापना के समर्थक वे लोग थे जिनको बार-बार प्रोफ़ेसरों और हाई स्कूल के विद्यार्थियों की मिसाल देनी पड़ती थी! पहली धारा वाले झगड़े में, उग्र षड्यंत्रकारी संगठन के समर्थकों के खिलाफ़ सर्वहारा वर्ग के व्यापक संघर्ष के समर्थक मैदान में नहीं उतरे थे, जैसा कि कामरेड मार्तिनोव और कामरेड अक्सेल्रोद समझते थे, बल्कि **पूंजीवादी बुद्धिजीवियों के व्यक्तिवाद** के समर्थक **सर्वहारा वर्ग के संगठन तथा अनुशासन** के समर्थकों से टकराये थे।

कामरेड पोपोव ने कहा: "पीटर्सबर्ग में हो या निकोलायेव में, या ओदेस्सा में, हर जगह, जैसा कि इन शहरों के प्रतिनिधि बताते हैं, दर्जनों ऐसे मज़दूर हैं जो साहित्य बांटते हैं और ज़बानी प्रचार करते हैं, मगर जो किसी संगठन के सदस्य नहीं हो सकते। उनको किसी संगठन के सुपुर्द तो किया जा सकता है, मगर उनको सदस्य नहीं माना जा सकता।" (पृष्ठ २४१) ये मज़दूर किसी संगठन के सदस्य क्यों नहीं हो सकते, यह रहस्य कामरेड पोपोव के मन में ही छिपा रह गया। मैं 'एक साथी के नाम पत्र' का वह अंश ऊपर उद्धृत कर चुका हूं जिसमें यह बताया गया था कि ऐसे तमाम मज़दूरों को (दर्जनों की नहीं,

सैकड़ों की संख्या में) किसी न किसी संगठन में भर्ती करना सम्भव भी है और आवश्यक भी, और इसके अलावा, इनमें से बहुत से संगठनों को पार्टी में भर्ती किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।

कामरेड मार्तोव की दूसरी दलील यह थी कि: "लेनिन की राय में पार्टी के अन्दर पार्टी-संगठनों के सिवा और कोई संगठन नहीं होने चाहिए ..." बिल्कुल ठीक बात है!.. "मेरी राय में, इसके विपरीत, ऐसे संगठन भी होने चाहिए। जीवन जिस तेज़ी से तरह-तरह के संगठनों को जन्म देता है, उस तेज़ी से हम उनको पेशेवर क्रान्तिकारियों के अपने लड़ाकू संगठन के पद-सोपान में शामिल नहीं कर सकते"... यह बात दो एतबार से झूठ है: (१) जहां तक क्रान्तिकारियों के कारगर संगठनों का सम्बन्ध है, जितने संगठनों की हमें और मज़दूर-आन्दोलन को ज़रूरत है, "जीवन" उससे कहीं कम संगठनों को जन्म देता है; (२) हमारी पार्टी में न सिर्फ़ सीढ़ी दर सीढ़ी क्रान्तिकारियों के संगठन होने चाहिए, बल्कि मज़दूरों के संगठन भी एक विशाल संख्या में होने चाहिए ... "लेनिन का विचार है कि केन्द्रीय समिति केवल ऐसे संगठनों को ही पार्टी संगठन की उपाधि देगी जिनपर सिद्धान्त के मामले में पूरा-पूरा भरोसा किया जा सकता है। लेकिन कामरेड ब्रूकर अच्छी तरह जानते हैं कि जीवन" (जी हां!) "की मांग पूरी हो कर रहती है और यह सोच कर कि बहुत से संगठन पार्टी के बाहर न रह जायें, केन्द्रीय समिति को अनेक ऐसे संगठनों को भी मान्यता दे देनी पड़ेगी जिनपर पूरी तरह भरोसा नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि कामरेड ब्रूकर लेनिन का साथ दे रहे हैं"... यह भी "जीवन" की कितनी पुछल्लावादी समझ है! ज़ाहिर है, यदि केन्द्रीय समिति में **केवल ऐसे ही** लोग होंगे जो अपने मत से नहीं चलते, बल्कि सदा यह सोचते रहते हैं कि दूसरे क्या कहेंगे (संगठन-समिति वाली घटना को ले लीजिये) तब तो अवश्य "जीवन" की मांग इस माने में "पूरी होकर रहेगी" कि पार्टी के सबसे पिछड़े हुए तत्वों का बोलबाला हो जायेगा **(जैसा कि आजकल हो गया है जबकि पिछड़े हुए तत्व पार्टी का "अल्पमत" कहलाते हैं)**। लेकिन एक **समझदार** केन्द्रीय समिति के लिए इसका कोई **विवेकपूर्ण** कारण नहीं हो सकता कि वह ऐसे तत्वों को भी पार्टी में भर्ती कर ले "जिनपर भरोसा नहीं किया जा सकता"। उस "जीवन" की चर्चा करके जो अविश्वसनीय तत्वों को "जन्म देता" है, कामरेड मार्तोव ने अपनी संगठन

योजना के अवसरवादी स्वरूप को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया!..आगे उन्होंने कहा: "लेकिन मेरा विचार है कि यदि कोई ऐसा संगठन" (जिसपर पूरी तरह भरोसा नहीं किया जा सकता) "पार्टी का कार्यक्रम और पार्टी का नियंत्रण मानने को तैयार है, तो हम उसको बिना पार्टी का संगठन बनाये भी पार्टी में भर्ती कर सकते हैं। मिसाल के लिए, यदि "स्वतंत्र लोगों" का कोई संघ यह ऐलान करे कि वह सामाजिक-जनवाद के विचारों को और उसके कार्यक्रम को मानता है और पार्टी में शामिल होना चाहता है, तो मैं इसे पार्टी की बहुत बड़ी जीत समझूंगा, मगर इसका यह मतलब नहीं कि हम इस संघ को किसी पार्टी संगठन में शामिल कर लेंगे" ... पार्टी में ग़ैर-पार्टी संगठन शामिल किये जायेंगे! यह भी कैसा गड़बड़घोटाला है जो मार्तोव की स्थापना ने पैदा कर दिया है। ज़रा **उनकी** स्कीम की कल्पना कीजिये: पार्टी = (१) क्रान्तिकारियों का संगठन + (२) पार्टी संगठनों के रूप में मान लिये गये मज़दूरों के संगठन + (३) मज़दूरों के ऐसे संगठन जो पार्टी संगठन नहीं माने गये हैं (और जिनमें मुख्यतया "स्वतंत्र लोग" होंगे) + (४) विविध प्रकार के काम करनेवाले व्यक्ति – प्रोफ़ेसर, हाई स्कूलों के विद्यार्थी, इत्यादि + (५) "प्रत्येक हड़ताली"। इस मार्के की योजना के मुक़ाबले में हम केवल कामरेड लाइबर के ये शब्द ही पेश कर सकते हैं कि "हमारा काम केवल संगठन संगठित करना नहीं है(!!); हम पार्टी संगठित कर सकते हैं और यह काम हमें करना चाहिए।" (पृष्ठ २४१) हां, हां, ज़रूर, हम यह काम कर सकते हैं और हमें यह काम करना चाहिए, मगर उसके लिए "संगठन संगठित करना" जैसे निरर्थक शब्दों से काम नहीं चलेगा, बल्कि **साफ़-साफ़ यह मांग करनी होगी** कि पार्टी के सदस्य सचमुच **संगठन** बनाने के लिए काम करें। जो आदमी "पार्टी संगठित करने" की बात करता है और फिर भी हर तरह के असंगठन और फूट पर पर्दा डालने के लिए "पार्टी" शब्द का प्रयोग करने की हिमायत करता है, वह कोरी बकवास करता रहा है।

कामरेड मार्तोव ने कहा: "हमारी स्थापना में यह इच्छा प्रकट की गयी है कि क्रान्तिकारियों के संगठन और साधारण जनता के बीच में संगठनों का एक पूरा क्रम होना चाहिए।" उसमें यह इच्छा व्यक्त नहीं की गयी है। यह इच्छा सचमुच आवश्यक है; पर मार्तोव की स्थापना से यह इच्छा कदापि **व्यक्त नहीं**

होती; क्योंकि उससे **संगठन की प्रेरणा नहीं मिलती;** उसमें संगठन की कोई मांग नहीं है; उसमें संगठित को असंगठित से अलग नहीं किया गया है। मार्तोव की स्थापना में हमें जो मिलता है वह केवल एक **उपाधि*** है और इस संबंध

---

*लीग की कांग्रेस में कामरेड मार्तोव ने अपनी स्थापना के समर्थन में एक और दलील दी, एक ऐसी दलील जिसपर केवल हंसा जा सकता है! उन्होंने कहा: "हम यह भी बता दें कि यदि लेनिन की स्थापना को अक्षरशः लिया जाये तो वह **केन्द्रीय समिति के अभिकर्ताओं** को भी पार्टी के बाहर कर देती है, क्योंकि उनका कोई संगठन नहीं होता।" (पृष्ठ ५९) जैसा कि लीग की कांग्रेस की कार्यवाही में लिखा है, वहां भी इस दलील पर **हंसी** हुई थी। कामरेड मार्तोव की राय है कि उन्होंने जिस "कठिनाई" का ज़िक्र किया है, वह केवल इसी तरह दूर की जा सकती है कि केन्द्रीय समिति के अभिकर्ताओं को "केन्द्रीय समिति के संगठन" में शामिल कर लिया जाये। मगर सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि कामरेड मार्तोव ने जो मिसाल दी है उससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने **पहली धारा के मूल विचार को तनिक भी नहीं समझा है;** उनकी यह दलील पण्डिताऊ आलोचना का एक ऐसा ख़ालिस नमूना है जिसपर हंसी आना ही उचित है। यदि केवल **औपचारिक दृष्टि से देखा जाये** तो कामरेड मार्तोव के लिए जिस "कठिनाई" ने इतना सिर-दर्द पैदा कर दिया है, उसे तत्काल दूर कर देने के लिए केवल इतना ही ज़रूरी है कि "केन्द्रीय समिति के अभिकर्ताओं का एक संगठन" बना दिया जाये और एक **प्रस्ताव** पास करके उसे पार्टी में शामिल कर लिया जाये। मैंने जिस प्रकार पहली धारा को लिखा है उसका **मूल विचार** संगठन बनाने की **प्रेरणा** और **सच्चे** नियंत्रण तथा निर्देशन की **गारंटी** में निहित है। यदि प्रश्न के **सार-तत्व** की दृष्टि से देखा जाये तो यह सवाल उठाना भी हास्यास्पद बात है कि केन्द्रीय समिति के अभिकर्ता पार्टी में शामिल होंगे या नहीं, क्योंकि उनपर तो **इसी बात से** पूरा-पूरा नियंत्रण क़ायम हो जाता है कि **उनको अभिकर्ताओं के रूप में नियुक्त किया गया है** और उन्हें अभिकर्ताओं के रूप में रखा जा रहा है। इसलिए, यहां संगठित और असंगठित तत्वों को गड़बड़ा देने का कोई सवाल नहीं उठ सकता (जो कि कामरेड मार्तोव की स्थापना की बुनियादी ग़लती है)। कामरेड मार्तोव की स्थापना इसलिए फ़िज़ूल है कि उसके अनुसार कोई भी, कोई भी अवसरवादी, कोई भी शेख़ी बघारनेवाला, कोई भी "प्रोफ़ेसर" और कोई भी हाई स्कूल का विद्यार्थी **अपने को** पार्टी का सदस्य **घोषित** कर सकता है। और ऐसी मिसाल देकर, जिनमें किसी के मनमाने

में हम कामरेड अक्सेलरोद के इन शब्दों को याद किये बिना नहीं रह सकते कि : "उनको" (क्रान्तिकारी युवकों तथा अन्य ऐसे ही लोगों के मण्डलों को) "और अलग-अलग व्यक्तियों को अपने को सामाजिक-जनवादी कहने से कोई फ़रमान नहीं रोक सकता" (यह सत्य वचन है!) "और यहां तक कि उनको अपने को पार्टी का अंग समझने से भी नहीं रोका जा सकता" ... यह **बिल्कुल ग़लत** बात है! किसी को भी अपने-आपको सामाजिक-जनवादी कहने से न तो आप रोक सकते हैं और **न कोई जरूरत ही है,** क्योंकि इस शब्द का **प्रत्यक्ष** अर्थ केवल विश्वासों की एक पद्धति का द्योतक है, न कि निश्चित प्रकार के संगठनात्मक सम्बंधों का। पर जहां तक अलग-अलग मण्डलों तथा व्यक्तियों को "अपने को पार्टी का अंग समझने" से रोकने की बात है, जब ऐसे मण्डलों तथा व्यक्तियों से पार्टी को हानि पहुंचती हो, पार्टी भ्रष्ट होती हो और उसका संगठन छिन्न-भिन्न होता हो, तब उनको ऐसा करने से रोका जा सकता है और रोका जाना चाहिए। यदि पार्टी "फ़रमान निकालकर" किसी मण्डल को "अपने को पूरी पार्टी का अंग समझने" से नहीं रोक सकती, तो **पार्टी** को एक इकाई कहना, उसे एक राजनीतिक चीज समझना बिल्कुल बेतुकी बात होगी! अन्यथा पार्टी से लोगों को निकालने की पूरी कार्रवाई और तमाम परिस्थितियों की व्याख्या करने की क्या जरूरत है? कामरेड अक्सेलरोद ने कामरेड मार्तोव की बुनियादी ग़लती को स्पष्टत: बिल्कुल बेतुकेपन के स्तर पर पहुंचा दिया ; और जब उन्होंने यह कहा कि : "पहली धारा की लेनिन ने जिस प्रकार स्थापना की है, वह सर्वहारा वर्ग की सामाजिक-जनवादी पार्टी की प्रकृति (!!) और उद्देश्यों के सीधे-सीधे ख़िलाफ़ जाती है" (पृष्ठ २४३), तब तो उन्होंने इस ग़ल्ती को एक **अवसरवादी सिद्धान्त के स्तर** पर पहुंचा दिया। उनके कथन का इससे कम या इससे ज़्यादा कुछ मतलब नहीं है कि वर्ग के मुक़ाबले में पार्टी से ज़्यादा ऊंची मांग करना सर्वहारा वर्ग के उद्देश्यों की प्रकृति के सिद्धान्तत: ख़िलाफ़ जाता है। कोई आश्चर्य नहीं कि अकीमोव दिलोजान से ऐसे **सिद्धान्त** के पक्ष में थे।

ढंग से अपने को मेम्बर कहने लगने या घोषित कर देने का कोई सवाल नहीं उठ सकता, अपनी स्थापना के **सबसे कमजोर पहलू को छिपाने** की कोशिश करने से कामरेड मार्तोव को कोई लाभ नहीं होगा।

कामरेड अक्सेलरोद के साथ कोई अन्याय न हो, इसलिए हम यह भी कह दें कि **आजकल** वह भले ही इस ग़लत स्थापना को जिसका झुकाव स्पष्टतः अवसरवाद की ओर है, **नये** विचारों के बीज का रूप देने की कोशिश कर रहे हों, पर कांग्रेस में, इसके विपरीत, उन्होंने सौदा करने की तत्परता प्रकट की थी। उन्होंने कहा था: "लेकिन मुझे लगता है कि मैं खुले हुए दरवाजे को खटखटा रहा हूं" ... (नये 'ईस्क्रा' में भी मुझे यह बात दिखाई देती है) ... "क्योंकि कामरेड लेनिन ने पार्टी के इर्द-गिर्द रहनेवाले अपने उन मण्डलों के रूप में, जो पार्टी संगठन के अंग समझे जायेंगे, मेरी मांग मान ली है" ... (पार्टी के इर्द-गिर्द रहनेवाले मण्डलों के रूप में ही क्यों, हर तरह के मज़दूर यूनियनों के रूप में भी; देखिये कार्यवाही का पृष्ठ २४२, कामरेड स्त्राखोव का भाषण, और 'क्या करें?' तथा 'एक साथी के नाम पत्र' के ऊपर उद्धृत किये गये अंश)... "बच गये अलग-अलग व्यक्ति; सो यहां भी हम लोग सौदा कर सकते हैं।" मैंने कामरेड अक्सेलरोद के जवाब में कहा कि आम तौर पर मैं सौदा करने के खिलाफ़ नहीं हूं, और अब मैं यह स्पष्ट कर दूं कि किस अर्थ में मैंने यह बात कही थी। जहां तक अलग-अलग व्यक्तियों का—इन तमाम प्रोफ़ेसरों, हाई स्कूलों के विद्यार्थियों, आदि का—सम्बंध है उनके लिए किसी तरह की रिआयत करना मुझे कतई पसन्द नहीं है, लेकिन यदि मज़दूरों के संगठनों के बारे में किसी तरह का शक ज़ाहिर किया जाता, तो (बावजूद इसके कि इस तरह के शक की कोई बुनियाद नहीं है जैसा कि मैं ऊपर साबित कर चुका हूं) मैं पहली धारा की अपनी स्थापना में यह टिप्पणी जोड़ देने के लिए तैयार हो जाता कि: "ऐसे मज़दूर संगठनों को जो रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के कार्यक्रम और नियमावली को स्वीकार करते हैं बड़ी से बड़ी संख्या में पार्टी के संगठनों में शामिल कर लेना चाहिए।" ज़ाहिर है, यदि सख्ती से देखा जाये तो इस प्रकार की इच्छा व्यक्त करने का स्थान नियमावली नहीं है। नियमावली में केवल वैधानिक परिभाषाएं ही होनी चाहिए, और इस प्रकार की इच्छाएं व्याख्यात्मक टीकाओं और पुस्तिकाओं में प्रकट की जानी चाहिए (और यह मैं पहले ही बता चुका हूं कि इस प्रकार की व्याख्याएं मैंने नियमावली तैयार होने के बहुत दिन पहले अपनी पुस्तिकाओं में पेश कर दी थीं); लेकिन इस तरह की टीप में कम से कम ऐसे किसी **ग़लत** विचारों की परछाई भी न होती, जिनसे संगठन के छिन्न-भिन्न हो जाने की

आशंका हो, उन **अवसरवादी** दलीलों* और "**अराजकतावादी अवधारणाओं**" का चिन्ह तक न होता, जो निश्चय ही कामरेड मार्तोव की स्थापना की अभिन्न अंग हैं।

---

*मार्तोव की स्थापना को उचित ठहराने की कोशिश में अनिवार्य रूप से जैसी दलीलें सामने आती हैं, उन्हीं की कोटि में विशेष रूप से, कामरेड त्रोत्स्की का यह वक्तव्य भी आ जाता है (पृष्ठ २४८ और ३४६) कि "अवसरवाद नियमावली की किसी एकाध धारा से कहीं अधिक पेचीदा कारणों से पैदा होता है (अथवा, कहीं अधिक गूढ़ कारणों से निर्धारित होता है); पूंजीवादी जनवाद और सर्वहारा वर्ग के विकास के सापेक्षित स्तर पर अवसरवाद उत्पन्न होता है"... सवाल यह नहीं है कि नियमावली की धाराओं से अवसरवाद उत्पन्न हो सकता है, सवाल यह है कि हम नियमावली की सहायता से अवसरवाद के ख़िलाफ़ एक कमोबेश तीक्ष्ण अस्त्र तैयार करना चाहते हैं। अवसरवाद के कारण जितने ही गूढ़ हों, इस अस्त्र को उतना ही तीक्ष्ण होना चाहिए। इसलिए एक ऐसी स्थापना को जो अवसरवाद के लिए द्वार खोल देती है, इस तथ्य के आधार पर **उचित ठहराना** कि अवसरवाद के "कारण गूढ़" होते हैं—ख़ालिस पुछल्लावाद है। जब कामरेड त्रोत्स्की कामरेड लाइबर के ख़िलाफ़ थे तब वह यह समझते थे कि नियमावली अंश के प्रति पूर्ण इकाई के, और पिछड़े हुए दस्ते के प्रति अग्रदल के "संगठित अविश्वास" का मूर्त रूप है; लेकिन जब कामरेड त्रोत्स्की ख़ुद कामरेड लाइबर के पक्षपाती हो गये तो वह यह बात भूल गये और इस अविश्वास (अवसरवाद के प्रति अविश्वास) को संगठित करने में **हमारी कमज़ोरी** और अस्थिरता तक को "पेचीदा कारणों" और "मज़दूर वर्ग के विकास के स्तर", आदि, की बातें करके उचित ठहराने लगे। त्रोत्स्की की एक और दलील देखिये: "किसी न किसी रूप में संगठित, बुद्धिजीवी युवकों के लिए पार्टी की सदस्य-सूची पर **अपना नाम ख़ुद चढ़वा लेना** (शब्दों पर ज़ोर मेरा) कहीं ज़्यादा आसान है।" यही तो बात है। इसीलिए, बुद्धिजीवियों का विशेष गुण यानी अस्पष्टता उस स्थापना में है जिसके द्वारा असंगठित तत्व भी **अपने को** पार्टी सदस्य **घोषित** कर सकते हैं, न कि मेरी स्थापना में, जो सदस्य-सूची पर "अपना नाम ख़ुद चढ़वा लेने" के अधिकार को **समाप्त कर देती है**! कामरेड त्रोत्स्की का कहना है कि यदि केन्द्रीय समिति अवसरवादियों के किसी संगठन को "मान्यता नहीं देगी", तो उसका एकमात्र कारण किन्हीं विशेष व्यक्तियों का चरित्र होगा; और यदि एक बार लोग इन व्यक्तियों को राजनीतिक व्यक्तियों के रूप में जान जायेंगे तो वे ख़तरनाक नहीं रहेंगे और उनको साधारण पार्टी-बहिष्कार के द्वारा हटाया

बादवाली शब्दावली का प्रयोग, जिसे मैंने उद्धरण चिन्हों में दिया है, कामरेड पावलोविच ने किया था, जिन्होंने "**ग़ैर-ज़िम्मेदार** और **नामधारी** पार्टी सदस्यों" को मान्यता देने के प्रस्ताव को **अराजकतावाद** का बिल्कुल ठीक नाम दिया था। कामरेड लाइबर को मेरी स्थापना समझाते हुए कामरेड पावलोविच ने कहा था: "यदि इस स्थापना का सरल भाषा में अनुवाद किया जाये तो उसका यह मतलब होता है कि यदि आप पार्टी के सदस्य होना चाहते हैं तो आपको पार्टी के साथ केवल भावात्मक सम्बंध ही नहीं, बल्कि संगठनात्मक सम्बंध भी स्वीकार करना होगा।" यह "अनुवाद" सरल तो था, मगर वह न सिर्फ़ तरह-तरह के अविश्वसनीय प्रोफ़ेसरों तथा हाई स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए, बल्कि

जा सकेगा। यह बात केवल उसी सूरत में सच होगी जब किन्हीं व्यक्तियों को **पार्टी से हटाने** का सवाल होगा (और तब भी यह बात आधी सच होगी क्योंकि एक संगठित पार्टी अपने सदस्यों को बहिष्कार द्वारा नहीं, बल्कि वोट के द्वारा **हटाती है**)। उस सूरत में यह बात क़तई सच न होगी जब पार्टी से **हटाना** बिल्कुल ग़लत होगा और जब केवल **नियंत्रण रखना** ही आवश्यक होगा, जो सूरत कि पहली सूरत से कहीं ज़्यादा पैदा होती है। नियंत्रण क़ायम करने के लिए, कुछ परिस्थितियों में, केन्द्रीय समिति **जानबूझकर** ऐसे किसी संगठन को पार्टी में शामिल कर सकती है जो पूरी तरह विश्वसनीय तो न हो, मगर जो काम करने की क्षमता रखता हो; इसमें उसका उद्देश्य ऐसे संगठन की परीक्षा लेना, उसको **सच्चे रास्ते पर ले आना**, उसको या उसके आंशिक दोषों को स्वयं अपने नेतृत्व के द्वारा ठीक कर देना, आदि हो सकता है। यह कोई ख़तरनाक बात नहीं होगी, **बशर्ते** कि आम तौर पर लोगों को पार्टी की सदस्य-सूची पर **अपना नाम ख़ुद चढ़वा लेने** की इजाज़त न हो। यह बात ग़लत विचारों और ग़लत कार्यनीति को खुले आम तथा **ज़िम्मेदारी के साथ** और नियंत्रित रूप में व्यक्त करने (और इसपर बहस करने) में अक्सर उपयोगी होगी। आगे कामरेड त्रोत्स्की ने कहा: "लेकिन यदि वैधानिक परिभाषाओं को वास्तविक सम्बंधों के अनुरूप होना है, तो कामरेड लेनिन की स्थापना हमें अस्वीकार कर देनी चाहिए", और इस बार फिर वह एक अवसरवादी की तरह बोले। वास्तविक सम्बंध कोई मुर्दा वस्तु नहीं होते, वे जीवित वस्तु होते हैं और विकसित होते रहते हैं! वैधानिक परिभाषाएं इन सम्बंधों के प्रगतिशील विकास के अनुरूप हो सकती हैं, लेकिन (यदि ये परिभाषाएं दोषपूर्ण हों तो) वे पतन या गतिरोध के "अनुरूप" भी हो सकती हैं। कामरेड मार्तोव का "मामला" बादवाली बात पर पूरा उतरता है।

पार्टी के खरे सदस्यों और ऊपरी नेताओं के लिए भी अनावश्यक नहीं था (जैसा कि कांग्रेस के बाद की घटनाओं से सिद्ध हो गया) ... इसी प्रकार कामरेड पावलोविच ने यह बात भी इतनी ही ठीक कही थी कि कामरेड मार्तोव की स्थापना में और वैज्ञानिक समाजवाद के उस निर्विवाद सूत्र में परस्पर विरोध है जिसका कामरेड मार्तोव ने इतने बुरे ढंग से अपने भाषण में हवाला दिया था: "हमारी पार्टी एक अचेतन क्रिया की सचेतन प्रवक्ता है।" बिल्कुल सही बात है। और इसीलिए यह मांग करना ग़लत है कि "हर हड़ताली" को अपने को पार्टी सदस्य कहने का अधिकार होना चाहिए, क्योंकि यदि "हर हड़ताल" एक शक्तिशाली वर्ग-भावना तथा वर्ग-संघर्ष की, जिसका विकास अनिवार्य सामाजिक क्रांति की ओर हो रहा है, स्वयंस्फूर्त अभिव्यक्ति मात्र न होती, बल्कि यदि वह इस क्रिया की **सचेतन अभिव्यक्ति** होती तो ... फिर आम हड़ताल को अराजकतावादी लफ़्फ़ाज़ी न समझा जाता और हमारी पार्टी तुरन्त पूरे मज़दूर वर्ग को **अपने में समेट लेती** और फलस्वरूप **पूरे पूंजीवादी समाज** को फ़ौरन ख़तम कर देती। यदि पार्टी को **सचमुच** सचेतन प्रवक्ता बनना है तो उसे ऐसे संगठनात्मक सम्बंध सोचकर निकालने होंगे जिनसे चेतना के एक **निश्चित स्तर की गारण्टी** हो सके और वह स्तर सुनियोजित ढंग से ऊपर उठता जाये। कामरेड पावलोविच ने कहा: "यदि हम मार्तोव के रास्ते पर चलें तो हमें सबसे पहले **कार्यक्रम** को स्वीकार करनेवाली धारा को निकाल देना चाहिए, क्योंकि कार्यक्रम को स्वीकार करने से पहले उसे अच्छी तरह समझना और हृदयंगम करना ज़रूरी होता है ... कार्यक्रम को वही स्वीकार करेगा जो पहले काफ़ी ऊंचे स्तर की राजनीतिक चेतना प्राप्त कर चुका हो।" हम इस बात की कभी इजाज़त नहीं देंगे कि लोगों के सामाजिक-जनवादी आन्दोलन का **समर्थन करने**, या उसके नेतृत्व में चलनेवाले संघर्ष में **भाग लेने** को किसी भी मांग द्वारा (कि वे पहले कार्यक्रम को अच्छी तरह समझें और हृदयंगम करें, आदि) कृत्रिम रूप से सीमित कर दिया जाये, क्योंकि संघर्ष में **भाग लेने** से ही, उसकी अभिव्यक्ति मात्र से, लोगों की चेतना तथा संगठन की भावना, दोनों में **वृद्धि होती है**; लेकिन चूंकि **हम सब** सुनियोजित ढंग से काम करने के लिए **एक पार्टी में इकट्ठा हुए हैं**, इसलिए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि काम सचमुच सुनियोजित ढंग से हो।

यह बात **फ़ौरन उसी** बैठक के दौरान में साफ़ हो गयी कि कार्यक्रम के बारे में कामरेड पावलोविच की चेतावनी अनावश्यक नहीं थी। कामरेड अकीमोव और कामरेड लाइबर ने जिन्होंने कामरेड मार्तोव की स्थापना को स्वीकार कराया था*, यह मांग करके (पृष्ठ २५४-५५) **फ़ौरन ही** अपनी असलियत ज़ाहिर कर दी कि कार्यक्रम के सम्बंध में (पार्टी का "सदस्य बनने" के लिए) केवल इतना ही काफ़ी है कि उसे भावात्मक रूप से स्वीकार कर लिया जाये और उसके केवल "बुनियादी सिद्धान्तों" को मान लिया जाये। इसपर कामरेड पावलोविच ने कहा कि "कामरेड मार्तोव के दृष्टिकोण से कामरेड अकीमोव का प्रस्ताव बिल्कुल तर्क-संगत है"। दुर्भाग्य से, कांग्रेस की कार्यवाही से यह पता नहीं चलता कि (अकीमोव के) इस प्रस्ताव के पक्ष में **कितने** वोट पड़े थे; संभवतः उसके पक्ष में सात से कम वोट नहीं पड़े थे (पांच बुंदवादी, अकीमोव और ब्रूकर)। और **सात** प्रतिनिधियों के पार्टी कांग्रेस से चले जाने का ही यह परिणाम हुआ कि नियमावली की पहली धारा के सवाल पर जो "गठा हुआ बहुमत" बनने लगा था ('ईस्क्रा'-विरोधी, "मध्य पक्ष वाले" और मार्तोववादी) वह एक गठे हुए अल्पमत में बदल गया! **सात** प्रतिनिधियों के चले जाने का ही यह नतीजा हुआ कि पुराने सम्पादक-मण्डल को फिर से नियुक्त करने का प्रस्ताव गिर गया—जिसे 'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल की "परम्परा" का अत्यंत अनुचित हनन कहा जाता है! यह भी एक अजीब बात है कि 'ईस्क्रा' की "परम्परा" के एकमात्र रक्षक तथा ज़मानती ये **सात** वोट थे, जो असल में बुंदवादियों, अकीमोव और

---

*उसके पक्ष में २८ वोट पड़े और विपक्ष में २२। आठ 'ईस्क्रा'-विरोधियों में से सात मार्तोव के पक्ष में थे और एक मेरे पक्ष में। कामरेड मार्तोव अपनी अवसरवादी स्थापना को बिना अवसरवादियों की मदद के स्वीकार नहीं करा सकते थे। (लीग की कांग्रेस में कामरेड मार्तोव ने इस निर्विवाद तथ्य का खण्डन करने का बहुत ही असफल प्रयास किया। उन्होंने यह तो बताया कि बुंदवादियों ने उनके पक्ष में वोट दिया था, मगर किसी कारण से वह कामरेड अकीमोव और उनके मित्रों को भूल गये—या शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि उनकी कामरेड मार्तोव को **केवल** तभी याद आयी जब वह इस बात को मेरे विरुद्ध प्रमाण के रूप में इस्तेमाल कर सकते थे: कामरेड ब्रूकर की मेरे साथ सहमति।)

ब्रूकर के, यानी ठीक उन प्रतिनिधियों के वोट थे जिन्होंने 'ईस्क्रा' को केन्द्रीय मुखपत्र स्वीकार करने के **उद्देश्यों** के विरोध में मत दिया था और जिनके अवसरवाद को कांग्रेस दर्जनों बार मान चुकी थी और मार्तोव और प्लेख़ानोव विशेष रूप से कार्यक्रम के सम्बंध में पहली धारा को **नरम करने** के सवाल पर जिसे स्वीकार कर चुके थे। 'ईस्क्रा' की "परम्परा" के रक्षक 'ईस्क्रा'-विरोधी! – यहां से पार्टी कांग्रेस के बाद का दुखद प्रहसन **आरम्भ** हो जाता है।

* * *

नियमावली की पहली धारा पर जिस तरह वोट पड़े, उससे ठीक उसी प्रकार की बात प्रकट हुई जिस प्रकार की बात भाषाओं की समानता वाली घटना से प्रकट हुई थी – यानी यह कि 'ईस्क्रा'-वादी बहुमत के (लगभग) चौथाई वोटों के अलग हो जाने के फलस्वरूप ही यह सम्भव हुआ कि 'ईस्क्रा'-विरोधियों की, जिनका "मध्य पक्ष" समर्थन कर रहा था, जीत हो गयी। ज़ाहिर है, इस उदाहरण में भी कुछ व्यक्तिगत वोट ऐसे थे जिनसे चित्र की एकरूपता थोड़ी अस्त-व्यस्त हो गयी – हमारी पार्टी कांग्रेस जैसे एक बड़े सम्मेलन में कुछ "भटक जानेवाले" लोगों का होना अवश्यम्भावी था जो बिल्कुल आकस्मिक ढंग से कभी भी एक पक्ष से दूसरे पक्ष में खिसक जाते थे, ख़ास तौर पर, पहली धारा जैसे सवाल पर, जिसपर मतभेद का वास्तविक स्वरूप अभी स्पष्ट होना आरम्भ ही हुआ था और (चूंकि इस सवाल पर पहले से अख़बारों में बहस नहीं हुई थी) बहुत से प्रतिनिधि तो **तब तक अपना मत निश्चित ही नहीं कर पाये थे**। 'ईस्क्रा'-वादी बहुमत के पांच वोटों ने अपने पक्ष का साथ छोड़ दिया (रूसोव और कार्स्की जिनके दो-दो वोट थे और लेंस्की जिनका एक वोट था)। दूसरी तरफ़, एक 'ईस्क्रा'-विरोधी वोट (ब्रूकर) और तीन "मध्य पक्ष" वाले (मेद्वेदेव, येगोरोव और ज़ार्योव) इस पक्ष के साथ आ गये; इस प्रकार कुल २३ (२४ – ५ + ४) वोट हो गये, चुनाव के समय अंत में जितने वोट इस पक्ष को मिले उससे एक वोट कम। **मार्तोव को बहुमत 'ईस्क्रा'-विरोधियों के कारण प्राप्त हुआ,** उनमें से सात ने मार्तोव के पक्ष में वोट दिया और एक ने मेरे पक्ष में ("मध्य पक्ष" के भी सात वोट मार्तोव के पक्ष में पड़े और तीन मेरे पक्ष में)। इस तरह, 'ईस्क्रा'-विरोधियों और "मध्य पक्ष" के साथ 'ईस्क्रा'-वादी अल्पमत का वह संयुक्त

मोर्चा **बनना शुरू हो रहा था** जिसने कांग्रेस के अन्त में और कांग्रेस के बाद एक गठे हुए अल्पमत का रूप धारण कर लिया। कांग्रेस में जो निर्बाध और खुली अखाड़ेबाज़ी हुई, उसकी बदौलत मार्तोव और अक्सेलरोद की राजनीतिक ग़लती तुरन्त और बिल्कुल साफ़ तौर पर सामने आ गयी और यह स्पष्ट हो गया कि उन्होंने पहली धारा की अपनी स्थापना में और विशेष रूप से उस स्थापना को उचित ठहराने में **निर्विवाद रूप से अवसरवाद और अराजकतावादी व्यक्तिवाद की ओर क़दम बढ़ाया है**; उनकी राजनीतिक ग़लती इस बात से स्पष्ट हो गयी कि क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों के बीच मतभेद की जो दरार, जो खाई, पैदा हो गयी थी, उसे और चौड़ा करने के लिए सबसे अधिक अस्थिर और सबसे कम सिद्धांतनिष्ठ लोग तुरन्त ही अपनी पूरी शक्ति से जुट गये। इस बात से कि जिन लोगों के संगठन के मामले में खुलेआम **भिन्न उद्देश्य** थे (देखिये अकीमोव का भाषण), वे कांग्रेस में साथ चल रहे थे, उन लोगों को, जो हमारी संगठन योजना तथा हमारी नियमावली के **सिद्धान्ततः** विरोधी थे, तुरन्त कामरेड मार्तोव और कामरेड अक्सेलरोद की ग़लती का समर्थन करने की प्रेरणा मिली। 'ईस्क्रा'-वादियों में से जो लोग क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद के विचारों के प्रति वफ़ादार रहे, उन्होंने इस सवाल पर भी अपने को **अल्पमत में** पाया। इस तथ्य का **अत्यधिक महत्व** है, क्योंकि जब तक हम इस तथ्य को नहीं समझेंगे तब तक नियमावली की विशिष्ट धाराओं को लेकर चलनेवाले संघर्ष को या केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पांदक-मण्डल तथा केन्द्रीय समिति के सदस्यों के चुनाव को लेकर चलनेवाले संघर्ष को समझना सर्वथा असम्भव होगा।

ठ) वे निर्दोष लोग जिनपर अवसरवाद का झूठा आरोप लगाया गया

नियमावली पर बाद को जो बहस चली, उसपर विचार करने के पहले यह स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि केन्द्रीय संस्थाओं के चुनाव के सम्बंध में हमारे बीच क्या मतभेद थे और कांग्रेस के दौरान में 'ईस्क्रा'-संगठन की जो **निजी** बैठकें हुई थीं, कुछ उनकी चर्चा करना आवश्यक है। इस तरह की चार बैठकें हुई थीं, जिनमें से आख़िरी और सबसे महत्वपूर्ण बैठक नियमावली

की पहल। धारा पर वोट लिये जाने के **फ़ौरन बाद** हुई थी – और इस प्रकार इस बैठक में 'ईस्क्रा'-संगठन में जो फूट पड़ी वह समय और तर्क दोनों की दृष्टि से बाद को चलनेवाले संघर्ष की आवश्यक शर्त थी।

संगठन समिति वाली घटना के शीघ्र ही बाद 'ईस्क्रा'-संगठन ने अपनी निजी बैठकें* करना आरम्भ कर दिया था। संगठन समिति वाली घटना से केन्द्रीय समिति की सदस्यता के लिए सम्भव उम्मीदवारों के नामों के बारे में बहस करने का मौक़ा मिला। यह बात तर्कसंगत है कि चूंकि अनुल्लंघनीय आदेशों की पद्धति को ख़त्म कर दिया गया था, इसलिए इन बैठकों का उद्देश्य केवल आपस में सलाह करना था और उनके फ़ैसलों को मानना किसी के लिए ज़रूरी नहीं था। फिर भी इन बैठकों का भारी महत्व था। केन्द्रीय समिति के लिए उम्मीदवारों के नाम चुनने का काम उन प्रतिनिधियों के लिए बहुत कठिन था जिनको न तो 'ईस्क्रा'-संगठन के सदस्यों के गुप्त नाम मालूम थे और न उसके अन्दरूनी काम का ही कोई ज्ञान था, जिस संगठन ने पार्टी में वास्तविक एकता स्थापित की थी, और 'ईस्क्रा' को पार्टी के मुखपत्र के रूप में स्वीकार करने का एक उद्देश्य इस संगठन द्वारा व्यावहारिक आन्दोलन का नेतृत्व भी था। हम यह देख चुके हैं कि यदि 'ईस्क्रा'-वादियों में एकता रहती तो कांग्रेस में उनको बहुत बड़े बहुमत की पूरी गारंटी रहती, क़रीब साठ प्रतिशत वोट उनके साथ रहते, और इस बात को सब प्रतिनिधि अच्छी तरह समझते थे। असल में सभी 'ईस्क्रा'-वादी यह आशा करते थे कि केन्द्रीय समिति की सदस्यता के बारे में 'ईस्क्रा'-संगठन कुछ निश्चित नाम पेश करेगा; और जब **'ईस्क्रा'-संगठन** के अन्दर केन्द्रीय समिति के सदस्यों के नामों के बारे में प्राथमिक बहस हुई, तो उस संगठन के किसी भी सदस्य ने उसपर कोई आपत्ति नहीं की; किसी भी सदस्य ने इसकी ओर कोई संकेत तक नहीं किया कि संगठन समिति के सभी सदस्यों को स्वीकार कर लिया

---

*यह सोचकर कि अन्तहीन झगड़े न शुरू हो जायें, मैंने लीग की कांग्रेस में ही इन निजी बैठकों का यथासंभव अधिक से अधिक संक्षिप्त वर्णन देने की कोशिश की थी। मुख्य तथ्य मेरे ''ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल के नाम पत्र' में भी दिये गये हैं (पृष्ठ ४)। कामरेड मार्तोव ने अपने 'उत्तर' में उनपर कोई आपत्ति नहीं की थी।

जायें, यानी संगठन समिति को ही केन्द्रीय समिति में बदल दिया जाये; न ही किसी सदस्य ने इसकी ओर कोई इशारा किया कि केन्द्रीय समिति की सदस्यता के लिए उम्मीदवारों के नामों पर विचार करने के लिए पूरी संगठन समिति के **साथ बैठकर मशवरा किया जाये**। यह तथ्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है, और उसे याद रखना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि **अब – जो कुछ हो चुका है उसके होने के बाद** – मार्तोव-वादी संगठन समिति की बड़े जोश-ख़रोश के साथ हिमायत कर रहे हैं हालांकि इस तरह वे केवल अपनी राजनीतिक सिद्धान्तविहीनता को ही सौवीं और हज़ारवीं बार सिद्ध कर रहे हैं*। जब तक केन्द्रीय संस्थाओं के चुनाव के सवाल पर फूट पैदा हो जाने के कारण मार्तोव अकीमोव जैसे लोगों के साथ नहीं मिल गये थे, तब तक कांग्रेस में भाग लेनेवाला हर आदमी जानता था – कांग्रेस की कार्यवाही से तथा 'ईस्क्रा' के पूरे इतिहास से हर निष्पक्ष आदमी आसानी से इस बात की पुष्टि कर सकता है – कि संगठन समिति **मुख्यतया** कांग्रेस को बुलाने के लिए स्थापित किया गया एक आयोग था, जिस आयोग में जान-बूझकर विभिन्न विचारधाराओं के लोगों को और यहां तक कि बुंदवादियों को भी रखा गया था, मगर पार्टी की संगठित एकता का **सृजन करने** के वास्तविक कार्य का पूरा भार 'ईस्क्रा'-संगठन के कंधों पर पड़ा था (यह भी याद रखना चाहिए कि संगठन समिति के कई 'ईस्क्रा'-वादी सदस्य संयोगवश कांग्रेस में अनुपस्थित थे – या तो गिरफ़्तारी के कारण या किसी और ऐसी वजह से जो उनके "क़ाबू के बाहर" थी)। कांग्रेस में 'ईस्क्रा'-संगठन के जो सदस्य उपस्थित थे,

---

*ज़रा इस "नैतिकता के चित्र" पर ग़ौर कीजिये: कांग्रेस में 'ईस्क्रा'-संगठन का एक **प्रतिनिधि केवल** अपने संगठन के साथ परामर्श करता है और संगठन समिति के साथ सलाह करने का **इशारा तक नहीं करता**। मगर इस संगठन तथा कांग्रेस दोनों में हार जाने के बाद वह इस पर **खेद प्रकट करने** लगता है कि संगठन समिति को स्वीकार नहीं किया गया, उसकी तारीफ़ों के पुल बांधने लगता है, और गर्व और शान के साथ उस संगठन की अवहेलना करने लगता है जिसने उसे प्रतिनिधि चुना था! बिना किसी संकोच के यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि किसी भी सच्ची सामाजिक-जनवादी पार्टी और सच्ची मज़दूर पार्टी के इतिहास में ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा।

उनके नाम कामरेड पावलोविच की पुस्तिका (देखिये उनका 'दूसरी कांग्रेस के बारे में पत्र', पृष्ठ १३) में ही गिनाये जा चुके हैं[182]।

'ईस्क्रा'-संगठन में जो गरम बहसें हुईं, उनके अन्तिम परिणाम के रूप में दो बार मत लिये गये जिनका ज़िक्र मैं अपने 'सम्पादक-मण्डल के नाम पत्र' में कर चुका हूं। पहली बार: "नौ वोटों के मुक़ाबले में चार वोटों से, तीन तटस्थ रहे, मार्तोव द्वारा समर्थित एक उम्मीदवार का नाम अस्वीकार कर दिया गया।" कोई भी सोचेगा कि इससे अधिक सरल और स्वाभाविक बात और क्या हो सकती थी कि कांग्रेस में उपस्थित 'ईस्क्रा'-संगठन के सोलहों सदस्यों की रज़ामन्दी से सम्भव उम्मीदवारों के नामों पर बहस हुई और कामरेड मार्तोव के एक उम्मीदवार को बहुमत ने अस्वीकार कर दिया (यह उम्मीदवार कामरेड स्टाइन थे, जैसा कि कामरेड मार्तोव ने अब खुद क़बूल कर लिया है – देखिये 'घेरे की स्थिति', पृष्ठ ६९)? क्योंकि आख़िर पार्टी कांग्रेस में हमारे इकट्ठा होने का एक उद्देश्य यह भी तो था कि हम इस बात पर विचार करें और निर्णय करें कि "बैंडमास्टर का डंडा" किस के हाथ में सौंपा जाये – और पार्टी के प्रति यह समान रूप से हम सबका कर्तव्य था कि कार्यक्रम की इस मद पर अधिक से अधिक गम्भीरतापूर्वक विचार करें, और जैसा कि बाद को कामरेड रूसोव ने ठीक ही कहा था, इस प्रश्न को "सिद्धान्तविहीन कूपमंडूक कृपाभाव" के आधार पर नहीं, बल्कि आन्दोलन के **हित के दृष्टिकोण से** तै करें। ज़ाहिर है, **कांग्रेस में** उम्मीदवारों के नामों के बारे में बहस करते समय, और ख़ास तौर पर एक ग़ैर-रस्मी और अन्तरंग बैठक में, यह लाज़िमी था कि हम उनके कुछ व्यक्तिगत गुणों की चर्चा करें और उनको पसन्द या नापसन्द करें*। **और मैं लीग**

---

*लीग में कामरेड मार्तोव ने बड़े क्षोभ के साथ यह शिकायत की कि लेनिन ने बड़ी बदतमीज़ी के साथ अपनी नापसंदगी ज़ाहिर की थी। उन्होंने यह नहीं देखा कि उनकी शिकायत खुद उनके खिलाफ़ एक दलील बन जाती है। खुद उन्हीं के शब्दों में – लेनिन ने पागलों जैसा व्यवहार किया (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ६३)। ठीक बात है। लेनिन दरवाज़ा भड़ाम से बन्द करके बाहर चला गया। सच बात है। ('ईस्क्रा'-संगठन की दूसरी या तीसरी बैठक में) लेनिन के आचरण से उन सब सदस्यों को ग़ुस्सा आया जो बैठक में रह गये थे। हां, यह भी हुआ था। पर इस सबसे नतीजा क्या निकलता है? यही कि

की कांग्रेस में पहले ही यह कह चुका था कि यह समझना बिल्कुल ग़लत है कि यदि कोई उम्मीदवार पसन्द नहीं किया जाता तो इससे उसके "माथे पर कलंक का टीका" लग जाता है (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ४६), और इसलिए जो चीज़ पार्टी के हर सदस्य के प्रत्यक्ष कर्त्तव्य का—पार्टी के अधिकारियों को ईमानदारी के साथ अच्छी तरह सोच-समझकर चुनने का—आवश्यक अंग है, उस पर इस तरह चीख़ना-चिल्लाना और "हंगामा" करना बिल्कुल बेहूदा बात है। मगर यही चीज़ थी जिसने, जहां तक हमारे अल्पमत का सम्बंध है, हालत को और बदतर बना दिया; **कांग्रेस के बाद** उन्होंने रोना-पीटना शुरू किया कि इन लोगों ने तो "हमारे मुंह में कालिख लगा दी" (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ७०)। वे **आम लोगों को छाप-छापकर** यह बताने लगे कि भूतपूर्व संगठन समिति में "मुख्य व्यक्ति" कामरेड स्टाइन थे और उनपर बिल्कुल निराधार ढंग से "भयानक षड्यंत्र" रचने का आरोप लगाया गया था ('घेरे की स्थिति', पृष्ठ ६६)। जब उम्मीदवारों के नामों के बारे में पसन्द या नापसंदगी ज़ाहिर की जाये तो "चेहरे पर कालिख लगाने" का रोना शुरू कर देना क्या अर्थ-विक्षिप्तों का प्रलाप नहीं है? क्या यह फ़िज़ूल का झंझट खड़ा करना नहीं है कि जो लोग 'ईस्क्रा'-संगठन की निजी बैठक में और पार्टी की वैधानिक सर्वोच्च परिषद में, यानी कांग्रेस में, दोनों जगह हार गये, वे अब हर ऐरे-ग़ैरे नत्थू-ख़ैरे को अपना शिकवा सुनाते घूम रहे हैं और जिन उम्मीदवारों को अस्वीकार कर दिया गया, उनको जनता के सामने "मुख्य व्यक्तियों" के रूप में पेश कर रहे हैं और पार्टी में फूट डालकर और समितियों में **नये नाम जोड़ने** की मांग करके पार्टी के ऊपर अपने उम्मीदवारों को थोपने की कोशिश कर रहे हैं? विदेश के जिस गन्दे वातावरण में हम रहते हैं,

---

विवादग्रस्त प्रश्नों के सार-तत्व के विषय में मेरी दलीलें ज़ोरदार थीं और कांग्रेस की आगे की कार्यवाही ने उनको सच सिद्ध कर दिया। क्योंकि अगर सब कुछ होने के बाद भी 'ईस्क्रा'-संगठन के सोलह सदस्यों में से नौ ने अन्त में मेरा साथ दिया, तो, ज़ाहिर है, यह बात मेरी भयानक बदतमीज़ी के **होते हुए** और उसके **बावजूद** हुई थी। यानी, अगर यह बदतमीज़ी न होती तो शायद नौ से ज़्यादा लोग मेरा साथ देते। इसलिये, मेरी दलीलों और मेरे तथ्यों को जितने अधिक "ग़ुस्से" का मुक़ाबला करना था, उन्हें उतना ही अधिक अकाट्य होना चाहिए था।

उसमें हमारी राजनीतिक अवधारणाएं इतनी गड़बड़ा गयी हैं कि कामरेड मार्तोव अब मण्डल तथा मित्रता के सम्बंधों और पार्टी के प्रति अपने कर्त्तव्य में कोई अन्तर नहीं देख पाते! पार्टी कांग्रेसों में प्रतिनिधि मुख्यतया सिद्धान्त के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करने के लिए इकट्ठा होते हैं। पार्टी कांग्रेस में आन्दोलन के प्रतिनिधि जमा होते हैं, जो कि व्यक्तियों से सम्बंधित प्रश्नों पर सचमुच तटस्थ भाव से विचार कर सकते हैं और जो यह **मांग कर सकते हैं** (और यह मांग करना जिनका कर्त्तव्य होता है) कि उन्हें उम्मीदवारों के बारे में सभी ज़रूरी इत्तिला दी जाये ताकि वे अपना निर्णायक मत दे सकें। इसलिए पार्टी कांग्रेसों में इस बहस के लिए समय निकालना स्वाभाविक और ज़रूरी होता है कि बैंडमास्टर का डंडा किसके हाथ में सौंपा जाये। लेकिन कामरेड मार्तोव हमें यह समझाना चाहते हैं कि उम्मीदवारों के नामों के बारे में बहस करने और फ़ैसला करने का उचित स्थान **केवल** कांग्रेसों को समझना नौकरशाही और औपचारिक रवैया है। इस नौकरशाही और औपचारिकता के स्थान पर अब नयी आदतों और नये रीति-रिवाजों का फ़ैशन चालू हुआ है: अब कांग्रेसों के बाद हमें हर ऐरे-ग़ैरे नत्थू-ख़ैरे से कहना होगा कि इवान इवानोविच की राजनीतिक अन्तिम क्रिया हो गयी है, या इवान निकीफ़ोरोविच के मुंह पर कालिख पोत दी गयी; अब लेखक अपने-अपने उम्मीदवारों की तारीफ़ में पुस्तिकाएं लिखा करेंगे, और बगुला-भगतों की तरह छाती पीट-पीटकर कहेंगे कि "यह मण्डल नहीं पार्टी है" ... पढ़नेवालों में से जिन लोगों को सनसनीख़ेज़ क़िस्सों का शौक़ है, वे इस तरह की ख़बरों को चटखारा ले-लेकर पढ़ेंगे कि ख़ुद मार्तोव* ने बताया है कि अमुक आदमी संगठन समिति का मुख्य व्यक्ति था। कांग्रेसों जैसी रस्मी संस्थाओं के मुक़ाबले

---

*मार्तोव की तरह मैंने भी 'ईस्क्रा'-संगठन में केन्द्रीय समिति के लिए एक उम्मीदवार को नामज़द कराने की कोशिश की थी और मैं भी असफल रहा था; इस उम्मीदवार की कांग्रेस के पहले और कांग्रेस के शुरू में बड़ी प्रतिष्ठा थी, जिसके प्रमाण में मैं अनोखी घटनाएं भी चाहता तो बता सकता था। लेकिन ऐसा करने का मेरे मन में कभी विचार भी नहीं आता। और इस साथी में भी **इतना आत्म-सम्मान** है कि वह किसी को यह **इजाज़त नहीं देता** कि वह कांग्रेस के बाद उसे किताबें या लेख छापकर नामज़द करे या राजनीतिक अन्तिम क्रिया अथवा मुंह पर कालिख लगाने, आदि, का रोना रोये।

में, जो बहुमत जैसे भोंड़े और यांत्रिक उपायों से फ़ैसले करती हैं, ऐसे पाठक इस सवाल पर ज़्यादा अच्छी तरह विचार और फ़ैसला कर सकते हैं ... सचमुच, सच्चे पार्टी कार्यकर्ताओं को अभी विदेश में आपस की थुक्का-फ़ज़ीहत की अवगी की घुड़सालें[183] साफ़ करनी हैं।

'ईस्क्रा'-संगठन के अन्दर जब दूसरी बार वोट लिये गये तो "दस वोट पक्ष में पड़े, दो विपक्ष में और चार सदस्य तटस्थ रहे और इस तरह पांच (केन्द्रीय समिति के लिए उम्मीदवारों) की एक सूची पास हो गयी, जिसमें मेरे सुझाव पर ग़ैर-'ईस्क्रा'-वादियों के एक नेता और 'ईस्क्रा'-वादी अल्पमत के एक नेता भी शामिल थे।"* इन वोटों का अत्यधिक महत्व है, क्योंकि उनसे यह बात बिल्कुल साफ़ तौर पर और निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है कि बाद को थुक्का-फ़ज़ीहत के वातावरण में जो इस प्रकार के किस्से गढ़े गये कि हम ग़ैर-'ईस्क्रा'-वादियों को पार्टी से निकाल बाहर करना, या हटा देना चाहते थे, या यह कि बहुमत के उम्मीदवार केवल आधी कांग्रेस में से केवल आधी कांग्रेस द्वारा चुने गये थे, इत्यादि, वे बिल्कुल झूठे थे। ये सब सरासर झूठी बातें हैं। ऊपर मैंने जिस मतदान का उल्लेख किया है, उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ग़ैर-'ईस्क्रा'-वादियों को पार्टी से हटाना तो दूर रहा, हमने उन्हें केन्द्रीय समिति से भी नहीं हटाया था और यह कि हमने अपने विरोधियों का समिति में काफ़ी बड़ा **अल्पमत** रहने दिया था। मगर असली बात तो यह थी कि ये लोग **अपना बहुमत चाहते थे** और जब उनकी यह छोटी-सी इच्छा पूरी नहीं हुई तो उन्होंने **झगड़ा** शुरू कर दिया और केन्द्रीय संस्थाओं में अपने प्रतिनिधि भेजने से इनकार कर दिया। लीग में कामरेड मार्तोव ने जो कुछ कहा, उसके बावजूद वास्तविकता यही थी, इसका प्रमाण निम्नलिखित **पत्र** है, जो कांग्रेस में नियमावली की पहली धारा के स्वीकृत हो जाने के कुछ ही समय बाद 'ईस्क्रा'-संगठन के अल्पमत ने हम लोगों को, यानी 'ईस्क्रा'-वादियों के बहुमत को (जिनका कि सात प्रतिनिधियों के चले जाने के बाद कांग्रेस में भी बहुमत हो गया था) भेजा था (यहां यह

---

* "'ईस्क्रा' संपादक-मंडल से मैं क्यों अलग हो गया?"—सं०

बात ध्यान में रखना चाहिए कि ऊपर मैंने 'ईस्क्रा'-संगठन की जिस बैठक का ज़िक्र किया था, वह उसकी **आख़िरी** बैठक थी, और उसके बाद यह संगठन **असल में** टूट गया था और प्रत्येक पक्ष कांग्रेस के बाक़ी प्रतिनिधियों को यह समझाने की कोशिश कर रहा था कि उसका रुख़ सही है)।

पत्र इस प्रकार था :

> "सम्पादक-मण्डल तथा 'श्रम-मुक्ति' दल के बहुमत की (अमुक तारीख़ की)* बैठक में शामिल होने की इच्छा के बारे में प्रतिनिधि सोरोकिन और साब्लिना[184] का बयान सुनने के बाद, और इन प्रतिनिधियों की मदद से इस तथ्य को स्थापित करने के बाद कि पिछली बैठक में केन्द्रीय समिति के उम्मीदवारों की एक ऐसी सूची पढ़कर सुनायी गयी थी जिसके बारे में कहा गया था कि उसे हमने तैयार किया और उसके आधार पर हमारी पूरी **राजनीतिक** स्थिति को ग़लत रूप में पेश किया गया था; और साथ ही यह ध्यान में रखते हुए कि एक तो इस सूची को बिना इसकी पूछ-ताछ किये कि वह सचमुच कहां से आयी थी, हमारे मत्थे मढ़ दिया गया; दूसरे, यह चीज़ निस्सन्देह अवसरवाद के उस आरोप से जुड़ी हुई है जो 'ईस्क्रा' के सम्पादक-मंडल तथा 'श्रम मुक्ति' दल के बहुमत पर खुलेआम लगाया जा रहा है; और तीसरे, इस आरोप का **'ईस्क्रा'**

---

*मेरे हिसाब के अनुसार पत्र में जिस तारीख़ का ज़िक्र था, वह मंगलवार को पड़ती थी। बैठक मंगल की शाम को, यानी कांग्रेस की २८ वीं बैठक **के बाद** हुई थी। समय का यह क्रम बहुत महत्वपूर्ण है। यह एक **लिखित प्रमाण के आधार पर** कामरेड मार्तोव के इस मत का **खंडन** है कि हम लोगों में फूट केन्द्रीय संस्थाओं के सदस्यों के नामों को लेकर नहीं, बल्कि इन संस्थाओं के संगठन के सवाल पर हुई थी। यह इस बात का भी **लिखित प्रमाण** है कि लीग की कांग्रेस में तथा 'सम्पादक-मण्डल के नाम पत्र' में मैंने इस सम्बंध में जो कुछ कहा था, वह सही था। कांग्रेस की **२८ वीं बैठक के बाद** कामरेड मार्तोव और कामरेड स्तारोवेर ने अवसरवाद के झूठे आरोप की तो बहुत चर्चा की मगर काउंसिल के सदस्यों के नामों को लेकर अथवा केन्द्रीय संस्थाओं में नये सदस्य जोड़ने के सवाल पर (जिसके बारे में २५ वीं, २६ वीं और २७ वीं बैठकों में बहस चली थी) जो मतभेद पैदा हुए थे, उनके बारे में इन साथियों ने **एक शब्द भी नहीं कहा**।

के सम्पादक-मण्डल को बदलने की एक निश्चित योजना के अस्तित्व से संबंध हमारे लिए बिल्कुल स्पष्ट है – इसलिए हमारी राय में हम लोगों को बैठक में शामिल होने की इजाज़त न देने के जो कारण बताये गये हैं, वे संतोषजनक नहीं हैं और हमें बैठक में न आने देना इस बात का सबूत है कि ये साथी हम लोगों को उपरोक्त झूठे आरोपों का खण्डन करने का अवसर नहीं देना चाहते।

"जहां तक केन्द्रीय समिति के उम्मीदवारों की एक संयुक्त सूची के विषय में हम लोगों के बीच समझौते की संभावना का सवाल है, हम ऐलान करते हैं कि समझौते के आधार के रूप में हम केवल यह सूची स्वीकार कर सकते हैं: पोपोव, त्रोत्स्की, और ग्लेबोव। इसके अलावा, हम इस बात पर भी ज़ोर देना चाहते हैं कि यह सूची **समझौते की** सूची है, क्योंकि यदि हमने सूची में कामरेड ग्लेबोव का नाम शामिल किया है तो उसका केवल यही मतलब है कि बहुमत की इच्छाओं का ख़याल रखते हुए एक रिआयत के रूप में यह नाम शामिल किया गया है। कारण कि कांग्रेस में कामरेड ग्लेबोव की जो भूमिका रही है, वह चूंकि अब हमारे सामने स्पष्ट हो गयी है, इसलिए **हमारी राय में** केन्द्रीय समिति की सदस्यता के उम्मीदवार में जो खूबियां होनी चाहिए **वे कामरेड ग्लेबोव में नहीं हैं।**

"साथ ही, हम इस बात पर भी ज़ोर देते हैं कि केन्द्रीय समिति के उम्मीदवारों के नामों के बारे में हम जो बातचीत शुरू कर रहे हैं, उसका केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल के सदस्यों के नामों के सवाल से कोई सम्बंध नहीं है, क्योंकि इस सवाल के बारे में (सम्पादक-मण्डल के नामों के बारे में) हम किसी तरह की समझौते की बातचीत नहीं करना चाहते।

साथियों की तरफ़ से, मार्तोव और स्तारोवेर"

यह पत्र विवाद के दोनों पक्षों की मनोदशा को और झगड़े की स्थिति को बिल्कुल सही-सही चित्रित कर देता है और हमें शीघ्र ही पैदा होनेवाली फूट के "हृदय-

स्थल" तक फ़ौरन पहुंचा देता है और उसके वास्तविक कारणों को स्पष्ट कर देता है। 'ईस्क्रा'-संगठन का अल्पमत बहुमत की राय को मानने से इनकार करने के बाद भी और कांग्रेस के अन्दर आन्दोलन करने की स्वतंत्रता को बेहतर समझते हुए भी (जिसका कि, ज़ाहिर है, उनको पूरा अधिकार था) बहुमत के "प्रतिनिधियों" से यह चाहता था कि वे उन्हें अपनी निजी बैठकों में शामिल होने दें! स्वभावतया, जब यह दिलचस्प मांग हमारी बैठक के सामने रखी गयी (जहां यह पत्र, ज़ाहिर है, पढ़कर सुनाया गया), तो उसके जवाब में साथी केवल मुसकराकर और कंधे बिचकाकर रह गये, और "अवसरवाद के झूठे आरोपों" के बारे में अल्पमत की चीख़-पुकार पर तो, जो कि उन्मत्तों के प्रलाप की हद तक पहुंच गयी थी, सब ठहाका मार कर हंस पड़े। लेकिन पहले हम मार्तोव और स्तारोवेर की शिकायतों को एक-एक करके लें तो बेहतर होगा।

उनकी शिकायत है कि सूची ग़लत ढंग से उनके मत्थे मढ़ दी गयी थी और उनकी राजनीतिक स्थिति को ग़लत ढंग से पेश किया गया था। – मगर जैसा कि ख़ुद मार्तोव ने स्वीकार किया है (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ६४), उनके इस कथन के सच होने के बारे में कि सूची उन्होंने तैयार नहीं की थी, मेरे दिमाग़ में कभी कोई शक पैदा नहीं हुआ था। आम तौर पर, यहां यह सवाल नहीं है कि सूची किसने तैयार की थी, और इस बात का ज़रा भी महत्व नहीं है कि इस सूची को 'ईस्क्रा'-वादियों ने तैयार किया था, या "मध्य पक्ष" के किसी प्रतिनिधि ने तैयार किया था, आदि। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह सूची, जिसमें केवल मौजूदा अल्पमत के ही लोग थे, महज़ एक अटकल या अनुमान के रूप में ही सही, कांग्रेस में घुमायी गयी थी। और अन्त में, **सबसे महत्वपूर्ण बात** यह है कि कांग्रेस में कामरेड मार्तोव को **ऐसी** सूची से अपने को अलग करने के लिए एड़ी-चोटी का ज़ोर **लगाना पड़ा था**, जिस सूची का अब उन्हें बड़ी ख़ुशी के साथ स्वागत करना **चाहिए**। यानी दो-एक महीने के भीतर ही कामरेड मार्तोव का मत एकदम उलट गया; कहां तब वह "बदनाम करनेवाली अफ़वाहों" का रोना रोया करते थे; और कहां अब वह पार्टी की केन्द्रीय संस्था पर ठीक उन्हीं उम्मीदवारों को थोपने की कोशिश कर रहे हैं जिनके नाम उनको बदनाम करने के लिए गढ़ी गयी उस तथाकथित सूची में शामिल थे! लोगों

ग्रौर विचारधाराग्रों का मूल्यांकन करने में ग्रस्थिरता का इस कलाबाज़ी से ग्रधिक स्पष्ट प्रमाण दूसरा क्या हो सकता था!*

लीग की कांग्रेस में कामरेड मार्तोव ने कहा था कि इस सूची का "राजनीतिक ग्रर्थ यह था कि एक ग्रोर हमारे ग्रौर 'यूज्नी राबोची' के तथा दूसरी ग्रोर बुंद के बीच **प्रत्यक्ष समझौते** के रूप में संयुक्त मोर्चा स्थापित हो गया है"। (पृष्ठ ६४) यह बात सच नहीं है, क्योंकि एक तो बुंद ऐसी सूची के ग्राधार पर कभी कोई समझौता नहीं कर सकती थी जिसमें बुंद के एक भी ग्रादमी का नाम नहीं था; ग्रौर दूसरे, बुंद की बात तो जाने दीजिये, 'यूज्नी राबोची' दल के साथ भी किसी प्रत्यक्ष समझौते का (जो मार्तोव को इतना ग्रपमानजनक प्रतीत हुग्रा था) **न तो कोई सवाल था ग्रौर न कभी उठ सकता था**। सवाल समझौते का नहीं, संयुक्त मोर्चे का था; सवाल यह नहीं था कि कामरेड मार्तोव ने कोई सौदा किया था, बल्कि सवाल यह था कि उनको ग्रब **लाज़िमी तौर पर** उन्हीं 'ईस्क्रा'-विरोधियों ग्रौर ग्रस्थिर तत्वों का **समर्थन मिलना ग्रनिवार्य था** जिनके विरुद्ध मार्तोव ने कांग्रेस के पहले हिस्से में संघर्ष किया था ग्रौर जो ग्रब पहली धारा के विषय में मार्तोव की ग़लती को पकड़ कर बैठ गये थे। मैंने ऊपर जिस पत्र को उद्धृत किया है, उससे यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हुई है कि "ग्रपमान" की जड़ सचमुच **ग्रवसरवाद के खुले ग्रौर इसके ग्रलावा झूठे ग्रारोप** में निहित थी। जिन "ग्रारोपों" से यह पूरा मामला शुरू हुग्रा, ग्रौर जिनका कामरेड मार्तोव **ग्रब**, 'सम्पादक-मंडल के नाम पत्र' में मेरे उनको याद दिलाने के बावजूद, कभी कोई ज़िक्र नहीं करते, वे ग्रसल में दो ग्रारोप थे: एक तो नियमावली की पहली धारा पर बहस के दौरान में प्लेख़ानोव ने बड़े दो-टूक ढंग से यह कह दिया था कि पहली धारा का सवाल "ग्रवसरवाद के हर प्रकार के प्रतिनिधियों को" हमसे "दूर रखने" का सवाल है ग्रौर यह कि चूंकि मेरा मसौदा ऐसे लोगों द्वारा पार्टी पर चढ़ाई के खिलाफ़ एक ज़बर्दस्त रोक है, इसलिए "ग्रवसरवाद के सभी दुश्मनों को, ग्रगर ग्रौर किसी कारण से नहीं तो केवल इस कारण से इस मसौदे

---

*जब हमको कामरेड गूसेव ग्रौर कामरेड डेयट्श वाली घटना की सूचना मिली, उस समय तक ये पंक्तियां छपाई के लिए तैयार की जा चुकी थीं। इस घटना पर हम ग्रलग से एक **परिशिष्ट** में विचार करेंगे। (देखिये, इस खंड के पृष्ठ ६५८-६६६ – सं०)

के लिए वोट देना चाहिए" (कांग्रेस की कार्यवाही, पृष्ठ २४६)। इन ज़ोरदार शब्दों से, हालांकि मैंने किसी हद तक उनको नरम करने की कोशिश की (पृष्ठ २५०), एक सनसनी फैल गयी, जो स्पष्ट रूप से कामरेड रूसोव (पृष्ठ २४७), कामरेड त्रोत्स्की (पृष्ठ २४८), और कामरेड अकीमोव (पृष्ठ २५३) के भाषणों में प्रकट हुई। हमारी "पार्लमेन्ट" की "लॉबी" में प्लेख़ानोव की इस स्थापना पर बड़ी तेज़ टिप्पणियां हुईं और पहली धारा पर अन्तहीन बहसों में इस स्थापना को हज़ारों नये रूपों में पेश किया गया। मगर अब हमारे ये प्रिय साथी, अपने मत की अच्छाइयों की पैरवी करने के बजाय सताये हुए लोगों जैसी एक हास्यास्पद मुद्रा धारण कर लेते हैं, यहां तक कि वे लिखित रूप में "अवसरवाद के झूठे आरोपों" का रोना रोते हैं!

यहां मण्डलों की वह संकुचित मनोवृत्ति और पार्टी के सदस्यों की वह आश्चर्यजनक अपरिपक्वता बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है जो सबके सामने होनेवाली खुली बहस की ताज़ा हवा को बर्दाश्त नहीं कर सकती। रूसी लोग इस मनोवृत्ति से काफ़ी परिचित हैं, जिसके बारे में एक पुरानी कहावत भी है कि या तो कोट उतारकर भिड़ जाओ, वरना दोस्ती का हाथ बढ़ाओ! ये लोग अन्तरंग मित्रों के चक्र के बंद बोतल जैसे अलग-थलग वातावरण के इतने आदी हो गये हैं कि कोई उन्मुक्त भाव से खुले मैदान में अपनी ज़िम्मेदारी पर बोला नहीं कि इनको दौरा पड़ जाता है। अवसरवाद के आरोप! और किसके ख़िलाफ़? 'श्रम मुक्ति' दल के, और वह भी उसके बहुमत के ख़िलाफ़ – क्या आप इससे अधिक भयानक और किसी चीज़ की कल्पना कर सकते हैं! इस अपमान के कारण, जिसे किसी भी प्रकार धोया नहीं जा सकता, या तो पार्टी के दो टुकड़े कर दो, और या फिर वही बंद बोतल वाले वातावरण का "सिलसिला" शुरू करके इस "पारिवारिक मनमुटाव" पर पर्दा डाल दो – उपरोक्त पत्र से यह बात काफ़ी स्पष्ट हो जाती है कि इन लोगों को बस यह बादवाला रास्ता ही सूझता है। बुद्धिजीवी का व्यक्तिवाद और मण्डल मनोवृत्ति इस मांग से टकरायी कि पार्टी के सामने पूरी बात साफ़-साफ़ रख दी जाये। क्या आप जर्मन पार्टी में भी कभी "अवसरवाद के **झूठे** आरोपों" के बारे में ऐसी बेतुकी बातों, ऐसी थुक्का-फ़ज़ीहत, ऐसी शिकायत की कल्पना भी कर सकते हैं! वहां सर्वहारा संगठन और अनुशासन ने उन्हें बहुत दिन पहले ही बुद्धिजीवियों की इस तुनुकमिज़ाजी से मुक्त कर दिया

था। वहां कोई आदमी ऐसा नहीं है जिसके हृदय में, मिसाल के तौर पर, लीब्कनेख़्त के लिए अत्यधिक आदर के भाव के अतिरिक्त कोई दूसरा भाव हो; मगर यदि कोई यह **शिकायत** करता कि १८९५ की कांग्रेस में[185], जहां कृषि सम्बंधी प्रश्नों पर वह उस कुख्यात अवसरवादी फ़ोलमार तथा उसके मित्रों की बुरी संगत में नज़र आये थे, उनपर (बेबेल के साथ) "खुलेआम अवसरवाद का आरोप लगाया गया था", तो इसपर लोग कितना हंसते। लीब्कनेख़्त का नाम जर्मन मज़दूर वर्ग के आन्दोलन के इतिहास से घनिष्ठ रूप से, जाहिर है, इस बात की वजह से नहीं बल्कि इस बात के बावजूद जुड़ा हुआ है, कि वह इस अपेक्षाकृत छोटे और विशिष्ट प्रश्न पर अवसरवाद की ओर भटक गये थे। और इसी प्रकार इन झगड़ों के दौरान में पैदा होनेवाली तमाम झुंझलाहट के बावजूद, मिसाल के तौर पर, कामरेड अक्सेलरोद के नाम के प्रति हर रूसी सामाजिक-जनवादी के दिल में आदर का भाव उत्पन्न हो जाता है और सदा होता रहेगा; लेकिन इस बात की वजह से नहीं, बल्कि इस बात के बावजूद कि कामरेड अक्सेलरोद ने हमारी पार्टी की दूसरी कांग्रेस में एक अवसरवादी विचार का समर्थन किया था, और लीग की दूसरी कांग्रेस में वह पुरानी अराजकतावादी गन्दगी को फिर खोदकर ले आये थे। 'श्रम मुक्ति' दल के बहुमत के विरुद्ध अवसरवाद के "झूठे आरोप" को लेकर ऐसे दौरे पड़ने लगें, झगड़े शुरू हो जायें, और यहां तक कि पार्टी में फूट तक पड़ जाये, इसका कारण केवल अत्यन्त संकुचित ढंग की मण्डल-मनोवृत्ति ही हो सकती है जो या तो "कोट उतार कर भिड़ जाने" में विश्वास करती है, या "सब कुछ भुलाकर दोस्ती का हाथ बढ़ाने" में।

इस भयानक आरोप का दूसरा कारण पहले कारण से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है (लीग की कांग्रेस में [पृष्ठ ६३] कामरेड मार्तोव ने इस घटना के **एक** पहलू से कतराने और उसपर पर्दा डाल देने की बहुत कोशिश की थी)। इसका सम्बंध कामरेड मार्तोव के साथ 'ईस्क्रा'-विरोधी तथा ढुलमुल तत्वों के उसी **संयुक्त मोर्चे** से है जो नियमावली की पहली धारा के सम्बंध में **दिखायी पड़ने लगा था**। स्वाभाविक रूप से, कामरेड मार्तोव और 'ईस्क्रा'-विरोधियों के बीच कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष समझौता नहीं था और न हो ही सकता था; न ही किसी ने उन पर ऐसा शक किया था: भय के कारण उन्हें केवल ऐसा प्रतीत हुआ। लेकिन **राजनीतिक दृष्टि से** उनकी ग़लती इस बात में प्रकट हुई कि ऐसे लोग, जो कि

असंदिग्ध रूप से अवसरवाद की ओर झुक रहे थे, उनके इर्द-गिर्द अधिकाधिक ठोस और "गठे हुए" बहुमत के रूप में जमा होते गये (यह बहुमत अब यदि अल्पमत बन गया है तो इसका कारण **केवल** यही है कि "संयोग से" सात प्रतिनिधि कांग्रेस से उठकर चले गये)। हमने पहली धारा पर बहस ख़तम हो जाने के बाद तत्काल ही इस "संयुक्त मोर्चे" की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था, और ज़ाहिर है, हमने **खुलेआम** ऐसा किया था – कांग्रेस में भी (देखिये कामरेड पावलोविच की वह टिप्पणी जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं: कांग्रेस की कार्यवाही, पृष्ठ २५५) और 'ईस्क्रा'-संगठन में भी (जहां तक मुझे याद आता है, प्लेखानोव ने ख़ास तौर पर इस चीज़ का ज़िक्र किया था)। और हमने बिल्कुल वही बात कही थी और वही फ़िकरा कसा था जिस तरह की बात १८९५ में ज़ेटकिन ने बेबेल और लीब्कनेख़्त से कही थी। उन्होंने कहा था: «Es tut mir in der Seele weh, daß ich dich in der Gesellschaft seh'» (तुम्हें– यानी बेबेल को – ऐसे लोगों की – यानी फ़ोलमार, आदि की – संगत में देखकर मुझे बड़ा दुख होता है)। यह बात अवश्य ही बड़ी अजीब है कि बेबेल और लीब्कनेख़्त ने अवसरवाद के झूठे आरोप की शिकायत करते हुए काउत्स्की और ज़ेटकिन के पास कोई दीवानेपन का संदेश नहीं भेजा ...

जहां तक केन्द्रीय समिति की सदस्यता के उम्मीदवारों का सम्बंध है, इस ख़त से पता चलता है कि कामरेड मार्तोव ने लीग में यह कहकर ग़लती की थी कि उन्होंने हम लोगों के साथ समझौता करने से अन्तिम रूप से इनकार नहीं किया था – और इससे एक बार फिर यह साबित हो जाता है कि राजनीतिक संघर्ष में लिखित दस्तावेज़ों पर भरोसा करने के बजाय, याददाश्त के आधार पर **ज़बानी कही हुई बातों** को दुहराने की कोशिश करना कितना ख़तरनाक होता है। वास्तव में, यह "अल्पमत" महत्वाकांक्षा से इतनी दूर था कि उसने "बहुमत" को यह चुनौती दे दी थी कि "अल्पमत" के दो आदमी और "बहुमत" का एक आदमी लो (और वह भी समझौते के रूप में और सच पूछा जाये तो **महज़** एक रिआयत के तौर पर!)। भयानक बात है, मगर है यह सच्ची बात। और इस तथ्य से यह बात भी पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि अब इस आशय के जो क़िस्से फैलाये जा रहे हैं कि कांग्रेस के केवल आधे भाग ने अपने में से ही प्रतिनिधियों को चुन लिया था, कितने निराधार हैं।

असलियत ठीक इसकी उल्टी है: मार्तोव-वादियों ने महज़ रिआयत के तौर पर हमें तीन में से एक सीट देने का प्रस्ताव किया था; जिसका मतलब यह था कि अगर हम इस अनोखी "रिआयत" को स्वीकार न करें तो उस दशा में वे सारी सीटों को **अपने** उम्मीदवारों से भर देना चाहते थे! अपनी निजी बैठक में हम लोग मार्तोव-वादियों की इस विनम्रता पर ख़ूब हंसे और हमने अपनी अलग एक सूची तैयार की: ग्लेबोव, त्राविंस्की (जो बाद को केन्द्रीय समिति में चुने भी गये) और **पोपोव**। बाद को (चौबीस साथियों की निजी बैठक में) हमने कामरेड पोपोव के स्थान पर कामरेड वसील्येव (जो बाद में केन्द्रीय समिति में चुने भी गये) का नाम अपनी सूची में **केवल इसीलिए** रखा कि कामरेड पोपोव ने पहले निजी बातचीत में और फिर कांग्रेस में (पृष्ठ ३३८) खुलेआम हमारी सूची में शामिल किये जाने से इनकार कर दिया था।

यह था असल मामला।

महत्वाकांक्षा से मुक्त इस "अल्पमत" की केवल इतनी-सी इच्छा थी कि उसका बहुमत हो जाये। जब यह छोटी-सी इच्छा नहीं पूरी हुई तो "अल्पमत" ने बिल्कुल ही इनकार कर देने की कृपा की और झगड़ा खड़ा कर दिया। फिर भी ऐसे लोग हैं जो अब बड़ी शान के साथ "बहुमत" के "अड़ियलपन" की बातें करने की हिम्मत करते हैं!

कांग्रेस में स्वतंत्र रूप से आंदोलन करने का जो अखाड़ा जमा हुआ था, उसमें उतरकर "अल्पमत" ने "बहुमत" को बड़ी मज़ेदार चुनौतियां दीं। पर हारने के बाद **हमारे ये वीर छाती पीटने लगे और घेरे की स्थिति का रोना रोने लगे**। और बस।

इस भयंकर आरोप पर भी हम (चौबीस साथियों की निजी बैठक में) मुस्कराकर ही रह गये कि हम लोग सम्पादक-मण्डल के सदस्यों को बदलना चाहते थे: कांग्रेस के शुरू से ही, बल्कि कांग्रेस के पहले से ही, हर आदमी को इस योजना की जानकारी थी कि प्रारम्भिक त्रिगुट को चुनकर सम्पादक-मण्डल को **नया रूप दिया जायेगा** (जब मैं कांग्रेस में सम्पादक-मण्डल के चुनाव पर आऊंगा तो मैं इसका अधिक विस्तार से ज़िक्र करूंगा)। इस बात से हमें कोई आश्चर्य नहीं हुआ कि जब "अल्पमत" ने यह देखा कि 'ईस्क्रा'-विरोधियों के साथ उसके संयुक्त मोर्चे से यह योजना बिल्कुल सही सिद्ध हो जाती है, **तब** "अल्पमत"

इस योजना से बिल्कुल भयभीत हो उठा। यह बिल्कुल स्वाभाविक बात थी। ज़ाहिर है, हम इस प्रस्ताव को गम्भीरता का सुझाव नहीं समझ सकते थे कि खुद अपनी मर्ज़ी से और कांग्रेस में संघर्ष होने के पहले ही हम अपने को अल्पमत में बदल दें। और न ही हम इस पूरे पत्र को कोई महत्व दे सकते थे जिसके लेखक झुंझलाहट की उस अविश्वसनीय हालत में पहुंच गये थे कि वे "अवसरवाद के झूठे आरोपों" की बातें करने लगे थे। हमें पूरी आशा थी कि शीघ्र ही इन लोगों की पार्टी के प्रति कर्तव्य की भावना उनकी "गुस्सा निकालने" की स्वाभाविक इच्छा पर विजय प्राप्त कर लेगी।

ड) नियमावली की बहस का जारी रहना। काउंसिल की रचना

नियमावली की बाक़ी धाराओं के सिलसिले में, संगठन के सिद्धान्तों की अपेक्षा ख़ास-ख़ास बातों पर कहीं ज्यादा बहस हुई। कांग्रेस की २४ वीं बैठक पूरी की पूरी इस सवाल पर बहस करने में गयी कि पार्टी कांग्रेसों में भाग लेनेवाले प्रतिनिधि किस आधार पर चुने जायेंगे। और इस बार सभी 'ईस्क्रा'-वादियों की संयुक्त योजनाओं के ख़िलाफ़ दृढ़ और सुनिश्चित संघर्ष केवल बुंद-वादियों ने (गोल्डब्लाट और लाइबर ने, पृष्ठ २५८-५९) और कामरेड अकीमोव ने किया। कामरेड अकीमोव ने प्रशंसनीय स्पष्टवादिता के साथ खुद यह स्वीकार कर लिया कि कांग्रेस में उनकी क्या भूमिका थी। उन्होंने कहा: "हर बार मैं जब बोलता हूं तो मुझे इस बात का पूरा एहसास रहता है कि मेरी दलीलों का साथियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, बल्कि उल्टे उनसे उस मत को धक्का पहुंचेगा जिसका समर्थन करने की मैं कोशिश कर रहा हूं।" (पृष्ठ २६१) चूंकि यह बात नियमावली की पहली धारा की बहस के फ़ौरन बाद कही गयी थी, इसलिए वह और भी उपयुक्त प्रतीत हुई। केवल इस प्रसंग में "उल्टे" शब्द का प्रयोग ठीक नहीं लगता था, क्योंकि कामरेड अकीमोव न केवल किसी मत विशेष को धक्का पहुंचाने की क्षमता रखते थे, बल्कि उसके साथ-साथ और उसी के द्वारा वह उन अत्यन्त ढुलमुल 'ईस्क्रा'-वादियों में से "कुछ साथियों पर प्रभाव डालने" की भी क्षमता रखते थे जिनका झुकाव अवसरवादी लफ़्फ़ाज़ी की तरफ़ था।

बहरहाल, नियमावली की तीसरी धारा, जिसमें कांग्रेस में प्रतिनिधित्व पाने की शर्तें बतायी गयी थीं, बहुमत से पास हो गयी। सात प्रतिनिधि तटस्थ रहे (पृष्ठ २६३)। ये, जाहिर है, 'ईस्क्रा'-विरोधी थे।

कांग्रेस की २५ वीं बैठक का अधिकतर भाग काउंसिल के नामों की बहस में गया। इस बहस के दौरान में बड़ी भारी संख्या में प्रस्ताव पेश हुए और उन पर अनेकों प्रकार की दलबंदियां नजर आयीं। अब्रामसन और ज़ार्योव ने कहा कि काउंसिल की कोई आवश्यकता ही नहीं है। पानिन ने इस बात पर ज़ोर दिया कि काउंसिल को केवल पंच-अदालत का काम करना चाहिए, और इसलिए उन्होंने बिल्कुल सुसंगत ढंग से काउंसिल की इस परिभाषा को काट देने का प्रस्ताव किया कि वह पार्टी की सर्वोच्च संस्था है, जिसकी बैठक उसके कोई भी दो सदस्य बुलवा सकते हैं*। हेट्र्ज़[186] और रूसोव ने नियमावली आयोग के **पांच** सदस्यों द्वारा बताये गये काउंसिल के निर्माण के **तीन** तरीक़ों के अलावा भी विभिन्न तरीक़ों को अपनाने के सुझाव रखे।

इस विवाद में जितने प्रश्न उठे, उन सबका सार-तत्व यह था कि काउंसिल के कार्यों की किस प्रकार व्याख्या की जायेगी: वह पंच-अदालत होगी, या पार्टी की सर्वोच्च संस्था? जैसा कि मैं ऊपर बता चुका हूं, कामरेड पानिन ने हमेशा उसे पंच-अदालत बनाने का समर्थन किया था। लेकिन वह अकेले थे। कामरेड मार्तोव इस मत के सख़्त विरोधी थे: "मैं प्रस्ताव करता हूं कि 'काउंसिल सर्वोच्च संस्था है'—इन शब्दों को काट देने का प्रस्ताव रद्द कर दिया जाये। हमारी स्थापना" (यानी, काउंसिल के कार्यों की वह परिभाषा जिसपर नियमावली-आयोग में हम सब सहमत हो गये थे) "जान-बूझकर इस सम्भावना के लिए द्वार खोले रखती है कि काउंसिल पार्टी की सर्वोच्च संस्था बन जाये। हमारे लिए

---

*लगता है कामरेड स्तारोवेर भी कामरेड पानिन के मत के थे। अन्तर केवल इतना था कि कामरेड पानिन जानते थे कि वह क्या चाहते हैं और इसलिए उन्होंने बहुत सुसंगत ढंग से ऐसे प्रस्ताव पेश किये थे जिनका उद्देश्य यह था कि काउंसिल को विशुद्ध पंच-अदालत या केवल झगड़े निपटानेवाली समिति में बदल दिया जाये; कामरेड स्तारोवेर इसके विपरीत यह नहीं जानते थे कि वह क्या चाहते हैं और कहते थे कि मसौदे के अनुसार तो काउंसिल की बैठक केवल "विवाद से संबंधित पक्षों के चाहने पर ही" हो सकेगी (पृष्ठ २६६)। यह बात सरासर झूठ है।

काउंसिल झगड़े निपटानेवाला बोर्ड मात्र नहीं है।" फिर भी, कामरेड मार्तोव के मसौदे में काउंसिल की रचना की जिस ढंग से परिभाषा की गयी थी, उससे काउंसिल का रूप विशुद्ध पंच-अदालत या झगड़े निपटानेवाले बोर्ड का हो जाता था। उनका सुझाव था कि काउंसिल में दो-दो सदस्य दोनों केन्द्रीय संस्थाओं के हों और ये चार सदस्य पांचवें को बुला लें। इस रूप में ही नहीं, उस रूप में भी जो कामरेड रूसोव और हेट्र्ज़ के प्रस्ताव पर अन्त में कांग्रेस ने स्वीकार किया (जिसमें पांचवां सदस्य कांग्रेस में चुना जानेवाला था), काउंसिल केवल झगड़े निपटाने या बीच-बचाव करने के उद्देश्य को ही पूरा कर सकती है। काउंसिल की रचना इस ढंग से हो और फिर हम चाहें कि वह पार्टी की सर्वोच्च संस्था बन जाये—इन दोनों बातों के बीच ऐसा विरोध है जो मिट ही नहीं सकता। पार्टी की सर्वोच्च संस्था के सदस्य बदलते नहीं रहने चाहिए, और केन्द्रीय संस्थाओं की सदस्यता में होनेवाले आकस्मिक परिवर्तनों पर (कभी-कभी गिरफ़्तारियों के कारण) निर्भर नहीं होने चाहिए। सर्वोच्च संस्था का पार्टी कांग्रेस से सीधा सम्पर्क होना चाहिए। उसे सीधे पार्टी कांग्रेस से अधिकार मिलने चाहिए, न कि पार्टी की उन अन्य दो केन्द्रीय संस्थाओं से जो कि कांग्रेस के मातहत होती हैं। सर्वोच्च संस्था के सदस्य ऐसे लोग होने चाहिए जिनसे पार्टी कांग्रेस परिचित हो। और आख़िरी बात यह है कि **सर्वोच्च** संस्था का **संगठन** इस तरह नहीं किया जाना चाहिए कि उसका **अस्तित्व ही** आकस्मिक घटनाओं पर निर्भर हो जाये—अगर दो केन्द्रीय संस्थाएं पांचवें सदस्य के नाम पर सहमत न हो सकें तो पार्टी की सर्वोच्च संस्था ही न बन पाये! इस मत पर निम्नलिखित आपत्तियां की गयी थीं: (१) अगर पांच सदस्यों में से एक तटस्थ हो जाये और बाक़ी चार में से दो-दो दोनों तरफ़ हो जायें तो स्थिति उतनी ही विकट हो जायेगी (येगोरोव)। यह आपत्ति निराधार है, क्योंकि कुछ विशेष परिस्थितियों में तो यह **किसी भी** संस्था में हो सकता है कि **फ़ैसला करना** असम्भव हो जाये; मगर यह बात इससे सर्वथा भिन्न है कि संस्था का **बनाना** ही असम्भव हो जाये। दूसरी आपत्ति यह थी कि: "यदि काउंसिल जैसी संस्था अपना पांचवां सदस्य भी नियुक्त नहीं कर सकती तो वह कुछ नहीं कर सकती" (ज़ासुलिच)। मगर यहां सवाल यह नहीं है कि काउंसिल कुछ कर भी सकेगी या नहीं। सवाल यह है कि पार्टी की यह **सर्वोच्च** संस्था बन ही नहीं पायेगी: पांचवें सदस्य के बिना काउंसिल **हो ही नहीं**

सकती, कोई भी संस्था नहीं बन पायेगी, और उस हालत में यह बहस बेकार है कि वह कुछ कर पायेगी या नहीं। आखिरी बात यह कि यदि दिक़्क़त यह होती कि पार्टी की कोई ऐसी संस्था न बन पाये जिसके ऊपर पार्टी की कोई अधिक ऊंची संस्था हो तो उसका इलाज किया जा सकता है, क्योंकि ज़रूरी मामलों में ऊपरवाली संस्था किसी न किसी प्रकार नीचेवाली संस्था के अभाव को दूर कर देगी। लेकिन काउंसिल के ऊपर तो कांग्रेस के अलावा और कोई संस्था **नहीं है**। इसलिए, नियमावली में इस बात की गुंजायश छोड़ देना कि काउंसिल **बन ही न पाये**, क़तई तर्कसंगत बात नहीं है।

इस सवाल पर मैंने पार्टी कांग्रेस में जो दो संक्षिप्त भाषण दिये, उन दोनों में मैंने **केवल इन्हीं दो** ग़लत आपत्तियों का जवाब दिया (पृष्ठ २६७ और २६९), जो मार्तोव तथा अन्य साथियों ने मार्तोव के मसौदे के समर्थन में पेश की थीं। जहां तक इस प्रश्न का सम्बंध था कि काउंसिल में किसका पलड़ा भारी रहे — केन्द्रीय मुखपत्र का अथवा केन्द्रीय समिति का — **मैंने इस प्रश्न का ज़िक्र तक नहीं किया**। इस सवाल का ज़िक्र **सबसे पहले कामरेड अकीमोव** ने पार्टी कांग्रेस की १४ वीं बैठक में किया था (पृष्ठ १५७) ; उनको यह ख़तरा था कि केन्द्रीय मुखपत्र का पलड़ा भारी हो जायेगा और जब **कांग्रेस के बाद** कामरेड मार्तोव, अक्सेलरोद, आदि ने यह बेतुका और झूठा क़िस्सा गढ़ा कि "बहुमत" केन्द्रीय समिति को सम्पादक-मण्डल के हाथ की कठपुतली बना देना चाहता था, तब वे, वास्तव में, **केवल** अकीमोव के क़दमों पर चल रहे थे। मगर अपनी पुस्तिका 'घेरे की स्थिति' में इस क़िस्से की चर्चा करते समय कामरेड मार्तोव ने नम्रतावश यह नहीं बताया कि यह क़िस्सा असल में किसके दिमाग़ की उपज था!

जो कोई भी यह जानना चाहता है कि केन्द्रीय समिति पर केन्द्रीय मुखपत्र का प्रभुत्व जमाने के सवाल पर पार्टी कांग्रेस ने **कुल मिलाकर** क्या किया, और जो कोई संदर्भ से कटे हुए अलग-अलग उद्धरणों से सन्तोष नहीं करना चाहता, वह आसानी से इस बात को समझ लेगा कि इस पूरे सवाल को कामरेड मार्तोव ने कैसे तोड़ा-मरोड़ा है। बहुत पहले १४ वीं बैठक में ही जिस शख़्स ने **कामरेड अकीमोव के विचारों के ख़िलाफ़** जिहाद छेड़ दिया था, **वह कामरेड पोपोव के सिवा और कोई नहीं था** ; पोपोव की राय में कामरेड अकीमोव "पार्टी के शीर्ष-स्थान पर 'अधिक से अधिक सख़्त केन्द्रीकरण'" चाहते थे "**ताकि केन्द्रीय मुखपत्र**

का प्रभाव कमज़ोर हो जाये" (पृष्ठ १५४ ; शब्दों पर ज़ोर मेरा है) "जो दरअसल (अकीमोव की) इस योजना का सारा मतलब है"। इसके अलावा कामरेड पोपोव ने यह भी कहा कि, "इस प्रकार के केन्द्रीकरण का समर्थन करने के बजाय मैं उसका हर सम्भव उपाय से विरोध करने को तैयार हूं, क्योंकि यह **अवसरवाद का झंडा** है।" केन्द्रीय समिति पर केन्द्रीय मुखपत्र के प्रभुत्व के इस कुख्यात प्रश्न की **जड़** यह थी, और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि कामरेड मार्तोव अब इस सवाल की उत्पत्ति पर चूप्पी साधने पर **बाध्य** हैं। कामरेड अकीमोव की केन्द्रीय मुखपत्र के प्रभुत्व की बातें कितनी **अवसरवादी थीं***, यह बात तो कामरेड पोपोव **तक** की नज़र से नहीं चूकी, और कामरेड अकीमोव से अपना नाता बिल्कुल तोड़ लेने के लिए कामरेड पोपोव ने **साफ़-साफ़** कहा था कि: "इस केन्द्रीय संस्था (काउंसिल) में तीन सदस्य सम्पादक-मण्डल के रहने दीजिये और दो केन्द्रीय समिति के। **यह गौण महत्व का सवाल है**।" (शब्दों पर ज़ोर मेरा है।) "महत्वपूर्ण बात यह है कि नेतृत्व, पार्टी के सर्वोच्च नेतृत्व, का उद्गम एक स्थान पर ही होना चाहिए।" (पृष्ठ १५५) कामरेड अकीमोव ने इसपर एतराज़ करते हुए कहा: "मसौदे के अनुसार काउंसिल में केवल इसी

---

*कामरेड अकीमोव को अवसरवादी कहने में न तो कामरेड पोपोव को कोई हिचकिचाहट हुई थी और न कामरेड मार्तोव को; उनको यह विशेषण केवल उस समय से बुरा लगने लगा और उसे सुनकर उनको महज़ उस वक़्त गुस्सा आया जब "भाषाओं की समानता" या पहली धारा के सम्बंध में **उनके लिए** इस विशेषण का प्रयोग किया गया और ठीक प्रयोग किया गया। लेकिन पार्टी कांग्रेस में कामरेड अकीमोव का आचरण, जिनके क़दमों पर कामरेड मार्तोव चले हैं, लीग की कांग्रेस में कामरेड मार्तोव और उनके संगी-साथियों के आचरण की तुलना में कहीं अधिक आत्मगरिमा और पुरुषत्व से भरा था। पार्टी कांग्रेस में कामरेड अकीमोव ने कहा: "मुझे यहां अवसरवादी कहा गया है। व्यक्तिगत रूप से मैं इसे एक गन्दी गाली समझता हूं और मेरा विश्वास है कि मैंने ऐसा कोई काम नहीं किया जिसके कारण मुझे अवसरवादी कहा जाये। फिर भी मैं इसका प्रतिवाद नहीं करता।" (पृष्ठ २९६) क्या ऐसा तो नहीं हुआ कि कामरेड मार्तोव और स्तारोवेर ने कामरेड अकीमोव को भी अवसरवाद के झूठे आरोप का खण्डन करने में उनके प्रतिवाद का साथ देने का निमंत्रण दिया हो और कामरेड अकीमोव ने इनकार कर दिया हो?

बात से सदा केन्द्रीय मुखपत्र का प्रभुत्व बना रहेगा, कि सम्पादक-मण्डल के सदस्यगण स्थायी हैं लेकिन केन्द्रीय समिति के अस्थायी" (पृष्ठ १५७) — इस दलील का सम्बंध केवल **सिद्धान्त** के मामलों में नेतृत्व के "स्थायित्व" से है (जो कि एक स्वाभाविक और अच्छी चीज़ है) और उसका हस्तक्षेप अथवा स्वतंत्रता पर प्रतिबंध के अर्थ में "प्रभुत्व" से तनिक भी सम्बंध नहीं है। और कामरेड पोपोव ने, जो उस समय तक उस "अल्पमत" में नहीं शामिल हुए थे जो अब केन्द्रों की रचना से अपने असन्तोष को केन्द्रीय समिति की स्वाधीनता के अभाव की मनगढ़न्त बातें करके छिपा रहा है, कामरेड अकीमोव को बिल्कुल सही जवाब दिया था कि "मैं यह प्रस्ताव करता हूं कि इसको" (काउंसिल को) "पार्टी की प्रमुख केन्द्रीय संस्था समझा जाये, क्योंकि उस हालत में **इसका कोई महत्व नहीं रहेगा कि काउंसिल में केन्द्रीय मुखपत्र के ज्यादा प्रतिनिधि हैं या केन्द्रीय समिति के**" (पृष्ठ १५७-१५८; शब्दों पर ज़ोर मेरा है)।

जब कांग्रेस की २५ वीं बैठक में काउंसिल की रचना के सम्बंध में फिर बहस शुरू हुई तो कामरेड पावलोविच ने पुरानी बहस को जारी रखते हुए केन्द्रीय समिति के मुक़ाबले में केन्द्रीय मुखपत्र का पलड़ा भारी रखने का समर्थन किया और उसका कारण यह बताया कि केन्द्रीय मुखपत्र "ज़्यादा टिकाऊ होगा" (पृष्ठ २६४)। कामरेड पावलोविच का मतलब **सिद्धान्त** के मामले में टिकाऊ होने से था, और कामरेड मार्तोव ने भी उनके शब्दों का यही मतलब लगाया था। कामरेड पावलोविच के फ़ौरन बाद बोलते हुए मार्तोव ने कहा कि "एक संस्था पर दूसरी संस्था की प्रधानता को सुनिश्चित बनाने" की कोई आवश्यकता नहीं है और यह बताया कि यह सम्भव है कि केन्द्रीय समिति का एक सदस्य विदेश में रहे, "और इस प्रकार सिद्धान्त के मामलों में केन्द्रीय समिति की स्थिरता भी कुछ हद तक बनी रह जायेगी" (पृष्ठ २६४)। यानी, इस समय तक **सिद्धांत के** मामलों में स्थिरता के विचार को केन्द्रीय समिति की स्वाधीनता और पहलक़दमी को सुरक्षित रखकर इस स्थिरता को बनाये रखने के विचार के साथ **गड़बड़ा देने** का कोई चिन्ह तक नहीं था। **कांग्रेस के बाद** तो यह गड़बड़ कामरेड मार्तोव के लिए तुरुप का पत्ता बन गयी है, मगर **कांग्रेस में** यह गड़बड़ **केवल कामरेड अकीमोव** ने पैदा की थी, क्योंकि वह तो **उसी वक़्त से** "नियमावली की अराकचेयेव की भावना"[187] की चर्चा करने लगे थे (पृष्ठ २६८); उन्होंने कहा था

कि "**अगर पार्टी-काउंसिल में तीन सदस्य केन्द्रीय मुखपत्र के होंगे तो केन्द्रीय समिति महज़ सम्पादक-मण्डल की इच्छाओं को कार्यान्वित करनेवाली संस्था बनकर रह जायेगी**"। (शब्दों पर जोर मेरा है।) "विदेश में रहनेवाले तीन व्यक्तियों को पूरी (!!) पार्टी के काम का संचालन करने का अनियंत्रित (!!) अधिकार मिल जायेगा। ये लोग सदा सुरक्षित रहेंगे और इसलिए उनकी शक्ति आजीवन क़ायम रहेगी" (पृष्ठ २६८)। इन बिलकुल बेहूदा और लफ़्फ़ाज़ी से भरी बातों पर ही, जो **सैद्धान्तिक नेतृत्व के बदले पूरी पार्टी के काम में हस्तक्षेप** को जगह देती हैं (और जिनसे कांग्रेस के बाद कामरेड अक्सेलरोद को "देव राज्य" का एक सस्ता नारा मिल गया था[188]), – इन्हीं बातों पर कामरेड पावलोविच ने फिर एतराज़ करते हुए कहा था कि "जिन सिद्धान्तों का 'ईस्क्रा' प्रतिनिधित्व करता है, उनकी स्थिरता और शुद्धता" को मैं क़ायम रखना चाहता हूं। "मैं केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल का पलड़ा भारी करके इन सिद्धांतों को सशक्त और सुदृढ़ बनाना चाहता हूं।"

केन्द्रीय समिति के मुक़ाबले में केन्द्रीय मुखपत्र का पलड़ा भारी करने के उस कुख्यात सवाल की असलियत यही थी। अब कामरेड अक्सेलरोद और कामरेड मार्तोव जिस प्रसिद्ध "सैद्धान्तिक मतभेद" की चर्चा कर रहे हैं, वह **कामरेड अकीमोव की उन लफ़्फ़ाज़ी से भरी अवसरवादी बातों को दुहराने** के सिवा और कुछ नहीं है, जिनका असली स्वरूप कामरेड पोपोव तक ने उस समय पहचान लिया था, जिस समय तक कि केन्द्रीय संस्थाओं की रचना के सम्बंध में उन्होंने हार नहीं खायी थी!

* * *

काउंसिल की रचना के प्रश्न का निचोड़ यदि संक्षेप में रखा जाये तो हम कहेंगे कि : अपनी पुस्तिका, 'घेरे की स्थिति', में कामरेड मार्तोव की यह साबित करने की कोशिशों के बावजूद कि 'सम्पादक-मण्डल के नाम पत्र' में मैंने इस प्रश्न के बारे में जो कुछ कहा था वह परस्पर-विरोधी बातों से भरा हुआ और ग़लत है, कांग्रेस की कार्यवाही से यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि पहली धारा **के मुक़ाबले में** यह सवाल सचमुच एक **तफ़सीली सवाल** था और 'हमारी कांग्रेस' शीर्षक लेख ('ईस्क्रा', अंक ५३) का यह कहना कि कांग्रेस में हम लोगों ने "एक तरह से केवल" पार्टी की केन्द्रीय संस्थाओं के संगठन के बारे

में बहस की थी, **सत्य को सरासर तोड़-मरोड़कर रखना है**। और यहां यह बात इसलिए और भी भयंकर बन जाती है कि इस लेख के लेखक ने **पहली धारा के पूरे विवाद को एकदम अनदेखा कर दिया है**। इसके अलावा, कार्यवाही से यह बात भी प्रमाणित हो जाती है कि काउंसिल की रचना के सवाल पर 'ईस्क्रा'-वादियों की कोई दलबंदी नहीं थी; इस सवाल पर नाम पुकारकर वोट नहीं लिये गये; मार्तोव का पानिन से मतभेद था; मैं और पोपोव साथ थे; येगोरोव और गूसेव का एक अलग मत था; इत्यादि। और अन्त में, इस बात से—जो कि अब सब को साफ़ दिखायी देती है—कि कामरेड मार्तोव तथा कामरेड अक्सेल्रोद इस सवाल पर भी कामरेड अकीमोव की ओर झुक गये (विदेश-स्थित रूसी क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों की लीग की कांग्रेस में) मेरे इस अन्तिम वक्तव्य की **सच्चाई भी सिद्ध हो जाती है** कि मार्तोव-वादियों और 'ईस्क्रा'-विरोधियों का संयुक्त मोर्चा बराबर अधिकाधिक शक्ति प्राप्त करता गया था।

ढ) नियमावली की बहस की समाप्ति। केन्द्रीय संस्थाओं में नये नाम जोड़ने का सवाल। 'राबोचेये देलो' के प्रतिनिधियों का उठकर चले जाना

नियमावली पर इसके बाद (कांग्रेस की २६ वीं बैठक में) जो बहस हुई, उसमें केवल केन्द्रीय समिति के अधिकारों को सीमित करने का प्रश्न उल्लेखनीय है, क्योंकि उससे इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि मार्तोव-वादी अति-केन्द्रीयता पर **आजकल** जो हमले कर रहे हैं, उनकी असलियत क्या है। कामरेड येगोरोव और कामरेड पोपोव ने अधिक विश्वास के साथ केन्द्रीयता को सीमित करने का प्रयत्न किया था, और उनके प्रयत्न का इस बात से कोई सम्बंध नहीं प्रतीत होता था कि वह ख़ुद चुनाव में खड़े हुए हैं, या वे किसी का समर्थन कर रहे हैं। जब सवाल नियमावली आयोग के सामने ही था, उन्होंने तभी प्रस्ताव पेश किया कि केन्द्रीय समिति के स्थानीय समितियों को भंग कर देने के अधिकार को इस माने में सीमित कर दिया जाये कि उसे काउंसिल से अनुमति लेकर ही ऐसा करने का अधिकार हो, और वह भी कुछ ख़ास सूरतों में ही मुमकिन हो (**पृष्ठ**

२७२, नोट १)। नियमावली आयोग के तीन सदस्यों ने (ग्लेबोव, मार्तोव और मैंने) इसका विरोध किया, और कांग्रेस में कामरेड मार्तोव ने हमारे मत का समर्थन किया (पृष्ठ २७३) तथा येगोरोव और पोपोव को उत्तर देते हुए कहा कि "किसी संगठन को भंग कर देने जैसा क़दम उठाने के पहले केन्द्रीय समिति हर सूरत में मामले पर ग़ौर करेगी"। जैसा कि आप देखते हैं, **उस वक़्त तक** कामरेड मार्तोव **हर** केन्द्रीयता-विरोधी प्रतिबंध के बारे में चुप्पी साधे रहे और येगोरोव तथा पोपोव का प्रस्ताव कांग्रेस ने ठुकरा दिया – केवल दुर्भाग्यवश कार्यवाही से यह पता नहीं चलता कि यह प्रस्ताव कितने वोटों से गिरा था।

पार्टी कांग्रेस में कामरेड मार्तोव इसके भी "ख़िलाफ़ थे कि 'संगठित करती है' की जगह 'स्वीकार करती है' शब्दों का प्रयोग किया जाये" (पार्टी की नियमावली की छठी धारा में कहा गया है कि केन्द्रीय समिति समितियों, आदि, को संगठित करती है)। "केन्द्रीय समिति को संगठित करने का भी अधिकार दिया जाना चाहिए," – यह कामरेड मार्तोव ने **उस वक़्त** कहा था, क्योंकि तब तक उनको यह विलक्षण बात नहीं सूझी थी कि "संगठित करने" के विचार में स्वीकृति शामिल नहीं है। यह बात तो उनको लीग की कांग्रेस में जाकर सूझी।

इन दो बातों के अलावा, नियमावली की ५ वीं से लेकर ११ वीं धाराओं तक की अलग-अलग बातों पर जो छोटे-छोटे विवाद हुए (कार्यवाही, पृष्ठ २७३-२७६), उनमें कोई ख़ास दिलचस्पी की बात नहीं थी। उसके बाद १२ वीं धारा आती थी जिसका सम्बंध आम तौर पर सभी पार्टी समितियों में और ख़ास तौर पर केन्द्रीय संस्थाओं में नये सदस्य जोड़ने के सवाल से था। आयोग का प्रस्ताव था कि नये नाम जोड़ने का फ़ैसला करने के लिए आवश्यक बहुमत दो-तिहाई से बढ़ाकर ८० प्रतिशत कर दिया जाये। ग्लेबोव ने, जिन्होंने रिपोर्ट पेश की थी, प्रस्ताव किया कि केन्द्रीय समिति में नये नाम जोड़ने के फ़ैसले **सर्व-सम्मति से** ही किये जायें। कामरेड येगोरोव, जो **असंगतियों** को अवांछनीय समझते थे, इस बात के पक्ष में थे कि जब तक कोई तर्कों के साथ वीटो न लगायी जाये तो साधारण बहुमत काफ़ी होना चाहिए। कामरेड पोपोव न तो आयोग से सहमत थे, और न कामरेड येगोरोव से। वह चाहते थे कि फ़ैसले या तो साधारण बहुमत से (बिना वीटो के अधिकार के) हों या सर्व-सम्मति से। कामरेड मार्तोव न आयोग से सहमत थे, न ग्लेबोव से, न येगोरोव से और न पोपोव से, वह सर्व-सम्मति

के विरुद्ध थे, ८० प्रतिशत बहुमत के विरुद्ध थे (और दो-तिहाई बहुमत के पक्ष में थे), और **"एक-दूसरे की राय से ही नये नाम जोड़ने के भी विरुद्ध थे"**, यानी वह इस बात के भी ख़िलाफ़ थे कि **केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल को केन्द्रीय समिति में कोई नया नाम जोड़ने का विरोध करने का और केन्द्रीय समिति को सम्पादक-मण्डल में कोई नया नाम जोड़ने का विरोध करने का अधिकार हो** (यानी "दोनों संस्थाओं को एक-दूसरे में नये नाम जोड़े जाने पर नियंत्रण रखने का अधिकार हो")।

जैसा कि पाठक ने भी नोट किया होगा, इस प्रश्न पर इतने प्रकार की दलबंदियां थीं और मतभेद के नुक़्ते इतने बारीक थे कि लगभग हर प्रतिनिधि का दृष्टिकोण उसका अपना "अनोखा" दृष्टिकोण मालूम होता था!

कामरेड मार्तोव ने कहा: "मैं यह स्वीकार करता हूं कि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से बुरे स्वभाववाले लोगों के साथ काम करना असम्भव है। लेकिन हमारे संगठन का सशक्त और कारगर होना भी ज़रूरी है ... केन्द्रीय समिति और केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल को यह अधिकार देने की कोई आवश्यकता नहीं है कि वे एक-दूसरे में नये नाम जोड़े जाने पर नियंत्रण रखें। मैं इसलिए इसके ख़िलाफ़ नहीं हूं कि दोनों में से किसी में दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की क्षमता नहीं है। नहीं! उदाहरण के लिए, केन्द्रीय मुखपत्र का सम्पादक-मण्डल केन्द्रीय समिति को इस सवाल पर बहुत सही सलाह दे सकता है कि अमुक व्यक्ति को, मान लीजिये, नदेज्दिन साहब को केन्द्रीय समिति में लिया जाये या नहीं। मुझे एतराज़ इसलिए है कि मैं ऐसी लालफ़ीताशाही नहीं खड़ी करना चाहता जो दोनों पक्षों को परेशान कर दे।"

इसपर मैंने आपत्ति की और कहा: "हमारे सामने दो सवाल हैं। पहला सवाल यह है कि नये नाम जोड़ने के लिए आवश्यक बहुमत कितना हो, और मैं इसके ख़िलाफ़ हूं कि उसे ८० प्रतिशत से कम करके दो-तिहाई कर दिया जाये। दलीलों के साथ विरोध करने के संबंध में जो शर्त रखी गयी है, वह ठीक नहीं है और मैं इसके ख़िलाफ़ हूं। इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण दूसरा सवाल है, यानी यह सवाल कि केन्द्रीय समिति तथा केन्द्रीय मुखपत्र को नये नाम जोड़ने के सम्बंध में एक-दूसरे पर नियंत्रण रखने का अधिकार हो या नहीं। सामंजस्य के लिए एक बुनियादी शर्त इन दोनों केन्द्रीय संस्थाओं की आपस की रज़ामंदी है। यहां असल

में, सवाल यह है कि इन दोनों संस्थाओं में सम्बंध-विच्छेद हो सकता है। जो कोई फूट नहीं चाहता उसे प्रयत्न करना चाहिए कि दोनों संस्थाओं में सहयोग और मेल रहे। पार्टी का इतिहास हमें बताता है कि ऐसे भी लोग हुए हैं जिन्होंने फूट डाली है। यह सिद्धान्त का प्रश्न है; बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है; एक ऐसा प्रश्न है जिसपर सम्भव है कि पार्टी का पूरा भविष्य निर्भर करे।" (पृष्ठ २७६-२७७) कांग्रेस की कार्यवाही में मेरे भाषण का जो सार दर्ज किया गया था, वह पूरा का पूरा मैंने यहां ऊपर दे दिया है, जिस भाषण को कामरेड मार्तोव ख़ास तौर पर बहुत महत्व देते हैं। दुर्भाग्य से, उन्होंने इसे बहुत महत्व तो दिया, मगर उसपर पूरी बहस के संदर्भ में, और उस राजनीतिक परिस्थिति की पृष्ठभूमि में विचार करने का कष्ट नहीं किया, जो कांग्रेस में उस समय थी, जब मैंने यह भाषण दिया था।

यहां जो पहला सवाल उठता है, वह यह है: अपने मूल मसौदे में (देखिये पृष्ठ ३९४, ११ वीं धारा) मैंने केवल दो-तिहाई के बहुमत तक अपने को क्यों सीमित रखा था और मैंने यह मांग क्यों नहीं की थी कि नये नाम जोड़ने के सम्बंध में केन्द्रीय संस्थाएं एक-दूसरे पर नियंत्रण रखें? वास्तव में, कामरेड त्रोत्स्की ने, जो मेरे बाद बोले थे (पृष्ठ २७७), तुरन्त यह सवाल उठाया।

इस सवाल का जवाब लीग की कांग्रेस के मेरे भाषण में और दूसरी कांग्रेस के सम्बंध में कामरेड पावलोविच के ख़त में दिया गया है। लीग की कांग्रेस में मैंने कहा था कि नियमावली की पहली धारा ने "बर्तन को तोड़ डाला है", इसलिए अब उसे "दोहरी गिरह" लगाकर बांधना है। उसका मतलब एक तो यह था कि एक विशुद्ध सैद्धान्तिक प्रश्न पर मार्तोव ने अपने को अवसरवादी सिद्ध किया था और उनकी ग़लती का लाइबर और अकीमोव ने **समर्थन किया था**। दूसरे, उसका मतलब यह था कि मार्तोव-वादियों (अर्थात्, 'ईस्क्रा'-वादियों का एक नगण्य अल्पमत) और 'ईस्क्रा'-विरोधियों का संयुक्त मोर्चा क़ायम हो जाने से उनको यह आशा हो गयी थी कि केंद्रीय संस्थाओं के सदस्यों के चुनाव में **कांग्रेस में उनका बहुमत** हो जायेगा। और मैं वहां इसी बात के बारे में बोल रहा था कि केन्द्रीय संस्थाओं में **कौन लोग** हों, मैं सामंजस्य की आवश्यकता पर ज़ोर दे रहा था और **ऐसे लोगों से साथियों को आगाह कर रहा था "जो पार्टी में फूट करा देते हैं"**। सिद्धान्त की दृष्टि से इस चेतावनी का सचमुच बहुत महत्व था, क्योंकि

'ईस्का'-संगठन (जिसमें निस्सन्देह यह तै करने की दूसरों से अधिक योग्यता थी कि केन्द्रीय संस्थाओं में कौन लोग हों, क्योंकि उसे सभी मामलों की और सभी उम्मीदवारों की सबसे गहरी व्यावहारिक जानकारी थी) इस मामले में अपनी सिफ़ारिशें पहले ही दे चुका था और उन उम्मीदवारों के बारे में जिनके विषय में उसे शक या सन्देह थे, वह अपना प्रसिद्ध निर्णय कर चुका था। नैतिक दृष्टि से और मामले के सार की दृष्टि से (यानी, निर्णय करने की योग्यता की दृष्टि से) इस नाज़ुक मामले में आख़िरी फ़ैसला 'ईस्का'-संगठन के हाथ में होना चाहिए था। लेकिन, **औपचारिक दृष्टि से**, ज़ाहिर है, कामरेड मार्तोव को 'ईस्का'-संगठन के बहुमत के **विरुद्ध** लाइबर और अकीमोव जैसे लोगों से निवेदन करने का पूरा अधिकार था। और पहली धारा के विषय में बोलते हुए कामरेड अकीमोव ने अपने ज़ोरदार भाषण में उल्लेखनीय स्पष्टवादिता एवं दूरदर्शिता का परिचय देते हुए यह कह ही दिया था कि जब कभी उनको यह दिखाई देता है कि 'ईस्का' के समान उद्देश्य को प्राप्त करने के तरीक़ों के विषय में 'ईस्का'-वादियों में मतभेद है, तब वह सदा जान-बूझकर और सब कुछ समझते हुए **सबसे ख़राब तरीक़े के पक्ष में वोट देते हैं**, क्योंकि उनके, अकीमोव के उद्देश्य 'ईस्का'-वादियों के उद्देश्यों के बिल्कुल विपरीत थे। इसलिए, कामरेड मार्तोव की इच्छा और नीयत कुछ भी रही हों, इसमें **तनिक भी सन्देह** नहीं हो सकता था कि लाइबर और अकीमोव जैसे लोग **केन्द्रीय संस्थाओं के लिए केवल ख़राब नामों की सूची** का ही समर्थन करेंगे। (यदि हम उनके शब्दों को नहीं, बल्कि उनके **कर्मों** को देखें, यदि हम इसे याद करें कि उन्होंने पहली धारा पर किस तरह वोट दिया था, तो) ये लोग केवल उसी सूची के लिए **वोट दे सकते थे**, ऐसी सूची के वास्ते वोट देना उनके लिए लाज़िमी था, जिससे ऐसे लोगों का उन संस्थाओं में होना निश्चित हो जाये "जो फूट करा देते हैं"; और ऐसी सूची के वास्ते वोट देने में **उनका उद्देश्य** "फूट कराने" के सिवा और कुछ नहीं हो सकता था। इस परिस्थिति में, क्या यह आश्चर्य की बात है कि मैंने कहा कि यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रश्न है (सिद्धान्त यह कि दोनों केन्द्रीय संस्थाओं के बीच सामंजस्य रहना चाहिए) जिसपर हो सकता है पार्टी का सम्पूर्ण भविष्य निर्भर करे?

कोई भी सामाजिक-जनवादी जो 'ईस्का' के विचारों तथा योजनाओं की और आन्दोलन के इतिहास की थोड़ी भी जानकारी रखता है और जो थोड़ी भी

गम्भीरता के साथ इन विचारों को मानता है, उसे इस बात में क्षण भर के लिए भी सन्देह नहीं हो सकता था कि केन्द्रीय संस्थाओं के सदस्यों के सवाल पर 'ईस्क्रा'-संगठन के भीतर जो विवाद उठ खड़ा हुआ था, उसका निर्णय लाइबर और अकीमोव जैसे लोगों से कराना औपचारिक रूप से तो ठीक था, मगर ऐसे निर्णय के परिणाम **हद से ज्यादा ख़राब** होने वाले थे। इन हद से ज़्यादा ख़राब परिणामों से पार्टी को बचाने के लिए डटकर **लड़ना** नितान्त आवश्यक था।

सवाल यह था कि हम किस तरह लड़ें? ज़ाहिर है, हमने न तो उन्मादपूर्ण चीख़-पुकार मचायी, न कोई बड़ा झगड़ा-झंझट किया, बल्कि इस लड़ाई में हमने ऐसे तरीक़े अपनाये जो **बिल्कुल उचित और पार्टी के प्रति कर्त्तव्य की भावना से परिपूर्ण थे:** यह देखकर कि हम अल्पमत में हैं (जैसा कि हम पहली धारा के प्रश्न पर थे), **हमने कांग्रेस से अल्पमत के अधिकारों की रक्षा करने की अपील की। जब हमने यह देखा कि केन्द्रीय संस्थाओं की रचना के सवाल पर हम अल्पमत में हैं**, तो हमने यह सब बातें कहना शुरू कीं कि सदस्य चुनने के लिए आवश्यक बहुमत के सम्बंध में ज्यादा सख़्ती दिखाई जाये (दो-तिहाई के बजाय अस्सी प्रतिशत), नये नाम सर्व-सम्मति से जोड़े जायें, नये नाम जोड़ने के मामले में केन्द्रीय संस्थाएं एक-दूसरे पर नियंत्रण रखें। जो लोग पार्टी कांग्रेस की **पूरी** कार्यवाही तथा सम्बंधित व्यक्तियों की सारी "गवाही" का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किये बग़ैर, केवल दोस्तों के साथ दो-एक बार गप्प लगाकर ही पार्टी कांग्रेस पर अपना फ़ैसला दे डालते हैं, वे इस तथ्य की निरंतर उपेक्षा करते हैं। लेकिन यदि कोई इस कार्यवाही का और इस "गवाही" का ईमानदारी के साथ अध्ययन करना चाहता है तो उसे लाज़िमी तौर पर इस तथ्य से दो-चार होना पड़ेगा, यानी, यह कि **कांग्रेस में उस समय झगड़े की जड़** यह सवाल था कि **केन्द्रीय संस्थाओं में कौन लोग होंगे** और हम नियंत्रण की ज़्यादा कड़ी शर्तें लगवाने की कोशिश इसी लिए कर रहे थे कि हम अल्पमत में थे और उस "बर्तन को दुहरी गांठ लगाकर कसकर बांध देना" चाहते थे जिसे मार्तोव ने लाइबर और अकीमोव जैसे लोगों की विजयोल्लासपूर्ण सहायता से तोड़ डाला था और जिसे टूटा हुआ देखकर ये लोग ख़ुशियां मना रहे थे।

कांग्रेस में उस क्षण की परिस्थिति की चर्चा करते हुए कामरेड पावलोविच ने कहा, "यदि ऐसा नहीं था, तो सिर्फ़ यही मानना पड़ेगा कि सर्व-सम्मति से

नये नाम जोड़ने का प्रस्ताव हमने इसलिए रखा था कि हमें अपने विरोधियों के स्वार्थ की बड़ी चिन्ता थी, क्योंकि किसी भी संस्था में जिस पक्ष की प्रधानता होती है, सर्व-सम्मति का नियम उसके लिए अनावश्यक और यहां तक कि हानिकारक भी होता है।" ('दूसरी कांग्रेस के विषय में ख़त', पृष्ठ १४।) किन्तु आजकल लोग अक्सर घटनाओं के क्रम को भूल जाते हैं; वे यह भुला देते हैं कि वर्तमान अल्पमत का **काफ़ी लम्बे समय तक कांग्रेस में** (लाइबर और अकीमोव जैसे लोगों की कृपा से) बहुमत था, और यह कि केन्द्रीय संस्थाओं में नये नाम जोड़ने के सवाल वाला झगड़ा ठीक इसी समय हुआ था, जिसका मूल कारण वह मतभेद था जो 'ईस्क्रा' संगठन के भीतर केन्द्रीय संस्थाओं में कौन लोग हों, इस सवाल पर पैदा हो गया था। जो कोई भी इस तथ्य को समझ लेगा, वह हमारी बहसों की गरमी और आवेश को समझ सकेगा और फिर उसे इस **विरोधाभास** पर कोई आश्चर्य नहीं होगा कि कुछ तफ़सील की बातों पर पैदा होनेवाले छोटे-छोटे मतभेदों से सचमुच महत्वपूर्ण सिद्धान्त के प्रश्न कैसे खड़े हो जाते थे।

कामरेड डेयट्श भी इसी बैठक में बोले थे (पृष्ठ २७७) और उनकी यह बात कई एतबार से बिल्कुल सही थी कि "यह प्रस्ताव निस्संदेह केवल इस क्षण विशेष की परिस्थिति को देखकर पेश किया गया है।" हां, सचमुच, उस **क्षण विशेष** की सारी जटिलता को भली भांति समझकर ही हम इस विवाद का वास्तविक अर्थ समझ सकते हैं। और यह बात ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है कि जब हम अल्पमत में थे, तब हमने अल्पमत के अधिकारों की **ऐसे उपायों से** रक्षा की थी जिनको यूरोप का प्रत्येक सामाजिक-जनवादी उचित तथा अनुज्ञेय समझता है, अर्थात् हमने कांग्रेस से अपील की कि केन्द्रीय संस्थाओं के सदस्यों की रचना पर ज्यादा कड़ा नियंत्रण रखा जाये। इसी प्रकार, कामरेड येगोरोव ने भी कई एतबार से सही राय दी थी जब उन्होंने कांग्रेस में, लेकिन एक दूसरी बैठक में, यह कहा था कि "मुझे यह देखकर अत्यधिक आश्चर्य हुआ है कि बहस के दौरान में फिर सिद्धान्तों की चर्चा होने लगी है" ... (यह बात कांग्रेस की ३१ वीं बैठक में केन्द्रीय समिति के चुनाव के सिलसिले में कही गयी थी। यह ३१ वीं बैठक, यदि मैं ग़लती नहीं कर रहा हूं, तो वृहस्पतिवार की सुबह को हुई थी, और २६ वीं बैठक, जिसका इस समय हम ज़िक्र कर रहे हैं, सोमवार की शाम को हुई थी।) ... "मैं समझता हूं कि यह बात हर आदमी के दिमाग़

में साफ़ है कि पिछले चन्द दिनों की बहस किसी सैद्धान्तिक सवाल पर नहीं, बल्कि केवल इस सवाल पर केन्द्रित थी कि किन्हीं व्यक्तियों को केन्द्रीय संस्थाओं में किस प्रकार चुनवाया जाये या किस प्रकार उन्हें चुने जाने से रोका जाये। हमको इस बात को मानना चाहिए कि इस कांग्रेस में सिद्धान्त तो कभी के ग़ायब हो गये हैं और हमको काले को काला ही कहना चाहिए।" (**आम हंसी। मुराव्योव बोले:** "मेरी दरख़्वास्त है कि कार्यवाही में यह दर्ज कर दिया जाये कि कामरेड मार्तोव मुस्कराये थे"।—पृष्ठ ३३७) इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि हम सब की भांति कामरेड मार्तोव भी कामरेड येगोरोव की शिकायतों पर हंसे थे, जो सचमुच हास्यास्पद थीं। हां, यह सही है कि "**पिछले कुछ दिनों में** बेशतर बातें इस सवाल के ही इर्द-गिर्द **चक्कर काटती रही थीं** कि केन्द्रीय संस्थाओं में कौन लोग चुने जायें। यह बात सच है। कांग्रेस में **हर आदमी** इस बात को **समझता था** (और अल्पमत ने केवल **अभी** इस स्पष्ट तथ्य को **ढांकने** की चेष्टा शुरू की है)। और आख़िरी बात यह भी सच थी कि काले को काला ही कहना चाहिए। लेकिन, भगवान के लिए, कोई हमें यह बताये कि **इस सबका** "सिद्धान्तों के ग़ायब होने" से क्या सम्बंध है? आख़िर, कांग्रेस में इकट्ठा होने का हमारा **उद्देश्य** यही तो था न कि **शुरू के दिनों में** (देखिये पृष्ठ १०, कांग्रेस की कार्यसूची) हम पार्टी के कार्यक्रम, कार्यनीति और नियमावली पर विचार करें और उनसे सम्बंधित सवालों को तै करें, और **आख़िरी दिनों में** (कांग्रेस की कार्यसूची की १८ वीं और १९ वीं बातें) इस सवाल पर विचार करें कि केन्द्रीय संस्थाओं में कौन लोग चुने जाने चाहिए और **इन** सवालों को तै करें। यदि कांग्रेसों के **अन्तिम दिनों में** इस बात के लिए संघर्ष होता है कि बैंडमास्टर का डंडा किसके हाथ में सौंपा जायेगा, तो यह बिल्कुल स्वाभाविक और सर्वथा उचित बात है। (लेकिन यदि बैंडमास्टर के डंडे के लिए **कांग्रेसों के बाद** संघर्ष चलाया जाता है, तो वह थुक्का-फ़ज़ीहत है।) यदि **कांग्रेस में** केन्द्रीय संस्थाओं के चुनाव के सवाल पर किसी की हार हुई है (जैसा कि कामरेड येगोरोव की हुई), तो **कांग्रेस के बाद** उसका यह रोना शुरू करना कि "सिद्धान्त ग़ायब हुए" **सर्वथा हास्यास्पद** है। इसलिए यह बात समझ में आती है कि कामरेड येगोरोव की बात पर सब लोग क्यों हंस पड़े थे। और यह बात भी समझ में आती है कि कामरेड मुराव्योव ने कार्यवाही में यह दर्ज कराने का अनुरोध क्यों

किया था कि कामरेड मार्तोव ने भी हंसी में भाग लिया था : **क्योंकि कामरेड येगोरोव पर हंसने का मतलब यह था कि कामरेड मार्तोव ख़ुद अपने पर हंस रहे थे...**

कामरेड मुराव्योव की व्यंगोक्ति के साथ-साथ शायद इस बात का ज़िक्र कर देना व्यर्थ न होगा कि, जैसा कि हम जानते हैं, **कांग्रेस के बाद** कामरेड मार्तोव ने दायें-बायें यह कहना शुरू किया कि हम लोगों के मतभेदों में मुख्य भूमिका केन्द्रीय संस्थाओं में नये नाम जोड़ने के सवाल की थी और "पुराने सम्पादक-मण्डल का बहुमत" इसके सख़्त ख़िलाफ़ था कि नये नाम जोड़ने के मामले में केन्द्रीय संस्थाएं एक-दूसरे पर नियंत्रण रखें। **कांग्रेस के पहले**, जब मैंने यह सुझाव दिया था कि दोनों संस्थाओं के लिए तीन-तीन आदमी चुन लिये जायें और दोनों संस्थाओं को दो-तिहाई बहुमत से एक-दूसरे में नये नाम जोड़ने का अधिकार दे दिया जाये, तो कामरेड मार्तोव ने मेरा सुझाव स्वीकार करते हुए **मुझे इसके विषय में यह लिखा था : "एक-दूसरे की रज़ामंदी से नये नाम जोड़ने की इस प्रकार की पद्धति को स्वीकार करते समय** इस बात पर ज़ोर देना चाहिए कि कांग्रेस के बाद प्रत्येक संस्था में कुछ भिन्न ढंग से नये नाम जोड़े जायेंगे (**मैं यह सलाह दूंगा :** प्रत्येक संस्था, दूसरी संस्था को सूचित करके, अपने में नये सदस्य जोड़ सकती है; **दूसरी संस्था चाहे तो इसका विरोध कर सकती है; और उस हालत में इस विवाद का निर्णय काउंसिल करेगी।** लालफ़ीताशाही से बचने के लिए, **कम से कम केन्द्रीय समिति के सिलसिले में, पहले से नामज़द किये गये उम्मीदवारों के बारे में** यह तरीक़ा अपनाया जाना चाहिए; फिर ज़रूरत पड़ने पर इनमें से कुछ नाम केन्द्रीय समिति में जोड़े जा सकते हैं और उसमें देर नहीं लगेगी।)। इस बात पर ज़ोर देने के लिए कि बाद में जो नये नाम जोड़े जायेंगे, वे नियमावली में बतायी गयी पद्धति के अनुसार जोड़े जायेंगे, २२ वीं धारा* में ये शब्द और जोड़ दिये जायें : '... जिसके सामने निर्णय स्वीकृति के लिए पेश किया जायेगा'।" (शब्दों पर ज़ोर मेरा है।)

इसपर कोई टीका-टिप्पणी करना फ़िज़ूल है।

---

*यह इशारा कांग्रेस के कार्यक्रम के मेरे मूल मसौदे तथा उसपर की गयी टिप्पणियों की ओर है जिनसे सभी प्रतिनिधि अच्छी तरह परिचित थे। इस मूल मसौदे की २२ वीं धारा में केन्द्रीय मुखपत्र तथा केन्द्रीय समिति के लिए

यह बता चुकने के बाद कि उस क्षण विशेष का क्या महत्व था जब कि केन्द्रीय संस्थाओं में नये नाम जोड़ने के प्रश्न पर विवाद हुआ था, अब हम थोड़ा-बहुत इसपर भी विचार कर लें कि इस प्रश्न पर **वोट किस तरह पड़े – बहस** की चर्चा करना बेकार है, क्योंकि कामरेड मार्तोव के तथा मेरे ऊपर उद्धृत किये भाषणों के बाद केवल कुछ संक्षिप्त सी कहासुनी हुई थी जिसमें बहुत कम साथियों ने भाग लिया था (देखिये कार्यवाही, पृष्ठ २७७-२८०)। वोटों के सम्बंध में, कामरेड मार्तोव ने लीग की कांग्रेस में यह कहा था कि मैंने सत्य को "भयानक ढंग से तोड़-मरोड़कर पेश करने" का अपराध किया है (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ६०), क्योंकि उनकी राय में मैंने "नियमावली के इर्द-गिर्द चक्कर काटनेवाले संघर्ष को" (यहां कामरेड मार्तोव अनजान में एक बहुत सच्ची बात कह गये हैं: पहली धारा के बाद गरम बहसें सचमुच नियमावली के **इर्द-गिर्द** ही हुई थीं) "मार्तोव-वादियों के ख़िलाफ़, जिन्होंने कि बुंद के साथ संयुक्त मोर्चा बना लिया था, 'ईस्क्रा' के संघर्ष के रूप में पेश किया है"।

आइये हम "भयानक ढंग से तोड़-मरोड़कर पेश की गयी" इस काफ़ी दिलचस्प बात पर भी थोड़ा विचार कर लें। कामरेड मार्तोव काउंसिल की रचना के विषय में लिये गये वोटों को नये नाम जोड़ने के सवाल पर लिये गये वोटों के साथ जोड़कर कहते हैं कि कुल **आठ बार** वोट लिये गये थे: (१) काउंसिल के लिए केंद्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मंडल तथा केंद्रीय समिति से दो-दो सदस्य चुने जायें – पक्ष में २७ (मा), ख़िलाफ़ १६ (ले) और ७ तटस्थ रहे*। (यहां हम यह बता दें कि कार्यवाही में – पृष्ठ २७० पर – तटस्थ रहनेवालों की संख्या ८ बतायी गयी है; मगर यह एक छोटी बात है।) – (२) काउंसिल के पांचवें सदस्य को कांग्रेस

तीन-तीन साथियों को चुनने की बात थी और कहा गया था कि ये छः साथी दो-तिहाई बहुमत से "एक-दूसरे की रज़ामंदी" की पद्धति को अपनाते हुए नये नाम जोड़ सकते हैं, पर इस तरह के नये नामों को कांग्रेस से स्वीकार कराना ज़रूरी होगा, और बाद को सम्पादक-मण्डल तथा केन्द्रीय समिति अलग-अलग नये नाम जोड़ सकते हैं।

* कोष्ठकों में 'मा' और 'ले' अक्षर इस बात के सूचक हैं कि मैं (ले) किस ओर था और मार्तोव (मा) किस ओर थे।

चुने – पक्ष में २३ (ले), ख़िलाफ़ १८ (मा) और ७ तटस्थ। –(३) काउंसिल के जिन सदस्यों की सदस्यता ख़तम हो जाये, उनकी जगह खुद काउंसिल भर ले – ख़िलाफ़ २३ (मा), पक्ष में १६ (ले) और १२ तटस्थ रह गये। –(४) केन्द्रीय समिति में सर्व-सम्मति – इस सुझाव के पक्ष में २५ (ले), ख़िलाफ़ १९ (मा), ७ तटस्थ। (५) एक बार भी दलीलों के साथ विरोध हो जाने पर कोई सदस्य स्वीकार न किया जाये – पक्ष में २१ (ले), ख़िलाफ़ १९ (मा), और ११ तटस्थ। –(६) केन्द्रीय मुखपत्र के संपादक-मंडल में नये नाम सर्व-सम्मति से जोड़े जायें – पक्ष में २३ (ले), ख़िलाफ़ २१ (मा), ७ तटस्थ। – (७) जब केन्द्रीय मुखपत्र का सम्पादक-मण्डल अथवा केन्द्रीय समिति किसी नये सदस्य को स्वीकार करने से इनकार करते हैं तो काउंसिल को उनका निर्णय रद्द करने का अधिकार देने के सम्बंध में प्रस्ताव पेश करने दिया जाये या नहीं – पक्ष में २५ (मा), ख़िलाफ़ १९ (ले), ७ तटस्थ। –(८) खुद इस प्रस्ताव पर – पक्ष में २४ (मा), ख़िलाफ़ २३ (ले), ४ तटस्थ। अन्त में कामरेड मार्तोव कहते हैं (देखिये, लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ६१): "**यहां जाहिर है, बुंद के एक प्रतिनिधि ने प्रस्ताव के पक्ष में वोट दिया था और बाक़ी तटस्थ रह गये थे।**" (शब्दों पर ज़ोर मेरा है।)

कोई पूछ सकता है कि जब वोट नाम पुकार कर नहीं लिये गये थे, तो कामरेड मार्तोव के लिए यह बात इतनी **जाहिर** क्यों है कि बुंदवादी ने **उनके पक्ष में, मार्तोव के पक्ष में** वोट किया होगा?

इसलिए कि कामरेड मार्तोव ने **वोट देनेवालों** की संख्या गिनी और जब उससे यह मालूम हुआ कि बुंद ने भी वोट देने में **हिस्सा लिया था**, तो कामरेड मार्तोव को इसमें कोई शक नहीं रहा कि बुंद ने उनके ही पक्ष में, मार्तोव के पक्ष में वोट दिया होगा।

तब फिर मैंने "सत्य को भयानक ढंग से तोड़-मरोड़कर पेश करने" का अपराध कैसे किया है?

कुल वोट ५१ थे। बुंदवादियों को अलग कर दीजिये तो कुल वोट ४६ होते थे, और 'राबोचेये देलो'-वादियों को छोड़ दीजिये तो ४३ होते थे। कामरेड मार्तोव ने जो आठ बार वोट पड़ने का ज़िक्र किया है, उनमें से **सात बार** क्रमशः ४३, ४१, ३९, ४४, ४०, ४४, और ४४ प्रतिनिधियों ने वोट दिया; **एक बार** ४७ प्रतिनिधियों ने वोट दिया (हमें कहना चाहिए, ४७ वोट पड़े) और

यहां खुद कामरेड मार्तोव यह मानते हैं कि एक बुंदवादी ने उनका समर्थन किया था। इस प्रकार, हम देखते हैं कि मार्तोव ने जो चित्र खींचा है (और जो कि, जैसा कि हम आगे देखेंगे, अपूर्ण चित्र है), **वह इस संघर्ष के मेरे निरूपण की ही पुष्टि करता है तथा उसपर ज़ोर देता है!** पता यह चलता है कि अक्सर तटस्थ रह जानेवालों की संख्या **बहुत** रहती थी: इससे प्रकट होता है कि कुछ **छोटी-छोटी बातों** में पूरी कांग्रेस को **अपेक्षाकृत** बहुत कम दिलचस्पी होती थी और यह कि ऐसे सवालों पर 'ईस्क्रा'-वादियों की कोई निश्चित दलबंदी नहीं थी। मार्तोव का यह कथन कि बुंदवादियों ने "वोट में तटस्थ रहकर साफ़-साफ़ लेनिन की मदद की" (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ६२), **असल में खुद मार्तोव के खिलाफ़ जाता है:** उसका मतलब यह है कि मैं कभी-कभार **केवल** इसी सूरत में जीतने की आशा कर सकता था जब बुंदवादी ग़ैर-हाज़िर हों या वोट में तटस्थ रह जायें। लेकिन जब कभी बुंदवादियों ने संघर्ष में हस्तक्षेप करना **उचित समझा,** तब उन्होंने हमेशा कामरेड मार्तोव का साथ दिया, और **ऐसा नहीं है कि उन्होंने केवल एक बार ही**—यानी उपरोक्त वर्णन के अनुसार जब ४७ वोट पड़े थे, केवल तभी—हस्तक्षेप किया हो। जो कोई भी कांग्रेस की कार्यवाही को देखने का कष्ट करेगा वह देखेगा कि कामरेड मार्तोव के चित्र में एक **बहुत ही विचित्र अपूर्णता है।** कामरेड मार्तोव ने ऐसे **तीन मौक़ों को साफ़ भुला दिया है** जब कि बुंद ने वोट में **हिस्सा लिया था,** और **कहने की आवश्यकता नहीं कि इन तीनों मौक़ों पर** जीत का सेहरा कामरेड मार्तोव के सिर रहा था। ये तीन मौक़े इस प्रकार थे: (१) जब कामरेड फ़ोमिन का यह संशोधन स्वीकार किया गया कि ८० प्रतिशत बहुमत के बजाय दो-तिहाई बहुमत ही काफ़ी समझा जाये—पक्ष में २७, विपक्ष में २१ (देखिये पृष्ठ २७८), यानी कुल ४८ वोट। (२) जब कामरेड मार्तोव का यह संशोधन स्वीकार किया गया कि एक-दूसरे की रज़ामंदी से नये नाम जोड़ने की बात काट दी जाये—पक्ष में २६, विपक्ष में २४ (देखिये पृष्ठ २७९); यानी कुल ५० वोट। और (३) जब मेरा यह प्रस्ताव अस्वीकार किया गया कि केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल अथवा केन्द्रीय समिति में काउंसिल के सब सदस्यों की राय से ही नये नाम जोड़े जायें (पृष्ठ २८०)—विपक्ष में २७, पक्ष में २२ (इस बार नाम पुकारकर भी वोट डाले गये थे, मगर दुर्भाग्य से कार्यवाही में उनको दर्ज नहीं किया गया), यानी कुल ४९ वोट।

सारांश यह कि केन्द्रीय संस्थाओं में नये नाम जोड़ने के सवाल पर बुंदवादियों ने **केवल चार बार वोट** में हिस्सा लिया था (**तीन बार** का मैंने अभी-अभी ऊपर ज़िक्र किया है जब कि क्रमशः ४८, ५०, और ४६ वोट पड़े थे, और **एक बार** तब जिसका ज़िक्र कामरेड मार्तोव ने किया था, जब कि कुल ४७ वोट पड़े थे)। **चारों बार** जीत का सेहरा कामरेड मार्तोव के सिर रहा था। **इस प्रकार मैंने इस मामले के बारे में जो कुछ कहा था, उसकी एक-एक बात सही प्रमाणित हो जाती है।** मेरी यह घोषणा कि मार्तोव-वादियों का बुंद के साथ संयुक्त मोर्चा था; मेरा यह कथन कि ये प्रश्न अपेक्षाकृत कम महत्व के प्रश्न थे (बहुत-से प्रतिनिधियों का कई मौक़ों पर तटस्थ रह जाना); और मेरा इस बात की ओर संकेत करना कि 'ईस्क्रा'-वादियों ने इन सवालों पर किसी एक निश्चित ढंग से वोट नहीं दिया था (नाम पुकारकर वोट न लिया जाना; बहसों में बहुत कम वक्ताओं का भाग लेना)।

और इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कामरेड मार्तोव ने मेरे बयान में परस्पर विरोधी बातें खोज निकालने के लिए अशोभनीय उपायों का प्रयोग किया है, क्योंकि उन्होंने इक्के-दुक्के शब्दों को सन्दर्भ से काटकर पेश किया है और पूरा चित्र खींचने का कष्ट नहीं उठाया है।

नियमावली की अन्तिम धारा पर, जिसमें विदेश-स्थित संगठन की चर्चा थी, फिर बहसें हुईं और वोट लिये गये, जिनका कि कांग्रेस में विभिन्न दलबंदियों का पता लगाने की दृष्टि से बड़ा महत्व था। सवाल यह था कि क्या लीग को पार्टी के विदेश-स्थित संगठन के रूप में स्वीकार कर लिया जाये। कामरेड अकीमोव, ज़ाहिर है, फ़ौरन लड़ने को तैयार हो गये और कांग्रेस को विदेश-स्थित संघ की याद दिलाने लगे जिसे कि पहली कांग्रेस ने मान्यता दी थी और उन्होंने बताया कि यह सिद्धान्त का प्रश्न है। उन्होंने कहा: "मैं पहले यह साफ़ कर दूं कि इस सवाल पर जो कुछ भी फ़ैसला हो, मैं उसका कोई ख़ास व्यावहारिक महत्व नहीं समझता। हमारी पार्टी के भीतर जो सैद्धान्तिक संघर्ष चलाया गया है, निस्सन्देह वह अभी समाप्त नहीं हुआ है। मगर आगे वह एक नये आधार पर और शक्तियों के नये संयोजन के साथ चलाया जायेगा ...

नियमावली की १३ वीं धारा में एक बार फिर यही प्रवृत्ति झलकती है – और बड़ी स्पष्टता से झलकती है – कि हमारी कांग्रेस को पार्टी कांग्रेस के बजाय एक गुट की कांग्रेस में बदल दिया जाये। पार्टी की एकता के नाम पर रूस के सभी सामाजिक-जनवादियों को पार्टी कांग्रेस के फ़ैसलों को मानने पर मजबूर करने और सभी पार्टी संगठनों को एकता के सूत्र में बांधने के बजाय, यह प्रस्ताव किया जा रहा है कि कांग्रेस को अल्पमत के एक संगठन को नष्ट कर देना चाहिए और अल्पमत को दृश्य से ग़ायब हो जाने के लिए विवश कर देना चाहिए।" (पृष्ठ २८१) केन्द्रीय संस्थाओं की रचना के सवाल पर हार जाने के बाद कामरेड मार्तोव को "सिलसिले को क़ायम रखने" से जितना प्रेम हो गया था, कामरेड अकीमोव को भी उससे कम प्रेम नहीं था। लेकिन उस वक़्त, कांग्रेस में, इन लोगों ने, जो कि अपने लिए एक मापदण्ड का प्रयोग करते हैं और दूसरों के लिए दूसरे मापदण्ड का, उठ-उठकर बड़ी गरमी के साथ कामरेड अकीमोव की बात का विरोध किया था। यद्यपि कार्यक्रम स्वीकृत हो चुका था, 'ईस्क्रा' को मान्यता दी जा चुकी थी, और लगभग पूरी नियमावली भी पास हो चुकी थी, फिर भी ठीक वही "सिद्धान्त" सामने ले आया गया जिसको लेकर लीग तथा संघ में "सैद्धान्तिक" अन्तर था। कामरेड मार्तोव ने कहा: "यदि कामरेड अकीमोव इस प्रश्न को सिद्धान्त का प्रश्न बनाने के लिए उत्सुक हैं तो हमें कोई आपत्ति नहीं है; ख़ास तौर पर चूंकि कामरेड अकीमोव ने दो प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए संभावित दलबंदियों की बात की है। **एक प्रवृत्ति की विजय को मान्यता देनी होगी** (याद रखिये, यह बात कांग्रेस की २७ वीं बैठक में कही गयी थी) "इस अर्थ में नहीं कि हम 'ईस्क्रा' के सामने एक बार फिर शीश नवायें, बल्कि इस अर्थ में कि **जिन संभावित दलबंदियों की चर्चा कामरेड अकीमोव ने की है, उन सबको हम शीश नवाकर अन्तिम नमस्कार कर लें।**" (पृष्ठ २८२; शब्दों पर ज़ोर मेरा है।)

कैसा चित्र सामने आता है! जब कार्यक्रम से सम्बंधित सभी झगड़े कांग्रेस में **ख़तम हो चुके थे**, तब भी कामरेड मार्तोव तमाम सम्भावित दलबंदियों को **शीश नवाकर अन्तिम नमस्कार** ही करते रहे ... जब तक कि केन्द्रीय संस्थाओं के सदस्यों के चुनाव के सवाल पर उनकी हार नहीं हो गयी! कांग्रेस में कामरेड मार्तोव ने उस **सम्भावित** "दलबंदी" को "अन्तिम नमस्कार" किया था, जिसे

उन्होंने **कांग्रेस के बाद दूसरे दिन ही** खुशी-खुशी बनाकर खड़ा कर दिया। लेकिन कामरेड अकीमोव ने **उसी वक्त** अपने को कामरेड मार्तोव से अधिक दूरदर्शी सिद्ध कर दिया था; कामरेड अकीमोव ने "उस पुराने पार्टी संगठन के" पांच साल के काम का ज़िक्र किया "जो पहली कांग्रेस के निर्णय की बदौलत पार्टी की एक समिति का नाम धारण किये हैं" और अन्त में उन्होंने एक ज़हरीली तथा **दूरदर्शितापूर्ण** चोट करते हुए कहा: "जहां तक कामरेड मार्तोव के इस विचार का संबंध है कि पार्टी में एक नयी प्रवृत्ति के प्रकट होने की मेरी आशा व्यर्थ है, तो इसके बारे में मेरा कहना है कि **खुद कामरेड मार्तोव से भी मुझे इस आशा की प्रेरणा मिलती है।**" (पृष्ठ २८३। शब्दों पर ज़ोर मेरा है।)

हां, हमें यह मानना पड़ेगा कि कामरेड मार्तोव ने कामरेड अकीमोव की आशा को सोलहों आने सही सिद्ध कर दिया है!

उस पुरानी पार्टी संस्था का "सिलसिला" टूटने के बाद, जिसके बारे में यह समझा जाता था कि वह तीन बरस से काम कर रही थी, कामरेड मार्तोव कामरेड अकीमोव के साथ मिल गये और उनकी राय को सही मानने लगे। कामरेड अकीमोव को अपनी इस जीत के लिए कोई खास कोशिश नहीं करनी पड़ी।

लेकिन कांग्रेस में केवल कामरेड मार्तिनोव, कामरेड ब्रूकर और बुंद-वादियों (८ वोट) ने ही कामरेड अकीमोव का साथ दिया था, और बड़े सुसंगत ढंग से साथ दिया था। कामरेड येगोरोव ने "मध्य पक्ष" के एक सच्चे नेता की तरह सबसे अच्छा बीच का रास्ता अपनाया: देखिये न, वह 'ईस्क्रा'-वादियों से सहमत थे, और उनके साथ उन्होंने "सहानुभूति दिखायी" (पृष्ठ २८२); और इस सहानुभूति के **प्रमाण** में उन्होंने इस सिद्धान्त के प्रश्न को बिल्कुल बरा जाने और लीग के बारे में या संघ के बारे में **कुछ भी न कहने** का **प्रस्ताव** पेश किया (पृष्ठ २८३)। यह प्रस्ताव १५ के विरुद्ध २७ वोटों से गिर गया। लगता है कि 'ईस्क्रा'-विरोधियों (८ वोट) के अलावा लगभग पूरे "मध्य पक्ष" ने (१०) भी कामरेड येगोरोव के साथ वोट दिया (कुल वोट ४२ पड़े, क्योंकि एक बड़ी संख्या या तो तटस्थ रह गयी और या **अनुपस्थित थी** – जब ग़ैर-दिलचस्प सवालों पर वोट लिये जाते थे या ऐसे सवालों पर वोट लिये जाते थे जिनका **नतीजा पहले से ही मालूम होता था**, तब अक्सर ऐसा ही होता था)। **ज्योंही 'ईस्क्रा' के सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का प्रश्न बन गया,** तो पता चला कि "मध्य पक्ष" की "सहानुभूति" महज़ **ज़बानी** सहानुभूति थी, और हमें

केवल तीस या इससे कुछ ही अधिक वोट मिले। रूसोव के प्रस्ताव पर (लीग को **एकमात्र** विदेश-स्थित संगठन मानने के बारे में) जो बहस हुई और जो वोट पड़े, उनसे यह बात और भी स्पष्ट हो गयी। इस सवाल पर 'ईस्क्रा'-विरोधियों तथा "दलदल" वालों ने विशुद्ध सैद्धान्तिक रुख़ अपनाया जिसका समर्थन कामरेड लाइबर और कामरेड येगोरोव ने किया और उन्होंने यह कहा कि कामरेड रूसोव के प्रस्ताव पर वोट नहीं लिये जा सकते; वह अवैधानिक प्रस्ताव है: "वह विदेश में काम करनेवाले सभी संगठनों को मार देता है" (येगोरोव)। और चूंकि येगोरोव "संगठन को मारने" में कोई भाग नहीं लेना चाहते थे, इसलिए उन्होंने न सिर्फ़ वोट से इनकार किया, बल्कि वह हाल छोड़कर चले गये। लेकिन "मध्य पक्ष" के इस नेता को उसका उचित श्रेय तो देना ही होगा: उसने कामरेड मार्तोव तथा उनके मित्रों की तुलना में (अपने ग़लत सिद्धान्तों के प्रति) कहीं अधिक विश्वास तथा राजनीतिक पुंसत्व का परिचय दिया; क्योंकि उसने किसी "मार डाले गये" संगठन की ओर से शस्त्र केवल उसी समय नहीं उठाया **जब कि इस बात का सम्बंध उसके अपने मण्डल से था,** जो खुली लड़ाई में हार चुका था।

१५ के विरुद्ध २७ वोट से यह तै पाया कि कामरेड रूसोव के प्रस्ताव पर वोट लिये जा सकते हैं और फिर वह १७ के विरुद्ध २५ वोट से स्वीकार हो गया। यदि इस सत्रह में हम अनुपस्थित कामरेड येगोरोव को और जोड़ दें तो **'ईस्क्रा'-विरोधियों और "मध्य पक्ष" वालों का पूरा जत्था (१८ का) हो जाता है।**

विदेश-स्थित संगठन से सम्बंधित, नियमावली की १३ वीं धारा अपने पूर्ण रूप में १२ के विरुद्ध केवल **३१ वोटों से** पास हुई जब कि ६ लोग तटस्थ रह गये। यह ३१ की संख्या से – जो मोटे तौर पर 'ईस्क्रा'-वादियों की, यानी उन लोगों की तादाद बताती है जिन्होंने कांग्रेस में सुसंगत ढंग से 'ईस्क्रा' के विचारों का समर्थन किया और उनको **सचमुच** कार्यान्वित भी किया – कांग्रेस में जिस तरह वोट पड़े, उसका विश्लेषण करते हुए यहां **छठी बार** हमारा सामना हुआ है (कार्यसूची में बुंद के प्रश्न का कौनसा स्थान हो, संगठन समिति वाली घटना, 'यूज्नी राबोची' दल को भंग किया जाना, और कृषि कार्यक्रम के सिलसिले में जो दो बार वोट लिये गये)। मगर फिर भी कामरेड मार्तोव हमें गम्भीरतापूर्वक यह विश्वास दिलाना चाहते हैं कि 'ईस्क्रा'-वादियों के इतने "संकुचित" दल की तलाश करने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं है!

यहां हम इसका ज़िक्र किये बिना भी नहीं रह सकते कि नियमावली की १३ वीं धारा को पास करने के सिलसिले में एक बहुत ही सारगर्भित बहस कामरेड अकीमोव और कामरेड मार्तिनोव के इस ऐलान को लेकर छिड़ गयी कि हम "वोट में भाग लेने से इनकार करते हैं" (पृष्ठ २८८)। कांग्रेस के ब्यूरो ने इस ऐलान पर विचार किया और वह इस बिल्कुल तर्क-संगत निर्णय पर पहुंचा कि यदि संघ को सीधे-सीधे बंद भी कर दिया जाये तो भी उसके प्रतिनिधियों को कांग्रेस के कार्य में भाग लेने से इनकार करने का अधिकार नहीं है। वोट करने से इनकार कर देना हद दर्जा असाधारण बात है, जिसकी किसी को इजाज़त नहीं दी जा सकती – ब्यूरो का यह मत था और पूरी कांग्रेस उसका समर्थन करती थी, जिसमें अल्पमत के वे 'ईस्क्रा'-वादी भी शामिल थे **जिन्होंने २८ वीं बैठक में उस काम की ज़ोरों के साथ निन्दा की जो काम ३१ वीं बैठक में उन्होंने ख़ुद किया!** जब कामरेड मार्तिनोव ने अपने ऐलान की हिमायत में कुछ कहना शुरू किया (पृष्ठ २९१) तो उनका विरोध पावलोविच, त्रोत्स्की, कार्स्की और मार्तोव ने किया। असंतुष्ट अल्पमत का क्या कर्तव्य है, इस प्रश्न पर कामरेड मार्तोव के विचार विशेष रूप से स्पष्ट थे (उस समय तक जब तक कि वह स्वयं अल्पमत में नहीं हो गये!) और उन्होंने बड़े नसीहत के अन्दाज़ में भाषण किया था। कामरेड अकीमोव और कामरेड मार्तिनोव को सम्बोधित करके उन्होंने कहा: "या तो आप कांग्रेस के लिये चुने गये प्रतिनिधि हैं, तो उस हालत में आपको उसके **सारे** काम में हिस्सा **लेना होगा**" (शब्दों पर ज़ोर मेरा है; इस समय तक अल्पमत को बहुमत के अधीन बनाने में कामरेड मार्तोव को कोई औपचारिकता और नौकरशाही नहीं दिखाई देती थी!) "और या आप प्रतिनिधि नहीं हैं, तो उस हालत में आप कांग्रेस की बैठकों में मौजूद नहीं रह सकते ... संघ के प्रतिनिधियों का ऐलान मुझे उनसे दो सवाल पूछने पर मजबूर करता है: क्या ये लोग पार्टी के सदस्य हैं और क्या ये लोग कांग्रेस के लिये चुने गये प्रतिनिधि हैं?" (पृष्ठ २९२)

कामरेड मार्तोव कामरेड अकीमोव को पार्टी के सदस्य के कर्त्तव्य समझा रहे हैं! लेकिन कामरेड अकीमोव ने यह बात अकारण ही नहीं कही थी कि उनको कामरेड मार्तोव से कुछ आशाएं हैं ... इन आशाओं का पूरा होना बदा था, लेकिन चुनावों में मार्तोव के हार जाने के **बाद**। जब मामले का ताल्लुक़ ख़ुद उनसे नहीं, बल्कि दूसरे लोगों से था, तब कामरेड मार्तोव के कान "असाधारण

क़ानून" जैसे भयंकर नारे के लिए भी बहरे थे जिसे (यदि मैं ग़लती नहीं कर रहा हूं तो) **सबसे पहले कामरेड मार्तिनोव ने चालू किया था।** जो लोग कामरेड मार्तिनोव को अपना ऐलान वापिस ले लेने के लिए समझा-बुझा रहे थे, उनको जवाब देते हुए कामरेड मार्तिनोव ने कहा: "हम लोगों को जो कुछ समझाया गया है उससे यह बात स्पष्ट नहीं होती कि यह निर्णय सिद्धान्त के आधार पर किया गया है, या यह संघ के ख़िलाफ़ एक **असाधारण क़दम** उठाया गया है। यदि ऐसी बात है तो हमारी राय में संघ का अपमान किया गया है। कामरेड येगोरोव को भी वही लगा जो हम लोगों को लगा था, यानी यह कि वह संघ के ख़िलाफ़ एक **असाधारण क़ानून**" (शब्दों पर ज़ोर मेरा है) "था और इसलिए वह तो हाल तक छोड़कर चले गये हैं।" (पृष्ठ २९५) प्लेख़ानोव के अलावा कामरेड मार्तोव और कामरेड त्रोत्स्की दोनों ने इस बेहूदा, **सचमुच बिल्कुल बेहूदा,** विचार का ज़ोरों से विरोध किया कि कोई कांग्रेस के निर्णय को अपना **अपमान** समझे और कांग्रेस द्वारा स्वीकृत अपने एक प्रस्ताव पर (कि कामरेड अकीमोव और कामरेड मार्तिनोव को समझाना चाहिए कि उनके प्रश्नों का पूर्णतया संतोषजनक उत्तर मिल गया है) बोलते हुए कामरेड त्रोत्स्की ने यक़ीन दिलाया कि यह "प्रस्ताव एक सैद्धान्तिक प्रस्ताव है; यह साधारण प्रस्ताव नहीं है; और **अगर वह किसी को बुरा लगता है तो हम कुछ नहीं कर सकते**" (पृष्ठ २९६)। मगर बहुत जल्द ही यह साफ़ हो गया कि अभी हमारी पार्टी में मण्डल-भावना और सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकों की मनोवृत्ति बहुत मज़बूत है और जिन गर्वीले शब्दों पर मैंने ऊपर ज़ोर दिया है, वे महज़ लम्बी-चौड़ी बातें ही साबित हुए।

कामरेड अकीमोव और कामरेड मार्तिनोव ने अपना ऐलान वापिस लेने से इनकार कर दिया और वे कांग्रेस से उठकर चले गये; जिस समय वे जा रहे थे तो आम तौर पर सभी प्रतिनिधि चिल्ला रहे थे: "सरासर अनुचित बात है!"

त) चुनाव। कांग्रेस की समाप्ति

नियमावली स्वीकार करने के बाद कांग्रेस ने ज़िला-संगठनों पर एक प्रस्ताव पास किया, पार्टी के विभिन्न संगठनों के विषय में कई प्रस्ताव पास किये, और फिर 'यूज़्नी राबोची' दल के विषय में उस बहुत ही अर्थपूर्ण बहस के बाद,

जिसका विश्लेपण मैं ऊपर कर चुका हूं, उसने पार्टी की केन्द्रीय संस्थाओं के चुनाव के प्रश्न पर विचार करना आरम्भ किया।

यह बात हमें पहले से मालूम है कि 'ईस्क्रा' संगठन में जिससे पूरी कांग्रेस को एक अधिकृत सिफ़ारिश की आशा थी, इस सवाल पर फूट पड़ गयी थी, क्योंकि संगठन का **अल्पमत** खुले और स्वतंत्र संघर्ष में यह आज़माना चाहता था कि वह कांग्रेस के **बहुमत** का समर्थन प्राप्त कर सकता है या नहीं। हम यह भी जानते हैं कि कांग्रेस के बहुत पहले से, और ख़ुद कांग्रेस में भी, प्रतिनिधियों को इस योजना की पूरी जानकारी थी कि केन्द्रीय मुखपत्र और केन्द्रीय समिति के लिए तीन-तीन आदमियों के दो त्रिगुट चुनकर सम्पादक-मण्डल को **नया रूप दिया जाये**। कांग्रेस में जो बहस चली उसका मतलब और साफ़ करने के लिए हम इस योजना की चर्चा कुछ अधिक विस्तार से करेंगे।

नीचे मैं कांग्रेस के प्रस्तावित कार्यक्रम पर अपनी वह टिप्पणी शब्दशः उद्धृत कर रहा हूं जिसमें यह योजना पेश की गयी थी*: "कांग्रेस तीन व्यक्तियों को केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल के लिए और तीन को केन्द्रीय समिति के लिए चुनेगी। यदि आवश्यकता होगी तो ये छः व्यक्ति **मिलकर**, दो-तिहाई के बहुमत से, केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मंडल तथा केन्द्रीय समिति में नये सदस्य जोड़ सकेंगे और कांग्रेस को इसकी रिपोर्ट देंगे। कांग्रेस से इस रिपोर्ट की पुष्टि हो जाने पर, बाद को नये नाम जोड़ने की यह व्यवस्था होगी कि केन्द्रीय मुखपत्र का सम्पादक-मण्डल तथा केन्द्रीय समिति अलग-अलग नये सदस्य जोड़ने का फ़ैसला करेंगे।"

इन शब्दों से योजना बिल्कुल स्पष्ट और असंदिग्ध रूप में सामने आ जाती है। उसका मतलब है व्यावहारिक कार्य के सबसे अधिक प्रभावशाली नेताओं के **सहयोग से** सम्पादक-मण्डल को **नया रूप देना**। ऊपर जो टिप्पणी उद्धृत की गयी है, उसे जो कोई थोड़े भी ध्यान से पढ़ने का कष्ट उठायेगा, वह तुरन्त ही उन दोनों विशेषताओं को समझ जायेगा जिनपर मैंने ज़ोर दिया है। लेकिन आजकल तो आदमी को छोटी से छोटी बातों को भी रुककर समझाना पड़ता है। इस योजना

---

*देखिये मेरा "'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल के नाम पत्र', पृष्ठ ५, और लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ५३।

का अर्थ सम्पादक-मण्डल को **नया रूप देना** है—न लाज़िमी तौर पर उसके सदस्यों की संख्या को बढ़ाना न लाज़िमी तौर पर घटाना बल्कि उसको नया रूप देना, क्योंकि सदस्यों की संख्या को बढ़ाने या घटाने का प्रश्न **खुला** छोड़ दिया गया है : नये नाम जोड़े जा सकते हैं, **बशर्ते कि इसकी आवश्यकता हो**। सम्पादक-मण्डल को इस प्रकार नया रूप देने के सम्बंध में विभिन्न लोगों ने जो सुझाव दिये थे, उनमें से कुछ में सम्पादक-मण्डल के सदस्यों की संख्या को मुमकिन हो तो कम करने की योजनाएं शामिल थीं और कुछ में उनकी संख्या को बढ़ाकर सात (मैं व्यक्तिगत रूप से सदा इस मत का रहा हूं कि छः सदस्यों से सात का होना अधिक वांछनीय है) और यहां तक कि ग्यारह तक कर देने की बात थी (मैं इसे उसी हालत में संभव समझता था जब आम तौर पर सभी सामाजिक-जनवादी संगठनों के साथ और ख़ास तौर पर बुंद और पोलैंड के सामाजिक-जनवादियों के साथ शान्तिपूर्ण ढंग से एकता स्थापित हो जाये)। लेकिन जो बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, और जिसे "त्रिगुट" की बातें करनेवाले लोग प्रायः भूल जाते हैं, वह **यह मांग है कि केन्द्रीय मुखपत्र में और नये नाम जोड़ने का फ़ैसला करने में केन्द्रीय समिति के सदस्यों का भी हाथ रहे**। संगठन के "अल्पमत" के सारे सदस्यों में से या कांग्रेस में उपस्थित प्रतिनिधियों में से किसी भी साथी ने यह बताने का कष्ट नहीं किया कि इस मांग का क्या अर्थ है, हालांकि वे इस योजना से परिचित थे और (या तो खुलेआम और या चुपचाप) उसे पसन्द करते थे। पहला सवाल यह उठता है कि सम्पादक-मण्डल को नया रूप देने में त्रिगुट से, और केवल त्रिगुट से ही क्यों आरम्भ किया जाता है? ज़ाहिर है, यदि हमारा **एकमात्र** उद्देश्य, या कम से कम प्रधान उद्देश्य उस संस्था के सदस्यों की **संख्या बढ़ाना** था और यदि हम उस संस्था को सचमुच "सामंजस्यपूर्ण" समझते तो यह बात **सर्वथा अर्थहीन** होती। यदि उद्देश्य एक सामंजस्यपूर्ण संस्था का आकार बढ़ाना था, तो पूरी संस्था से न **आरम्भ करके** उसके केवल एक **भाग** से **आरम्भ करना** सचमुच बड़ी विचित्र बात है। ज़ाहिर है कि सम्पादक-मण्डल के **सब** सदस्यों को इस योग्य **नहीं** समझा जाता था कि वे उसकी रचना को नया रूप देने तथा सम्पादन करनेवाले पुराने मण्डल को एक **पार्टी संस्था** में बदलने के सवाल पर विचार कर सकें और उसके बारे में कोई निर्णय कर सकें। ज़ाहिर है कि जो लोग व्यक्तिगत रूप से सम्पादक-मण्डल के सदस्यों की संख्या

को बढ़ाकर उसे नया रूप देना चाहते थे, वे भी समझते थे कि अपने पुराने रूप में सम्पादक-मण्डल सामंजस्यपूर्ण नहीं था और वह एक पार्टी संस्था के आदर्श पर पूरा नहीं उतरता था, क्योंकि यदि यह बात न होती तो सम्पादक-मण्डल का आकार बढ़ाने के लिए **पहले** उसे छः से घटाकर **तीन** सदस्यों का करने में कोई कारण नहीं था। मैं फिर कहता हूं कि यह बात स्वतःस्पष्ट थी और यदि लोग उसे भूल गये तो इसका कारण केवल यही था कि इस प्रश्न में "विभूतियों" को जोड़ देने से उसमें कुछ समय के लिए उलझाव पैदा हुआ था।

दूसरे, ऊपर जो टिप्पणी उद्धृत की गयी है, उससे यह बात भी स्पष्ट है कि **केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल के तीनों सदस्यों की रज़ामन्दी** भी त्रिगुट का आकार बढ़ाने के लिए स्वतः काफ़ी नहीं होगी। इस बात को भी लोग हमेशा भूल जाते हैं। नये नाम जोड़ने के लिए **छः** के दो-तिहाई, यानी **चार** वोटों की आवश्यकता थी; इसलिए, यदि केन्द्रीय समिति के लिए चुने गये तीन सदस्य अपना रोध-अधिकार इस्तेमाल भर कर दें तो **त्रिगुट का आकार बढ़ाना संभव नहीं था**। इसके विपरीत, यदि सम्पादक-मण्डल के तीन में से दो सदस्य भी और नये नाम जोड़ने का विरोध करते तो भी, यदि केन्द्रीय समिति के तीनों सदस्य नये नाम जोड़ने के पक्ष में होते, नये नाम जोड़ना सम्भव होता। इस प्रकार, यह बात स्पष्ट है कि पुराने मण्डल को पार्टी संस्था में बदलने का उद्देश्य यह था कि कांग्रेस में चुने हुए व्यावहारिक कार्य के नेताओं की आवाज़ को **फ़ैसलाकुन** आवाज़ बना दिया जाये। हमारे दिमाग़ में मोटे तौर पर कौनसे साथी थे, यह इससे देखा जा सकता है कि कांग्रेस के पहले सम्पादक-मण्डल ने सर्व-सम्मति से कामरेड पावलोविच को अपना सातवां सदस्य चुना था तो इसलिए कि शायद सम्पादक-मण्डल की ओर से कांग्रेस में किसी के बोलने की आवश्यकता पड़े। कामरेड पावलोविच के अलावा, 'ईस्क्रा'-संगठन के एक पुराने सदस्य का नाम भी सातवीं जगह के लिए पेश किया गया था, जो संगठन-समिति के भी सदस्य थे और **बाद को केन्द्रीय समिति के सदस्य चुने गये**[189]।

इस प्रकार, तीन-तीन साथियों के दो त्रिगुट चुनने की योजना का उद्देश्य स्पष्ट रूप में यह था कि: (१) सम्पादक-मण्डल को नया रूप दिया जाये; (२) उसे पुरानी मण्डल-भावना के कुछ ऐसे दोषों से मुक्त किया जाये जो एक पार्टी संस्था में नहीं होने चाहिए (यदि किन्हीं दोषों को हटाने की बात न होती

तो शुरू में तीन सदस्य चुनने में कोई तुक नहीं था!); और (३) एक साहित्यिक संस्था की "धर्मतंत्रवादी" विशेषताओं को दूर कर दिया जाये (त्रिगुट का आकार कैसे बढ़ाया जाये, इस प्रश्न को **तै करने में** प्रमुख व्यावहारिक कार्यकर्ताओं की सेवाओं का उपयोग करके इन विशेषताओं को दूर किया जाये)। इस योजना का, जिससे सभी सम्पादक परिचित थे, आधार स्पष्टतः **तीन साल के** काम का **अनुभव** था और यह योजना क्रान्तिकारी संगठन के उन सिद्धान्तों से **पूरी तरह** मेल खाती थी जिनको हम सुसंगत ढंग से अमल में ला रहे थे। **फूट** के ज़माने में, जिस ज़माने में **'ईस्क्रा'** मैदान में उतरा था, अक्सर बड़े योजनाविहीन एवं स्वयंस्फूर्त्त ढंग से दल बन जाते थे और उनमें अनिवार्य रूप से मण्डल-भावना के कुछ बहुत ही अरुचिकर दोष आ जाते थे। पार्टी का निर्माण करने के लिए पहले यह ज़रूरी था कि इन दोषों को दूर किया जाये; उनको दूर करने में प्रमुख व्यावहारिक कार्यकर्ताओं का सहयोग **आवश्यक** था, क्योंकि संगठनात्मक मामले **हमेशा से** सम्पादक-मण्डल के कुछ सदस्यों के हाथ में थे और जो संस्था अब पार्टी संस्थाओं की व्यवस्था में प्रवेश कर रही थी, वह कोरी साहित्यिक संस्था नहीं बल्कि राजनीतिक नेताओं की एक संस्था थी। इसी प्रकार, 'ईस्क्रा' सदा से जिस नीति का अनुसरण करता आया था, उस नीति के दृष्टिकोण से भी यह बात स्वाभाविक थी कि प्रारम्भिक त्रिगुट का चुनाव कांग्रेस के हाथ में छोड़ दिया जाये: हमने कांग्रेस की तैयारी में अत्यधिक **सतर्कता** से काम लिया था; पार्टी के कार्यक्रम, कार्यनीति, तथा संगठन से सम्बंधित सभी विवादग्रस्त सैद्धान्तिक प्रश्न जब तक **पूरे तौर पर** साफ़ नहीं हो गये, तब तक हमने प्रतीक्षा की। हमें इसमें **कोई सन्देह नहीं था** कि कांग्रेस इस माने में **'ईस्क्रा' की कांग्रेस** होगी कि उसका प्रबल बहुमत इन बुनियादी सवालों पर दृढ़ रहेगा (इसका एक आंशिक प्रमाण वे प्रस्ताव भी हैं जो 'ईस्क्रा' को मुखपत्र के रूप में स्वीकार करने के सवाल पर पेश किये गये थे); इसलिए जिन साथियों ने 'ईस्क्रा' के विचारों का प्रचार करने तथा उसे एक पार्टी में बदलने के काम का पूरा बोझा अपने कंधों पर संभाला था, **उन्हीं के हाथ में** इस बात का फ़ैसला छोड़ देना हमारे लिए लाज़िमी था कि नयी पार्टी संस्था के लिए सबसे उपयुक्त उम्मीदवार कौन लोग हैं। यदि इस योजना को प्रतिनिधियों ने आम तौर पर पसन्द किया और उसके विरुद्ध कोई दूसरी योजना नहीं पेश की गयी, तो उसका **केवल** यही कारण है कि तीन-तीन साथियों के

"दो त्रिगुटों" की यह योजना एक स्वाभाविक योजना थी, उसका **केवल** यही कारण है कि यह योजना 'ईस्क्रा' की सम्पूर्ण नीति से और 'ईस्क्रा' के काम से थोड़ा भी परिचय रखनेवाले हर आदमी को 'ईस्क्रा' के बारे में जो कुछ भी मालूम था, उससे **पूरी तरह मेल खाती थी।**

और इसलिए, कांग्रेस में, सबसे पहले कामरेड रूसोव ने यह प्रस्ताव रखा कि **दो त्रिगुट** चुने जायें। जिन मार्तोव ने **हमें लिखकर दिया था कि यह योजना अवसरवाद के झूठे आरोप से सम्बंध रखती है, उनके अनुयायियों के दिमाग़ में यह बात कभी आयी तक नहीं** कि छः सदस्य हों या तीन, इस सवाल को यह शक्ल दे दें कि यह आरोप सही है या ग़लत। **उनमें से किसी ने इसके बारे में इशारा तक नहीं किया! किसी ने इस सम्बंध में एक शब्द भी नहीं कहा** कि छः या तीन के विवाद में कौन-कौनसी सैद्धान्तिक धाराएं तथा उप-धाराएं निहित हैं। उन्होंने एक अधिक साधारण और ज़्यादा सस्ता नुस्ख़ा बेहतर समझा, यानी लोगों के मन में दया का भाव जगाने की कोशिश करना, **भावनाओं को ठेस पहुंचने की संभावना** की बातें करना, यह जताना कि **सम्पादक-मण्डल का मामला तो पहले ही** 'ईस्क्रा' को मुखपत्र मानकर **तै कर दिया गया है**। यह आख़िरी दलील, जो कामरेड कोल्त्सोव ने कामरेड रूसोव के जवाब में दी थी, **सरासर झूठी** थी। कांग्रेस की कार्यसूची में दो बातें अलग-अलग रखी गयी थीं (देखिये कार्यवाही, पृष्ठ १०) – और ज़ाहिर है, यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी: कार्यसूची में चौथी बात थी – "पार्टी का केन्द्रीय मुखपत्र" और १८ वीं बात थी – "केन्द्रीय समिति और केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल का चुनाव"। यह तो हुई पहली बात। दूसरी बात यह है कि जब केन्द्रीय मुखपत्र के बारे में निर्णय किया जा रहा था, उस समय **तमाम** प्रतिनिधियों ने साफ़-साफ़ यह ऐलान किया था कि इस निर्णय का यह अर्थ **नहीं** है कि हम पुराने सम्पादक-मण्डल को भी मान्यता दे रहे हैं, बल्कि इसका अर्थ केवल यह है कि हम उसकी धारा को मान्यता दे रहे हैं*, और इन ऐलानों के **विरोध में एक भी आवाज़ नहीं** उठी थी।

---

*देखिये कार्यवाही, पृष्ठ १४०; **अकीमोव** का भाषण: ... "मुझसे कहा जाता है कि केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल के चुनाव के बारे में हम अन्त में विचार करेंगे", अकीमोव के ख़िलाफ़ **मुराव्योव** का यह भाषण कि

इस प्रकार, यह कहना कि एक ख़ास पत्र को मान्यता देकर कांग्रेस ने उसके सम्पादक-मण्डल को भी मान्यता दे दी – और अल्पमत के अनुयायियों ने यह बात बार-बार कही थी (कोल्त्सोव ने पृष्ठ ३२१ पर, पोसादोव्स्की ने पृष्ठ ३२१ पर, पोपोव ने पृष्ठ ३२२ पर, और अन्य बहुतों ने) – **तथ्यों को देखते हुए सरासर झूठी बात थी**। जिस समय तक कि केन्द्रीय संस्थाओं की रचना के प्रश्न पर **सभी लोग सचमुच तटस्थ भाव से विचार करने की स्थिति में थे**, उस समय इन साथियों का जो मत था, उसे अब उन्होंने **छोड़ दिया था** और बिल्कुल ज़ाहिर है कि अपनी इस हरकत पर पर्दा डालने के लिए ही उन्होंने यह **हथकंडा** अपनाया था। इस मत-परिवर्तन को न तो किन्हीं सैद्धांतिक उद्देश्यों द्वारा उचित ठहराया जा सकता था (क्योंकि **कांग्रेस में** "अवसरवाद के झूठे आरोप" का सवाल उठाने में अल्पमत को **सरासर नुक़सान ही नुक़सान था** और उन्होंने उसकी ओर **संकेत तक** नहीं किया) और न ही ऐसे **तथ्यों के आधार पर** यह साबित किया जा सकता था कि छः सदस्य ज़्यादा अच्छी तरह काम कर सकते हैं या तीन सदस्य (क्योंकि अगर वे इन तथ्यों की चर्चा भी आरम्भ करते तो अल्पमत के विरुद्ध दलीलों का ढेर लग जाता)। इसलिए एक "सुगठित समष्टि" की, एक

अकीमोव "केन्द्रीय मुखपत्र के भावी सम्पादक-मण्डल के प्रश्न से बहुत उद्विग्न हैं" (पृष्ठ १४१), **पावलोविच** का यह भाषण कि केन्द्रीय मुखपत्र के बारे में निर्णय करके हमने "वह ठोस सामग्री तैयार कर ली है जिसके आधार पर हम वह कार्य सम्पन्न कर सकते हैं जिसके बारे में कामरेड अकीमोव इतने चिन्तित हैं", और इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता कि 'ईस्क्रा' "पार्टी के फ़ैसलों के अधीन" काम करेगा (पृष्ठ १४२); **त्रोत्स्की** का यह भाषण: "हम चूंकि सम्पादक-मण्डल को मान्यता नहीं दे रहे हैं तो प्रश्न है कि 'ईस्क्रा' की किस चीज़ को मान्यता दे रहे हैं? ... नाम को नहीं, बल्कि धारा को ... नाम को नहीं बल्कि ध्वजा को" (पृष्ठ १४२); **मार्तिनोव** का यह भाषण: ..." अन्य बहुत से साथियों की तरह मैं भी यह समझता हूं कि एक निश्चित विचारधारा के पत्र के रूप में 'ईस्क्रा' को अपना केन्द्रीय मुखपत्र बनाने के प्रश्न पर बहस करते हुए हमें इस समय उसके सम्पादक-मण्डल को चुनने या मान्यता देने के तरीक़े पर बहस नहीं करनी चाहिए। उसपर हम बाद को विचार करेंगे जब कार्यसूची के क्रम के अनुसार इस प्रश्न पर विचार करने का अवसर आयेगा" ... (पृष्ठ १४३)

"एकरस संस्था" की और "सुगठित तथा स्फटिकी-अखण्ड इकाई" आदि की बातें करके इस सवाल से कन्नी काटने की कोशिश करना इन लोगों के लिए लाज़िमी था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इन दलीलों को उनकी असलियत के अनुसार तुरन्त "कोरी बकवास" का नाम दे दिया गया (पृष्ठ ३२८)। तीन सदस्यों का त्रिगुट चुनने की योजना ही "सामंजस्य" के अभाव का स्पष्ट प्रमाण थी। एक महीने से अधिक समय तक साथ काम करने के अनुभव के रूप में प्रतिनिधियों के पास **खुद अपना मत** निर्धारित करने के लिए काफ़ी सामग्री मौजूद थी। जब कामरेड पोसादोव्स्की ने इस सामग्री की ओर संकेत किया (खुद अपने दृष्टिकोण से उन्होंने ऐसा करते हुए बहुत सतर्कता और विवेक से काम नहीं लिया था; देखिये पृष्ठ ३२१ और ३२५ जहां उन्होंने "असंगतियां" शब्द का "अस्थायी रूप से" प्रयोग किया है), तो कामरेड मुराव्योव ने साफ़-साफ़ घोषणा की कि "मेरी राय में अब कांग्रेस के बहुमत ने साफ़ तौर पर यह समझ लिया है कि ऐसी* असंगतियां निस्सन्देह मौजूद हैं" (पृष्ठ ३२१)। अल्पमत ने "असंगतियां" शब्द का शुद्धतः व्यक्तिगत अर्थ लगाया (इस शब्द का प्रयोग मुराव्योव ने नहीं, बल्कि पोसादोव्स्की ने आरम्भ किया था), क्योंकि कामरेड मुराव्योव ने जो चुनौती दी थी उसे स्वीकार करने का उनमें साहस नहीं था और उनमें छः सदस्यों के सम्पादक-मण्डल के समर्थन में सार-तत्व की दृष्टि से **एक भी नपी-तुली** दलील पेश करने की हिम्मत नहीं थी। परिणामस्वरूप एक ऐसी बहस शुरू हुई जिससे कोई नतीजा निकल ही नहीं सकता था: बहुमत ने (कामरेड मुराव्योव के मुख से) यह ऐलान किया कि वे **बिलकुल स्पष्ट रूप में** समझते हैं कि छः या तीन सदस्यों का असली महत्व क्या है, मगर अल्पमत उनकी बात सुनने तक से निरंतर इंकार करता रहा और बस ज़ोर देकर कहता रहा कि "हम

---

*कामरेड पोसादोव्स्की के मन में ठीक-ठीक कौनसी असंगतियां थीं, यह कांग्रेस में हमें मालूम नहीं हो सकीं। उधर कामरेड मुराव्योव ने इसी बैठक में (पृष्ठ ३२२) यह कहा कि उनके विचारों की सही व्याख्या नहीं की गयी है और जब कार्यवाही स्वीकार की जा रही थी तो उन्होंने साफ़-साफ़ ऐलान किया कि वह "उन असंगतियों का ज़िक्र कर रहे थे जो विभिन्न प्रश्नों पर कांग्रेस की बहसों के दौरान में सामने आयी हैं और जो कि सैद्धान्तिक असंगतियां हैं, जिनके अस्तित्व से अब दुर्भाग्यवश कोई इनकार नहीं करेगा" (पृष्ठ ३५३)।

इस प्रश्न पर विचार करने की **स्थिति में नहीं हैं**"। बहुमत न सिर्फ़ अपने को इस प्रश्न पर विचार करने की स्थिति में समझता था, बल्कि वह उसपर पहले ही "विचार कर चुका था" और यह ऐलान कर चुका था कि वह कुछ **बिल्कुल स्पष्ट** निष्कर्षों पर पहुंच चुका है, मगर अल्पमत को **विचार करने में डर लगता था** और इस डर को छिपाने के लिए वह महज़ "कोरी बकवास" की आड़ लेता था। बहुमत ने यह सलाह दी कि "हमें यह याद रखना चाहिए कि हमारा केन्द्रीय मुखपत्र केवल एक साहित्यिक समूह नहीं है"; बहुमत "चाहता था कि केन्द्रीय मुखपत्र की बागडोर **कुछ निश्चित व्यक्तियों के हाथ में हो**, कुछ ऐसे व्यक्तियों के हाथ में हो जिनको **कांग्रेस जानती हो, ऐसे व्यक्ति जो उन तक़ाज़ों को पूरा करते हों**, जिनका मैं ऊपर जिक्र कर चुका हूं" (यानी, केवल साहित्यिक ढंग के तक़ाज़े नहीं, कामरेड लांग का भाषण, पृष्ठ ३२७)। किन्तु अल्पमत ने इस बार भी चुनौती स्वीकार करने का साहस नहीं किया और इसके बारे में एक शब्द भी नहीं कहा कि जो संस्था साहित्यिक संस्था से ऊंची कोई चीज़ है, उसके लिए वे किसे उपयुक्त समझते हैं, वे किसे ऐसा समझते हैं जिसका ऐसा "बिल्कुल निश्चित" व्यक्तित्व हो जिससे "कांग्रेस अच्छी तरह परिचित हो"। अल्पमत अब भी "सामंजस्य" की अपनी कुख्यात बातों के पर्दे के पीछे ही छिपा रहा। केवल इतना ही नहीं था। अल्पमत बहस में ऐसी दलीलें ले आया जो सिद्धान्त की दृष्टि से बिल्कुल झूठी थीं और इसलिए जिनका स्वभावतया बिल्कुल ठीक ही मुंहतोड़ जवाब मिला। देखिये न, "सम्पादक-मण्डल का पुनर्संगठन करने का कांग्रेस को न तो कोई नैतिक अधिकार है और न राजनीतिक" (त्रोत्स्की, पृष्ठ ३२६), "यह बहुत नाजुक (जी हां!) सवाल है" (यह बात भी त्रोत्स्की ने ही कही); **"सम्पादक-मण्डल के जो सदस्य दोबारा नहीं चुने जाते उन्हें यह देखकर कैसा महसूस होगा कि अब कांग्रेस उनको सम्पादक-मण्डल के सदस्यों के रूप में और नहीं देखना चाहती?"** (ज़ार्योव, पृष्ठ ३२४)*

---

*कामरेड पोसादोव्स्की का भाषण देखिये: ... "पुराने सम्पादक-मण्डल के छः में से तीन सदस्यों को चुनकर, आप यह स्वीकार कर लेते हैं कि बाक़ी तीन सदस्य अनावश्यक और फ़ालतू थे। और इस नतीजे पर पहुंचने का न तो आपको अधिकार है और न कोई कारण है।"

इस तरह की दलीलों से पूरा सवाल **दया, और ठेस खाई हुई भावनाओं** के स्तर पर उतर आया, और इस प्रकार अल्पमत ने सच्ची सैद्धान्तिक दलीलों, असली राजनीतिक दलीलों के मामले में अपना दिवालियापन स्वीकार कर लिया और बहुमत ने तुरन्त बता दिया कि सवाल को इस तरह पेश करने का **असली** नाम क्या है: **सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकता** (कामरेड रूसोव)। कामरेड रूसोव ने ठीक ही कहा कि "क्रान्तिकारियों के मुंह से हम बड़े अजीब भाषण सुन रहे हैं जो पार्टी के काम तथा पार्टी-नैतिकता की हमारी अवधारणाओं से ज़रा भी मेल नहीं खाते। त्रिगुट चुनने के विरोधियों की मुख्य दलील का सारा निचोड़ **पार्टी के मामलों की ओर सर्वथा सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकता का दृष्टिकोण** है।" (हर जगह शब्दों पर ज़ोर मेरा है) ... "अगर हम इस दृष्टिकोण को अपना लेंगे, जो कि पार्टी का दृष्टिकोण नहीं, बल्कि **सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकों** का दृष्टिकोण है, तो जब कभी भी कोई चुनाव होगा हमें हमेशा इस प्रश्न पर सोचना पड़ेगा कि अगर इवानोव को चुना गया और पेत्रोव को नहीं चुना गया तो पेत्रोव बुरा तो नहीं मानेगा, और अगर संगठन समिति के किसी एक सदस्य को केन्द्रीय समिति में नहीं चुना गया और दूसरे को चुना गया तो वह बुरा तो नहीं मानेगा? साथियो, इस तरह हम कहां जा पहुंचेंगे? यदि हम लोग यहां **एक-दूसरे की प्रशंसा करने के लिए और सिद्धान्तविहीन दया-ममता का प्रदर्शन करने के लिए नहीं**, बल्कि एक पार्टी का निर्माण करने के लिए इकट्ठा हुए हैं तो हम ऐसे दृष्टिकोण को कभी नहीं अपना सकते। हम **अधिकारियों को चुनने** जा रहे हैं, और इसमें यह सवाल नहीं उठ सकता कि जो लोग चुने नहीं जाते उनमें हमारा विश्वास नहीं है; **हमारे सामने केवल अपने ध्येय को आगे बढ़ाने का विचार होना चाहिए और इस बात का कि किसी पद के लिए हम जिस व्यक्ति को चुनें, वह उसके लिए उपयुक्त हो।**" (पृष्ठ ३२५)

वे तमाम लोग जो पार्टी में फूट पड़ने के कारणों पर स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहते हैं और कांग्रेस में उसकी **जड़ों** का पता लगाना चाहते हैं, उनको हम सलाह देंगे कि वे कामरेड रूसोव के इस भाषण को **बार-बार पढ़ें**। उनकी दलीलों का खण्डन करना तो दूर रहा, अल्पमत ने उनका विरोध तक नहीं किया। सच तो यह है कि ऐसे प्राथमिक तथा बुनियादी सत्यों का विरोध करना असम्भव था, जिनको भूल जाने का कारण, जैसा कि खुद कामरेड रूसोव ने ठीक ही

बताया था, केवल "**स्नायविक उद्विग्नता**" थी। और जहां तक अल्पमत का सम्बंध है, उसके पार्टी दृष्टिकोण को त्यागकर एक सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकतावादी एवं मण्डलवादी दृष्टिकोण अपनाने की यह, असल में सबसे कम अरुचिकर व्याख्या है।*

---

*अपनी 'घेरे की स्थिति' नामक पुस्तिका में कामरेड मार्तोव ने इस प्रश्न का भी ठीक वैसा ही विवेचन किया जैसा विवेचन उन्होंने उन दूसरे प्रश्नों का किया है जिनपर उन्होंने विचार किया है। उन्होंने इस विवाद का पूरा चित्र पेश करने का कष्ट नहीं उठाया। इस बहस में जो एकमात्र सचमुच **सैद्धान्तिक** सवाल उठा था, उससे कामरेड मार्तोव नम्रतावश कन्नी काट गये: वह सवाल यह था कि सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकों जैसी दया-ममता का प्रदर्शन किया जाये या पार्टी के अधिकारियों को चुना जाये; पार्टी का दृष्टिकोण अपनाया जाये या इवान इवानोविच जैसे लोगों की ठेस खायी हुई भावनाओं का ख़याल किया जाये? यहां भी कामरेड मार्तोव ने केवल अलग-अलग असम्बद्ध घटनाओं को चुनने तक ही अपने को सीमित रखा, उनको संदर्भ से अलग निकालकर पेश किया और साथ में मुझे तरह-तरह की गालियां सुना दीं। यह तो काफ़ी नहीं है, कामरेड मार्तोव!

कामरेड मार्तोव ख़ास तौर पर इस सवाल को लेकर **मेरे** पीछे पड़े हुए हैं कि कांग्रेस में कामरेड अक्सेल्रोद, ज़ासुलिच, और स्तारोवेर के नाम चुनाव के लिए **क्यों** नहीं पेश किये गये। उन्होंने जो सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूक रवैया अपनाया है, उसके कारण वह यह नहीं देख पाते कि इस तरह के सवाल कितने **भद्दे** हैं (वह सम्पादक-मण्डल के अपने सहयोगी कामरेड प्लेख़ानोव से क्यों नहीं पूछते?)। उनको यह बात परस्पर-विरोधी मालूम होती है कि मैं एक तरफ़ तो छः सदस्यों के सवाल पर अल्पमत के आचरण को "विवेकहीन" समझता हूं और दूसरी तरफ़ यह चाहता हूं कि सारी बात पार्टी के सामने रखी जाये। यदि मार्तोव इस मामले के केवल कुछ ही नहीं बल्कि उसके **पूरे** उतार-चढ़ाव का सिलसिलेवार वर्णन पेश करने का कष्ट उठाते तो वह ख़ुद समझ जाते कि इन दो बातों में कोई विरोध नहीं है। इस प्रश्न की ओर सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकतावादी दृष्टिकोण अपनाना और दया-ममता दिखाने तथा ठेस खाई हुई भावनाओं का ख़याल रखने का निवेदन करना विवेकहीन बात थी; पार्टी के सामने सारी बातें साफ़-साफ़ रखने के लिए ज़रूरी था कि तीन के मुक़ाबले में छः सदस्यों का सम्पादक-मण्डल क्यों अधिक उपयोगी होगा, इसका **सार-तत्व** साथियों को बताया जाये, विभिन्न पदों के लिए जो उम्मीदवार खड़े थे उनमें क्या गुण-अवगुण हैं, यह साथियों

लेकिन चुनाव के विरुद्ध विवेकपूर्ण, चुस्त दलीलों का अल्पमत के पास इतना घोर अभाव था कि पार्टी के मामलों में सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकता ले आने के अलावा उन्होंने ऐसी **हरकतें** भी कीं **जो घोर निन्दनीय** थीं। सचमुच हम कामरेड पोपोव की इन हरकतों को और क्या कह सकते हैं जब उन्होंने कामरेड मुराव्योव को परामर्श दिया कि उनको "नाज़ुक **कामों** में हाथ नहीं डालना चाहिए" (पृष्ठ ३२२)? जैसा कि कामरेड सोरोकिन ने ठीक ही कहा था, यह "किसी आदमी की अन्तरात्मा को कुरेदने" के सिवा और क्या है (पृष्ठ ३२८)? **राजनीतिक** दलीलों के अभाव में यह **"व्यक्तियों"** के बारे में

को बताया जाये और विभिन्न धाराओं-उपधाराओं का मूल्यांकन उनके सामने रखा जाये। **कांग्रेस में अल्पमत ने इसका लेशमात्र भी संकेत नहीं किया था।**

यदि कामरेड मार्तोव कार्यवाही का ध्यानपूर्वक अध्ययन करते तो प्रतिनिधियों के भाषणों में उनको छः सदस्यों के सम्पादक-मण्डल के ख़िलाफ़ **कितनी ही** दलीलें मिल जातीं। इन भाषणों में से कुछ दलीलों के नमूने देखिये: पहली यह कि पुराने छः सदस्यों में अलग-अलग सैद्धान्तिक धाराओं के रूप में असंगतियां स्पष्टतः मौजूद थीं; दूसरी यह कि सम्पादन-कार्य को प्राविधिक दृष्टिकोण से भी थोड़ा और सरल वनाना वांछनीय है; तीसरी यह कि सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकतावादी दया-ममता की अपेक्षा ध्येय अधिक महत्वपूर्ण है और केवल चुनाव के द्वारा ही यह बात सुनिश्चित हो सकती है कि जो लोग छांटे जायें वे सचमुच अपने पदों के लिए उपयुक्त हों; चौथी यह कि कांग्रेस का चुनने का अधिकार सीमित नहीं किया जाना चाहिए; पांचवीं यह कि केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल के रूप में अब पार्टी को एक साहित्यिक समूह से अधिक ऊंची किसी चीज़ की आवश्यकता है, केंद्रीय मुखपत्र को केवल लेखकों की ही नहीं बल्कि प्रशासकों की भी आवश्यकता है; छठी यह कि केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल में निश्चित व्यक्तित्व के कुछ ऐसे लोग होने चाहिए जिनको **कांग्रेस** अच्छी तरह से जानती हो; सातवीं यह कि छः सदस्यों का मण्डल अक्सर अकर्मण्य साबित होता है और अगर वह अपना काम पूरा कर पाया तो असाधारण नियम की **बदौलत नहीं, बल्कि उनके बावजूद** उसने अपना काम पूरा किया; आठवीं यह कि अख़बार का संचालन करना पार्टी का कार्य है (न कि किसी मण्डल का), इत्यादि। यदि कामरेड मार्तोव को इन व्यक्तियों के न चुने जाने के कारण जानने की सचमुच इतनी चिन्ता है तो उनको इनमें से प्रत्येक दलील की **तह तक पहुंचना** चाहिए और देखना चाहिए कि क्या वह इनमें से एक का भी खंडन कर सकते हैं।

अटकल लगाना नहीं तो और क्या है? कामरेड सोरोकिन का यह कहना कि "हमने ऐसी हरकतों का हमेशा विरोध किया है" ठीक था या ग़लत? "**क्या कामरेड डेयट्श** का उन साथियों का, जो उनसे सहमत नहीं हैं, इस तरह सब को दिखाकर मुंह काला करने की **चेष्टा करना उचित** था?"* पृष्ठ ३२८)

सम्पादक-मण्डल के विषय में, कांग्रेस में जो बहस हुई उसका निचोड़ यह है कि अल्पमत ने बहुमत द्वारा अनेक बार कही गयी इस बात का खण्डन नहीं किया (और न ही उन्होंने खंडन करने की कोई कोशिश की) कि **प्रतिनिधियों** को कांग्रेस के शुरू से ही और उसके भी **पहले से** त्रिगुट की योजना की जानकारी थी और इसलिए **यह योजना ऐसे कारणों तथा तथ्यों** पर आधारित थी **जिनका कांग्रेस की घटनाओं तथा झगड़ों से कोई सम्बंध नहीं था।** छः सदस्यों के सम्पादक-मण्डल का समर्थन करते हुए अल्पमत ने ऐसा रुख़ अपनाया जो **सिद्धान्त की**

---

* **इसी बैठक में** कामरेड डेयट्श के शब्दों का (देखिये पृष्ठ ३२४–'ओर्लोव के साथ कटु वार्तालाप') कामरेड सोरोकिन ने यही मतलब लगाया था। कामरेड डेयट्श ने बताया है (पृष्ठ ३५१) कि उन्होंने "ऐसी कोई बात नहीं कही थी", मगर **तभी** वह यह भी मान लेते हैं कि उन्होंने "इससे" **बहुत ज्यादा "मिलती-जुलती"** बात कही थी। कामरेड डेयट्श का कहना है कि "मैंने यह नहीं कहा था कि 'कौन हिम्मत करेगा', बल्कि मैंने यह कहा था कि 'मैं उन लोगों को देखना चाहूंगा जो यह हिम्मत करेंगे' (वाह! वाह!–यहां तो कामरेड डेयट्श गढ़े से निकलकर खड्ड में जा गिरते हैं!) 'कि ऐसे मुजरिमाना' (जी हां!) 'प्रस्ताव का समर्थन करें कि तीन सदस्यों का सम्पादक-मण्डल चुना जाये।'" (पृष्ठ ३५१) कामरेड डेयट्श ने कामरेड सोरोकिन के शब्दों का खण्डन नहीं किया, बल्कि उनकी **पुष्टि** की। कामरेड डेयट्श ने कामरेड सोरोकिन की यह शिकायत सही साबित कर दी कि "यहां" (छः सदस्यों के मण्डल के समर्थन में अल्पमत की दलीलों में) "सभी अवधारणाओं को उलझा दिया गया है"। कामरेड डेयट्श ने इस बात की भी पुष्टि कर दी कि कामरेड सोरोकिन ने प्रतिनिधियों को इस **मूल** सत्य की याद दिलाकर बिल्कुल सही काम किया था कि "हम पार्टी के सदस्य हैं और हमें केवल राजनीतिक बातों की ओर ध्यान देना चाहिए"। चीख़-चीख़कर यह रोना रोना कि चुनाव करना **मुजरिमाना** हरकत थी–यह केवल सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकता ही नहीं, बल्कि **घोर निन्दनीय** हरकतों पर उतर आना है!

दृष्टि से ग़लत था, और जिसकी कतई इजाज़त नहीं दी जा सकती थी और जो केवल **सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकतावादी** धारणाओं पर आधारित था। पार्टी के **पदाधिकारियों** के चुनाव के बारे में **पार्टी** का जो रवैया होना चाहिए, अल्पमत ने उसे एकदम भुला दिया था; उसने फ़लां पद के लिए प्रत्येक उम्मीदवार का **मूल्यांकन** देने तक की कोई कोशिश नहीं की और यह तक नहीं सोचा कि उसे जो काम करने होंगे, वह उनके लिए उपयुक्त है अथवा अनुपयुक्त। अल्पमत ने प्रश्न पर उसके गुणों-अवगुणों के आधार पर बहस से **बचने की कोशिश की** और उसके बदले कुख्यात सामंजस्य, "आंसू बहाने" और "शोक-समुद्र में बह जाने" की अपनी बातों की इस तरह चर्चा की (लांगे का भाषण, पृष्ठ ३२७) जैसे किसी की "हत्या कर दी जा रही हो"। "**स्नायविक उद्विग्नता**" की हालत में अल्पमत ने यहां तक किया कि उसने "**लोगों की अन्तरात्मा को कुरेदने**" तक की चेष्टा की, और चीख़ना-चिल्लाना शुरू किया कि चुनाव करना "मुजरिमाना" हरकत थी, और इसी तरह की अनेक और **अनुचित** हरकतें कीं। (पृष्ठ ३२५)

हमारी कांग्रेस की ३० वीं बैठक में छः या तीन के सवाल पर जो संघर्ष हुआ, वह वास्तव में **सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकता** और **पार्टी-भावना** का, सबसे ख़राब क़िस्म के "**महान व्यक्तियों**" और **राजनीति के हितों** का, **कोरी बक़वास** और **क्रान्तिकारी कर्त्तव्यभावना** की प्राथमिक ढंग की अवधारणा का संघर्ष था।

और जब ३१ वीं बैठक में, कांग्रेस ने १७ के विरुद्ध १९ के बहुमत से, जिसमें ३ तटस्थ रहे, पूरे के पूरे पुराने सम्पादक-मण्डल को मान्यता देने के प्रस्ताव को **अस्वीकार कर दिया** (देखिये पृष्ठ ३३० और **संशोधन-पत्रिका**) और जब **भूतपूर्व सम्पादकगण** हाल में लौट कर आये तो कामरेड मार्तोव ने "भूतपूर्व सम्पादक-मण्डल के बहुमत की ओर से वक्तव्य" देते हुए (पृष्ठ ३३०-३३१), राजनीतिक स्थिति तथा **राजनीतिक अवधारणाओं** के मामले में फिर उसी ढुलमुलपन और अस्थिरता का और भी अधिक उग्र रूप में परिचय दिया। हम इस सामूहिक **वक्तव्य** के तथा मैंने उसका जो उत्तर दिया था उसके एक-एक नुक्ते पर विस्तार से विचार करेंगे। (पृष्ठ ३३२-३३३)

जब पुराने सम्पादक-मण्डल को मान्यता नहीं दी गयी तो कामरेड मार्तोव ने कहा: "आज से पुराना 'ईस्क्रा' नहीं रहा और अब उसका नाम बदल देना अधिक उपयुक्त होगा। बहरहाल, कांग्रेस के नये प्रस्ताव का हम यह मतलब लगाते

हैं कि कांग्रेस की शुरू की एक बैठक में 'ईस्क्रा' के प्रति विश्वास प्रकट करते हुए प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था पर अब उसको बहुत काफ़ी हद तक सीमित कर दिया गया है।"

कामरेड मार्तोव और उनके सहयोगियों ने **राजनीतिक सुसंगति** का एक सचमुच दिलचस्प और कई एतबार से शिक्षाप्रद प्रश्न उठाया है। मैं इसका उत्तर पहले ही दे चुका हूं, जब कि मैंने यह बताया था कि 'ईस्क्रा' को मान्यता देने के समय **हरेक ने** क्या कहा था (कार्यवाही, पृष्ठ ३४६, देखिये ऊपर पृष्ठ ८२) *। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यहां राजनीतिक ढुलमुलपन का एक ज्वलंत उदाहरण हमारे सामने आया है, मगर यह किसका ढुलमुलपन है – कांग्रेस के बहुमत का या पुराने सम्पादक-मण्डल के बहुमत का – इसका निर्णय हम पाठक के ऊपर छोड़ देते हैं। इसके अलावा कामरेड मार्तोव तथा उनके सहयोगियों ने दो और बहुत उपयुक्त प्रश्न उठाये हैं, जिनका निर्णय भी हम पाठक के हाथ में छोड़ देंगे: पहला प्रश्न यह है कि जब **कांग्रेस ने केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल के अधिकारियों को चुनने** का फ़ैसला किया, तब इस फ़ैसले में 'ईस्क्रा' के प्रति विश्वास प्रकट करनेवाले प्रस्ताव को "सीमित करने" की चेष्टा देखना **सिद्धान्त-विहीन कूपमण्डूकों** की भावना का परिचय देता है या **पार्टी-भावना** का? दूसरे, **पुराने 'ईस्क्रा' का अस्तित्व** ठीक-ठीक किस समय से **बाक़ी नहीं रहा** – अंक ४६ से जब से कि प्लेख़ानोव और मैं, हम दोनों ने उसका सम्पादन करना आरम्भ किया, या अंक ५३ से जब से कि पुराने सम्पादक-मण्डल के बहुमत ने उसे अपने हाथ में ले लिया? यदि पहला प्रश्न एक बहुत ही दिलचस्प **सैद्धान्तिक प्रश्न** है, तो दूसरा प्रश्न एक बहुत ही दिलचस्प **तथ्य सम्बन्धी प्रश्न** है।

कामरेड मार्तोव ने आगे कहा: "क्योंकि अब यह तै हो चुका है कि तीन सदस्यों का सम्पादक-मण्डल चुना जायेगा, इसलिए मैं अपनी तरफ़ से और बाक़ी तीन साथियों की तरफ़ से यह ऐलान कर देना ज़रूरी समझता हूं कि हममें से कोई इस नये सम्पादक-मण्डल में भाग नहीं लेगा। अपने बारे में, मैं यह और कह देना ज़रूरी समझता हूं कि अगर यह सच है कि कुछ साथी इस 'त्रिगुट' के लिए उम्मीदवारों की सूची में मेरा नाम भी शामिल करना चाहते थे, तो मैं

---

*देखिये इस खंड के पृष्ठ ५२३-५२५। – सं०

इसे अपना अपमान समझता हूं और मैंने ऐसा कोई काम नहीं किया है जिसके लिए मेरा ऐसा अपमान किया जाये" (जी हां!)। "मैं यह बात उन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर कह रहा हूं जिनमें सम्पादक-मण्डल को बदलने का फ़ैसला किया गया है। यह फ़ैसला इस बुनियाद पर किया गया था कि पुराने सम्पादक-मण्डल में किसी तरह का "झगड़ा"* था, और वह काम नहीं कर सकता था; इसके अलावा, कांग्रेस ने सवाल को निश्चित ढंग से तै कर दिया और सम्पादक-मण्डल से इस झगड़े के बारे में कोई पूछताछ करने या उसके काम न कर पाने के बारे में जांच करने के लिए कोई आयोग नियुक्त करने की ज़रूरत नहीं समझी"... (आश्चर्य है कि अल्पमत के किसी सदस्य को कांग्रेस के सामने यह प्रस्ताव करने की कभी नहीं सूझी कि "सम्पादक-मण्डल से पूछताछ की जाये" या कोई आयोग नियुक्त किया जाये! क्या इसका कारण यह नहीं था कि 'ईस्क्रा' संगठन में फूट पड़ जाने के बाद और समझौते की उस बातचीत के असफल हो जाने के बाद, जिसके बारे में कामरेड मार्तोव और कामरेड स्तारोवेर ने लिखा था, यह प्रस्ताव व्यर्थ होता?) ... "ऐसी परिस्थिति में, यदि कुछ साथी यह मानकर चल रहे

---

*यहां कामरेड मार्तोव का संकेत शायद कामरेड पोसादोव्स्की के शब्द "असंगतियों" की ओर है। मैं एक बार फिर कहता हूं कि कामरेड पोसादोव्स्की ने कांग्रेस को कभी यह बताया ही नहीं था कि इस शब्द से **उनका** क्या मतलब था, जबकि कामरेड मुराव्योव ने, जिन्होंने इसी शब्द का प्रयोग किया था, यह बताया था कि उनका आशय उन **सैद्धान्तिक** असंगतियों से था **जो कांग्रेस में बहस के दौरान में सामने आयी थीं**। पाठक को यह याद होगा कि कांग्रेस में **केवल एक ही बार**, नियमावली की पहली धारा के सिलसिले में, ऐसा मौक़ा आया था जब चार सम्पादकों ने (प्लेख़ानोव, मार्तोव, अक्सेलरोद और मैंने) सचमुच एक **सैद्धान्तिक** बहस में भाग लिया था और यह कि कामरेड मार्तोव और स्तारोवेर ने **लिखकर** "अवसरवाद के झूठे आरोप" के सम्बंध में शिकायत की थी और कहा था कि सम्पादक-मण्डल को "बदलने" के लिए एक दलील के रूप में यह आरोप लगाया जा रहा है। **इस पत्र में** कामरेड मार्तोव को "अवसरवाद" तथा सम्पादक-मण्डल को बदलने की योजना के बीच एक **स्पष्ट** सम्बंध दिखायी दिया था, मगर कांग्रेस में उन्होंने अपने को केवल **"किसी तरह के झगड़े"** की ओर अस्पष्ट संकेत करने तक ही सीमित रखा। "अवसरवाद के झूठे आरोप" को वह उस समय तक भूल चुके थे!

हैं कि मैं इस तरह बदले हुए सम्पादक-मण्डल में बैठने के लिए राज़ी हूंगा, तो मुझे कहना पड़ेगा कि वे मेरी राजनीतिक प्रतिष्ठा पर धब्बा लगाना चाहते हैं"...*

मैंने इस दलील को जान-बूझकर पूरा उद्धृत किया है ताकि पाठक के सामने एक नमूना ग्रा जाये ग्रौर उसे उस चीज़ की शुरूग्रात का थोड़ा परिचय मिल जाये जिसने **कांग्रेस के बाद से** इतना विशाल रूप धारण कर लिया है ग्रौर जिसे **थुक्का-फ़ज़ीहत** ही कहा जा सकता है। "'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल के नाम पत्र" में मैं पहले भी इन शब्दों का प्रयोग कर चुका हूं ग्रौर यह जानते हुए भी कि ये शब्द सम्पादक-मण्डल को बुरे लगेंगे, मैं फिर उन्हीं शब्दों को दुहराने पर मजबूर हूं क्योंकि इनके सही होने में किसी को कोई संदेह नहीं हो सकता। यह समझना ग़लती है कि "फ़िज़ूल की थुक्का-फ़ज़ीहत" वे ही लोग

---

*कामरेड मार्तोव ने ग्रागे कहा: "ऐसी भूमिका ग्रदा करने के लिए रियाज़ानोव राज़ी हो सकते हैं, लेकिन मार्तोव नहीं हो सकता, जिससे, मैं समझता हूं, उसके काम के द्वारा ग्राप थोड़ा-बहुत परिचित हैं।" यह चूंकि रियाज़ानोव पर **व्यक्तिगत** हमला था, इसलिए कामरेड मार्तोव ने ग्रपना वाक्य वापस ले लिया। लेकिन कांग्रेस में रियाज़ानोव का नाम मिसाल के रूप में उनके व्यक्तिगत गुणों के कारण नहीं लिया गया था (उन गुणों का ज़िक्र करने का वहां कोई तुक न था); उनका नाम 'बोर्बा' दल के **राजनीतिक चरित्र** के कारण – उसकी **राजनीतिक ग़लतियों** के कारण लिया गया था। किसी का सचमुच व्यक्तिगत ग्रपमान हो गया हो या उसको ऐसा लगा हो, तो ग्रपने शब्द वापिस ले लेना ही ठीक होता है ग्रौर कामरेड मार्तोव ने ग्रपने शब्द वापस लेकर ठीक काम किया, मगर उसके कारण हम उन **राजनीतिक ग़लतियों** को नहीं भूल सकते जिनसे **पार्टी को सबक़ सीखना** चाहिए। हमारी कांग्रेस में 'बोर्बा' दल पर "संगठनात्मक ग्रव्यवस्था" ग्रौर ऐसी "फूट" पैदा करने का ग्रारोप लगाया गया था "जिसका ग्राधार कोई सैद्धान्तिक कारण नहीं है" (कामरेड मार्तोव का भाषण, पृष्ठ ३८)। **इस प्रकार का** राजनीतिक ग्राचरण सचमुच निन्दा के योग्य है – केवल उसी समय नहीं जब पार्टी कांग्रेस के पहले, **ग्राम** ग्रव्यवस्था के काल में, एक छोटे से दल ने ऐसा ग्राचरण किया हो, बल्कि पार्टी कांग्रेस के **बाद** उस समय भी जब कि ग्रव्यवस्था दूर हो गयी हो ग्रौर "'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल का बहुमत ग्रौर 'श्रम-मुक्ति' दल का बहुमत ऐसा ग्राचरण कर रहा हो"।

करते हैं जिनके "उद्देश्य बुरे" होते हैं (जैसा कि नये 'ईस्क्रा' के सम्पादकगण समझते हैं): जिस क्रांतिकारी को हम निर्वासितों और राजनीतिक प्रवासियों की बस्तियों का थोड़ा भी परिचय है, उसने निस्सन्देह दर्जनों बार ऐसी थुक्का-फ़जीहत देखी होगी जिसमें "स्नायविक उद्विग्नता" और जीवन की अस्वाभाविक तथा गतिरोधपूर्ण परिस्थितियों के कारण हद से ज़्यादा बेहूदा आरोप लोगों पर लगाये गये, तरह-तरह के सन्देह प्रकट किये गये, खुद अपने ऊपर तोहमतें लगायी गयीं, "व्यक्तियों" को लेकर विवाद हुआ, आदि-आदि, और इन चीज़ों का कभी अन्त नहीं होता। कोई भी विवेकशील व्यक्ति इस तरह की थुक्का-फ़जीहत में, **वह चाहे कितने ही भद्दे रूप में क्यों न प्रकट हो,** आवश्यक रूप से बुरे **उद्देश्यों** को नहीं खोजेगा। कामरेड मार्तोव के भाषण के उस अंश में, जिसका उद्धरण मैंने दिया है, जो तरह-तरह की बेहूदगियों, व्यक्तियों की चर्चा, कल्पनातीत भयानक बातों, अन्तरात्मा को कुरेदने, और कल्पित अपमानों और लांछनों का गोरखधंधा हमें मिलता है, उन सबका एकमात्र कारण "स्नायविक उद्विग्नता" ही हो सकता है। जब जीवन में गति नहीं रह जाती, तब ऐसे सैकड़ों झगड़े खड़े हो जाते हैं, और यदि किसी राजनीतिक पार्टी में अपनी बीमारी को उसके असली नाम से पुकारने की हिम्मत नहीं है, यदि वह रोग का निदान निर्ममतापूर्वक नहीं कर सकती और इलाज नहीं खोज सकती, तो वह पार्टी आदर के योग्य नहीं समझी जा सकती।

इस गोरखधंधे में जिस हद तक कोई सिद्धान्त देखा जा सकता है, उस हद तक हम **अवश्यम्भावी रूप से** इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि "चुनाव और लोगों की राजनीतिक प्रतिष्ठा पर लगाये गये लांछनों के बीच कोई सम्बंध नहीं है", कि "इस बात से इनकार करना कि कांग्रेस को नये चुनाव करने, पार्टी के पदाधिकारियों में परिवर्तन करने और अपनी स्थापित की हुई संस्थाओं को बदलने का अधिकार है", सवाल को **उलझा देना** है; और (जैसा कि मैंने कांग्रेस में कहा था; देखिये पृष्ठ ३३२) "पुराने सम्पादक-मण्डल के केवल एक हिस्से को चुनने के सम्बंध में कामरेड मार्तोव की राय **राजनीतिक विचारों के हद से ज़्यादा उलझाव को प्रकट करती है"।**

त्रिगुट की योजना पहले किसने सुझायी, इस सम्बंध में कामरेड मार्तोव ने जो "वैयक्तिक" आक्षेप किया था, मैं उसको छोड़ देता हूं और पुराने सम्पादक-

मण्डल को मान्यता न देने के महत्व के बारे में कामरेड मार्तोव की "राजनीतिक" परिभाषा पर आता हूं। उन्होंने कहा है: ... "अब जो कुछ हुआ है, वह वास्तव में उस संघर्ष का अन्तिम अध्याय है जो कि कांग्रेस के उत्तरार्ध के दौरान में चला था" ... (बिल्कुल ठीक! और कांग्रेस का यह उत्तरार्ध उस समय आरम्भ हुआ था जब कामरेड मार्तोव नियमावली की पहली धारा के सवाल पर कामरेड अकीमोव के सख़्त चंगुल में जा फंसे थे।) ... "यह एक खुला रहस्य है कि इस तब्दीली के पीछे मूल प्रश्न 'काम कर सकने' का नहीं बल्कि केन्द्रीय समिति पर प्रभुत्व जमाने के संघर्ष का है" ... (पहली बात तो यह है कि यह भी एक खुला रहस्य है कि यहां काम कर सकने का सवाल और केन्द्रीय समिति की **रचना** के बारे में मतभेद का सवाल—**दोनों** ही हैं, क्योंकि "संशोधन" की इस योजना का प्रस्ताव उस समय रखा गया था जब कि दूसरे मतभेद की **आशा भी नहीं की जाती थी**, और जब कामरेड पावलोविच को सम्पादक-मण्डल का सातवां सदस्य चुनने में कामरेड मार्तोव ने भी हमारा साथ दिया था! दूसरे, हम **लिखित** प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर चुके हैं कि मूल प्रश्न यहां यह था कि केन्द्रीय समिति में **कौन-कौन लोग चुने जायेंगे**, और अन्ततोगत्वा मामला दो अलग-अलग सूचियों का था: ग्लेबोव—त्राविंस्की—पोपोव या ग्लेबोव—त्रोत्स्की—पोपोव को) ... "सम्पादक-मण्डल के बहुमत ने यह बात स्पष्ट कर दी कि केन्द्रीय समिति को सम्पादक-मण्डल के हाथ का खिलौना बना देने की उसकी कोई इच्छा नहीं थी" ... (यह अकीमोव की धुन है: बिना किसी अपवाद के हर पार्टी कांग्रेस में प्रत्येक बहुमत अपना प्रभाव स्थापित करने और फिर केन्द्रीय संस्थाओं में **बहुमत** प्राप्त करके उसे **पक्का करने के लिए** जो संघर्ष करता है, उसे यहां इस **अवसरवादी मिथ्या प्रचार** के स्तर पर ले आया गया है कि केन्द्रीय समिति को **सम्पादक-मण्डल** के "हाथ का खिलौना" बनाया जा रहा है, या जैसा कि थोड़ा बाद को ख़ुद कामरेड मार्तोव ने कहा, उसे सम्पादक-मण्डल का "महज़ एक **दुमछल्ला**" बनाया जा रहा है, पृष्ठ ३३४) ... "यही कारण है कि सम्पादक-मंडल के सदस्यों की संख्या को घटाना ज़रूरी समझा गया(!!)। और यही कारण है कि मैं ऐसे सम्पादक-मण्डल में शामिल नहीं हो सकता" ... (इस "यही कारण है" पर ज़रा ग़ौर से विचार कीजिये। सम्पादक-मण्डल केन्द्रीय समिति को अपने हाथ का खिलौना या अपना दुमछल्ला किस तरह बना

सकता था? **केवल** उसी समय जब कि काउंसिल में उसके तीन वोट हों और वह अपनी श्रेष्ठता का **दुरुपयोग करे**। बात स्पष्ट है न? फिर इसी तरह क्या यह भी स्पष्ट नहीं है कि तीसरे सदस्य के रूप में चुने जाने के बाद कामरेड मार्तोव इस तरह के दुरुपयोग को हमेशा रोक सकते थे और **अकेले अपने वोट से** काउंसिल में सम्पादक-मण्डल के ज़ोर को कामरेड मार्तोव इस तरह ख़तम कर सकते थे? इसलिए, पूरा मामला आख़िर में यही रह जाता है कि केन्द्रीय समिति में कौन-कौन व्यक्ति होंगे और यह बात एकदम साफ़ हो जाती है कि हाथ का खिलौना और दुमछल्ला बनाने की बातें **मिथ्या प्रचार** हैं।) ... "पुराने सम्पादक-मण्डल के बहुमत के साथ मेरा भी यह विचार था कि कांग्रेस पार्टी में 'घेरे की स्थिति' का अन्त कर देगी और सामान्य स्थिति स्थापित कर देगी। लेकिन, असल में, घेरे की स्थिति और कुछ दलों के विरुद्ध असाधारण क़ानून का प्रयोग अब भी जारी है, और इनका रूप पहले से भी उग्र हो गया है। नियमावली में सम्पादक-मण्डल को जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, वे पार्टी के अहित में इस्तेमाल नहीं किये जायेंगे, इसकी गारंटी केवल उसी हालत में हो सकती है जब पुराना सम्पादक-मण्डल पूरा का पूरा क़ायम रहे"...

यह कामरेड मार्तोव के भाषण का वह पूरा अंश है जिसमें **उन्होंने "घेरे की स्थिति" का अपना कुख्यात नारा पहले-पहल दिया था**। और अब मेरा जवाब देखिये:

"दो त्रिगुट चुनने की योजना के निजी स्वरूप के बारे में मार्तोव ने जो कुछ कहा है, उसे सही करने के लिए मार्तोव के एक दूसरे बयान का उल्लेख करने का मेरा कोई इरादा नहीं है—जिसमें उन्होंने पुराने सम्पादक-मण्डल को मान्यता न देने के हमारे क़दम का 'राजनीतिक महत्व' बताया था। इसके विपरीत, मैं कामरेड मार्तोव की इस बात से पूर्णतया और बिना शर्त सहमत हूं कि इस क़दम का बहुत बड़ा राजनीतिक महत्व है—केवल उसका महत्व वह नहीं है जो मार्तोव समझते हैं। उन्होंने कहा था कि यह क़दम रूस में काम करनेवाली केन्द्रीय समिति पर अपना प्रभाव जमाने के संघर्ष का एक भाग था। मैं मार्तोव से आगे जाता हूं। एक अलग दल के रूप में 'ईस्क्रा' का सारा काम अभी तक अपना प्रभाव जमाने के लिए संघर्ष करना ही रहा है; मगर अब सवाल इससे बड़ा है। अब सवाल प्रभाव जमाने के लिए केवल संघर्ष करने का नहीं, बल्कि

इस प्रभाव को संगठनात्मक रूप देकर सुदृढ़ बनाने का है। इस प्रश्न पर कामरेड मार्तोव के साथ हमारा कितना गहरा राजनीतिक मतभेद है, यह इस बात से ज़ाहिर हो जाता है कि वह मुझपर केन्द्रीय समिति पर प्रभाव डालने की इच्छा रखने का दोष लगाते हैं, जब कि मैं इसे अपना श्रेय समझता हूं कि मैंने इस प्रभाव को संगठनात्मक उपायों से सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया और अब भी कर रहा हूं। मालूम होता है कि हमारे बोलने की भाषाएं भी अलग-अलग हो गयी हैं। हमारे सारे काम का, हमारी सारी कोशिशों का क्या लाभ होगा यदि उन सबका अन्त, प्रभाव जमाने के फिर उसी पुराने संघर्ष में हो जाये और उनका परिणाम प्रभाव की पूर्ण स्थापना और उसे सुदृढ़ बनाना न हो? जी हां, कामरेड मार्तोव का कहना बिल्कुल सही है: हमने जो क़दम उठाया है वह निस्सन्देह एक बहुत बड़ा राजनीतिक क़दम है, और उससे प्रकट होता है कि आजकल जो धाराएं दिखाई दे रही हैं, भविष्य में पार्टी के काम के लिए उनमें से एक धारा चुन ली गयी है। **और 'घेरे की स्थिति' या 'कुछ व्यक्तियों तथा दलों के विरुद्ध असाधारण क़ानून का प्रयोग' जैसे भयंकर शब्दों से मुझे ज़रा भी डर नहीं लगता।** अस्थिर और ढुलमुल तत्वों के सम्बन्ध में हम न केवल 'घेरे की स्थिति' पैदा कर सकते हैं, बल्कि हमें ऐसी हालत पैदा करनी चाहिए और हमारी पूरी पार्टी-नियमावली तथा केन्द्रीयता की वह पूरी व्यवस्था जिसे अब कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया है, राजनीतिक अस्पष्टता पैदा करनेवाले अनेक तत्वों के सम्बंध में 'घेरे की स्थिति' के सिवा और कुछ नहीं है। अस्पष्टता के विरुद्ध हमें विशेष प्रकार के क़ानून ही चाहिए, चाहे वे असाधारण क़ानून ही क्यों न हों; और कांग्रेस ने जो क़दम उठाया उसने ऐसे नियमों तथा उपायों के लिए मज़बूत आधार तैयार करके राजनीतिक धारा को सही-सही अंकित कर दिया।"

कांग्रेस के अपने भाषण के इस सारांश में मैंने **उस वाक्यांश पर** ज़ोर दिया है **जिसे कामरेड मार्तोव ने अपनी पुस्तिका 'घेरे की स्थिति'** (पृष्ठ १६) **में छोड़ देना बेहतर समझा है।** कोई आश्चर्य नहीं यदि यह वाक्य उनको पसन्द नहीं आया और उन्होंने इसके स्पष्ट अर्थ को समझना नहीं चाहा।

"भयंकर शब्द" – इस प्रयोग का क्या अर्थ है, कामरेड मार्तोव?

उसका अर्थ है **ताना देना**, उन लोगों को ताना देना जो छोटी-छोटी चीज़ों

के लिए बड़े-बड़े नामों का प्रयोग करते हैं, जो एक साधारण से सवाल को शब्दाडम्बर द्वारा उलझा देते हैं।

वह छोटा-सा साधारण तथ्य था जिसने कामरेड मार्तोव में "स्नायविक उद्विग्नता" पैदा कर दी थी, और **जो एकमात्र** ऐसी "स्नायविक उद्विग्नता" पैदा कर सकता था, **केवल** यह था कि **केन्द्रीय समिति में कौन-कौन होंगे,** इस प्रश्न पर **कांग्रेस में मार्तोव की हार हो गयी थी**। इस साधारण-से तथ्य का राजनीतिक महत्व यह था कि पार्टी कांग्रेस के बहुमत ने विजय प्राप्त करने के बाद, पार्टी के प्रशासन में भी बहुमत प्राप्त करके जिस चीज़ को यह बहुमत ढुलमुलपन, अस्थिरता और अस्पष्टता* समझता था, उसके विरुद्ध संघर्ष करने के लिए नियमावली की सहायता से एक संगठनात्मक आधार तैयार करके अपने प्रभाव को सुदृढ़ बना लिया था। इस प्रसंग में "प्रभाव जमाने के संघर्ष" के बारे में फटी हुई आंखों से बात करना और "घेरे की स्थिति" का रोना रोना— यह **शब्दाडम्बर** और भयंकर शब्दों के सिवा और कुछ नहीं था।

कामरेड मार्तोव क्या इससे सहमत नहीं हैं? तो शायद वह किसी ऐसी पार्टी कांग्रेस की मिसाल देंगे जिसमें बहुमत ने (१) केन्द्रीय संस्थाओं में बहुमत प्राप्त करके, और (२) उसे ढुलमुलपन, अस्थिरता और अस्पष्टता से लड़ने के लिए आवश्यक अधिकारों से लैस करके, अपने प्राप्त किये हुए प्रभाव को सुदृढ़ बनाने की कोई कोशिश न की हो? या शायद वह हमें यह समझायेंगे कि इस चीज़ के बग़ैर भी आम तौर पर पार्टी कांग्रेस की कल्पना की जा सकती है?

चुनाव के पहले, हमारी कांग्रेस को यह तै करना था कि केन्द्रीय मुखपत्र

---

*कांग्रेस में 'ईस्क्रा' के अल्पमत का ढुलमुलपन, अस्थिरता और अस्पष्टता किस तरह व्यक्त हुई? एक तो, नियमावली की पहली धारा के बारे में अवसरवादी लफ़्फ़ाज़ी के रूप में; दूसरे, कामरेड अकीमोव और कामरेड लाइबर के साथ संयुक्त मोर्चा बनाकर, जो कि कांग्रेस के उत्तरार्ध में बड़ी तेज़ी से अधिकाधिक स्पष्ट होता गया; और तीसरे, केन्द्रीय मुखपत्र के अधिकारियों को चुनने के सवाल को सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकता, कोरी बकवास, और यहां तक कि दूसरों की अन्तरात्मा को कुरेदने के स्तर पर उतारने के लिए उसकी तत्परता के रूप में। कांग्रेस के बाद इन तमाम सद्‌गुणों की कलियों ने खिलकर फूलों और फलों का रूप धारण कर लिया।

के सम्पादक-मण्डल में तथा केन्द्रीय समिति में **एक-तिहाई** वोट पार्टी के बहुमत को दिये जायें, या पार्टी के अल्पमत को। छः सदस्यों का सम्पादक-मण्डल बनाने और कामरेड मार्तोव की सूची को मान लेने का अर्थ यह था कि एक-तिहाई वोट हमारे हों और दो-तिहाई कामरेड मार्तोव के अनुयायियों के। तीन सदस्यों का संपादक-मण्डल बनाने और हमारी सूची को मान लेने का अर्थ था दो-तिहाई वोट हमारे हों और एक-तिहाई कामरेड मार्तोव के अनुयायियों के। कामरेड मार्तोव ने हमसे समझौता करने या अपनी मांग छोड़ देने से इनकार किया और हमें कांग्रेस से पहले ज़ोर आज़माने की **लिखित** चुनौती दी। पर कांग्रेस में हार जाने के बाद उन्होंने रोना-पीटना और "घेरे की स्थिति" का दुखड़ा रोना शुरू कर दिया! अब, यह फ़िज़ूल की थुक्का-फ़ज़ीहत नहीं है तो और क्या है? बुद्धिजीवियों के ढीलेपन का क्या यह एक नया उदाहरण नहीं है?

इस सम्बंध में, हमें बरबस बुद्धिजीवियों के ढीलेपन की बढ़िया सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक परिभाषा की याद आ जाती है जो हाल में कार्ल काउत्स्की ने दी थी। आजकल हम अक्सर विभिन्न देशों की सामाजिक-जनवादी पार्टियों को भी इस बीमारी का शिकार पाते हैं, और अपने से अधिक अनुभवी साथियों से इस रोग का सही निदान और सही इलाज सीख लेना हमारे लिए बहुत ही लाभदायक होगा। इसलिए कुछ ख़ास तरह के बुद्धिजीवियों का कार्ल काउत्स्की ने जो चरित्रांकन दिया है, उसे यहां उद्धृत करना विषय से बहुत दूर जाना नहीं समझा जाना चाहिए।

> ..."आज फिर जिस समस्या में हमें इतनी ज़्यादा दिलचस्पी पैदा हो गयी है, **वह बुद्धिजीवी वर्ग* तथा सर्वहारा वर्ग के बीच पाये जानेवाले विरोध** की समस्या है। मेरे सहयोगियों को" (काउत्स्की ख़ुद एक बुद्धिजीवी, लेखक और सम्पादक हैं) "प्रायः इस बात पर क्रोध आयेगा

---

*मैंने "बुद्धिजीवी" और "बुद्धिजीवी वर्ग" शब्दों का प्रयोग जर्मन भाषा के Literat और Literatentum शब्दों के अनुवाद के रूप में किया है, जिनमें न केवल लेखक बल्कि सभी शिक्षित लोग और आम तौर पर आज़ाद पेशों के सदस्य या हाथ-पैर के बजाय दिमाग़ से काम करनेवाले लोग (जिन्हें अंग्रेज brain worker कहते हैं) भी आते हैं।

कि मैं इस विरोध को स्वीकार किये ले रहा हूं। मगर वह विरोध वास्तव में मौजूद है, और अन्य बातों की तरह यहां भी तथ्य के अस्तित्व से इनकार करके उसपर क़ाबू पाने की बात सोचना बहुत ही अनुपयोगी नीति होगी। यह विरोध सामाजिक होता है; वह व्यक्तियों में नहीं, वर्गों में प्रकट होता है। पूंजीवादी व्यक्तियों की भांति, बुद्धिजीवी व्यक्ति भी वर्ग-संघर्ष में सर्वहारा का साथ दे सकता है। जब वह यह करता है तो अपने चरित्र को भी बदल डालता है। हम आगे जो कुछ लिखनेवाले हैं, उसमें हम मुख्यतया **इस प्रकार के** बुद्धिजीवियों की चर्चा नहीं करेंगे; वे तो अभी तक अपने वर्ग में अपवाद के रूप में हैं। **मैं बुद्धिजीवी शब्द का प्रयोग केवल उस साधारण बुद्धिजीवी के लिए करूंगा जो पूंजीवादी समाज का रुख़ अपनाता है,** और जो एक साधारण प्रतिनिधि के रूप में उस बुद्धिजीवी **वर्ग** के गुणों को व्यक्त करता है; जहां भी इस शब्द का प्रयोग किसी दूसरे अर्थ में किया जायेगा वहां यह बात स्पष्ट कर दी जायेगी। इस **वर्ग** का सर्वहारा से कुछ **विरोध** रहता है।

"लेकिन यह विरोध श्रम तथा पूंजी के विरोध से भिन्न होता है। बुद्धिजीवी पूंजीवादी नहीं होता। यह सच है कि उसका जीवन-स्तर पूंजीवादी होता है, और यदि वह कंगाल नहीं बन जाना चाहता, तो उसे इस जीवन-स्तर को क़ायम रखना पड़ता है। मगर इसके साथ-साथ उसे अपने श्रम की पैदावार और अक्सर अपनी श्रम-शक्ति बेचना पड़ती है, और कभी-कभी तो पूंजीवादी ख़ुद उसको भी शोषण और सामाजिक अपमान का शिकार बनाता है। इसलिए मज़दूर वर्ग से बुद्धिजीवी का कोई आर्थिक विरोध नहीं होता। लेकिन जीवन में उसकी जो हैसियत होती है और उसे जिन परिस्थितियों में श्रम करना पड़ता है, वे मज़दूर की हैसियत और परिस्थितियों से भिन्न होती हैं, और इससे दोनों की भावनाओं तथा विचारों में थोड़ा विरोध पैदा हो जाता है।

"जब तक मज़दूर अन्य मज़दूरों से अलग-थलग एक व्यक्ति के रूप में रहता है, तब तक उसका अस्तित्व नहीं के बराबर होता है। उसकी शक्ति, उसकी प्रगति, उसकी आशाओं और आकांक्षाओं का एकमात्र स्रोत **संगठन** होता है और केवल अपने सहयोगी मज़दूरों के साथ मिलकर काम

करने से ही उसे ये सब चीज़ें मिलती हैं। जब वह एक बड़े और मज़बूत संगठन का भाग होता है तब वह ख़ुद भी अपने को बड़ा और मज़बूत महसूस करता है। संगठन ही उसके लिए मुख्य होता है: इसकी तुलना में व्यक्ति का महत्व बहुत कम होता है। एक गुमनाम समूह के भाग के रूप में मज़दूर हद से ज़्यादा लगन के साथ लड़ता है; उसे व्यक्तिगत लाभ या व्यक्तिगत ख्याति की कोई आशा नहीं होती; उसे जहां भी लगा दिया जाता है वह अपना कर्त्तव्य वहीं पर स्वैच्छिक अनुशासन के साथ पूरा करता है, जो उसकी समस्त भावनाओं और विचारों में कूट-कूटकर भरा होता है।

"बुद्धिजीवी की बात बिल्कुल दूसरी है। वह शक्ति के साधनों से नहीं, बल्कि तर्क और दलीलों से लड़ता है। उसका निजी ज्ञान, उसकी निजी योग्यता और उसके निजी विश्वास ही बुद्धिजीवी के अस्त्र होते हैं। वह किसी स्थान तक केवल अपने व्यक्तिगत गुणों के सहारे ही पहुंच सकता है। इसलिए उसे लगता है कि अपने कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए पहली शर्त उसके व्यक्तित्व की स्वतंत्रतम अभिव्यक्ति है। बहुत मुश्किल से ही वह एक सम्पूर्ण इकाई का भाग बनने के लिए तैयार होता है और वह भी आवश्यकता से विवश होकर, अपनी इच्छा से नहीं। वह केवल जन-समूह के लिए ही अनुशासन की आवश्यकता को स्वीकार करता है, चुनी हुई प्रतिभाओं के लिए नहीं। और ज़ाहिर है कि वह अपने को चुनी हुई प्रतिभाओं में गिनता है ...

... "बुद्धिजीवी का वास्तविक जीवन-दर्शन नीत्शे का दर्शन होता है, जो असाधारण शक्ति रखनेवाले मानव की पूजा करता है, जिसके लिए अपने व्यक्तित्व का स्वच्छंद विकास ही सब कुछ होता है और जो अपने व्यक्तित्व को एक महान सामाजिक उद्देश्य के अधीन बना देना भद्दी ही नहीं बल्कि उतनी ही घृणित बात भी समझता है। और यह जीवन-दर्शन बुद्धिजीवी को सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष में भाग लेने के सर्वथा अयोग्य बना देता है।

"नीत्शे के साथ-साथ, बुद्धिजीवियों के जीवन-दर्शन का, उनकी भावनाओं से मेल खानेवाले दर्शन का, सबसे प्रमुख प्रवक्ता इब्सेन है।

('जनता का शत्रु' नामक नाटक में) उसका डाक्टर स्टौकमैन नामक पात्र समाजवादी नहीं है, जैसा कि बहुत से लोग समझते आये हैं, बल्कि वह उस ढंग का बुद्धिजीवी है जिसका सर्वहारा के आन्दोलन से और आम तौर पर जनता के किसी भी आन्दोलन से, उसमें रहकर काम करने की कोशिश शुरू करते ही, टकराना लाज़िमी होता है, क्योंकि हर जनवादी* आन्दोलन की भांति ही सर्वहारा वर्ग के आन्दोलन का आधार भी अपने सहयोगियों के बहुमत का आदर करना होता है। मगर बुद्धिजीवी, स्टौकमैन की तरह, एक "गठे हुए बहुमत" को एक ऐसा दानव समझता है जिसे परास्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

... "एक ऐसे बुद्धिजीवी का आदर्श-उदाहरण लीब्कनेख़्त है जिसकी रग-रग में सर्वहारा की भावनाएं भर गयी थीं, जो एक प्रतिभाशाली लेखक होते हुए भी बुद्धिजीवियों की विशिष्ट मनोवृत्ति को त्याग चुका था, जो हंसी-ख़ुशी आम कार्यकर्ताओं के साथ कंधे से कंधा मिलाकर काम करता था, और जो भी काम दिया जाता था, उसे हमेशा पूरा करता था, जिसने पूरे हृदय से अपने व्यक्तित्व को हमारे महान ध्येय के अधीन कर दिया था और जिसे इस बात से सख़्त नफ़रत थी कि अगर कोई अपने आपको अल्पमत में पाकर बुढ़ियों की तरह अपने व्यक्तित्व के कुचले जाने का रोना रोये (weichliches Gewinsel), जो इब्सेन और नीत्शे की शिक्षाओं पर पले हुए बुद्धिजीवी की ख़ास आदत होती है। समाजवादी आन्दोलन को जैसे बुद्धिजीवी की आवश्यकता है, उसका आदर्श-उदाहरण लीब्कनेख़्त है। इस सम्बंध में हम मार्क्स का भी नाम ले सकते हैं, जिन्होंने कभी ज़बर्दस्ती सामने आने

---

*संगठन सम्बंधी सभी सवालों के बारे में हमारे मार्तोव-वादियों ने कैसा भ्रम फैला रखा है, इसकी एक बहुत ही लाक्षणिक मिसाल यह है कि हालांकि ये लोग अकीमोव तथा एक **अनावश्यक एवं अनुपयोगी** जनवाद की ओर मुड़ गये हैं, फिर भी उन्हें **इस बात पर बड़ा गुस्सा है कि सम्पादक-मण्डल का चुनाव जनवादी ढंग से हुआ,** उसका चुनाव **कांग्रेस** में हुआ, और उस ढंग से हुआ जिस ढंग से चुनाव करने की योजना पहले से हरेक ने बना रखी थी! शायद, सज्जनो, आप लोगों का यही **सिद्धान्त** है?

की कोशिश नहीं की, और इंटरनेशनल में, जहां वह अक्सर अपने को अल्पमत में पाते थे, उनका पार्टी-अनुशासन का पालन अनुकरणीय था।"*

जब मार्तोव और उनके सहयोगियों ने सिर्फ़ इसलिए ज़िम्मेदारियां लेने से इनकार कर दिया कि पुराने मण्डल को मान्यता नहीं दी गयी थी, तब वे, वास्तव में, अपने को अल्पमत में पाकर बुढ़ियों की तरह आंसू बहानेवाले बुद्धिजीवियों जैसा ही आचरण कर रहे थे, बस और कुछ नहीं; उनकी "घेरे की स्थिति" तथा "अलग-अलग दलों" के ख़िलाफ़ असाधारण नियमों के प्रयोग की शिकायतें भी इसी प्रकार के आचरण की द्योतक हैं, जो दल मार्तोव को उस समय प्यारे नहीं थे जब 'यूज्नी राबोची' तथा 'राबोचेये देलो' को भंग किया गया था, लेकिन जब **ख़ुद उनका** दल भंग किया गया तो ये दल ही उनके लिए सब कुछ हो गये।

और हमारी पार्टी कांग्रेस में (और उसके बाद और भी ज़ोरों से) मार्तोव की कृपा से शिकवों, शिकायतों, इशारों, तोहमतों, और मिथ्या आरोपों का जो अन्तहीन बवण्डर खड़ा हुआ था और जो बहुत बड़े पैमाने तक फैल गया था, वह भी अपने को अल्पमत में पाकर बुढ़ियों की तरह आंसू बहानेवाले बुद्धिजीवियों जैसा ही आचरण था।**

अल्पमत ने बहुत बिगड़कर शिकायत की कि गठा हुआ बहुमत अपनी निजी बैठकें करता है। बहरहाल, अल्पमत को इस अरुचिकर सत्य को छिपाने के लिए कुछ तो कहना ही था कि जिन प्रतिनिधियों को उसने अपनी निजी बैठकों में बुलाया था, उन्होंने आने से इनकार कर दिया था और जो लोग ख़ुशी से आने को तैयार हो जाते (येगोरोव, माख़ोव, और ब्रूकर जैसे लोग), उनको अल्पमत कांग्रेस में उनके साथ लड़ने के बाद बुला नहीं सकता था।

"अवसरवाद के झूठे आरोप" के बारे में भी बड़ी कटु शिकायतें हुईं। बहरहाल, अल्पमत को इस अरुचिकर सत्य को छिपाने के लिए तो कुछ करना ही था कि **अवसरवादी ही थे** – जो बहुधा 'ईस्क्रा'-विरोधियों के पीछे चलते थे – और कुछ हद तक ख़ुद 'ईस्क्रा'-विरोधी थे जिनको मिलाकर यह गठा हुआ अल्पमत

---

* Karl Kautsky: «*Franz Mehring*», «*Neue Zeit*» (कार्ल काउत्स्की: 'फ़्रांज़ मेहरिंग', 'नया ज़माना') खण्ड २२, १, पृष्ठ ९९-१०१, १९०३, अंक ४। – सं०

** देखिये कांग्रेस की कार्यवाही के पृष्ठ ३३७, ३३८, ३४०, ३५२, आदि।

तैयार हुआ था और जो पार्टी-संस्थाओं के मामलों में सदा मंडल-भावना के साथ, अपनी दलीलों में सदा अवसरवाद के साथ, पार्टी के मामलों में सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकता के साथ, और बुद्धिजीवियों के ढुलमुलपन और ढीलेपन के साथ जी-जान से चिपके रहते थे।

अगले अध्याय में हम बतायेंगे कि इस बहुत दिलचस्प **राजनीतिक तथ्य** का क्या कारण है कि कांग्रेस के अन्त में एक "गठा हुआ बहुमत" बन गया और बार-बार चुनौती देने पर भी अल्पमत सदा इतनी होशियारी के साथ इस बहुमत के बनने के **कारणों से** तथा उसके **इतिहास से** क्यों **कन्नी काट जाता** है। लेकिन पहले हम कांग्रेस में हुई बहसों का विश्लेषण समाप्त कर लें।

केन्द्रीय समिति के चुनाव के समय कामरेड मार्तोव ने एक बहुत मार्के का प्रस्ताव (पृष्ठ ३३६) पेश किया था जिसकी तीन मुख्य विशेषताओं को मैंने कभी-कभी "तीन चालों में मात" का नाम दिया है। वे तीन विशेषताएं ये थीं: (१) केन्द्रीय समिति के चुनाव में अलग-अलग उम्मीदवारों के लिए नहीं, बल्कि उम्मीदवारों की **सूचियों** के लिए वोट डाले जायें; (२) सूचियों का ऐलान हो जाने के बाद दो बैठकें गुज़र जाने दी जायें (जाहिर है बहस के लिए); (३) यदि पहली बार वोट लेने पर किसी सूची को पक्का बहुमत न मिले तो दूसरी बार का वोट अन्तिम समझा जाये। इस प्रस्ताव के रूप में बाज़ी जीतने के लिए बहुत ही सोच-समझकर नक़्शा तैयार किया गया था (अपने विरोधी को हमें इतना श्रेय तो देना ही चाहिए!)। कामरेड येगोरोव तो उससे सहमत नहीं थे, पर **यदि सात बुंद-वादी और 'राबोचेये देलो'-वादी कांग्रेस से उठकर न चले गये होते तो** इसकी मदद से मार्तोव की पूर्ण विजय निश्चित थी। इस तरह का नक़्शा बनाने की वजह यह थी कि बुंद तथा ब्रूकर की बात तो जाने दीजिये, **येगोरोव और माख़ोव जैसे लोगों के साथ भी** 'ईस्क्रा'-वादी अल्पमत का कोई "सीधा समझौता" (जैसा 'ईस्क्रा'-वादी बहुमत के प्रतिनिधियों में आपस में था) **न तो था और न हो सकता था।**

याद रखिये कि लीग की कांग्रेस में कामरेड मार्तोव ने यह रोना रोया था कि "अवसरवाद के झूठे आरोप" का मतलब यह था कि उनके और बुंद के बीच कोई सीधा समझौता हो गया है। मैं फिर कहता हूं कि कामरेड मार्तोव ने केवल भय में ऐसा समझा, और **सूचियों पर वोट लिये जाने के लिए राज़ी होने से कामरेड येगोरोव का यही इनकार** (उस समय तक कामरेड येगोरोव

"अपने सिद्धान्तों से नहीं हटे थे" – शायद उन्हीं सिद्धान्तों से, जिनके कारण उन्होंने जनवादी आश्वासनों के परम महत्व के मूल्यांकन के सिलसिले में गोल्डब्लाट के साथ गठबंधन किया था) इस अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य को **पूरी तरह** स्पष्ट कर देता है कि **येगोरोव तक के साथ भी "सीधा समझौता" होने का कोई सवाल नहीं उठ सकता था।** लेकिन येगोरोव और ब्रूकर दोनों ही के साथ **संयुक्त मोर्चा** हो सकता था, और था, संयुक्त मोर्चा इस अर्थ में कि मार्तोव-वादियों को इस बात का **यक़ीन था** कि जब कभी उनकी, मार्तोव-वादियों की, हमारे साथ कोई टक्कर होती थी और जो अकीमोव तथा उनके मित्रों को दो बुरों में से **एक कम बुरे को** चुनना पड़ता था तो मार्तोव-वादियों को उनके समर्थन का **यक़ीन रहता था।** इसमें ज़रा भी सन्देह न था और न है कि **कामरेड अकीमोव और कामरेड लाइबर केन्द्रीय मुखपत्र के लिए छः सदस्यों के सम्पादक-मण्डल और केन्द्रीय समिति के वास्ते मार्तोव की सूची के पक्ष में ही वोट देते, क्योंकि,** ये दोनों चीज़ें उनकी दृष्टि में **अपेक्षाकृत कम बुरी थीं और 'ईस्क्रा' के उद्देश्यों को प्राप्त करने का यह सबसे ख़राब तरीक़ा था** (देखिये पहली धारा पर अकीमोव का भाषण और वे "आशाएं" जो उन्होंने मार्तोव से लगा रखी थीं)। सूचियों पर वोट लेना, दो बैठकें गुज़र जाने देना, और दुबारा वोट लेना – इस पूरी व्यवस्था का उद्देश्य यही था कि कोई सीधा समझौता किये बिना इसी परिणाम को बिल्कुल सोलहों आने पक्का कर लिया जाये।

लेकिन हमारा गठा हुआ बहुमत चूंकि अब भी गठा हुआ बहुमत था, इसलिए कामरेड मार्तोव ने यह जो एक पहलू की तरफ़ से हमला किया था, उससे बस थोड़ा समय और नष्ट होता और यह लाज़िमी था कि हम उनके प्रस्ताव को ठुकरा देते। इस बात को लेकर अल्पमत ने एक लिखित बयान (पृष्ठ ३४१) में अपनी शिकायतें सुनायीं और **मार्तिनोव तथा अकीमोव का अनुकरण करते हुए, वोट देने से** और "जिन परिस्थितियों में केन्द्रीय समिति के चुनाव हुए थे उनको ध्यान में रखते हुए", उनमें भाग लेने से भी इनकार कर दिया। कांग्रेस के बाद से तो पार्टी के सैकड़ों गप्पियों के कानों में यह शिकायतें डाल दी गयी हैं कि चुनाव बहुत असाधारण परिस्थितियों में कराये गये थे (देखिये 'घेरे की स्थिति', पृष्ठ ३१)। लेकिन आख़िर यह **असाधारणता** किस बात में थी? गुप्त मतदान में

जिसका आयोजन तो कांग्रेस के स्थायी नियमों में पहले ही से रखा गया था (छठी धारा, कार्यवाही, पृष्ठ ११) और उसमें कोई "धूर्तता" या "अन्याय" ढूंढना बिल्कुल बेतुकी बात है? एक गठे हुए बहुमत के निर्माण में—जो ढीले-ढाले बुद्धिजीवियों को एक "दैत्य" के समान मालूम होता था? या इन सुयोग्य बुद्धिजीवियों की कांग्रेस में दिये गये अपने इस **वचन को भंग कर देने** की **असाधारण** इच्छा में कि वे उसके तमाम चुनावों को मानेंगे (पृष्ठ ३८०, कांग्रेस नियमावली की १८ वीं धारा)?

कामरेड पोपोव ने **बड़ी सफ़ाई से** इस इच्छा की ओर संकेत भी कर दिया था, जब उन्होंने चुनाव के दिन कांग्रेस में बोलते हुए साफ़-साफ़ यह पूछा था कि: "क्या ब्यूरो को इस बात का पक्का विश्वास है कि जब आधे प्रतिनिधियों ने वोट देने से इनकार कर दिया है, तब भी कांग्रेस का निर्णय सार्थक और वैध है?"* ब्यूरो ने, ज़ाहिर है, यह जवाब दिया कि हां, उसे पक्का विश्वास है और इस सिलसिले में उसने कामरेड अकीमोव तथा कामरेड मार्तिनोव वाली घटना की याद दिलायी। कामरेड मार्तोव ब्यूरो से सहमत थे और उन्होंने साफ़-साफ़ ऐलान किया कि कामरेड पोपोव ग़लती पर हैं और "**कांग्रेस के निर्णय वैध हैं**" (पृष्ठ ३४३)। **पूरी पार्टी के सामने** कामरेड मार्तोव की **इस घोषणा** और कांग्रेस के बाद के उनके आचरण तथा 'घेरे की स्थिति' नामक पुस्तिका में उनके इस वाक्य कि "**पार्टी के आधे भाग ने कांग्रेस में ही विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया था**" (पृष्ठ २०) की तुलना करने पर जिस राजनीतिक सिद्धांतपरायणता का पता चलता है—जो हमारे ख़्याल से बहुत ही स्वाभाविक ढंग की होगी—इसके बारे में पाठक स्वयं अपनी राय कायम करें। कामरेड मार्तोव से कामरेड अकीमोव ने जो आशाएं लगायी थीं, वे ख़ुद मार्तोव की क्षणभंगुर सदिच्छाओं से ज़्यादा वज़नदार साबित हुईं।

"**जीत आपकी हुई**", कामरेड अकीमोव!

* * *

---

*पृष्ठ ३४२। यह बात उन्होंने काउंसिल के पांचवें मेम्बर के चुनाव के सिलसिले में कही थी। उसमें (कुल ४४ वोटों में से) चौबीस बैलट पेपर पड़े थे, जिनमें से दो कोरे थे।

कांग्रेस की **समाप्ति** की, उस समाप्ति की जो चुनाव के **बाद** आयी, कुछ ऐसी विशेषताओं से, जो देखने में बहुत छोटी मालूम होती हैं, मगर जो वास्तव में बहुत महत्वपूर्ण थीं, यह पता लग सकता है कि "घेरे की स्थिति" वाले वे कुख्यात शब्द, जिन्होंने अब सदा के लिए एक दुखद प्रहसन का अर्थ प्राप्त कर लिया है, सचमुच कितने "भयंकर" थे। आजकल कामरेड मार्तोव इस दुःखद प्रहसन "घेरे की स्थिति" का बड़ा ढोल पीट रहे हैं और खुद अपने को तथा अपने पाठकों को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि उनके ईजाद किये हुए इस हौवे का मतलब यह है कि "बहुमत" "अल्पमत" पर कोई असाधारण ढंग का अत्याचार कर रहा है, "अल्पमत" के पीछे हाथ धोकर पड़ गया है, और उसे डरा-धमकाकर दबाना चाहता है। अभी कुछ देर बाद हम बतायेंगे कि कांग्रेस के **बाद** क्या हालत थी। मगर कांग्रेस की समाप्ति को ही लीजिये, आप देखेंगे कि **चुनाव के बाद**, दुखी मार्तोव-वादियों को, जिनके बारे में कहा जाता है कि उन्हें डराया-धमकाया गया, अपमानित किया गया, और उनको बलि चढ़ा दिया गया, "गठे हुए बहुमत" ने न सिर्फ़ पीछा नहीं किया बल्कि ख़ुद (ल्यादोव के ज़रिये) कार्यवाही आयोग में **तीन में से दो सीटें देने को कहा** (पृष्ठ ३५४)। कार्यनीति सम्बंधी तथा अन्य प्रश्नों से सम्बंधित अन्य प्रस्तावों को लीजिये (पृष्ठ ३५५ और उसके आगे के पृष्ठ)। आपको पता लगेगा कि इन सब प्रस्तावों पर बड़े कामकाजी ढंग से और केवल उनके गुणों-अवगुणों के आधार पर बहस की गयी, और विभिन्न प्रस्तावों पर हस्ताक्षर करनेवालों में उस दैत्य जैसे, गठे हुए "बहुमत" के प्रतिनिधियों के साथ-साथ अक्सर उस "अपमानित और अवमानित" "अल्पमत" के अनुयायी भी होते थे (देखिये कार्यवाही, पृष्ठ ३५५, ३५७, ३६३, ३६५, और ३६७)। इसी को तो "अल्पमत" के लोगों को "काम से हटाना" और तरह-तरह से "डरा-धमकाकर दबाना" कहते हैं, हैं न?

वह एकमात्र दिलचस्प, पर दुर्भाग्य से बहुत संक्षिप्त, बहस, जिसमें सवाल पर उसके गुणों-अवगुणों के आधार पर विचार किया गया, उदारपंथियों के सम्बंध में स्तारोवेर के प्रस्ताव के सिलसिले में हुई। जैसा कि इस प्रस्ताव पर हस्ताक्षर करनेवालों के नामों से पता चलता है (पृष्ठ ३५७ और ३५८), कांग्रेस ने यह प्रस्ताव इसलिए स्वीकार किया कि "बहुमत" के तीन समर्थकों ने (ब्रौन, ओर्लोव और ओसिपोव[190] ने) **इसके लिए** भी वोट किया और प्लेख़ानोव के प्रस्ताव के लिए भी,

ग्रौर उन्होंने इन दोनों प्रस्तावों में कोई ग्रमिट विरोध नहीं देखा। पहली नज़र में, उनमें सचमुच ऐसा विरोध नहीं दिखायी देता, क्योंकि प्लेखानोव के प्रस्ताव में एक साधारण सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है ग्रौर सिद्धान्त तथा कार्यनीति दोनों की दृष्टि से **रूस में पूंजीवादी उदारवाद** के प्रति एक निश्चित रुख़ निर्धारित किया गया है, जब कि स्तारोवेर के प्रस्ताव में उन **ठोस परिस्थितियों** को बताने की कोशिश की गयी है **जिनमें** "उदारवादी या उदार-जनवादी प्रवृत्तियों" के साथ **"ग्रस्थायी समझौता" करना उचित समझा जा सकता है**। दोनों प्रस्तावों के विषय ग्रलग-ग्रलग हैं। लेकिन स्तारोवेर के प्रस्ताव में **राजनीतिक ग्रस्पष्टता** का दोष है जिसके फलस्वरूप वह हल्का ग्रौर छिछला हो जाता है। उसमें **रूसी उदारवाद का वर्ग-सार नहीं बताया गया है**। उसमें यह नहीं बताया गया है कि रूसी उदारवाद किन **निश्चित** राजनीतिक प्रवृत्तियों के रूप में व्यक्त होता है, उससे उसका कोई पता नहीं चलता कि इन भिन्न प्रवृत्तियों के सम्बंध में प्रचार ग्रौर ग्रांदोलन के कौन-कौनसे **मुख्य** काम सर्वहारा को करने हैं; (ग्रपनी ग्रस्पष्टता के कारण) यह प्रस्ताव विद्यार्थी ग्रान्दोलन ग्रौर 'ग्रोस्वोबोज्देनिये'[191] जैसी दो इतनी भिन्न चीज़ों को एक में मिला देता है, वह बड़े हल्के ढंग से ग्रौर बाल की खाल निकालने के ग्रन्दाज़ से **तीन** ठोस शर्तें निर्धारित करता है जिनके पूरा होने पर "ग्रस्थायी समझौते" उचित समझे जा सकते हैं। जैसा कि ग्रक्सर देखने में ग्राता है, यहां पर राजनीतिक ग्रस्पष्टता के कारण बाल की खाल निकाली जाने लगती है। किसी ग्राम सिद्धान्त का न होना ग्रौर फिर ठोस "परिस्थितियां" गिनाने की कोशिश करना – इसका नतीजा यह होता है कि बहुत ही हल्के ग्रौर, सच पूछा जाये तो **ग़लत ढंग से** इन परिस्थितियों को निर्धारित किया गया है। ज़रा स्तारोवेर की इन तीन शर्तों पर थोड़ा ग़ौर कीजिये: (१) "उदारवादी ग्रथवा उदार-जनवादी प्रवृत्तियों को स्पष्ट ग्रौर ग्रसंदिग्ध रूप से यह घोषणा करना होगा कि निरंकुश सरकार के ख़िलाफ़ ग्रपने संघर्ष में वे दृढ़तापूर्वक रूसी सामाजिक-जनवादियों का साथ देंगी।" इन उदारवादी तथा उदार-जनवादी प्रवृत्तियों में क्या ग्रन्तर है? प्रस्ताव से ऐसी कोई सामग्री नहीं मिलती जिसके ग्राधार पर इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सके। क्या यह सच नहीं है कि उदारवादी प्रवृत्तियां पूंजीपति वर्ग के राजनीतिक दृष्टि से सबसे कम प्रगतिशील हिस्सों का प्रतिनिधित्व करती हैं ग्रौर उदार-जनवादी प्रवृत्तियां पूंजीपति

वर्ग तथा निम्न-पूंजीवादी वर्ग के अधिक प्रगतिशील हिस्सों का प्रतिनिधित्व करती हैं? और यदि यह बात सच है तो क्या कामरेड स्तारोवेर यह सोचते हैं कि पूंजीपति वर्ग के वे हिस्से जो सबसे कम प्रगतिशील हैं (मगर फिर भी वे प्रगतिशील अवश्य हैं, क्योंकि वरना तो उदारवाद की कोई बात न होती) "वे सामाजिक-जनवादियों का दृढ़तापूर्वक साथ दे सकते हैं"? यह बिल्कुल बेहूदा बात है और यदि ऐसी किसी प्रवृत्ति के प्रवक्ता **"स्पष्ट और असंदिग्ध रूप में यह घोषणा भी कर दें"** (जो कि सर्वथा असम्भव है) तो भी हमारा, सर्वहारा की पार्टी का, यह **कर्तव्य होगा** कि वह उनकी घोषणाओं पर **विश्वास न करे**। उदारपंथी होना और सामाजिक-जनवादियों का दृढ़तापूर्वक समर्थन करना—ये दोनों बातें कभी साथ नहीं हो सकतीं।

इसके अलावा, मान लीजिये कि कभी "उदारपंथी तथा उदार-जनवादी प्रवृत्तियां" स्पष्ट और असंदिग्ध रूप में यह घोषणा कर देती हैं कि वे एकतंत्र के विरुद्ध अपने संघर्ष में **समाजवादी-क्रान्तिकारियों** का दृढ़तापूर्वक साथ देंगी। कामरेड स्तारोवेर जो कुछ मानकर चले थे, उसकी तुलना में (समाजवादी-क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के पूंजीवादी-जनवादी स्वरूप के कारण) यह बात कहीं अधिक सम्भव है। कामरेड स्तारोवेर के प्रस्ताव की अस्पष्टता और बाल की खाल निकालने की प्रवृत्ति के कारण, उसके तात्पर्य से यह निष्कर्ष निकलता है कि **ऐसी सूरत** में इस प्रकार के उदारपंथियों के साथ **अस्थायी समझौता करना उचित नहीं समझा जा सकता**। परन्तु कामरेड स्तारोवेर के प्रस्ताव का यह लाजिमी निष्कर्ष हमें एक **सरासर ग़लत** नतीजे पर पहुंचा देता है। समाजवादी-क्रान्तिकारियों के साथ अस्थायी समझौते करना उचित है (देखिये समाजवादी-क्रान्तिकारियों के बारे में कांग्रेस का प्रस्ताव), और **इसलिए** समाजवादी-क्रान्तिकारियों का साथ देनेवाले उदारपंथियों के साथ भी अस्थायी समझौते करना सही है।

दूसरी शर्त: अगर ये प्रवृत्तियां "अपने कार्यक्रमों में ऐसी मांगें पेश न करें जो मज़दूर वर्ग के या आम तौर पर जनवाद के हितों के ख़िलाफ़ जाती हों, या ऐसी मांगें जिनसे मज़दूर वर्ग की चेतना धुंधली पड़ती हो"। यहां फिर उसी ग़लती से हमारा सामना हो रहा है। ऐसी कोई उदार-जनवादी प्रवृत्तियां न कभी हुई हैं और न हो सकती हैं जिन्होंने मज़दूर वर्ग के हितों के ख़िलाफ़ जानेवाली अथवा उसकी (सर्वहारा की) चेतना को धुंधला कर देनेवाली मांगों को अपने

कार्यक्रमों में न रखा हो। हमारी उदार-जनवादी प्रवृत्ति का एक सबसे अधिक जनवादी हिस्सा समाजवादी-क्रान्तिकारियों का है, उन्होंने भी अपने कार्यक्रम में – जो सभी उदारपंथी कार्यक्रमों की तरह एक उलझा हुआ कार्यक्रम है – ऐसी मांगें रखीं जो मज़दूर वर्ग के हितों के ख़िलाफ़ जाती हैं और उसकी चेतना को धुंधला करती हैं। इस तथ्य से जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है कि "पूंजीवादी स्वतंत्रता आन्दोलन की परिसीमाओं और उसकी अपर्याप्तता का भण्डाफोड़ करना" **नितान्त आवश्यक** है, मगर उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि इस आन्दोलन के साथ अस्थायी समझौते करना अनुचित है।

अन्त में कामरेड स्तारोवेर की तीसरी "शर्त" (कि उदार-जनवादियों को सार्विक, समान, गुप्त एवं प्रत्यक्ष मताधिकार को अपने संघर्ष का नारा बनाना चाहिए) जिस साधारण रूप में रखी गयी है, उस रूप में **ग़लत** है: ऐसी उदार-जनवादी प्रवृत्तियों के साथ, जो सीमित मताधिकार वाले विधान की मांग को, अथवा आम तौर पर एक "सीमित ढंग के" विधान की मांग को अपना नारा बनाती हैं – उनके साथ किसी भी हालत में अस्थायी तथा आंशिक समझौते करना अनुचित है, यह घोषित कर देना **कोई बुद्धिमानी की बात नहीं होगी**। सच तो यह है कि 'ओस्वोबोज्देनिये' "प्रवृत्ति" इसी श्रेणी में आती है; लेकिन सबसे ज़्यादा कायर उदारपंथियों के साथ भी अस्थायी समझौतों का निषेध करके पहले से अपने हाथ बांध लेना एक ऐसी राजनीतिक अदूरदर्शिता है जो मार्क्सवाद के सिद्धान्तों से क़तई मेल नहीं खाती।

सारांश यह कि कामरेड स्तारोवेर का प्रस्ताव, जिसपर कामरेड मार्तोव और कामरेड अक्सेलरोद ने भी हस्ताक्षर किये थे, एक **भूल** है और बुद्धिमत्ता इसी में है कि तीसरी पार्टी कांग्रेस उसको रद्द कर दे। उसमें यह अवगुण है कि सिद्धान्त और कार्यनीति की दृष्टि से उसकी स्थिति **राजनीतिक तौर पर स्पष्ट नहीं होती**। उसमें जो व्यावहारिक "शर्तें" निर्धारित की गयी हैं, उनमें बाल की खाल निकाली गयी है। उसमें **दो अलग-अलग सवालों को एक में उलझा दिया गया है**: (१) **सभी** उदारवादी-जनवादी प्रवृत्तियों की "क्रान्ति-विरोधी तथा सर्वहारा-विरोधी" विशेषताओं का भण्डाफोड़ करने और उनसे **लोहा लेने** की आवश्यकता का प्रश्न; और (२) इनमें से किसी भी प्रवृत्ति के साथ अस्थायी तथा आंशिक **समझौता** करने की **शर्तें**। इस प्रस्ताव में जो कुछ होना चाहिए था

(यानी, उदारवाद के वर्ग-सार का विश्लेषण) वह तो नहीं है, और जो नहीं होना चाहिए था (यानी, "शर्तों" की सूची) वह है। आम तौर पर यह बिल्कुल बेतुकी बात है कि एक पार्टी कांग्रेस में अस्थायी समझौतों के लिए "शर्तें" विस्तार से तैयार की जायें, जब कि उस वक़्त यह भी मालूम न हो कि प्रत्यक्ष साझेदार, इन सम्भव समझौतों में दूसरा पक्ष, कौन होगा; और अगर दूसरे पक्ष के बारे में मालूम भी हो तो अस्थायी समझौते के लिए "शर्तें" निर्धारित करने का काम पार्टी की केन्द्रीय संस्थाओं के हाथ में छोड़ देना इससे सौगुना अधिक विवेकपूर्ण बात होगी, जैसा कि समाजवादी-क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के सम्बंध में पार्टी कांग्रेस ने किया था (देखिये कामरेड अक्सेलरोद के प्रस्ताव के अन्तिम भाग के बारे में प्लेख़ानोव का संशोधन—कार्यवाही, पृष्ठ ३६२ और १५)।

जहां तक इस बात का सम्बंध है कि प्लेख़ानोव के प्रस्ताव पर "अल्पमत" को क्या आपत्तियां थीं, कामरेड मार्तोव का एकमात्र तर्क यह था कि प्लेख़ानोव का प्रस्ताव "इस टुच्चे नतीजे पर जाकर ख़तम हो जाता है कि अमुक लेखक की क़लई खोल दी जानी चाहिए। क्या यह मक्खी को मारने के लिए तोप चलाने के समान नहीं है?" (पृष्ठ ३५८) यह दलील, जिसका खोखलापन एक चुस्त फ़िकरे में—"टुच्चे नतीजे"—छिप जाता है, हमारे सामने भारी-भरकम लफ़्फ़ाज़ी का एक नया नमूना पेश कर देती है। एक तो प्लेख़ानोव के प्रस्ताव में "जहां कहीं भी पूंजीवादी स्वतंत्रता आन्दोलन की परिसीमाएं और उसकी अपर्याप्तता प्रकट होती हो, वहीं पर सर्वहारा की आंखों के सामने उन परिसीमाओं और उस अपर्याप्तता का भण्डाफोड़ करने" की बात कही गयी है। इसलिए कामरेड मार्तोव का यह कहना (लीग की कांग्रेस में; कार्यवाही, पृष्ठ ८८) कि "सारा ध्यान केवल स्त्रूवे पर, केवल एक उदारपंथी पर, केन्द्रित किया जायेगा," सरासर बकवास है। दूसरे, जब रूसी उदारपंथियों के साथ अस्थायी समझौतों की सम्भावना का प्रश्न हो, तब स्त्रूवे साहब की तुलना "मक्खी" से करना एक चुस्त फ़िकरा कहने की जल्दी में एक प्राथमिक राजनीतिक तथ्य का गला काट देना है। नहीं, स्त्रूवे साहब मक्खी नहीं हैं, वह एक राजनीतिक शक्ति हैं—इसलिए नहीं कि वह व्यक्तिगत रूप से कोई बहुत बड़े आदमी हैं, बल्कि इसलिए कि ग़ैरक़ानूनी दुनिया में वह रूसी उदारतावाद के—जहां तक कि वह थोड़ा भी प्रभावशाली और

संगठित है—एकमात्र प्रतिनिधि हैं। इसलिए, जो कोई रूसी उदारपंथियों की बात करता है और इस बात की चर्चा करता है कि उनकी तरफ़ हमारी पार्टी का क्या रुख़ होना चाहिए, और जो स्त्रूवे साहब तथा 'ओस्वोबोज्देनिये' को अनदेखा कर देता है, वह केवल कुछ कहने की ख़ातिर बोल रहा है। या शायद कामरेड मार्तोव हमें रूस की **किसी एक भी** ऐसी "उदारवादी अथवा उदार-जनवादी प्रवृत्ति" का नाम बताने का कष्ट करेंगे जिसका 'ओस्वोबोज्देनिये' प्रवृत्ति से कहीं दूर-दूर भी मुक़ाबला किया जा सकता है? ज़रा वह कोशिश करके देखें—बहुत मनोरंजक दृश्य होगा!*

कामरेड मार्तोव का समर्थन करते हुए कामरेड कोस्त्रोव ने कहा: "मज़दूरों के लिए स्त्रूवे का नाम कोई अर्थ नहीं रखता।" मैं आशा करता हूं, कामरेड

---

*लीग की कांग्रेस में कामरेड प्लेख़ानोव के प्रस्ताव के ख़िलाफ़ कामरेड मार्तोव ने यह दलील भी दी थी कि: "इस प्रस्ताव पर हमारी मुख्य आपत्ति और उसका मुख्य दोष यह है कि वह इस तथ्य को बिल्कुल भुला देता है कि एकतंत्र के विरुद्ध संघर्ष में हमारा कर्तव्य है कि हम उदार-जनवादी तत्वों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने से न कतरायें। कामरेड लेनिन ऐसी प्रवृत्ति को मार्तिनोव की प्रवृत्ति कहेंगे। नये 'ईस्क्रा' में यह प्रवृत्ति व्यक्त होने लगी है।" (पृष्ठ ८८)

इस उद्धरण में जितने "अनमोल रत्न" भरे पड़े हैं, उनको देखते हुए यह सचमुच एक दुर्लभ वस्तु है। (१) उदारपंथियों के साथ **संयुक्त मोर्चे** की बात एकदम गड़बड़घोटाला है। संयुक्त मोर्चे का कोई ज़िक्र नहीं था, कामरेड मार्तोव; केवल अस्थायी अथवा आंशिक समझौतों का ज़िक्र था। वह बिल्कुल दूसरी चीज़ है। (२) यदि प्लेख़ानोव का प्रस्ताव एक अविश्वसनीय "संयुक्त मोर्चे" को अनदेखा कर देता है और केवल आम तौर पर "समर्थन" करने की बात करता है तो यह उसका दोष नहीं, बल्कि गुण है। (३) शायद कामरेड मार्तोव हमें यह बताने का कष्ट करेंगे कि "मार्तिनोव की प्रवृत्तियों" की साधारणतया क्या लाक्षणिकताएं हैं? हमें क्या वह यह नहीं बतायेंगे कि इन प्रवृत्तियों का अवसरवाद से क्या सम्बंध है? क्या वह नियमावली की पहली धारा से इन प्रवृत्तियों का ताल्लुक़ पता लगाने की कोशिश नहीं करेंगे? (४) मैं कामरेड मार्तोव से यह जानने के लिए अधीर हो रहा हूं कि नये 'ईस्क्रा' की "मार्तिनोववादी प्रवृत्तियां" किस प्रकार व्यक्त हो रही हैं? ज़रा जल्दी कीजिये, कामरेड मार्तोव और मेरी व्यग्रता की यातना को दूर कीजिये!

कोस्त्रोव और कामरेड मार्तोव बुरा नहीं मानेंगे, यदि मैं उनसे कहूं कि यह तर्क पूर्णतया अकीमोव की शैली में है। यह उसी तरह का तर्क है जैसा तर्क सर्वहारा शब्द का प्रयोग संबंध कारक वाले रूप में करने के विरुद्ध दिया गया था[192]।

किन मज़दूरों के लिए "स्त्रूवे का नाम" ('ओस्वोबोज्देनिये' के नाम की तरह, जो कि कामरेड प्लेख़ानोव के प्रस्ताव में स्त्रूवे साहब के नाम के साथ-साथ इस्तेमाल होता है) "कोई अर्थ नहीं रखता"? उन मज़दूरों के लिए जो रूस की "उदारपंथी तथा उदार-जनवादी प्रवृत्तियों से बहुत कम परिचित हैं या बिल्कुल परिचित नहीं हैं। प्रश्न उठता है कि ऐसे मज़दूरों की ओर हमारी पार्टी कांग्रेस का क्या रुख़ होना चाहिए था: उसे क्या पार्टी के सदस्यों को यह हिदायत देनी चाहिए थी कि वे इन मज़दूरों को रूस की एकमात्र निश्चित उदारपंथी प्रवृत्ति से परिचित करायें; या उसे इस नाम का **ज़िक्र तक नहीं करना चाहिए था** जिससे मज़दूर इसलिए बहुत कम परिचित हैं कि वे राजनीति से ही बहुत कम परिचित हैं? यदि कामरेड कोस्त्रोव एक पग तक कामरेड अकीमोव के पीछे चलने के बाद दूसरा पग भी उसी दिशा में नहीं उठाना चाहते तो वह इस प्रश्न का उत्तर पहले वाले अर्थ के अनुसार देंगे। और पहले वाले अर्थ के अनुसार उत्तर देने के बाद वह यह भी समझ सकेंगे कि उनका तर्क कितना निराधार था। और **हर हालत में** यह बात तो पक्की है कि स्तारोवेर के प्रस्ताव में इस्तेमाल किये गये शब्दों–"उदारवादी तथा उदार-जनवादी प्रवृत्ति"–की अपेक्षा प्लेख़ानोव के प्रस्ताव के शब्द "स्त्रूवे" और 'ओस्वोबोज्देनिये' मज़दूरों की **समझ में कहीं ज्यादा** आयेंगे।

हमारे देश के उदारपंथी आन्दोलन में जो राजनीतिक प्रवृत्तियां थोड़ी भी स्पष्टवादिता से काम लेती हैं, रूसी मज़दूर उनका व्यावहारिक ज्ञान उस वक़्त केवल 'ओस्वोबोज्देनिये' के अलावा और किसी चीज़ के ज़रिये नहीं प्राप्त कर सकता है। क़ानूनी ढंग से प्रकाशित होनेवाला उदारपंथी साहित्य इस काम के लिए अनुपयुक्त है, क्योंकि वह बहुत ही धुंधला है। और हमें चाहिए कि अधिक से अधिक लगन के साथ (और मज़दूरों के अधिक से अधिक व्यापक हिस्सों के बीच) 'ओस्वोबोज्देनिये' के अनुयायियों के विरुद्ध आलोचना के अस्त्र का प्रयोग करें ताकि जब भावी क्रान्ति आरम्भ हो और 'ओस्वोबोज्देनिये' वाले महानुभाव क्रान्ति

के जनवादी स्वरूप को सीमित करने की अपनी अवश्यम्भावी कोशिशें शुरू करें, तब रूसी सर्वहारा शस्त्रों द्वारा आलोचना से उनकी कोशिशों को नाकाम कर दे।

विरोध-पक्ष के आन्दोलनों तथा क्रान्तिकारी आन्दोलनों का "समर्थन करने" की हमारी नीति से कामरेड येगोरोव को जो "हैरानी" हुई, जिसका कि हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं, उसके अलावा प्रस्तावों की बहस में कोई और दिलचस्प बात नहीं हुई। बल्कि कहना चाहिए कि बहस हुई ही नहीं।

अन्त में, अध्यक्ष ने संक्षेप में प्रतिनिधियों को याद दिलाया कि पार्टी कांग्रेस के फ़ैसले पार्टी के सब सदस्यों के लिए मान्य हैं, और फिर कांग्रेस ख़तम हो गयी।

थ) कांग्रेस में चलनेवाले संघर्ष का साधारण चित्र। पार्टी के क्रान्तिकारी तथा अवसरवादी पक्ष

कांग्रेस में जो बहसें हुईं और जिस तरह वोट डाले गये उनका विश्लेषण समाप्त कर लेने के बाद, अब हमको पूरी चीज़ का ख़ुलासा निकालना चाहिए ताकि कांग्रेस की **पूरी** सामग्री के आधार पर हम निम्नलिखित सवाल का जवाब दे सकें: चुनाव के समय हमें अन्तिम रूप से जो बहुमत तथा अल्पमत दिखायी दिये और जो कुछ समय के लिए हमारी पार्टी के दो मुख्य पक्ष बन जानेवाले थे, वे किन तत्वों, दलों और धाराओं से मिलकर बने थे? कांग्रेस की कार्यवाही में सिद्धान्त, विचारधारा और कार्यनीति के प्रश्नों पर विभिन्न मतों के सम्बंध में जो सामग्री इतनी बहुतायत से मिलती है, अब उस सबका निचोड़ निकालना आवश्यक है। यदि हम एक आम "सारांश" नहीं निकालते और पूरी की पूरी कांग्रेस का तथा वोट लिये जाने के समय सभी मुख्य दलबंदियों का एक साधारण चित्र नहीं पेश करते, तो यह सामग्री इतनी बिखरी हुई और इतनी असम्बद्ध है कि पहली दृष्टि में कुछ दल आकस्मिक प्रतीत होंगे, विशेष रूप से उन लोगों को जो कांग्रेस की कार्यवाही का स्वतंत्र और विस्तृत **अध्ययन** करने का कष्ट नहीं उठाते (और कितने पाठकों ने यह कष्ट उठाया है?)।

इंगलैंड की पार्लामेंट की रिपोर्टों में हमें अक्सर "विभाजन" शब्द पढ़ने को मिलता है। किसी सवाल पर वोट लिये जाते हैं तो कहा जाता है कि सदन अमुक बहुमत तथा अमुक अल्पमत में "विभाजित हो गया"। कांग्रेस में जिन विभिन्न सवालों पर बहस हुई, उनको लेकर हमारा सामाजिक-जनवादी सदन जिस प्रकार "विभाजित हुआ" उससे हमें पार्टी के अन्दर चलनेवाले संघर्ष का, अलग-अलग मतों और दलों का, जो चित्र मिलता है, वह **अपनी पूर्णता तथा सचाई के कारण एक बहुत ही अनोखा और बहुमूल्य चित्र** है। इस चित्र को सजीव बनाने के लिए, बहुत से बिखरे हुए, अलग-अलग तथ्यों और घटनाओं के ढेर के बजाय एक सच्चा **चित्र** उपस्थित करने के लिए, और अलग-अलग सवालों पर डाले गये वोटों के बारे में अन्तहीन तथा निरर्थक विवाद से बचने के लिए (कि किसने किसके लिये वोट दिया और किसने किसका समर्थन किया?), मैंने कांग्रेस में जितने भी **बुनियादी ढंग** के "विभाजन" हुए हैं, उनको एक **नक़्शे** के रूप में पेश करने का निश्चय किया है। बहुतों को शायद यह कुछ अजीब लगे, मगर कांग्रेस के नतीजों का यथासंभव अधिक से अधिक पूर्णता तथा सचाई के साथ सामान्यीकरण करने तथा उनका सारांश निकालने का कोई इससे बेहतर तरीक़ा हो सकता है, इसमें मुझे सन्देह है। किसी ख़ास प्रतिनिधि ने अमुक प्रस्ताव के पक्ष में वोट दिया या विपक्ष में, यह उस समय तो एकदम ठीक ठीक मालूम हो जाता है जब प्रतिनिधियों के नाम पुकार-पुकारकर वोट लिये जाते हैं। मगर जब नाम पुकारकर वोट नहीं भी लिये गये तब भी कुछ महत्वपूर्ण सवालों के बारे में कार्यवाही से काफ़ी सही हद तक यह पता लगाया जा सकता है कि किसने किधर वोट दिया होगा, जो सच्चाई के काफ़ी क़रीब होता है। यदि हम नाम पुकार-पुकारकर लिये गये **सभी** वोटों को लें और साथ ही ज़रा भी महत्व रखनेवाले प्रश्नों पर डाले गये अन्य सभी वोटों को भी ध्यान में रखें (प्रश्न कितना महत्वपूर्ण है यह, मिसाल के लिए, बहस की गर्मी और पूर्णता से मालूम हो सकता है), तो हमें पार्टी के अन्दरूनी संघर्ष का एक ऐसा चित्र मिल जायेगा जो उपलब्ध सामग्री को देखते हुए अधिक से अधिक यथार्थ होगा। ऐसा करने में, हम फ़ोटो तैयार करने के बजाय चित्र बनायेंगे; यानी, हर सवाल पर डाले गये वोटों को अलग-अलग अंकित करने के बजाय हम सभी मुख्य **प्रकार** के वोटों की तस्वीर पेश करने की कोशिश करेंगे और अपेक्षाकृत महत्वहीन अपवादों और रूपांतरों को,

जिनसे चित्र गड़बड़ा जाता है, छोड़ देंगे। हर हालत में, कोई भी आदमी कार्यवाही की सहायता से यह मालूम कर सकता है कि हमारे चित्र की एक-एक बात सही है या नहीं, अपनी इच्छानुसार किसी भी ख़ास सवाल पर डाले गये वोटों का कार्यवाही से पता लगाकर हमारे चित्र में थोड़ा और रंग भर सकता है, सारांश यह कि केवल दलीलों, सन्देहों तथा अलग-अलग प्रश्नों की चर्चा के द्वारा ही नहीं बल्कि उसी सामग्री के आधार पर **दूसरा चित्र खींचकर** उसकी आलोचना कर सकता है।

वोट में हिस्सा लेनेवाले प्रत्येक प्रतिनिधि को अपने नक़्शे में अंकित करते हुए, हम उन चार दलों को अलग-अलग तरह की रेखाओं से दिखायेंगे जिनको हमने कांग्रेस की सभी बहसों के सम्बंध में विस्तार से अंकित किया है, अर्थात् (१) बहुमत वाले 'ईस्क्रा'-वादी; (२) अल्पमत वाले 'ईस्क्रा'-वादी; (३) "मध्य पक्ष"; और (४) 'ईस्क्रा'-विरोधी। हम **अनेक बातों में** यह देख चुके हैं कि इन दलों के बीच कौनसे सैद्धान्तिक मतभेद थे; और अगर किसी को दलों के **नाम** पसन्द नहीं हैं, क्योंकि उनसे भूल-भुलैयों के प्रेमियों के दिल में 'ईस्क्रा'-संगठन और 'ईस्क्रा'-प्रवृत्ति की याद हर क़दम पर ताज़ा हो जाती है, तो हम कहेंगे कि नाम में क्या रखा है। चूंकि अब हम कांग्रेस की **सभी** बहसों में अलग-अलग धाराओं को अंकित कर चुके हैं, इसलिए अब पुराने, प्रचलित और परिचित पार्टी नामों की जगह (जो कुछ लोगों के कानों को बुरे लगते हैं) **अलग-अलग दलों के मतभेदों के सार-तत्व** की लाक्षणिकताएं बतायी जा सकती हैं। यदि यह तबदीली की जाये तो इन्हीं चार दलों के लिए ये नाम मिलते हैं: (१) सुसंगत क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी; (२) छोटे अवसरवादी; (३) मझोले अवसरवादी; और (४) बड़े अवसरवादी (हमारे रूस के पैमाने के हिसाब से बड़े)। जो लोग कुछ समय से अपने को तथा औरों को यह विश्वास दिला रहे हैं कि 'ईस्क्रा'-वादी एक ऐसा नाम है जो किसी **धारा** का नहीं, बल्कि एक "मण्डल" का सूचक है, उन लोगों को, हम आशा करते हैं, इन नामों से कम आघात पहुंचेगा।

अब हम विस्तार के साथ यह समझायेंगे कि इस नक़्शे में (देखिये नक़्शा: 'कांग्रेस में चलनेवाले संघर्ष का आम चित्र') किस प्रकार के वोटों का "फ़ोटो खींचा गया" है।

कांग्रेस में चलनेवाले संघर्ष का आम चित्र
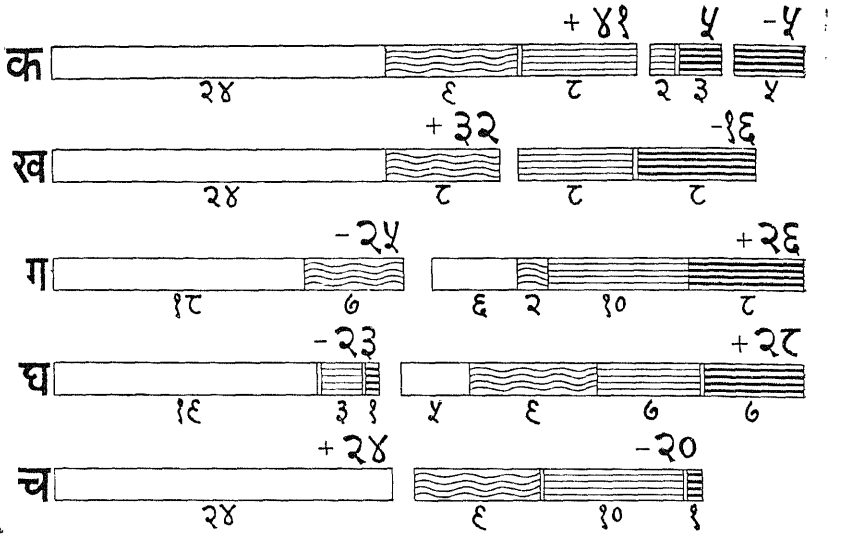
धन तथा ऋण के चिह्न यह इंगित करते हैं कि किसी ख़ास प्रश्न के **पक्ष में** और **ख़िलाफ़** कितने-कितने वोट पड़े। पट्टियों के नीचे की संख्याएं यह इंगित करती हैं कि चारों दलों में से किसने कितने वोट किधर डाले। 'क' से 'च' तक का वोटों का विभाजन मूल पाठ में समझाया गया।

पहले प्रकार के वोटों (क) में वे सब मौक़े शामिल हैं जब कि 'ईस्क्रा'-विरोधियों के ख़िलाफ़, या उनके एक हिस्से के ख़िलाफ़, "मध्य पक्ष" ने 'ईस्क्रा'-वादियों का साथ दिया था। पूरे कार्यक्रम पर लिये गये वोट (जब कि केवल कामरेड अकीमोव तटस्थ रहे थे और बाक़ी सबने पक्ष में वोट दिया था); सिद्धान्ततः संघवाद की निन्दा के प्रस्ताव पर लिये गये वोट (जब कि पांच बुंद-वादियों को छोड़कर बाक़ी सबने पक्ष में वोट दिया था); और बुंद की नियमावली की दूसरी धारा पर लिये गये वोट (जब कि पांच बुंद-वादियों ने हमारे ख़िलाफ़ वोट दिया

था; पांच, यानी मार्तिनोव, अकीमोव, ब्रूकर और माखोव – जिनके दो वोट थे – तटस्थ रह गये थे, और बाक़ी ने हमारा साथ दिया था) – ये तमाम वोट इसमें शामिल हैं; **चित्र (क) में इसी वोट का चित्रण किया गया है**। इसके अलावा, 'ईस्क्रा' को पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र के रूप में मान्यता देने के प्रस्ताव पर **तीन** बार लिये गये वोट भी इसी प्रकार के थे, जब कि सम्पादक-गण (पांच वोट) तटस्थ रह गये थे, और दो ने (अकीमोव और ब्रूकर ने) तीनों बार ख़िलाफ़ वोट दिया था, और इसके अलावा जब 'ईस्क्रा' को मान्यता देने के **कारणों** पर वोट लिये गये थे तो पांच बुंद-वादी और कामरेड मार्तिनोव तटस्थ रह गये थे*।

इस प्रकार के वोटों से इस बहुत दिलचस्प और महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर मिलता है कि कांग्रेस के "मध्य पक्ष" ने 'ईस्क्रा'-वादियों के साथ कब वोट किया था? या तो, कुछ थोड़े-से अपवादों के साथ उस वक़्त जब कि **'ईस्क्रा'-विरोधी भी हमारे साथ थे** (जैसे कार्यक्रम को स्वीकार करते समय, या बिना कारण बताये 'ईस्क्रा' को मान्यता देते समय), और या उस वक़्त जब कि कोई ऐसा **वक्तव्य** स्वीकार करना होता था जो स्वतः उन्हें किसी निश्चित राजनीतिक मत से प्रत्यक्ष रूप से नहीं बांधता था (जैसे 'ईस्क्रा' के संगठनात्मक कार्य को स्वीकार करने का मतलब यह नहीं होता था कि किन्हीं विशेष दलों के प्रति 'ईस्क्रा' की संगठनात्मक नीति अपनाने का फ़ैसला माना जा रहा है, या संघ के सिद्धान्त को अस्वीकार करने का यह अर्थ नहीं होता था कि संघ की किसी ख़ास योजना पर वोट लिये जाने के समय तटस्थ नहीं रहा जा सकता, जैसा कि हम कामरेड माखोव के उदाहरण में देख चुके हैं)। कांग्रेस में आम तौर पर दलबंदियों के महत्व की चर्चा करते हुए हम यह देख चुके हैं कि सरकारी 'ईस्क्रा' के सरकारी वृतान्त में इस बात को कितने ग़लत ढंग से रखा गया है, जो कि (कामरेड

---

* बुंद की नियमावली की दूसरी धारा पर लिये गये वोटों को नक़्शे में मिसाल की तरह क्यों इस्तेमाल किया गया है? इसलिए कि 'ईस्क्रा' को मान्यता देने के प्रश्न पर लिये गये वोट इतने पूर्ण नहीं थे, और कार्यक्रम पर तथा संघ के प्रश्न पर लिये गये वोट ऐसे राजनीतिक निर्णयों से सम्बंधित थे जिनका स्वरूप कम स्पष्ट रूप से निश्चित था। साधारणतया, **एक ही प्रकार** के कई बार डाले गये वोटों में से एक बार के वोटों को लेने से चित्र की मुख्य विशेषताओं में तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता। कोई भी बड़ी आसानी से आवश्यक परिवर्तन करके यह बात जांच सकता है।

मार्तोव की ज़बानी) ऐसे **उदाहरण देकर जब 'ईस्क्रा'-विरोधियों ने भी हमारा साथ दिया था,** 'ईस्क्रा'-वादियों और "मध्य पक्ष" के मतभेदों को, सुसंगत क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादियों और अवसरवादियों के मतभेदों को **अनदेखा कर देता है और उन्हें टाल जाता है!** जर्मन और फ़्रांसीसी सामाजिक-जनवादी पार्टियों में, सबसे अधिक "दक्षिण-पक्षी" अवसरवादी भी कभी ऐसी बातों के ख़िलाफ़ वोट नहीं देते, जैसे **पूरे कार्यक्रम को स्वीकृति देने का सवाल।**

दूसरे प्रकार के विभाजनों (ख) में वे सब मौक़े शामिल हैं जब कि पक्के और कच्चे दोनों तरह के 'ईस्क्रा'-वादियों ने साथ मिलकर सभी 'ईस्क्रा'-विरोधियों और पूरे "मध्य पक्ष" के ख़िलाफ़ वोट दिया था। ये अधिकतर ऐसे मौक़े थे जब कि 'ईस्क्रा' की निश्चित तथा विशिष्ट योजनाओं को कार्यान्वित करने और **केवल शब्दों में ही नहीं बल्कि व्यवहार में भी** 'ईस्क्रा' को मान्यता देने का प्रश्न होता था। **संगठन समिति वाली घटना** *, यह प्रश्न कि पार्टी में बुंद की स्थिति को कांग्रेस की कार्यसूची में पहला स्थान दिया जाये, 'यूज्नी राबोची' दल को भंग करने का प्रश्न, कृषि कार्यक्रम पर दो बार लिये गये वोट, और छठी तथा अन्तिम बात, विदेश स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ ('राबोचेये देलो') **के विरुद्ध** लिया गया वोट यानी लीग को विदेश में पार्टी

---

*चित्र (ख) में इसी मतदान को दिखाया गया है: 'ईस्क्रा'-वादियों को बत्तीस वोट मिले थे; और बुंद-वादियों के प्रस्ताव को सोलह। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकार का मतदान **एक बार भी नाम पुकार-पुकारकर** नहीं किया गया। इसलिए, अलग-अलग प्रतिनिधियों ने किस तरह वोट दिया यह केवल दो प्रकार के प्रमाणों से ही तै किया जा सकता है, हालांकि यह सच है कि इस प्रकार हम सत्य के बहुत नज़दीक पहुंच सकते हैं: (१) बहस में 'ईस्क्रा'-वादियों के दोनों दलों के वक्ता प्रस्तावों के पक्ष में बोले थे और 'ईस्क्रा'-विरोधियों तथा मध्य पक्ष के वक्ता उनके ख़िलाफ़ बोले थे; (२) प्रस्तावों के **पक्ष में** हर बार तैंतीस के बिल्कुल लगभग वोट पड़े थे। दूसरे, यह भी नहीं भूलना चाहिए कि वोटों के अलावा, हमने कांग्रेस की बहसों का विश्लेषण करते समय ही ऐसे **कई** मौक़े बताये थे जब कि "मध्य पक्ष" ने हमारे ख़िलाफ़ 'ईस्क्रा'-विरोधियों (अवसरवादियों) का साथ दिया था। इनमें से कुछ प्रश्न ये थे: जनवादी मांगों का परम महत्व; यह सवाल कि हम लोगों को विरोध-पक्ष के तत्वों का समर्थन करना चाहिए या नहीं; केन्द्रीयता पर प्रतिबंध; आदि।

का एकमात्र संगठन के रूप में मान्यता देने का प्रस्ताव – ये बातें इसी कोटि में शामिल हैं। इन मौक़ों पर, पुरानी, पार्टी बनने के पहले वाली मंडल-भावना और अवसरवादी संगठनों या दलों के स्वार्थ तथा मार्क्सवाद की संकुचित अवधारणा की टक्कर क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों की नीति के सर्वथा सुसंगत सिद्धान्तों से हुई थी ; कई बार, कई बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्नों पर (संगठन समिति, 'यूज्नी राबोची' तथा 'राबोचेये देलो' के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण प्रश्नों पर) अल्पमत के 'ईस्क्रा'-वादियों ने भी उस वक़्त तक हमारा साथ दिया था ... जब तक कि **उनकी अपनी** मंडल-भावना और उनकी अपनी असंगतियों पर विचार नहीं होने लगा। इस प्रकार के "विभाजनों" से यह बात आईने की तरह साफ़ हो जाती है कि कई ऐसे सवालों पर जिनका सम्बंध हमारे सिद्धान्तों को व्यवहार में कार्यान्वित करने से था, **मध्य पक्ष ने 'ईस्क्रा'-विरोधियों का साथ दिया,** हमारे मुक़ाबले में उनके साथ अधिक निकट संबंध की भावना का और **व्यवहार में** सामाजिक-जनवादी आंदोलन के **क्रान्तिकारी** पक्ष के मुक़ाबले में **अवसरवादी** पक्ष की ओर अधिक झुकाव का परिचय दिया। जो लोग केवल **नाम के** 'ईस्क्रा'-वादी थे और असल में 'ईस्क्रा'-वादी **होने में** शरमाते थे, उनकी असलियत खुल गयी ; और तब जो संघर्ष अनिवार्य रूप से आरम्भ हुआ उससे कुछ कम परेशानी नहीं हुई, जिसकी वजह से उन लोगों के लिए, जो सबसे कम विचारशील थे और जो सबसे ज़्यादा आसानी से दूसरों के असर में आ जाते थे, उन बारीक सैद्धान्तिक मतभेदों के महत्व पर पर्दा पड़ गया जो इस संघर्ष के दौरान में सामने आये थे। लेकिन अब चूंकि संघर्ष की गरमी कुछ कम हो गयी है और कई गरम लड़ाइयों के निष्पक्ष वर्णन के रूप में कांग्रेस की कार्यवाही हमारे सामने मौजूद है, इसलिए केवल वे ही लोग जो अपनी आंखें बन्द कर लेना पसंद करते हैं, इस बात को देखने में असफल रह सकते हैं कि माखोव और येगोरोव जैसे लोगों का अकीमोव और लाइबर जैसे लोगों के साथ संयुक्त मोर्चा कोई आकस्मिक बात न तो था और न हो सकता था। अब मार्तोव और अक्सेलरोद केवल यही कर सकते हैं कि या तो कार्यवाही का विस्तृत तथा सच्चा विश्लेषण करने से सदा कन्नी काटते रहें, और या कांग्रेस में उन्होंने जो कुछ किया था, उसे अब इतना समय बीत जाने के बाद तरह-तरह से **अफ़सोस** ज़ाहिर करके **सही करने** की कोशिश करें। जैसे कि अफ़सोस ज़ाहिर करने से मत और नीति के भेद सचमुच दूर किये

जा सकते हों! जैसे कि अकीमोव, ब्रूकर और मार्तिनोव के साथ मार्तोव और अक्सेलरोद के मौजूदा संयुक्त मोर्चे के कारण हमारी पार्टी, जो कि दूसरी कांग्रेस में फिर से स्थापित हो गयी है, यह भूल सकती हो कि कांग्रेस में लगभग शुरू से आख़िर तक 'ईस्क्रा'-वादियों ने 'ईस्क्रा'-विरोधियों के ख़िलाफ़ संघर्ष किया था!

कांग्रेस में जो तीसरे प्रकार के वोट पड़े और जो हमारे नक़्शे के बाक़ी हिस्सों में (ग, घ, और च में) दिखाये गये हैं, उनकी मुख्य विशेषता यह थी कि **'ईस्क्रा'-वादियों का एक छोटा-सा हिस्सा अलग हो गया और 'ईस्क्रा'-विरोधियों के साथ जाकर मिल गया,** जिसके परिणामस्वरूप (जब तक वे कांग्रेस में उपस्थित रहे) उनकी जीत हुई। इस उद्देश्य से कि 'ईस्क्रा'-विरोधियों के साथ 'ईस्क्रा'-वादी अल्पमत के उस **संयुक्त मोर्चे** का विकास-क्रम बिल्कुल सही-सही अंकित हो जाये, जिसका ज़िक्र होते ही मार्तोव बदहवास होकर पार्टी कांग्रेस से निवेदन करने लगे थे—हमने इस कोटि में आनेवाले **नाम पुकार-पुकारकर** लिये गये तीनों मुख्य प्रकार के वोट नक़्शे में दिखाये हैं। चित्र (ग) में भाषाओं की समानता के सवाल पर लिया गया वोट है (इस सवाल पर नाम पुकार-पुकारकर जो तीन बार वोट लिये गये थे उसमें से हमने आख़िरी बार के वोट नक़्शे में दिखाये हैं क्योंकि वे सबसे पूर्ण थे)। इस सवाल पर सभी 'ईस्क्रा'-विरोधियों और पूरे मध्य पक्ष ने जमकर हमारा विरोध किया था और कुछ बहुमत के और कुछ अल्पमत के लोग 'ईस्क्रा'-वादियों से अलग हो गये थे। **उस वक़्त तक यह बात साफ़ नहीं हुई थी कि 'ईस्क्रा'-वादियों में से किन लोगों में कांग्रेस के "दक्षिण पक्ष" के साथ निश्चित तथा स्थायी संयुक्त मोर्चा बना लेने की क्षमता है।** इसके बाद (घ) कोटि आती है जिसमें नियमावली की पहली धारा पर लिये गये वोट दिखाये गये हैं (इस धारा पर जो दो बार वोट लिये गये थे उसमें से हमने उस बार के वोट लिये हैं जब कि परिस्थिति अधिक स्पष्ट थी; अर्थात् जब कोई तटस्थ नहीं रहा था)। **अब संयुक्त मोर्चा ज्यादा उभरा हुआ और ज्यादा ठोस शक्ल में नजर आने लगता है***: अब अल्पमत के **सारे** 'ईस्क्रा'-वादी अकीमोव

***सभी बातें** इसी ओर संकेत करती हैं कि **नियमावली पर चार बार** और ठीक इसी तरह के **वोट** पड़े थे: पृष्ठ २७८—२७ वोट फ़ोमिन के पक्ष में, २१ वोट हमारे पक्ष में; पृष्ठ २७९—२६ वोट मार्तोव के पक्ष में, २४ वोट हमारे

और लाइबर के साथ हैं, मगर बहुमत के बहुत कम 'ईस्क्रा'-वादी इस पक्ष में हैं, और उनका वज़न बराबर करने के लिए तीन "मध्य पक्ष" के और एक 'ईस्क्रा'-विरोधी हमारे साथ आ गये हैं। नक़्शे पर एक नज़र डालने से ही साफ़ हो जायेगा कि कौनसे तत्व आकस्मिक ढंग से एक पक्ष से दूसरे पक्ष की ओर लुढ़कते थे और कौन ऐसे तत्व थे जो एक **अदम्य शक्ति के द्वारा अकीमोव जैसे लोगों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने की ओर खिंचे चले आ रहे थे।** अन्तिम मतदान (च — केन्द्रीय मुखपत्र, केन्द्रीय समिति तथा पार्टी काउंसिल के चुनाव) **जो वास्तव में अन्तिम रूप से बहुमत और अल्पमत** में विभाजन का सूचक है, यह स्पष्ट कर देता है कि 'ईस्क्रा'-वादी अल्पमत **पूरे** "मध्य पक्ष" तथा 'ईस्क्रा'-विरोधियों के **अवशेषों** के साथ एकदम मिल गया है। इस समय तक आठ 'ईस्क्रा'-विरोधियों में से **अकेले** कामरेड ब्रूकर ही कांग्रेस में बचे थे (कामरेड अकीमोव उनकी ग़लती उनको बता चुके थे और वह **मार्तोव-वादियों** की पांतों में अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण कर चुके थे)। **अवसरवादियों** में से सात **सबसे अधिक "दक्षिण पक्षी"** लोग क्योंकि कांग्रेस से उठकर चले गये थे, इसलिए चुनाव में मार्तोव की हार हो गयी*।

और अब, **हर प्रकार** के वोटों के वस्तुगत प्रमाणों के आधार पर, हम कांग्रेस के परिणामों का सारांश निकाल सकते हैं।

पक्ष में; पृष्ठ २८० — मेरे विपक्ष में २७ वोट और पक्ष में २२; और इसी पृष्ठ पर, मार्तोव के पक्ष में २४ वोट और हमारे पक्ष में २३। ये तमाम वोट केन्द्रीय संस्थाओं में नये नाम जोड़ने के सवाल पर पड़े थे जिसपर मैं पहले ही विचार कर चुका हूं। नाम पुकार-पुकारकर वोट नहीं लिये गये थे (एक बार इस तरह वोट लिया गया था पर उसका रिकार्ड खो गया है)। मार्तोव को, ज़ाहिर है, बुंद-वादियों ने (सभी ने या कुछ ने) **बचा लिया**। इन वोटों के बारे में मार्तोव ने (लीग में) जो ग़लत बयान दिया था उसका खण्डन हम ऊपर कर चुके हैं।

*दूसरी कांग्रेस से उठकर चले जानेवाले सात अवसरवादियों में पांच बुंद-वादी थे (कांग्रेस के संघ का सिद्धान्त अस्वीकार कर देने के बाद बुंद पार्टी से अलग हो गया था) और दो 'राबोचेये देलो' के प्रतिनिधि, कामरेड मार्तिनोव और कामरेड अकीमोव थे। ये दोनों उस समय कांग्रेस छोड़कर चले गये जब 'ईस्क्रा'-वादी लीग को विदेश में **एकमात्र** पार्टी संगठन के रूप में मान्यता दी गयी, यानी जब विदेश स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों का 'राबोचेये देलो'-वादी संघ भंग कर दिया गया। (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी। — सं०)

अक्सर कहा जाता है कि कांग्रेस में "**आकस्मिक**" हमारा बहुमत हो गया था। 'फिर अल्पमत में' शीर्षक लेख में कामरेड मार्तोव ने असल में अपने-आप को इसी विचार से सांत्वना दी थी। नक़्शे से यह बात साफ़ हो जाती है कि हमारे बहुमत को **एक अर्थ में**, मगर केवल उसी एक अर्थ में, आकस्मिक कहा जा सकता है, यानी इस अर्थ में कि "**दक्षिण पक्ष**" के सात सबसे अधिक अवसरवादी प्रतिनिधियों का कांग्रेस से उठकर चला जाना **आकस्मिक** था। जिस हद तक उनका चला जाना आकस्मिक था, **केवल** उसी हद तक (उससे ज़्यादा नहीं) हमारा बहुमत भी आकस्मिक था। किसी लम्बी-चौड़ी दलील के मुक़ाबले में, नक़्शे पर एक नज़र डालने से ही यह बात ज़्यादा साफ़ हो जायेगी कि ये सात किसका साथ देते, इन सात का किस पक्ष का साथ देना **लाज़िमी था**।* लेकिन सवाल उठता है कि क्या इन सात प्रतिनिधियों का कांग्रेस से उठकर चला जाना सचमुच आकस्मिक था? जो लोग बड़े मनचाहे ढंग से बहुमत के "आकस्मिक" स्वरूप की चर्चा किया करते हैं, वे अपने आप से यह सवाल करना पसन्द नहीं करते। उन्हें यह सवाल बुरा लगता है। क्या यह कोई आकस्मिक बात है कि पार्टी से उठकर चले जानेवाले लोग **दक्षिण** पक्ष के — **वाम** पक्ष के नहीं — सबसे कट्टर प्रतिनिधि थे? क्या यह आकस्मिक बात है कि जो लोग उठकर चले गये वे **अवसरवादी** थे, पक्के **क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादी** नहीं? क्या उनके इस आकस्मिक ढंग से चले जाने का उस संघर्ष से कोई सम्बंध नहीं है जो कि कांग्रेस में शुरू से आख़िर तक चलाया गया था और जो हमारे नक़्शे में इतना उभरकर सामने आता है?

ये सवाल अल्पमत को बहुत बुरे लगते हैं, पर इन सवालों को करते ही बात समझ में आ जाती है कि बहुमत के आकस्मिक स्वरूप की यह सारी चर्चा किस चीज़ को **छिपाने** के लिए की जाती है। यह एक निर्विवाद और अकाट्य सत्य है कि **अल्पमत में हमारी पार्टी के वे सदस्य शामिल थे जिनमें अवसरवाद की ओर खिंचने की प्रवृत्ति सबसे ज़्यादा थी।** अल्पमत हमारी पार्टी के ऐसे तत्वों

---

* बाद को हम देखेंगे कि कांग्रेस के **बाद** कामरेड अकीमोव और वोरोनेज समिति, जिसका कि कामरेड अकीमोव से सबसे घनिष्ठ **सम्बंध** है, दोनों ने ही स्पष्ट शब्दों में "**अल्पमत**" के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट की थी।

से मिलकर बना था **जो** विचारधारा के मामले में **सबसे कम पक्के** और **सैद्धान्तिक मामलों में सबसे कम दृढ़ रहनेवाले** तत्व **थे**। अल्पमत पार्टी के **दक्षिण पक्ष** में से बना था। बहुमत और अल्पमत में बंट जाना सामाजिक-जनवादियों के क्रान्तिकारी पक्ष और अवसरवादी पक्ष में, पर्वत-दल और जिरौंद-दल में, बंट जाने के क्रम की एक प्रत्यक्ष तथा अनिवार्य कड़ी है; ऐसा नहीं है कि यह विभाजन कोई कल ही पैदा हुआ हो, और न वह अकेले रूसी मज़दूरों की पार्टी में पैदा हुआ है, और यह विभाजन निस्सन्देह ऐसा नहीं है जो कल मिट जायेगा।

हमारे मतभेदों के कारणों तथा अलग-अलग मंजिलों को अच्छी तरह समझने के लिए इस तथ्य का बहुत बुनियादी महत्व है। जो कोई भी कांग्रेस में चलाये गये संघर्ष और उस संघर्ष में सामने आनेवाले सैद्धान्तिक मतभेदों से इनकार करके या उनकी उपेक्षा करके इस तथ्य से **कतराने** की कोशिश करता है, वह महज़ अपने बौद्धिक तथा राजनीतिक दिवालियेपन का सबूत देता है। किन्तु इस तथ्य का **खण्डन करने** के लिए **पहले तो** यह साबित करना होगा कि हमारी पार्टी कांग्रेस **में** विभिन्न प्रश्नों पर डाले गये वोटों और "विभाजनों" का साधारण चित्र उस चित्र से भिन्न है जो मैंने खींचा है; और **दूसरे** यह साबित करना होगा कि कांग्रेस में जितने भी प्रश्नों पर "विभाजन" हुआ, उन सब पर **सारतः उन लोगों का दृष्टिकोण ग़लत था** जो सबसे अधिक सुसंगत क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी हैं और जिन्होंने रूस में अपना नाम 'ईस्क्रा'-वादी* रख छोड़ा है। ज़रा यह साबित करने की कोशिश तो कीजिये, महानुभावो!

---

*यह नोट कामरेड मार्तोव के लिए लिखा जा रहा है। यदि कामरेड मार्तोव अब यह भूल गये हैं कि **'ईस्क्रा'-वादी** नाम का मतलब **एक मण्डल का सदस्य** नहीं, बल्कि **एक ख़ास प्रवृत्ति का अनुयायी** है, तो हम उनको परामर्श देंगे कि कामरेड त्रोत्स्की ने कामरेड अकीमोव को इस मसले पर जो कुछ समझाया था, वह उसको कार्यवाही में पढ़ें। कांग्रेस में (पार्टी के सम्बंध में) तीन 'ईस्क्रा'-वादी **मण्डल** थे: 'श्रम मुक्ति' दल, 'ईस्क्रा' का सम्पादक-मंडल, और 'ईस्क्रा' संगठन। इन तीन मण्डलों में से दो ने यह बुद्धिमानी दिखलायी कि ख़ुद ही अपने को भंग कर दिया। तीसरे ने इतनी पार्टी भावना का परिचय नहीं दिया और उसे कांग्रेस ने भंग कर दिया। 'ईस्क्रा'-वादी मण्डलों में सबसे व्यापक 'ईस्क्रा' संगठन था (जिसमें सम्पादक-मंडल और 'श्रम मुक्ति' दल भी शामिल थे);

इस बात से कि अल्पमत में पार्टी के सबसे अधिक अवसरवादी, सबसे ज़्यादा अस्थायी, और सबसे कम दृढ़ता रखनेवाले तत्व शामिल थे – इस बात से ऐसे लोगों की, जो मामले की पूरी जानकारी नहीं रखते या जिन्होंने उसकी ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है, उन बेशुमार परेशानियों और आपत्तियों का भी जवाब मिल जाता है जो वे बहुमत को सुनाया करते हैं। हमसे कहा जाता है कि क्या **मतभेद** का कारण बस यह बताना कि कामरेड मार्तोव और कामरेड अक्सेलरोद से एक छोटी-सी ग़लती हो गयी थी, ओछापन नहीं है? हां, महानुभावो, कामरेड मार्तोव की ग़लती छोटी थी (और संघर्ष की गरमी में मैंने कांग्रेस में भी यह कह दिया था); मगर यह छोटी सी ग़लती इस वजह से बड़ा नुक़सान पहुंचा **सकती थी (और उसने पहुंचाया भी)** कि कामरेड मार्तोव उन प्रतिनिधियों की तरफ़ खिंच गये जिन्होंने **लगातार कई ग़लतियां** की थीं और अनेक सवालों पर अवसरवाद तथा सिद्धान्त के कच्चेपन की ओर झुकाव का परिचय दिया था। कामरेड मार्तोव और कामरेड अक्सेलरोद ने ढुलमुलपन दिखाया, यह एक व्यक्तिगत बात थी जिसका बहुत महत्व नहीं है। लेकिन यह बात व्यक्तिगत नहीं है, बल्कि **पार्टी** की बात है, और यह **क़तई महत्वहीन बात नहीं है** कि ऐसे **सभी** लोगों का एक काफ़ी बड़ा अल्पमत बन गया है, जो सबसे कम दृढ़ता रखते हैं, **ऐसे सभी लोगों का जिन्होंने** 'ईस्क्रा' की धारा को या तो बिल्कुल ठुकरा दिया था और उसका खुल्लमखुल्ला विरोध किया था, और या ज़बानी ढंग से उसका समर्थन करते हुए वास्तव में बार-बार 'ईस्क्रा'-विरोधियों का साथ दिया था।

क्या यह बिल्कुल बेहूदा बात नहीं है कि हमारे मतभेदों का **कारण यह समझा जाये** कि पुराने 'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल के छोटे-से मण्डल में एक कट्टर मण्डल-भावना और क्रान्तिकारी कूपमण्डूकता भरी हुई थी? नहीं, यह बेहूदा बात नहीं है, क्योंकि **हमारी पार्टी के वे तमाम लोग, जिन्होंने** कांग्रेस में शुरू

उसके कांग्रेस में कुल सोलह प्रतिनिधि थे, जिनमें से **केवल ग्यारह** को वोट देने का अधिकार था। लेकिन यदि **प्रवृत्ति की दृष्टि से** देखा जाये तो मेरे हिसाब से 'ईस्क्रा'-वादी प्रतिनिधियों की संख्या **सत्ताईस थी जिनके तैंतीस वोट थे;** हालांकि ये प्रतिनिधि किसी 'ईस्क्रा'-वादी मण्डल से सम्बंधित नहीं थे। इस प्रकार, 'ईस्क्रा'-वादियों में से **आधे से भी कम लोग** 'ईस्क्रा'-वादी **मण्डलों** से सम्बंधित थे।

से आख़िर तक **हर तरह के मण्डलों के लिए** संघर्ष किया था, वे तमाम लोग **जो आम तौर पर** क्रान्तिकारी कूपमण्डूकता से **ऊपर उठने की क्षमता ही नहीं रखते**, और वे तमाम लोग जो कूपमण्डूकता तथा मण्डल-भावना के दुर्गुणों को सुरक्षित रखने के लिए उनके "ऐतिहासिक" स्वरूप की दुहाई दिया करते थे, **इस ख़ास** मण्डल की हिमायत में उठ खड़े हुए थे। यह बात शायद आकस्मिक समझी जा सकती है कि 'ईस्क्रा' सम्पादक-मण्डल के एक छोटे-से मण्डल में पार्टी भावना के मुक़ाबले में संकुचित मण्डल-स्वार्थों का पलड़ा भारी रहता था; लेकिन यह बात आकस्मिक नहीं थी कि इस मण्डल का दृढ़ समर्थन करने के लिए अकीमोव और ब्रूकर जैसे लोग, जो प्रसिद्ध वोरोनेज समिति और कुख्यात पीटर्सबर्ग 'मज़दूर संगठन'[193] की "ऐतिहासिक परम्परा" को क़ायम रखने को (इससे ज़्यादा नहीं तो) इससे कम महत्व नहीं देते थे, येगोरोव जैसे लोग, जिन्होंने 'राबोचेये देलो' की "हत्या" पर (यदि ज़्यादा नहीं तो) उतना ही शोक मनाया था जितना पुराने सम्पादक-मण्डल की "हत्या" पर, और माख़ोव जैसे लोग उठ खड़े हुए थे; इत्यादि, इत्यादि। कहावत है कि आदमी संगत से पहचाना जाता है। और आदमी का **राजनीतिक रूप** उसके राजनीतिक सहयोगियों से पहचाना जाता है, उन लोगों से पहचाना जाता है जो उसके पक्ष में वोट देते हैं।

कामरेड मार्तोव और कामरेड अक्सेलरोद ने जो ग़लती की थी, वह ग़लती छोटी थी और शायद **छोटी** ही रहती यदि उसको प्रारम्भिक बिन्दु बनाकर इन लोगों के और हमारी पार्टी के पूरे अवसरवादी पक्ष के बीच एक **टिकाऊ संयुक्त मोर्चा** न बन जाता, और यदि इस संयुक्त मोर्चे के फलस्वरूप अवसरवाद **फिर से न फूट पड़ता**, और यदि उसके फलस्वरूप वे तमाम लोग बदले न निकालने लगते जिनसे 'ईस्क्रा' ने संघर्ष किया था और जो अब क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद के दृढ़ अनुयायियों पर **अपना ग़ुस्सा उतारने** का मौक़ा पाकर ख़ुशी से फूले नहीं समा रहे थे। और सच तो यह है कि कांग्रेस के बाद घटनाओं के फलस्वरूप अब हम नये 'ईस्क्रा' में अवसरवाद को फिर से फूटते हुए देख रहे हैं; अकीमोव और ब्रूकर जैसे लोग अब बदले निकाल रहे हैं (देखिये वोरोनेज समिति द्वारा प्रकाशित परचा*) और मार्तिनोव जैसे लोग ख़ुशी से पागल हो रहे हैं कि आख़िर

---

*इस खंड के पृष्ठ ६४८-६५० देखिये। — सं०

(आख़िर!) उन्हें घृणित 'ईस्क्रा' में प्रवेश करने और पुरानी एक-एक शिकायत के लिए घृणित "शत्रु" को एक लात लगाने का मौक़ा मिल ही गया! इससे यह बात ख़ास तौर पर साफ़ हो जाती है कि 'ईस्क्रा' की "परम्परा" को सुरक्षित रखने के लिए "'ईस्क्रा' के पुराने सम्पादक-मण्डल को पुनःस्थापित करने" (ये शब्द हमने ३ नवम्बर, १९०३ की कामरेड स्तारोवेर की चुनौती से उद्धृत किये हैं) का कितना अधिक महत्व था ...

कांग्रेस (और पार्टी) एक वाम पक्ष और एक दक्षिण पक्ष में, एक क्रान्तिकारी पक्ष और एक अवसरवादी पक्ष में विभाजित हो गयी थी – यह स्वतः कोई ख़ास भयानक, आलोचनात्मक, या असाधारण बात नहीं है। इसके विपरीत, रूसी (और केवल रूसी ही क्यों?) सामाजिक-जनवादी आन्दोलन का पिछले दस वर्ष का इतिहास हमें अवश्यम्भावी रूप से और निर्मम गति से इसी ओर ले जा रहा था। यह बात कि विभाजन दक्षिण पक्ष की कुछ बहुत **छोटी** ग़लतियों, और (अपेक्षाकृत) बहुत महत्वहीन मतभेदों के कारण हुआ – यह बात **पूरी पार्टी के लिए प्रगति के एक बड़े क़दम** की सूचक थी (हालांकि सतही चीज़ों को देखनेवालों और कूपमण्डूक दिमाग़ वालों को इस बात से बड़ा धक्का लगता है)। पहले हम लोगों के बीच बड़े-बड़े सवालों को लेकर मतभेद हुआ करते थे, जिनके कारण यदि कभी पार्टी में फूट भी हो जाती तो उचित ही समझी जाती; अब हम तमाम बड़े और महत्वपूर्ण सवालों पर एकमत हो गये हैं, और हम लोगों में विभाजन केवल **बारीक मतभेदों** को लेकर है, जिनके बारे में हम बहस कर सकते हैं और हमें बहस करना **चाहिये**, लेकिन जिनको लेकर आपस में झगड़ पड़ना और अलग-अलग हो जाना बेतुकी और बचपने की बात है (जैसा कि अपने दिलचस्प लेख 'क्या नहीं करना चाहिए?' में कामरेड प्लेख़ानोव ने कहा है और ठीक ही कहा है – हम इस लेख की आगे चर्चा करेंगे); **अब** चूंकि **कांग्रेस के बाद** अल्पमत के **अराजकतावादी व्यवहार** ने पार्टी को फूट के द्वार तक पहुंचा दिया है, तब कुछ महाज्ञानी लोग यह कहते हुए सुने जा सकते हैं कि: "क्या कांग्रेस में ऐसी छोटी-छोटी बातों पर लड़ना उचित था, जैसे संगठन समिति वाली घटना, 'यूज़्नी राबोची' या 'राबोचेये देलो' दलों को भंग करने का सवाल, पहली धारा का प्रश्न, या पुराने सम्पादक-मण्डल को भंग करने की समस्या, इत्यादि?" जो लोग इस तरह तर्क करते

हैं*, वे वास्तव में, पार्टी के मामलों में मण्डल-दृष्टिकोण घुसेड़ रहे हैं: जब तक पार्टी के अन्दर चलनेवाला संघर्ष अराजकता और फूट नहीं पैदा करता, जब तक वह सभी साथियों और पार्टी के सदस्यों द्वारा सर्वसम्मति से निश्चित की गयी **सीमाओं के भीतर** रहता है, तब तक वह एक **अवश्यम्भावी और नितान्त आवश्यक** चीज़ होता है। और **कांग्रेस** में पार्टी के दक्षिण पक्ष के खिलाफ़, अकीमोव और अक्सेल्रोद, मार्तिनोव और मार्तोव के खिलाफ़, **हमने जो संघर्ष चलाया था** वह **किसी भी तरह इन सीमाओं के बाहर नहीं गया था।** हम यहां केवल दो ही बातों की याद दिलायेंगे जो इस कथन की सच्चाई को निर्विवाद रूप से प्रमाणित कर देती हैं: (१) जब कामरेड मार्तिनोव और अकीमोव कांग्रेस से उठकर चले जानेवाले थे तो इस ख़याल को दूर करने के लिए कि उनका किसी तरह "अपमान" किया गया था, हम **सभी** सब कुछ करने को **तैयार थे ; हम सबने** (बत्तीस वोटों से) कामरेड त्रोत्स्की का वह प्रस्ताव **स्वीकार किया** जिसमें इन साथियों से अनुरोध किया गया था कि जो सफ़ाई दी गयी है, वे उसे संतोषजनक समझें और अपने वक्तव्य को वापिस ले लें; (२) जब केन्द्रीय संस्थाओं के चुनाव का सवाल आया तो हम कांग्रेस के अल्पमत का (यानी, अवसरवादी पक्ष का) **दोनों केन्द्रीय संस्थाओं में**

---

*इस सम्बंध में मुझे "मध्य पक्ष" के एक प्रतिनिधि के साथ अपने एक वार्तालाप की बरबस याद आ जाती है। कांग्रेस के दौरान में उसने मुझसे शिकायत की: "हमारी कांग्रेस में कैसा दम घोटनेवाला वातावरण है! इतनी कटु लड़ाइयां, एक-दूसरे के खिलाफ़ आन्दोलन, इस तरह बहस करना जैसे काटने को दौड़ रहे हों, ऐसा व्यवहार जो साथियों के बीच कदापि उचित नहीं समझा जा सकता!.." मैंने जवाब दिया: "कितनी शानदार है हमारी कांग्रेस! स्वतंत्र और खुला संघर्ष हो रहा है। अपना-अपना मत लोग बताते हैं। बारीक से बारीक मतभेद सामने आ जाते हैं। दल बन जाते हैं। हाथ उठते हैं। फ़ैसला हो जाता है। एक मंज़िल पार हो जाती है। अब आगे बढ़ो! मुझे तो यही पसन्द है! यही ज़िन्दगी है! यह बुद्धिजीवियों की अन्तहीन, नीरस शब्दों की कतर-ब्योंत नहीं है जो समाप्त होती है तो इसलिए नहीं कि सवाल तै हो गया है, बल्कि इसलिए कि वे लोग थक जाते हैं और उनमें और बात करने की ताक़त नहीं रहती..."

"मध्य पक्ष" के उस साथी ने परेशान होकर मेरी ओर देखा और अपने कंधे बिचकाये। हम लोग दो अलग-अलग भाषाओं में बात कर रहे थे।

अल्पमत रखने को तैयार थे ; यानी, सम्पादक-मण्डल में मार्तोव को और केन्द्रीय समिति में पोपोव को। पार्टी के दृष्टिकोण से हम और कुछ **नहीं** कर **सकते थे**, क्योंकि हमने तो कांग्रेस के पहले ही से दो त्रिगुट चुनने का फ़ैसला कर रखा था। **यदि कांग्रेस में विभिन्न धाराओं का कोई बड़ा अन्तर सामने नहीं आया था,** तो हमने भी इन धाराओं में होनेवाले संघर्ष से जो **व्यावहारिक** नतीजा निकाला था वह भी कोई **बहुत बड़ा नहीं** था: हमारे निष्कर्ष का निचोड़ **सिर्फ़** यह था कि तीन-तीन सदस्यों की दोनों समितियों में **दो-तिहाई** सीटें पार्टी कांग्रेस के **बहुमत** को दी जानी चाहिए।

लेकिन पार्टी कांग्रेस के अल्पमत द्वारा **केन्द्रीय संस्थाओं में अल्पमत** के रूप में रहने से **इनकार करने** का ही यह नतीजा था कि पहले हारे हुए बुद्धिजीवियों ने "मन्द-मन्द रोना" शुरू किया और फिर **अराजकतावादी बातें** और अराजकतावादी काम होने लगे।

अन्त में, हम केन्द्रीय संस्थाओं की रचना के दृष्टिकोण से नक़्शे पर एक नज़र और डाल लें। स्वाभाविक बात है कि चुनाव के समय प्रतिनिधियों के सामने धाराओं के सवाल के **अलावा** यह भी सवाल था कि कौनसा **व्यक्ति** किसी पद के लिए कितना **उपयुक्त** है, कितना कार्यकुशल है, इत्यादि। आजकल अल्पमत में अक्सर इन दो सवालों को एक में उलझा देने की प्रवृत्ति पायी जाती है। फिर भी यह बात स्वतः स्पष्ट है कि ये दोनों बिल्कुल अलग-अलग सवाल हैं, और मिसाल के लिए, यह इस साधारण सी बात से साबित हो जाता है कि केन्द्रीय मुखपत्र के लिए **प्रारम्भिक** त्रिगुट को चुनने की योजना **कांग्रेस के भी पहले** बना ली गयी थी, जब कि कोई यह नहीं सोच सकता कि मार्तोव और अक्सेलरोद का मार्तिनोव और अकीमोव के साथ संयुक्त मोर्चा बन जायेगा। अलग-अलग सवालों का जवाब अलग-अलग ढंग से देना पड़ता है। धाराओं या प्रवृत्तियों के सवाल का जवाब **कांग्रेस की कार्यवाही** में, **खुली** बहसों में, और हर सवाल पर डाले गये वोटों में ढूंढ़ना चाहिए। जहां तक इस सवाल का ताल्लुक़ है कि किसी पद के लिए **कौनसा व्यक्ति** उपयुक्त है, कांग्रेस में हर आदमी का यह फ़ैसला था कि यह सवाल **गुप्त मतदान से** तै किया जाना चाहिए। **पूरी कांग्रेस ने एक राय से** यह फ़ैसला क्यों किया था? यह इतनी साधारण-सी बात है कि उसकी चर्चा करना भी अजीब मालूम होगा। मगर (चुनाव में हार जाने के बाद से) अल्पमत छोटी-छोटी,

प्राथमिक बातों को भी भूलने लगा है। पुराने सम्पादक-मण्डल की हिमायत में तो जोशीले, आवेशपूर्ण भाषणों का पूरा सिलसिला हम सुन चुके हैं, जिनमें ऐसी गरमी पैदा हुई कि ग़ैर-ज़िम्मेदारी की हद तक पहुंच गयी, लेकिन सम्पादक-मण्डल छ: सदस्यों का हो या तीन का—इस प्रश्न के साथ **कांग्रेस में** विभिन्न धाराएं जुड़ी हुई थीं उनके बारे में हमने **एक शब्द भी** नहीं सुना। केन्द्रीय समिति में चुने गये व्यक्तियों की अयोग्यता, अनुपयुक्ता, और उनके बुरे इरादों, आदि, के बारे में तो हर तरफ़ चर्चा और गप्पें सुनायी देती हैं; मगर केन्द्रीय समिति पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए **कांग्रेस में** जिन प्रवृत्तियों के बीच संघर्ष हुआ था, उनके बारे में **एक शब्द भी नहीं** सुनायी देता। मुझे यह बात बहुत ही भद्दी और अशोभनीय मालूम होती है कि व्यक्तियों के गुणों-अवगुणों और कामों के बारे में **कांग्रेस के बाहर** चर्चा करते और गप्प हांकते हुए घूमा जाये (क्योंकि सौ में से निनानवे सूरतों में ये काम संगठन के भेद होते हैं जो पार्टी की केवल सर्वोच्च संस्था के सामने ही खोले जा सकते हैं)। **कांग्रेस के बाहर इस तरह की गप्पों** के ज़रिये संघर्ष चलाना मेरी राय में, **लोगों को झूठमूठ बदनाम करना है**। और इस तमाम चर्चा का सार्वजनिक रूप से मैं एकमात्र उत्तर यही दे सकता हूं कि कांग्रेस में जो संघर्ष चला था उसकी ओर संकेत कर दूं। आप कहते हैं कि केन्द्रीय समिति बहुत थोड़े बहुमत से चुनी गयी थी। यह सही है। लेकिन इस थोड़े बहुमत में वे तमाम लोग शामिल थे जिन्होंने न केवल शब्दों में, बल्कि वास्तव में, 'ईस्क्रा' की योजनाओं को कार्यान्वित कराने के लिए सबसे अधिक सुसंगत ढंग से संघर्ष किया था। अतएव, इस बहुमत की **नैतिक** प्रतिष्ठा उसकी **औपचारिक** प्रतिष्ठा से कहीं अधिक ऊंची होनी चाहिए—उन तमाम लोगों की आंखों में जो किसी भी 'ईस्क्रा'-वादी **मण्डल** की परम्परा की अपेक्षा 'ईस्क्रा'-वादी **प्रवृत्ति** की परम्परा को ज़्यादा महत्व देते हैं। 'ईस्क्रा' की नीति को कार्यान्वित करने की किस व्यक्ति में कितनी योग्यता है, इसका **निर्णय करने की सबसे अधिक क्षमता** किस में थी? क्या इसकी क्षमता उन लोगों में थी जिन्होंने कांग्रेस में इस नीति के लिए संघर्ष किया था, या उनमें थी जिन्होंने अनेक मामलों में उस नीति के विरुद्ध संघर्ष किया था और हर प्रतिक्रियावादी चीज़ की, हर तरह की गन्दगी की, और हर प्रकार की मण्डल-भावना की हिमायत की थी?

द) कांग्रेस के बाद। संघर्ष के दो तरीक़े

कांग्रेस की बहसों और अलग-अलग सवालों पर डाले गये वोटों के विश्लेषण से, जो हमने अब पूरा कर दिया है, मानो बीज-रूप में **कांग्रेस के बाद जो कुछ हुआ है** वह समझ में आ जाता है, और अब हम पार्टी के संकट की बाद की मंज़िलों की रूपरेखा संक्षेप में पेश कर सकते हैं।

मार्तोव और पोपोव के चुनाव में खड़े होने से इंकार करते ही पार्टी की विभिन्न धाराओं के बीच जो पार्टी संघर्ष चल रहा था उसमें **थुक्का-फ़ज़ीहत** का वातावरण पैदा हो गया। इस बात को अविश्वसनीय समझकर कि जो सम्पादक नहीं चुने गये हैं, वे सचमुच अकीमोव तथा मार्तिनोव की ओर **झुक जाने** का प्रयत्न कर सकते हैं और यह मानकर कि ये सारी बातें झुंझलाहट के कारण हो गयी हैं, कामरेड ग्लेबोव ने कांग्रेस समाप्त होने के दूसरे ही दिन मुझसे और प्लेख़ानोव से कहा कि मामले को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझा देना चाहिए और चारों को सम्पादक-मण्डल में इस शर्त पर "जोड़ लेना" चाहिए कि काउंसिल में सम्पादक-मण्डल के प्रतिनिधित्व की गारंटी हो (यानी, दो प्रतिनिधियों में से एक आवश्यक रूप से **पार्टी** के बहुमत का प्रतिनिधि हो)। प्लेख़ानोव को और मुझे यह शर्त काफ़ी तर्कसंगत मालूम हुई, क्योंकि उसे स्वीकार करने का मतलब यह होता कि **कांग्रेस में जो ग़लती हो गयी थी अब उसको लोग एक तरह से तस्लीम करते** हैं, युद्ध के बजाय शान्ति की इच्छा प्रकट करते हैं, और अकीमोव तथा मार्तिनोव या येगोरोव तथा माख़ोव की अपेक्षा प्लेख़ानोव के और मेरे ज़्यादा नज़दीक आना चाहते हैं। इस प्रकार, जहां तक "नये नाम जोड़ने" के सम्बंध में रिआयत करने के सवाल ने एक **व्यक्तिगत** रूप धारण कर लिया था, और तमाम ग़ुस्से को दूर करने तथा फिर से शान्ति स्थापित करने के लिए यदि थोड़ी व्यक्तिगत रिआयत करना ज़रूरी हो, तो उससे इनकार करना उचित नहीं था। इसलिए प्लेख़ानोव और मैं राज़ी हो गये। लेकिन सम्पादक-मण्डल के बहुमत ने यह शर्त नामंज़ूर कर दी। **ग्लेबोव चले गये।** हम इन्तज़ार करने लगे कि देखें, अब क्या होता है: मार्तोव (मध्य पक्ष के प्रतिनिधि, कामरेड पोपोव के **ख़िलाफ़**) वफ़ादारी के उस रुख़ पर क़ायम रहेंगे जो उन्होंने कांग्रेस में अपनाया था, या उन ढुलमुल

तत्वों का पलड़ा भारी हो जायेगा जिनका झुकाव फूट की तरफ़ था और जिनका मार्तोव ने अनुकरण किया था?

हम लोग एक दुविधा में पड़ गये थे। हमारे सामने यह सवाल था कि कांग्रेस में मार्तोव ने जो "संयुक्त मोर्चा" बनाया था, उसे वह अपने ढंग की एक अकेली राजनीतिक घटना समझना पसंद करेंगे (जैसे कि, यदि छोटी चीजों की बड़ी चीज़ों से तुलना की जा सके तो १८९५ में फ़ोलमार के साथ बेबेल का संयुक्त मोर्चा अपने ढंग की एक अकेली घटना थी), या वह इस संयुक्त मोर्चे को **मज़बूत करना** चाहेंगे, यह साबित करने की हर कोशिश करेंगे कि कांग्रेस में ग़लती **प्लेख़ानोव** और **मैंने** की थी, और हमारी पार्टी के अवसरवादी पक्ष के पूरे नेता बन जायेंगे? इस दुविधा को इस तरह भी पेश किया जा सकता है कि: थुक्का-फ़ज़ीहत या राजनीतिक पार्टी संघर्ष। कांग्रेस के अगले रोज़ केन्द्रीय संस्थाओं के केवल हम तीन ही सदस्य मौजूद थे, उन तीनों में से ग्लेबोव का झुकाव सबसे ज़्यादा इस तरफ़ था कि प्रश्न का पहला जवाब सही है और उन्होंने ही आपस में झगड़े हुए बच्चों में मेल कराने की सबसे ज़्यादा कोशिश की। कामरेड प्लेख़ानोव का, जो कि कहना चाहिए कि बहुत सख़्त हो गये थे, झुकाव सबसे ज़्यादा दूसरे जवाब की ओर था। इस बार "मध्य पक्ष" अथवा "दलदल" का काम मैंने किया और समझाने-बुझाने का सहारा लेने की कोशिश की। अब इस वक़्त यह याद करना तो बहुत पेचीदा और नामुमकिन बात है कि ज़बानी समझाने-बुझाने की मैंने क्या-क्या कोशिशें की थीं, और मैं कामरेड मार्तोव और कामरेड प्लेख़ानोव के बुरे उदाहरण का अनुकरण करना नहीं चाहता। लेकिन समझाने की एक लिखित कोशिश के कुछ अंशों को यहां उद्धृत कर देना मैं आवश्यक समझता हूं। मैंने यह पत्र 'ईस्क्रा'-वादी "अल्पमत" के एक सदस्य को लिखा था:

..."मार्तोव का सम्पादक-मण्डल में शामिल होने से इनकार कर देना, उनका और अन्य पार्टी-लेखकों का सहयोग करने से इनकार कर देना, कई-एक व्यक्तियों का केन्द्रीय समिति में काम करने से इनकार कर देना, और बहिष्कार अथवा निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रचार—ये ऐसी बातें हैं जिनका लाजिमी नतीजा यह होगा कि, मार्तोव और उनके मित्र चाहें या न चाहें, पार्टी में फूट पड़ जायेगी। यदि मार्तोव वफ़ादारी का रुख भी लें (जैसा कि उन्होंने एक समय कांग्रेस में

दृढ़ता के साथ लिया था), पर दूसरे लोग यह रुख़ नहीं लेंगे और नतीजा लाज़िमी तौर पर वही होगा जो मैंने ऊपर बताया है...

"और इसलिए मैं अपने से पूछता हूं कि सचमुच हम किस चीज के कारण एक-दूसरे से अलग होनेवाले हैं? .. मैं कांग्रेस की तमाम घटनाओं और स्मृतियों को फिर से याद करता हूं। मैं मानता हूं कि कांग्रेस में मैंने अक्सर बहुत झुंझलाहट की हालत में, "बदहवासी" की हालत में कई हरकतें की थीं। जो चीज़ कांग्रेस के वातावरण की, प्रतिक्रियाओं की, बीच-बीच में सुनायी पड़नेवाले फ़िकरों की, संघर्ष की, तथा ऐसी ही अन्य चीज़ों की स्वाभाविक उपज थी, उसे यदि अपराध कहा जाये, तो अपने इस अपराध को मैं किसी के भी सामने स्वीकार करने को तैयार हूं। लेकिन अब, बदहवासी से एकदम निकलकर, जब मैं कांग्रेस के उन नतीजों पर और इस गुस्से से भरे हुए संघर्ष के परिणामों पर विचार करता हूं तो मुझे ऐसी कोई चीज़ नज़र नहीं आती, कोई भी नहीं, जो पार्टी के लिए हानिकारक और अल्पमत के लिए आपत्तिजनक या अपमानजनक हो।

"ज़ाहिर है, महज़ अपने को अल्पमत में पाना ही दिल को काफ़ी परेशान करनेवाली चीज़ है, लेकिन इस विचार का मैं सख़्त प्रतिवाद करता हूं कि हमने किसी पर 'मिथ्या आरोप' लगाये या यह कि हम किसी को शर्मिंदा या अपमानित करना **चाहते थे**। ऐसी कोई बात नहीं है। और राजनीतिक मतभेदों के कारण हमें घटनाओं की ऐसी व्याख्या न करने लगना चाहिए जिनका आधार दूसरे पक्ष पर बेईमानी के, तिकड़मबाज़ी के, साज़िश करने के और अन्य ऐसे ही सुन्दर-सुन्दर आरोप लगाने पर हो, जो निकट भविष्य में होनेवाली फूट के इस वातावरण में आजकल अधिकाधिक सुनाई पड़ रहे हैं। यह हरगिज़ नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि यदि बहुत कम करके कहा जाये तो भी यह विवेकहीनता की पराकाष्ठा हो जायेगी।

"मार्तोव के और मेरे बीच एक राजनीतिक (और संगठनात्मक) मतभेद पैदा हुआ है, जैसा कि इसके पहले भी दर्जनों बार पैदा हो चुका है। नियमावली की पहली धारा के सिलसिले में हार जाने के बाद, मेरे लिए यह लाज़िमी था कि जो कुछ मेरे लिए (और कांग्रेस के लिए) बचा था, उसमें पूरी ताक़त लगाकर सारी कसर निकालने की कोशिश करूं। मेरे लिए यह क़तई ज़रूरी था कि मैं

एक तरफ़ तो एक विशुद्ध 'ईस्क्रा'-वादी केन्द्रीय समिति चुनवाने की कोशिश करूं और दूसरी तरफ़, सम्पादक-मण्डल के लिए एक त्रिगुट चुनवाने का प्रयत्न करूं ... मैं इस त्रिगुट को ही **एकमात्र** ऐसी संस्था समझता हूं जिसका आधार एक-दूसरे को खुश रखना और ढिलाई बरतना नहीं है, बल्कि जिसमें एक संस्था की तरह काम करने की क्षमता है, मैं उसे एकमात्र ऐसी संस्था समझता हूं जो एक सच्चा केन्द्र बन सकती है, जिसका प्रत्येक सदस्य सदा अपने पार्टी दृष्टिकोण के अनुसार अपना मत निर्धारित करेगा और उसके लिए डटकर लड़ेगा और उससे एक इंच इधर-उधर न होगा और इस मामले में न तो व्यक्तिगत बातों का ख़याल करेगा और न इससे डरेगा कि उसकी बात किसी को बुरी लग जायेगी या कोई इस्तीफ़ा दे देगा, आदि।

"कांग्रेस में जो कुछ हुआ था उसके बाद इस त्रिगुट का निस्सन्देह यह असर होता कि एक ख़ास राजनीतिक तथा संगठनात्मक नीति को, जो कि एक दृष्टि से मार्तोव के ख़िलाफ़ जाती थी, मान्यता मिल जाती। इसमें कोई सन्देह नहीं है। क्या इस कारण पार्टी में फूट डाल देना उचित है? क्या इस वजह से पार्टी को तोड़ देना चाहिए? क्या प्रदर्शनों के सवाल पर मार्तोव और प्लेख़ानोव मेरे ख़िलाफ़ नहीं थे? और क्या कार्यक्रम के सवाल पर मार्तोव और मैं प्लेख़ानोव के ख़िलाफ़ नहीं थे? क्या हर त्रिगुट का एक पक्ष सदा दूसरे दो पक्षों के ख़िलाफ़ नहीं होता? यदि 'ईस्क्रा'-संगठन तथा कांग्रेस दोनों में 'ईस्क्रा'-वादियों का बहुमत मार्तोव की संगठनात्मक तथा राजनीतिक नीति के इस ख़ास पहलू को ग़लत समझता था, तो इसके पीछे 'साज़िश', 'उकसावा' या ऐसी ही कोई और चीज़ देखना क्या सचमुच निरर्थक बात नहीं है? बहुमत को **गालियां देकर** और उसे 'ऐरों-गैरों' का गिरोह बताकर इस सत्य से इनकार करने की कोशिश करना क्या निरी मूर्खता नहीं है?

"मैं फिर कहता हूं कि कांग्रेस में 'ईस्क्रा'-वादियों के बहुमत की तरह मेरा भी यह पक्का विश्वास है कि मार्तोव ने जो नीति अपनायी थी वह ग़लत थी और उनको सही करना आवश्यक था। इस सही करने पर नाराज़ होना, इसे अपमान समझना – यह बेजा बात है। हमने किसी पर कोई 'लांछन' न तो लगाया है, न लगा रहे हैं, और न ही हम किसी को **काम पर से** हटा रहे हैं। और सिर्फ़ इसलिए कि किसी को एक **केन्द्रीय संस्था** से हटा दिया गया है,

पार्टी में फूट डाल देना एक ऐसी मूर्खता है जिसकी मैं कल्पना भी नहीं कर सकता।"*

अपने इन लिखित बयानों की याद दिलाना मैंने इस वक़्त इसलिए ज़रूरी समझा कि उनसे यह **साफ़ तौर पर** ज़ाहिर हो जाता है कि बहुमत एक तरफ़ तीखी और बदहवास आलोचनाओं से पैदा होनेवाली तमाम सम्भव व्यक्तिगत शिकायतों तथा व्यक्तिगत ग़ुस्से के (जो कि एक भीषण संघर्ष में अनिवार्य है) और दूसरी तरफ़ निश्चित राजनीतिक भूल तथा राजनीतिक नीति (दक्षिण पक्ष से संयुक्त मोर्चा बनाने की नीति) के बीच **फ़ौरन** एक रेखा खींच देना चाहता है।

इन बयानों से ज़ाहिर होता है कि अल्पमत का **निष्क्रिय प्रतिरोध कांग्रेस के बाद फ़ौरन ही शुरू हो गया था** और उसके शुरू होते ही हमने यह चेतावनी दी थी कि यह **पार्टी में फूट डालनेवाला क़दम है;** कि यह क़दम **वफ़ादारी के उन तमाम ऐलानों** के ख़िलाफ़ जाता है **जो कांग्रेस में किये गये थे;** और यह कि यह फूट महज़ इसलिए पड़ेगी कि **किसी को केन्द्रीय संस्थाओं से हटा दिया गया** (यानी, उसको चुना नहीं गया), क्योंकि पार्टी के किसी भी सदस्य को **काम से** हटाने की बात तो कभी भी किसी के दिमाग़ में नहीं आयी थी; और यह कि हमारे राजनीतिक मतभेद को (जिसका होना लाज़िमी है, क्योंकि उस समय तक यह निश्चित नहीं हो सका था कि कांग्रेस में किसने ग़लत नीति पेश की थी, मार्तोव ने या हमने) **अधिकाधिक तोड़-मरोड़कर एक थुक्का-फ़ज़ीहत की शक्ल दी जा रही** है और उसके साथ-साथ गालियों, संदेहों, आदि-आदि की बौछार हो रही है।

लेकिन ये चेतावनियां व्यर्थ सिद्ध हुईं। अल्पमत के व्यवहार से यह मालूम हुआ कि उनके यहां सबसे कम स्थिर तत्वों का, **जो कि पार्टी को सबसे कम महत्व देते थे,** पलड़ा भारी होने लगा था। इसपर प्लेख़ानोव और मैंने मजबूर

---

*यह पत्र (देखिये व्ला० इ० लेनिन का अ० न० पोत्रेसोव के नाम पत्र, ता० १३ सितम्बर १६०३। – सं०) **सितम्बर** में (नयी शैली के अनुसार) लिखा गया था। उसमें से मैंने केवल वे हिस्से छोड़ दिये हैं जिनका मुझे इस सवाल से कोई सम्बंध नहीं दिखायी दिया। पत्र जिनके नाम लिखा गया था, यदि वह इसमें से छोड़े गये किन्हीं हिस्सों को ही महत्वपूर्ण समझते हैं तो वह उन्हें प्रकाशित कर सकते हैं। यहां चलते-चलते यह भी कह दूं कि यदि मेरे विरोधियों में से कोई भी सज्जन मेरे किसी निजी ख़त को प्रकाशित करना ध्येय के हित में लाभदायक समझें तो, वह उसे शौक़ से प्रकाशित कर सकते हैं।

होकर ग्लेबोव के प्रस्ताव से अपनी स्वीकृति वापिस ले ली। क्योंकि, सचमुच, जबकि अल्पमत अपने **कारनामों** से न केवल सैद्धान्तिक मामलों में बल्कि **पार्टी के प्रति साधारण वफ़ादारी** के मामले में भी अपनी राजनीतिक अस्थिरता का परिचय देने लगा, तब इस कुख्यात "परम्परा" को सुरक्षित रखने की **बातों** का क्या मूल्य रह जाता है? इस मांग के सरासर बेतुकेपन पर प्लेख़ानोव से ज़्यादा और किसी ने व्यंग भरे फ़िकरे नहीं कसे कि पार्टी के सम्पादक-मण्डल में "नये नाम जोड़ कर" बहुमत ऐसे लोगों का कर दिया जाये जो अपने नये तथा बढ़ते हुए मतभेदों को साफ़-साफ़ घोषित कर रहे हैं! क्या दुनिया में कभी यह भी देखा गया है कि किसी पार्टी की केन्द्रीय संस्थाओं का बहुमत **नये** मतभेदों के अख़बारों में, पूरी पार्टी के सामने, **खुलकर आने के पहले ही**, स्वेच्छा से अपने आपको अल्पमत में बदल दे? मतभेदों को सामने आने दीजिये, पार्टी को निर्णय करने दीजिये कि वे कितने गहरे और कितने महत्वपूर्ण हैं; यदि यह मालूम हो कि दूसरी कांग्रेस में पार्टी ने कोई ग़लती की थी तो उसे ख़ुद अपनी ग़लती ठीक करने दीजिये! ख़ुद यह बात कि यह मांग ऐसे मतभेदों के **आधार पर** की गयी थी जिनके बारे में अभी तक किसी को कुछ मालूम नहीं था – यह बिल्कुल साफ़ कर देती थी कि इस मांग को रखनेवालों में कितनी घोर अस्थिरता थी, राजनीतिक मतभेदों को कितनी हद तक थुक्का-फ़ज़ीहत में डुबो दिया गया था, और पूरी पार्टी के लिए तथा ख़ुद अपने विश्वासों के लिए उनमें श्रद्धा का कितना घोर अभाव था। **सिद्धान्तों में सचमुच विश्वास रखनेवाले** ऐसे लोग न तो कभी हुए हैं और न कभी होंगे, जो उस संस्था में, जिससे वे अपना दृष्टिकोण मनवाना चाहते हैं **(निजी तौर पर)**, अपना बहुमत बनाने से पहले अपना **दृष्टिकोण समझाने** की कोशिश करने से इनकार करें।

अन्त में, ४ अक्तूबर को, कामरेड प्लेख़ानोव ने ऐलान किया कि वह इस बेहूदा परिस्थिति को ख़तम करने के लिए **आख़िरी** कोशिश करेंगे। पुराने सम्पादक-मण्डल के छः के छः सदस्यों की एक बैठक बुलायी गयी, जिसमें नयी केन्द्रीय समिति का भी एक सदस्य उपस्थित था*। तीन घण्टे तक लगातार कामरेड

---

*केन्द्रीय समिति के इस सदस्य[194] ने, इसके अलावा अल्पमत के साथ कई निजी और सामूहिक बातचीतों का भी आयोजन किया जिनमें उसने उन मिथ्या क़िस्सों का खण्डन किया जिनका बड़े ज़ोरों से प्रचार हो रहा था और पार्टी के प्रति वफ़ादारी की अपील की।

प्लेख़ानोव ने यह समझाने की कोशिश की कि "बहुमत" के दो सदस्यों के साथ "अल्पमत" के चार सदस्यों को "जोड़ने" की मांग कितनी बेतुकी है। उन्होंने सुझाव रखा कि **दो नये सदस्य जोड़ दिये जायें**, ताकि एक तो इस प्रकार का सारा भय ख़तम हो जाये कि हम लोग किसी को "डराना-धमकाना", दबाना, घेरना, मार डालना, या दफ़ना देना चाहते हैं, और दूसरे, पार्टी के "बहुमत" के अधिकार और उसकी हैसियत भी सुरक्षित रहे। **दो नाम जोड़ने का सुझाव भी इसी प्रकार नामंज़ूर कर दिया गया।**

६ अक्तूबर को, प्लेख़ानोव और मैंने 'ईस्क्रा' के सभी पुराने सम्पादकों के नाम और उसके एक लेखक, कामरेड त्रोत्स्की के नाम यह रस्मी ख़त लिखा:

"प्रिय साथियो,

"केन्द्रीय मुखपत्र का सम्पादक-मण्डल अपना यह फ़र्ज़ समझता है कि इस बात पर बाज़ाब्ता तौर पर अफ़सोस ज़ाहिर करे कि आप लोग 'ईस्क्रा' तथा 'ज़ार्या' के साथ सहयोग नहीं कर रहे हैं। दूसरी कांग्रेस के फ़ौरन बाद और तबसे कई बार और हमने आपसे सहयोग करने के लिए अनुरोध किया था, मगर आपसे हमें अभी तक एक भी रचना नहीं मिली है। केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादकगण निवेदन करना चाहते हैं कि उनकी राय में आपका सहयोग न करना उनकी किसी कार्रवाई के आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता। ज़ाहिर है, पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र पर आपके काम करने के रास्ते में किसी तरह की व्यक्तिगत नाराज़गी को बाधक नहीं होना चाहिए। लेकिन यदि आप इसलिए सहयोग नहीं कर रहे हैं कि आपका मत किसी प्रश्न पर हमारे मत से भिन्न है, तो हम पार्टी के लिए इसे अत्यन्त लाभदायक बात समझेंगे कि आप इन मतभेदों के बारे में विस्तार से लिखें। यही नहीं, हम यह भी चाहेंगे कि जिन प्रकाशनों के हम लोग सम्पादक हैं, उनके ज़रिये इन मतभेदों के स्वरूप और गहराई के बारे में जल्द से जल्द पूरी पार्टी को समझाया जाये!"*

---

*कामरेड मार्तोव वाले ख़त में एक पुस्तिका का और ज़िक्र था और उसके बाद यह वाक्य था: "अन्त में काम के हित को ध्यान में रखते हुए, हम आपको फिर सूचित करते हैं कि हम अब भी केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल में आपका नाम जोड़ने को तैयार हैं ताकि आपको पार्टी की सबसे ऊंची संस्था में अपने विचारों को बाज़ाब्ता तौर पर रखने और उनका समर्थन करने का प्रत्येक सम्भव अवसर मिल सके।"

जैसा कि पाठक देख रहे होंगे, अभी तक हमारे दिमाग़ में यह बात साफ़ नहीं थी कि "अल्पमत" जो कुछ कर रहा है, वह व्यक्तिगत झुंझलाहट की वजह से कर रहा है, या वह मुखपत्र (तथा पार्टी) को एक **नयी दिशा** में मोड़ना चाहता है, और यदि दूसरी बात सच हो तो यह नयी दिशा कौनसी है। मैं समझता हूं कि आज भी यदि हम सत्तर बुद्धिमानों को किसी भी प्रकार के साहित्य तथा गवाही प्रमाणों की सहायता से इस सवाल को हल करने के लिए नियुक्त करें तो वे भी इस गोरखधंधे का सिर-पैर कुछ न समझ सकेंगे। इस तरह की कोई थुक्का-फ़ज़ीहत की गुत्थी कभी सुलझ सकती है, इसमें मुझे सन्देह है: इसे या तो काटना पड़ेगा, और या उससे दूर ही रहना पड़ेगा*।

अक्सेलरोद, ज़ासुलिच, स्तारोवेर, त्रोत्स्की और कोल्त्सोव ने ६ अक्तूबर के इस पत्र के जवाब में ये दो लाइनें लिख कर भेज दीं कि जब से 'ईस्क्रा' नये सम्पादक-मण्डल के हाथों में गया है, तब से वे उसके काम में कोई हिस्सा नहीं ले रहे हैं। कामरेड मार्तोव ने ज़्यादा खुलकर जवाब दिया और हम लोगों को निम्नलिखित उत्तर से कृतार्थ किया:

"रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल के नाम।

"प्रिय साथियो,

"आपके ६ अक्तूबर के ख़त के जवाब में मैं यह निवेदन करना चाहता हूं: मेरे विचार से एक मुखपत्र पर साथ काम करने के विषय में हमारी तमाम बहस उस बैठक के बाद समाप्त हो गयी थी जो ४ अक्तूबर को केन्द्रीय समिति के एक सदस्य की मौजूदगी में हुई थी और जिसमें आप लोगों ने इस सवाल का जवाब देने से इनकार कर दिया था कि आपने किन कारणों से अपना वह प्रस्ताव वापिस लिया था कि अक्सेलरोद, ज़ासुलिच, स्तारोवेर और मैं इस शर्त पर सम्पादक-मण्डल में शामिल हो जायें कि हम लोग कामरेड लेनिन को काउंसिल में अपना प्रतिनिधि चुनने का ज़िम्मा

---

*कामरेड प्लेख़ानोव शायद इसमें यह और जोड़ देते कि: "और नहीं तो इस झंझट को शुरू करनेवालों की **सारी की सारी मांगों को** मान लेना चाहिए।" हम आगे देखेंगे कि यह क्यों असम्भव था।

लें। जब आपने इस बैठक में गवाहों की मौजूदगी में दिये हुए अपने बयानों की भी व्याख्या करने से बार-बार इनकार किया, तब मैं इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझता कि आपको एक ख़त के ज़रिये यह समझाऊं कि मौजूदा परिस्थितियों में मैं किन कारणों से 'ईस्क्रा' पर काम करने से इनकार कर रहा हूं। यदि कभी आवश्यकता होगी तो मैं इसके कारण पूरी पार्टी को विस्तार के साथ बताऊंगा, जो दूसरी कांग्रेस की कार्यवाही से भी यह पता लगा सकती है कि मैंने आपके इस प्रस्ताव को—जिसको अब आप दुहरा रहे हैं—कि मैं सम्पादक-मण्डल तथा काउंसिल का सदस्य बनना स्वीकार कर लूं, क्यों अस्वीकार कर दिया था ...* **ल० मार्तोव**"

इस ख़त को यदि पहले के काग़ज़ों के साथ लिया जाये तो उससे बायकाट, असंगठन, अराजकता और पार्टी में फूट डालने की तैयारियों के उस प्रश्न—संघर्ष के वफ़ादार और बेवफ़ादार तरीक़ों—की एक अकाट्य टीका हमारे सामने आ जाती है, जिससे कतराने की कामरेड मार्तोव ने अपनी पुस्तिका 'घेरे की स्थिति' में इतनी जबर्दस्त कोशिश (विस्मय-सूचक चिन्हों तथा बिन्दुओं की पंक्तियों की सहायता से) की है।

कामरेड मार्तोव और दूसरे लोगों को **निमंत्रण दिया जाता है** कि वे अपने मतभेद बतायें, उनसे **पूछा जाता है** कि कृपया हमें साफ़-साफ़ बताइये कि आख़िर यह सारा झगड़ा किसलिए है और उनके क्या इरादे हैं, उनसे अनुरोध किया जाता है कि रूठना छोड़कर शान्तिपूर्वक उस ग़लती का विश्लेषण करें जो उन्होंने पहली धारा के सम्बंध में की थी (और जो दक्षिण पक्ष की ओर झुक पड़ने की उनकी ग़लती से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है)—लेकिन कामरेड मार्तोव और उनके मित्र लोग हैं कि **बात करने तक को तैयार नहीं हैं** और बस चिल्ला रहे हैं कि: "हमें घेरा जा रहा है! हमें डराया-धमकाया जा रहा है!" "भयंकर शब्दों" वाली व्यंगोक्ति ने भी इस हास्यास्पद चीख़-पुकार की तेज़ी कम नहीं की।

लेकिन जो आदमी **आपके साथ काम करने को तैयार नहीं है,** उसे आप

---

*अपनी पुस्तिका के बारे में, जो कि उन दिनों फिर से प्रकाशित हो रही थी, मार्तोव ने जो कुछ लिखा था, उसे मैंने छोड़ दिया है।

कैसे **घर** सकते हैं? – हमने कामरेड मार्तोव से पूछा। उस अल्पमत के साथ आप कैसे कोई दुर्व्यवहार कर सकते हैं, उसे कैसे डरा-धमका सकते हैं, उसपर कैसे अत्याचार कर सकते हैं जो **अल्पमत होने से इनकार करता है?** अल्पमत में होने से आवश्यक रूप से और लाज़िमी तौर पर कुछ असुविधाएं होती हैं। ये असुविधाएं ये हैं कि या तो आपको एक ऐसे निकाय में शामिल होना पड़ता है जिसके मुक़ाबले में कुछ सवालों पर आपकी तादाद बहुत छोटी साबित होगी, और या आप उस निकाय से बाहर रहते हैं और उसपर हमला करते हैं जिसका नतीजा यह होता है कि दूसरी तरफ़ कील-कांटे से लैस तोपख़ाना आपके ऊपर बौछार शुरू कर देता है।

क्या 'घेरे की स्थिति' के बारे में कामरेड मार्तोव की चीख़-पुकार का मतलब यह था कि उन लोगों पर, जो कि अल्पमत में हैं, बड़ा अत्याचार हो रहा है, और बहुमत बड़े अनुचित तरीक़ों से उनसे संघर्ष कर रहा है या उनपर शासन कर रहा है? **इसी एक** बात में (मार्तोव की दृष्टि से) कुछ रत्ती भर अर्थ हो सकता था, क्योंकि, मैं एक बार फिर कह दूं, अल्पमत में होने से आवश्यक रूप से और लाज़िमी तौर पर कुछ असुविधाएं होती हैं। किन्तु परिस्थिति का मज़ेदार पहलू यह है कि जब तक कामरेड मार्तोव बात करने को नहीं तैयार हैं, तब तक उनसे कोई **कैसे संघर्ष कर सकता है?** जब तक अल्पमत अल्पमत में रहने को तैयार न हो, तो उसपर **कोई कैसे शासन कर सकता है?**

कामरेड मार्तोव ने इसका **एक भी उदाहरण** नहीं दिया है कि जब तक प्लेख़ानोव और मैं केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल के सदस्य थे तब तक उसने अपने अधिकारों का कभी दुरुपयोग अथवा उल्लंघन किया हो। न ही अल्पमत के व्यावहारिक कार्यकर्ताओं ने केन्द्रीय समिति के सम्बन्ध में इस प्रकार का **एक भी तथ्य** बताया है। अपनी 'घेरे की स्थिति' नामक पुस्तक में कामरेड मार्तोव अब चाहे जितना छटपटायें और पेचो-ताब खायें, यह एक बिल्कुल अकाट्य सत्य है कि **घेरे की हालत के बारे में यह सारी चीख़-पुकार "बुढ़ियाओं की तरह बिसूरने" के सिवा और कुछ भी नहीं है।**

कांग्रेस द्वारा नियुक्त किये गये सम्पादक-मण्डल के ख़िलाफ़ **विवेकपूर्ण** दलीलों का कामरेड मार्तोव, आदि, के पास कितना घोर अभाव है, इसका सबसे अच्छा प्रमाण उनका अपना यह नारा है कि "हम ग़ुलाम नहीं हैं!" ('घेरे की स्थिति', पृष्ठ ३४) यहां पूंजीवादी बुद्धिजीवी की मनोवृत्ति बहुत ही स्पष्ट

रूप में सामने आ जाती है, जो अपने को जन-संगठन तथा जन-अनुशासन से बहुत ऊपर रहनेवाली, "चन्द चुनी हुई प्रतिभाओं" में से एक समझता है। पार्टी में काम न करने का कारण, "हम किसी के ग़ुलाम नहीं हैं", यह **बताने** का मतलब **अपनी असलियत को एकदम खोलकर रख देना** है, अपने मुंह से मान लेना है कि उनके पास एक भी दलील नहीं है, अपने व्यवहार का वे कोई कारण नहीं बता सकते, और अपने असंतोष का वे कोई विवेकपूर्ण आधार नहीं दिखा सकते। प्लेख़ानोव और मैं ऐलान करते हैं कि हमने ऐसा कोई काम नहीं किया है जिसके कारण अल्पमत के नेता सहयोग करने से इनकार करें और उनसे अनुरोध करते हैं कि कृपया अपने मतभेदों को लिखकर भेजिये, और उनसे हमें केवल यही जवाब मिलता है कि "हम किसी के ग़ुलाम नहीं हैं" (और इतनी बात और कि नये नाम जोड़ने के सम्बन्ध में अभी कोई सौदा नहीं पटा है)।

बुद्धिजीवियों के व्यक्तिवाद को, जो कि पहली धारा के विवाद में अवसरवादी दलीलों और अराजकतावादी लफ़्फ़ाज़ी की ओर झुकाव के रूप में पहले ही प्रकट हो चुका था, सर्वहारा का हर प्रकार का संगठन और अनुशासन ही **ग़ुलामी** मालूम होता है। अख़बार पढ़नेवालों को शीघ्र ही पता चलेगा कि इन "पार्टी के सदस्यों" और पार्टी के "अधिकारियों" की निगाह में नयी **पार्टी कांग्रेस** भी ग़ुलामी की संस्था है जो कि "चन्द चुनी हुई प्रतिभाओं" के लिए एक भयंकर और घृणित चीज़ है ... उन लोगों के लिए यह "संस्था" सचमुच एक भयंकर चीज़ है, जो पार्टी के सदस्य की उपाधि स्वीकार करना तो नापसन्द नहीं करते, लेकिन जिन्हें इस उपाधि और पार्टी के हितों तथा फ़ैसलों के बीच एक **विरोध** दिखाई देता है।

नये 'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल के नाम मेरे पत्र में विभिन्न समितियों के जो प्रस्ताव गिनाये गये हैं और जिनको कामरेड मार्तोव ने अपनी पुस्तिका 'घेरे की स्थिति' में प्रकाशित किया है, उनसे वास्तव में, यह प्रकट होता है कि अल्पमत शुरू से जो कुछ करता आया है उसका अर्थ कांग्रेस के फ़ैसलों को सरासर **तोड़ना** और ठोस व्यावहारिक काम को **छिन्न-भिन्न** करना है। 'ईस्क्रा' से घृणा करनेवालों तथा अवसरवादियों के इस अल्पमत ने पार्टी को **चीर डालने** की कोशिश की। कांग्रेस में अपनी हार का बदला निकालने के लिए और यह महसूस करते हुए कि **ईमानदारी और वफ़ादारी** के तरीक़ों से (यानी, प्रकाशनों के ज़रिये

अथवा किसी कांग्रेस में अपना दृष्टिकोण समझाकर) वे **कभी भी** अवसरवाद और बुद्धिजीवियों वाली अस्थिरता के उस आरोप का खण्डन करने में सफल **नहीं** हो सकते जो दूसरी कांग्रेस में उनपर लगाया था। यह सोचकर कि पार्टी को **अपनी बात समझाना** उनकी योग्यता के बाहर है, उन्होंने पार्टी को **छिन्न-भिन्न** करके और **उसके सारे काम में रुकावट डालकर** अपना मतलब पूरा करने की कोशिश की। उनसे लोगों को शिकायत थी कि (कांग्रेस में अपनी ग़लतियों के ज़रिये) उन्होंने हमारे बर्तन में दरार डाल दी है; उन्होंने, इस शिकायत के जवाब में, इस दरार पड़े हुए बर्तन को **एकदम चकनाचूर** करने में **अपनी पूरी ताक़त लगा दी।**

उन्होंने अपने विचारों को इतना ज़्यादा उलझा दिया था कि बहिष्कार करने और सहयोग न करने को वे संघर्ष के "**ईमानदारी के*** तरीक़े" कहने लगे। आजकल कामरेड मार्तोव को इस बारीक नुक़्ते के चारों ओर नाचना पड़ रहा है। कामरेड मार्तोव "सिद्धान्त के इतने पक्के" हैं कि जब अल्पमत बायकाट करता है तो वह... उसका समर्थन करते हैं, मगर जब उनका अपना पक्ष बहुमत हो जाता है और उसे बायकाट का सामना करना पड़ता है तो मार्तोव उसकी निन्दा करने लगते हैं।

मेरे विचार से, इस सवाल पर वक़्त ख़र्च करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि यह भी व्यर्थ की थुक्का-फ़जीहत है या यह इस प्रश्न पर सैद्धान्तिक मतभेद है कि सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में संघर्ष करने के ईमानदारी के तरीक़े कौनसे हैं।

* * *

"नये नाम जोड़ने" के सवाल पर जिन साथियों ने यह विवाद आरम्भ किया था, उनसे उनके विचारों का स्पष्टीकरण प्राप्त करने की (४ और ६ अक्तूबर की) असफल कोशिशों के बाद केन्द्रीय संस्थाओं के पास इसके सिवाय और कोई चारा नहीं रह गया था कि इन्तज़ार करें और देखें कि उनके संघर्ष के केवल वफ़ादारी के तरीक़ों का उपयोग करने के आश्वासनों का क्या नतीजा निकलता है। १० अक्तूबर को; केन्द्रीय समिति ने लीग के नाम एक गश्ती चिट्ठी (देखिये लीग

---

* खनिज क्षेत्र का प्रस्ताव ('घेरे की स्थिति', पृष्ठ ३८)।

की कार्यवाही, पृष्ठ ३-५) भेजी जिसमें यह ऐलान किया गया था कि केन्द्रीय समिति नियमावली का मसौदा तैयार कर रही है और लीग के सदस्यों को इस काम में मदद करने का निमंत्रण देती है। उस समय लीग के प्रबंधकर्ताओं ने (एक के खिलाफ़ दो वोटों से; उपरोक्त, पृष्ठ २०) लीग की कांग्रेस बुलाने से इनकार कर दिया था। अल्पमत के अनुयायियों के पास से इस गश्ती चिट्ठी के जो जवाब आये उनसे यह फ़ौरन ज़ाहिर हो गया कि वफ़ादार रहने और कांग्रेस के फ़ैसलों को मानते रहने का जो वायदा किया गया था और जिसकी इतनी धूम थी, वह महज़ ज़बानी बात थी, और यह कि वास्तव में अल्पमत ने पार्टी की केन्द्रीय संस्थाओं के आदेशों को **न मानने** का निश्चित रूप से फ़ैसला कर लिया है और इसलिए जब केन्द्रीय संस्थाएं उनसे काम में सहयोग करने का निवेदन करती हैं तो वे **कतराने के लिए अराजकतावादी** लफ़्फ़ाज़ी और कुतर्कों से भरे हुए तरह-तरह के **बहाने** करते हैं। लीग की प्रबंधकारिणी समिति के एक सदस्य, डेयट्श की कुख्यात खुली चिट्ठी (पृष्ठ १०) के जवाब में, प्लेख़ानोव ने, मैंने तथा बहुमत के अन्य समर्थकों ने "पार्टी अनुशासन के सरासर उल्लंघन की उन तमाम कार्रवाइयों के ख़िलाफ़" ज़ोरदार आवाज़ बुलन्द की "जिनकी मदद से लीग का एक अधिकारी पार्टी की एक संस्था के संगठनात्मक काम में अड़ंगा डाल रहा है और दूसरे साथियों से भी इसी तरह अनुशासन तथा नियमावली का उल्लंघन करने के लिए कह रहा है। इस तरह की बातें करना कि "मैं अपने को केन्द्रीय समिति के निमंत्रण पर इस प्रकार के कार्य में भाग लेने का अधिकारी नहीं समझता" या "साथियो, हमें किसी भी हालत में, केन्द्रीय समिति को लीग के लिए नये नियम नहीं बनाने देना चाहिए," आदि—ये आन्दोलन के ऐसे तरीक़े हैं जिनको देखकर हर उस आदमी के मन में, जो 'पार्टी', 'संगठन' और 'पार्टी अनुशासन' शब्दों का अर्थ थोड़ा-बहुत भी समझता है, सिर्फ़ घृणा ही पैदा होगी। इस तरह के तरीक़े इसलिए और भी घिनौने बन जाते हैं कि वे पार्टी की एक ऐसी संस्था के ख़िलाफ़ इस्तेमाल किये जा रहे हैं जो अभी हाल में स्थापित की गयी है, और इसलिए उनका उद्देश्य निस्संदेह यही है कि इस संस्था में पार्टी के साथियों का विश्वास नष्ट हो जाये, और ऊपर से तुर्रा यह है कि यह प्रचार लीग की प्रबंधकारिणी समिति के एक सदस्य के नाम से और केन्द्रीय समिति के पीठ पीछे हो रहा है।" (पृष्ठ १७)

ऐसी हालत में, यह स्पष्ट था कि लीग की कांग्रेस में झंझट और झगड़े के सिवा और कुछ न होगा।

कामरेड मार्तोव ने शुरू से ही "दूसरों की अन्तरात्मा को कुरेदने" की उसी कार्यनीति का प्रयोग किया जिसका प्रयोग उन्होंने कांग्रेस में किया था। इस बार उन्होंने कुछ निजी बातचीतों को तोड़-मरोड़कर कामरेड प्लेख़ानोव की अन्तरात्मा को कुरेदने की कोशिश की। कामरेड प्लेख़ानोव ने इसपर आपत्ति की और कामरेड मार्तोव को अपने आरोपों को वापिस लेना पड़ा (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ३९ और १३४), जो कि या तो अगाम्भीर्य की उपज थे और या खीझ के।

रिपोर्ट देने का वक़्त आया। मैं पार्टी कांग्रेस में लीग का प्रतिनिधि था। मैंने जो रिपोर्ट दी, उसके सारांश (पृष्ठ ४३ और उसके आगे के पृष्ठ) पर एक नज़र डालने से मालूम हो जायेगा कि मैंने उसमें विभिन्न सवालों पर कांग्रेस में डाले गये वोटों के उस विश्लेषण की एक मोटी रूपरेखा प्रस्तुत की है, जो ज़्यादा विस्तार के साथ इस पुस्तिका में प्रस्तुत किया गया है। मेरी रिपोर्ट का केन्द्रीय उद्देश्य यह दिखाना था कि अपनी ग़लतियों के कारण मार्तोव और उनके संगी-साथी हमारी पार्टी के अवसरवादी पक्ष में दाख़िल हो गये हैं। यद्यपि यह रिपोर्ट ऐसे लोगों के सामने दी गयी थी जिनमें से अधिकांश अत्यन्त उत्तेजित विरोधी थे, फिर भी उन्हें उसमें कोई ऐसी बात नहीं मिली जो पार्टी में संघर्ष और बहस करने के ईमानदारी और वफ़ादारी के तरीक़ों का उल्लंघन करती हो।

इसके विपरीत, मार्तोव की रिपोर्ट—मेरे वक्तव्य की कुछ छोटी-छोटी बातों में "संशोधनों" के अलावा (और ये संशोधन कितने ग़लत थे, यह हम ऊपर दिखा चुके हैं)—अव्यवस्थित स्नायुओं की उपज के सिवा और कुछ न थी।

कोई आश्चर्य नहीं यदि इस वातावरण में बहुमत ने संघर्ष चलाने से इनकार कर दिया। कामरेड प्लेख़ानोव ने इस "हंगामे" (पृष्ठ ६८) पर अपना एतराज़ लिखाया—और वह सचमुच **"हंगामा"** ही था!—और रिपोर्ट के सार-तत्व पर उनको जो आपत्तियां थीं और जिनको उन्होंने लिख भी लिया था, बताने से इनकार करके वह कांग्रेस से उठकर चले गये। बहुमत के बाक़ी समर्थक भी लगभग सबके सब कामरेड मार्तोव के "अशोभनीय व्यवहार" पर लिखित आपत्ति देकर, इसी तरह कांग्रेस से चले गये (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ७५)।

अल्पमत संघर्ष के जिन तरीक़ों का इस्तेमाल कर रहा था, वे सबके सामने बिल्कुल साफ़ हो गये थे। हमने अल्पमत पर यह इलज़ाम लगाया था कि उसने कांग्रेस में एक राजनीतिक ग़लती की थी, वह अवसरवाद की ओर झुक गया था और यह कि उसने बुंदवादियों और अकीमोव, ब्रूकर और येगोरोव, तथा माख़ोव, जैसे लोगों से संयुक्त मोर्चा बना लिया था। अल्पमत कांग्रेस में हार गया था और अब उसने संघर्ष के **दो** तरीक़े "तैयार किये थे" जिनमें तरह-तरह के अनगिनत छुटपुट हमले, धावे, आक्रमण, आदि भी शामिल थे।

पहला तरीक़ा—पार्टी के पूरे काम को छिन्न-भिन्न कर देना, आन्दोलन को नुक़सान पहुंचाना, और "बिना कोई वजह बताये हुए" हर चीज़ में अड़ंगा लगाना।

दूसरा तरीक़ा—"हंगामे" करना और इसी तरह की और हरकतें करना।*

लीग के "सिद्धान्तों" वाले कुख्यात प्रस्तावों में फिर संघर्ष का यही दूसरा तरीक़ा नज़र आता है। इन प्रस्तावों की बहस में, ज़ाहिर है, "बहुमत" ने कोई हिस्सा नहीं लिया था। आइये, हम इन प्रस्तावों पर थोड़ा विचार कर लें जिन्हें कामरेड मार्तोव ने अपनी 'घेरे की स्थिति' में उद्धृत किया है।

पहले प्रस्ताव में, जिसपर कामरेड त्रोत्स्की, कामरेड फ़ोमिन, कामरेड डेयट्श, आदि के हस्ताक्षर हैं, पार्टी कांग्रेस के "बहुमत" के ख़िलाफ़ दो स्थापनाएं हैं: (१) "लीग इस बात पर अत्यन्त खेद प्रकट करती है कि कांग्रेस में कुछ ऐसी प्रवृत्तियों के सामने आने के कारण, जो 'ईस्क्रा' की पहले वाली नीति के ख़िलाफ़ जाती थीं, पार्टी नियमावली का मसौदा तैयार करने में इस बात का एहतियात नहीं बरता गया कि केन्द्रीय समिति की स्वाधीनता एवं अधिकारों

---

*मैं पहले ही यह बता चुका हूं कि राजनीतिक प्रवासी और निर्वासित लोग जिस प्रकार के वातावरण में रहते हैं, उसमें झगड़े-झंझट और थुक्का-फ़ज़ीहत की उनकी आदत पड़ जाती है और उसके घृणित से घृणित रूप के पीछे भी कोई घृणित उद्देश्य खोजना बुद्धिमानी का काम नहीं है। यह एक तरह की छूत की बीमारी है जो जीवन की असाधारण परिस्थितियों, अव्यवस्थित स्नायुओं, आदि, से पैदा होती है। मुझे यहां संघर्ष की इस प्रणाली का सच्चा चित्र इसलिए उपस्थित करना पड़ा है कि **अपनी 'घेरे की स्थिति' में कामरेड मार्तोव ने एक बार फिर इसी प्रणाली का भरपूर प्रयोग किया है।**

को सुरक्षित रखने की पर्याप्त व्यवस्था की जाये।" (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ८३)

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं यह "सिद्धान्त" सम्बंधी स्थापना उस **अकीमोव-मार्का** बात के सिवा और कुछ नहीं है, जिसके **अवसरवादी** स्वरूप का कांग्रेस में कामरेड पोपोव **तक** ने भण्डाफोड़ किया था! सच तो यह है कि इस बात का कि "बहुमत" ने केन्द्रीय समिति की स्वाधीनता एवं अधिकारों को सुरक्षित रखने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया, एक **गप्प** से ज़्यादा कभी कोई महत्व नहीं रहा है। इतना ही बताना काफ़ी है कि जब प्लेखानोव और मैं सम्पादक-मण्डल के सदस्य थे तब **काउंसिल के अन्दर** केन्द्रीय समिति के मुक़ाबले में केन्द्रीय मुखपत्र का किसी तरह भी ज़्यादा ज़ोर **नहीं था**; लेकिन जब मार्तोव-वादी सम्पादक-मण्डल में शामिल हो गये तो काउंसिल के अन्दर केन्द्रीय समिति के मुक़ाबले में केन्द्रीय मुखपत्र का पलड़ा बहुत भारी **हो गया**! जब हम लोग सम्पादक-मण्डल में थे तब काउंसिल के अन्दर विदेश में रहनेवाले लेखकों के मुक़ाबले में **रूस में रहकर व्यावहारिक काम करनेवालों का ज़्यादा ज़ोर रहता था**, लेकिन जब से मार्तोव-वादी सम्पादक-मण्डल में शामिल हुए तब से स्थिति इसकी उल्टी हो गयी है। जब हम लोग सम्पादक-मण्डल में थे, तब काउंसिल ने **एक बार भी** कभी किसी **व्यावहारिक** मामले में हस्तक्षेप करने की कोशिश नहीं की, लेकिन जब से सर्वसम्मति से नये नाम जोड़े गये हैं, तब से **इस तरह का हस्तक्षेप शुरू हो गया है**, जैसा कि निकट भविष्य में निश्चय ही अख़बार पढ़नेवालों को मालूम हो जायगा।

जिस प्रस्ताव पर हम लोग विचार कर रहे हैं, उसकी अगली स्थापना देखिये: ... "पार्टी की केन्द्रीय संस्थाओं का बाज़ाब्ता निर्माण करते हुए कांग्रेस ने इस बात की ज़रूरत नहीं समझी कि जो केन्द्रीय संस्थाएं पहले से वास्तव में मौजूद थीं उनका सिलसिला क़ायम रखा जाये" ...

इस स्थापना का मतलब सिर्फ़ यह होता है कि एक बार फिर यह सवाल उठाया जा रहा है कि केन्द्रीय संस्थाओं में **कौनसे व्यक्ति हों**। "अल्पमत" ने इस सचाई से कतरा जाना ही बेहतर समझा कि कांग्रेस में पुरानी केन्द्रीय संस्थाओं ने अपनी अयोग्यता सिद्ध की थी और उन्होंने कई ग़लतियां की थीं। लेकिन सबसे ज़्यादा हंसी की बात यह है कि संगठन समिति का भी "सिलसिला" क़ायम

रखने की बात की जा रही है। जैसा कि हम देख चुके हैं, कांग्रेस में किसी ने इसका संकेत तक नहीं किया था कि संगठन समिति के सारे सदस्यों को चुन लेना चाहिए। कांग्रेस में मार्तोव ने ग़ुस्से से एकदम पागल होकर कहा था कि जिस सूची में संगठन समिति के तीन सदस्यों के नाम हैं, उसे पेश करके मेरा अपमान किया गया है। कांग्रेस में "अल्पमत" ने जो **अन्तिम** सूची पेश की थी उसमें संगठन समिति के **एक** सदस्य का नाम था (**पोपोव**, ग्लेबोव या फ़ोमिन, और त्रोत्स्की), जब कि "बहुमत" ने जो सूची पेश की थी उसमें तीन में से **दो नाम** संगठन समिति के सदस्यों के थे (**त्राविंस्की**, **वसील्येव**, और ग्लेबोव)। हम पूछते हैं कि क्या "सिलसिला क़ायम रखने" की यह बात सचमुच "सैद्धान्तिक मतभेद" की बात समझी जा सकती है?

आइये, अब दूसरे प्रस्ताव पर विचार करें, जिसपर पुराने सम्पादक-मण्डल के चार सदस्यों के हस्ताक्षर थे और पहला हस्ताक्षर कामरेड अक्सेलरोद का था। इसमें "बहुमत" पर लगाये गये वे तमाम मुख्य आरोप मिल जाते हैं जो बाद को विभिन्न प्रकाशनों में अनेकों बार दुहराये जा चुके हैं। इन आरोपों पर विचार करने का सबसे सुविधाजनक ढंग यह होगा कि जिस रूप में उनको सम्पादकीय मण्डल के सदस्यों ने पेश किया था, उसी रूप में हम उनको लें। "पार्टी पर निरंकुश एवं नौकरशाही शासन की पद्धति" और "नौकरशाही केन्द्रीयता" के आरोप लगाये गये हैं, और "सच्ची सामाजिक-जनवादी केन्द्रीयता" से फ़र्क़ करते हुए उसकी परिभाषा यह दी गयी है कि वह "सबसे आगे आन्तरिक एकता को नहीं, बल्कि बाहरी और रस्मी एकता को रखती है जो कि विशुद्ध यांत्रिक उपायों से, और व्यक्तिगत पहलक़दमी तथा स्वतंत्र सामाजिक क्रियाशीलता को सुनियोजित ढंग से दबाकर स्थापित की जाती है और क़ायम रखी जाती है"; और इसलिए "उसकी प्रकृति के कारण ही उसमें इसकी क्षमता नहीं होगी कि वह समाज के विभिन्न अंगों को सजीव ढंग से एकताबद्ध कर सके।"

कामरेड अक्सेलरोद और उनके मित्रगण यहां किस "समाज" का ज़िक्र कर रहे हैं, यह भगवान ही जानता है। शायद ख़ुद कामरेड अक्सेलरोद को भी यह बात साफ़ तौर पर नहीं मालूम थी कि वे किसी ज़ेम्सत्वो की तरफ़ से वांछित सरकारी सुधारों के बारे में कोई निवेदनपत्र लिख रहे थे या "अल्पमत"

की शिकायतों का बखान कर रहे थे। पार्टी में क़ायम इस "निरंकुशता" का **कोई क्या अर्थ लगा सकता है,** जिसके बारे में असंतुष्ट "सम्पादकों" ने इतनी चीख़-पुकार मचायी है? निरंकुशता का अर्थ है एक व्यक्ति की सर्वोच्च, अनियंत्रित, अनुत्तरदायी और अनिर्वाचित शासन-सत्ता। "अल्पमत" के साहित्य को देखनेवाले सभी लोग यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि निरंकुश वे केवल **मुझे ही** कहते हैं, और किसी को नहीं। जब इस प्रस्ताव का मसौदा तैयार हो रहा था और उसे पास किया जा रहा था, तब मैं प्लेख़ानोव के साथ केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल का सदस्य था। इसलिए, कामरेड अक्सेल्रोद और उनके मित्र यह विश्वास व्यक्त कर रहे हैं कि प्लेख़ानोव और केन्द्रीय समिति के बाक़ी तमाम सदस्य "पार्टी का शासन" आन्दोलन के हितों को ध्यान में रखकर नहीं "चलाते थे", बल्कि निरंकुश तानाशाह लेनिन की **इच्छा** के अनुसार चलाते थे। निरंकुश शासन के इस आरोप का आवश्यक और अवश्यम्भावी रूप से यह अर्थ भी होता है कि एक निरंकुश तानाशाह को छोड़कर शासन चलानेवाली संस्था के बाक़ी सभी सदस्य एक आदमी के हाथ के खिलौने भर थे, वे एक दूसरे व्यक्ति के इशारे पर नाचते थे और शतरंज के प्यादों की तरह थे। और हम फिर पूछते हैं कि क्या स्वनामधन्य कामरेड अक्सेल्रोद ने यहां सचमुच कोई "सैद्धान्तिक मतभेद" प्रकट किया है?

इसके अलावा, हमारे ये "पार्टी मेम्बर" जो अभी हाल में उस पार्टी कांग्रेस से लौटे थे जिसके फ़ैसलों को उन्होंने पूरी गम्भीरता के साथ मान्य घोषित किया था – हमारे ये पार्टी मेम्बर यहां किस बाहरी और रस्मी एकता की बातें कर रहे हैं? क्या उनको पार्टी कांग्रेस के अलावा कोई और भी तरीक़ा मालूम है जिसके द्वारा थोड़े-से भी टिकाऊ आधार पर संगठित किसी पार्टी में एकता स्थापित की जा सकती है? अगर उन्हें मालूम है तो फिर वे साफ़-साफ़ यह कहने की हिम्मत क्यों नहीं करते कि अब वे दूसरी कांग्रेस को वैधानिक एवं मान्य नहीं समझते? तब वे अपने नये विचारों का प्रतिपादन क्यों नहीं करते और क्यों नहीं बताते कि संगठित कहलानेवाली तथाकथित पार्टी में एकता स्थापित करने के ये तरीक़े कौनसे हैं?

इसके अलावा, हमारे ये व्यक्तिवादी बुद्धिजीवी, जिनसे कुछ ही समय पहले पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल ने अपने मतभेद लिखकर बताने

का **अनुरोध किया था** और जिन्होंने **उसके बजाय** "नये नाम जोड़ने" के बारे में सौदेबाज़ी शुरू कर दी थी, अब किस "व्यक्तिगत पहलक़दमी के दबाये जाने" की चर्चा कर रहे हैं? और साधारणतया प्लेख़ानोव और मैं, या केन्द्रीय समिति उन लोगों की पहलक़दमी और स्वतंत्र क्रियाशीलता को कैसे दबा सकती थी, जो हमारे साथ मिलकर **किसी भी तरह का** काम करने को तैयार नहीं थे! जिस संस्था या समिति में कोई **काम करने को ही तैयार नहीं है**, उसमें उसको कैसे "दबाया" जा सकता है? जब ये अनिर्वाचित सम्पादकगण **अपने ऊपर किसी तरह का शासन स्वीकार करने** को तैयार नहीं हैं, तो फिर वे किसी "शासन-पद्धति" की शिकायत कैसे कर सकते हैं? अपने इन साथियों का संचालन करने में हम **कोई** भी ग़लती **नहीं कर सकते थे**, जिसका बहुत सीधा-सादा कारण यह था कि उन्होंने हमारे संचालन में कभी काम किया ही नहीं।

मैं समझता हूं कि यह बात स्पष्ट है कि इस कुख्यात नौकरशाही के बारे में यह सारी चीख़-पुकार महज़ इस बात पर अपने असंतोष को छिपाने के लिए है कि ये लोग जिन व्यक्तियों को केन्द्रीय संस्थाओं में चुनवाना चाहते थे, वे कांग्रेस द्वारा नहीं चुने गये। यह चीख़-पुकार इस सचाई को छिपाने के लिए है कि इन महानुभावों ने कांग्रेस में पूरी गम्भीरता के साथ जो वचन दिया था, उसे उन्होंने तोड़ डाला है। आप नौकरशाह हैं क्योंकि आपको कांग्रेस ने मेरी मर्ज़ी के माफ़िक नहीं, बल्कि उसके ख़िलाफ़ चुना है। आप औपचारिकता के पुजारी हैं क्योंकि आप मेरी मर्ज़ी के मुताबिक नहीं चलते, बल्कि कांग्रेस के वैधानिक फ़ैसलों को मानते हैं। आप हद से ज़्यादा यांत्रिक ढंग से काम कर रहे हैं क्योंकि आप पार्टी कांग्रेस के "यांत्रिक" बहुमत की दुहाई देते हैं और मेरी इस इच्छा की ओर कोई ध्यान नहीं देते कि मेरा नाम भी केन्द्रीय संस्थाओं में जोड़ लिया जाना चाहिए। आप निरंकुश तानाशाह हैं क्योंकि आप उस पुराने छोटे-से गुट को ताक़त सौंपने से इनकार करते हैं जो एक मण्डल के रूप में अपना "सिलसिला" क़ायम रखने के लिए इसलिए और भी हठ कर रहा है कि उसको यह बात पसन्द नहीं है कि कांग्रेस ने इस मण्डल-भावना की स्पष्ट शब्दों में निन्दा की थी।

नौकरशाही के बारे में इस सारी चीख़-पुकार का कोई और मतलब न

तो है और न कभी था*। और संघर्ष का यह तरीक़ा एक बार फिर अल्पमत की इस असलियत को ज़ाहिर कर देता है कि वे लोग ढुलमुल बुद्धिजीवियों के सिवा और कुछ नहीं हैं। ये लोग पार्टी को समझाना चाहते थे कि केन्द्रीय संस्थाओं का चुनाव ठीक नहीं हुआ है। मगर किस तरह? प्लेख़ानोव और मैं जो 'ईस्का' निकाल रहे थे उसकी आलोचना करके? नहीं, ऐसी कोई आलोचना करना उनके बस की बात नहीं थी। उन्होंने अपनी बात समझाने का यह तरीक़ा निकाला कि पार्टी के एक हिस्से ने घृणित केन्द्रीय संस्थाओं के मातहत काम करने से इनकार कर दिया। लेकिन दुनिया की कोई भी पार्टी हो, उसकी केन्द्रीय संस्था उन लोगों के सामने अपनी संचालन-क्षमता नहीं सिद्ध कर सकती जो उसका संचालन स्वीकार करने को ही तैयार नहीं हैं। केन्द्रीय संस्थाओं का संचालन स्वीकार करने से इनकार करने का मतलब है पार्टी में रहने से इनकार कर देना, उसका मतलब है पार्टी में फूट डालना; यह पार्टी को समझाने का नहीं **नष्ट कर देने** का तरीक़ा है। और समझाने के बजाय नष्ट करने के इन तरीक़ों से पता चलता है कि इन लोगों के पास सुसंगत सिद्धान्तों का कैसा अभाव है और ख़ुद अपने विचारों में भी उनको कितना कम विश्वास है।

ये लोग नौकरशाही की बात करते हैं। नौकरशाही का अर्थ पद-लोलुपता लगाया जा सकता है। नौकरशाही का अर्थ है **आन्दोलन** के हितों को अपने **व्यक्तिगत भविष्य** के हितों से नीचे रखना, उसका मतलब है **पदों** की ओर ख़ूब ध्यान देना और काम की ओर लापरवाही बरतना; उसका मतलब है **विचारों** के लिए लड़ने के बजाय **अपने नाम जुड़वाने** के लिए झगड़ना। इस तरह की नौकरशाही बुरी चीज़ है और पार्टी के लिए हानिकारक है, यह बात निस्सन्देह सच है और इस प्रश्न का निर्णय मैं बेखटके पाठकों के हाथ में छोड़ सकता हूं कि हमारी पार्टी में इस समय जो दो पक्ष लड़ रहे हैं, उनमें से कौन सा पक्ष इस तरह की नौकरशाही का अपराधी है... ये लोग एकता स्थापित

---

*यहां इतना कह देना काफ़ी होगा कि जबसे प्लेख़ानोव ने बड़ी उदारता के साथ सम्पादक-मण्डल में नये नाम जोड़ दिये हैं, तब से वह अल्पमत की नज़रों में "नौकरशाही केन्द्रीयता" के समर्थक नहीं रह गये हैं।

करने के हद दर्जा यांत्रिक उपायों की बात करते हैं। निस्सन्देह भद्दे और यांत्रिक उपाय हानिकारक हैं, मगर मैं फिर पाठक के हाथ में इसका निर्णय छोड़ देता हूं कि क्या एक पुरानी प्रवृत्ति के ख़िलाफ़ एक नयी प्रवृत्ति का संघर्ष करने का कोई तरीक़ा इससे भी अधिक भद्दा और यांत्रिक हो सकता है कि जिन लोगों के नये विचारों की सचाई के बारे में अभी पार्टी को विश्वास नहीं दिलाया गया है, और जिनके ये विचार अभी पार्टी को बताये तक नहीं गये हैं, उनको पार्टी की संस्थाओं में स्थान दे दिया जाये?

लेकिन, अल्पमत को जो ये नारे इतने प्रिय हैं, शायद उनका कुछ सैद्धान्तिक मूल्य है? यहां पर भले ही एक बहुत ही छोटे कारण से इन विचारों की तरफ़ "झुकाव" शुरू हुआ हो, पर शायद ये नारे किसी खास विचारधारा को व्यक्त करते हैं? हम यदि "नये नाम जुड़वाने" के इस झगड़े से अपने दिमाग़ को अलग कर लें तो शायद इन नारों के पीछे हमें किसी दूसरी विचार-पद्धति की अभिव्यक्ति दिखायी दे?

आइये, इस मामले पर इस दृष्टिकोण से विचार करें। मगर यह करने के पहले हमें यह कह देना चाहिए कि इस ढंग की समीक्षा का प्रयत्न सबसे पहले कामरेड प्लेख़ानोव ने किया था, जबकि उन्होंने लीग में यह कहा था कि अल्पमत **अराजकतावाद** और **अवसरवाद** की ओर झुक गया है और यह कि कामरेड मार्तोव ने (जो कि आजकल इसलिए बहुत नाराज़ हैं कि सभी लोग यह मानने को तैयार नहीं हैं कि कामरेड मार्तोव का रुख़ किसी सिद्धान्त पर आधारित है*) अपनी 'घेरे की स्थिति' में इस घटना को **बिलकुल अनदेखा कर देना** ही बेहतर समझा है।

---

*नये 'ईस्क्रा' की इस **शिकायत** से ज़्यादा हास्यास्पद और कोई चीज़ नहीं है कि उसके कथनानुसार लेनिन किसी भी सैद्धान्तिक मतभेद को नहीं देखता या उनके अस्तित्व से इनकार करता है। यदि आपका रुख़ सिद्धान्तों पर ज़्यादा आधारित होता तो आप मेरे इस कथन की ओर, जिसको मैंने बार-बार दुहराया है, ज़्यादा जल्दी ध्यान देते कि आप लोग अवसरवाद की ओर झुक गये हैं। यदि आपका रवैया सिद्धान्तों पर अधिक आधारित होता तो आप एक सैद्धान्तिक संघर्ष को पदों के झगड़े में बदल डालने की इतनी कोशिश न करते। दोष आपका अपना है, क्योंकि आपने इसकी हर मुमकिन कोशिश की है कि आपको

लीग की कांग्रेस में यह ग्राम सवाल सामने ग्राया था कि क्या लीग ग्रथवा किसी समिति द्वारा ग्रपने लिए बनाये हुए नियमों को बिना केन्द्रीय समिति से पास कराये, या यदि केन्द्रीय समिति उनको ग्रस्वीकार कर दे तो भी उनको मान्य समझा जा सकता है? लगेगा, इससे ग्रधिक स्पष्ट बात ग्रौर कोई नहीं हो सकती: नियम संगठन की ग्रौपचारिक ग्रभिव्यक्ति होते हैं, ग्रौर पार्टी नियमावली की छठी धारा के ग्रनुसार समितियां संगठित करने का ग्रधिकार स्पष्टत: केवल केन्द्रीय समिति को है। नियम किसी समिति के स्वायत्त शासन के ग्रधिकार की सीमाग्रों को निर्धारित करते हैं, ग्रौर इन सीमाग्रों को निर्धारित करने में निर्णायक ग्रावाज़ पार्टी की स्थानीय संस्था की नहीं बल्कि किसी केन्द्रीय संस्था की होनी चाहिए। **यह बिल्कुल बुनियादी बात है** ग्रौर बड़ी गम्भीर मुद्रा बनाकर यह दलील देना सरासर बचपना है कि "संगठित करने" का मतलब सदा "नियमों को स्वीकृति देना" नहीं होता (जैसे कि ख़ुद लीग ने ग्रपने ग्राप बाक़ायदा नियमों के ग्राधार पर संगठित किये जाने की इच्छा नहीं प्रकट की थी)। लेकिन, कामरेड मार्तोव तो सामाजिक-जनवाद का क-ख-ग भी भूल गये हैं (हम ग्राशा करते हैं, यह चीज़ ग्रस्थायी है)। उनकी राय में, नियमों को केन्द्रीय समिति से स्वीकार कराने की मांग केवल यह बताती है कि "पहले की, क्रान्तिकारी, 'ईस्क्रा'-वादी केन्द्रीयता के स्थान पर नौकरशाही केन्द्रीयता क़ायम की जा रही है" (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ९५), ग्रौर कामरेड मार्तोव ने इसी भाषण में कहा कि, वास्तव में यहीं पर उस "सिद्धान्त" का प्रश्न ग्राता है जिस पर बहस है (पृष्ठ ९६) – हालांकि ग्रपनी 'घेरे की स्थिति' में उन्होंने इसी सिद्धान्त को भुला देना बेहतर समझा था!

सिद्धान्तनिष्ठ ग्रादमी समझना ग्रसम्भव हो जाये। उदाहरण के लिए कामरेड मार्तोव को लीजिये: 'घेरे की स्थिति' में लीग की कांग्रेस की चर्चा करते हुए वह ग्रराजकतावाद के प्रश्न पर प्लेख़ानोव के साथ ग्रपनी बहस का तो कोई ज़िक्र नहीं करते, मगर यह कहने से नहीं चूकते कि लेनिन एक परम-केन्द्र है; उसने ग्रांख से इशारा किया नहीं कि केन्द्र फ़रमान जारी कर देता है, कि केन्द्रीय समिति ने कभी लीग की परवाह नहीं की है ग्रौर सदा ग्रपनी मनमानी चलायी है, ग्रादि। ज़ाहिर है, मैं इसमें कोई सन्देह कैसे कर सकता हूं कि इस विषय को चुनकर ही कामरेड मार्तोव ने ग्रपने ग्रादर्शों तथा सिद्धान्तों की गम्भीरता का परिचय दिया है।

कामरेड प्लेखानोव ने फ़ौरन मार्तोव को जवाब देते हुए दरख़्वास्त की कि नौकरशाही या पोम्पादूरवाद, जैसे शब्दों का प्रयोग न किया जाये क्योंकि "उनसे कांग्रेस की गरिमा को धक्का पहुंचता है" (पृष्ठ ९६)। इस पर कामरेड मार्तोव के साथ उनकी कुछ कहा-सुनी हो गयी, जो इस तरह के शब्दों को "एक ख़ास प्रवृत्ति के सिद्धान्तों का निरूपण" मानते थे। **उस वक़्त** बहुमत के अन्य सभी समर्थकों की तरह, कामरेड प्लेखानोव भी इन शब्दों का असली मूल्य समझते थे और साफ़ तौर पर जानते थे कि उनका सम्बंध, हम कह सकते हैं, सिद्धान्तों की दुनिया से नहीं, बल्कि "नये नाम जुड़वाने" की दुनिया से है। फिर भी, उन्होंने मार्तोव और डेयट्श जैसे लोगों के आग्रह को मानकर (पृष्ठ ९६-९७) इन तथाकथित सिद्धान्तों पर **सिद्धान्त की दृष्टि से** विचार करना आरम्भ किया। उन्होंने कहा: "यदि बात ऐसी ही होती" (यानी अगर समितियों को अपना संगठन बनाने और अपने नियम तैयार करने के मामले में पूरी स्वतंत्रता होती) "तो वे पूरी इकाई के, पार्टी के सम्बन्ध में भी आज़ाद होतीं। मगर यह तो बुंद-वादियों का भी दृष्टिकोण नहीं है, यह तो सरासर अराजकतावादी दृष्टिकोण है। अराजकतावादी ठीक इसी तरह की दलीलें देते हैं: व्यक्तियों के अधिकार असीमित होते हैं; वे आपस में टकरा सकते हैं; हर व्यक्ति अपने अधिकारों की सीमा ख़ुद तै करता है। स्थानीय दलों के स्वायत्त अधिकारों की सीमाएं ख़ुद इन दलों को नहीं, बल्कि उस सम्पूर्ण इकाई को तै करना चाहिए जिसके कि ये दल भाग होते हैं। इस सिद्धान्त को भंग करने का एक स्पष्ट उदाहरण बुंद का था। इसलिए स्थानीय संगठनों के स्वायत्त अधिकारों की सीमाएं या तो कांग्रेस निश्चित करती है और या कांग्रेस द्वारा नियुक्त की गयी सबसे ऊंची संस्था करती है। केन्द्रीय संस्था की सत्ता को उसकी नैतिक तथा बौद्धिक प्रतिष्ठा पर आधारित होना चाहिए। इससे, ज़ाहिर है, मैं सहमत हूं। संगठन के प्रत्येक प्रतिनिधि को संगठन की केन्द्रीय संस्था की नैतिक प्रतिष्ठा का ख़याल होना चाहिए। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि प्रतिष्ठा तो आवश्यक है, किन्तु सत्ता आवश्यक नहीं है... विचारों की प्रतिष्ठा के मुक़ाबले में सत्ता की प्रतिष्ठा को खड़ा करना अराजकतावादी बकवास है, जिसके लिए यहां कोई स्थान नहीं होना चाहिए।" (पृष्ठ ९८) ये बड़े प्राथमिक सिद्धान्त हैं, सच तो यह है कि ये स्वतःसिद्ध सिद्धान्त हैं, जिन पर

वोट लेना (पृष्ठ १०२) भी एक अजीबोग़रीब बात थी, और जिनके बारे में यदि सन्देह प्रकट किया गया तो सिर्फ़ इसीलिए कि "आजकल सारी धारणाएं गड़बड़ा गयी हैं" (ऊपर उद्धृत किये हुए अंश में देखिये)। लेकिन अल्पमत के लोगों में बुद्धिजीवियों का जो व्यक्तिवाद है, उसने अवश्यम्भावी रूप से उन्हें उस जगह पर पहुंचा दिया जहां वे कांग्रेस में फूट डालने और बहुमत की इच्छा को न मानने की सोचने लगे। और उनकी इस इच्छा को **अराजकतावादी दलीलों** के अलावा और किसी प्रकार उचित नहीं ठहराया जा सकता था। यह बात भी बहुत मज़ेदार है कि प्लेख़ानोव के जवाब में अल्पमत के पास इन **शिकायतों** के अलावा और कुछ कहने को नहीं था कि प्लेख़ानोव अवसरवाद, अराजकतावाद जैसे ज़रूरत से ज़्यादा सख़्त शब्दों का प्रयोग करते हैं। प्लेख़ानोव ने इन शिकायतों का ठीक ही ख़ूब मज़ाक़ बनाया और पूछा कि "इसकी क्या वजह है कि जोरेसवाद और अराजकतावाद जैसे शब्दों का प्रयोग तो अनुचित है मगर राजद्रोह और पोम्पादूरवाद, आदि शब्दों का प्रयोग उचित है?" उनके सवाल का कोई जवाब नहीं मिला। जैसे को तैसा – कामरेड मार्तोव, अक्सेलरोद और उनके संगी-साथी अक्सर इस तरह की ग़लतफ़हमी में पड़ते हैं; उनके नये नारों पर साफ़-साफ़ खीझ की छाप है; लेकिन अगर उनसे यह बात कह दीजिये तो वे नाराज़ हो जाते हैं – वे सिद्धान्तनिष्ठ आदमी जो ठहरे। उनसे कहा जाता है, अगर आप लोग इससे इनकार करते हैं कि अंश को **सिद्धान्ततः** पूर्ण के आधीन होना चाहिए तो आप अराजकतावादी हैं। और यह सुनते ही वे फिर नाराज़ हो जाते हैं; क्योंकि यह शब्द भी उनके लिए बहुत सख़्त है! दूसरे शब्दों में, ये लोग प्लेख़ानोव से लड़ना तो चाहते हैं, मगर इस शर्त पर कि वह पलटकर भरपूर वार न करें!

कामरेड मार्तोव और दूसरे "मेंशेविकों" की एक और हरकत इससे कम बचपने की हरकत नहीं है। उन्होंने कितनी ही बार मेरी बातों में एक "विरोध" पकड़ा है। पहले वे 'क्या करें?' या 'एक साथी के नाम पत्र' से एक अंश उद्धृत करते हैं जिसमें सैद्धान्तिक प्रभाव की और प्रभाव पैदा करने के संघर्ष, आदि, की चर्चा की गयी है, और फिर उसके मुक़ाबले में नियमों की मदद से प्रभावित करने के "नौकरशाही" तरीक़े को, अधिकार पर निर्भर रहने की "तानाशाही" प्रवृत्ति, आदि, को पेश करते हैं। कितने भोले हैं, ये लोग!

ये अभी से यह बात भूल गये हैं कि **पहले** हमारी पार्टी बाज़ाब्ता तौर पर संगठित इकाई नहीं थी, बल्कि अलग-अलग दलों का एक समूह भर थी, और इसलिए उस वक़्त इन दलों के बीच सैद्धान्तिक प्रभाव के अतिरिक्त और किसी प्रकार का सम्बन्ध मुमकिन नहीं था। **अब** हम एक संगठित पार्टी बन गये हैं, और इसका मतलब यह है कि अधिकार की स्थापना हो गयी है, विचारों की प्रतिष्ठा अधिकार की प्रतिष्ठा में रूपान्तरित हो गयी है; पार्टी की नीचे की संस्थाएं ऊंची संस्थाओं के अधीन बना दी गयी हैं। ऐसे प्राथमिक विचारों को अपने पुराने साथियों के लिए चबा-चबाकर पेश करना, और वह भी उस हालत में जब कि आदमी यह महसूस करता हो कि यह पूरा सवाल इसलिए पैदा हुआ है कि अल्पमत चुनावों के मामले में बहुमत का निर्णय मानने को तैयार नहीं है – इसमें सचमुच बहुत तकलीफ़ होती है! लेकिन **सिद्धान्त के दृष्टिकोण से**, मेरी परस्पर विरोधी बातों का यह विवेचन अराजकतावादी दलीलों के **सिवा और कुछ नहीं है।** नये 'ईस्क्रा' को एक पार्टी संस्था की उपाधि और अधिकार तो बुरे नहीं लगते, मगर वह पार्टी के बहुमत के आदेशों को मानने को नहीं तैयार है।

यदि नौकरशाही की चर्चा में किसी प्रकार का कोई भी सिद्धान्त निहित है; यदि वह केवल अराजकतावादियों की तरह इस बात से इनकार करने के लिए नहीं है कि सम्पूर्ण इकाई के अधीन रहना उसके प्रत्येक अंश का कर्तव्य है, तो उसका आधार **अवसरवाद का सिद्धान्त** है जो कि सर्वहारा की पार्टी के प्रति अलग-अलग बुद्धिजीवियों की ज़िम्मेदारी को कम करना चाहता है, केन्द्रीय संस्थाओं के प्रभाव को कम करना चाहता है, पार्टी के सबसे कम दृढ़ता रखनेवाले तत्वों की स्वाधीनता को बढ़ाना चाहता है, और संगठनात्मक सम्बन्धों को ज़बानी उन्हें स्वीकार करने तक ही सीमित कर देना चाहता है। हम पार्टी कांग्रेस में यह चीज़ देख चुके हैं, जहां कि अकीमोव और लाइबर जैसे लोगों ने भी "दैत्याकार" केन्द्रीयता के बारे में ठीक उसी तरह के भाषण दिये थे जैसे लीग की कांग्रेस में मार्तोव और उनके संगी-साथियों के मुंह से सुनायी दिये। नये 'ईस्क्रा' में कामरेड अक्सेलरोद के लेख पर विचार करते समय हम देखेंगे कि संगठन के बारे में मार्तोव और अक्सेलरोद-मार्का "विचार" इसी अवसरवाद से पैदा होते हैं, और संयोगवश नहीं बल्कि उसकी प्रकृत्ति के ही कारण और अकेले रूस में ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में।

ध) छोटी-छोटी बातें बुरी लगें तो बड़ी ख़ुशी को नहीं भूल जाना चाहिए

लीग का इस प्रस्ताव को ठुकरा देना कि उसे अपने नियमों को केन्द्रीय समिति से स्वीकार कराना चाहिए (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ १०५), "**पार्टी की नियमावली का खुला उल्लंघन था**", जैसा कि पार्टी कांग्रेस के बहुमत ने फ़ौरन एकमत से ऐलान किया। यदि इस काम को सिद्धान्तनिष्ठ लोगों के काम के रूप में देखा जाये तो वह सरासर अराजकतावाद था। लेकिन कांग्रेस के बाद जो संघर्ष आरम्भ हुआ था, उसके वातावरण में लोगों ने अवश्यम्भावी रूप से उसका यह मतलब लगाया कि पार्टी का अल्पमत पार्टी के बहुमत से "बदला लेने" की कोशिश कर रहा है (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ११२), और इससे यह ज़ाहिर होता है कि ये लोग पार्टी के आदेशों को नहीं मानना चाहते या पार्टी में रहना नहीं चाहते। लीग ने केन्द्रीय समिति के उस वक्तव्य पर कोई प्रस्ताव पास करने से इनकार कर दिया जिसमें कहा गया था कि लीग के नियमों में परिवर्तन करना आवश्यक है (पृष्ठ १२४-१२५)। इससे लाज़िमी तौर पर यह नतीजा निकला कि इस सम्मेलन को, जो कि अपने को एक पार्टी संगठन के सम्मेलन के रूप में **गिनवाना** चाहता था, मगर जो इसके साथ-साथ पार्टी की केन्द्रीय संस्था के आदेशों को नहीं मानना चाहता था, एक **ग़ैरक़ानूनी** सम्मेलन समझना पड़ा। इसलिए पार्टी बहुमत के अनुयायी इस नामधारी पार्टी सम्मेलन से फ़ौरन उठकर चले गये, ताकि इस भोंड़े तमाशे में उनका कोई हिस्सा न हो।

इस प्रकार, संगठनात्मक सम्बन्धों को केवल मौखिक रूप से माननेवाले बुद्धिजीवी का वह व्यक्तिवाद, जो नियमावली की पहली धारा के सिलसिले में ढुलमुलपन के रूप में प्रकट हुआ था, व्यवहार में आख़िर उसी तार्किक परिणाम पर पहुंच गया जिसकी मैंने सितम्बर में ही, यानी डेढ़ महीने पहले भविष्यवाणी की थी; अर्थात् उसने पार्टी संगठन को **नष्ट-भ्रष्ट** करना शुरू कर दिया। और जब यह क्षण आया, यानी जिस दिन लीग की कांग्रेस समाप्त हुई, उसी शाम को, कामरेड प्लेख़ानोव ने पार्टी की दोनों केन्द्रीय संस्थाओं के अपने सहयोगियों को सूचित किया कि "अपने साथियों पर गोली चलाना"

उनकी सहन-शक्ति के बाहर है, "पार्टी में फूट पड़े, इससे तो यह बेहतर है कि आदमी खुद अपने भेजे में गोली मार ले," और ज्यादा बड़ी बुराई से बचने के लिए यह ज़रूरी है कि असल में जिस चीज़ को लेकर यह सत्यानाशी संघर्ष चलाया जा रहा है (और क्योंकि पहली धारा के बारे में ग़लत रुख़ अपनाने के पीछे जो सिद्धान्त दिखायी पड़ते थे, उनसे इस संघर्ष का उतना ताल्लुक़ नहीं है), उसके सम्बन्ध में व्यक्तिगत रूप से अधिक से अधिक रिआयत करने को तैयार हो जाना चाहिए। कामरेड प्लेख़ानोव एकदम पलट गये। इस घटना ने चूंकि पूरी पार्टी के लिए महत्व प्राप्त कर लिया है, इसलिए मैं उसका बिल्कुल सही-सही वर्णन पेश करना चाहता हूं। और इस कारण निजी बातचीतों पर, या निजी ख़तों पर (जिनको मैं केवल उसी समय इस्तेमाल करूंगा जब और कोई चीज़ मेरे पास न होगी) भरोसा न करके मैं इस घटना के उस वर्णन पर भरोसा करूंगा जो खुद प्लेख़ानोव ने पूरी पार्टी को, 'ईस्क्रा' के ५२ वें अंक में प्रकाशित अपने लेख 'क्या नहीं करना चाहिए' में दिया है। यह लेख लीग की कांग्रेस के कुछ ही समय बाद लिखा गया था। उस वक़्त तक मैं केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल से इस्तीफ़ा दे चुका था (१ नवम्बर १९०३), मगर अभी मार्तोव-वादी उसमें नहीं जोड़े गये थे (२६ नवम्बर १९०३)।

'क्या नहीं करना चाहिए' शीर्षक लेख का मूल विचार यह है कि राजनीति में आदमी को स्पष्टवादी, बहुत सख़्त, और बहुत दृढ़ नहीं होना चाहिए, कि पार्टी को फूट से बचाने के लिए कभी-कभी (अपने निकट के लोगों में या ढुलमुल लोगों में) संशोधनवादियों और अराजकतावादी व्यक्तिवादियों तक के सामने झुक जाना पड़ता है। यह स्वाभाविक है कि इन हवाई सिद्धान्तों को सुनकर 'ईस्क्रा' के सभी पाठकों को उलझन और परेशानी हो। (बाद के लेखों में) जब हम कामरेड प्लेख़ानोव के ये शानदार और गर्वीले वचन पढ़ते हैं कि लोगों ने उनके विचारों की नवीनता तथा द्वन्द्ववाद के अपने अज्ञान के कारण उनको नहीं समझा तो बरबस हंसी आ जाती है। यह सच है कि जब 'क्या नहीं करना चाहिए' शीर्षक लेख लिखा गया था, तब उसको जेनेवा के केवल उन दो उपनगरों में, जिनके नाम एक ही अक्षर से आरम्भ होते हैं[195], रहनेवाले लगभग एक दर्जन व्यक्ति ही समझ पाये थे। कामरेड प्लेख़ानोव का दुर्भाग्य यह था कि वह इशारों, शिकायतों, बीजगणित के चिन्हों और पहेलियों

का एक ऐसा संकलन दस हज़ार व्यक्तियों के बीच घुमा रहे थे जो कि केवल कोई एक दर्जन उन व्यक्तियों के लिए तैयार किया गया था जिन्होंने कांग्रेस के बाद के अल्पमत-विरोधी संघर्ष में भाग लिया था। कामरेड प्लेख़ानोव को इस दुर्भाग्य का सामना इसलिए करना पड़ा कि उन्होंने उस द्वन्द्ववाद के एक बुनियादी सिद्धान्त का पालन नहीं किया था, जिसका कि उन्होंने दुर्भाग्य से यहां ज़िक्र भी कर दिया है, यानी यह सिद्धान्त कि निरपेक्ष सत्य कोई नहीं होता ; सत्य सदा ठोस होता है। इसलिए लीग की कांग्रेस के बाद मार्तोव-वादियों के सामने झुक जाने का जो बहुत ठोस विचार था, उसे अमूर्त्त और हवाई रूप देकर कामरेड प्लेख़ानोव ने बहुत ग़लत काम किया था।

झुक जाना – जिसका कि कामरेड प्लेख़ानोव एक नये युद्ध-घोष के रूप में प्रचार कर रहे थे – दो सूरतों में उचित और आवश्यक होता है। या तो उस वक़्त जब कि झुकनेवाले को यह विश्वास हो गया हो कि जो लोग उसको झुकवाने की कोशिश कर रहे हैं वे सही हैं (ऐसी सूरत में, ईमानदार राजनीतिज्ञ खुलेआम और साफ़-साफ़ अपनी ग़लती तस्लीम कर लेते हैं); और या उस वक़्त जब कि एक ज़्यादा बड़ी बुराई से बचने के लिए एक अविवेकपूर्ण तथा हानिकारक मांग मान ली जाती है। कामरेड प्लेख़ानोव के लेख से यह बात बिल्कुल साफ़ है कि उनके दिमाग़ म दूसरी सूरत है। वह साफ़-साफ़ संशोधनवादियों और अराजकतावादी व्यक्तिवादियों के सामने (अर्थात्, जैसा कि लीग की कार्यवाही से पार्टी के हर सदस्य को मालूम है, मार्तोव-वादियों के सामने) झुक जाने की बात कहते हैं और यह भी कहते हैं कि पार्टी को फूट से बचाने के लिए यह करना ज़रूरी है। जैसा कि हम देखते हैं, जिसे कामरेड प्लेख़ानोव अपना नवीन विचार बताते हैं, वह बहुत पुराना, दुनियादारी वाला विचार है कि छोटी-छोटी बातें बुरी लगें तो उनकी वजह से बड़ी खुशी का मज़ा किरकिरा नहीं होने देना चाहिए, कि थोड़ी-सी अवसरवादी मूर्खता और थोड़ी-सी अराजकतावादी बातें पार्टी में बड़ी फूट से बेहतर हैं। जब कामरेड प्लेख़ानोव ने यह लेख लिखा था तब वह यह अच्छी तरह समझते थे कि अल्पमत पार्टी के अवसरवादी पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है और वह अराजकतावादी अस्त्रों से लड़ रहा है। कामरेड प्लेख़ानोव ने ठीक उसी तरह व्यक्तिगत रियायतों के ज़रिये इस अल्पमत का मुक़ाबला करने की

योजना बनायी (अगर छोटी चीज़ की तुलना बड़ी चीज़ से करने की इजाज़त दें), जिस तरह जर्मन सामाजिक-जनवादियों ने बर्न्सटीन का मुक़ाबला किया था। अपनी पार्टी की कांग्रेसों में बेबेल ने खुलेआम ऐलान किया था कि कामरेड बर्न्सटीन (मि० बर्न्सटीन नहीं, जैसा कि कामरेड प्लेख़ानोव एक समय कहा करते थे, बल्कि कामरेड बर्न्सटीन) अपने इर्दगिर्द के वातावरण से जितने अधिक प्रभावित होते हैं उतना अधिक प्रभावित होते हुए उन्होंने और किसी को नहीं देखा है; इसलिए उनको हमें अपने वातावरण में ले आना चाहिए, उन्हें राइख़स्टाग का सदस्य बना देना चाहिए, और संशोधनवाद का मुक़ाबला हमें (सोबाकेविच[196]-पार्वुस के ढंग से) संशोधनवादी के साथ ज़रूरत से ज़्यादा सख़्ती दिखाकर नहीं, बल्कि "उसे दया की मार से मारकर" करना चाहिए (kill with kindness)। मुझे याद आ रहा है कि अंग्रेज़ सामाजिक-जनवादियों की एक सभा में कामरेड एम० बियर ने अंग्रेज सोबाकेविच-हिन्दमैन के हमलों के खिलाफ़ जर्मन मेल-मुरव्वत, शान्तिप्रियता, दया, नमनीयता और विवेक की हिमायत में ठीक इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया था। ठीक इसी प्रकार कामरेड अक्सेलरोद और कामरेड मार्तोव के थोड़े-से अवसरवाद और थोड़े-से अराजकतावाद को कामरेड प्लेख़ानोव "दया की मार से मार डालना" चाहते हैं। यह सच है कि कामरेड प्लेख़ानोव ने अराजकतावादी व्यक्तिवादियों के बारे में तो बहुत स्पष्ट संकेत किये थे, किन्तु संशोधनवादियों का उन्होंने जानबूझकर बहुत अस्पष्ट ढंग से ज़िक्र किया था; यह ज़िक्र उन्होंने इस ढंग से किया था जिससे सुननेवालों को लगे कि वह **सिद्धान्तों के दृढ़ पालन से अवसरवाद की ओर** मुड़नेवाले अक्सेलरोद और मार्तोव का नहीं, बल्कि 'राबोचेये देलो'-वादियों का ज़िक्र कर रहे हैं, जो कि अवसरवाद से सिद्धान्तों के दृढ़ पालन की ओर मुड़ रहे थे। मगर यह महज़ एक फ़ौजी चाल थी*, यह एक इतनी कमज़ोर क़िलेबन्दी थी जो पार्टी-प्रचार के तोपख़ाने की मार के सामने टिक नहीं सकती थी।

---

*पार्टी कांग्रेस के बाद कामरेड मार्तिनोव, अकीमोव और ब्रूकर के लिए रिआयतें करने का कभी कोई सवाल नहीं उठा था; मेरी जानकारी में उन्होंने कभी यह मांग नहीं की कि उनके नाम भी "जोड़ लिये जायें"। मुझे इसमें भी शक है कि जब

श्रौर इसलिए, जिस राजनीतिक श्रवसर की हम चर्चा कर रहे हैं, उस समय की ठोस परिस्थिति का यदि किसी ने कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, श्रौर यदि उसने कामरेड प्लेख़ानोव की मनोवृत्ति का कुछ भी श्रध्ययन किया है, तो वह इस बात को समझेगा कि उस वक़्त मैंने जो कुछ किया उसके सिवा मैं श्रौर कुछ नहीं कर सकता था। यह बात मैं बहुमत के उन समर्थकों को ध्यान में रखकर कह रहा हूं जिनको मुझसे यह शिकायत है कि मैंने सम्पादक-मण्डल को श्रौरों के हाथ में सौंप दिया। जब लीग की कांग्रेस के बाद कामरेड प्लेख़ानोव एकदम पलट गये श्रौर बहुमत के समर्थक होने से हर क़ीमत पर सुलह-समझौते के समर्थक बन गये, तब मेरे लिए ज़रूरी हो गया कि उनके मत-परिवर्तन का जो सबसे श्रच्छा श्रर्थ लगा सकता था वह लगाऊं। क्या ऐसा तो नहीं है कि कामरेड प्लेख़ानोव श्रपने लेख में राज़ी-ख़ुशी श्रौर ईमानदारी के साथ शान्ति स्थापित करने का कोई कार्यक्रम पेश करना चाहते थे? ऐसे तमाम कार्यक्रमों की मूल बात यह होती है कि दोनों पक्षों को सच्चे मन से श्रपनी ग़लती माननी पड़ती है। तो फिर कामरेड प्लेख़ानोव ने बहुमत की

कामरेड स्तारोवेर या कामरेड मार्तोव ने "श्राधी पार्टी" के नाम से हमें पत्र श्रौर "नोट" लिखकर भेजे थे, तब उन्होंने कामरेड ब्रूकर से पहले सलाह ली थी। लीग की कांग्रेस में, कामरेड मार्तोव ने, एक कभी न झुकनेवाले राजनीतिक महारथी का क्रोध-भाव दिखलाते हुए कहा था कि "रियाज़ानोव या मार्तिनोव के साथ एकता" का, उनके साथ किसी "सौदे" की संभावना का या उनके साथ मिलकर (एक सम्पादक के रूप में; देखिये लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ५३) "पार्टी की सेवा करने" का भी विचार तक उनको मंजूर नहीं है। लीग की कांग्रेस में कामरेड मार्तोव ने "मार्तिनोववादी प्रवृत्तियों" की सख़्त निन्दा की थी (पृष्ठ ८८); श्रौर जब कामरेड श्रार्थोडाक्स[197] ने बड़े युक्तिपूर्ण ढंग से इसका संकेत किया कि श्रक्सेल्रोद श्रौर मार्तोव निस्सन्देह "यह मानते होंगे कि कामरेड श्रकीमोव, मार्तिनोव तथा दूसरे लोगों को भी साथ मिल बैठने श्रौर श्रपने लिए नियम तैयार करने तथा श्रपनी मर्ज़ी के मुताबिक उन नियमों के श्रनुसार काम करने का हक़ है" (पृष्ठ ९९), तो मार्तोव-वादियों ने इस बात से वैसे ही इंकार किया जैसे पीटर ने ईसा के संबंध में इंकार किया था (पृष्ठ १००: "श्रकीमोव, मार्तिनोव श्रादि जैसे लोगों के बारे में" "कामरेड श्रार्थोडाक्स की श्राशंकाश्रों का" "कोई श्राधार नहीं है")।

कौनसी ग़लती बतायी? यह कि वे संशोधनवादियों के साथ ज़रूरत से ज़्यादा सख़्ती से पेश आते हैं—ऐसी सख़्ती से जो किसी सोबाकेविच को ही शोभा दे सकती है। हम नहीं जानते कि यह कहते समय कामरेड प्लेख़ानोव के दिमाग़ में कौनसी बात थी—उनका अपना गधों वाला मज़ाक़, या अक्सेलरोद की मौजूदगी में बिल्कुल असावधानी के साथ उनका अराजकतावाद और अवसरवाद की चर्चा करने लगना। कामरेड प्लेख़ानोव ने बड़े "अमूर्त ढंग से" अपनी बात कहना बेहतर समझा, और वह भी किसी और की तरफ़ संकेत करते हुए। पर यह तो, ज़ाहिर है, अपनी-अपनी रुचि की बात है। लेकिन, आख़िर मैंने तो 'ईस्क्रा'-वादी के नाम अपने पत्र में और लीग की कांग्रेस में अपने भाषण में अपनी व्यक्तिगत सख़्ती खुले तौर पर क़बूल कर ही ली थी। फिर मैं यह मानने से कैसे इनकार करता कि बहुमत ने यह "ग़लती" की थी? जहां तक अल्पमत का सम्बन्ध है, कामरेड प्लेख़ानोव ने बहुत साफ़-साफ़ शब्दों में उनकी ग़लती बतायी, यानी संशोधनवाद (पार्टी कांग्रेस में अवसरवाद के बारे में और लीग की कांग्रेस में जोरेसवाद के बारे में उनके कथनों की ओर ध्यान दीजिये) और अराजकतावाद जिससे पार्टी में फूट पड़ गयी थी। अल्पमत से ये ग़लतियां स्वीकार कराने और उनसे होनेवाले नुक़सान को व्यक्तिगत रिआयतों तथा आम "मेहरबानी" के ज़रिये दूर करने की कोशिशों के रास्ते में मैं कोई अड़ंगा कैसे डाल सकता था? मैं इस तरह की किसी भी कोशिश का विरोध कैसे कर सकता था जब कि कामरेड प्लेख़ानोव ने अपने 'क्या नहीं करना चाहिए' शीर्षक लेख में हमसे सीधे-सीधे संशोधनवादियों में **"अपने उन विरोधियों को बख़्श देने"** की अपील की थी, जो "केवल ज़रा-सी असंगति के कारण" संशोधनवादी बन गये थे? और यदि ख़ुद मेरा इस कोशिश में कोई विश्वास नहीं था तब मैं इसके सिवाय और क्या कर सकता था कि केन्द्रीय मुखपत्र के बारे में व्यक्तिगत रिआयत कर दूं और फिर केन्द्रीय समिति में जम जाऊं और वहां बहुमत के दृष्टिकोण की रक्षा करूं?* यह कहकर कि इस तरह की कोशिश

---

*कामरेड मार्तोव ने इसके लिए बिल्कुल सही शब्दों का प्रयोग किया था जब उन्होंने यह कहा था कि मैं अपने अस्त्र-शस्त्रों के साथ सम्पादक-मण्डल से केन्द्रीय समिति में चला गया। कामरेड मार्तोव को सैनिक उपमाओं का बहुत

हरगिज़ नहीं हो सकती, मैं पार्टी में फूट डालने की पूरी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर तो नहीं ले सकता था। और किसी वजह से नहीं तो केवल इसलिए कि ६ अक्तूबर के ख़त में मैंने ख़ुद भी "व्यक्तिगत ग़ुस्से" को ही इस झगड़े का कारण ठहराने की प्रवृत्ति दिखायी थी। लेकिन, बहुमत के दृष्टिकोण की हिमायत करना मैं अपना राजनीतिक कर्त्तव्य समझता था और आज भी समझता हूं। इस काम में कामरेड प्लेख़ानोव पर भरोसा करना मुश्किल और ख़तरनाक था, क्योंकि हर चीज़ से यही प्रकट होता था कि वह अपने इस वाक्य का कि – "जब ग़ुस्से की वजह से दिमाग़ राजनीतिक विवेक के ख़िलाफ़ काम करने लगे तब सर्वहारा के नेता को ग़ुस्से में बह जाने का कोई अधिकार नहीं होता" – यह द्वन्द्ववादी अर्थ लगाने को तैयार बैठे हैं कि अगर गोली चलानी ही है तो बुद्धिमानी इसमें है कि (नवम्बर में जेनेवा के मौसम को ध्यान में रखते हुए) बहुमत पर गोली चलायी जाये... बहुमत के दृष्टिकोण की रक्षा करना आवश्यक था, क्योंकि क्रान्तिकारी की स्वतंत्र (?) इच्छा के प्रश्न की चर्चा करते हुए, कामरेड प्लेख़ानोव द्वन्द्ववाद के सिद्धान्तों की अवहेलना करके, जो कि हर प्रश्न की

शौक़ है: लीग पर चढ़ाई, मुठभेड़, न भरनेवाले घाव, इत्यादि, इत्यादि। सच पूछिये तो सैनिक उपमाएं मुझे भी बहुत पसन्द हैं – ख़ासकर आजकल जब कि हम लोग प्रशान्त महासागर के मोर्चे की ख़बरें इतने चाव से पढ़ते हैं। लेकिन, कामरेड मार्तोव, यदि हमें फ़ौजी भाषा का ही प्रयोग करना है तो स्थिति यह थी: पार्टी कांग्रेस में हम दो क़िलों पर क़ब्ज़ा करते हैं। लीग की कांग्रेस में आप उनपर हमला करते हैं। दोनों तरफ़ से कुछ गोलियां चलने के बाद, मेरा सहयोगी, एक क़िलेदार क़िले के फाटक दुश्मन के लिए खोल देता है। स्वभावतया, मैं अपनी थोड़ी-सी तोपें बटोरकर दूसरे क़िले में चला आता हूं जिसकी रक्षा की लगभग कोई व्यवस्था नहीं है, ताकि मैं वहां बैठकर दुश्मन की अपने से कहीं बड़ी फ़ौज की "घेरेबंदी का मुक़ाबला" कर सकूं। मैं शान्ति के प्रस्ताव भी करता हूं। क्योंकि दो-दो शक्तियों के ख़िलाफ़ मैं आख़िर कितनी देर तक टिक सकूंगा? लेकिन मेरे प्रस्तावों के उत्तर में ये नये दोस्त मेरे आख़िरी क़िले पर गोलाबारी शुरू कर देते हैं। मैं गोलों का जवाब गोलों से देता हूं। उस पर मेरा भूतपूर्व सहयोगी – वह क़िलेदार – बड़ी शान से मुंह बनाकर कहता है: "ज़रा देखो, भलेमानसो, यह चैम्बरलेन कितना झगड़ालू है!"

कौनसी ग़लती बतायी? यह कि वे संशोधनवादियों के साथ ज़रूरत से ज़्यादा सख़्ती से पेश आते हैं–ऐसी सख़्ती से जो किसी सोबाकेविच को ही शोभा दे सकती है। हम नहीं जानते कि यह कहते समय कामरेड प्लेख़ानोव के दिमाग़ में कौनसी बात थी–उनका अपना गधों वाला मजाक़, या अक्सेलरोद की मौजूदगी में बिल्कुल असावधानी के साथ उनका अराजकतावाद और अवसरवाद की चर्चा करने लगना। कामरेड प्लेख़ानोव ने बड़े "अमूर्त ढंग से" अपनी बात कहना बेहतर समझा, और वह भी किसी और की तरफ़ संकेत करते हुए। पर यह तो, जाहिर है, अपनी-अपनी रुचि की बात है। लेकिन, आख़िर मैंने तो 'ईस्क्रा'-वादी के नाम अपने पत्र में और लीग की कांग्रेस में अपने भाषण में अपनी व्यक्तिगत सख़्ती खुले तौर पर क़बूल कर ही ली थी। फिर मैं यह मानने से कैसे इनकार करता कि बहुमत ने यह "ग़लती" की थी? जहां तक अल्पमत का सम्बन्ध है, कामरेड प्लेख़ानोव ने बहुत साफ़-साफ़ शब्दों में उनकी ग़लती बतायी, यानी संशोधनवाद (पार्टी कांग्रेस में अवसरवाद के बारे में और लीग की कांग्रेस में जोरेसवाद के बारे में उनके कथनों की ओर ध्यान दीजिये) और अराजकतावाद जिससे पार्टी में फूट पड़ गयी थी। अल्पमत से ये ग़लतियां स्वीकार कराने और उनसे होनेवाले नुक़सान को व्यक्तिगत रिआयतों तथा आम "मेहरबानी" के ज़रिये दूर करने की कोशिशों के रास्ते में मैं कोई अड़ंगा कैसे डाल सकता था? मैं इस तरह की किसी भी कोशिश का विरोध कैसे कर सकता था जब कि कामरेड प्लेख़ानोव ने अपने 'क्या नहीं करना चाहिए' शीर्षक लेख में हमसे सीधे-सीधे संशोधनवादियों में **"अपने उन विरोधियों को बख़्श देने"** की अपील की थी, जो "केवल ज़रा-सी असंगति के कारण" संशोधनवादी बन गये थे? और यदि ख़ुद मेरा इस कोशिश में कोई विश्वास नहीं था तब मैं इसके सिवाय और क्या कर सकता था कि केन्द्रीय मुखपत्र के बारे में व्यक्तिगत रिआयत कर दूं और फिर केन्द्रीय समिति में जम जाऊं और वहां बहुमत के दृष्टिकोण की रक्षा करूं?* यह कहकर कि इस तरह की कोशिश

---

*कामरेड मार्तोव ने इसके लिए बिल्कुल सही शब्दों का प्रयोग किया था जब उन्होंने यह कहा था कि मैं अपने अस्त्र-शस्त्रों के साथ सम्पादक-मण्डल से केन्द्रीय समिति में चला गया। कामरेड मार्तोव को सैनिक उपमाओं का बहुत

हरगिज़ नहीं हो सकती, मैं पार्टी में फूट डालने की पूरी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर तो नहीं ले सकता था। और किसी वजह से नहीं तो केवल इसलिए कि ६ अक्तूबर के ख़त में मैंने ख़ुद भी "व्यक्तिगत ग़ुस्से" को ही इस झगड़े का कारण ठहराने की प्रवृत्ति दिखायी थी। लेकिन, बहुमत के दृष्टिकोण की हिमायत करना मैं अपना राजनीतिक कर्त्तव्य समझता था और आज भी समझता हूं। इस काम में कामरेड प्लेख़ानोव पर भरोसा करना मुश्किल और ख़तरनाक था, क्योंकि हर चीज़ से यही प्रकट होता था कि वह अपने इस वाक्य का कि—"जब ग़ुस्से की वजह से दिमाग़ राजनीतिक विवेक के ख़िलाफ़ काम करने लगे तब सर्वहारा के नेता को ग़ुस्से में बह जाने का कोई अधिकार नहीं होता"—यह द्वन्द्ववादी अर्थ लगाने को तैयार बैठे हैं कि अगर गोली चलानी ही है तो बुद्धिमानी इसमें है कि (नवम्बर में जेनेवा के मौसम को ध्यान में रखते हुए) बहुमत पर गोली चलायी जाये... बहुमत के दृष्टिकोण की रक्षा करना आवश्यक था, क्योंकि क्रान्तिकारी की स्वतंत्र (?) इच्छा के प्रश्न की चर्चा करते हुए, कामरेड प्लेख़ानोव द्वन्द्ववाद के सिद्धान्तों की अवहेलना करके, जो कि हर प्रश्न की

शौक़ है: लीग पर चढ़ाई, मुठभेड़, न भरनेवाले घाव, इत्यादि, इत्यादि। सच पूछिये तो सैनिक उपमाएं मुझे भी बहुत पसन्द हैं—ख़ासकर आजकल जब कि हम लोग प्रशान्त महासागर के मोर्चे की ख़बरें इतने चाव से पढ़ते हैं। लेकिन, कामरेड मार्तोव, यदि हमें फ़ौजी भाषा का ही प्रयोग करना है तो स्थिति यह थी: पार्टी कांग्रेस में हम दो क़िलों पर क़ब्ज़ा करते हैं। लीग की कांग्रेस में आप उनपर हमला करते हैं। दोनों तरफ़ से कुछ गोलियां चलने के बाद, मेरा सहयोगी, एक क़िलेदार क़िले के फाटक दुश्मन के लिए खोल देता है। स्वभावतया, मैं अपनी थोड़ी-सी तोपें बटोरकर दूसरे क़िले में चला आता हूं जिसकी रक्षा की लगभग कोई व्यवस्था नहीं है, ताकि मैं वहां बैठकर दुश्मन की अपने से कहीं बड़ी फ़ौज की "घेरेबंदी का मुक़ाबला" कर सकूं। मैं शान्ति के प्रस्ताव भी करता हूं। क्योंकि दो-दो शक्तियों के ख़िलाफ़ मैं आख़िर कितनी देर तक टिक सकूंगा? लेकिन मेरे प्रस्तावों के उत्तर में ये नये दोस्त मेरे आख़िरी क़िले पर गोलाबारी शुरू कर देते हैं। मैं गोलों का जवाब गोलों से देता हूं। उस पर मेरा भूतपूर्व सहयोगी—वह क़िलेदार—बड़ी शान से मुंह बनाकर कहता है: "ज़रा देखो, भलेमानसो, यह चैम्बरलेन कितना झगड़ालू है!"

ठोस और विशद समीक्षा का तक़ाज़ा करते हैं – **क्रान्तिकारी में विश्वास** की समस्या से, "सर्वहारा के उस नेता" में जो कि पार्टी के एक निश्चित पक्ष का नेतृत्व कर रहा है, विश्वास की समस्या से बहुत विनम्रता के साथ कतरा गये। अराजकतावादी व्यक्तिवाद की चर्चा करते समय और हमें यह सलाह देते समय कि "कभी-कभी" हमें अनुशासन तोड़ने की घटनाओं की ओर से आंखें बन्द कर लेनी चाहिए और "कभी-कभी" बुद्धिजीवियों की उस स्वेच्छाचारिता के सामने सिर झुका देना चाहिए "जिसकी जड़ एक ऐसी भावना में है जिसका क्रान्तिकारी विचार के प्रति वफ़ादारी से कोई सम्बन्ध नहीं है," कामरेड प्लेख़ानोव स्पष्टतः यह भूल गये कि हमें पार्टी के बहुमत की सद्भावना का भी तो ख़याल रखना होगा और इस बात का निर्णय **केवल व्यावहारिक कार्यकर्त्ता ही कर सकते हैं** कि अराजकतावादी व्यक्तिवादियों के लिए **किस हद तक** रिआयतें की जायें। जिस तरह बचपने से भरी अराजकतावादी बकवास के विरुद्ध साहित्यिक संघर्ष चलाना आसान है, उसी तरह अराजकतावादी व्यक्तिवादी के साथ एक ही संगठन में व्यावहारिक काम करना मुश्किल भी है। व्यवहार में अराजकतावाद के लिए कितनी रिआयतें की जायें, यदि इसका निर्णय करने की ज़िम्मेदारी कोई लेखक अपने ऊपर लेता है तो इसका सिर्फ़ यही मतलब है कि वह अपने अत्यधिक तथा सचमुच मतवादी साहित्यिक अहंकार का प्रदर्शन कर रहा है। कामरेड प्लेख़ानोव ने (जैसा कि बज़ारोव[198] कहा करते थे, चीज़ के महत्व के कारण) बड़े शानदार अन्दाज़ में कहा कि अगर पार्टी में कोई नयी फूट पैदा हो गयी तो फिर भविष्य में मज़दूर हमें समझ न पायेंगे; लेकिन, इसके साथ-साथ उन्होंने नये 'ईस्क्रा' में एक अन्तहीन लेख-माला का भी श्रीगणेश कर दिया जिसका असली और ठोस मतलब न सिर्फ़ मज़दूरों की, बल्कि दुनिया में किसी की भी समझ में नहीं आ सकता था। इसलिए कोई आश्चर्य नहीं यदि केन्द्रीय समिति के एक सदस्य[199] ने 'क्या नहीं करना चाहिए' शीर्षक लेख के प्रूफ़ पढ़ते हुए कामरेड प्लेख़ानोव को यह चेतावनी दी थी कि उन्होंने एक प्रकाशन का (पार्टी कांग्रेस तथा लीग की कांग्रेस की कार्यवाहियों का) कलेवर छोटा करने की जो योजना बनायी थी, वह ख़ुद उनके इस लेख से ठप हो जायेगी, क्योंकि यह लेख लोगों की उत्सुकता को जगायेगा, एक ऐसी बात को सर्वसाधारण के निर्णय पर छोड़ देगा, जो तीखी तो होगी पर उनकी

समझ से बिल्कुल बाहर होगी*, और तब लाज़िमी तौर पर लोग परेशान होकर यह पूछेंगे कि "आख़िर हुआ क्या है?"। कोई आश्चर्य नहीं यदि कामरेड प्लेख़ानोव के इस लेख की हवाई दलीलों और अस्पष्ट संकेतों के कारण, सामाजिक-जनवाद के शत्रुओं की पांतों में ख़ूब ख़ुशियां मनायी गयीं – 'रेवोल्यूत्सिओन्नाया रोस्सीया'[201] के कालमों में नाच होने लगा और 'ओस्वोबोज्देनिये' के सुसंगत संशोधनवादी हर्षविभोर होकर लेख की प्रशंसा के गीत गाने लगे। इन तमाम अफ़सोसनाक और मज़ेदार ग़लतफ़हमियों का, जिनमें से निकलने की कामरेड प्लेख़ानोव ने इतनी मज़ेदार और अफ़सोसनाक कोशिशें कीं[202], मूल कारण यह था कि उन्होंने द्वन्द्ववाद के इस बुनियादी सिद्धान्त की अवहेलना की थी कि ठोस सवालों पर एकदम ठोस तरीक़े से विचार करना चाहिए। ख़ास तौर पर श्री स्त्रूवे को जो ख़ुशी हुई, वह स्वाभाविक थी। कामरेड प्लेख़ानोव ने अपने सामने जो "भले" उद्देश्य (दया की मार से मारना) रखे थे (हालांकि मुमकिन है कि वह उन्हें प्राप्त न कर पायें) उनमें श्री स्त्रूवे को ज़रा भी दिलचस्पी नहीं थी; नये 'ईस्क्रा' में **हमारी पार्टी के अवसरवादी पक्ष की ओर जो झुकाव** आरम्भ हो गया था, जिसको अब हर आदमी साफ़-साफ़ देख सकता है, श्री स्त्रूवे ने उसका स्वागत किया था और वह इसका

---

*किसी कमरे में बैठे हम लोग एक गरम और आवेशपूर्ण बहस कर रहे हैं। यकायक हममें से एक साहब उछलकर खड़े हो जाते हैं, खिड़की के पट खोल देते हैं, और सोबाकेविच जैसे लोगों को, अराजकतावादी व्यक्तिवादियों को, संशोधनवादियों, वग़ैरा, को कोसने लगते हैं। ज़ाहिर है कि नीचे गली में कुतूहलवश निठल्ले तमाशबीनों की भीड़ लग जाती है और हमारे दुश्मन यह देखकर बगलें बजाते हैं। बहस में भाग लेनेवाले दूसरे लोग भी खिड़की पर जाकर खड़े हो जाते हैं और यह ख़्वाहिश ज़ाहिर करते हैं कि वे इस मामले का हाल शुरू से सुनायेंगे और ऐसी किसी बात की ओर इशारा नहीं करेंगे जिसके बारे में कोई कुछ नहीं जानता। तब इस बिना पर खिड़की बन्द कर दी जाती है कि **आपस के झगड़ों** पर बहस करने से कोई फ़ायदा नहीं है ('ईस्क्रा', अंक ५३, पृष्ठ ८, कालम २, नीचे से २४ वीं पंक्ति)। हां, कामरेड प्लेख़ानोव, "इन झगड़ों" के बारे में (**'ईस्क्रा' में** बहस **शुरू करने** से ही कोई फ़ायदा नहीं था[200] – सच्ची बात तो यह है!

स्वागत किये बिना रह नहीं सकते थे। किसी भी सामाजिक-जनवादी पार्टी में यदि अवसरवाद की ओर थोड़ा-सा और बहुत अस्थायी झुकाव भी होता है तो अकेले रूस के पूंजीवादी-जनवादी ही उसका स्वागत नहीं करते। एक होशियार दुश्मन का अनुमान केवल ग़लतफ़हमी पर बहुत कम आधारित होता है: किसी आदमी की ग़लतियों को इस बात से पहचाना जा सकता है कि कौन लोग उसकी तारीफ़ कर रहे हैं। और कामरेड प्लेख़ानोव को इन आशाओं को आधार बनाना व्यर्थ है कि लोग उनके लेखों को बहुत ध्यान से नहीं पढ़ेंगे और वह उनको यह समझाने में कामयाब हो जायेंगे कि बहुमत महज़ सम्पादक-मण्डल में कुछ नये नाम जोड़ने के सिलसिले में एक व्यक्तिगत रिआयत पर एतराज़ कर रहा है, इस बात पर नहीं कि कामरेड प्लेख़ानोव पार्टी के वाम पक्ष को छोड़ कर दक्षिण पक्ष में शामिल हो गये हैं। सवाल यह हरगिज़ नहीं है कि कामरेड प्लेख़ानोव ने पार्टी को फूट से बचाने के लिए एक व्यक्तिगत रिआयत की (यह तो बहुत प्रशंसनीय कार्य था)। सवाल यह है कि ढुलमुल संशोधनवादियों और अराजकतावादी व्यक्तिवादियों से **लोहा लेने** की ज़रूरत को पूरी तरह महसूस करते हुए भी कामरेड प्लेख़ानोव ने बहुमत से लोहा लेना बेहतर समझा; वह इस सवाल पर बहुमत से अलग हो गये कि अराजकतावाद के लिए **किस हद तक** व्यावहारिक रिआयतें की जा सकती हैं। सवाल यह नहीं है कि कामरेड प्लेख़ानोव ने सम्पादक-मण्डल में कुछ नाम बदल दिये, बल्कि सवाल यह है कि संशोधनवाद और अराजकतावाद के ख़िलाफ़ चलनेवाले संघर्ष में उन्होंने अपने मत के साथ विश्वासघात किया और अब उन्होंने पार्टी के केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल में उस मत के लिए लड़ना बन्द कर दिया है।

जहां तक केन्द्रीय समिति का सम्बन्ध है, जो कि **उस समय** बहुमत के एकमात्र संगठित प्रतिनिधि के रूप में काम कर रही थी, उसके साथ कामरेड प्लेख़ानोव का सम्बन्ध-विच्छेद उस वक़्त **केवल इस सवाल पर हुआ था कि अराजकतावाद को किस हद तक व्यावहारिक रिआयतें दी जा सकती हैं।** १ नवम्बर से जब कि सम्पादक-मण्डल से मेरे इस्तीफ़े के कारण दया की मार से मारने की नीति के लिए रास्ता बिल्कुल साफ़ हो गया था, अब तक लगभग एक महीना बीत चुका था। कामरेड प्लेख़ानोव को, हर प्रकार के सम्पर्कों

द्वारा, इस बात का पूरा मौक़ा मिल चुका था कि वह अपनी नीति की उपयोगिता को जांचकर देख लें। कामरेड प्लेख़ानोव ने इसी समय अपना 'क्या नहीं करना चाहिए' शीर्षक लेख लिखा जो कि उस वक़्त मार्तोव-वादियों के लिए मानो सम्पादक-मण्डल में दाख़िल होने का एकमात्र टिकट था—**और आज भी है।** इस टिकट पर संशोधनवाद (जिससे हमें लोहा तो लेना चाहिए, मगर विरोधी को बचाकर) और अराजकतावादी व्यक्तिवाद (जिसकी ख़ुशामद करना चाहिए और जिसको दया की मार से मारना चाहिए)—ये शब्द मंत्र की तरह मोटे-मोटे अक्षरों में लिखे हुए थे। तशरीफ़ ले आइये अन्दर, साहेबान, मैं आपको दया की मार से मारूंगा—सम्पादक-मण्डल के अपने नये सहयोगियों से कामरेड प्लेख़ानोव इस निमंत्रण-पत्र के ज़रिये यही कह रहे थे। इस हालत में स्वभावतः केन्द्रीय समिति के पास सिर्फ़ एक यही चारा रह जाता था कि अपनी आख़िरी राय बता दे (चुनौती का यही तो मतलब होता है कि यह बता दिया जाये कि यह आख़िरी बात है जिसकी बिना पर सुलह हो सकती है) कि अराजकतावादी व्यक्तिवाद को अधिक से अधिक किस हद तक व्यावहारिक रिआयत देना उचित है। यदि आप सुलह चाहते हैं तो यह लीजिये, हमारी दया, शान्तिप्रियता, रिआयत करने की तत्परता आदि के सबूत में इतनी सीटें आपके लिए हाज़िर हैं (लेकिन यदि पार्टी में शान्ति रखनी है—झगड़ों के अभाव के अर्थ में शान्ति नहीं, बल्कि इस अर्थ में कि पार्टी को अराजकतावादी व्यक्तिवाद नष्ट न करने पाये—तो हम इससे ज़्यादा सीटें आपको नहीं दे सकते); ये सीटें ले लीजिये और चुपचाप, एक बार फिर अकीमोव का पल्ला छोड़कर प्लेख़ानोव की ओर झुक जाइये। मगर यदि आप अपने दृष्टिकोण पर दृढ़ रहना और उसे विकसित करना चाहते हैं, एकदम अकीमोव की तरफ़ झुक जाना चाहते हैं (चाहे केवल संगठनात्मक प्रश्नों के क्षेत्र में ही सही), यदि आप पार्टी को यह समझाना चाहते हैं कि प्लेख़ानोव नहीं, बल्कि आप लोग सही हैं, तो अपना अलग साहित्यिक दल क़ायम रखिये, अगली कांग्रेस में अपने प्रतिनिधि भेजने का हक़ हासिल कीजिये, और ईमानदारी के साथ संघर्ष चलाकर, खुलेआम बहस चलाकर पार्टी में बहुमत प्राप्त करने की कोशिश कीजिये। यह दूसरा रास्ता केन्द्रीय समिति ने अपनी २५ नवम्बर, १६०३ की चुनौती में

(देखिये 'घेरे की स्थिति' और 'लीग की कार्यवाही पर टिप्पणियां'*) बहुत स्पष्ट शब्दों में मार्तोव-वादियों को सुझाया था। और यह उस ख़त के साथ पूरी

---

*केन्द्रीय समिति की इस चुनौती के सम्बन्ध में निजी बातचीतों, आदि का हवाला देकर मार्तोव ने 'घेरे की स्थिति' में जो उलझाव पैदा कर दिया है, मैं, ज़ाहिर है, यहां उसमें नहीं जाऊंगा। यह "संघर्ष का वह दूसरा तरीक़ा" है जिसका मैंने इसके पहले वाले अध्याय में वर्णन किया था, और जिसको सुलझाने में केवल स्नायविक उपद्रवों का कोई विशेषज्ञ ही कुछ सफल हो सकता है। इतना बता देना ही काफ़ी है कि कामरेड मार्तोव ज़ोर देकर कहते हैं कि उनका केन्द्रीय समिति के साथ यह समझौता हुआ था कि समझौते की बातचीत को प्रकाशित नहीं किया जायेगा; मगर बहुत खोजने के बावजूद यह समझौता आज तक नहीं मिला है। केन्द्रीय समिति की तरफ़ से कामरेड त्राविंस्की ने बातचीत में भाग लिया था, और उन्होंने मुझे लिखकर सूचित किया है कि उनकी राय में मुझे यह अधिकार है कि सम्पादक-मण्डल के नाम अपना पत्र 'ईस्क्रा' के बाहर प्रकाशित कर दूं।

कामरेड मार्तोव के चन्द शब्द थे, जो मुझे खास तौर पर पसन्द आये। वे शब्द ये थे: "सबसे ख़राब क़िस्म की बोनापार्टशाही"। मैं देखता हूं कि कामरेड मार्तोव ने इस चीज़ को बिल्कुल ठीक-ठीक पहचाना है। आइये, बिल्कुल तटस्थ भाव से इस पर विचार करें कि इस शब्द का क्या अर्थ है। मेरी राय में, इसका मतलब ऐसे तरीक़ों से ताक़त पर क़ब्ज़ा कर लेना है, जो **रस्मी तौर पर** तो क़ानूनी तरीक़े हों, लेकिन जो, **असल में** जनता की (या पार्टी की) मर्ज़ी के ख़िलाफ़ जाते हों। इसका यही मतलब है न, कामरेड मार्तोव? और अगर यही मतलब है, तो यह सवाल मैं इतमिनान के साथ जनता के फ़ैसले पर छोड़ देता हूं कि "सबसे ख़राब क़िस्म की बोनापार्टशाही" क़ायम करने का अपराधी कौन है–लेनिन और कामरेड इग्रेक[203] इसके अपराधी हैं, जिनको इस बात का **रस्मी** अधिकार था कि मार्तोव-वादियों को सम्पादक-मण्डल में न घुसने दें और वे इस अधिकार का प्रयोग कर सकते थे, और फिर इसमें दूसरी कांग्रेस का फ़ैसला भी उनके पक्ष में होता, मगर जिन्होंने इस अधिकार से **लाभ नहीं उठाया**–या वे लोग इसके अपराधी हैं, जिनको सम्पादक-मण्डल पर क़ब्ज़ा करने का **रस्मी अधिकार** तो ज़रूर था (क्योंकि "सर्वसम्मति से उनके नाम उसमें जोड़े गये थे"), मगर जो यह अच्छी तरह जानते थे कि **असल में** यह चीज़ **दूसरी कांग्रेस के फ़ैसले के अनुसार नहीं थी** और जो इस फ़ैसले को तीसरी कांग्रेस की कसौटी पर परखने को तैयार नहीं थे?

तरह मेल खाता है जो प्लेख़ानोव और मैंने भूतपूर्व सम्पादकों को ६ अक्तूबर १९०३ को भेजा था ; अब या तो यह व्यक्तिगत ग़ुस्से का मामला है (उस सूरत में **यदि और कुछ नहीं हो सकता,** तो चलिये, हम "नये नाम जोड़ने" के लिए भी तैयार हो सकते हैं), और या यह सैद्धान्तिक मतभेद का मामला है (उस सूरत में आपको **पहले** पार्टी को अपनी बात समझानी चाहिए और फिर उसके बाद ही केन्द्रीय संस्थाओं में परिवर्तन कराने की बात करनी चाहिए)। इस नाज़ुक पहेली को केन्द्रीय समिति ने बिना किसी संकोच के मार्तोव-वादियों के हाथों में बूझने के लिए इसलिए और भी छोड़ दिया कि **उसी वक़्त** कामरेड मार्तोव ने अपने विश्वासों की घोषणा ('एक बार फिर अल्पमत में') लिखी थी, जिसमें ये पंक्तियां भी मौजूद थीं:

"**अल्पमत केवल एक गौरव के अधिकारी होने का दावा करता था,** वह यह कि हमारी पार्टी के इतिहास में वह पहला अल्पमत है जिसको 'हराया जा सकता है', मगर **जो फिर भी कोई नयी पार्टी नहीं बनायेगा।** अल्पमत का यह रुख़ पार्टी के संगठनात्मक विकास के सम्बन्ध में उसके तमाम विचारों पर आधारित है ; वह पार्टी के पुराने काम से उसके दृढ़ सम्बन्ध की चेतना पर आधारित है। अल्पमत को 'काग़ज़ी क्रान्तियों' की रहस्यमयी शक्ति में कोई विश्वास नहीं है, और उसका ख़याल है कि उसकी कोशिशें चूंकि **सर्वथा न्यायसंगत** हैं, इसलिए यह निश्चित है कि वह **पार्टी के भीतर केवल विशुद्ध सैद्धान्तिक प्रचार के द्वारा ही अपने संगठन सम्बन्धी सिद्धान्तों की विजय प्राप्त कर सकेगा।"** (शब्दों पर ज़ोर मेरा है।)

कितने गर्वीले और शानदार शब्द हैं! और अनुभव से यह सीखकर कितना कटु लगा था कि वे **केवल शब्द ही थे**... मैं आशा करता हूं, कामरेड मार्तोव, कि आप मुझे क्षमा करेंगे ; लेकिन अब मैं **बहुमत की तरफ़ से** उस गौरव का **दावा करता हूं जिसके आप अधिकारी नहीं हो पाये।** यह गौरव सचमुच महान होगा और उसे प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना सम्मान की बात है, क्योंकि स्थानीय मण्डलों ने पार्टी में फूट को एक मज़ाक़ समझने की परम्परा विरासत के रूप में छोड़ी है और असाधारण उत्साह के साथ इस उसूल को लागू करने की कि "या तो कोट उतारकर भिड़ जाओ, वरना आओ, हाथ मिलायें!"

बुरी लगनेवाली इन छोटी-छोटी बातों के (नये नाम जोड़ने के सवाल पर इस सारी थुक्का-फ़ज़ीहत के) मुक़ाबले में बड़ी ख़ुशी का (यानी, पार्टी को एकताबद्ध बनाये रखने का) पलड़ा लाज़िमी तौर पर भारी होना था और यही हुआ भी। मैंने केन्द्रीय मुखपत्र से इस्तीफ़ा दे दिया और कामरेड इग्रेक ने (जिनको प्लेख़ानोव ने और मैंने केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल की तरफ़ से पार्टी-काउंसिल के लिए प्रतिनिधि चुना था) काउंसिल से इस्तीफ़ा दे दिया। केन्द्रीय समिति ने जो सुलह का आख़िरी प्रस्ताव भेजा था, उसके जवाब में मार्तोव-वादियों ने एक ख़त भेजा (उपरोक्त प्रकाशनों को देखिये) जो युद्ध की घोषणा के समान था। तब और केवल तभी, मैंने सम्पादक-मण्डल के नाम प्रकाशन के प्रश्न के सम्बन्ध में अपना ख़त लिखा ('ईस्क्रा', अंक ५३)। प्रकाशन के सम्बन्ध में मैंने इस ख़त में यह लिखा था कि यदि संशोधनवाद की बात करना है और ढुलमुलपन, अराजकतावादी व्यक्तिवाद और विभिन्न नेताओं की पराजय पर बहस करना है तो फिर हमें बिना कोई चीज़ छिपाये हुए जो कुछ भी हुआ है सब बता देना चाहिए। सम्पादक-मण्डल ने इसके जवाब में मुझे ग़ुस्से से भरी गालियां सुनायीं और एक दण्डाधीश की तरह चेतावनी दी कि ख़बरदार! जो "**मण्डल-जीवन के ओछेपन और थुक्का-फ़ज़ीहत में**" फिर से जान डालने की कोशिश की! ('ईस्क्रा', अंक ५३) "मण्डल-जीवन का ओछापन और थुक्का-फ़ज़ीहत"? – बात यह है? मैंने अपने मन में सोचा। अच्छा es ist mir recht, महानुभावो, यहां तो मैं भी आप से सहमत हूं। इसका मतलब तो यह है कि "नये नाम जुड़वाने" के लिए यह सब जो झंझट किया गया था, उसे आपने सीधे-सीधे **मण्डलों की थुक्का-फ़ज़ीहत** की श्रेणी में डाल दिया है। बात सच है। लेकिन फिर यह मतभेद कैसा है कि 'ईस्क्रा' के इसी अंक ५३ के अग्रलेख में (हमें समझना चाहिए कि) इसी सम्पादक-मण्डल ने फिर नौकरशाही, औपचारिकता-प्रेम आदि की चर्चा की है।*

---

*जैसा कि बाद को मालूम हुआ, इस "मतभेद" का कारण तो बहुत सरल है – यह केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादकों का मतभेद था। "थुक्का-फ़ज़ीहत" के बारे में प्लेख़ानोव ने लिखा था (अंक ५७ में प्रकाशित 'एक अफ़सोसनाक ग़लतफ़हमी' शीर्षक लेख में उन्होंने ख़ुद यह बात स्वीकार की है) और 'हमारी कांग्रेस' शीर्षक अग्रलेख मार्तोव ने लिखा था (देखिये 'घेरे की स्थिति', पृष्ठ ८४)। दोनों दो भिन्न दिशाओं में खींच रहे थे।

केन्द्रीय मुखपत्र में नये नाम जुड़वाने के लिए जो संघर्ष हुआ था, उसका प्रश्न उठाने की हिम्मत न करना, क्योंकि उस प्रश्न को उठाना थुक्का-फ़ज़ीहत करना है। लेकिन हम लोग केन्द्रीय समिति में नये नाम जोड़ने का सवाल उठायेंगे और उसे थुक्का-फ़ज़ीहत नहीं बल्कि "औपचारिकता" के प्रश्न पर एक सैद्धान्तिक मतभेद कहेंगे। नहीं, प्यारे साथियो, – मैंने अपने मन में कहा – कृपया मुझे अनुमति दीजिये कि मैं आपको यह करने की अनुमति न दूं। आप मेरे क़िले पर गोलाबारी करना चाहते हैं और फिर भी यह मांग करते हैं कि मैं अपना तोपख़ाना आपको सौंप दूं। कितने मसख़रे लोग हैं आप! और इसलिए तब मैंने 'सम्पादक-मण्डल के नाम पत्र' ('मैंने 'ईस्क्रा' से इस्तीफ़ा क्यों दिया?') लिखा और उसे 'ईस्क्रा' के बाहर प्रकाशित कर दिया। इस ख़त में मैंने जो कुछ हुआ था उसका संक्षिप्त वर्णन दिया था और फिर बार-बार यह सवाल किया था कि क्या इस क्षेत्र-विभाजन के आधार पर यह सुलह मुमकिन नहीं है कि आप लोग केन्द्रीय मुखपत्र को ले लें और हम केन्द्रीय समिति को ले लें, ताकि दोनों में से कोई भी पक्ष पार्टी के अन्दर अपने को "पराया" न महसूस करे और फिर हम लोग अवसरवाद की ओर झुकने की बहस पहले साहित्यिक प्रकाशनों में और उसके बाद मुमकिन हो तो तीसरी पार्टी कांग्रेस में चलायें।

सुलह का ज़िक्र सुनते ही दुश्मन ने अपनी सारी तोपों के मुंह खोल दिये, यहां तक कि काउंसिल भी आग बरसाने लगी। गोले ओलों की तरह गिरने लगे। तानाशाह, श्वीट्ज़र, नौकरशाह, औपचारिकतावादी, परम-केन्द्र, क़ानून छांटनेवाला, ऐंठू, ज़िद्दी, तंग-नज़र, शक्की, झगड़ालू ... बहुत अच्छा, मेरे दोस्तो। आपके गोले ख़तम हो गये? या कुछ और बचे हैं? बहुत फिसफिसे गोले हैं, सचमुच ...

और अब मेरी बारी है। आइये, अब संगठन के बारे में नये 'ईस्क्रा' के नये विचारों के **सार-तत्व** पर विचार करें और देखें कि इन विचारों का "बहुमत" और "अल्पमत" में हमारी पार्टी के उस विभाजन से क्या सम्बन्ध है जिसका असली स्वरूप हम दूसरी कांग्रेस की बहसों तथा वहां विभिन्न सवालों पर डाले गये वोटों का विश्लेषण करके दिखा चुके हैं।

न) नया 'ईस्क्रा'। संगठन के सवालों में अवसरवाद

नये 'ईस्क्रा' के सिद्धान्तों का विश्लेषण करने के लिए हमें बिला शक कामरेड अक्सेल्रोद के दो लेखों* को अपना आधार बनाना चाहिए। उनके कुछ प्रिय नारों का ठोस मतलब क्या है, यह हम काफ़ी विस्तार के साथ बता चुके हैं। अब हमें इन नारों के ठोस मतलब से बाहर निकलकर उस विचारधारा की जड़ तक पहुंचने की कोशिश करनी चाहिए जिसने "अल्पमत" को (हर छोटे या महत्वहीन मौक़े पर) किन्हीं दूसरे नारों के बजाय ख़ास इन्हीं नारों पर पहुंचने के लिए मजबूर किया। हमें इस सवाल पर विचार करना चाहिए कि ये नारे आरम्भ कहीं से भी हुए हों, "नये नाम जुड़वाने" के सवाल से उनका कोई भी सम्बन्ध रहा हो, उनके पीछे सिद्धान्त कौनसे हैं। आजकल रिआयतों का फ़ैशन है, इसलिए हम एक रिआयत कामरेड अक्सेल्रोद के साथ भी करें और उनके "सिद्धान्त" पर "गम्भीरतापूर्वक" विचार करें।

कामरेड अक्सेल्रोद की मूल स्थापना ('ईस्क्रा', अंक ५७) यह है कि "हमारे आन्दोलन को शुरू से ही दो विरोधी प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ा है, जिनकी पारस्परिक शत्रुता लाज़िमी तौर पर बढ़ती गयी और अपने बढ़ने के साथ-साथ आन्दोलन पर भी असर डालती गयी"। और भी ठोस रूप में कहा जाये तो: "सिद्धान्तः, (रूस में) आन्दोलन का सर्वहारा का उद्देश्य वही है जो पश्चिमी सामाजिक-जनवाद का है।" लेकिन हमारे देश में मज़दूरों पर "उनसे बिल्कुल बाहर का एक सामाजिक तत्व असर डालता है," यानी उन पर आमूलवादी बुद्धिजीवी असर डालते हैं। और इसलिए कामरेड अक्सेल्रोद हमारी पार्टी की सर्वहारा तथा आमूलवादी बुद्धिजीवी प्रवृत्तियों के बीच विरोध देखने लगते हैं।

कामरेड अक्सेल्रोद की यह बात बिल्कुल सही है। ऐसा विरोध मौजूद है (और वह अकेले रूसी सामाजिक-जनवादी पार्टी में ही नहीं है), यह एक निर्विवाद सत्य है। इसके अलावा हर आदमी यह जानता है कि आजकल

---

*ये लेख "दो वर्ष का 'ईस्क्रा'" नामक संग्रह में शामिल किये गये थे; भाग २, पृष्ठ १२२ और उसके आगे के पृष्ठ। यह संग्रह सेंट पीटर्सबर्ग से १९०६ में प्रकाशित हुआ था। (१९०७ के संस्करण में लेखक की टिप्पणी – सं०)

का सामाजिक-जनवाद बहुत बड़ी हद तक इसी विरोध के कारण क्रान्तिकारी (जिसे कट्टरपंथी भी कहते हैं) और अवसरवादी (जिसे संशोधनवादी, मिनिस्टरी-वादी, या सुधारवादी भी कहते हैं) सामाजिक-जनवाद में बंट गया है और हमारे आन्दोलन के पिछले दस वर्षों से यह विभाजन रूस में भी पूरी तरह साफ़ दिखायी देने लगा है। हर आदमी यह भी जानता है कि आन्दोलन की सर्वहारा प्रवृत्ति को कट्टरपंथी सामाजिक-जनवाद व्यक्त करता है और जनवादी बुद्धिजीवियों की प्रवृत्ति को अवसरवादी सामाजिक-जनवाद व्यक्त करता है।

किन्तु, इस साधारण बुद्धि की बात का सामना होते ही कामरेड अक्सेलरोड बिदककर पीछे हटने लगते हैं। वह इसका विश्लेषण करने की **ज़रा भी कोशिश** नहीं करते कि यह विभाजन रूसी सामाजिक-जनवाद के इतिहास में आम तौर पर, और हमारी पार्टी कांग्रेस में ख़ास तौर पर किस रूप में प्रकट हुआ है— हालांकि कामरेड अक्सेलरोद एक लेख लिख रहे हैं कांग्रेस के बारे में! नये 'ईस्क्रा' के बाक़ी सब सम्पादकों की तरह कामरेड अक्सेलरोद भी कांग्रेस की कार्यवाही से **मौत की तरह डरते** हैं। ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उसके बाद हमें इस पर आश्चर्य तो नहीं होना चाहिए, लेकिन फिर भी यह एक अजीब बात लगती है कि एक ऐसा "सिद्धान्तवेत्ता", जो हमारे आन्दोलन की विभिन्न प्रवृत्तियों की खोजबीन करने का दावा कर रहा है, **सचाई की तरफ़ देखने से भी इतना घबराये।** हमारे आन्दोलन की प्रवृत्तियों के बारे में जो नवीनतम और सबसे ज़्यादा सही सामग्री मिलती है, उससे तो कामरेड अक्सेलरोद इस बीमारी के कारण बिदक जाते हैं और फिर वह सुखद दिवा-स्वप्नों की शरण लेते हैं। उन्होंने लिखा है: "क्या क़ानूनी मार्क्सवाद अथवा अर्ध-मार्क्सवाद ने हमारे उदारपंथियों को एक साहित्यिक नेता नहीं दिया है? तब यदि उच्छृंखल इतिहास क्रान्तिकारी पूंजीवादी जनवाद को कट्टरपंथी, क्रान्तिकारी मार्क्सवाद की पांतों में से कोई नेता दे तो कौनसी अजीब बात होगी?" इस दिवा-स्वप्न के बारे में, जो कामरेड अक्सेलरोद को बड़ा सुखद लगता है, हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि इतिहास कभी-कभी उच्छृंखलता दिखाता है और कुछ अजीबोग़रीब बातें कर बैठता है तो इसका यह मतलब नहीं होता कि जो लोग इतिहास का विश्लेषण करने चले हैं वे अपने दिमाग़ों में **उच्छृंखल विचारों** को जगह देने लगें। जब अर्ध-मार्क्सवाद के नेता के नक़ाब के पीछे से उदारपंथी के चेहरे की झलक दिखायी दी तो जो लोग उसकी

"प्रवृत्तियों" की खोजबीन करना चाहते थे **(और करने की सामर्थ्य रखते थे)**, उन्होंने इतिहास की संभावित उच्छृंखल हरकतों की दुहाई नहीं दी, बल्कि इस नेता की मनोवृत्ति तथा तर्क-प्रणाली के उन दसियों और सैकड़ों उदाहरणों को देखा और उसके साहित्यिक रंग-रूप की उन विशेषताओं को देखा जिनपर पूंजीवादी साहित्य में मार्क्सवाद के प्रतिबिंब की छाप थी[204]। और यदि "हमारे आन्दोलन की आम क्रान्तिकारी तथा सर्वहारा प्रवृत्तियों का विश्लेषण" आरम्भ करने के बाद कामरेड अक्सेलरोद इसका **कोई भी, जरा भी,** सबूत **नहीं** पेश कर सके कि पार्टी के जिस कट्टरपंथी पक्ष से वह इतनी घृणा करते हैं उसके कुछ प्रतिनिधियों में अमुक प्रवृत्तियां हैं, तो यह **उन्होंने खुद अपने दिवालियेपन का सबूत दिया है**। यदि कामरेड अक्सेलरोद केवल इतिहास के संभावित नटखटपन की ही दुहाई दे सकते हैं तो मानना पड़ेगा कि उनकी बात में कुछ ज्यादा दम नहीं है!

कामरेड अक्सेलरोद न "जकोबिन लोगों"[205] का जो जिक्र किया है इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। कामरेड अक्सेलरोद को शायद यह मालूम है कि आजकल के सामाजिक-जनवाद का क्रान्तिकारी तथा अवसरवादी पक्षों में जो विभाजन हो गया है, उसके फलस्वरूप बहुत दिनों से यह प्रथा चल निकली है—और अकेले रूस में ही नहीं—कि "वर्तमान प्रवृत्तियों की हूबहू मिसालें फ़्रांस की महान क्रान्ति के काल के इतिहास में" ढूंढ़ी जायें। कामरेड अक्सेलरोद शायद यह जानते होंगे कि **आजकल के सामाजिक-जनवाद के जिरोंद-वादी** हमेशा और हर जगह अपने विरोधियों के लिए "जैकोबिन-वाद", "ब्लांकी-वाद"[206] और ऐसे ही अन्य शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। इसलिए, हमें सच्चाई से घबराने के मामले में कामरेड अक्सेलरोद की नक़ल नहीं करनी चाहिए, हमें अपनी कांग्रेस की कार्यवाही को देखना चाहिए और पता लगाना चाहिए कि जिन प्रवृत्तियों की हम चर्चा कर रहे हैं और जिन मिसालों की हम चीर-फाड़ कर रहे हैं उनके विश्लेषण एवं समीक्षा के लिए हमें उसमें कोई सामग्री मिल सकती है या नहीं।

पहली मिसाल: पार्टी कांग्रेस में कार्यक्रम की बहस। कामरेड अकीमोव (कामरेड मार्तिनोव के साथ "पूर्ण सहमति" प्रकट करते हुए) कहते हैं: "राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करने से (सर्वहारा के अधिनायकत्व से) सम्बन्धित धारा इस तरह लिखी गयी है कि—अन्य सभी सामाजिक-जनवादी पार्टियों के

कार्यक्रमों के मुक़ाबले में – इसका यह अर्थ लगाया जा सकता है, और प्लेख़ानोव ने सचमुच इसका यह अर्थ लगाया है, कि नेतृत्व करनेवाले संगठन की भूमिका उस वर्ग को पृष्ठभूमि में डाल देगी जिसका नेतृत्व किया जा रहा है और संगठन को वर्ग से अलग कर देगी। इसके परिणामस्वरूप, हमारे राजनीतिक कार्य ठीक वही बताये गये हैं जो 'नरोद्नाया वोल्या' के कार्य हैं।" (कार्यवाही, पृष्ठ १२४।) कामरेड प्लेख़ानोव और दूसरे 'ईस्क्रा'-वादी कामरेड अकीमोव को जवाब देते हैं और उन पर अवसरवाद का आरोप लगाते हैं। क्या कामरेड अक्सेल्रोद को यह नहीं लगता कि इस विवाद से (ठोस वास्तविकता में, न कि इतिहास के कल्पित नटखटपन में) सामाजिक-जनवाद के **आधुनिक जैकोबिनों** और आधुनिक **जिरौंद-वादियों** का विरोध स्पष्ट हो जाता है? और क्या कामरेड अक्सेल्रोद के जैकोबिनों की चर्चा करने लगने का कारण यह तो नहीं था कि (अपनी ग़लतियों के कारण) उन्होंने अपने को सामाजिक-जनवादियों के **जिरौंद-वादियों** की पांतों में पाया था?

दूसरी मिसाल: कामरेड पोसादोव्स्की कहते हैं कि "जनवादी सिद्धान्तों के निरपेक्ष मूल्य" के "बुनियादी सवाल" पर एक "गम्भीर मतभेद" है (पृष्ठ १६६)। प्लेख़ानोव की तरह वह भी इस बात से इनकार करते हैं कि जनवादी सिद्धान्तों का कोई निरपेक्ष मूल्य होता है। "मध्य पक्ष" अथवा "दलदल" के नेता (येगोरोव) और 'ईस्क्रा'-विरोधियों के नेता (गोल्डब्लाट) इस मत का डटकर विरोध करते हैं और प्लेख़ानोव पर "पूंजीवादी दांव-पेंच की नक़ल करने" का आरोप लगाते हैं (पृष्ठ १७०)। **यह हूबहू कामरेड अक्सेल्रोद का वही विचार है कि कट्टरपंथी और पूंजीवादी प्रवृत्तियों में कोई सम्बन्ध होता है,** अन्तर केवल इतना है कि अक्सेल्रोद के हाथ में यह विचार अस्पष्ट और बहुत आम था, जब कि गोल्डब्लाट ने उसे बहस के निश्चित सवालों के साथ जोड़ दिया है। हम फिर पूछते हैं कि क्या कामरेड अक्सेल्रोद को यह नहीं दिखायी देता कि इस विवाद में भी वर्तमान सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के जैकोबिनों और जिरौंद-वादियों का विरोध **स्पष्ट रूप में** पार्टी कांग्रेस के सामने आ गया था? और जैकोबिनों के ख़िलाफ़ चीख़-पुकार मचाने का क्या यह कारण तो नहीं है कि कामरेड अक्सेल्रोद अपने को जिरौंद-वादियों की पांतों में पाते हैं?

तीसरी मिसाल: नियमावली की पहली धारा पर बहस। **"हमारे आन्दोलन की सर्वहारा प्रवृत्ति"** की हिमायत कौन करता है? इस बात पर आग्रह कौन

करता है कि मज़दूर कभी संगठन से नहीं डरता, अराजकता के लिए उसके मन में कोई स्नेह नहीं है, और वह संगठन करने की प्रेरणा को महत्व देता है? उन पूंजीवादी बुद्धिजीवियों के ख़िलाफ़ हमें चेतावनी कौन देता है जिनमें अवसरवाद कूट-कूटकर भरा हुआ है? **सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के जैकोबिन।** और पार्टी में आमूलवादी बुद्धिजीवियों को चुपके से घुसा लेने की कोशिश कौन करता है? प्रोफ़ेसरों, हाई स्कूलों के विद्यार्थियों, मन-मौजियों और उग्रवादी युवकों की सदा किसे चिन्ता लगी रहती है? **जिरौंद-वादी लाइबर के साथ-साथ जिरौंद-वादी अक्सेलरोद को!**

कामरेड अक्सेलरोद ने "अवसरवाद के उस झूठे आरोप" के खिलाफ़ अपनी सफ़ाई कितने भोंड़े ढंग से दी है जो हमारी पार्टी कांग्रेस में खुलेआम 'श्रम मुक्ति' दल के बहुमत पर लगाया गया था! उन्होंने अपनी सफ़ाई इस तरह दी है जिससे यह आरोप साबित हो जाता है। वह जैकोबिनवाद, ब्लांकी-वाद, आदि, के बारे में वही पुराना, पिटा हुआ बर्न्सटीनवादी गीत गा रहे हैं! आजकल अक्सेलरोद आमूलवादी बुद्धिजीवियों के ख़तरे के बारे में जो इतना शोर मचा रहे हैं, उसका उद्देश्य शायद यही है कि लोग यह भूल जायें कि पार्टी कांग्रेस में उनके एक-एक भाषण से इन्हीं बुद्धिजीवियों के बारे में चिन्ता प्रकट होती थी।

ये "भयंकर शब्द" – जैकोबिनवाद, इत्यादि – **अवसरवाद** को ही व्यक्त करते हैं, और किसी चीज़ को नहीं। वह जैकोबिन, जिसका सर्वहारा के **संगठन** से अटूट सम्बन्ध है, उस सर्वहारा के संगठन से जिसमें अपने वर्ग-हितों की **चेतना** है, वह वास्तव में, **क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादी** है। वह जिरौंद-वादी जो हमेशा प्रोफ़ेसरों और स्कूली विद्यार्थियों के लिए तड़पता रहता है, जो सर्वहारा के अधिनायकत्व से डरता है और जो सदा जनवादी मांगों के निरपेक्ष मूल्य के बारे में आहें भरा करता है, वह असल में, **अवसरवादी** है। आज जब कि राजनीतिक संघर्ष को संकुचित करके महज़ एक षड़यंत्र बना देने के विचार का हज़ारों बार लिखित प्रकाशनों में खंडन किया जा चुका है और जब ख़ुद जीवन की वास्तविकताएं बहुत समय पहले इस विचार को ठुकरा चुकी हैं और मैदान से हटा चुकी हैं, और जब जनता में राजनीतिक प्रचार करने के बुनियादी महत्व को हम इतनी बार दुहरा चुके हैं और उसकी इतनी बार व्याख्या कर चुके हैं कि सुननेवाले भी उकता गये हैं, आज इस सबके बाद षड़यंत्रकारी संगठनों में

केवल अवसरवादियों को ही खतरा दिखायी दे सकता है। षड़यंत्र, अथवा ब्लांकी-वाद से डरने का असली आधार व्यावहारिक आन्दोलन की कोई विशेषता नहीं है (जैसा कि बर्न्सटीन और उनके संगी-साथी बहुत दिनों से साबित करने की नाकामयाब कोशिश कर रहे हैं); बल्कि उसका असली आधार पूंजीवादी बुद्धिजीवियों की जिरौंद-वादी भीरुता है, जो आजकल के सामाजिक-जनवादियों में अक्सर दिखायी देती है। पिछली शताब्दी के पांचवें और सातवें दशक के फ़्रांस के षड़यंत्रकारी क्रान्तिकारियों की कार्यनीति के ख़िलाफ़ एक **नयी** चेतावनी देने की (जो सैकड़ों बार पहले भी दी जा चुकी है) नये 'ईस्क्रा' की इन लम्बी-चौड़ी कोशिशों से ज़्यादा हास्यास्पद बात और कोई नहीं हो सकती है (अंक ६२ का सम्पादकीय लेख)[207]। 'ईस्क्रा' के अगले अंक में, वर्तमान सामाजिक-जनवाद के जिरौंद-वादी शायद पांचवें दशक के फ़्रांसीसी षड़यंत्रकारियों के किसी ऐसे दल का नाम हमें बताने का कष्ट करेंगे जिसके लिए मेहनतकश जनता में राजनीतिक प्रचार करने का महत्व, और वर्ग को प्रभावित करने के लिए पार्टी के एक प्रधान अस्त्र के रूप में मज़दूर अख़बारों का महत्व ऐसे प्राथमिक सत्य थे जिनको उसने बहुत दिन पहले जान लिया था और हृदयंगम कर लिया था।

किन्तु नये 'ईस्क्रा' की यह प्रवृत्ति कोई संयोग की बात नहीं है कि वह बार-बार क-ख-ग का पाठ दोहराता है और प्राथमिक बातों पर वापस जाकर दावा यह करता है कि वह कोई बिल्कुल नयी बात कह रहा है; यह उस परिस्थिति का अनिवार्य परिणाम है जिसमें अक्सेलरोद और मार्तोव पार्टी के अवसरवादी पक्ष में पहुंच जाने के बाद अब अपने को पाते हैं। इसके अलावा और कोई चारा नहीं है। अब तो उनके लिए यही एक रास्ता है कि अवसरवादी नारों को दोहराते रहें और अपनी स्थिति को किसी तरह उचित सिद्ध करने के लिए **बीते हुए ज़माने** से कोई दलील **ढूंढ़कर निकालें**, क्योंकि कांग्रेस में जो संघर्ष हुआ था और वहां पार्टी की जो अलग-अलग प्रवृत्तियां और मतभेद दिखायी दिये थे उनके दृष्टिकोण से वे अपनी वर्तमान स्थिति को किसी तरह उचित नहीं सिद्ध कर सकते। जैकोबिन-वाद और ब्लांकी-वाद के बारे में अकीमोव के ढंग की कुछ बातें कहने के साथ-साथ कामरेड अक्सेलरोद ने अकीमोव के ढंग पर कुछ इस बात का रोना भी रोया कि केवल "अर्थवादी" ही नहीं, बल्कि "राजनीति-वादी" लोग भी "एकांगी" दृष्टिकोण रखते हैं, उन्हें भी एक चीज़ का ज़रूरत

से ज़्यादा "मोह" हो गया है, इत्यादि, इत्यादि। इस विषय पर नये 'ईस्क्रा' में, जो कि बड़े दम्भ के साथ एकंगेपन और मोह से बहुत ऊपर होने का दावा करता है, लम्बे-चौड़े निबंधों को पढ़कर कोई भी आदमी परेशान होकर पूछेगा कि ये लोग आख़िर यह किसकी तसवीर खींच रहे हैं? इस तरह की बातें वे कहां से सुनते हैं? यह कौन नहीं जानता कि रूसी सामाजिक-जनवादियों का "अर्थवादियों" और राजनीति-वादियों में विभाजन अब बहुत पुराना पड़ गया है? पार्टी कांग्रेस से दो-एक साल पहले की 'ईस्क्रा' की फ़ाइलों को पलटकर देखिये; आप पायेंगे कि "अर्थवाद" के ख़िलाफ़ संघर्ष बहुत धीमा पड़ गया था और बहुत पहले ही १९०२ तक बिल्कुल समाप्त हो गया था। मिसाल के लिए, आप पायेंगे कि जुलाई १९०३ (अंक ४३) में "अर्थवाद के युग" के बारे में कहा गया था कि वह "निश्चित रूप से समाप्त" हो गया है। अर्थवाद को एक "मरी और दफ़नायी हुई" चीज़ और राजनीति-वादियों के मोह को साफ़-साफ़ पुरखा रोग समझा जाता था। तब 'ईस्क्रा' के नये सम्पादक इस मुर्दा और दफ़नाये हुए विभाजन को अब फिर क्यों उखाड़ रहे हैं? क्या हम लोगों ने कांग्रेस में अकीमोव जैसे लोगों का विरोध उन ग़लतियों के कारण किया था जो उन्होंने दो साल पहले 'राबोचेये देलो' में की थीं? यदि ऐसी बात होती तो हम लोगों ने सरासर मूर्खता का परिचय दिया होता। लेकिन हर आदमी जानता है कि ऐसी बात नहीं थी। हर आदमी जानता है कि हमने कांग्रेस में अकीमोव जैसे लोगों का विरोध 'राबोचेये देलो' में उनकी पुरानी, मुर्दा और कभी की दफ़नायी गयी ग़लतियों के कारण नहीं, बल्कि उन **नयी ग़लतियों** के कारण किया था जो उन लोगों ने कांग्रेस के दौरान में अपनी दलीलों तथा वोट करने के अपने ढंग में की थीं। 'राबोचेये देलो' में उन्होंने जो मत प्रकट किया था उसके आधार पर नहीं, बल्कि कांग्रेस में उन्होंने जो रुख़ लिया था उसके आधार पर हमने यह तै किया था कि कौनसी ग़लतियां सचमुच त्याग दी गयी हैं और कौनसी अभी तक ज़िन्दा हैं, जिनका मुक़ाबला करना आवश्यक है। कांग्रेस के समय तक अर्थवादियों और राजनीति-वादियों का पुराना विभाजन नहीं रह गया था; लेकिन विभिन्न अवसरवादी प्रवृत्तियां मौजूद थीं। अनेक सवालों पर जो बहसें हुईं और जिस ढंग से वोट डाले गये उनमें ये प्रवृत्तियां व्यक्त हुईं, और अन्त में उनके कारण पार्टी में एक नया विभाजन हो गया और पार्टी "बहुमत" और "अल्पमत" में बंट गयी।

बात सारी यह है कि 'ईस्क्रा' के नये सम्पादक, कुछ बहुत स्पष्ट कारणों से, उस सम्बन्ध को टाल देने की कोशिश कर रहे हैं जो इस नये विभाजन और हमारी पार्टी के अन्दर **आजकल पाये जानेवाले** अवसरवाद के बीच मौजूद है, और इसलिए इन महानुभावों को मजबूर होकर नये विभाजन से पुराने विभाजन पर लौट जाना पड़ता है। चूंकि वे नये विभाजन की राजनीतिक उत्पत्ति पर प्रकाश डालने में असमर्थ हैं (या चूंकि वे अपना लचीलापन साबित करने के लिए उसकी उत्पत्ति पर अंधकार डाल देना चाहते हैं*), इसलिए मजबूर होकर उन्हें बार-बार उस विभाजन का राग अलापना पड़ता है जो बहुत पहले ख़तम हो चुका है। हर आदमी जानता है कि नये विभाजन का आधार **संगठन** के सवालों पर पैदा होनेवाला एक मतभेद है जो कि शुरू हुआ संगठन के सिद्धान्तों की (नियमावली की पहली धारा के सम्बन्ध में) बहस से और अन्त में ख़तम हुआ जाकर ऐसे "व्यवहार" पर जो कि अराजकतावादियों को ही शोभा देता है। इसके विपरीत, "अर्थवादियों" और राजनीति-वादियों के उस पुराने विभाजन का मुख्य आधार **कार्यनीति** के प्रश्नों पर पैदा होनेवाला एक मतभेद था।

नया 'ईस्क्रा' पार्टी जीवन के अधिक पेचीदा, सचमुच सामयिक और निहायत ज़रूरी सवालों से हटकर ऐसे सवालों की शरण लेने को उचित ठहराने

---

*'ईस्क्रा', अंक ५३ में प्रकाशित "अर्थवाद" पर प्लेख़ानोव का लेख देखिये। लेख के उप-शीर्षक में छपाई की एक छोटी-सी ग़लती रह गयी मालूम होती है। उप-शीर्षक है: "दूसरी पार्टी कांग्रेस पर कुछ विचार"। उसे होना चाहिए था "**लीग** की कांग्रेस पर" या "**नये नाम जोड़ने** के प्रश्न पर कुछ विचार"। कुछ ख़ास परिस्थितियों में, व्यक्तिगत दावों के जवाब में रिआयतें देना चाहे जितना उचित हो, मगर (सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूक दृष्टिकोण से नहीं किन्तु पार्टी दृष्टिकोण से) इसकी हरगिज इजाज़त नहीं दी जा सकती कि पार्टी में जिन सवालों को लेकर इतनी बेचैनी है उनको उलझा दिया जाये और मार्तोव तथा अक्सेलरोद की, जो कि सिद्धान्तपरायणता से अवसरवाद की ओर मुड़ने लगे हैं, नयी ग़लतियों के स्थान पर मार्तिनोव तथा अकीमोव जैसे लोगों की पुरानी ग़लतियों की चर्चा की जाये (जिनको आजकल नये 'ईस्क्रा' के अलावा और कोई कभी याद भी नहीं करता), हालांकि – बहुत मुमकिन है कि मार्तिनोव और अकीमोव जैसे लोग अब कार्यक्रम और कार्यनीति के अनेक प्रश्नों पर अवसरवाद से सिद्धान्तपरायणता की ओर मुड़ जाने को तैयार हों।

की कोशिशों में, जो कभी के तै हो चुके हैं और जिनको अब जबर्दस्ती उखाड़ा गया है, वह गूढ़ता का ऐसा मनोरंजक प्रदर्शन करता है जिसे **पुछल्लावाद** के सिवा और कोई नाम नहीं दिया जा सकता। कहा जाता है कि सार-तत्व रूप से अधिक महत्वपूर्ण होता है, और कार्यक्रम तथा कार्यनीति संगठन से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, "कोई संगठन आन्दोलन को जिस मात्रा में और जिस महत्व का सार-तत्व प्रदान करता है, सीधे उसी उनुपात में उस संगठन का ज़ोर घटता या बढ़ता जाता है", केन्द्रीयता "कोई स्वत:पूर्ण वस्तु" नहीं है और न ही वह "सब रोगों के लिए एक रामबाण है", इत्यादि, इत्यादि। इस गूढ़ "विचार"-क्रम का श्रीगणेश कामरेड अक्सेलरोद ने किया और वह नये 'ईस्क्रा' की सभी रचनाओं में एक लाल धागे की तरह पिरोया हुआ है। सचमुच, ये सब कितने महान और गूढ़ सत्य हैं! कार्यक्रम सचमुच कार्यनीति से अधिक महत्वपूर्ण होता है और कार्यनीति संगठन से अधिक महत्वपूर्ण होती है। वर्णमाला शब्दशास्त्र से अधिक महत्वपूर्ण होती है और शब्दशास्त्र वाक्य-विन्यास से अधिक महत्वपूर्ण होता है—लेकिन हम उन लोगों को क्या कहेंगे जो वाक्य-विन्यास की परीक्षा में फ़ेल हो जाने के बाद इस बात पर गर्व से फूले नहीं समाते कि उन्हें एक साल के लिए नीचे की श्रेणी में ही रोक लिया गया है? कामरेड अक्सेलरोद ने संगठन के सिद्धान्तों के बारे में बहस की अवसरवादी की तरह (पहली धारा) और संगठन में व्यवहार किया अराजकतावादी की तरह (लीग की कांग्रेस)—और अब वह सामाजिक-जनवाद को और गूढ़ बनाने की कोशिश कर रहे हैं। अंगूर नहीं मिले तो खट्टे! संगठन आख़िर क्या है? केवल एक रूप ही तो है। और केन्द्रीयता क्या है? वह आख़िर रामबाण तो है नहीं। वाक्य-विन्यास क्या है? अरे, वह तो शब्दशास्त्र से कम महत्वपूर्ण है; वह तो केवल शब्दशास्त्र के विभिन्न तत्वों को एकसाथ जोड़ने का एक ढंग है... 'ईस्क्रा' के नये सम्पादक बड़े विजयोल्लास के साथ पूछते हैं: "क्या कामरेड अलेक्सान्द्रोव हमारी इस बात से सहमत नहीं होंगे कि पार्टी की नियमावली कितनी ही दोषरहित क्यों न प्रतीत होती हो, मगर कांग्रेस ने पार्टी के काम का केन्द्रीकरण करने में नियमावली की अपेक्षा पार्टी का कार्यक्रम तैयार करके अधिक योगदान किया है?" (अंक ५६, परिशिष्ट)। हमें आशा करनी चाहिए कि यह बेमिसाल बात कामरेड क्रिचेव्स्की के उस प्रसिद्ध वाक्य से कम व्यापक और

कम स्थायी ऐतिहासिक ख्याति नहीं प्राप्त करेगी, जिसके द्वारा उन्होंने ऐलान किया था कि मनुष्य-जाति की भांति सामाजिक-जनवाद भी अपने सामने सदा ऐसे काम रखता है जिनको पूरा किया जा सके। नये 'ईस्क्रा' की यह गूढ़ उक्ति भी ठीक उसी नीति का एक टुकड़ा है। कामरेड क्रिचेव्स्की की इस बात का इतना मज़ाक़ क्यों बनाया गया था? इसलिए कि उन्होंने कार्यनीति के मामले में सामाजिक-जनवादियों के एक हिस्से की ग़लती को – उनका अपने राजनीतिक उद्देश्यों को सही तौर पर निर्धारित न कर पाना – एक बहुत ही पिटी-पिटायी मामूली बात द्वारा उचित ठहराने की कोशिश की थी और वह चाहते यह थे कि लोग उसे बहुत बड़ी दार्शनिक बात समझें। ठीक उसी प्रकार नया 'ईस्क्रा' इस पिटी-पिटायी बात द्वारा कि कार्यक्रम नियमावली से अधिक महत्वपूर्ण होता है और यह कि कार्यक्रम-संबंधी प्रश्न संगठन-संबंधी प्रश्नों से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं, संगठन के मामले में सामाजिक-जनवादियों के एक हिस्से की ग़लती को उचित ठहराने का, कुछ साथियों में बुद्धिजीवियों की अस्थिरता को – जिसके कारण वे अराजकतावादी लफ़्फ़ाज़ी के स्तर पर पहुंच गये हैं – उचित ठहराने का प्रयत्न करता है! यह पुछल्लावाद नहीं तो और क्या है? यह एक और साल के लिए नीचे की श्रेणी में रोक लिये जाने पर ख़ुशी से फूले न समाना और शेख़ी से इतराते हुए घूमना नहीं तो और क्या है?

नियमावली पास करने की अपेक्षा कार्यक्रम को पास करने से काम के केन्द्रीकरण में ज़्यादा मदद मिलती है। इतनी मोटी-सी बात को गूढ़ दार्शनिक बात के रूप में पेश करने में साफ़ तौर पर उग्रवादी बुद्धिजीवियों की मनोवृत्ति की बू आती है, जिनमें सामाजिक-जनवाद की अपेक्षा पूंजीवादी पतनशीलता के साथ अधिक समानता होती है! अरे, भई, इस विख्यात उक्ति में केन्द्रीकरण शब्द का प्रयोग केवल **प्रतीकात्मक** ढंग से हुआ है। यदि इस वाक्य के रचयिता-गण सोचने में असमर्थ हैं, या अगर सोचना उनको भाता नहीं है, तो कम से कम वे यह साधारण बात तो याद कर लेते कि बुंद-वादियों के साथ मिलकर एक कार्यक्रम पास करने के फलस्वरूप हम काम का केन्द्रीकरण करना तो दूर रहा, पार्टी को फूट से भी नहीं बचा सके थे। कार्यक्रम और कार्यनीति के सवालों पर एकता होना पार्टी-एकता और पार्टी के कार्य के केन्द्रीकरण के लिए आवश्यक तो है, मगर वह किसी भी प्रकार काफ़ी नहीं है (हे भगवान! सभी

अवधारणाओं के उलझ जाने से आजकल हमेशा कितनी छोटी-छोटी बातों को दुहराना पड़ता है!)। पार्टी के काम के केन्द्रीकरण के लिए, इसके अलावा, संगठन की एकता भी आवश्यक है। और किसी भी ऐसी पार्टी में जो थोड़ा भी विकास कर गयी है और जो महज़ एक पारिवारिक मण्डल नहीं रह गयी है, बिना बाक़ायदा नियमों के, बिना अल्पमत को बहुमत के, अंश को सम्पूर्ण इकाई के आधीन बनाये, संगठन की एकता की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब तक हम लोगों में कार्यक्रम और कार्यनीति के मुख्य सवालों पर एकता का अभाव था, तब तक हम साफ़-साफ़ यह मानते थे कि हम लोग फूट और मण्डल-भावना के काल में रह रहे हैं; तब खुल्लमखुल्ला हमने ऐलान किया था कि एकता होने के पहले ज़रूरी है कि हम विभाजन की रेखाओं को खींच दें; उस वक़्त हम एक संयुक्त संगठन के रूपों की चर्चा तक नहीं करते थे, बल्कि केवल इन नये सवालों पर (और उस वक़्त सचमुच ये सवाल नये थे) बहस किया करते थे कि कार्यक्रम तथा कार्यनीति के सम्बन्ध में अवसरवाद से कैसे संघर्ष किया जाये। इस समय, जैसा कि हम सब मानते हैं, इस संघर्ष के परिणामस्वरूप अब काफ़ी एकता सुनिश्चित हो गयी थी—इस एकता का मूर्त रूप है पार्टी का कार्यक्रम और कार्यनीति के सम्बन्ध में पार्टी का प्रस्ताव; हमें अगला क़दम उठाना था, और सबकी राय से हमने यह क़दम उठाया और एक ऐसे संयुक्त संगठन के **रूप** तैयार किये जो तमाम मण्डलों को एक में मिला दे। अब हमें ज़बर्दस्ती पीछे घसीट लिया गया है और इनमें से आधे रूपों को नष्ट कर दिया गया है, हमें पीछे घसीटकर फिर अराजकतावादी व्यवहार और अराजकतावादी लफ़्फ़ाज़ी की मंज़िल पर पहुंचा दिया गया है और पार्टी के सम्पादक-मण्डल की जगह पर एक पुराने मण्डल को फिर से ज़िन्दा कर दिया गया है। और पीछे की दिशा में इस क़दम को उचित ठहराया जा रहा है इस दलील के आधार पर कि शिक्षित बोल-चाल के लिए वाक्य-विन्यास की अपेक्षा वर्णमाला के ज्ञान से अधिक सहायता मिलती है!

तीन साल हुए, कार्यनीति के प्रश्नों के सम्बन्ध में पुछल्लावाद के जिस दर्शन का इतना अधिक प्रचार हुआ था, उसे आज संगठन के प्रश्नों के सम्बन्ध में फिर से ज़िन्दा किया जा रहा है। नये सम्पादकों की एक और दलील देखिये। कामरेड अलेक्सान्द्रोव कहते हैं: "पार्टी में लड़ाकू सामाजिक-जनवादी प्रवृत्ति को,

न सिर्फ़ सद्धान्तिक संघर्ष के द्वारा, बल्कि संगठन के निश्चित रूपों के द्वारा भी, क़ायम रखना चाहिए।" इस पर सम्पादकों ने यह शिक्षाप्रद बात कही: "बुरा तो नहीं है, सैद्धान्तिक संघर्ष को और संगठन के रूपों को एक-दूसरे के साथ रखना! सैद्धान्तिक संघर्ष एक प्रक्रिया होती है, जबकि संगठन के रूप केवल... रूप होते हैं," (आप विश्वास करें या न करें, अंक ५६ के परिशिष्ट में, पृष्ठ ४ के पहले कालम में बिल्कुल नीचे की ओर इन लोगों ने यही फ़रमाया है!) "जिनको एक बदलते हुए एवं विकसित होते हुए सार-तत्व के लिए—अर्थात्, पार्टी के बढ़ते हुए व्यावहारिक कार्य के लिए—एक आवरण के रूप में तैयार किया गया है।" यह ठीक उसी मज़ाक़ जैसी बात है कि तोप का गोला तोप का गोला होता है और बम बम होता है! सैद्धान्तिक संघर्ष एक प्रक्रिया होती है, और संगठन के रूप केवल सार-तत्व के आवरण का काम करनेवाले रूप होते हैं! सवाल यहां यह है कि हमारे सैद्धान्तिक संघर्ष को अपने आवरण के तौर पर **पहले से अधिक ऊंचे** रूपों की, अर्थात् पार्टी-संगठन के ऐसे रूपों की ज़रूरत है, जिनको मानने पर सब लोग बाध्य हों, या पुरानी फूट और पुराने मण्डलों के रूपों से ही उसका काम चल जायेगा? ऊंचे रूपों से हमें घसीटकर आदिम रूपों में डाल दिया गया है, और इसे इस आधार पर उचित ठहराया जा रहा है कि सैद्धान्तिक संघर्ष एक प्रक्रिया होती है और रूप—महज़ रूप होते हैं। गये हुए दिनों में कामरेड क्रिचेव्स्की ठीक इसी तरह की दलीलों के ज़रिये हमें योजना-के-रूप-में-कार्यनीति से क्रिया-के-रूप-में-कार्यनीति की ओर घसीटने की कोशिश किया करते थे।

नये 'ईस्क्रा' की "सर्वहारा की आत्म-प्रशिक्षा" की आडम्बर भरी बातों को ले लीजिये, जिनका उद्देश्य उन लोगों पर चोट करना है जो रूप के कारण सार-तत्व को भूल जाने के ख़तरे में हैं (अंक ५८, सम्पादकीय लेख)। क्या यह अकीमोव-वाद नं० २ नहीं है? कार्यनीति सम्बन्धी कामों को निर्धारित करने में सामाजिक-जनवादी बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा जो पिछड़ापन दिखाता था, उसे उचित सिद्ध करने के लिए अकीमोव-वाद नं० १ "सर्वहारा के संघर्ष" के अधिक "गूढ़" सार-तत्व तथा सर्वहारा की आत्म-प्रशिक्षा की चर्चा किया करता था। अकीमोव-वाद नं० २ संगठन के सिद्धांत तथा व्यवहार के क्षेत्र में सामाजिक-जनवादी बुद्धिजीवियों के एक हिस्से के पिछड़ेपन को उचित सिद्ध

करने के लिए उतनी ही गूढ़ता के साथ इस तरह की दलीलें देता है कि संगठन महज़ एक रूप होता है और मुख्य एवं महत्वपूर्ण चीज़ सर्वहारा की आत्म-प्रशिक्षा है। मैं आप हज़रत को, जिन्हें अपने छोटे भाई की बड़ी फ़िक्र पड़ी हुई है, बता दूं कि सर्वहारा वर्ग संगठन और अनुशासन से नहीं डरता! उन सर्वश्री प्रोफ़ेसरों और स्कूली विद्यार्थियों को, जो किसी संगठन में शामिल नहीं होना चाहते, सिर्फ़ इसलिए पार्टी मेम्बर बनवाने के लिए कि वे किसी संगठन के नियंत्रण में काम करते हैं, सर्वहारा कुछ न करेगा। सर्वहारा का पूरा जीवन बहुत-से घमंडी बुद्धिजीवियों की अपेक्षा उसको संगठन की अधिक प्रशिक्षा प्रदान कर देता है। हमारे कार्यक्रम और हमारी कार्यनीति की कुछ जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद सर्वहारा इस प्रकार की दलीलों द्वारा संगठन के मामले में पिछड़ेपन को सही नहीं ठहराने लगेगा कि रूप सार-तत्व से कम महत्वपूर्ण होता है। इस प्रकार की **आत्म-प्रशिक्षा** का अभाव सर्वहारा में नहीं, बल्कि हमारी पार्टी के **कुछ बुद्धिजीवियों** में होता है, कि उनमें संगठन और अनुशासन की भावना कूट-कूटकर भर जाये और वे अराजकतावादी लफ़्फ़ाज़ी से घृणा करने लगें। जिस प्रकार उस ज़माने के अकीमोव-वादी नं०१ यह कहकर सर्वहारा का अपमान किया करते थे कि वह राजनीतिक संघर्ष के लिए परिपक्व नहीं है, ठीक उसी प्रकार आजकल ये अकीमोव-वादी नं० २ यह कहकर सर्वहारा का अपमान करते हैं कि वह संगठन के लिए परिपक्व नहीं है। जो मज़दूर सचेतन सामाजिक-जनवादी बन चुका है और यह अनुभव करता है कि वह पार्टी का सदस्य है, वह संगठन के मामलों में पुछल्लावाद को उसी तिरस्कार से ठुकरा देगा जिस तिरस्कार से उसने कार्यनीति के मामलों में पुछल्लावाद को ठुकरा दिया था।

अन्त में, नये 'ईस्क्रा' में "प्राक्तिक" (व्यावहारिक कार्यकर्त्ता) की महान बुद्धिमानी पर विचार कीजिये। वह लिखते हैं: "यदि हम इसको सही तौर पर समझें तो क्रान्तिकारियों की **कारंवाइयों** (मोटे टाइप का प्रयोग केवल इसलिए किया गया है कि बात कुछ और गूढ़ लगे) को संयुक्त और केन्द्रित करनेवाले एक 'लड़ाकू', केन्द्रीकृत संगठन का विचार स्वभावतया केवल उसी समय कार्यान्वित हो सकता है जब ऐसी कारंवाइयां **चलती हों**" (कैसी नयी और कितनी अकल की बात है!); "संगठन ख़ुद चूंकि केवल रूप है" (ज़रा इस पर ध्यान

दीजियेगा !), "इसलिए वह केवल उस क्रान्तिकारी काम के बढ़ने के **साथ-साथ ही** (इस पूरे उद्धरण की तरह यहां भी शब्दों पर ज़ोर लेखक का है) बढ़ सकता है जो कि इस रूप का सार-तत्व है।" (अंक ५७)। क्या इसे पढ़कर लोक-कथा के उस नायक की याद नहीं आती जिसने एक अर्थी को जाते हुए देखकर कहा था कि: "भगवान यह दिन आपको बार-बार दिखाये"? मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि हमारी पार्टी में एक भी ऐसा व्यावहारिक कार्यकर्ता (इस शब्द के सच्चे अर्थ में) नहीं मिलेगा जो यह न समझता हो कि बहुत दिनों से हमारी कार्रवाइयों का रूप (अर्थात् हमारा संगठन) है जो कि उनके सार-तत्व की तुलना में पीछे रह गया है, बहुत ही बुरी तरह पीछे रह गया है, और जो लोग पिछड़ गये हैं, उनसे केवल शेख़चिल्ली ही यह कह सकते हैं कि "लाइन में रहो; आगे मत दौड़ो!" मिसाल के लिए, बुंद से हमारी पार्टी की तुलना कीजिये। इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं कि बुंद की अपेक्षा हमारी पार्टी के कार्य का **सार-तत्व*** कहीं अधिक समृद्ध, वैविध्यपूर्ण, व्यापक, गहरा है। हमारा सैद्धान्तिक विचारों का क्षेत्र अधिक व्यापक है। हमारा कार्यक्रम अधिक विकसित है। (केवल संगठित कारीगरों पर ही नहीं, बल्कि) आम मज़दूर जनता पर हमारा असर अधिक व्यापक और अधिक गहरा है, हमारा आन्दोलन और प्रचार का कार्य ज़्यादा बहुमुखी है, हमारे नेताओं तथा कार्यकर्ताओं के राजनीतिक कार्य की गति ज़्यादा तेज़ है, प्रदर्शनों और आम हड़तालों के दौरान में **जनता के** आन्दोलन ज़्यादा शानदार होते हैं, और ग़ैर-सर्वहारा हिस्सों के बीच हमारा काम ज़्यादा मुस्तैदी

---

* मैं यहां इसका ज़िक्र नहीं करूंगा कि हमारे पार्टी के काम के **सार-तत्व** की रूपरेखा कांग्रेस में (कार्यक्रम, आदि, की शक्ल में) यदि क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद की भावना के साथ तैयार की जा सकी तो **केवल एक संघर्ष के बाद,** जो संघर्ष ठीक उन्हीं 'ईस्क्रा'-विरोधियों और उसी दलदल के ख़िलाफ़ चलाया गया था जिसके प्रतिनिधियों की संख्या हमारे "अल्पमत" में सबसे ज़्यादा है। "सार-तत्व" के इस सवाल पर, मिसाल के लिए, नये 'ईस्क्रा' के १२ अंकों (अंक ५२ से ६३ तक) की पुराने 'ईस्क्रा' के छः अंकों से (अंक ४६ से ५१ तक) तुलना करना भी काफ़ी दिलचस्प रहेगा। मगर यह तो अब किसी और समय ही हो सकता है।

से होता है। और "रूप"? बुंद के मुक़ाबले में, हमारे काम का "रूप" अक्षम्य सीमा तक पिछड़ा हुआ है, इतना पिछड़ा हुआ है कि देखकर बुरा लगता है और जो कोई भी पार्टी के मामलों पर विचार करते समय महज़ "नाक नहीं कुरेदता" रहता, उसका चेहरा शर्म से लाल हो जाता है। यह हमारी कमज़ोरी है कि हमारे काम का **संगठन** उसके सार-तत्व की अपेक्षा बहुत पिछड़ा हुआ है; और यह कांग्रेस के बहुत पहले से, और संगठन-समिति के बनने के बहुत पहले से हमारी कमज़ोरी थी। रूपों के अविकसित तथा अस्थिर स्वरूप के कारण सार-तत्व के और अधिक विकास की दिशा में गंभीर क़दम उठाना असंभव हो जाता है; इससे काम में एक शर्मनाक ठहराव आ जाता है, उसकी वजह से लोगों की क्रियाशीलता व्यर्थ जाती है, और कथनी और करनी के बीच एक अन्तर पैदा हो जाता है। इस अन्तर का हम सब काफ़ी शिकार रह चुके हैं; मगर फिर भी अक्सेल्रोद और नये 'ईस्क्रा' के "प्रावितक" जैसे सज्जन हमारे सामने अपना यह गूढ़ उपदेश लेकर आते हैं: रूप को स्वाभाविक गति से और केवल सार-तत्व के साथ-साथ ही विकास करना चाहिए!

जब आप बकवास को **गूढ़ बनाकर पेश करने** की और किसी अवसरवादी बात के लिए कोई दार्शनिक कारण खोजने की कोशिश करते हैं तो संगठन के मामले में एक छोटी-सी ग़लती (पहली धारा) आपको यहां पहुंचा देती है! ज़रा धीरे-धीरे सम्भल-सम्भल, घुमावदार क़दम बढ़ाओ![208] – यह धुन हम कार्यनीति के प्रश्नों पर सुन चुके हैं; और आज फिर संगठन के प्रश्नों के प्रसंग में सुन रहे हैं। जब **अराजकतावादी व्यक्तिवादी** अपने अराजकतावादी भटकावों को (जो कि संभव है शुरू में आकस्मिक भटकाव रहे हों) एक **विचार-पद्धति** और विशिष्ट **सैद्धान्तिक मतभेदों** का रूप देने का प्रयत्न करने लगता है, तब उसकी इस मनोवृत्ति से कुदरती और लाज़िमी तौर पर **संगठन के सवालों में पुछल्लावाद** पैदा होता है। लीग की कांग्रेस में हमने इस अराजकतावाद की शुरूआत देखी थी; नये 'ईस्क्रा' में हम उसे एक विचार-पद्धति का रूप देने की कोशिशों को देख रहे हैं। इन कोशिशों से पार्टी कांग्रेस में कही गयी यह बात और भी ज़ोरदार ढंग से प्रमाणित हो जाती है कि उस पूंजीवादी बुद्धिजीवी के दृष्टिकोण में जो सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के साथ चिपक जाता है और उस मज़दूर

के दृष्टिकोण में जिसने अपने वर्ग-हितों की चेतना प्राप्त कर ली है, मौलिक अन्तर होता है। मिसाल के लिए, नये 'ईस्क्रा' का यही "प्राक्तिक", जिसकी गूढ़ता से हम ऊपर परिचित हो चुके हैं, मुझे इसलिए बुरा-भला कहता है कि मैं पार्टी को एक "बड़े भारी कारख़ाने" की शक्ल में देखता हूं जिसमें डायरेक्टर के स्थान पर केन्द्रीय समिति को रख दिया गया है (अंक ५७, परिशिष्ट)। "प्राक्तिक" को इस बात का आभास तक नहीं होता कि उसने जिस भयानक शब्द का प्रयोग किया है उससे तुरन्त पूंजीवादी बुद्धिजीवी की मनोवृत्ति झलक पड़ती है, जिसे न तो मज़दूर संगठन के सिद्धान्त का ज्ञान है और न व्यवहार का। क्योंकि कारख़ाना, जो कुछ लोगों को महज़ एक हौव्वा मालूम होता है, पूंजीवादी सहकारिता के उस सबसे ऊंचे रूप का प्रतिनिधित्व करता है जिसने सर्वहारा वर्ग को एकताबद्ध और अनुशासनबद्ध किया है, जिसने उसे संगठन करना सिखाया है, और मेहनतकश तथा शोषित जनता के अन्य सभी हिस्सों के आगे लाकर खड़ा कर दिया है। और यह मार्क्सवाद ही है, पूंजीवाद द्वारा प्रशिक्षित सर्वहारा की विचारधारा ही है जिसने अस्थिर बुद्धिजीवियों को यह सिखाया है और जो आज भी उनको यह सिखा रही है कि शोषण के साधन के रूप में (अनुशासन का आधार भूखों मरने का भय) कारख़ाना एक चीज़ होता है और संगठन के साधन के रूप में कारख़ाना एक बिल्कुल दूसरी चीज़ होता है (अनुशासन का आधार सामूहिक कार्य होता है, जिसे उत्पादन का प्राविधिक दृष्टि से बहुत विकसित रूप एक धागे में पिरो देता है)। जो अनुशासन और संगठन पूंजीवादी बुद्धिजीवी इतनी मुश्किल से सीख पाता है, उसे सर्वहारा कारख़ाने की इस "शिक्षा" के कारण विशेष रूप से बहुत ही आसानी से प्राप्त कर लेता है। इस शिक्षालय के डर से थर-थर कांपना और एक संगठनकारी शक्ति के रूप में उसके महत्व को तनिक भी न समझना – ये उस विचार-शैली की विशिष्टताएं हैं जो जीवन के निम्न-पूंजीवादी ढंग को प्रतिबिम्बित करती हैं और जिससे वह विशेष प्रकार का अराजकतावाद उत्पन्न होता है जिसे जर्मन सामाजिक-जनवादी Edelanarchismus अर्थात् "भद्र" पुरुषों का अराजकतावाद कहते हैं और जिसे मैं अभिजात वर्ग का अराजकतावाद कहता हूं। यह अभिजात-वर्गीय अराजकतावाद रूसी शून्यवादी का ख़ास लक्षण है। वह पार्टी संगठन को एक दैत्याकार कारख़ाना समझता है; अंश को

सम्पूर्ण इकाई के और अल्पमत को बहुमत के अधीन बनाने को वह "ग़ुलामी" मानता है (देखिये अक्सेलरोद के लेख)। एक केन्द्र की देखरेख में श्रम-विभाजन किया जाता है तो वह कुछ करुण, कुछ हास्यास्पद स्वर में चिल्लाता है कि लोगों को "मशीन के पुर्ज़ों" में बदल दिया गया है (सम्पादकों को लेखकों में बदल देना इस तरह का एक विशेष रूप से आपत्तिजनक रूपांतरण समझा जाता है)। पार्टी के संगठनात्मक नियमों का नाम लो तो वह तिरस्कार से मुंह बनाता है और ("औपचारिकतावादियों" को सम्बोधित करके) घृणापूर्वक कहता है कि ये सारे नियम एकदम ख़तम कर दिये जायें तो बेहतर होगा।

देखने में यह बात भले ही अविश्वसनीय लगे, मगर कामरेड मार्तोव ने 'ईस्क्रा', अंक ५८, में मुझे सम्बोधित करके एक ऐसी ही आदेशात्मक बात कही थी, और उसे ज़्यादा वज़नदार बनाने के लिए 'एक साथी के नाम पत्र' से ख़ुद मेरे शब्दों को उद्धृत किया था। पर पार्टी के युग में मंडल-भावना और अराजकतावाद को **उचित सिद्ध करने** के लिए फूट के युग की, स्थानीय मण्डलों के युग की मिसालें देना – यह "अभिजात-वर्गीय अराजकतावाद" और पुछल्लावाद नहीं है तो और क्या है?

पहले हमें नियमों की आवश्यकता क्यों नहीं थी? इसलिए कि उस समय पार्टी में अलग-अलग मण्डल थे, जिनके बीच किसी प्रकार के संगठनात्मक सम्बन्ध नहीं थे। कोई भी व्यक्ति अपनी "मर्ज़ी के माफ़िक" एक मण्डल से दूसरे मण्डल में जा सकता था, क्योंकि उसे सम्पूर्ण इकाई के किसी स्पष्ट रूप में निर्धारित इच्छा-शक्ति की अभिव्यक्ति का सामना नहीं करना पड़ता था। मण्डलों के अन्दर कोई विवाद खड़ा हो जाता था तो उसका फ़ैसला किन्हीं नियमों के द्वारा नहीं, बल्कि, जैसा कि 'एक साथी के नाम पत्र' में मैंने आम तौर पर कई एक मण्डलों के और ख़ास तौर पर छः सदस्यों के अपने सम्पादकीय मण्डल के अनुभव का हवाला देते हुए कहा था, **"संघर्ष के द्वारा और इस्तीफ़ों की धमकियों के ज़रिये"** होता था। मण्डलों के युग में ऐसा होना स्वाभाविक और अनिवार्य था, लेकिन उस वक़्त किसी को कभी यह ख़याल नहीं आया कि इस परिस्थिति की प्रशंसा के पुल बांधे या उसे एक आदर्श परिस्थिति बताये। फूट की हर आदमी शिकायत करता था, हरेक उससे तंग आ गया था, और हर आदमी इसके लिए उत्सुक था कि अलग-अलग काम

करनेवाले मण्डल एक बाजाब्ता तौर पर बनाये गये पार्टी संगठन में घुल-मिल जायें। और अब जबकि यह एकता क़ायम हो गयी है, तब हमें फिर पीछे घसीटा जा रहा है और ज़्यादा ऊंचे संगठनात्मक विचारों के नाम पर अराजकतावादी लफ़्फ़ाज़ी हमारे सामने झाड़ी जा रही है! जिन लोगों को स्थानीय मण्डलों के ओब्लोमोव[209]-मार्का घरेलूपन की, उसके ढीले-ढाले ड्रेसिंग गाउन और स्लीपरों की आदत पड़ी हुई है, उनको वैधानिक नियम संकुचित, हाथ-पैर बांध देनेवाले, कष्टदायक, ओछे, तथा नौकरशाहाना, दासता के बंधनों की तरह और सैद्धान्तिक संघर्ष की उन्मुक्त "प्रक्रिया" को ज़ंजीरों में जकड़ देनेवाले प्रतीत होते हैं। अभिजात-वर्गीय अराजकतावाद की समझ में यह नहीं आ सकता कि मण्डलों के संकुचित सम्बन्धों के स्थान पर व्यापक पार्टी सम्बन्ध क़ायम करने के लिए ही वैधानिक नियमों की आवश्यकता होती है। एक मण्डल के अन्दरूनी सम्बन्धों को या विभिन्न मण्डलों के आपसी सम्बन्धों को वैधानिक रूप देना अनावश्यक तथा असम्भव था, क्योंकि इन सम्बंधों का आधार मित्रता अथवा पारस्परिक "विश्वास" होता था जिसके लिए कोई कारण या आधार बताना आवश्यक नहीं होता था। लेकिन पार्टी का सम्बन्ध इन दोनों बातों में से किसी पर भी आधारित नहीं हो सकता, और न ही उसे होना चाहिए, उसे आधारित होना चाहिए **वैधानिक**, "नौकरशाही ढंग में" लिखे हुए (अनुशासन न माननेवाले बुद्धिजीवी के दृष्टिकोण से नौकरशाही) नियमों पर, जिन नियमों का सख़्ती से पालन होने से ही हम मण्डलों के मनमौजीपन और स्वेच्छाचार से बच सकेंगे, तभी हम मण्डलों की उस घिसघिस से बच सकेंगे जिसे सैद्धान्तिक संघर्ष की स्वतंत्र "प्रक्रिया" कहा जाता है।

नये 'ईस्क्रा' के सम्पादक अलेक्सान्द्रोव पर तुरुप लगाने के लिए यह फ़िकरा कसते हैं कि "विश्वास एक नाज़ुक चीज़ होती है और वह जबर्दस्ती लोगों के दिलों और दिमाग़ों में नहीं ठूंसी जा सकती।" (अंक ५६, परिशिष्ट) सम्पादक-गण यह नहीं समझते कि विश्वास की, **नग्न** विश्वास की बातें करके वे फिर अपने अभिजात-वर्गीय अराजकतावाद और संगठनात्मक पुछल्लावाद का परिचय दे रहे हैं। जब मैं केवल एक मण्डल का सदस्य था—चाहे वह छः सम्पादकों का मण्डल रहा हो या 'ईस्क्रा' संगठन का मण्डल रहा हो—मुझे इस बात का अधिकार था कि केवल विश्वास के अभाव के आधार पर, कोई

कारण या उद्देश्य बताये बिना ही इक्स के साथ काम करने से इनकार कर दूं। लेकिन अब, जब कि मैं एक पार्टी का सदस्य हो गया हूं मुझे इस बात का **अधिकार नहीं रह गया है** कि मैं अस्पष्ट रूप से विश्वास के अभाव की दुहाई दूं, क्योंकि यदि मैं ऐसा करूंगा तो पुराने मण्डलों के मनमौजीपन और स्वेच्छाचार के लिए द्वार खुल जायेंगे; अब मुझे अपने "विश्वास" के या "विश्वास के अभाव" के बाज़ाब्ता तौर पर कारण बताने **पड़ेंगे**, यानी मुझे हमारे कार्यक्रम, कार्यनीति अथवा नियमावली के किसी बाज़ाब्ता तौर पर निर्धारित सिद्धान्त का हवाला देना पड़ेगा; अब मैं बिना कोई कारण या उद्देश्य बताये, केवल अपने "विश्वास" या "विश्वास के अभाव" की घोषणा नहीं कर सकता, बल्कि अब मुझे समझना चाहिए कि अपने फ़ैसलों के लिए और आम तौर पर पार्टी के किसी भी हिस्से के सभी फ़ैसलों के लिए—मुझे पूरी पार्टी के सामने **जवाब देना पड़ेगा;** अब अपने "विश्वास के अभाव" को व्यक्त करते समय, या इस अविश्वास पर आधारित अपने विचारों तथा इच्छाओं को मनवाने की कोशिश करते समय, मुझे एक **बाज़ाब्ता तौर पर निर्धारित** कार्यविधि के अनुसार चलना होगा। हमने **मण्डलों** के युग के इस मत से ऊपर उठकर कि "विश्वास" या "अविश्वास" के लिए किसी से कारण नहीं पूछा जा सकता, **पार्टी** के युग का यह मत अंगीकार कर लिया है कि अपने विश्वास व्यक्त करने, उसका कारण बताने, और उसे **परखने** के लिए हरेक को एक बाज़ाब्ता तौर पर निर्धारित कार्यविधि का पालन करना चाहिए। लेकिन सम्पादक-गण हमें पीछे घसीटने की कोशिश कर रहे हैं और अपने पुछल्लावाद को संगठन-सम्बन्धी नये विचार बता रहे हैं!

हमारे ये तथाकथित 'पार्टी-सम्पादक उन साहित्यिक दलों के बारे में, जो कि सम्भव है सम्पादक-मण्डल में अपने प्रतिनिधि भेजने का हक़ मांगें, जिस तरह बातें करते हैं, वह ज़रा सुनिये। ये अभिजात-वर्गीय अराजकतावादी, जिन्होंने हमेशा और हर मौक़े पर अनुशासन जैसी चीज़ को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है, हमें झिड़ककर कहते हैं, "हम उनसे नाराज़ नहीं होंगे और न ही तुरत अनुशासन के बारे में चिल्लाने लगेंगे"। यदि दल कामकाजी ढंग का है तो हम उसके साथ "मामला तै कर लेंगे" (जी हां!) और वरना उसकी मांगों का मज़ाक़ बनायेंगे।

वाह! भोंड़े "कारख़ाना-मार्का" औपचारिकतावाद का कैसा आला दर्जे

का और उदात्त जवाब है! लेकिन, असल में, यह वही पुरानी मण्डलों की शब्दावली है जिसे यहां थोड़ा-बहुत मुलम्मा चढ़ाकर एक ऐसा सम्पादक-मण्डल पार्टी के सामने पेश कर रहा है जो अपने को एक पार्टी संस्था नहीं, बल्कि एक पुराने मण्डल का अवशेष समझता है। इस मत में जो झूठ छिपा है, वह अनिवार्य रूप से इस **अराजकतावादी** गूढ़ता को जन्म देता है कि एक तरफ़ तो ये लोग बगुला-भगतों की तरह यह कहते हैं कि पार्टी में फूट ख़तम हो गयी है, और दूसरी तरफ़ वे उसी फूट को ऊंचा उठाकर सामाजिक-जनवादी संगठन का **सिद्धान्त** बना देते हैं। पार्टी की ऊँची संस्थाओं और नीचे की संस्थाओं और पार्टी के अधिकारियों के एक पूरे सोपान की कोई आवश्यकता नहीं है – अभिजात-वर्गीय अराजकतावाद की दृष्टि में ऐसा हर पद-सोपान मंत्रिमण्डलों और सरकारी विभागों आदि की नौकरशाही ईजाद है (देखिये अक्सेलरोद का लेख); अंश के पूरी इकाई के सामने सिर झुकाने की कोई आवश्यकता नहीं है; "मामला तै करने", या अलग रास्ता अपनाने के **पार्टी** के तरीक़ों की "बाज़ाब्ता तथा नौकरशाही ढंग से" परिभाषा करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। बस मण्डलों की पुरानी घिसघिस को संगठन के "सच्चे सामाजिक-जनवादी" तरीक़ों का नाम देकर प्रतिष्ठित कर दीजिये।

और यही वह स्थान है जहां "कारख़ाने" के स्कूल में शिक्षा प्राप्त किया हुआ मज़दूर अराजकतावादी व्यक्तिवाद को पाठ पढ़ा सकता है और उसे पढ़ाना चाहिए। वर्ग-चेतन मज़दूर बहुत पहले ही उस बचपन की अवस्था से निकल चुका है जब कि वह हर बुद्धिजीवी से घबराता था। सामाजिक-जनवादी बुद्धिजीवियों में मज़दूर को ज्ञान का जो अधिक समृद्ध भण्डार और जो अधिक विस्तृत राजनीतिक दृष्टिकोण मिलता है, उसको वर्ग-चेतन मज़दूर बहुत महत्व देता है। लेकिन जैसे-जैसे हमारा एक **सच्ची** पार्टी के निर्माण का काम आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे वर्ग-चेतन मज़दूर को यह सीखना चाहिए कि सर्वहारा की सेना के सैनिक की मनोवृत्ति में और उस पूंजीवाद बुद्धिजीवी की मनोवृत्ति में, जो केवल अराजकतावादी बातें बघारता है, क्या अन्तर होता है; वर्ग-चेतन मज़दूर को इस बात पर **आग्रह करना** चाहिए कि न केवल साधारण कार्यकर्त्ता, बल्कि "ऊपर के लोग" भी पार्टी के सदस्य के कर्त्तव्यों को पूरा करें; वर्ग-चेतन मज़दूर को संगठन के मामलों में पुछल्लावाद को उसी तिरस्कार के साथ देखना सीखना चाहिए जिस तिरस्कार के साथ वह पुराने ज़माने में कार्यनीति के मामलों में पुछल्लावाद को देखा करता था!

संगठन के प्रश्नों की ओर नये 'ईस्क्रा' के रुख़ की आख़िरी विशेषता, अर्थात् केन्द्रीयता के विरुद्ध **स्थानीय स्वायत्त अधिकारों** का समर्थन करना, जिरौंद-वाद और अभिजात-वर्गीय अराजकतावाद से अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। नया 'ईस्क्रा' नौकरशाही और निरंकुशता के ख़िलाफ़ जो चीख़-पुकार मचाता है, "ग़ैर-'ईस्क्रा'-वादियों के प्रति" (यानी, उन लोगों के प्रति जिन्होंने कांग्रेस में स्थानीय स्वायत्त अधिकारों की हिमायत की थी) "उपेक्षा का व्यवहार करने" पर वह जो अफ़सोस ज़ाहिर करता है, "बिला किसी शर्त के आदेशों का पालन करने" की मांग पर वह जिस हास्यास्पद ढंग से रोने-चिल्लाने लगता है, जिस कटुता के साथ वह "तानाशाही तरीक़ों" की शिकायत करता है, इत्यादि, इत्यादि -- उस सबका सैद्धान्तिक अर्थ (यदि उसका ऐसा कोई अर्थ है तो*) यही है। किसी भी पार्टी का अवसरवादी पक्ष, हमेशा हर प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति का समर्थन करता है, उस प्रवृत्ति का संबंध चाहे कार्यक्रम से हो, या कार्यनीति से या संगठन से। संगठन के मामलों में, नये 'ईस्क्रा' द्वारा प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों (पुछल्लावाद) का समर्थन स्थानीय **स्वायत्त** अधिकारों के समर्थन से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। यह सच है कि आम तौर पर पुराने 'ईस्क्रा' के तीन साल के शिक्षा-कार्य ने स्थानीय स्वायत्त अधिकार के विचार को इतना बदनाम कर दिया है कि नये 'ईस्क्रा' को **अभी** उसका खुलेआम समर्थन करने में शर्म आती है; अभी तक वह हमें यही आश्वासन दे रहा है कि उसकी सहानुभूति केन्द्रीयता के साथ है। लेकिन इसका प्रमाण वह सिर्फ़ यही देता है कि केन्द्रीयता शब्द को वह सदा इटैलिक टाइप में छापता है। वास्तव में, नये 'ईस्क्रा' के "सच्ची सामाजिक-जनवादी" (अराजकतावादी नहीं?) दिखावटी-केन्द्रीयता के "सिद्धान्तों" को यदि आलोचना की कसौटी पर ज़रा भी परखा जाये तो उनका स्थानीय स्वायत्त अधिकारों वाला दृष्टिकोण हर क़दम पर सामने आ जाता है। क्या अब हर ऐरे-ग़ैरे-नत्थू-ख़ैरे के सामने भी यह बात स्पष्ट नहीं है कि संगठन के सवाल पर अक्सेल्रोद और मार्तोव ने अकीमोव का दृष्टिकोण अपना लिया है? क्या इन महानुभावों ने "ग़ैर-'ईस्क्रा'-वादियों के प्रति अनुचित उपेक्षा" के मर्मपूर्ण शब्दों द्वारा यह

---

*इस चीख़-पुकार का "नये नाम जोड़वाने" से जो सम्बन्ध है, उसे यहां पर, और इस अध्याय में आम तौर पर मैंने छोड़ दिया है।

बात नहीं मान ली है? और अकीमोव तथा उनके मित्रों ने हमारी पार्टी कांग्रेस में स्थानीय स्वायत्त अधिकारों का नहीं तो और किस चीज़ का समर्थन किया था?

जब लीग की कांग्रेस में मार्तोव और अक्सेलरोद ने बड़े हास्यास्पद उत्साह के साथ यह साबित करने की कोशिश की कि अंश के लिए पूरी इकाई के आदेशों को मानना ज़रूरी नहीं है, अंश को पूरी इकाई के साथ अपने सम्बन्धों को निर्धारित करने का पूरा अधिकार है, विदेश-स्थित लीग के वे नियम, जिनमें ये सम्बन्ध निर्धारित किये गये हैं, पार्टी के बहुमत की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ जाते हुए भी, पार्टी के केन्द्र की स्वीकृति न मिलने पर भी, सार्थक हैं—तब, वास्तव में, उन्होंने (यदि अराजकतावाद का नहीं तो) स्वायत्त अधिकारों के विचार का ही समर्थन किया था। केन्द्रीय समिति के स्थानीय समितियों के सदस्यों को नियुक्त करने के अधिकार के प्रश्न पर भी आजकल कामरेड मार्तोव नये 'ईस्क्रा' के कालमों में (अंक ६० में) खुलेआम स्वायत्त अधिकारों का ही समर्थन कर रहे हैं[210]। लीग की कांग्रेस में स्वायत्त अधिकारों का समर्थन करने के लिए कामरेड मार्तोव ने जिस तरह के बेतुके कुतर्कों का इस्तेमाल किया, और जिन्हें नये 'ईस्क्रा' में वह अब भी इस्तेमाल कर रहे हैं*, उनका मैं यहां ज़िक्र नहीं करूंगा—यहां महत्व की बात सिर्फ़ यह देखने की है कि **केन्द्रीयता के विरुद्ध स्वायत्त अधिकारों का समर्थन करने** की प्रवृत्ति निःसंदेह है, जो संगठन के मामलों में अवसरवाद की एक बुनियादी विशेषता होती है।

नौकरशाही क्या है, इसका **विश्लेषण** करने की इन लोगों ने शायद सिर्फ़ एक यह कोशिश की है कि नये 'ईस्क्रा' (अंक ५३) में "औपचारिक **जनवादी** सिद्धान्त" (शब्द पर ज़ोर लेखक का है) और "औपचारिक **नौकरशाही**

---

*नियमावली की विभिन्न धाराओं को गिनाते हुए कामरेड मार्तोव ने ठीक उसी धारा को **छोड़ दिया** जिसका ताल्लुक़ पूरी इकाई के साथ अंश के सम्बन्ध से है: यानी यह कि "पार्टी की शक्तियों का विभाजन" केन्द्रीय समिति करेगी (६ ठी धारा)। क्या पार्टी के कार्यकर्ताओं को एक समिति से हटाकर दूसरी समिति में भेजे बग़ैर भी पार्टी की शक्तियों का विभाजन किया जा सकता है? ऐसी छोटी-छोटी बातों के बारे में भी लिखना पड़े, यह सचमुच कुछ बेतुका-सा लगता है।

सिद्धान्त" का अंतर बताया है। इस अंतर में (जिसको, दुर्भाग्य से, ठीक ग़ैर-'ईस्क्रा'-वादियों की ओर किये गये संकेत की तरह ही इससे अधिक विकसित नहीं किया गया, न उसकी व्याख्या ही इससे अधिक कुछ की गयी) सत्य का भी एक अंश है। नौकरशाही बनाम जनवाद हूबहू वही चीज़ है जो केन्द्रीयता बनाम स्वायत्त अधिकार है। वह अवसरवादी सामाजिक-जनवाद के संगठनात्मक सिद्धान्त के मुक़ाबले में क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद का संगठनात्मक सिद्धान्त है। अवसरवादी सामाजिक-जनवाद संगठन के मामले में नीचे से ऊपर की ओर बढ़ने की कोशिश करता है, और इसलिए जहां और जिस हद तक भी मुमकिन होता है, वह स्वायत्त अधिकारों का, एक ऐसे "जनवाद" का समर्थन करता है जो (ज़रूरत से ज़्यादा उत्साही लोगों के हाथों में) अराजकतावादी की हद तक पहुंच जाता है। क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद ऊपर से नीचे की ओर बढ़ने की कोशिश करता है और अलग-अलग हिस्सों के सम्बन्ध में केन्द्र की शक्ति और अधिकारों को बढ़ाने का समर्थन करता है। फूट और मण्डलों के युग में, यह शीर्ष जहां से क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद संगठन के मामले में आरम्भ करने की कोशिश कर रहा था, लाज़िमी तौर पर ख़ुद एक मण्डल था, वह मण्डल जो अपने कार्य तथा अपनी क्रान्तिकारी दृढ़ता के कारण सबसे अधिक प्रभावशाली था (हमारे मामले में, 'ईस्क्रा' संगठन ऐसा मण्डल था)। पार्टी की सच्ची एकता की पुनर्स्थापना और इस एकता में मण्डलों के विलीन हो जाने के युग में यह शीर्ष, लाज़िमी तौर पर पार्टी की सबसे ऊंची संस्था के रूप में, **पार्टी कांग्रेस** है; जहां तक सम्भव होता है, कांग्रेस में सभी सक्रिय संगठनों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं, और केन्द्रीय संस्थाओं को नियुक्त करके वह उनको अगली कांग्रेस तक के लिए शीर्ष बना देती है (अक्सर इन केन्द्रीय संस्थाओं के सदस्य ऐसे लोग चुने जाते हैं जो पार्टी के पिछड़े हुए तत्वों की उपेक्षा आगे बढ़े हुए तत्वों को अधिक संतोषजनक प्रतीत होते हैं, और पार्टी के अवसरवादी पक्ष के मुक़ाबले में क्रान्तिकारी पक्ष को ज़्यादा पसन्द आते हैं)। यूरोप के सामाजिक-जनवादियों के बारे में बहरहाल यही बात है; पर अब यह प्रथा जिससे अराजकतावादी सिद्धान्ततः इतनी घृणा करते हैं, धीरे-धीरे एशिया के सामाजिक-जनवादियों में भी फैल रही है, हालांकि यह बात काफ़ी कठिनाइयों और काफ़ी थुक्का-फ़ज़ीहत के बिना नहीं हो रही है।

यह बात बहुत दिलचस्प है कि संगठन के मामलों में अवसरवाद की ये मौलिक विशेषताएं (स्वायत्त अधिकार, अभिजात-वर्ग अथवा बुद्धिजीवियों का अराजकतावाद, पुछल्लावाद, और जिरौंद-वाद) यथानुकूल परिवर्तनों के साथ दुनिया की ऐसी सभी सामाजिक-जनवादी पार्टियों में दिखायी देती हैं जो क्रान्तिकारी पक्ष और अवसरवादी पक्ष में बंट गयी हैं (और ऐसी कौनसी पार्टी है जो इस तरह नहीं बंट गयी है?)। जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी में यह बात अभी हाल में और बहुत स्पष्ट रूप में प्रकट हुई जब कि सैक्सोनी के २० वें चुनाव-क्षेत्र के चुनावों में हार जाने के परिणामस्वरूप (जो ग्योरे वाली घटना कहलाती है*) पार्टी के संगठन के **सिद्धान्तों** का सवाल सामने आया। इस बात की ज़िम्मेदारी कि यह घटना एक सैद्धान्तिक सवाल बन गयी, मुख्यतया जर्मन अवसरवादियों के उत्साह पर है। ग्योरे (एक भूतपूर्व पादरी, *«Drei Monate Fabrikarbeiter»*** नामक उस पुस्तक का लेखक जो अप्रसिद्ध नहीं है; और ड्रेसडेन कांग्रेस के "महारथियों" में से एक) खुद पहले सिरे का अवसरवादी था, और सुसंगत जर्मन अवसरवादियों के मुखपत्र, *«Sozialistische Monatshefte»* (समाजवादी मासिक)[212] ने तुरन्त उसकी तरफ़ से "मोर्चा जमा दिया"।

कार्यक्रम में अवसरवाद का, कार्यनीति में अवसरवाद से और संगठन में अवसरवाद से स्वाभाविक सम्बन्ध है। इस "नये" दृष्टिकोण का प्रतिपादन करने का बीड़ा वोल्फ़गैंग हाइने ने उठाया था। पाठकों को इस बात का कुछ पता देने के लिए कि इस ठेठ बुद्धिजीवी का, जो सामाजिक-जनवादी आंदोलन में शामिल होते समय अपने साथ सोचने का अवसरवादी ढंग लेकर आया था,

---

*ग्योरे १६ जून, १६०३ को सैक्सोनी के १५ वें चुनाव-क्षेत्र से राइख़स्टाग के लिए चुना गया, लेकिन ड्रेसडेन कांग्रेस[211] के बाद उसने इस्तीफ़ा दे दिया। २० वां चुनाव-क्षेत्र रोज़ेनोव की मृत्यु से ख़ाली हो गया था, उसके निर्वाचक यह सीट ग्योरे को देना चाहते थे। पार्टी की केन्द्रीय काउंसिल तथा सैक्सोनी की केन्द्रीय प्रचार समिति ने इस सुझाव का विरोध किया, और हालांकि उन्हें ग्योरे को नामज़द किये जाने से रोकने का कोई वैधानिक अधिकार तो न था, मगर फिर भी वे इसमें कामयाब हो गयीं कि ग्योरे ने खुद इनकार कर दिया। चुनाव में सामाजिक-जनवादी हार गये।

**'फ़ैक्टरी के मज़दूर के रूप में तीन मास।'–अनु०

राजनीतिक स्वरूप क्या है, इतना बता देना ही काफ़ी है कि वह कामरेड अकीमोव के जर्मन संस्करण से कुछ कम और कामरेड येगोरोव के जर्मन संस्करण से कुछ अधिक है।

कामरेड अक्सेलरोद ने नये 'ईस्क्रा' में जिस शान के साथ लड़ाई का बिगुल बजाया था, 'समाजवादी मासिक' में कामरेड वोल्फ़गैंग हाइने ने उससे कम शान के साथ युद्ध की घोषणा नहीं की। उनके लेख का शीर्षक ही अनमोल है: 'ग्योरे वाली घटना पर कुछ जनवादी टिप्पणियां' (*«Sozialistische Monatshefte»*, अंक ४, अप्रैल)। और लेख की विषय-वस्तु भी उससे कम गरजदार नहीं है। कामरेड हाइने "एक चुनाव-क्षेत्र के स्वायत्त अधिकार पर इस हमले" के ख़िलाफ़ ताल ठोंककर मैदान में आ जाते हैं, "जनवादी सिद्धान्त" का समर्थन करते हैं और इस बात के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलन्द करते हैं कि एक "ऊपर से नियुक्त की गयी संस्था" ने (यानी पार्टी की केन्द्रीय काउंसिल ने) जनता द्वारा प्रतिनिधियों के स्वतंत्र चुनाव में हस्तक्षेप किया। कामरेड हाइने हम लोगों को झिड़कते हुए कहते हैं कि सवाल किसी आकस्मिक घटना का नहीं, बल्कि **"पार्टी में नौकरशाही और केन्द्रीयता की एक आम प्रवृत्ति"** का है। उनका कहना है कि यह प्रवृत्ति वैसे तो पहले भी दिखायी देती थी, पर आजकल वह ख़ास तौर पर ख़तरनाक रूप धारण कर रही है। यह बात "सिद्धान्ततः मान ली जानी चाहिए कि पार्टी की स्थानीय संस्थाओं के सहारे ही पार्टी का जीवन चलता है" (यह विचार कामरेड मार्तोव की पुस्तिका 'एक बार फिर अल्पमत में' से चुराया गया है)। हमें "इस बात की आदत नहीं पड़ जाना चाहिए कि तमाम महत्वपूर्ण राजनीतिक फ़ैसले एक केन्द्र से हमारे पास आयेंगे," और हमें पार्टी को "ऐसी मतवादी नीति से" सतर्क कर देना चाहिए "जिसका जीवन से सम्पर्क नहीं रह जाता है" (यह विचार पार्टी कांग्रेस में कामरेड मार्तोव के उस भाषण से चुराया गया है, जिसमें उन्होंने कहा था कि "ज़िन्दगी अपना तक़ाज़ा पूरा कराके रहेगी")। अपने तर्क को और भी गूढ़ बनाते हुए, कामरेड हाइने फ़रमाते हैं: ... "अगर हम मामले की जड़ तक पहुंचें, अगर हम अपने को व्यक्तिगत झगड़ों से अलग कर लें, जिनका और सब जगहों की तरह यहां भी कुछ कम हाथ नहीं रहा है, तो हम देखेंगे कि **संशोधनवादियों** के ख़िलाफ़ (शब्द पर जोर लेखक ने दिया है और स्पष्टतः संकेत इस बात की ओर है कि संशोधनवाद से लड़ने और संशोधनवादियों

से लड़ने में फ़र्क़ होता है) यह कटुता मुख्यतया **'बाहर के लोगों'** के प्रति पार्टी के अधिकारियों की अविश्वास की भावना को प्रकट करती है" (ज़ाहिर है कि वो० हाइने ने उस समय तक घेरे की स्थिति का मुक़ाबला करने के बारे में वह पुस्तिका नहीं पढ़ी थी और इसीलिए उन्होंने एक अंग्रेज़ी के शब्द से बनाये गये शब्द Outsidertum – बाहर के लोगों – का प्रयोग किया है) "और यह कटुता असाधारण के प्रति परम्परा के अविश्वास को तथा हर व्यक्तिगत चीज़ के प्रति एक अवैयक्तिक संस्था के अविश्वास को व्यक्त करती है" (लीग की कांग्रेस में व्यक्तिगत पहलक़दमी के दबाये जाने के सम्बन्ध में अक्सेलरोद का प्रस्ताव देखिये); "संक्षेप में यह वह प्रवृत्ति है जिसकी हमने ऊपर पार्टी में नौकरशाही और केन्द्रीयता स्थापित करने की प्रवृत्ति के रूप में व्याख्या की है।"

"अनुशासन" के विचार से जितनी उदात्त घृणा कामरेड अक्सेलरोद को है, उससे कम कामरेड हाइने को नहीं है ... वह लिखते हैं: "संशोधनवादियों पर 'समाजवादी मासिक' में लिखने के कारण अनुशासन के अभाव का आरोप लगाया गया है – **पार्टी के नियंत्रण में** न होने के कारण जिसके सामाजिक-जनवादी स्वरूप को भी मानने से इनकार किया गया है। 'सामाजिक-जनवादी' नाम को संकीर्ण बना देने की यह कोशिश, सैद्धान्तिक उत्पादन के क्षेत्र में, जहां पूर्ण स्वाधीनता का राज्य होना चाहिए, **अनुशासन** लादने का यह प्रयत्न" (याद रखिये कि सैद्धान्तिक संघर्ष एक प्रक्रिया है जब कि संगठन के रूप केवल रूप हैं), "ये बातें ख़ुद नौकरशाही क़ायम करने और व्यक्तित्व को दबाने की प्रवृत्ति के प्रमाण हैं।" और इस तरह वो० हाइने, "अधिक से अधिक केन्द्रीभूत, **एक** विशाल सर्वव्यापी संगठन, **एक** कार्यनीति, और **एक** सिद्धान्त" बनाने की घृणास्पद प्रवृत्ति के ख़िलाफ़, "बिला शर्त आज्ञा मानने" की मांग के ख़िलाफ़, "अंधों की तरह हुक्म बजाने" के ख़िलाफ़, "अति सरल ढंग की केन्द्रीयता" के ख़िलाफ़, और इसी तरह की अन्य अनेक बातों के ख़िलाफ़ अक्षरशः "अक्सेलरोद के ढंग में" बमकते-बिगड़ते चले जाते हैं।

हाइने ने जो विवाद आरम्भ किया वह आगे फैला और जर्मन पार्टी में चूंकि सवाल पर पर्दा डालने के लिए नये नाम जोड़ने का कोई झगड़ा नहीं था, और चूंकि जर्मन पार्टी के कामरेड अकीमोव जैसे सदस्य केवल पार्टी कांग्रेस में ही नहीं बल्कि अपनी एक अलग और स्थायी पत्रिका में भी अपने राजनीतिक स्वरूप का

प्रदर्शन करते रहते हैं, इसलिए इस पूरे विवाद ने बहुत जल्द संगठन के प्रश्न पर कट्टरपंथी और संशोधनवादी प्रवृत्तियों के विश्लेषण का रूप धारण कर लिया। क्रान्तिकारी प्रवृत्ति के (जिस पर ठीक हमारी पार्टी की तरह ही "तानाशाही" का, "हाथ धोकर लोगों के पीछे पड़ जाने" का, और इसी तरह की अन्य अनेक भयानक बातों का आरोप लगाया गया) एक प्रवक्ता के रूप में कार्ल काउत्स्की («*Neue Zeit*», १९०४, अंक २८ में प्रकाशित «*Wahlkreis und Partei*» – 'चुनाव-क्षेत्र और पार्टी' – शीर्षक लेख में) मैदान में उतरे। वह लिखते हैं: "हाइने का लेख पूरी संशोधनवादी प्रवृत्ति के विचार-क्रम को ज़ाहिर कर देता है।" न केवल जर्मनी में, बल्कि फ़्रांस और इटली में भी, अवसरवादी सब के सब स्वायत्त अधिकारों के, पार्टी-अनुशासन को ढीला करने के, उसे बिल्कुल ख़तम कर देने के पक्के समर्थक हैं; हर जगह उनकी प्रवृत्तियों से **संगठन छिन्न-भिन्न होता है** और "जनवादी सिद्धान्त" भ्रष्ट होकर **अराजकतावाद** में बदल जाता है। संगठन के विषय में अवसरवादियों को उपदेश देते हुए कार्ल काउत्स्की कहते हैं: "जनवाद का अर्थ सत्ता का न होना नहीं है, उसका अर्थ अराजकता नहीं है, उसका अर्थ यह है कि जनता का अपने प्रतिनिधियों के ऊपर शासन हो, और उस प्रकार की शासन-व्यवस्था न हो जिसमें जनता के तथाकथित सेवक, वास्तव में, उसके स्वामी होते हैं।" विभिन्न देशों में स्वायत्त अधिकारों के अवसरवादी विचार की कैसी फूट डालनेवाली भूमिका रही है, इसका कार्ल काउत्स्की ने अपने लेख में विस्तार से वर्णन किया है; उन्होंने दिखाया है कि अवसरवाद को, स्वायत्त अधिकारों के विचार को, और अनुशासन तोड़ने की प्रवृत्ति को ठीक इसी बात से बल मिला है कि **"पूंजीवादी तत्वों की एक बड़ी संख्या"*** सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में शरीक हो गयी है। काउत्स्की ने एक बार फिर हमें यह याद दिलाया है कि "संगठन ही वह अस्त्र है जो सर्वहारा को मुक्ति दिलायेगा", कि "संगठन वर्ग-संघर्ष में सर्वहारा का ख़ास हथियार है"।

---

* इसके उदाहरण के रूप में कार्ल काउत्स्की ने **जोरेस** का नाम लिया है। उनके कथनानुसार, ये लोग जितना ज़्यादा अवसरवाद की ओर भटकते थे, "पार्टी के अनुशासन को लाज़िमी तौर पर वे उतना ही ज़्यादा अपने व्यक्तित्व पर एक असहनीय बंधन समझते थे"।

काउत्स्की के कथनानुसार, जर्मनी में, जहां अवसरवाद फ़्रांस या इटली से कमज़ोर है, "स्वायत्त अधिकारों वाली प्रवृत्तियों का अभी तक केवल यही परिणाम हुआ है कि तानाशाहों और धर्म के ठेकेदारों के ख़िलाफ़, और धर्म-द्रोहियों को खोज-खोजकर धर्म-संस्था से बहिष्कृत करने* की प्रथा के ख़िलाफ़ कुछ न्यूनाधिक आडम्बरपूर्ण घोषणाएं और वक्तव्य निकले हैं और बाल की खाल निकालकर छोटी-छोटी बातों में लोगों की ग़लतियां ढूंढी गयी हैं, जिनका यदि दूसरी तरफ़ से जवाब दिया जाये तो कभी ख़तम न होनेवाली थुक्का-फ़ज़ीहत शुरू हो जाये।"

तब कोई आश्चर्य नहीं यदि रूस में, जहां अवसरवाद जर्मनी से भी कमज़ोर है, स्वायत्त अधिकारों वाली प्रवृत्तियों ने और भी कम विचारों तथा और भी अधिक "आडम्बरपूर्ण घोषणाओं और वक्तव्यों" को और थुक्का-फ़ज़ीहत को जन्म दिया है।

और कोई आश्चर्य नहीं यदि काउत्स्की इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि "सभी देशों के संशोधनवाद में, विभिन्न रंगों और रूपों के होते हुए भी, किसी और सवाल पर इतनी समानता नहीं है जितनी संगठन के सवाल पर है"। इस क्षेत्र में कट्टरपंथी और संशोधनवाद की मूल प्रवृत्तियों की परिभाषा कार्ल काउत्स्की ने भी उन्हीं "भयंकर शब्दों" द्वारा की है: नौकरशाही बनाम जनतंत्र। वह कहते हैं: "हमसे कहा जाता है कि विभिन्न चुनाव-क्षेत्रों के (संसद के लिए) उम्मीदवार छांटने के मामले में पार्टी के नेताओं को अपना असर डालने का अधिकार देना इस 'जनवादी सिद्धान्त की लज्जाजनक अवहेलना होगी जिसका तक़ाज़ा है कि समस्त राजनीतिक कार्य को ऊपर से नीचे की ओर नहीं, नौकरशाही ढंग से नहीं, बल्कि जनता की स्वतंत्र क्रिया द्वारा नीचे से ऊपर की ओर बढ़ना चाहिए'... लेकिन यदि सचमुच कोई जनवादी सिद्धान्त है तो वह यह है कि बहुमत के लिए अल्पमत का फ़ैसला नहीं, बल्कि अल्पमत के लिए बहुमत का फ़ैसला मान्य होना चाहिए..." किसी क्षेत्र से संसद के लिए कौन चुना जाये, यह प्रश्न पूरी पार्टी के लिए महत्वपूर्ण

---

* Bannstrahl—धर्म-संस्था से बाहर करना। यह रूसी "घेरे की स्थिति" और "असाधारण क़ानूनों" का जर्मन पर्याय है। यह जर्मन अवसरवादियों का "भयंकर शब्द" है।

प्रश्न है, और पूरी पार्टी को उम्मीदवारों की नामज़दगी पर अपना असर डालना चाहिए, भले ही वह यह असर अपने प्रतिनिधियों के ज़रिये डाले (Vertrauensmänner)। "जिस किसी को यह तरीक़ा ज़रूरत से ज़्यादा नौकरशाही का या अतिकेन्द्रीयता का तरीक़ा मालूम होता है, उसे सुझाव देना चाहिए कि पार्टी के तमाम सदस्यों (sämtliche Parteigenossen) के प्रत्यक्ष वोट के ज़रिए उम्मीदवार नामज़द किये जायें। यदि वह समझता है कि यह बात व्यावहारिक नहीं है, तो जब पूरी पार्टी से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य बहुत-से कामों की तरह यह काम भी पार्टी की कोई संस्था करती है तो उसे जनतंत्र के अभाव की शिकायत नहीं करनी चाहिए।" जर्मन पार्टी में यह बहुत पुराना "आम क़ायदा" रहा है कि चुनाव-क्षेत्र के साथी उम्मीदवार चुनने के बारे में पार्टी के नेतृत्व के साथ कोई "मित्रतापूर्ण व्यवस्था कर लेते हैं"। "लेकिन पार्टी अब इतनी बड़ी हो गयी है कि यह आम क़ायदा अब काफ़ी नहीं रह गया है। जब किसी आम क़ायदे को लोग स्वाभाविक तथा स्वतःस्पष्ट समझना बन्द कर देते हैं, जब उसके विभिन्न उपबंधों के बारे में, और खुद उसके अस्तित्व के बारे में सवाल उठने लगते हैं, तब वह क़ायदा क़ायदा नहीं रह जाता। तब यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि उस क़ायदे को एक निश्चित रूप में प्रतिपादित किया जाये, उसे लिख दिया जाये ..." ताकि उस क़ायदे की अधिक "सही और बाज़ाब्ता तौर पर" व्याख्या* (statutarische Festlegung) हो जाये और संगठन में ज़्यादा कड़ाई (grössere Straffheit) आ जाये।

इस प्रकार आपने देखा कि एक भिन्न वातावरण में भी संगठन के सवाल पर पार्टी के अवसरवादी पक्ष और क्रान्तिकारी पक्ष के बीच ठीक वही संघर्ष चल रहा है, स्वायत्त अधिकारों और केन्द्रीयता के बीच, जनवाद और "नौकरशाही"

---

*एक ऐसी प्रथा के स्थान पर जिसे सब लोग चुपचाप मानते हैं, एक वैधानिक तौर पर निर्धारित लिखित नियम बनाने के बारे में कार्ल काउत्स्की की इन बातों का उस "परिवर्तन" से मुक़ाबला करना बहुत उपयोगी सिद्ध होगा जो पार्टी-कांग्रेस के समय से ही हमारी पार्टी में आम तौर पर और सम्पादक-मण्डल में ख़ास तौर पर हो रहा है। लीग की कांग्रेस में व० इ० ज़ासुलिच के भाषण से (पृष्ठ ६६ और उसके आगे के पृष्ठ) तुलना कीजिये, जो वर्तमान परिवर्तन के पूरे महत्व को नहीं समझ पायी हैं।

के बीच, अनुशासन को ढीला कर देने की प्रवृत्ति और संगठन तथा अनुशासन को और भी कड़ा बना देने की प्रवृत्ति के बीच, ढुलमुल बुद्धिजीवी की मनोवृत्ति और दृढ़ सर्वहारा की मनोवृत्ति के बीच, और बुद्धिजीवियों के व्यक्तिवाद और सर्वहारा की एकबद्धता के बीच वही टक्कर हो रही है। सवाल उठता है कि इस टक्कर की तरफ़ **पूंजीवादी-जनवाद** का क्या रुख था – उस पूंजीवादी-जनवाद का नहीं जिसको कामरेड अक्सेल्रोद को निजी तौर पर दिखा देने का उच्छृंखल इतिहास ने वादा किया है – बल्कि उस सच्चे और वास्तविक पूंजीवादी-जनवाद का जिसके पास ज़र्मनी में हमारे अपने 'ओस्वोबोज्देनिये' के भद्रपुरुषों जैसे चतुर और योग्य प्रवक्ता हैं? जर्मन पूंजीवादी-जनवाद में इस नयी बहस की तुरन्त प्रतिक्रिया हुई और – रूसी पूंजीवादी-जनवाद की तरह हर जगह के और प्रत्येक काल के पूंजीवादी-जनवाद की तरह – जर्मन पूंजीवादी-जनवाद ने भी सामाजिक-जनवादी पार्टी के अवसरवादी पक्ष का ठोस तरीक़े से समर्थन किया। «Frankfurter Zeitung»[213] ने, जो कि जर्मन सट्टे बाज़ार का प्रमुख मुखपत्र है, एक गरजता हुआ अग्रलेख लिखा ('फ़्रैंकफ़ुर्टेर पत्र', ७ अप्रैल, १९०४, अंक ९७, शाम का संस्करण) जिससे मालूम होता है कि अक्सेल्रोद की रचनाओं से चुराने की आदत जर्मन पत्रों की एक बीमारी-सी बन गयी है। फ़्रैंकफ़ुर्ट के सट्टे बाज़ार के कठोर जनवादियों ने सामाजिक-जनवादी पार्टी में पायी जानेवाली "निरंकुशता" पर, "पार्टी के अधिनायकत्व" पर, "पार्टी के अधिकारियों के तानाशाही प्रभुत्व" पर, "धर्म-संस्था से बहिष्कृत करने पर" जिसका उद्देश्य "ऐसा लगता है, सभी संशोधनवादियों को दण्ड देना है", "अंधों की तरह आज्ञापालन" पर, "मुर्दा बना देनेवाले अनुशासन" पर, "दासतापूर्ण आधीनता" पर और पार्टी मेम्बरों को "राजनीतिक लाशों" में बदल देने की प्रवृत्ति पर (यह मशीन के पुर्ज़ों से कहीं ज़्यादा सख्त बात है), अंधाधुंध हमले करते हैं। सामाजिक-जनवादी पार्टी में क़ायम जनवाद-विरोधी व्यवस्था को देखकर सट्टे बाज़ार के ये महारथी क्रुद्ध होकर कहते हैं, "व्यक्तित्व के प्रत्येक वैशिष्ट्य को, स्वयं व्यक्तित्व को कुचलना ज़रूरी है, क्योंकि, आप देखते नहीं, उनसे फ़्रांस जैसी हालत हो जाने का और जोरेस-वाद तथा मिलेरां-वाद का ख़तरा पैदा होता है, जैसा कि ज़िंडेरमान्न ने" सैक्सोनी के सामाजिक-जनवादियों की पार्टी कांग्रेस में "इस विषय पर रिपोर्ट देते हुए साफ़-साफ़ कह दिया था"।

और इसलिए, संगठन के विषय में नये 'ईस्क्रा' के नये नारों के पीछे यदि कोई सिद्धान्त हैं तो इसमें कोई शक नहीं हो सकता कि वे अवसरवादी सिद्धान्त हैं। हमारी पार्टी कांग्रेस के, जो कि क्रान्तिकारी पक्ष और अवसरवादी पक्ष में बंट गयी थी, पूरे विश्लेषण से, और यूरोप की **तमाम** सामाजिक-जनवादी पार्टियों की मिसाल से भी यही निष्कर्ष निकलता है, जिनमें संगठन के मामले में अवसरवाद ठीक इसी प्रकार की प्रवृत्तियों में, इसी प्रकार के आरोपों में, और बहुधा इसी प्रकार के नारों में होता है। ज़ाहिर है, अलग-अलग पार्टियों की जातीय विशेषताएं और अलग-अलग देशों की भिन्न राजनीतिक परिस्थितियां भी अपनी छाप छोड़ती हैं, और उनके कारण जर्मन अवसरवाद फ़ांसीसी अवसरवाद से, फ़ांसीसी अवसरवाद इटली के अवसरवाद से और इटली का अवसरवाद रूसी अवसरवाद से सर्वथा भिन्न हो जाता है। लेकिन ऊपर बतायी गयी तमाम असमान परिस्थितियों के होते हुए भी यह समानता साफ़ दिखायी देती है कि ये सारी पार्टियां बुनियादी तौर पर क्रान्तिकारी पक्ष और अवसरवादी पक्ष में बंटी हुई हैं। और संगठन के मामले में अवसरवाद की प्रवृत्तियां और विचार-शैली हर देश में एक-सी हैं*। हमारे मार्क्सवादियों तथा सामाजिक-जनवादियों की पांतों में आमूलवादी बुद्धिजीवियों की एक बहुत बड़ी संख्या होने के फलस्वरूप उनकी मनोवृत्ति से उत्पन्न

---

*आज कोई भी इस बात में शक नहीं करेगा कि पुराने ज़माने में कार्यनीति के प्रश्नों पर रूसी सामाजिक-जनवादियों में जो "अर्थवादियों" और राजनीति-वादियों का विभाजन पाया जाता था, वह पूरे अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के अवसरवादियों और क्रान्तिकारियों के विभाजन से मिलता-जुलता था, हालांकि एक तरफ़ कामरेड मार्तिनोव तथा कामरेड अकीमोव और दूसरी तरफ़ कामरेड फ़ोन-फ़ोलमार तथा फ़ोन-एल्म, या जोरेस तथा मिलेरां में बहुत बड़ा फ़र्क़ है। इसी तरह, राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र और राजनीतिक दृष्टि से मताधिकार-वंचित देशों की परिस्थितियों में बहुत भारी फ़र्क़ होते हुए भी, इस बात में कोई शक नहीं है कि संगठन के सवालों पर भी मुख्यतः एक-सा विभाजन दिखायी देता है। यह बहुत ही दिलचस्प बात है कि नये 'ईस्क्रा' के सिद्धान्त-निष्ठ सम्पादकों ने (अंक ६४ में) काउत्स्की और हाइने के विवाद की संक्षेप में चर्चा तो की है, मगर संगठन के सवालों पर अवसरवाद और सिद्धान्तवाद की **आम सैद्धान्तिक** प्रवृत्तियों से वे डरकर **कन्नी काट गये हैं।**

होनेवाले अवसरवाद का अस्तित्व विविधतम क्षेत्रों और विविधतम रूपों में अनिवार्य बन गया है और बनता जा रहा है। हमने अपने विश्व-दृष्टिकोण की बुनियादी समस्याओं पर, अपने कार्यक्रम के प्रश्नों पर, अवसरवाद के साथ संघर्ष किया, और उद्देश्यों में पूर्ण मतभेद होने के फलस्वरूप उन उदारपंथियों के, जिन्होंने हमारे क़ानूनी मार्क्सवाद को भ्रष्ट कर रखा था, और सामाजिक-जनवादियों के बीच अनिवार्यतः एक ऐसा विभाजन पैदा हो गया जो अब कभी नहीं मिट सकता। हमने कार्यनीति के प्रश्नों पर अवसरवाद से लोहा लिया, और इन कम महत्वपूर्ण सवालों पर स्वभावतया कामरेड क्रिचेव्स्की और अकीमोव के साथ हमारा मतभेद केवल अस्थायी मतभेद था, और उसके परिणाम-स्वरूप अलग-अलग पार्टियां नहीं बनानी पड़ीं। अब हमें संगठन के सवालों पर, जो कि ज़ाहिर है, कार्यक्रम और कार्यनीति के सवालों से भी कम महत्वपूर्ण हैं, लेकिन जो इस समय हमारी पार्टी के जीवन में एकदम सामने आ गये हैं, मार्तोव और अक्सेल्रोद के अवसरवाद को पराजित करना है।

जब हम अवसरवाद से लड़ने की बात करते हैं तो हमें आजकल के अवसरवाद की एक ख़ास विशेषता को कभी नहीं भूलना चाहिए, जो प्रत्येक क्षेत्र में पायी जाती है, अर्थात् उसकी अस्पष्टता, बिखराव, और कभी पकड़ में न आने का गुण। अवसरवादी का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वह हमेशा किसी भी सवाल को स्पष्ट और निर्णायक रूप में पेश करने से कतराता है, वह हमेशा कोई बीच का रास्ता निकालने की फ़िक्र में रहता है; दो एकदम विरोधी दृष्टिकोणों के बीच सदा सांप की तरह बल खाता रहता है और दोनों के साथ "सहमत होने" की कोशिश करता है; और अपने मतभेदों को छोटे-छोटे संशोधनों, सन्देहों, और निर्दोष सुझावों का रूप देने की कोशिश करता रहता है, इत्यादि इत्यादि। कामरेड एडुअर्ड बर्न्सटीन, जो कार्यक्रम के प्रश्नों पर अवसरवादी हैं, अपनी पार्टी के क्रान्तिकारी कार्यक्रम से "सहमत" हैं, और यद्यपि सम्भवतया वह उसमें "मौलिक परिवर्तन कराने" के लिए बहुत उत्सुक हैं, पर इस समय वह ऐसा कोई सवाल उठाना असामयिक और अनुपयोगी समझते हैं और "आलोचना" के (जो मुख्यतया पूंजीवादी जनवाद के सिद्धान्तों तथा नारों को आंखें बन्द करके ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेने के रूप में होती है) "साधारण सिद्धान्तों" के विवेचन को अधिक महत्व देते हैं। कामरेड फ़ोन-फ़ोलमार भी, जो कार्यनीति के सवालों में अवसरवादी हैं,

क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद की पुरानी कार्यनीति से सहमत हैं और वह भी "मंत्रिमण्डल में भाग लेने" की कोई निश्चित कार्यनीति खुले तौर पर पेश करने के बजाय, अपने को प्रायः रटे-रटाये धुआंधार भाषणों, छोटे-छोटे संशोधनों और तानों तक ही सीमित रखते हैं। कामरेड मार्तोव और कामरेड अक्सेलरोद भी, जो संगठन के सवालों में अवसरवादी हैं, अभी तक अपने सिद्धान्तों को निश्चित रूप में बताने में असफल रहे हैं ताकि उन सिद्धान्तों को "नियमों के रूप में बांधा जा सके", हालांकि उन्हें इस बात की चुनौती दी जा चुकी है। वे भी चाहेंगे, बिल्कुल निश्चित है कि चाहेंगे, कि संगठन के हमारे नियमों में "आमूल सुधार" हो जाये ('ईस्क्रा', अंक ५८, पृष्ठ २, कालम ३), लेकिन वे भी पहले "संगठन की साधारण समस्याओं" का विवेचन करना ही ज़्यादा पसन्द करते हैं (इसका कारण यह है कि हमारी नियमावली, पहली धारा के होते हुए भी केन्द्रीयतावादी नियमावली है, और उसे यदि सचमुच आमूल रूप से और नये 'ईस्क्रा' की भावना के अनुरूप बदला जाये तो उसका लाज़िमी नतीजा स्वायत्तवाद होगा; और ज़ाहिर है कि कामरेड मार्तोव, ख़ुद अपने सामने भी यह बात मानना पसन्द नहीं करते कि **सिद्धान्त में** उनकी प्रवृत्ति स्वायत्तवाद की ओर है)। अतएव, संगठन के उनके "सिद्धान्तों" में इन्द्रधनुष के सातों रंग देखे जा सकते हैं: सबसे चटकीला रंग निरंकुशता और नौकरशाही के ख़िलाफ़, आंखें बन्द करके हुक्म बजाने और लोगों को मशीन के कल-पुर्ज़े बना देने के ख़िलाफ़ उनके मासूम और गूंजदार रटे-रटाये भाषणों का है–ये भाषण इतने मासूम हैं कि उनके बारे में यह पता लगाना भी बहुत-बहुत मुश्किल हो जाता है कि उनकी कौनसी चीज़ सचमुच सिद्धान्त से सम्बन्ध रखती है और कौनसी नये नाम जुड़वाने से। मगर आप जितना आगे बढ़ें, मामला उतना ही बिगड़ता जाता है; इस घृणित "नौकरशाही" का विश्लेषण करने और उसकी ठीक-ठीक व्याख्या करने की कोशिश करते हैं तो लाज़िमी तौर पर स्वायत्तवाद पर पहुंच जाते हैं; अपने मत को "गूढ़ बनाने" और उचित सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं तो उसका अनिवार्य रूप से यह नतीजा होता है कि पिछड़ेपन का समर्थन करने लगते हैं और पुछल्लावाद तथा जिरौंद-वादी लफ़्फ़ाज़ी पर पहुंच जाते हैं। और अन्त में एकमात्र निश्चित सिद्धान्त के रूप में **अराजकतावाद** का सिद्धान्त सामने आ जाता है, जो एकमात्र निश्चित सिद्धान्त होने के कारण व्यवहार में ख़ास तौर पर उभरकर सामने आ जाता है

(व्यवहार सिद्धान्त से हमेशा आगे रहता है)। अनुशासन पर मुंह बनाना—स्वायत्तवाद—अराजकतावाद—यही है वह सीढ़ी जिसके सहारे संगठन के क्षेत्र का हमारा अवसरवाद कभी ऊपर चढ़ता है और कभी नीचे उतरता है और एक डंडे से दूसरे डंडे पर छलांग मारते हुए अपने सिद्धान्तों को निश्चित रूप में बताने से हमेशा बहुत चालाकी के साथ कतरा जाता है*। कार्यक्रम और कार्यनीति के

---

* जिन लोगों को पहली धारा वाली बहस की याद है, वे अब यह बात अच्छी तरह समझ जायेंगे कि कामरेड मार्तोव और कामरेड अक्सेल्रोद ने पहली धारा के सिलसिले में जो ग़लती की थी, उसके विकसित तथा गहरे होने पर, उसका यह **लाजिमी** नतीजा होना था कि ये दोनों साथी संगठन के मामलों में अवसरवाद पर पहुंच जायें। कामरेड मार्तोव का बुनियादी विचार—कि लोगों को ख़ुद अपने को पार्टी का सदस्य घोषित कर देने का अधिकार होना चाहिए—झूठे "जनवाद" और पार्टी को नीचे से शुरू करके ऊपर की तरफ़ बनाने के विचार के सिवा और कुछ नहीं है। दूसरी ओर, मेरा विचार इस अर्थ में "नौकरशाही" था कि उसके अनुसार पार्टी को ऊपर से शुरू करके नीचे की ओर, पार्टी कांग्रेस से शुरू करके अलग-अलग पार्टी संगठनों तक बनाना था। पूंजीवादी बुद्धिजीवी की मनोवृत्ति, अराजकतावादी लफ़्फ़ाज़ी, और अवसरवादी, पुछल्लावादी गूढ़ता सब पहली धारा वाली बहस में ही दिखायी दे गयी थीं। कामरेड मार्तोव ने कहा है ('घेरे की स्थिति', पृष्ठ २० पर) कि नया 'ईस्क्रा' "नये विचारों का प्रतिपादन करना आरम्भ कर रहा है"। यह बात इस अर्थ में सही है कि वह और कामरेड अक्सेल्रोद पहली धारा से आरम्भ करके विचारों को सचमुच एक नयी दिशा में ढकेल रहे हैं। गड़बड़ सिर्फ़ यह है कि यह दिशा एक अवसरवादी दिशा है। **इस** दिशा में वे जितना काम करेंगे, और यह काम नये नाम जुड़वाने के झगड़े से जितना ही साफ़ होता जायेगा, उतने ही ये लोग और गहरे दलदल में फंसते जायेंगे। कामरेड प्लेख़ानोव ने इस घटना की कल्पना पार्टी कांग्रेस के समय ही साफ़-साफ़ कर ली थी, और अपने 'क्या नहीं करना चाहिए' शीर्षक लेख में उन्होंने इन लोगों को एक बार फिर चेतावनी दी थी। एक तरह से उन्होंने यहां तक कह दिया था कि "मैं तुम लोगों को सम्पादक-मण्डल में शामिल करने को भी तैयार हूं, लेकिन तुम लोग इस मार्ग पर चलना बन्द करो जो तुम्हें केवल अवसरवाद और अराजकतावाद के गढ़े में ही ले जा सकता है"। मगर मार्तोव और अक्सेल्रोद इस नेक सलाह को माननेवाले नहीं थे। "क्या कहा, इस मार्ग पर न चलें और लेनिन की यह बात मान लें कि नये नाम जुड़वाने का सवाल उठाना

प्रश्नों पर सामने आनेवाला अवसरवाद भी हूबहू इन्हीं मंज़िलों से गुज़रता है। पहले कट्टरपंथी "सिद्धान्तवादिता", संकुचितपन, और गतिहीनता पर मुंह बनाना - संशोधनवादी "आलोचना" करना और मंत्रिमंडल बनाना - पूंजीवादी जनवाद।

आजकल के सभी अवसरवादियों की सभी रचनाओं में आम तौर पर, और हमारे अल्पमत की तमाम रचनाओं में ख़ास तौर पर, जो **शिकायत** की धुन लगातार सुनायी पड़ती है, उसका अनुशासन से उनकी इस घृणा के साथ गहरा मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध है। उनको सताया जा रहा है, दौड़ा-दौड़ाकर मारा जा रहा है, निकाला जा रहा है, घेरा जा रहा है, और डराया-धमकाया जा रहा है। धमकानेवालों और धमकाये जानेवालों[214] के बारे में उस दिलचस्प और हंसानेवाले मज़ाक़ का जिसने ईजाद किया था, वह भी जितनी कल्पना कर सकता था, उससे कहीं अधिक मनोवैज्ञानिक एवं राजनीतिक सत्य इन नारों में है। क्योंकि आप हमारी पार्टी कांग्रेस की कार्यवाही पर एक नज़र भर डालिये, आपको फ़ौरन मालूम हो जायेगा कि इस अल्पमत में तमाम वे लोग शामिल हैं जिनको कुछ न कुछ शिकायत है, और जिनको कभी न कभी और किसी न किसी कारण से क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवादियों ने नाराज़ कर दिया था। इनमें बुंद-वादी और 'राबोचेये देलो'-वादी हैं जिनको हमने इतनी बुरी तरह "नाराज़ कर दिया था" कि वे कांग्रेस छोड़कर चले गये; इनमें 'यूज्नी राबोची'-वादी हैं जो कि आम तौर पर सभी संगठनों की, और ख़ास तौर पर अपने संगठन की हत्या से हम लोगों से बुरी तरह नाराज हो गये थे; इनमें कामरेड माख़ोव हैं जो जब भी बोलने को खड़े होते थे तो किसी न किसी बात से उन्हें ठेस पहुंच जाती थी (क्योंकि वह हर बार जब भी बोलते थे तो बिना नागा अपने को बेवकूफ़ साबित कर देते थे); और, अन्त में, इनमें कामरेड मार्तोव और कामरेड अक्सेलरोद हैं जिनको हमने नियमावली की पहली धारा के सिलसिले में "अवसरवाद का झूठा आरोप" लगाकर और चुनाव में हराकर नाराज़ कर दिया है। जिन बातों के कारण ये तमाम लोग हमसे बुरी तरह नाराज़ हो गये हैं,

---

महज़ थुक्का-फ़ज़ीहत करना है? यह कभी नहीं हो सकता! हम उसे दिखा देंगे कि हम सिद्धान्त वाले आदमी हैं!" और उन्होंने यही किया। हर आदमी को उन्होंने साफ़ तौर पर दिखा दिया है कि यदि उनके पास सचमुच कोई नये सिद्धांत हैं तो वे अवसरवादी सिद्धान्त हैं।

वे अनुचित फ़िक़रेबाज़ी, अशिष्ट व्यवहार, क्रोध भरी बहस, या क्रोध में धड़ से दरवाज़ा बंद कर देने और घूंसे तानने का आकस्मिक परिणाम नहीं थीं; जैसा कि वहुत-से कूपमंडूक आज तक समझते हैं, बल्कि वे 'ईस्क्रा' के पूरे तीन साल के सैद्धान्तिक कार्य का राजनीतिक परिणाम थीं। यदि इन तीन बरसों में हम केवल गाल नहीं बजा रहे थे, बल्कि अपने उन विश्वासों को व्यक्त कर रहे थे जिनको हम कार्य-रूप में परिणत करना चाहते थे, तो यह लाज़िमी था कि हम कांग्रेस में 'ईस्क्रा'-विरोधियों से और "दलदल" से लोहा लें। और जब कामरेड मार्तोव के साथ-साथ, जो कि नक़ाब उलटकर सबसे आगे की पांतों में इन लोगों से लोहा ले रहे थे, हमने इतने ढेरों लोगों को नाराज़ कर दिया तो फिर थोड़ी ही कसर रह गयी थी, बस कामरेड मार्तोव और कामरेड अक्सेलरोद को थोड़ा-सा और नाराज़ करना था कि प्याला छलक जाता। परिणाम गुण में रूपान्तरित हो गया। प्रतिषेध का प्रतिषेध हो गया। जितने लोग हमसे नाराज़ थे वे अपने आपस के झगड़ों को भूल गये और रोते हुए एक-दूसरे से गले मिलने लगे, और सबने मिलकर "लेनिनवाद के विरुद्ध विद्रोह"* का झंडा खड़ा कर दिया।

विद्रोह बड़ी शानदार चीज़ होती है जब आगे बढ़े हुए तत्व प्रतिक्रियावादी तत्वों के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। जब क्रान्तिकारी पक्ष अवसरवादी पक्ष के ख़िलाफ़ विद्रोह करता है, तब वह अच्छी चीज़ होती है। लेकिन जब अवसरवादी पक्ष क्रान्तिकारी पक्ष के ख़िलाफ़ विद्रोह करता है तब वह एक बुरी बात होती है।

कामरेड प्लेख़ानोव को इस बुरी बात में मानो एक युद्ध-बन्दी के रूप में भाग लेना पड़ रहा है। वह "बहुमत" के समर्थन में किसी प्रस्ताव के रचयिता के इक्का-दुक्का भोंड़े वाक्यों को खोजकर उनके सहारे अपना गुस्सा निकालते हैं, और कहते हैं: "बेचारा लेनिन! उसे भी कैसे-कैसे सिद्धान्तवादी समर्थक मिले हैं!" ('ईस्क्रा', अंक ६३, परिशिष्ट)

---

*ये अचम्भे में डालनेवाले शब्द कामरेड मार्तोव के हैं ('घेरे की स्थिति', पृष्ठ ६८)। जब तक कामरेड मार्तोव के पक्ष में १ के ख़िलाफ़ ५ का बहुमत नहीं हो गया, तब तक उन्होंने मेरे ख़िलाफ़ "विद्रोह" का झंडा नहीं उठाया। कामरेड मार्तोव बहुत अनाड़ीपन के साथ बहस करते हैं: वह अपने विरोधी की ज़्यादा से ज़्यादा तारीफ़ करके उसे ख़तम करना चाहते हैं।

अच्छा, कामरेड प्लेख़ानोव, मैं सिर्फ़ इतना ही कह सकता हूं कि मैं अगर बेचारा हूं तो नये 'ईस्क्रा' के सम्पादकों की हालत एकदम पतली है। मैं कितना भी बेचारा क्यों न हूं, मगर अभी मेरी हालत इतनी नहीं बिगड़ी है कि मुझे पार्टी कांग्रेस की तरफ़ से आंखें बन्द कर लेना पड़े, और अपनी चतुरता दिखाने के वास्ते समितियों के सदस्यों के प्रस्तावों में सामग्री की तलाश करना पड़े। मैं कितना भी बेचारा क्यों न हूं, मैं उन लोगों से हज़ार गुनी बेहतर हालत में हूं जिनके समर्थक कोई भोंड़ी बात संयोग से नहीं कहते, बल्कि हर सवाल पर–चाहे वह सवाल संगठन का हो, या कार्यनीति का, या कार्यक्रम का–हठधर्मी के साथ और दृढ़तापूर्वक उन सिद्धान्तों का समर्थन करते हैं जो क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद के सिद्धान्तों के बिल्कुल विपरीत हैं। मैं कितना भी बेचारा क्यों न हूं, मैं अभी इस हालत में नहीं पहुंचा हूं कि ऐसे समर्थक मेरी जो तारीफ़ें करते हों, उनको मुझे **जनता से छिपाना** पड़े। नये 'ईस्क्रा' के सम्पादकों को यही करना पड़ता है।

पाठक, आपको मालूम है कि रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की वोरोनेज समिति का क्या मत है? अगर नहीं मालूम है, तो कृपया पार्टी कांग्रेस की कार्यवाही पढ़ जाइये। आपको पता चलेगा कि इस समिति का मत पूर्ण रूप से कामरेड अकीमोव और कामरेड ब्रूकर व्यक्त करते हैं, जिन्होंने कांग्रेस में पार्टी के क्रांतिकारी पक्ष का हर बात में विरोध किया था, और जिनको कामरेड प्लेख़ानोव से लेकर कामरेड पोपोव तक हर आदमी ने बीसियों बार अवसरवादी घोषित किया था। बहरहाल, इस वोरोनेज समिति ने अपने जनवरी महीने के पर्चे (अंक १२, जनवरी १९०४) में यह कहा है:

> "हमारी अनवरत गति से बढ़ती हुई पार्टी के जीवन में एक बड़ी और महत्वपूर्ण घटना पिछले वर्ष हुई थी; वह थी रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस। यह पार्टी के संगठनों के प्रतिनिधियों की कांग्रेस थी। पार्टी कांग्रेस बुलाना बहुत पेचीदा काम होता है, और राजतंत्र में, वह बहुत ख़तरनाक और मुश्किल काम होता है। इसलिए, कोई आश्चर्य नहीं, यदि यह काम **बहुत अपूर्ण ढंग से** हुआ, और ख़ुद कांग्रेस से, हालांकि वह बिना किसी दुर्घटना के समाप्त हो गयी, पार्टी की सारी आशाएं पूरी नहीं

हुईं। १६०२ की कांफ्रेंस ने जिन साथियों को कांग्रेस बुलाने के लिए नियुक्त किया था, वे सब गिरफ़्तार हो गये थे, और **कांग्रेस की व्यवस्था उन लोगों ने की थी जो रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन की केवल एक प्रवृत्ति के, यानी 'ईस्क्रा' - वादियों के प्रतिनिधि थे।** सामाजिक-जनवादियों के ऐसे **बहुत-से** संगठनों को कांग्रेस के काम में शरीक नहीं किया गया जो 'ईस्क्रा'-वादी नहीं थे; **यह भी एक कारण है** जिसके फलस्वरूप पार्टी का **कार्यक्रम तथा नियमावली** तैयार करने का काम कांग्रेस ने **बहुत ही दोषपूर्ण ढंग से** पूरा किया; कांग्रेस के प्रतिनिधि ख़ुद यह स्वीकार करते हैं कि नियमावली में कई ऐसे महत्वपूर्ण दोष हैं 'जिनसे ख़तरनाक ग़लतफ़हमियां पैदा हो सकती हैं'। ख़ुद 'ईस्क्रा'-वादियों में कांग्रेस के दौरान में फूट पड़ गयी, और हमारी रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के ऐसे अनेक प्रमुख कार्यकर्ताओं ने, जो इसके पहले तक 'ईस्क्रा' के कार्यक्रम से पूरी तौर पर सहमत मालूम होते थे, यह स्वीकार किया है कि उसके बहुत से विचार, जिनका **मुख्यतया लेनिन और प्लेख़ानोव** समर्थन करते हैं, अव्यावहारिक हैं। यद्यपि कांग्रेस में लेनिन और प्लेख़ानोव का पलड़ा भारी रहा, फिर भी सिद्धान्तवेत्ताओं की ग़लतियों को वास्तविक जीवन की शक्तियां और वास्तविक कार्य की आवश्यकताएं बहुत तेज़ी से ठीक किये दे रही हैं। वास्तविक कार्य में सारे ग़ैर-'ईस्क्रा'-वादी भाग ले रहे हैं, और उसके फलस्वरूप कांग्रेस के बाद उसके फ़ैसलों में बहुत से महत्वपूर्ण संशोधन हो गये हैं। **'ईस्क्रा' में एक गूढ़ परिवर्त्तन हो गया है और अब उससे आशा है** कि वह सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के आम तौर पर सभी कार्यकर्ताओं की ज़रूरतों की ओर ध्यान देगा। इस प्रकार, यद्यपि **इस कांग्रेस के काम में अगली कांग्रेस को संशोधन करने पड़ेंगे**, और जैसा कि ख़ुद प्रतिनिधिगण स्पष्ट रूप से देखते हैं, यद्यपि कांग्रेस का काम असंतोषजनक था, **और इसलिए उसके फ़ैसलों को पार्टी सर्वथा दोषरहित फ़ैसलों के रूप में नहीं स्वीकार कर सकती**, फिर भी कांग्रेस ने पार्टी के अन्दर की स्थिति को बहुत-कुछ साफ़ कर दिया है, पार्टी के आगे के सैद्धान्तिक तथा संगठनात्मक कार्य के लिए बहुत-सी सामग्री जुटा दी है, और उससे हमें एक ऐसा अनुभव प्राप्त हुआ है जो पार्टी के आम काम के लिए बहुत शिक्षाप्रद है। कांग्रेस के फ़ैसलों को और उसके बनाये हुए नियमों को सभी

संगठन **ध्यान में रखेंगे,** मगर उनके स्पष्ट दोषों को **देखते हुए** बहुत-से संगठन **केवल इन्हीं फ़ैसलों और नियमों को अपना एकमात्र मार्ग-दर्शक नहीं मानेंगे।**

"पार्टी के आम काम के महत्व को पूरी तौर पर महसूस करते हुए, वोरोनेज समिति ने कांग्रेस के संगठन से सम्बन्ध रखनेवाले सभी मामलों में **सक्रिय भाग लिया था।** कांग्रेस में जो कुछ हुआ है, उसके महत्व को वह पूरे तौर पर स्वीकार करती है और **'ईस्क्रा' में,** जो कि केन्द्रीय मुखपत्र (प्रधान मुखपत्र) बन गया है, **जो परिवर्तन हुए हैं, उनका वह स्वागत करती है।**

"यद्यपि पार्टी की और केन्द्रीय समिति की हालत से हमें **अभी** संतोष नहीं है, फिर भी हमें विश्वास है कि सबके संयुक्त प्रयत्नों से पार्टी को संगठित करने का कठिन कार्य दोषरहित हो जायेगा। कुछ झूठी अफ़वाहों के कारण, वोरोनेज समिति साथियों को सूचित करती है कि वोरोनेज समिति के पार्टी से अलग हो जाने का कोई सवाल पैदा नहीं होता है। वोरोनेज समिति अच्छी तरह समझती है कि यदि वोरोनेज समिति जैसा एक मज़दूर संगठन रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी से अलग हो गया तो यह चीज़ दूसरे संगठनों के लिए कितना ख़तरनाक नमूना बन सकती है, **उससे पार्टी पर कितना बड़ा कलंक लगेगा** और वह उन संगठनों के लिए कितनी अहितकर सिद्ध होगी, जो उसका अनुकरण कर सकते हैं। हमें पार्टी में नयी फूट नहीं पैदा करना चाहिए, बल्कि सभी वर्ग-चेतन मज़दूरों और समाजवादियों को एक पार्टी में एकता-बद्ध करने के लिए लगातार कोशिश करना चाहिए। इसके अलावा, दूसरी कांग्रेस पार्टी की नींव डालनेवाली कांग्रेस नहीं, बल्कि केवल एक साधारण कांग्रेस थी। पार्टी से निकालने का फ़ैसला केवल पार्टी अदालत कर सकती है। एक सामाजिक-जनवादी संगठन को पार्टी से निकालने का अधिकार किसी संगठन को, यहां तक कि केन्द्रीय समिति को भी नहीं है। इसके अतिरिक्त, दूसरी कांग्रेस ने नियमावली की ८ वीं धारा भी पास की है, जिसके मुताबिक अपने स्थानीय मामलों में हर संगठन को पूरी आज़ादी है, और इससे **वोरोनेज समिति को इसका पूरा अधिकार मिल जाता है कि वह अपने संगठन सम्बन्धी विचारों को क्रियान्वित करे और पार्टी में उनका प्रचार करे।"**

नये 'ईस्क्रा' के सम्पादकों ने अंक ६१ में इस पर्चे को उद्धृत करते समय इस लम्बे वक्तव्य का केवल उत्तरार्ध छापा है। पूर्वार्ध को सम्पादकों ने **छोड़ देना ही बेहतर समझा।**

उनको शर्म आती थी।

प) कुछ शब्द द्वन्द्ववाद के विषय में। दो क्रान्तियां

हमारी पार्टी का संकट किस तरह बढ़ रहा है, उस पर एक साधारण सी दृष्टि डालते ही यह मालूम हो जायेगा कि कुछ महत्वहीन अपवादों को छोड़कर, मोटे तौर पर दोनों विरोधी पक्षों की बनावट में किसी भी अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यह हमारी पार्टी के क्रान्तिकारी पक्ष तथा अवसरवादी पक्ष का संघर्ष था। लेकिन यह संघर्ष विविधतम मंज़िलों से गुज़रा है, और इस सम्बंध में जो ढेरों साहित्य जमा हो चुका है, और इधर-उधर के आंशिक प्रमाणों, संदर्भ से अलग हुए अंशों, और इक्के-दुक्के आरोपों, आदि के रूप में जो बहुत-सा मसाला इकट्ठा हो गया है, उसमें यदि कोई जाना चाहता है तो उसके लिए ज़रूरी है कि वह इनमें से हरेक मंज़िल की विशेषताओं की पूरी जानकारी हासिल करे।

आइये, हम ख़ास-ख़ास और एकदम साफ़ मंज़िलों को गिना दें: (१) नियमावली की पहली धारा पर विवाद। संगठन के बुनियादी सिद्धान्तों पर विशुद्ध सैद्धान्तिक संघर्ष। प्लेख़ानोव और मैं अल्पमत में हैं। मार्तोव और अक्सेलरोद एक अवसरवादी स्थापना पेश करते हैं और अवसरवादियों की गोद में चले जाते हैं। (२) केन्द्रीय समिति के लिए उम्मीदवारों की सूचियों को लेकर 'ईस्क्रा' संगठन में फूट: पांच की समिति में फ़ोमिन को लिया जाये या वसील्येव को, अथवा तीन की समिति में त्रोत्स्की को रखा जाये या त्राविंस्की को। मेरा और प्लेख़ानोव का (सात के ख़िलाफ़ नौ वोट से) बहुमत हो जाता है, जिसका एक आंशिक कारण ख़ुद यह बात थी कि हम लोग पहली धारा के सवाल पर अल्पमत में थे। संगठन समिति वाली घटना से मेरे मन में जो सबसे भयानक आशंकाएं पैदा हुई थीं, वे मार्तोव के अवसरवादियों के साथ संयुक्त मोर्चा बना लेने से सही सिद्ध हो गयीं। (३) नियमावली की तफ़सील पर बहस का जारी रहना। अवसरवादी फिर मार्तोव को बचा लेते हैं। हम लोग फिर अल्पमत में हो जाते

हैं और केन्द्रीय संस्थाओं में अल्पमत के लिए प्रतिनिधित्व का अधिकार पाने के लिए लड़ते हैं। (४) सात घोर अवसरवादी कांग्रेस छोड़कर चले जाते हैं। हम बहुमत में हो जाते हैं और चुनाव में ('ईस्क्रा'-वादी अल्पमत, "दलदल", तथा 'ईस्क्रा'-विरोधियों के) संयुक्त मोर्चे को हरा देते हैं। तीन-तीन सदस्यों के हमारे त्रिगुटों में मार्तोव और पोपोव स्थान स्वीकार करने से इनकार कर देते हैं। (५) कांग्रेस के बाद नये नाम जोड़ने के सवाल पर थुक्का-फ़ज़ीहत। अराजकतावादी आचरण और अराजकतावादी लफ़्फ़ाज़ी का नग्न नृत्य। अल्पमत के भीतर उसके सबसे कम दृढ़ और स्थिर तत्वों का पलड़ा भारी हो जाता है। (६) पार्टी को फूट से बचाने के लिए प्लेख़ानोव "दया की मार से मारने" की नीति अपनाते हैं। "अल्पमत" केन्द्रीय मुखपत्र के सम्पादक-मण्डल और पार्टी-काउंसिल पर क़ब्ज़ा कर लेता है और पूरी ताक़त से केन्द्रीय समिति पर हमला करता है। हर चीज़ पर अब भी थुक्का-फ़ज़ीहत का रंग छाया हुआ है। (७) केन्द्रीय समिति पर पहला हमला रोक दिया जाता है। थुक्का-फ़ज़ीहत भी कुछ ठंडी पड़ती हुई मालूम होती है। पार्टी जिन दो शुद्धतः सैद्धान्तिक प्रश्नों के कारण अपनी गहराइयों तक आन्दोलित हो रही थी, अब उन पर अपेक्षाकृत शान्त वातावरण में बहस करना मुमकिन हो जाता है। वे दो प्रश्न ये थे: (क) दूसरी कांग्रेस में हमारी पार्टी का "बहुमत" और "अल्पमत" में जो विभाजन हो गया था और जिस विभाजन ने पहले से समस्त विभाजनों का स्थान ले लिया, उसका राजनीतिक महत्व और कारण क्या है? और (ख) संगठन के सवाल पर नये 'ईस्क्रा' ने जो नया रुख़ अपनाया है, उसका सिद्धान्त की दृष्टि से क्या अर्थ है?

इनमें से हर मंज़िल में, संघर्ष की परिस्थितियां और हमले का तात्कालिक लक्ष्य आवश्यक रूप से भिन्न हैं; हर मंज़िल मानो एक बड़े सैनिक अभियान के दौरान में लड़ी गयी एक छोटी लड़ाई है। जब तक हर लड़ाई की ठोस परिस्थितियों का अध्ययन नहीं किया जाता, तब तक हमारे संघर्ष को बिल्कुल नहीं समझा जा सकता। लेकिन एक बार यदि यह अध्ययन कर लिया जाये तो हम पायेंगे कि संघर्ष का विकास सचमुच द्वन्द्ववादी ढंग से, विरोधों के ज़रिये होता है: अल्पमत बहुमत बन जाता है, और बहुमत अल्पमत में बदल जाता है; हरेक पक्ष को कभी बचाव की लड़ाई लड़ते-लड़ते हमले की लड़ाई शुरू कर देनी पड़ती है, तो कभी हमला करते-करते बचाव की लड़ाई छेड़नी पड़ती है; सैद्धान्तिक

संघर्ष के आरम्भ (पहली धारा) का "निषेध होता है" और हर चीज़ पर थुक्का-फ़ज़ीहत का रंग छा जाता है,* लेकिन उसके बाद "निषेध का प्रतिषेध" आरम्भ होता है, और विभिन्न केन्द्रीय संस्थाओं के न्यूनाधिक "शांति और मेल" के साथ रहने का कोई ढंग निकालने के बाद हम फिर प्रारम्भिक बिन्दु पर, यानी विशुद्ध सैद्धान्तिक संघर्ष पर लौट जाते हैं; लेकिन यहां तक पहुंचते-पहुंचते यह "वाद" "प्रतिवाद" के समस्त परिणामों से समृद्ध हो गया है और वह एक अधिक ऊंचा "संवाद" बन गया है जिसमें पहली धारा को लेकर होनेवाली एक अलग-थलग, आकस्मिक ग़लती ने संगठन-सम्बंधी अवसरवादी विचारों की एक दिखावटी प्रणाली का सा रूप धारण कर लिया है, और जिसमें हमारी पार्टी के क्रान्तिकारी पक्ष तथा अवसरवादी पक्ष में बंट जाने का इस तथ्य से जो सम्बंध है, वह सबके सामने अधिकाधिक स्पष्ट होता जाता है। संक्षेप में, न केवल जई हेगेल के बताये हुए नियमों के अनुसार उगती है, बल्कि रूसी सामाजिक-जनवादी भी हेगेल के नियमों के अनुसार ही आपस में लड़ते हैं।

लेकिन महान हेगेलीय द्वन्द्ववाद को, जिसे मार्क्सवाद ने पहले उल्टे से सीधा करके अंगीकार किया है, उन राजनीतिज्ञों की टेढ़ी-मेढ़ी चाल को उचित ठहराने की भोंडी तिकड़म के साथ, जो पार्टी के क्रान्तिकारी पक्ष से अवसरवादी पक्ष की ओर झुक जाते हैं, या अलग-अलग स्पष्ट बयानों और एक ही प्रक्रिया की अलग-अलग अवस्थाओं के विकास के दौरान में होनेवाली अलग-अलग स्पष्ट घटनाओं को एक ढेर में इकट्ठा कर देने की भद्दी आदत के साथ कभी नहीं गड़बड़ाना चाहिए। सच्चा द्वन्द्ववाद अलग-अलग ग़लतियों को उचित नहीं ठहराता, बल्कि विकास-क्रम में आनेवाले लाज़िमी मोड़ों का अध्ययन करता है और विकास की क्रिया का उसके बिल्कुल ठोस रूप में विस्तार के साथ अध्ययन करके यह सिद्ध करता है कि ये मोड़ अवश्यम्भावी थे। द्वन्द्ववाद का बुनियादी सिद्धान्त यह है कि

---

*थुक्का-फ़ज़ीहत और सैद्धान्तिक मतभेद के बीच रेखा खींचने की कठिन समस्या यहां अपने आप हल हो जाती है: नये नाम जुड़वाने से जो कुछ सम्बन्ध रखता है, वह थुक्का-फ़ज़ीहत है, और कांग्रेस में चलनेवाले संघर्ष के विश्लेषण से, पहली धारा के विवाद तथा अवसरवाद और अराजकतावाद की ओर झुकाव से जो कुछ ताल्लुक़ रखता है, वह सैद्धान्तिक मतभेद की श्रेणी में आता है।

अमूर्त सत्य जैसी कोई चीज़ नहीं होती, सत्य सदा ठोस होता है ... और हां, एक बात और यह कि हेगेल के द्वन्द्ववाद को दुनियावी अक़्ल के उस भोंड़े उसूल से भी कभी नहीं गड़बड़ा देना चाहिए जिसको इटली की इस कहावत में बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया गया है कि: mettere la coda dove non va il capo (जहां सिर न घुसे वहां दुम अन्दर डालना)।

हमारी पार्टी के संघर्ष के द्वन्द्वात्मक विकास का परिणाम दो क्रान्तियों के रूप में सामने आता है। जैसा कि कामरेड मार्तोव ने अपने लेख 'एक बार फिर अल्पमत में' ठीक ही कहा था, पार्टी कांग्रेस एक वास्तविक क्रान्ति थी। अल्पमत के चतुर लोग भी यह ठीक ही कहते हैं कि: "दुनिया क्रान्तियों के द्वारा आगे बढ़ती है और हमने भी एक क्रान्ति कर डाली है!" कांग्रेस के बाद उन्होंने सचमुच एक क्रान्ति की, और यह भी सच है कि आम तौर पर दुनिया क्रांतियों के द्वारा ही आगे बढ़ती है। लेकिन हर ठोस क्रान्ति के ठोस महत्व की परिभाषा इस साधारण कहावत से नहीं हो सकती। कुछ ऐसी क्रांतियां भी होती हैं, जो अविस्मरणीय कामरेड माखोव के अविस्मरणीय शब्दों में, प्रतिक्रिया से अधिक मिलती-जुलती हैं। हमें यह पता लगाना होगा कि जिस शक्ति ने सचमुच क्रान्ति की, वह पार्टी का क्रान्तिकारी पक्ष था या अवसरवादी पक्ष, हमें यह जानना होगा कि क्रान्ति में योद्धाओं को क्रान्तिकारी सिद्धान्तों से प्रेरणा मिली थी या अवसरवादी सिद्धान्तों से, तभी हम यह तै कर सकते हैं कि अमुक क्रान्ति से "दुनिया" (हमारी पार्टी) आगे बढ़ी है या पीछे हटी है।

रूस के क्रान्तिकारी आन्दोलन के पूरे इतिहास में हमारी पार्टी कांग्रेस एक अनोखी और अभूतपूर्व घटना थी। पहली बार एक गुप्त क्रान्तिकारी पार्टी ग़ैर-क़ानूनी जीवन के अंधेरे से निकलकर दिन के प्रकाश में आने में सफल हुई थी, और उसने पार्टी के अन्दर चलनेवाले संघर्ष का पूरा क्रम तथा परिणाम, और कार्यक्रम, कार्यनीति, तथा संगठन के प्रश्नों पर हमारी पार्टी का तथा उसके प्रत्येक न्यूनाधिक रूप में गण्य हिस्से का पूरा रूप दुनिया के सामने रख दिया था। पहली बार हम मण्डल-भावना के ढीलेपन और क्रान्तिकारी कूपमण्डूकता की परम्परा को तिलांजलि देने में, तरह-तरह के दर्जनों ऐसे दलों को एक जगह इकट्ठा करने में कामयाब हुए थे जिनमें से बहुत-से भयानक रूप से आपस में लड़ रहे थे, जिनको एक साथ जोड़नेवाली केवल एक विचार की शक्ति थी, और जो उस महान इकाई

के लिए जिसकी हम, वास्तव में, पहली बार स्थापना कर रहे थे, यानी **पार्टी** के लिए, अपने समस्त दलीय अलगाव तथा दलीय स्वतंत्रता का बलिदान करने को (सिद्धान्त रूप में) तैयार थे। लेकिन राजनीति में किसी से त्याग मुफ़्त नहीं कराया जा सकता; उसे संघर्ष द्वारा प्राप्त करना होता है। संगठनों की हत्या पर भयंकर संघर्ष का होना अनिवार्य था। खुले और स्वतंत्र संघर्ष की ताज़ा हवा बढ़ते-बढ़ते आंधी बन गयी। और इस आंधी ने मण्डल-भावना के स्वार्थों, भावनाओं और परम्पराओं के एक-एक अवशेष को बिना किसी अपवाद के उड़ाकर फेंक दिया—और उसने अच्छा ही किया—और इस तरह पहली बार ऐसी अधिकारी संस्थाओं को जन्म दिया जो सचमुच पार्टी की संस्थाएं थीं।

मगर अपना कोई नाम रख लेना एक बात है, और सचमुच वैसा हो जाना दूसरी बात है। मण्डलों की व्यवस्था का पार्टी के लिए सिद्धान्त रूप में बलिदान कर देना एक बात है, और ख़ुद अपने मण्डल का परित्याग कर देना बिल्कुल ही दूसरी बात है। जिन लोगों को घुटी हुई सिद्धान्तविहीन कूपमण्डूकता की आदत पड़ी हुई थी, उनके लिए यह ताज़ा हवा अभी बहुत ज़्यादा ताज़ा साबित हुई। जैसा कि कामरेड मार्तोव ने अपने लेख 'एक बार फिर अल्पमत में' (अनजाने में) ठीक ही कहा है, "पार्टी अपनी पहली कांग्रेस का बोझ बर्दाश्त करने में असमर्थ सिद्ध हुई"। संगठनों की हत्या से जो तकलीफ़ और शिकायत की भावना पैदा हुई थी, वह बहुत सख़्त थी। वह ज़बर्दस्त आंधी हमारी पार्टी रूपी नदी की सारी कीचड़ को तह से उठाकर ऊपर ले आयी, और कीचड़ ने अपना बदला निकाला। पुरानी, परम्पराओं में जकड़ी, मण्डलों की भावना ने पार्टी-भावना पर, जो अभी नयी ही थी, क़ाबू पा लिया। पार्टी का अवसरवादी पक्ष, हालांकि उसकी बुरी तरह हार हो चुकी थी, अकीमोव वाली आकस्मिक घटना से नया बल प्राप्त करके, क्रान्तिकारी पक्ष को दबा देने में—ज़ाहिर है, अस्थायी रूप से—कामयाब हो गया।

इस सबका नतीजा है नया 'ईस्क्रा', जो आज उन ग़लतियों को और विकसित करने और गहरा बनाने पर मजबूर है, जो उसके संपादकों ने पार्टी कांग्रेस में की थीं। पुराना 'ईस्क्रा' क्रान्तिकारी संघर्ष की सच्चाइयों की शिक्षा देता था। नया 'ईस्क्रा' आत्म-समर्पण करने और सबके साथ मेल-मिलाप से रहने की सांसारिक बुद्धि सिखाता है। पुराना 'ईस्क्रा' लड़ाकू

सिद्धान्तवाद का मुखपत्र था। नया 'ईस्क्रा' हमें, मुख्यतया संगठन के प्रश्नों पर, अवसरवाद के नवोदय के गीत सुनाता है। पुराने 'ईस्क्रा' ने यह सम्मान प्राप्त किया था कि रूस और पश्चिमी यूरोप दोनों ही के अवसरवादी उससे नफ़रत करते थे। नया 'ईस्क्रा' "ज़्यादा बुद्धिमान" हो गया है और शीघ्र ही वह घोर अवसरवादियों से अपनी प्रशंसा सुनकर भी नहीं शरमाया करेगा। पुराना 'ईस्क्रा' बिना इधर-उधर भटके अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था, और उसकी कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं था। नये 'ईस्क्रा' के दृष्टिकोण में निहित असत्य अवश्यम्भावी रूप से–कोई चाहे या न चाहे, किसी का यह इरादा हो या न हो–उसे राजनीतिक बगुलाभगती की ओर ले जा रहा है। पार्टी-भावना पर मण्डल-भावना की विजय पर पर्दा डालने के लिए वह मण्डल-भावना के ख़िलाफ़ शोर मचाता है। बगुलाभगतों की तरह वह फूट की निन्दा करता है–जैसे कि किसी थोड़ा-बहुत संगठित पार्टी में भी अल्पमत को बहुमत के अधीन बनाने के सिवा पार्टी को फूट से बचाने के किसी और तरीक़े की भी कल्पना की जा सकती हो। वह कहता है कि क्रान्तिकारी जनमत का ध्यान रखना चाहिए, मगर फिर भी, अकीमोव जैसे लोग उसकी जो तारीफ़ें कर रहे हैं, उनको छिपाते हुए वह पार्टी के क्रान्तिकारी पक्ष की समितियों पर ओछे ढंग से तरह-तरह के झूठे लांछन लगाता रहता है*। कितना शर्मनाक दृश्य है! पुराने 'ईस्क्रा' की इन लोगों ने क्या हालत कर दी है!

एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे... यह व्यक्तियों के जीवन में भी होता है और राष्ट्रों के इतिहास में तथा पार्टियों के विकास के दौरान में भी होता है। क्रान्तिकारी सामाजिक-जनवाद, सर्वहारा संगठन और पार्टी अनुशासन के सिद्धान्तों की पूर्ण और अवश्यम्भावी विजय में एक क्षण के लिए भी सन्देह करना हद दर्जे की मुजरिमाना कायरता होगी। हम आज भी बहुत कुछ सफलता प्राप्त कर चुके हैं और हमको क्षणिक पराजय से निरुत्साह हुए बिना और मण्डलों के घिसघिस वाले कूपमंडूक तरीक़ों की उपेक्षा करते हुए, बराबर

---

*इस आकर्षक मनोरंजन का उन्होंने एक घिसा-पिटा ढंग निकाल लिया है: हमारे विशेष संवाददाता "क" ने हमें सूचना दी है कि बहुमत की समिति "ख" ने अल्पमत के साथी "ग" के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया है।

लड़ते रहना होगा, अडिग भाव से संघर्ष करना होगा, रूस के सभी सामाजिक-जनवादियों के बीच उस एकमात्र पार्टी-सम्बन्ध को सुरक्षित रखने में अपनी पूरी शक्ति लगा देनी होगी जो इतनी कोशिशों से क़ायम हुआ है, और हम दृढ़ एवं सुनियोजित कार्य के द्वारा पार्टी के सब सदस्यों को और विशेष रूप से मज़दूरों को पार्टी के सदस्यों के कर्तव्यों से पूरे तौर पर और सजग रूप से परिचित कराने का प्रयत्न करेंगे; हम उन्हें बतायेंगे कि दूसरी पार्टी कांग्रेस में किस प्रकार का संघर्ष हुआ था; हम उनको बतायेंगे कि हमारे मतभेदों के क्या कारण हैं और वे किन-किन मंज़िलों से गुज़रे हैं; हम उनको बतायेंगे कि अवसरवाद, जो हमारे कार्यक्रम और हमारी कार्यनीति के क्षेत्र में भी, और संगठन के क्षेत्र में भी पूंजीवादी मनोवृत्ति के सामने असहाय भाव से आत्म-समर्पण कर देता है, आंखें बन्द करके पूंजीवादी जनवाद के दृष्टिकोण को अपना लेता है, और सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष के अस्त्र की धार को कुंद कर देता है, कितना सत्यानाशी है।

सत्ता के संघर्ष में सर्वहारा के पास संगठन के सिवा और कोई अस्त्र नहीं है। पूंजीवादी संसार में उसे अराजक प्रतियोगिता का नियम छिन्न-भिन्न करता रहता है; पूंजी के लिए ज़बर्दस्ती की मेहनत उसे पीसती रहती है; बार-बार उसे कंगाली, बर्बरता और पतन के भयानक गढ़े में ढकेल दिया जाता है; ऐसी परिस्थिति में सर्वहारा केवल उसी समय एक अजेय शक्ति बन सकता है, और अवश्यम्भावी रूप से बनेगा, जब मार्क्सवाद के सिद्धान्तों ने उसमें जो सैद्धान्तिक एकता पैदा की है, वह एक ऐसे संगठन की भौतिक एकता से दृढ़ हो जायेगी जो लाखों मेहनतकशों को मज़दूर वर्ग की सेना के रूप में ढाल देगा। इस सेना का न तो रूसी ज़ारशाही का चरमराता हुआ शासन मुक़ाबला कर सकेगा और न ही अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की ढहती हुई हुकूमत उसके सामने खड़ी रह सकेगी। तमाम उतार-चढ़ाव और पीछे हटनेवाले क़दमों के बावजूद, आधुनिक सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के जिरौंद-वादियों की तमाम अवसरवादी लफ़्फ़ाज़ी के बावजूद, दक़ियानूसी मण्डल-भावना की समस्त आत्म-संतुष्ट प्रशंसा के बावजूद, और **बुद्धिजीवियों** के अराजकतावाद की तमाम तड़क-भड़क और शोर-शराबे के बावजूद इस सेना की पांतें अधिकाधिक संगठित और मज़बूत होती जायेंगी।

कामरेड गूसेव और कामरेड डेयट्श वाली घटना

इस घटना का, जो उस तथाकथित "झूठी" (यह कामरेड मार्तोव का शब्द है) सूची से गहरा सम्बंध रखती है जिसका कामरेड मार्तोव और कामरेड स्तारोवेर के पत्र में ज़िक्र था और जिसको हम अध्याय "ठ" में उद्धृत कर चुके हैं, सार-तत्व यह है। कामरेड गूसेव ने कामरेड पावलोविच को सूचित किया कि यह सूची, जिसमें कामरेड स्टाइन, येगोरोव, पोपोव, त्रोत्स्की और फ़ोमिन के नाम थे, उनको – गूसेव को – कामरेड डेयट्श ने दी थी (कामरेड पावलोविच के 'ख़त', पृष्ठ १२)। कामरेड डेयट्श ने इस बयान की बिना पर, कामरेड गूसेव पर "जान-बूझकर झूठा आरोप" लगाने का इल्ज़ाम लगाया, और साथियों की एक पंच-अदालत ने कामरेड गूसेव के "बयान" को **"ग़लत"** क़रार दे दिया (देखिये 'ईस्क्रा', अंक ६२, में साथियों की अदालत का फ़ैसला)। जब 'ईस्क्रा' का **सम्पादक-मण्डल** अदालत का फ़ैसला प्रकाशित कर चुका तो उसके बाद **कामरेड मार्तोव ने** (इस बार सम्पादक-मण्डल ने नहीं) एक ख़ास पर्चा निकाला जिसका शीर्षक था 'साथियों की पंच-अदालत का फ़ैसला', जिसमें उन्होंने न केवल अदालत के पूरे फ़ैसले को फिर से छापा था, बल्कि अदालत की पूरी कार्रवाई भी दे दी थी और साथ में **एक टिप्पणी अपनी** जोड़ दी थी। इस टिप्पणी में, और बातों के अलावा कामरेड मार्तोव यह कहते हैं कि यह "एक शर्मनाक सत्य" था कि "गुटबन्दी की लड़ाई को आगे बढ़ाने के लिए एक जाली सूची तैयार की गयी"। कामरेड ल्यादोव और कामरेड गोरिन ने, जो कि दूसरी कांग्रेस में प्रतिनिधियों के रूप में शरीक हुए थे, इस पर्चे के जवाब में एक अपना पर्चा निकाला, जिसका शीर्षक था 'पंच-अदालत में एक दर्शक'। इस पर्चे में उन्होंने "इस बात का ज़ोरदार विरोध किया कि

कामरेड मार्तोव अदालत के फ़ैसले से भी आगे बढ़ गये हैं और कामरेड गूसेव के उद्देश्य को बुरा बता रहे हैं", जब कि अदालत का फ़ैसला यह नहीं था कि जान-बूझकर झूठा इल्ज़ाम लगाया गया है, बल्कि उसने केवल कामरेड गूसेव के बयान को ग़लत क़रार दिया था। कामरेड गोरिन और ल्यादोव ने विस्तार के साथ समझाया था कि कामरेड गूसेव एक बिल्कुल स्वाभाविक ग़लती के कारण इस तरह का बयान दे सकते थे और कामरेड मार्तोव के इस आचरण को उन्होंने "**अशोभनीय**" कहा था कि वह ख़ुद कई ग़लत बयान दे चुके हैं (और इस पर्चे में फिर उन्होंने ग़लत बयान दिये हैं) और उन्होंने मनमाने ढंग से कामरेड गूसेव पर बुरे इरादे का दोष लगाया है। उनका कहना था कि यहां पर आम तौर पर किसी बुरे इरादे का सवाल नहीं उठता। यदि मैं ग़लती नहीं कर रहा हूं तो इस प्रश्न के सम्बन्ध में, जिसके स्पष्टीकरण में योग देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूं, सारा "साहित्य" बस यही है।

सबसे पहले, पाठक के सामने उस समय का और उन परिस्थितियों का स्पष्ट चित्र होना आवश्यक है जिनमें यह सूची (केन्द्रीय समिति के लिए उम्मीदवारों की सूची) प्रकट हुई। जैसा कि मैं इस पुस्तिका में पहले भी कह चुका हूं, 'ईस्क्रा' संगठन ने केन्द्रीय समिति के लिए उम्मीदवारों की एक ऐसी सूची तैयार करने के लिए जिसे वह संयुक्त रूप से कांग्रेस के सामने पेश कर सके, कांग्रेस के दौरान में अपना एक अलग सम्मेलन किया था। इस सम्मेलन में कोई मतैक्य न हो सका। 'ईस्क्रा' संगठन के बहुमत ने एक सूची पास कर दी जिसमें त्राविंस्की, ग्लेबोव, वसील्येव, पोपोव और त्रोत्स्की के नाम थे, लेकिन अल्पमत ने झुकने से इनकार कर दिया और एक दूसरी सूची पर ज़ोर दिया जिसमें त्राविंस्की, ग्लेबोव, फ़ोमिन, पोपोव और त्रोत्स्की के नाम थे। जिस बैठक में ये दो सूचियां तैयार हुई थीं और उन पर वोट लिये गये थे, उसके बाद 'ईस्क्रा' संगठन के ये दो हिस्से कभी साथ मिलकर नहीं बैठे। दोनों हिस्से कांग्रेस में स्वतंत्र आन्दोलन करने के लिए मैदान में उतर पड़े, दोनों ही चाहते थे कि उनके बीच जिस सवाल पर झगड़ा था, वह पूरी पार्टी कांग्रेस के वोट से तै हो और दोनों अधिक से अधिक संख्या में प्रतिनिधियों को अपनी तरफ़ खींचने की कोशिश कर रहे थे। कांग्रेस में इस स्वतंत्र आन्दोलन के आरम्भ होते ही यह राजनीतिक सत्य, जिसका मैंने इस पुस्तिका में इतने विस्तार

के साथ विश्लेषण किया है, स्पष्ट हो गया कि हम लोगों पर विजय पाने के लिए 'ईस्क्रा'-वादी अल्पमत के लिए (जिसके नेता मार्तोव थे) यह आवश्यक था कि वह "मध्य पक्ष" (दलदल) और 'ईस्क्रा'-विरोधियों के समर्थन पर भरोसा करे। यह इसलिए आवश्यक था कि प्रतिनिधियों का वह विशाल बहुमत, जिसने 'ईस्क्रा' के कार्यक्रम, कार्यनीति, तथा संगठनात्मक योजनाओं का 'ईस्क्रा'-विरोधियों तथा "मध्य पक्ष" के हमलों के मुक़ाबले में दृढ़तापूर्वक समर्थन किया था, बहुत जल्द और बहुत मज़बूती के साथ हमारे पक्ष में आ गया। ऐसे तैंतीस प्रतिनिधियों में से (या, कहना चाहिए, वोटों में से) जो न तो 'ईस्क्रा'-विरोधी थे और न ही "मध्य पक्ष" के थे, चौबीस को बहुत जल्द ही हमने अपने साथ कर लिया और उनके साथ "सीधे-सीधे समझौता" करके एक "गठा हुआ बहुमत" तैयार कर लिया। दूसरी तरफ़, कामरेड मार्तोव के साथ सिर्फ़ नौ वोट बचे, जीतने के लिए उनको 'ईस्क्रा'-विरोधियों और "मध्य पक्ष" वालों के सारे वोट चाहिए थे – जिन दलों के साथ वह मिल सकते थे (जैसे कि नियमावली की पहली धारा के सवाल पर), "संयुक्त मोर्चा" बना सकते थे, यानी उनका समर्थन स्वीकार कर सकते थे, लेकिन जिनके साथ वह सीधे-सीधे कोई समझौता **नहीं कर सकते थे** – और इसलिए नहीं कर सकते थे कि पूरी कांग्रेस भर उन्होंने इन दलों के ख़िलाफ़ हम लोगों से कम तीव्रता के साथ संघर्ष नहीं किया था। कामरेड मार्तोव की स्थिति का कुछ करुण और कुछ हास्यास्पद पहलू यही है! अपनी पुस्तिका 'घेरे की स्थिति' में कामरेड मार्तोव ने मुझे इस ज़हर में बुझे हुए घातक सवाल के ज़रिये ख़तम कर देने की कोशिश की है कि: "हम बहुत अदब के साथ कामरेड लेनिन से दरख़्वास्त करेंगे कि वह इस सवाल का साफ़-साफ़ जवाब दें कि 'यूज्नी राबोची' दल वाले कांग्रेस में **किसके लिए** अजनबी थे?" (पृष्ठ २३, फ़ुटनोट)। मैं बहुत अदब के साथ और साफ़-साफ़ जवाब देता हूं: वे कामरेड मार्तोव के लिए अजनबी थे। और सबूत यह है कि मैंने जब कि बहुत जल्दी 'ईस्क्रा'-वादियों से सीधे-सीधे समझौता कर लिया था, कामरेड मार्तोव ने 'यूज्नी राबोची' दल से, या कामरेड माखोव से, या कामरेड ब्रूकर से सीधे-सीधे न तो कोई समझौता किया और न ही वह कर सकते थे।

इस राजनीतिक परिस्थिति को जब हम साफ़-साफ़ समझ लेंगे, तभी हम

इस कुख्यात "झूठी" सूची के परेशान करनेवाले सवाल के "सार-तत्व" को समझ सकेंगे। उस वक़्त सचमुच जो हालत थी, ज़रा उसकी तसवीर अपने दिमाग़ में बनाइये : 'ईस्क्रा'-संगठन में फूट पड़ चुकी है, और हम लोग कांग्रेस में खुलकर प्रचार कर रहे हैं और दोनों पक्ष अपनी-अपनी सूची का समर्थन कर रहे हैं। इस समर्थन की क्रिया के दौरान में, अनेक निजी बातचीतों के दौरान में, सूचियों को सौ तरह से बदल-बदलकर तैयार किया जाता है: कभी पांच की समिति की जगह तीन की समिति का सुझाव रखा जाता है; कभी किसी उम्मीदवार की जगह पर अनेक और नाम सुझाये जाते हैं। मिसाल के लिए, मुझे अच्छी तरह याद है कि बहुमत के प्रतिनिधियों में जो आपसी बातचीतें हुई थीं उनमें कामरेड रूसोव, ओसिपोव, पावलोविच, और देदोव[215] के नाम सुझाये गये थे और फिर बहस और झगड़ों के बाद वापस ले लिये गये थे। बहुत मुमकिन है कि कुछ और नाम भी सुझाये गये हों जिनकी मुझे जानकारी नहीं है। इन बातचीतों में कांग्रेस का हर प्रतिनिधि अपनी राय ज़ाहिर करता था, तब्दीलियों के सुझाव रखता था, बहस करता था, वग़ैरह और यह सम्भव नहीं है कि केवल बहुमत के लोगों के बीच ही यह सब हो रहा हो। सच तो यह है कि अल्पमत के लोगों में भी बिला शक यही चीज़ हो रही थी, क्योंकि उन्होंने शुरू में जो पांच नाम छांटे थे (पोपोव, त्रोत्स्की, फ़ोमिन, ग्लेबोव और त्राविंस्की), उनको बाद में, जैसा कि हम कामरेड मार्तोव और स्तारोवेर के ख़त से देख चुके हैं, एक त्रिगुट में बदल दिया गया था–ग्लेबोव, त्रोत्स्की और पोपोव–और इसके अलावा, ग्लेबोव चूंकि उनको पसन्द नहीं थे, इसलिए उनकी जगह पर उन्होंने ख़ुशी-ख़ुशी फ़ोमिन का नाम रख दिया था (देखिये कामरेड ल्यादोव और कामरेड गोरिन का पर्चा)। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इस पुस्तिका में मैंने कांग्रेस के प्रतिनिधियों का अलग-अलग दलों में जो विभाजन किया है वह घटनाएं हो चुकने के बाद उनके विश्लेषण के आधार पर किया गया है; वास्तव में, चुनाव के प्रचार के दौरान में इन दलों का बनना महज़ शुरू ही हुआ था, और प्रतिनिधियों के बीच विचारों का आदान-प्रदान बिल्कुल खुलकर होता था, हम लोगों के बीच कोई "दीवार" नहीं खड़ी हो पायी थी, और हममें से हरेक जिस प्रतिनिधि से भी चाहता था, बेखटके निजी बातचीत करता था। ऐसी हालत में, कोई आश्चर्य नहीं, यदि इन बातचीतों

में बननेवाली विभिन्न सूचियों में, 'ईस्क्रा'-संगठन के अल्पमत की सूची के साथ-साथ (जिसमें पोपोव, त्रोत्स्की, फ़ोमिन, ग्लेबोव, और त्राविंस्की के नाम थे) एक और सूची भी सामने आ गयी हो जो पहली सूची से बहुत भिन्न नहीं थी (और जिसमें पोपोव, त्रोत्स्की, फ़ोमिन, स्टाइन और येगोरोव के नाम थे)। उम्मीदवारों की ऐसी सूची का सामने आना बिल्कुल स्वाभाविक था, क्योंकि हमारे उम्मीदवार ग्लेबोव और त्राविंस्की, ज़ाहिर है, 'ईस्क्रा' संगठन के अल्पमत को पसन्द नहीं थे (इस पुस्तिका के अध्याय "ठ" में उनका ख़त देखिये जिसमें उन्होंने त्राविंस्की को त्रिगुट से हटा दिया है और साफ़ शब्दों में कहा है कि ग्लेबोव का नाम भी वह समझौते के रूप में मान रहे हैं)। ग्लेबोव और त्राविंस्की की जगह पर संगठन समिति के सदस्य, स्टाइन और येगोरोव के नाम यदि किसी सूची में रख लिये गये तो यह बिल्कुल स्वाभाविक था, और अस्वाभाविक तथा अजीब बात तब होती जब पार्टी के अल्पमत के किसी प्रतिनिधि के दिमाग़ में इस प्रकार के परिवर्तन का विचार न आया होता।

आइये अब हम इन दो सवालों पर विचार करें कि: (१) येगोरोव, स्टाइन, पोपोव, त्रोत्स्की और फ़ोमिन की इस सूची को किसने जन्म दिया था? और (२) कामरेड मार्तोव को यह सुनकर इतना ग़ुस्सा क्यों आया था कि यह कहा गया कि यह सूची उन्होंने तैयार की है? पहले सवाल का **ठीक-ठीक** जवाब देने के लिए कांग्रेस में शामिल होनेवाले सारे प्रतिनिधियों से पूछताछ करनी पड़ेगी। यह अब असम्भव है। ख़ास तौर पर, यह पता लगाना होगा कि पार्टी के अल्पमत (जिसे 'ईस्क्रा' संगठन के अल्पमत के साथ नहीं गड़बड़ा देना चाहिए) के किन प्रतिनिधियों ने कांग्रेस में उन सूचियों के बारे में सुना था जिनको लेकर 'ईस्क्रा' संगठन में फूट पड़ गयी थी; उनका उन दो सूचियों की तरफ़, यानी 'ईस्क्रा' संगठन के बहुमत की सूची की तरफ़ और अल्पमत की सूची की तरफ़ क्या रुख़ था, और क्या ख़ुद उन्होंने कभी यह सुझाव दिया था या किसी और को यह सुझाव देते या मत प्रकट करते सुना था कि 'ईस्क्रा' संगठन के अल्पमत की सूची में कुछ परिवर्तन हो जायें तो अच्छा है? दुर्भाग्य से, मालूम होता है कि ये सवाल पंच-अदालत में भी नहीं उठाये गये थे, और (यदि उसके फ़ैसले के आधार पर राय बनायी जाये तो)

शायद उसको इसकी कोई जानकारी भी नहीं थी कि पांच-पांच की किन सूचियों को लेकर 'ईस्क्रा' संगठन में फूट पड़ गयी थी। मिसाल के लिए, कामरेड बेलोव ने (जिनको मैं "मध्य पक्ष" की श्रेणी में रखता हूं) "गवाही देते हुए कहा था कि डेयट्श के साथ उनके बहुत अच्छे सम्बंध थे और डेयट्श उनको कांग्रेस के कार्य के विषय में अक्सर अपने विचारों से अवगत कराते थे, और इसलिए यदि डेयट्श किसी सूची का प्रचार करते होते तो वह बेलोव को यह बात ज़रूर बताते"। यह अफ़सोस की बात है कि अदालत के सामने यह बात साफ़ नहीं करायी गयी कि क्या कामरेड डेयट्श कांग्रेस में 'ईस्क्रा' संगठन की सूचियों के विषय में भी कामरेड बेलोव को अपने विचारों से अवगत कराया करते थे, और यदि ऐसा था तो 'ईस्क्रा' संगठन के अल्पमत ने पांच की जो सूची पेश की थी उसकी तरफ़ कामरेड बेलोव का क्या रुख़ था, और क्या ख़ुद उन्होंने कभी यह सुझाव दिया था या किसी और को देते हुए सुना था कि उस सूची में कुछ परिवर्तन हो जायें तो अच्छा है? क्योंकि यह बात साफ़ नहीं करायी गयी, इसीलिए हम कामरेड बेलोव और कामरेड डेयट्श की गवाही में वह विरोध पाते हैं जिसका उल्लेख कामरेड गोरिन और कामरेड ल्यादोव पहले ही कर चुके हैं, यानी यह विरोध कि कामरेड डेयट्श ने ख़ुद अपने वक्तव्यों के प्रतिकूल "केन्द्रीय समिति के लिए कुछ ऐसे उम्मीदवारों की तरफ़ से ज़रूर प्रचार किया", जिनके नाम 'ईस्क्रा' संगठन की तरफ़ से पेश हुए थे। इसके अलावा कामरेड बेलोव ने अपनी गवाही में यह भी कहा कि "कांग्रेस समाप्त होने के एक या दो दिन पहले, जब वह कामरेड येगोरोव, पोपोव और ख़ारकोव समिति के प्रतिनिधियों से मिले थे तो उन्होंने एक निजी सूत्र से यह सुना था कि कुछ व्यक्ति निजी तौर एक सूची प्रतिनिधियों में घुमा रहे हैं। उस समय येगोरोव ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया था कि केन्द्रीय समिति के लिए उम्मीदवारों की सूची में उनका नाम भी शामिल है, क्योंकि उनकी–येगोरोव की–राय में उनका नाम न तो बहुमत के प्रतिनिधियों को पसन्द आ सकता था और न अल्पमत के।" यह बात बहुत ही महत्वपूर्ण है कि यहां पर साफ़-साफ़ इशारा **'ईस्क्रा' संगठन** के अल्पमत की तरफ़ है, क्योंकि पार्टी कांग्रेस के अल्पमत के बाक़ी लोगों में तो कामरेड येगोरोव का नाम, जो कि संगठन समिति के सदस्य और "मध्य पक्ष" के एक प्रमुख प्रवक्ता थे न सिर्फ़ पसन्द

किया जाता बल्कि उसका हार्दिक स्वागत होता। दुर्भाग्य से, हमें कामरेड बेलोव की गवाही से इसकी कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती कि पार्टी अल्पमत के उन सदस्यों की सहानुभूति जो 'ईस्क्रा' संगठन से सम्बंध नहीं रखते थे, किस तरफ़ थी, या वे किन लोगों का विरोध कर रहे थे। और वास्तव में, यही बात महत्व की है, क्योंकि कामरेड डेयट्श को इस बात पर गुस्सा था कि इस सूची की ज़िम्मेदारी 'ईस्क्रा' संगठन के अल्पमत पर थोपी जा रही थी, जब कि यह मुमकिन था कि वह उस अल्पमत से आयी हो जिसका उस संगठन से कोई सम्बंध न था!

ज़ाहिर है कि अब इतने दिनों बाद यह याद करना बहुत मुश्किल है कि उम्मीदवारों की इस सूची का सुझाव सबसे पहले किसने रखा था और हममें से, हरेक ने उसके बारे में किससे सुना था। उदाहरण के लिए, इस सूची की बात तो जाने दीजिये, मैं अब यह याद करने का ज़िम्मा भी नहीं ले सकता कि रूसोव, देदोव, आदि के नाम, जिनका मैं ऊपर ज़िक्र कर चुका हूं, बहुमत के साथियों में से सबसे पहले किसने पेश किये थे। उम्मीदवारों की तरह-तरह की विभिन्न सूचियों के बारे में जो अनगिनत बातचीतें हुईं, जो सुझाव आये, और अफ़वाहें सुनी गयीं, उनमें से मेरी याददाश्त में केवल वे "सूचियां" बाक़ी हैं जिन पर 'ईस्क्रा' संगठन में, या बहुमत की निजी बैठकों में सीधे-सीधे वोट लिये गये थे। ये सूचियां प्रायः ज़बानी घुमायी जाती थीं (मेरे "'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल के नाम पत्र' के पृष्ठ ४ की नीचे से ५ वीं लाइन में मैंने जिन पांच नामों को "सूची" कहा है, उनको मैंने बैठक में ज़बानी पेश किया था), लेकिन कभी-कभी उनको छोटे-छोटे पुर्ज़ों पर भी लिख लिया जाता था जो कि कांग्रेस की बैठकों के दौरान में प्रतिनिधियों के बीच घूमते रहते थे और बैठक के बाद नष्ट कर दिये जाते थे।

इस कुख्यात सूची का जन्म कहां से हुआ, चूंकि इसका कोई निश्चित प्रमाण हमारे पास नहीं है, इसलिए सिर्फ़ यही मानकर चला जा सकता है कि या तो पार्टी के अल्पमत के किसी प्रतिनिधि ने, बग़ैर 'ईस्क्रा' संगठन के अल्पमत को बताये, इस सूची के नामों को चालू कर दिया था और फिर वे ज़बानी या लिखित रूप में कांग्रेस में घूमने लगे थे; और या 'ईस्क्रा' संगठन के अल्पमत के किसी सदस्य ने ही कांग्रेस में इन नामों का सुझाव दिया था और

बाद को वह उनके बारे में भूल गया था। यह बाद वाली बात मुझे इन कारणों से अधिक सम्भव मालूम होती है: कामरेड स्टाइन के नाम का 'ईस्क्रा' संगठन का अल्पमत **बिला शक** पहले ही कांग्रेस में स्वागत कर चुका था (इस पुस्तिका के मूल पाठ में देखिये), और जहां तक कामरेड येगोरोव के नाम का सम्बंध है, निश्चय ही कांग्रेस के बाद **इस** अल्पमत को इस नाम का खयाल आया था (क्योंकि लीग की कांग्रेस में और 'घेरे की स्थिति' नामक पुस्तिका में, दोनों जगह इस बात पर दुख प्रकट किया गया है कि संगठन समिति को केन्द्रीय समिति के रूप में स्वीकार नहीं कर लिया गया—और कामरेड येगोरोव संगठन समिति के सदस्य थे)। संगठन समिति के सदस्यों को केन्द्रीय समिति के सदस्य बना देने का विचार कांग्रेस की हवा में था। तब यह मानकर चलना स्वाभाविक क्यों नहीं है कि अल्पमत के किसी सदस्य ने पार्टी कांग्रेस के समय किसी निजी बातचीत में यह सुझाव रखा होगा?

लेकिन इस पूरी चीज़ का कोई स्वाभाविक स्पष्टीकरण ढूंढ़ने के बजाय, कामरेड मार्तोव और कामरेड डेयट्श को तो कोई **जघन्य** चीज़—कोई षड्यंत्र, कोई बेईमानी, "दूसरों को बदनाम करने के **मक़सद से सरासर** झूठी अफ़वाहें" फैलाने की कोई कार्रवाई, "**गुटबन्दी की लड़ाई को आगे बढ़ाने के लिए क़ी गयी**" कोई "**जालसाज़ी**" आदि—खोजकर निकालने की ज़िद है। इस रुग्ण मनोवृत्ति का यही कारण समझा जा सकता है कि विदेशों में प्रवासी क्रान्तिकारी बहुत ख़राब वातावरण में जीवन बिताते हैं, या यह कि इन साथियों की मानसिक दशा बहुत अप्रकृत रहती है, और मैं तो इस सवाल की चर्चा भी न करता यदि मामला एक साथी की प्रतिष्ठा पर अशोभनीय हमले की हद तक न पहुंच गया होता। ज़रा सोचिये तो सही: यदि एक ग़लत बयान हो गया, या एक ग़लत अफ़वाह सुनने में आयी तो उसके पीछे कोई बुरा इरादा, कोई घृणित उद्देश्य देखने का कामरेड डेयट्श और कामरेड मार्तोव के पास क्या कारण था? उनके रोगी दिमाग़ों ने जो तसवीर बनायी थी, वह ज़ाहिर है, यह थी कि बहुमत अल्पमत को उसकी कोई राजनीतिक ग़लती (जैसे, पहली धारा और अवसरवादियों के साथ संयुक्त मोर्चा) बताकर नहीं बल्कि "सरासर झूठी" और "जाली" सूचियों की ज़िम्मेदारी उसके मत्थे थोपकर अल्पमत को बदनाम करना चाहता है। अल्पमत ने इस मामले की

सफ़ाई अपनी ग़लती बताकर नहीं दी, बल्कि बहुमत की घृणित, बेईमानी से भरी और गन्दी हरकतों का सहारा लिया! हम उस समय की परिस्थितियों का वर्णन करके ऊपर यह दिखा चुके हैं कि इस "ग़लत बयान" में किसी बुरे इरादे की तलाश करना कितनी विवेकहीन बात थी। साथियों की पंच-अदालत ने भी यह बात महसूस की और इसीलिए उसने इस मामले में कोई बुरा इरादा, कोई झूठा कलंक, या कोई अपमानजनक बात नहीं देखी। अन्त में, इसका सबसे साफ़ सबूत यह है कि पार्टी कांग्रेस में भी, यहां तक कि चुनाव के पहले भी, 'ईस्क्रा' संगठन के अल्पमत ने इस झूठी अफ़वाह के बारे में बहुमत के साथ विचारों का आदान-प्रदान किया था, और यहां तक कि कामरेड मार्तोव ने भी एक ख़त में अपने विचार प्रकट किये थे जो कि बहुमत के चौबीसों प्रतिनिधियों की बैठक में पढ़ा गया था! 'ईस्क्रा' संगठन के बहुमत को कभी यह ख़याल तक नहीं आया कि अल्पमत से यह बात छिपायी जाये कि एक ऐसी सूची कांग्रेस में घूम रही है: कामरेड लेंस्की ने कामरेड डेयट्श को इसके बारे में बताया था (देखिये अदालत का फ़ैसला), कामरेड प्लेख़ानोव ने कामरेड ज़ासुलिच से इसका ज़िक्र किया था (कामरेड प्लेख़ानोव ने मुझसे कहा था कि "मैं उससे बात नहीं कर सकता, मुझे वह शायद त्रेपोव समझती है," और यह मज़ाक़ भी, जो कि उसके बाद से बहुत बार दुहराया जा चुका है, इसी बात का एक और प्रमाण है कि अल्पमत के लोग उस समय उद्विग्नता की किसी असाधारण हालत में थे); और मैंने कामरेड मार्तोव से यह कहा था कि मेरे लिए उनका आश्वासन (कि यह सूची उनकी – मार्तोव की – तैयार की हुई नहीं थी) काफ़ी है (लीग की कार्यवाही, पृष्ठ ६४)। उस पर कामरेड मार्तोव ने (यदि मैं भूलता नहीं हूं तो कामरेड स्तारोवेर के साथ मिलकर) ब्यूरो के हम सदस्यों को एक पुर्ज़ा भेजा था जिसमें मोटे-मोटे तौर पर यह लिखा था: "'ईस्क्रा' के सम्पादक-मण्डल का बहुमत, बहुमत की निजी बैठक में शामिल होने की इजाज़त चाहता है ताकि वह उस झूठी और बदनाम करनेवाली अफ़वाहों का खण्डन कर सके जो उसके बारे में फैलायी जा रही हैं।" और प्लेख़ानोव और मैंने उसी पुर्ज़े पर यह जवाब लिखकर भेज दिया था कि: "हमने ऐसी कोई बदनाम करनेवाली अफ़वाहें नहीं सुनी हैं। यदि सम्पादक-मण्डल की बैठक करने की आवश्यकता है, तो वह अलग से की जानी

चाहिए। – लेनिन। प्लेख़ानोव।" उसी रोज़ शाम को बहुमत की जो बैठक हुई, उसमें हमने चौबीसों प्रतिनिधियों के सामने यह पूरा हाल सुना दिया। ग्रौर किसी तरह की कोई ग़लतफ़हमी न रह जाये, इसके लिए फ़ैसला किया गया कि हम चौबीसों प्रतिनिधियों की तरफ़ से कुछ लोग चुन कर कामरेड मार्तोव ग्रौर कामरेड स्तारोवेर से बात करने के लिए भेजे जायें। प्रतिनिधि चुने गये, कामरेड सोरोकिन ग्रौर कामरेड साब्लिना ने जाकर यह बात समझायी कि इस सूची की जिम्मेदारी कोई भी ख़ास तौर पर मार्तोव या स्तारोवेर पर नहीं डालना चाहता, ग्रौर ख़ास कर उनके बयान के बाद तो इसका कोई सवाल ही नहीं उठता, ग्रौर इसका तनिक भी कोई महत्व नहीं है कि इस सूची का स्रोत 'ईस्क्रा' संगठन का ग्रल्पमत है या कांग्रेस का वह ग्रल्पमत जिसका 'ईस्क्रा' संगठन से कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि ग्राख़िर हम कांग्रेस में कोई जांच तो नहीं शुरू कर सकते थे ग्रौर न ही इस सूची के बारे में सब प्रतिनिधियों से जवाब-तलब कर सकते थे! लेकिन कामरेड मार्तोव ग्रौर कामरेड स्तारोवेर ने हमें एक ग्रौर पत्र लिखा जिसमें उन्होंने रस्मी तौर पर ग्रफ़वाह का खण्डन किया था (देखिये ग्रध्याय "ठ")। इस पत्र को, हमारे प्रतिनिधियों ने, कामरेड सोरोकिन ग्रौर कामरेड साब्लिना ने, चौबीसों प्रतिनिधियों की बैठक में पढ़कर सुनाया। ऐसा प्रतीत होता था कि ग्रब समझा जा सकता है कि मामला ख़तम हो गया – इस ग्रर्थ में नहीं कि यह पता चल गया कि सूची किसने तैयार की थी (यदि ग्रब भी किसी को इसकी परवाह थी), बल्कि इस ग्रर्थ में कि ग्रब यह ख़याल किसी को नहीं रह गया था कि इस मामले के पीछे "ग्रल्पमत को नुक़सान पहुंचाने", या किसी को "बदनाम करने", ग्रथवा "गुटबन्दी की लड़ाई को ग्रागे बढ़ाने के लिए जालसाज़ी से" फ़ायदा उठाने का कोई इरादा था। मगर इसके बाद भी लीग की कांग्रेस में (पृष्ठ (६३-६४) कामरेड मार्तोव किसी रोगी दिमाग़ की पैदा की हुई इस घृणित कहानी को फिर सामने ले ग्राये, ग्रौर इस बार उन्होंने (शायद ग्रपनी उत्तेजित मनोदशा के कारण) कई **ग़लत बातें** कहीं। उन्होंने कहा कि उस सूची में एक बुंदवादी का भी नाम था। यह सच नहीं है। पंच-ग्रदालत के सामने पेश होनेवाले सभी गवाहों ने, जिनमें कामरेड स्टाइन ग्रौर बेलोव भी शामिल हैं, यह कहा था कि सूची में कामरेड येगोरोव का नाम था। कामरेड मार्तोव

ने कहा कि सूची का मतलब यह होता था कि सीधे समझौते की शक्ल में संयुक्त मोर्चा बन गया था। यह भी सच नहीं है, जैसा कि मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूं। कामरेड मार्तोव ने कहा कि 'ईस्क्रा' संगठन के अल्पमत से कोई और सूची (ऐसी सूची जो कांग्रेस के बहुमत को इस अल्पमत से दूर कर दे) भी नहीं निकली थी, और "यहां तक कि कोई जाली सूची भी उनके यहां से नहीं निकली थी"। यह बात भी सच नहीं है, क्योंकि पार्टी कांग्रेस के पूरे बहुमत की जानकारी में कुछ नहीं तो कम से कम तीन ऐसी सूचियां कामरेड मार्तोव और उनके संगी-साथियों के यहां से जरूर निकली थीं जो बहुमत को पसन्द नहीं थीं (देखिये ल्यादोव और गोरिन का पर्चा)।

मोटी बात यह है कि इस सूची से कामरेड मार्तोव को इतना गुस्सा क्यों आया? इसलिए कि उससे पार्टी के दक्षिण पक्ष की ओर झुकने की प्रवृत्ति प्रकट होती थी। उस समय कामरेड मार्तोव ने "अवसरवाद के झूठे आरोप" के बारे में बड़ी चीख़-पुकार मचायी थी और इस बात पर ग़ुस्सा ज़ाहिर किया था कि "उनके राजनीतिक मत का ग़लत चरित्रांकन किया जा रहा है," लेकिन अब हर आदमी देख सकता है कि इस सवाल का कोई राजनीतिक महत्व नहीं था कि यह सूची कामरेड मार्तोव और कामरेड डेयट्श की तैयार की हुई थी या नहीं, और **इस सूची को या किसी और सूची को अलग रखकर यदि बुनियादी तौर पर देखा जाये** तो यह आरोप झूठा नहीं, बल्कि सच था और कामरेड मार्तोव के राजनीतिक मत का जो चरित्रांकन किया गया था, वह बिल्कुल सही था।

इस कुख्यात झूठी सूची के कष्टदायक और बनावटी मामले से जो निष्कर्ष निकलता है, वह यह है:

(१) कामरेड गोरिन और कामरेड ल्यादोव के इस मत से कोई सहमत हुए बिना नहीं रह सकता कि कामरेड मार्तोव ने "गुटबन्दी की लड़ाई को आगे बढ़ाने के लिए जाली सूची के इस्तेमाल के शर्मनाक सत्य" का शोर मचाकर कामरेड गूसेव की प्रतिष्ठा पर जो हमला किया था, वह एक अशोभनीय कार्य था।

(२) अधिक स्वस्थ वातावरण पैदा करने के लिए और पार्टी के सदस्यों को हर अस्वस्थ दिमाग़ की कल्पना को गम्भीरतापूर्वक लेने से बचाने के लिए

शायद तीसरी कांग्रेस में वह नियम पास कर देना उपयोगी होगा जो जर्मन सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की संगठन-सम्बंधी नियमावली में भी शामिल है। इस नियमावली की दूसरी धारा इस प्रकार है: "ऐसा कोई व्यक्ति पार्टी का सदस्य नहीं रह सकता जो पार्टी-कार्यक्रम के सिद्धान्तों की सरासर अवहेलना करने या असम्मानजनक आचरण का दोषी हो। वह आगे पार्टी का सदस्य रह पायेगा या नहीं, इसका फ़ैसला पार्टी के अधिकारियों द्वारा बुलायी गयी एक पंच-अदालत करेगी। इस अदालत के आधे पंच उस व्यक्ति द्वारा नामज़द किये जायेंगे जो उपरोक्त साथी को पार्टी से निकालने की मांग कर रहा है, और आधे उस व्यक्ति द्वारा नामज़द किये जायेंगे जिसको पार्टी से निकालने की मांग की जा रही है; अदालत के अध्यक्ष को पार्टी के अधिकारी नियुक्त करेंगे। पंच-अदालत के फ़ैसले के ख़िलाफ़ कण्ट्रोल-कमीशन के सामने या पार्टी कांग्रेस में अपील की जा सकेगी।" ऐसा नियम बन जायेगा तो वह उन तमाम लोगों के ख़िलाफ़ एक अच्छे हथियार के रूप में काम आ सकेगा जो हल्के ढंग से असम्मानजनक आचरण का आरोप लगाते हैं (या इस आशय की झूठी अफ़वाहें फैलाते हैं)। ऐसा नियम बन जाये तो जब तक इस प्रकार के आरोप लगानेवालों में वादी के रूप में **पार्टी के सामने** आकर किसी अधिकारी पार्टी संस्था से निर्णय लेने का नैतिक साहस नहीं होगा, तब तक ऐसे आरोपों को हमेशा के लिए गन्दा और झूठा प्रचार क़रार दे दिया जायेगा।

लेखन-काल: फ़रवरी – मई, १९०४

मई १९०४ में जेनेवा में स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित

व्ला० इ० लेनिन,
संग्रहीत रचनाएं,
चौथा रूसी संस्करण
खंड ७, पृष्ठ १८५-३९२

टिप्पणियां

1 व्ला० इ० लेनिन ने **'कार्ल मार्क्स'** शीर्षक अपना लेख ग्रानात विश्वकोष के लिए १९१४ के वसंत में गैलीशिया स्थित पोरोनिनो में लिखना आरंभ किया और उसी वर्ष की नवंबर में स्विट्ज़रलैंड स्थित बर्न में समाप्त किया। १९१८ में यह लेख पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ था। इसकी भूमिका में लेनिन ने लिखा था कि जहां तक उन्हें याद है, यह लेख १९१३ में लिखा गया था।

यह लेख उक्त विश्वकोष में १९१५ में व० इल्यीन के हस्ताक्षरों के साथ प्रकाशित हुआ। लेख के साथ परिशिष्ट के रूप में 'मार्क्सवाद की संदर्भ-सूची' जोड़ी गयी थी। सेन्सर से बचने के लिए विश्वकोष के संपादकों ने लेख के दो हिस्से ('समाजवाद' और 'सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष की कार्यनीति') छोड़ दिये थे और बाक़ी लेख में भी काफ़ी हेरफेर किये थे।

१९१८ में 'प्रिबोई' पब्लिशर्स ने यह लेख व्ला० इ० लेनिन की भूमिका के साथ पुस्तिका के रूप में प्रकाशित किया। लेख का स्वरूप वही था जो विश्वकोष में था; पर इस पुस्तिका में 'मार्क्सवाद की संदर्भ-सूची' नहीं दी गयी थी।

पांडुलिपि के अनुसार यह लेख पूर्ण रूप में पहली बार १९२५ में 'मार्क्स-एंगेल्स-मार्क्सवाद' शीर्षक विचार-संग्रह में प्रकाशित किया गया। यह संग्रह रूस की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केंद्रीय समिति के लेनिन संस्थान द्वारा तैयार किया गया था।—पृष्ठ ३१

2 **वामपंथी हेगेलवादी अथवा तरुण हेगेलवादी**—१९ वीं शताब्दी के चौथे और पांचवें दशकों में यह जर्मन दर्शन की आदर्शवादी प्रवृत्ति थी। इसने हेगेल के दर्शन से आमूलवादी निष्कर्ष निकालने और जर्मनी के पूंजीवादी

रूप-परिवर्तन की आवश्यकता प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। द० स्ट्रॉस, ब० और ए० बावेर, म० स्टर्नर इत्यादि वामपंथी हेगेलवादियों के प्रतिनिधि थे। कुछ समय तक ल० फ़ायरबाख़ और तरुण मार्क्स और फ़े० एंगेल्स इन हेगेलवादियों से संबद्ध थे। पर बाद में इन्होंने तरुण हेगेलवादियों के साथ अपने संबंध तोड़ दिये और 'पवित्र परिवार' (१८४४) तथा 'जर्मन विचारधारा' (१८४५-४६) में उनके दर्शन के आदर्शवादी तथा निम्न-पूंजीवादी स्वरूप की आलोचना की। —पृष्ठ ३२

3 प्रस्तुत संस्करण में मार्क्सवाद के और मार्क्सवाद पर लिखे गये साहित्य का सिंहावलोकन नहीं दिया गया है। —पृष्ठ ३३

4 यहां का० मार्क्स के 'मोज़ेल संवाददाता की रिहाई' शीर्षक लेख की ओर संकेत है। —पृष्ठ ३३

5 **प्रूदों** (१८०९-१८६५) — फ़ांसीसी निम्न-पूंजीवादी समाजवादी और अराजकतावादी; मार्क्सवाद-विरोधी और विज्ञान-विरोधी प्रूदोंवाद के संस्थापक। निम्न-पूंजीवादी दृष्टिकोण से बड़ी पूंजीवादी संपत्ति की आलोचना करते हुए प्रूदों निजी संपत्ति को शाश्वत बनाने का सपना देखते थे। उनका सुझाव था कि "जन" बैंकों तथा "विनिमय" बैंकों की स्थापना की जाये। वह मानते थे कि इनकी सहायता से मज़दूरों को स्वयं अपने उत्पादन-साधन मिल जायेंगे, मजदूर कारीगर बन जायेंगे और उनके माल की "न्यायसंगत" बिक्री सुनिश्चित होगी। प्रूदों सर्वहारा की ऐतिहासिक भूमिका और महत्व समझ न पाये और उन्होंने वर्ग-संघर्ष, सर्वहारा-क्रांति और सर्वहारा के अधिनायकत्व के प्रति नकारात्मक रुख़ अपनाया। अराजकतावादी होने के कारण उन्होंने राज्य की आवश्यकता अस्वीकार की। पहली इंटरनेशनल पर अपने विचार लादने के प्रूदों के प्रयत्नों के विरुद्ध मार्क्स और एंगेल्स ने डटकर संघर्ष किया। मार्क्स ने 'दर्शनशास्त्र की निर्धनता' में प्रूदोंवाद की कड़ी आलोचना की। मार्क्स, एंगेल्स और उनके अनुयायियों द्वारा छेड़े गये दृढ़ संघर्ष के फलस्वरूप पहली इंटरनेशनल में मार्क्सवाद को प्रूदोंवाद पर संपूर्ण विजय मिली।

लेनिन ने प्रूदोंवाद को मज़दूर वर्ग का दृष्टिकोण समझ लेने में असमर्थ "कूपमंडूक की संकीर्ण मनोवृत्ति" की संज्ञा दी। तथाकथित पूंजीवादी सैद्धांतिकों द्वारा वर्गों की सुसंगति के प्रचार में प्रूदों के विचारों का विस्तृत उपयोग किया जा रहा है। —पृष्ठ ३४

'कम्युनिस्ट लीग'—क्रांतिकारी सर्वहारा का सबसे पहला अंतर्राष्ट्रीय संगठन। १८४७ की गर्मियों में लंदन में इसकी स्थापना हुई। इसके संगठक का० मार्क्स और फ़े० एंगेल्स थे। इन्होंने उक्त संगठन के निर्देश पर 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' लिखा। लीग के उद्देश्य इस प्रकार थे : पूंजीवादी वर्ग का तख़्ता उलटना, वर्ग-विरोध पर आधारित पुराने पूंजीवादी समाज की समाप्ति और ऐसे नये समाज की स्थापना जिसमें न कोई वर्ग होंगे और न निजी संपत्ति ही। 'कम्युनिस्ट लीग' ने सर्वहारावादी क्रांतिकारियों के स्कूल, सर्वहारा पार्टी के बीज और 'अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर सभा' (पहली इंटरनेशनल) की पूर्ववर्ती संस्था के रूप में महान् ऐतिहासिक भूमिका अदा की। लीग नवंबर १८५२ तक बनी रही। लीग के चोटी के नेताओं ने आगे चलकर पहली इंटरनेशनल में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। देखिये फ़े० एंगेल्स का 'कम्युनिस्ट लीग के इतिहास के संबंध में' शीर्षक लेख।—पृष्ठ ३४

'नोये राइनिशे त्साइटुङ' (नया राइनी समाचारपत्र) कोलोन में १ जून, १८४८ से १९ मई, १८४९ तक प्रकाशित होता रहा। का० मार्क्स और फ़े० एंगेल्स इस पत्र के प्रबंधक थे। मार्क्स प्रधान संपादक थे। पत्र ने जन समूहों को शिक्षित किया, प्रतिक्रांति के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रेरित किया। समूचे जर्मनी में पत्र का प्रभाव अनुभव किया गया। 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' दृढ़ और पक्का रुख़ अपनाये था, युयुत्सु अंतर्राष्ट्रीयवाद की उसकी नीति थी और उसमें प्रशा की सरकार और कोलोन के शासक-अधिकारियों के विरुद्ध राजनीतिक लेख प्रकाशित हुआ करते थे। अतः सामंती-राजवादी तथा उदार-पूंजीवादी समाचारपत्र और स्वयं सरकार भी बुरी तरह इसके पीछे पड़ी रही। मई १८४९ में प्रतिक्रांति ने आम चढ़ाई शुरू की और उस समय प्रशा की सरकार ने इस बात से लाभ उठाकर कि मार्क्स को प्रशा का नागरिकत्व नहीं दिया गया है, उन्हें प्रशा से निर्वासित करने का आदेश जारी किया। मार्क्स के निर्वासन और पत्र के अन्य संपादकों के विरुद्ध की गयी दमनात्मक कार्रवाइयों के कारण पत्र का प्रकाशन बंद हो गया। 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' का अंतिम अर्थात् ३०१ वां अंक १९ मई, १८४९ को निकला। यह लाल स्याही में छपा हुआ था। मज़दूरों से विदा लेते हुए संपादकों ने लिखा था कि "हमारे अंतिम शब्द सदैव और सर्वत्र यही रहेंगे : मज़दूर वर्ग की मुक्ति!" 'नोये राइनिशे त्साइटुङ' के संबंध में देखिये, एंगेल्स का 'मार्क्स और 'नोये राइनिशे त्साइटुङ'' (१८४८-१८४९) शीर्षक लेख।—पृष्ठ ३४

8 **बकूनिनवाद** – म० अ० बकूनिन के नाम पर पहचानी जानेवाली एक प्रवृत्ति। बकूनिन अराजकतावाद का एक विचारक था और था मार्क्सवाद तथा वैज्ञानिक समाजवाद का विक्षिप्त शत्रु। उसके अनुयायियों (बकूनिनवादियों) ने मार्क्सवाद और मज़दूर वर्ग की कार्यनीति के विरुद्ध घोर संघर्ष किया। बकूनिनवाद के सिद्धांत का निचोड़ था सर्वहारा के अधिनायकत्व सहित हर प्रकार के राज्य की अस्वीकृति और सर्वहारा की विश्व-ऐतिहासिक भूमिका को समझ लेने की दृष्टि से उनका दिवालियापन। बकूनिन ने वर्गों के "समानीकरण" का, नीचे से "स्वतंत्र संस्थाओं" के एकीकरण का विचार प्रतिपादित किया। बकूनिनवादियों की राय थी कि "विख्यात" व्यक्तियों की एक गुप्त क्रांतिकारी संस्था जनता के विद्रोहों का मार्गदर्शन करे और ये विद्रोह फ़ौरन किये जायें। इस प्रकार उनकी मान्यता थी कि रूसी किसान फ़ौरन विद्रोह करने के लिए तैयार हैं। बकूनिनवादियों की षड्यंत्रों, फ़ौरी विद्रोहों और आतंक की कार्यनीति दुस्साहसिक थी और विप्लवों के संबंध में मार्क्सवादी सीख के विरुद्ध थी। बकूनिनवाद नरोदवाद के वैचारिक स्रोतों में से एक था।

बकूनिन और बकूनिनवादियों के संबंध में देखिये: का० मार्क्स और फ़े० एंगेल्स लिखित 'समाजवादी जनवाद और अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर सभा का गठजोड़' (१८७३); फ़े० एंगेल्स लिखित 'कार्यरत बकूनिनवादी' (१८७३) और 'परावसी साहित्य' (१८७५) और लेनिन लिखित 'अस्थायी क्रांतिकारी सरकार' (१९०५), इत्यादि। – पृष्ठ ३६

9 **अज्ञेयवाद** (एग्नोस्टिसिज़्म – यह शब्द यूनानी शब्दों से बना है: ए – नहीं, ग्नोसिस – ज्ञान) – अज्ञेयवादी भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व मानते हैं पर उनकी ज्ञेयता अस्वीकार करते हैं।

समीक्षावाद (क्रिटिसिज़्म). – कान्ट ने अपने आदर्शवादी दर्शन को यह नाम दिया था। कारण कि मनुष्य के बोध की समीक्षा को वह अपने दर्शन का प्रधान प्रयोजन मानते थे। इस "समीक्षा" के फलस्वरूप कान्ट इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि मनुष्य वस्तुओं की प्रकृति को समझ लेने में असमर्थ है।

निरीक्षणवाद (पोज़िटिविज़्म) – पूंजीवादी दर्शन और समाजशास्त्र की एक बहुप्रचलित प्रवृत्ति। फ़्रांसीसी दार्शनिक और समाजशास्त्री कोन्त (१७९८-१८५७) इसके संस्थापक थे। निरीक्षणवादी आंतरिक नियम-शासित संपर्कों और संबंधों को जानने की संभावना को अस्वीकार करते हैं, वस्तुगत

विश्व को जानने और परिवर्तित करने के साधन के रूप में दर्शन की महत्ता को अस्वीकार करते हैं और उसे केवल पृथक् पृथक् विज्ञानों द्वारा प्राप्त किये गये तथ्यों के सारांश और किसी व्यक्ति के अपने निरीक्षणों के परिणामों के वर्णन तक ही सीमित कर देते हैं। निरीक्षणवाद अपने को पदार्थवाद और आदर्शवाद से "ऊंचा" मानता है पर वास्तव में वह है आत्मवादी आदर्शवाद ही का एक प्रकार। – पृष्ठ ३९

10 **राज-सत्ता की पुनःस्थापना** – फ़्रांस के इतिहास में १८१४ से १८३० तक का काल। इस काल में फ़्रांस में पुनःस्थापित बुर्बोन वंश के हाथों में सत्ता थी। १७९२ की पूंजीवादी क्रांति ने इस वंश का तख़्ता उलट दिया। – पृष्ठ ४६

11 **"सीमान्त उपयोग का सिद्धान्त"** – आस्ट्रियाई पूंजीवादी अर्थशास्त्री बोह्म-बावर्क ने मार्क्स के मूल्य-सिद्धांत के विरोध में उक्त सिद्धांत का विस्तार किया। वह माल के मूल्य की व्याख्या जनता के लिए उसके उपयोग के आधार पर करता है, न कि उसके उत्पादन में लगी हुई सामाजिक श्रम की मात्रा के आधार पर। – पृष्ठ ५४

12 *«Die Neue Zeit»* (नया ज़माना) – जर्मन सामाजिक-जनवाद की सैद्धांतिक पत्रिका। यह १८८३ से १९२३ तक स्टुटगार्ट से प्रकाशित होती रही। १९१७ तक का० काउत्स्की और बाद में ग० कूनोव इसके संपादक रहे। १८८५ और १८९५ के बीच का० मार्क्स और फ़्रे० एंगेल्स के कई लेख इसमें प्रकाशित हुए। एंगेल्स अक्सर पत्रिका के संपादकों को सलाह दिया करते और मार्क्सवाद से भटक जाने के लिए उनकी कड़ी आलोचना करते। यह पत्रिका फ़० मेहरिंग, प० लफ़ार्ग और अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर वर्ग आंदोलन के अन्य नेताओं के लेख भी प्रकाशित करती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक के उत्तरार्द्ध में, एंगेल्स की मृत्यु के बाद, पत्रिका ने अवसरवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए संशोधनवादियों के लेख प्रकाशित करना शुरू किया। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान में (१९१४-१९१८) पत्रिका ने मध्यवादी स्थिति अपनायी और वस्तुतः सामाजिक-अंधराष्ट्रवादियों का समर्थन किया। – पृष्ठ ६४

13 देखिये का० मार्क्स का पत्र फ़्रे० एंगेल्स के नाम, ता० ९ अप्रैल, १८६३। – पृष्ठ ६५

14 देखिये फ़्रे० एंगेल्स का पत्र का० मार्क्स के नाम, ता० ५ फ़रवरी, १८५१।–पृष्ठ ६६

15 देखिये फ़्रे० एंगेल्स का पत्र का० मार्क्स के नाम, ता० ७ अक्तूबर, १८५८।–पृष्ठ ६६

16 **चार्टिज़्म**–अंग्रेज़ मज़दूरों का जन क्रांतिकारी आंदोलन। यह उनकी कठिन आर्थिक परिस्थिति और राजनीतिक अधिकारों के अभाव के कारण आरंभ हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक के उत्तरार्द्ध में आम सभाओं और प्रदर्शनों के रूप में आरंभ होकर यह छठे दशक के पूर्वार्द्ध तक सविराम जारी रहा।

दृढ़ क्रांतिकारी सर्वहारावादी नेतृत्व और एक निश्चित कार्यक्रम का अभाव चार्टिस्ट आंदोलन की असफलता का मुख्य कारण रहा।–पृष्ठ ६६

17 देखिये फ़्रे० एंगेल्स के पत्र का० मार्क्स के नाम, ता० ८ अप्रैल और ९ अप्रैल, १८६३।– पृष्ठ ६६

18 देखिये फ़्रे० एंगेल्स का पत्र का० मार्क्स के नाम, ता० ८ अप्रैल तथा का० मार्क्स का पत्र फ़्रे० एंगेल्स के नाम, ता० ९ अप्रैल, १८६३ और का० मार्क्स का पत्र फ़्रे० एंगेल्स के नाम, ता० २ अप्रैल, १८६६।–पृष्ठ ६६

19 देखिये का० मार्क्स लिखित 'पूंजीवादी वर्ग और प्रतिक्रांति', दूसरा लेख।–पृष्ठ ६७

20 देखिये का० मार्क्स का पत्र फ़्रे० एंगेल्स के नाम, ता० १६ अप्रैल, १८५६।–पृष्ठ ६७

21 देखिये फ़्रे० एंगेल्स के पत्र का० मार्क्स के नाम, ता० २७ जनवरी और ५ फ़रवरी, १८६५।–पृष्ठ ६८

22 **पार्टीक्युलारिज़्म** (विशिष्टतावाद)–किसी राज्य के पृथक् भागों या प्रदेशों की अपनी स्थानीय विशिष्टताएं और स्वायत्तता अधिकार सुरक्षित रखने की इच्छा।–पृष्ठ ६८

23 **जंकर**–प्रशा का भू-स्वामी अभिजात वर्ग।–पृष्ठ ६८

24 देखिये फ़्रे० एंगेल्स के पत्र का० मार्क्स के नाम, ता० ११ जून और २४ नवंबर, १८६३; ४ सितंबर, १८६४; २७ जनवरी, १८६५ और ६ दिसम्बर, १८६७; और का० मार्क्स के पत्र फ़्रे० एंगेल्स के नाम, ता० १२ जून, १८६३; १० दिसंबर, १८६४; ३ फ़रवरी, १८६५ और १७ दिसंबर, १८६७।–पृष्ठ ६८

25 **समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून** १८७८ में जर्मनी में बिस्मार्क की सरकार ने जारी किया था। इसका उद्देश्य था मज़दूरों और समाजवादी आंदोलन की कमर तोड़ना। इस क़ानून ने सामाजिक-जनवादी पार्टी के सभी संगठनों, आम मज़दूर संगठनों और मज़दूर समाचारपत्रों को कुचल दिया; समाजवादी साहित्य ज़ब्त किया गया और सामाजिक-जनवादियों का निष्कासन आरंभ हुआ। पर दमनात्मक कार्रवाइयों से सामाजिक-जनवादी पार्टी किसी प्रकार निरुत्साहित नहीं हुई। उसने गुप्त क्रियाकलापों का सहारा लिया। पार्टी का केंद्रीय मुखपत्र 'सोत्सिअल-देमोक्रात' विदेश में प्रकाशित होने लगा और नियमित रूप से पार्टी कांग्रेसों का आयोजन हुआ (१८८०, १८८३ और १८८७ में); ग़ैरक़ानूनी केन्द्रीय समिति के नेतृत्व में सामाजिक-जनवादी संगठनों और दलों ने जर्मनी में शीघ्रतापूर्वक अपने क्रियाकलाप भूमिगत रूप में फिर से आरंभ किये। साथ-साथ पार्टी ने जन-समूहों के साथ अपने संबंध सुदृढ़ कर लेने के लिए क़ानूनी संभावनाओं का उपयोग भी बड़े पैमाने पर किया। पार्टी का प्रभाव बराबर बढ़ रहा था। जर्मन राइख़स्टाग के चुनावों में सामाजिक-जनवादियों को दिये गये वोटों की संख्या १८७८ और १८९० के बीच बढ़ते बढ़ते तिगुनी से अधिक हो गयी।

का० मार्क्स और फ़्रे० एंगेल्स ने जर्मन सामाजिक-जनवादियों की बड़ी सहायता की। मज़दूर आंदोलन के बराबर बढ़ते हुए दबाव के कारण १८९० में समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून रद्द किया गया।–पृष्ठ ६९

26 देखिये का० मार्क्स के पत्र फ़्रे० एंगेल्स के नाम, ता० २३ जुलाई, १८७७, १ अगस्त, १८७७ और १० सितंबर, १८७९ और फ़्रे० एंगेल्स के पत्र का० मार्क्स के नाम, ता० २० अगस्त तथा ९ सितंबर, १८७९।–पृष्ठ ६९

[27] यह पंक्तियां न० अ० नेक्रासोव की 'दोब्रोल्यूबोव की स्मृति में' शीर्षक कविता से ली गयी हैं।—पृष्ठ ७०

[28] फ़्रे० एंगेल्स, "'जर्मनी में किसान युद्ध' की भूमिका"।—पृष्ठ ७३

[29] यहां फ़्रे० एंगेल्स लिखित 'राजनीतिक अर्थशास्त्र की समालोचना की रूपरेखा' की ओर संकेत है।—पृष्ठ ७५

[30] यहां फ़्रे० एंगेल्स लिखित 'ड्यूहरिंग मत-खंडन, श्री यूजेन ड्यूहरिंग द्वारा प्रवर्तित वैज्ञानिक क्रांति' की ओर संकेत है।—पृष्ठ ७७

[31] फ़्रे० एंगेल्स की पुस्तक 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' १८९२ में रूस में प्रकाशित हुई तो उसका यह शीर्षक था। यह फ़्रे० एंगेल्स लिखित 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' के तीन अध्यायों पर आधारित थी।—पृष्ठ ७७

[32] यहां व्ला० इ० लेनिन का संकेत फ़्रे० एंगेल्स के 'रूसी ज़ारवाद की विदेश नीति' शीर्षक लेख की ओर है। यह लेख 'सोत्सिअल-देमोक्रात' की पहली दो पुस्तकों में 'रूसी ज़ारशाही की विदेश नीति' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ था।

'सोत्सिअल-देमोक्रात'—१८९० से १८९२ तक विदेशों (लंदन—जेनेवा) में 'श्रम मुक्ति' दल द्वारा प्रकाशित साहित्यिक और राजनीतिक समीक्षा-पत्रिका। रूस में मार्क्सवादी विचार फैलाने में इसका बड़ा हाथ रहा। पत्रिका के कुल मिलाकर चार अंक निकले। 'सोत्सिअल-देमोक्रात' के कार्य में ग० व० प्लेखानोव, प० ब० अक्सेलरोद और व० इ० ज़ासुलिच ने सक्रिय भाग लिया।—पृष्ठ ७७

[33] यहां लेनिन का संकेत फ़्रे० एंगेल्स के 'मकानों का सवाल' शीर्षक लेख की ओर है।—पृष्ठ ७७

[34] यहां फ़्रे० एंगेल्स के 'रूस में सामाजिक संबंध' शीर्षक लेख और इस लेख के उपसंहार की ओर संकेत है। ये जेनेवा में १८९४ में प्रकाशित 'रूस के संबंध में फ़्रेडरिक एंगेल्स के विचार' शीर्षक पुस्तक के हिस्से रहे।—पृष्ठ ७७

[35] **'पूंजी' का चतुर्थ खंड** – १८६२-६३ में मार्क्स द्वारा लिखित 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत' को एंगेल्स के दृष्टिकोण के अनुसार लेनिन द्वारा दिया गया नाम। 'पूंजी' के द्वितीय खंड की प्रस्तावना में एंगेल्स ने लिखा था: "द्वितीय और तृतीय पुस्तकों में विचारित कितने ही अंशों को हटाने के बाद मैं इस पांडुलिपि ('अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत' – सं०) का आलोचनात्मक भाग 'पूंजी' के चतुर्थ खंड के रूप में प्रकाशित करना चाहता हूं।" पर एंगेल्स की मृत्यु हुई और वह प्रकाशन के लिए चतुर्थ खंड तैयार न कर पाये। यह खंड पहली बार १६०५, १६१० में जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। प्रकाशन से पहले कार्ल काउत्स्की ने इसका संपादन किया था। इस संस्करण में वैज्ञानिक प्रकाशन से संबंधित मूलभूत सिद्धांतों का उल्लंघन किया गया था और मार्क्सवाद के कई सिद्धांत ग़लत ढंग से प्रस्तुत किये गये थे।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति का मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान १८६२-६३ की पांडुलिपि के अनुसार 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धांत' ('पूंजी' का चतुर्थ खंड) का नया (रूसी) संस्करण तीन भागों में प्रकाशित कर रहा है। – पृष्ठ ७७

[36] यहां फ़े० एंगेल्स द्वारा १५ अक्तूबर, १८८४ को इ० फ़० बेकर के नाम लिखे गये पत्र की ओर संकेत है। – पृष्ठ ७८

[37] देखिये का० मार्क्स, 'सभा के अस्थायी नियम', 'अंतर्राष्ट्रीय मजदूर सभा के सामान्य नियम'; फ़े० एंगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र' के १८६० में प्रकाशित जर्मन संस्करण की भूमिका। – पृष्ठ ७६

[38] यहां फ़े० एंगेल्स लिखित 'ड्यूहरिंग मत-खंडन, श्री यूजेन ड्यूहरिंग द्वारा प्रवर्तित वैज्ञानिक क्रांति' की ओर संकेत है। – पृष्ठ ८२

[39] **प्रूदोंवाद** – देखिये टिप्पणी ५। – पृष्ठ ८६

[40] यहां **बर्न्सटीनवाद** की ओर संकेत है। यह अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवाद की एक मार्क्सवाद विरोधी प्रवृत्ति थी। १६ वीं शताब्दी के अंत में जर्मनी में इसका उदय हुआ और यह जर्मन सामाजिक-जनवादी, अवसरवादी एडुअर्ड बर्न्सटीन के नाम से संबद्ध हुई। एंगेल्स की मृत्यु के बाद बर्न्सटीन ने खुल्लमखुल्ला ऐसे दृष्टिकोण प्रकट किये जिनमें पूंजीवादी उदारवाद की

भावना से मार्क्स के क्रांतिकारी मतों का संशोधन निहित था (देखिये बर्न्सटीन का 'समाजवाद की समस्याएं' शीर्षक लेख और उसी की 'समाजवाद की पूर्ववर्त्ती शर्तें और सामाजिक-जनवाद के कार्य' शीर्षक पुस्तक)। बर्न्सटीन ने सामाजिक-जनवादी पार्टी को सामाजिक सुधार की एक निम्न-पूंजीवादी पार्टी में परिवर्तित करने का प्रयत्न किया।

रूस में बर्न्सटीनवाद का समर्थन "क़ानूनी मार्क्सवादियों", "अर्थवादियों", बुंद-वादियों और मेन्शेविकों ने किया। – पृष्ठ ९०

41 लेनिन ने यहां 'पूंजी' के प्रथम खंड के द्वितीय संस्करण के उपसंहार से मार्क्स के ये शब्द उद्धृत किये हैं। – पृष्ठ ९०

42 व्ला० इ० लेनिन ने अपनी इच्छा पर अमल करते हुए शीघ्र ही 'पदार्थवाद और अनुभव-सिद्ध आलोचना' शीर्षक पुस्तक लिखी, जो मई, १९०९ में प्रकाशित हुई (देखिये, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खण्ड १४)। – पृष्ठ ९१

43 देखिये टिप्पणी ११। – पृष्ठ ९२

44 **कैडेट** – 'सांविधानिक-जनवादी पार्टी' के सदस्य। यह रूस के साम्राज्यवादी पूंजीपति वर्ग की प्रधान पार्टी थी। अक्तूबर १९०५ में इसकी स्थापना हुई थी। कैडेट अपनी पार्टी को "जन स्वतंत्रता" पार्टी कहलाते थे। पर वास्तव में इन्होंने स्वेच्छाचारी शासन से समझौता करने की कोशिश की क्योंकि उनके सामने ज़ारशाही को सांविधानिक राज-सत्ता के रूप में बचाये रखने का उद्देश्य था। १९१४-१८ के साम्राज्यवादी युद्ध के दौरान में उन्होंने "विजयशाली अंत तक" युद्ध की मांग की। फ़रवरी १९१७ की क्रांति के बाद पेत्रोग्राद सोवियत के समाजवादी-क्रांतिकारी और मेन्शेविक नेताओं के साथ किये गये सौदे के फलस्वरूप पूंजीवादी अस्थायी सरकार में उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। सरकार में उन्होंने जन-विरोधी प्रतिक्रांतिकारी नीति चलायी।

महान् अक्तूबर समाजवादी क्रांति (१९१७) के बाद कैडेट सोवियतों के विक्षिप्त शत्रु बन गये और सभी सशस्त्र प्रतिक्रांतिकारी कार्रवाइयों और साम्राज्यवादियों के अभियानों में भाग लिया। हस्तक्षेपकों और सफ़ेद गार्डों के पैर उखाड़े जाने के बाद, विदेशवास में भी कैडेट अपनी सोवियत-विरोधी, प्रतिक्रांतिकारी गतिविधियों से बाज़ न आये। – पृष्ठ ९५

45 **मिलेरांवाद** (मंत्रालयवाद) – १९ वीं शताब्दी के अन्त और २० वीं शताब्दी के आरम्भ में पश्चिमी यूरोप की समाजवादी पार्टियों में अवसरवाद की एक प्रवृत्ति। फ़्रांसीसी समाजवादी मिलेरां के नाम पर इसका नामकरण हुआ। १८९९ में मिलेरां ने फ़्रांस के प्रतिक्रियावादी पूंजीवादी मंत्रिमंडल में प्रवेश किया और पूंजीवादियों के साथ साम्राज्यवादी नीति चलायी।– पृष्ठ ९५

46 **गेदवादी, जोरेसवादी तथा ब्रूसवादी** –

गेदवादी – जूल गेद और पाल लफ़ार्ग के ये समर्थक वामपंथी मार्क्सवादी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते थे और प्रतिपादन करते थे कि सर्वहारा को स्वतंत्र क्रांतिकारी नीति का अनुसरण करना चाहिए। गेदवादियों ने 'फ़्रांस की मजदूर पार्टी' का नाम क़ायम रखा और उसके हाव्र कार्यक्रम के प्रति वफ़ादार रहे। यह कार्यक्रम १८८० में स्वीकृत किया गया था। इस कार्यक्रम का सैद्धांतिक भाग का० मार्क्स ने लिखा था। फ़्रांस के औद्योगिक केंद्रों में गेदवादियों का बड़ा प्रभाव था और उन्होंने मजदूर वर्ग के राजनीतिक दृष्टि से सचेतन तत्त्वों को एक कर दिया। १९०१ में उन्होंने फ़्रांस की समाजवादी पार्टी की स्थापना की।

जोरेसवादी – फ़्रांसीसी समाजवादी आंदोलन के दक्षिणपंथी, सुधारवादी पक्ष के प्रधान जान जोरेस के समर्थक। "आलोचना की स्वतंत्रता" के बुरके में इन्होंने मार्क्सवाद के मूलभूत सिद्धांतों के संशोधन का समर्थन किया और पूंजीवादी वर्ग तथा सर्वहारा के बीच वर्ग-समन्वय का प्रचार। १९०२ में इन्होंने फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी की स्थापना की। इसने सुधारवादी रुख़ अपनाया।

ब्रूसवादी (संभावनावादी) – फ़्रांसीसी मजदूर आंदोलन में १९ वीं शताब्दी के नवें दशक में उत्पन्न अवसरवादी प्रवृत्ति के सदस्य। इनके अगुआ पाल ब्रूस और बेनुआ मालोन थे। संभावनावादियों ने क्रांतिकारी सर्वहारावादी पार्टी के विचार से तलाक़ लिया और अपने प्रचार में क्रांतिकारी संघर्ष को अस्वीकार किया। इस संबंध में उनकी मान्यता थी कि केवल स्थानीय स्वशासन संस्थाओं अर्थात् नगरपालिकाओं की सहायता से ही समाजवाद की दिशा में क्रमिक स्थित्यंतर संभव है। तथाकथित "संभावनाओं की नीति" (फ़्रांसीसी में possibilité) में निहित इनकी अवसरवादी कार्यनीति के कारण ही गेद ने इन्हें व्यंग्यपूर्वक संभावनावादियों की संज्ञा दी। नवें दशक के अंत में संभावनावादियों ने अन्य देशों के कुछ अवसरवादी तत्त्वों और विशेषकर हिन्दमैन (ब्रिटिश सामाजिक-जनवादी

संघ) का समर्थन पाकर अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन की बागडोर अपने हाथों में लेने की कोशिश की। लेकिन विभिन्न देशों के अधिकांश समाजवादी संगठनों ने इनका नेतृत्व मानने से इनकार कर दिया और १४-२० जुलाई, १८८९ में पेरिस में आयोजित मार्क्सवादी कांग्रेस में भाग लिया। इसी कांग्रेस ने दूसरी इंटरनेशनल की नींव डाली। एंगेल्स ने संभावनावादियों के विरुद्ध डटकर संघर्ष और उनकी फूटपरस्त कार्रवाइयों का पर्दाफ़ाश किया। १९०२ में संभावनावादियों ने अन्य सुधारवादी दलों के साथ फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी बना ली।

फ़्रांस की समाजवादी पार्टी और फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी १९०५ में एक हो गयीं। १९१४-१८ के साम्राज्यवादी युद्ध के दौरान में जूल गेद ने फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी के नेतागणों के साथ सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी रुख़ अपनाया। – पृष्ठ ९६

47 यहां १८८४ में स्थापित ब्रिटिश **सामाजिक-जनवादी संघ** की ओर संकेत है। सुधारवादियों (हिन्दमैन और अन्य) और अराजकतावादियों के अलावा क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादियों का एक दल भी उक्त संगठन से संबद्ध था। ये क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादी मार्क्सवाद के अनुयायी थे (हैरी क्वेल्च, टॉम मान्न, एल्योनोरा एवेलिंग, एल्योनोरा मार्क्स और अन्य)। इनसे ब्रिटेन के समाजवादी आंदोलन का वाम पक्ष बना हुआ था। फ़्रे० एंगेल्स ने कट्टरता और सांप्रदायिकता के लिए, ब्रिटिश आम मज़दूर आंदोलन से संबंध-विच्छेद करके उसके विशिष्ट लक्षणों की उपेक्षा करने के लिए सामाजिक-जनवादी संघ की कटु आलोचना की। १९०७ में सामाजिक-जनवादी संघ का नया नामकरण किया गया। अब यह सामाजिक-जनवादी पार्टी कहलाया। १९११ में स्वतंत्र लेबर पार्टी के बायें तत्त्वों के साथ मिलकर इस पार्टी से ब्रिटिश समाजवादी पार्टी बनी। १९२० में इस पार्टी के अधिकांश सदस्यों ने ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना में हाथ बंटाया।

The Independent Labour Party (स्वतंत्र लेबर पार्टी) की स्थापना १८९३ में हुई। इसके नेताओं में जेम्स केर हार्डी, रैमज़े मैकडानल्ड आदि थे। यह पार्टी राजनीतिक दृष्टि से पूंजीवादी पार्टियों से स्वतंत्र होने का दावा तो करती थी पर वास्तव में "'स्वतंत्र' थी केवल समाजवाद से, और बहुत कुछ अवलंबित थी उदारवाद पर" (लेनिन)। साम्राज्यवादी विश्वयुद्ध (१९१४-१८) के दौरान में स्वतंत्र लेबर पार्टी ने शुरू

शुरू में (१३ अगस्त, १९१४) युद्ध विरोधी घोषणापत्र प्रकाशित किया। फिर फ़रवरी १९१५ में मित्र देशों से आये हुए समाजवादियों के लंदन सम्मेलन में स्वतंत्र लेबर पार्टी के प्रतिनिधियों ने सम्मेलन में स्वीकृत सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी प्रस्ताव का समर्थन किया। इसके बाद पार्टी के नेताओं ने शांतिवादी सूत्रों का बाना पहनते हुए सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी नीति का अनुसरण किया। १९१९ में इस पार्टी के नेताओं ने बायीं ओर झुकनेवाले जनसमूहों के दबाव के सामने झुककर दूसरी इंटरनेशनल से अलग हो जाने का निर्णय किया। १९२१ में स्वतंत्र लेबर पार्टी तथाकथित ढाईवीं इंटरनेशनल से संबद्ध हुई और जब इसके टुकड़े टुकड़े हो गये तो फिर दूसरी इंटरनेशनल में लौट आयी। १९२१ में ब्रिटेन की स्वतंत्र लेबर पार्टी के वाम पक्ष ने अलग होकर ग्रेट ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी से नाता जोड़ा। – पृष्ठ ९६

48 बेलजियन मज़दूर पार्टी में ब्रूकर और उसके अनुयायियों ने प्रतिक्रियावादी पूंजीवादी सरकार में समाजवादियों के शामिल हो जाने के विरुद्ध आवाज़ उठायी और बेलजियन संशोधनवादियों के नेता वैंडरवेल्डे के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। बाद में ब्रूकर ने अवसरवादी रुख़ अपनाया। – पृष्ठ ९६

49 **अखंडतावादी** – निम्न-पूंजीवादी समाजवाद के एक रूप "अखंड" समाजवाद के अनुगामी। – पृष्ठ ९६

50 **"क्रांतिकारी सिंडिकेटवाद"** – एक निम्न-पूंजीवादी, अर्द्ध-अराजकतावादी प्रवृत्ति। पश्चिमी यूरोप के कई देशों के मज़दूर आंदोलन में उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में यह उभर आयी। सिंडिकेटवादी इस बात से इनकार करते थे कि मज़दूर वर्ग के लिए राजनीतिक संघर्ष में शामिल होना आवश्यक है, कि पार्टी को मज़दूर आंदोलन में नेता की भूमिका अदा करनी है और यह कि सर्वहारा अधिनायकत्व की स्थापना करना आवश्यक है। ये लोग मानते थे कि एक आम हड़ताल के संगठन द्वारा ट्रेड-यूनियन (सिंडिकेट) बिना क्रांति के पूंजीवाद का तख़्ता उलट सकते हैं और उत्पादन के प्रबंध का नियंत्रण अपने हाथों में ले सकते हैं। व्ला० इ० लेनिन ने दिखा दिया कि "बहुत-से देशों में क्रान्तिकारी सिंडिकेटवाद अवसरवाद, सुधारवाद और सांविधानिक चित्तभ्रांति का अनिवार्य परिणाम रहा है"। (देखिये, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड १३, पृष्ठ १४६।) – पृष्ठ ९७

51 **'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो'** (रूसी संपत्ति) – १८७६ से १९१८ के मध्य तक पीटर्सबर्ग से प्रकाशित होनेवाली एक मासिक पत्रिका। १९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक के पूर्वार्द्ध में यह उदार नरोदवादियों का मुखपत्र बन गयी और स० न० क्रिवेन्को तथा न० क० मिख़ाइलोव्स्की ने इसका संपादन किया। पत्रिका ने ज़ारशाही सरकार से समझौता करने के पक्ष में प्रचार किया और मार्क्सवाद तथा रूसी मार्क्सवादियों के विरुद्ध घोर संघर्ष चलाया।

१९०६ में यह पत्रिका अर्द्ध-कैडेट "जन समाजवादी" पार्टी का मुखपत्र बन गयी। – पृष्ठ ९९

52 **'मोस्कोव्स्कीये वेदोमोस्ती'** (मास्को रेकार्डर) – रूस के पुराने समाचारपत्रों में से एक। मूलतः यह मास्को विश्वविद्यालय द्वारा (१७५६ से) एक छोटे से परचे के रूप में प्रकाशित किया जाता था। १८६३ में यह म० न० कात्कोव ने लिया। फिर वह राजवादी-राष्ट्रवादी मुखपत्र बन गया। इसमें ज़मींदारों और पादरियों के अत्यधिक प्रतिक्रियावादी समूहों के दृष्टिकोण प्रकाशित होते रहे। १९०५ में यह यमदूत-सभाइयों का एक प्रधान मुखपत्र बन गया और १९१७ की अक्तूबर क्रांति के समय तक प्रकाशित होता रहा। – पृष्ठ ९९

53 **"शिष्य"** – मार्क्स और एंगेल्स के अनुयायी। १९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक में रूसी मार्क्सवादियों के लिए इस संज्ञा का प्रयोग किया जाता था। – पृष्ठ ९९

54 **'ओतेचेस्त्वेन्नियॆ ज़ापीस्की'** (पितृभूमि विषयक टिप्पणियां) – साहित्यिक और राजनीतिक पत्रिका। १८२० में पीटर्सबर्ग में इसका प्रकाशन आरंभ हुआ और १८३९ के बाद यह उस समय की सर्वोत्तम तथा सर्वाधिक प्रगतिशील पत्रिका बन गयी। पत्रिका के लेखकों में व० ग० बेलीन्स्की, अ० इ० हर्ज़ेन, त० न० ग्रानोव्स्की, न० प० ओगार्योव इत्यादि शामिल थे। १८४६ से, बेलीन्स्की के इस पत्रिका से अलग हो जाने के बाद इसका महत्त्व घट गया। पर १८६८ में 'ओतेचेस्त्वेन्नियॆ ज़ापीस्की' पत्रिका न० अ० नेक्रासोव और म० य० साल्तिकोव-श्चेद्रिन के हाथों में गयी और फिर से उसकी लोकप्रियता बढ़ी। उस समय क्रांतिकारी-जनवादी बुद्धिजीवी इस पत्रिका के इर्द-गिर्द इकट्ठे हुए। नेक्रासोव की मृत्यु (१८७७) के बाद पत्रिका में नरोदवादियों का ज़ोर बढ़ा।

सेन्सर बराबर 'ओतेचेस्त्वेन्नियो ज़ापीस्की' के पीछे बुरी तरह पड़ा रहा और आख़िर १८८४ में ज़ारशाही सरकार ने इसका प्रकाशन रोक दिया। —पृष्ठ १००

55 सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की केंद्रीय समिति के मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान के अभिलेखागार में स्काल्दिन की 'दूरस्थ देहातों में और राजधानी में' शीर्षक पुस्तक की का० मार्क्स द्वारा बनायी गयी रूपरेखा और उक्त पुस्तक के १८७० के संस्करण की एक प्रति सुरक्षित है। इस प्रति में मार्क्स के हाशिया नोट और अन्य टिप्पणियां भी हैं। मार्क्स की रूपरेखा और लेनिन की 'विरासत जिसे हम अस्वीकार करते हैं' शीर्षक पुस्तक की तुलना से स्पष्ट होता है कि स्काल्दिन के तथ्यों और निष्कर्षों के प्रति दोनों का समान दृष्टिकोण है। —पृष्ठ १०१

56 यहां ज़ारशाही सरकार द्वारा किये गये १८६१ के किसानी सुधार की ओर संकेत है। इस सुधार ने किसानों को भूदासता से मुक्त कर दिया था। देश के आर्थिक विकास की समूची धारा और सामंती शोषण के विरुद्ध किसानों के वृद्धिशील जन आंदोलन के कारण यह सुधार आवश्यक हुआ था। "किसानी सुधार" सामंती ज़मींदारों ने पास करवाया था। "किसानी सुधार" का आशय पूंजीवादी था और "किसानों से जितनी ही **कम** ज़मीन छीन ली जाती थी, जितनी ही **पूर्णतर** मात्रा में किसानों की ज़मीन ज़मींदारों की ज़मीन से अलग की जाती थी और जितना ही **कम** लगान सामंती ज़मींदारों को मिलता था" उतना ही उसका पूंजीवादी स्वरूप स्पष्टतर होता था (व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड १७, पृष्ठ ९५)। "किसानी सुधार" रूस को पूंजीवादी राजतंत्र में बदल डालने की दिशा में बढ़ाया गया एक क़दम था।

कुल मिलाकर २ करोड़ २५ लाख किसान "मुक्त" हुए पर ज़मींदारों का भूस्वामित्व बना ही रहा। किसान की ज़मीन ज़मींदार की संपत्ति घोषित की गयी। किसान को ऋणमुक्ति शुल्क देकर क़ानून द्वारा स्थापित मात्रा तक ही ज़मीन मिल सकती थी (वह भी ज़मींदार की स्वीकृति से)।

सुधार ने अर्थ-व्यवस्था की पुरानी बेगार प्रणाली की जड़ में प्रहार तो किया पर उसे पूर्णतया समाप्त न कर सका। सर्वोत्तम ज़मीनें ("किसानों से छीनी गयी ज़मीनें", जंगल, चरागाह, चौपायों की पानी पीने की जगहें इत्यादि) ज़मींदारों के ही हाथों में रहीं। इनके बिना किसानों के लिए अपनी

खेती-बारी चलाना असंभव था। ऋणमुक्ति शुल्क संबंधी व्यवहार के पूर्ण हो जाने तक किसानों को "अस्थायी दास" माना जाता था और दासता-कर तथा बेगार के रूप में ज़मींदारों की सेवा करनी पड़ती थी। किसानों द्वारा अपनी बांट की ज़मीनों की छुड़ौती असल में ज़मींदारों और ज़ारशाही सरकार द्वारा की गयी किसानों की खुली लूट थी। किसानों को अपनी ज़मीनों के लिए करोड़ों रूबल देने पड़ते थे। इसका नतीजा था उनके खेतों की बरबादी और बड़े पैमाने पर किसानों की ग़रीबी।

रूसी क्रांतिकारी जनवादियों ने सामंती स्वरूप के लिए "किसानी सुधार" की आलोचना की। इनमें न० ग० चेर्निशेव्स्की प्रधान थे। लेनिन ने १८६१ के "किसानी सुधार" को कृषिक्षेत्र में घुस रहे पूंजीवाद के हित में किसान वर्ग पर किया गया पहला बड़े पैमाने का हिंसक प्रहार, ज़मींदारों द्वारा पूंजीवाद के लिए "ज़मीनों की सफ़ाई" कहा। – पृष्ठ १०१

57 यहां अभिप्राय भूदासता से मुक्त हुए किसानों से संबंधित "उपबंधों" से है। १६ फ़रवरी, १८६१ में ज़ार अलेक्सान्द्र द्वितीय ने इन "उपबंधों" पर हस्ताक्षर किये थे। – पृष्ठ १०३

58 **मैंचेस्टरवाले** – पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के "मैंचेस्टर मत" के समर्थक। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में इस मत के अनुयायियों ने खुले व्यापार की और पूंजीवाद के विकास में बाधा डालनेवाले क़ानूनों (अनाज क़ानून आदि) के रद्द किये जाने की मांग की। इंगलैंड का विशाल औद्योगिक नगर मैंचेस्टर इस आंदोलन का केंद्र था। कावडेन और ब्राइट उक्त मत के प्रधान अनुयायी थे। – पृष्ठ १०४

59 **सामूहिक उत्तरदायित्व** – इस अनिवार्य नियम के अनुसार हर ग्रामीण समुदाय के किसान सरकार और ज़मींदारों को समय पर और पूरी अदायगियां और उनकी सभी प्रकार की सेवाएं (करों और ज़मीनों के मुक्ति-शुल्कों की अदायगी, सेना के लिए रंगरूटों की भर्ती इत्यादि) करने के लिए बाध्य थे। दासता का यह स्वरूप १६०६ में जाकर ही समाप्त हुआ। – पृष्ठ १०५

60 **ग्रामीण समुदाय** (रूसी में ओब्श्चीना या मीर) – किसानों द्वारा ज़मीन के उपयोग का यह एक सामूहिक स्वरूप था। फ़सलों का अनिवार्य अदल-बदल और अविभक्त जंगल तथा चरागाह इसकी विशेषताएं थीं। इसके प्रधान लक्षण इस प्रकार थे: सामूहिक उत्तरदायित्व, बांट से इनकार करने के

अधिकार के बिना ज़मीनों का समय समय पर पुनर्वितरण और बांट के रूप में दी गयी ज़मीन को ख़रीदने और बेचने की मनाही।

ज़मींदारों और ज़ारशाही सरकार ने ग्रामीण समुदायों का उपयोग सामंती शोषण को दृढ़तर करने और किसानों से मुक्ति-शुल्क तथा कर निचोड़ लेने के लिए किया। लेनिन ने दिखा दिया कि ग्रामीण समुदाय किसानों को सर्वहारावादी बनने से बचा न पाये और वस्तुतः उन्होंने किसानों को विभक्त करनेवाली मध्ययुगीन दीवार का काम दिया।

नरोदवादियों ने ग्रामीण समुदाय को ग़ैरपूंजीवादी मार्ग से समाजवाद की दिशा में रूस के विकास की गारंटी मानते हुए उसका आदर्शीकरण किया। उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक में ही ग० व० प्लेख़ानोव ने दिखा दिया कि नरोदवादियों के "कम्यून समाजवाद" के सपने निराधार हैं। पिछली शताब्दी के अंतिम दशक में लेनिन ने नरोदवादी सिद्धांतों का पूर्ण रूप से खंडन किया। लेनिन ने बहुत बड़े पैमाने पर तथ्यों का उपयोग करते हुए यह दिखा दिया कि किस प्रकार रूसी देहाती इलाक़ों में पूंजीवादी संबंध विकसित हो रहे थे और पूंजी किस प्रकार पितृसत्तात्मक ग्रामीण समुदाय में पैठकर किसान वर्ग को दो विरोधी वर्गों में अर्थात् कुलकों और ग़रीब किसानों में विभाजित कर रही थी।

ग्रामीण समुदायों के अस्तित्व के कारण देहाती इलाक़ों में पूंजीवाद के विकास में बाधा पड़ी। १९०६ में ज़ारशाही के मंत्री स्तोलीपिन ने कुलकों के हित में एक क़ानून जारी किया। इस क़ानून से किसानों को समुदाय से अलग होने और अपनी बांट बेचने की छूट मिली। – पृष्ठ १०८

61 **ज़ेम्स्त्वो** – ज़ारशाही रूस के केंद्रीय गुबर्नियों में १८६४ में स्थापित की गयी स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का नाम। इन संस्थाओं में अभिजात-वर्गीयों की प्रधानता थी। ज़ेम्स्त्वो का उत्तरदायित्व केवल स्थानीय अर्थ-व्यवस्था के (अस्पताल, सड़क निर्माण, सांख्यिकी, बीमा इत्यादि विषयक) प्रश्नों तक ही सीमित था। इनकी गतिविधियों का नियंत्रण प्रादेशिक गवर्नरों और गृह मंत्री के हाथों में था। ये ज़ेम्स्त्वो के सरकार के लिए अस्वीकारणीय निर्णय रद्द कर सकते थे। – पृष्ठ ११३

62 एंगेल्स ने *«Soziales aus Rußland»* ('रूस में सामाजिक संबंध') शीर्षक अपने लेख में स्काल्दिन को उदार रुढ़िवादी कहा था। – पृष्ठ ११४

63 सेन्सर की दृष्टि से लेनिन को १९ वीं शताब्दी के सातवें दशक की विचारात्मक "विरासत" की चर्चा करते समय स्काल्दिन का उल्लेख करना

पड़ा था। वस्तुतः वह न० चेर्निशेव्स्की को "विरासत" का प्रधान प्रतिनिधि मानते थे। साइबेरिया में अपने निर्वासन-काल के दौरान २६ जनवरी, १८९९ के दिन लिखे गये एक पत्र में लेनिन ने कहा था: "...मैं कहीं भी यह सूचित नहीं करता कि विरासत को विशिष्ट रूप से स्काल्दिन के हाथों से लेना चाहिए। दूसरों के हाथों से उसे लेना चाहिए इसमें कोई शक नहीं। मुझे लगता है कि (विरोधकों के संभाव्य हमलों के विरुद्ध) मेरा समर्थन पृष्ठ २३७ (इस अनुवाद में पृष्ठ ११४) पर दी गयी पद-टिप्पणी से होगा जहां मेरे सामने ठीक चेर्निशेव्स्की ही हैं और जहां मैंने स्पष्ट किया है कि उन्हें समान उदाहरण के रूप में लेना क्यों असुविधाजनक है।" (संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड ३४, पृष्ठ ८।) – पृष्ठ ११४

64 यहां अभिप्राय नरोदवादी समाजशास्त्री अ० न० एंगेलहार्ट के 'ग्रामीण पत्र' शीर्षक पत्रों से है। ये पत्र बहुत ही लोकप्रिय हुए थे। ग्यारह पत्र 'ओतेचेस्त्वेन्निये ज़ापीस्की' नामक पत्रिका में १८७२-८१ में प्रकाशित हुए थे और बारहवां पत्र १८८७ में प्रकाशित हुआ। – पृष्ठ ११६

65 **वी० वी०** – १९ वीं शताब्दी के नवें और अंतिम दशक में उदार नरोदवाद के एक सैद्धांतिक व० वोरोन्त्सोव का उपनाम। – पृष्ठ ११७

66 **'ज़ेम्लेदेल्चेस्काया गाज़ेता'** (कृषि समाचारपत्र) – राजकीय संपत्ति मंत्रालय (१८९४ से राजकीय संपत्ति और कृषि मंत्रालय) द्वारा पीटर्सबर्ग में १८३४ से १९१७ तक प्रकाशित समाचारपत्र। – पृष्ठ १२१

67 **न – ओन या निक – ओन** – १९ वीं शताब्दी के नवें और अंतिम दशक में उदार नरोदवाद के एक सैद्धांतिक न० फ़० दानियेल्सोन का उपनाम। – पृष्ठ १२५

68 **'वेस्त्निक येव्रोपी'** (यूरोपीय संवाद) – पूंजीवादी-उदार प्रवृत्तिवाली एक ऐतिहासिक-राजनीतिक और साहित्यिक मासिक पत्रिका। यह १८६६ से १९१८ तक पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होती रही। पत्रिका में क्रांतिकारी मार्क्सवादियों के विरुद्ध लेख प्रकाशित किये जाते थे। १९०८ तक म० म० स्तास्युलेविच इसके संपादक और प्रकाशक रहे। – पृष्ठ १२६

69 व्ला० इ० लेनिन का अभिप्राय यहां स्काल्दिन से है जिनका उद्धरण वे दे रहे हैं। (देखिये स्काल्दिन, 'दूरस्थ देहातों में और राजधानी में', सेंट पीटर्सबर्ग, १८७०, पृष्ठ २८५)। – पृष्ठ १३१

70 **'नोवोये स्लोवो'** (नया शब्द) – उदार नरोदवादियों द्वारा १८९४ से पीटर्सबर्ग में प्रकाशित वैज्ञानिक, साहित्यिक और राजनीतिक मासिक पत्रिका। १८९७ के वसंत में "क़ानूनी मार्क्सवादियों" (प० ब० स्त्रूवे, म० इ० तुगान-बरानोव्स्की, इत्यादि) ने यह पत्रिका अपने हाथों में ली। 'नोवोये स्लोवो' ने ग० व० प्लेख़ानोव, व० इ० ज़ासुलिच, यू० ओ० मार्तोव, अ० म० गोर्की इत्यादि के लेख प्रकाशित किये। साइबेरिया में लेनिन के निष्कासन-काल में पत्रिका ने उनके दो लेख प्रकाशित किये – 'आर्थिक रोमांसवाद का स्वरूप दर्शन' और 'अमुक समाचारपत्रीय लेख के संबंध में'।

ज़ारशाही सरकार ने दिसंबर १८९७ में 'नोवोये स्लोवो' का प्रकाशन रोक दिया। – पृष्ठ १३४

71 ग० व० प्लेख़ानोव ने न० बेलतोव उपनाम लेकर अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'इतिहास के अद्वैतवादी दृष्टिकोण का विकास' प्रकाशित की। यह पीटर्सबर्ग में १८९५ में क़ानूनी तौर पर छापी गयी थी। – पृष्ठ १३६

72 यहां ग० व० प्लेख़ानोव के 'इतिहास की पदार्थवादी धारणा' शीर्षक लेख की ओर संकेत है। यह लेख १८९७ में 'नोवोये स्लोवो' के १२ वें अंक (सितंबर) में न० कामेन्स्की के हस्ताक्षरों के साथ प्रकाशित हुआ था। – पृष्ठ १४४

73 *«Schmollers Jahrbuch»* ('श्मोलर वर्ष-पुस्तक') – पूर्ण शीर्षक *«Jahrbuch für Gesetzgebung, Verwaltung und Volkswirtschaft in Deutschen Reich»* ('जर्मनी के विधान, शासन और राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था से संबंधित वर्ष-पुस्तक') – यह राजनीतिक आर्थिक वर्ष-पुस्तक १८७७ से जर्मन पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों, कैथेदेर-समाजवाद के प्रतिनिधि फ़० गोल्सेन्दोर्फ़ तथा ल० ब्रेन्तानो द्वारा और १८८१ से ग० श्मोलर द्वारा प्रकाशित की जाती थी। – पृष्ठ १४७

74 **'नेदेल्या'** ('सप्ताह') – पीटर्सबर्ग में १८६६ से १९०१ तक प्रकाशित उदार-नरोदवादी राजनीतिक और साहित्यिक समाचारपत्र। इस समाचारपत्र ने

स्वेच्छाचारी शासन विरोधी संघर्ष का विरोध किया और तथाकथित "अमुख्य मामलों" का प्रचार। मतलब यह कि उसने बुद्धिजीवियों से क्रांतिकारी संघर्ष का त्याग करके "सांस्कृतिक" क्रिया-कलापों में लग जाने की अपील की। —पृष्ठ १४७

75 **'श्रम मुक्ति' दल**—पहला रूसी मार्क्सवादी दल। ग० व० प्लेख़ानोव ने १८८३ में जेनेवा में इसकी स्थापना की। इस दल में प्लेख़ानोव के अलावा प० ब० अक्सेल्रोद, ल० ग० डेयट्श, व० इ० ज़ासुलिच और व० न० इग्नातोव थे।

'श्रम मुक्ति' दल ने रूस में मार्क्सवाद के प्रचार में काफ़ी हाथ बंटाया। इसने कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स की 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', 'मज़दूरी और पूंजी', 'समाजवाद: काल्पनिक और वैज्ञानिक' जैसी रचनाओं को रूसी में अनूदित किया, विदेशों में उनका प्रकाशन और रूस में वितरण किया और स्वयं अपने प्रकाशनों द्वारा भी मार्क्सवाद को लोकप्रिय बनाया। 'श्रम मुक्ति' दल ने नरोदवाद पर ज़ोरदार चोट की। रूस में मार्क्सवाद के प्रसार और सामाजिक-जनवादी आंदोलन के विकास के मार्ग में नरोदवाद ही मुख्य वैचारिक बाधा बने हुए था। ग० व० प्लेख़ानोव ने 'समाजवाद और राजनीतिक संघर्ष' (१८८३), 'हमारे मतभेद' (१८८५) इत्यादि अपनी रचनाओं में प्रतिक्रियावादी नरोदवादी सिद्धांतों की मार्क्सवादी आलोचना की। प्लेख़ानोव द्वारा लिखित और 'श्रम मुक्ति' दल द्वारा प्रकाशित रूसी सामाजिक-जनवादियों के दो कार्यक्रमों के मसौदे (१८८३ और १८८५) रूस में सामाजिक-जनवादी पार्टी के लिए तैयारी और उसके निर्माण की दृष्टि से अहम क़दम रहे। मार्क्सवादी दृष्टिकोणों के प्रसार और द्वंद्वात्मक तथा ऐतिहासिक पदार्थवाद के प्रमाणीकरण और समर्थन की दृष्टि से प्लेख़ानोव (न० बेलतोव) की पुस्तक 'इतिहास के अद्वैतवादी दृष्टिकोण का विकास' (१८९५) विशेष महत्त्वपूर्ण रही। इसके सहारे "रूसी मार्क्सवादियों की एक पीढ़ी की पीढ़ी प्रशिक्षित हुई" (लेनिन)।

ग० व० प्लेख़ानोव और व० इ० ज़ासुलिच एंगेल्स के व्यक्तिगत मित्र थे और इनके बीच बहुत वर्ष तक पत्र-व्यवहार चलता रहा। 'श्रम मुक्ति' दल ने अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन के साथ संपर्क स्थापित किये और दूसरी इंटरनेशनल की १८८९ में (पेरिस में) आयोजित पहली कांग्रेस से शुरू करके उसके समूचे अस्तित्व-काल में इंटरनेशनल की सभी कांग्रेसों में रूसी सामाजिक-जनवाद का प्रतिनिधित्व किया। पर 'श्रम मुक्ति' दल के दृष्टिकोणों

में गंभीर दोष भी थे: उन्होंने उदार पूंजीवादी वर्ग की भूमिका का ऊंचा मूल्यांकन किया था और सर्वहारा क्रांति की सुरक्षित शक्ति के नाते किसान वर्ग के क्रांतिकारी स्वरूप का कम मूल्यांकन। आगे चलकर प्लेख़ानोव और उक्त दल के अन्य सदस्यों द्वारा अपनाये गये मेन्शेविक दृष्टिकोणों की यही जड़ थी।

व्ला० इ० लेनिन ने दिखा दिया कि 'श्रम मुक्ति' दल ने "सामाजिक-जनवाद के केवल सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत किये और मज़दूर आंदोलन की दिशा में पहला क़दम बढ़ाया" (देखिये, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड २०, पृष्ठ २५५)।

रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की अगस्त १९०३ में आयोजित दूसरी कांग्रेस में 'श्रम मुक्ति' दल ने अपनी समाप्ति की घोषणा की। – पृष्ठ १४९

76 रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की पहली कांग्रेस १८९८ के वसंत में (१-३ (१३-१५) मार्च) मीन्स्क में गैरक़ानूनी तौर पर आयोजित की गयी। लेनिन ने १८९६ में पीटर्सबर्ग में जेल में रहते हुए कांग्रेस की आवश्यकता का सवाल उठाया था। लेनिन और पीटर्सबर्ग की 'संघर्ष लीग' के अन्य नेताओं की गिरफ़्तारी और साइबेरिया में निष्कासन के कारण कांग्रेस के बुलाये जाने में बाधा उत्पन्न हुई। कीयेव के सामाजिक-जनवादी संगठन की गिरफ़्तारी नहीं हुई थी और उसी ने कांग्रेस की तैयारी की।

कांग्रेस में छ: संगठनों के नौ प्रतिनिधि उपस्थित रहे (पीटर्सबर्ग, मास्को, कीयेव और येकातेरिनोस्लाव की 'संघर्ष लीगों' से एक एक प्रतिनिधि, कीयेव के 'राबोचाया गाज़ेता' दल से दो प्रतिनिधि और बुंद से तीन प्रतिनिधि)।

कांग्रेस ने स्थानीय 'संघर्ष लीगों' और बुंद को एक पार्टी में अर्थात् 'रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी' में मिला देने का निर्णय किया। उसने अपनी केंद्रीय समिति चुन ली और 'राबोचाया गाज़ेता' को पार्टी का अधिकृत मुखपत्र बना लिया। 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' को विदेशों में पार्टी का प्रतिनिधि घोषित किया गया। कांग्रेस द्वारा प्रकाशित 'रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के घोषणापत्र' में कहा गया था कि पार्टी का मुख्य कार्य निरंकुश शासन के विरुद्ध और राजनीतिक स्वतंत्रता के पक्ष में संघर्ष करना है। उसने इस संघर्ष को पूंजीवाद तथा पूंजीवादी वर्ग के विरुद्ध अपने भावी संघर्ष के साथ जोड़ दिया।

'रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी' की स्थापना की घोषणा करके पहली कांग्रेस सर्वहारा को क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद के झंडे के नीचे एकत्र करने के कार्य में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी सिद्ध हुई। फिर भी उसने अपने आप में संपूर्ण पार्टी नहीं बनायी। उसने न कोई कार्यक्रम और न ही पार्टी की नियमावली तैयार की। कांग्रेस में चुनी गयी केंद्रीय समिति शीघ्र ही गिरफ़्तार कर ली गयी। स्थानीय सामाजिक-जनवादी संगठनों में अव्यवस्था और अस्थिरता बढ़ती गयी। फिर पहले की तरह एकरस मार्क्सवादी पार्टी का निर्माण ही रूसी सामाजिक-जनवाद का मुख्य कार्य बना रहा। – पृष्ठ १४६

[77] **"अर्थवाद"** – १६ वीं शताब्दी के अंत और २० वीं शताब्दी के आरंभ में रूसी सामाजिक-जनवाद की एक अवसरवादी प्रवृत्ति। यह अंतर्राष्ट्रीय अवसरवाद का रूसी नमूना थी। रूस में 'राबोचाया मीस्ल' (मज़दूरों का विचार) समाचारपत्र (१८९७-१९०२) और विदेशों में 'राबोचेये देलो' (मज़दूरों का कार्य) पत्रिका (१८९९-१९०२) "अर्थवादियों" के मुखपत्र रहे।

१८९९ में "अर्थवादियों" का घोषणापत्र «Credo» प्रकाशित हुआ। यह ये० द० कुस्कोवा का लिखा हुआ था। उस समय लेनिन निष्कासित थे। वहीं उन्हें जब «Credo» की एक प्रति मिली तो उन्होंने 'रूसी सामाजिक-जनवादियों का प्रतिवाद' लिखा। इसमें उन्होंने "अर्थवादियों" के कार्यक्रम की कटु आलोचना की। "अर्थवादियों" ने मज़दूर वर्ग का कार्य ऊंची मज़दूरियों और काम की बेहतर हालतों इत्यादि के लिए संघर्ष तक ही सीमित कर दिया और इस बात पर ज़ोर दिया कि राजनीतिक संघर्ष उदार पूंजीवादियों का काम है। उन्होंने मज़दूर वर्ग की पार्टी की प्रधान भूमिका अस्वीकार कर दी। उनकी मान्यता यह थी कि पार्टी आंदोलन की स्वतःप्रवृत्त प्रक्रिया केवल देखती रहे और घटनाओं को नोट भर करती जाये। मज़दूर आंदोलन की स्वतःप्रवृत्ति के सामने झुकते हुए "अर्थवादियों" ने क्रांतिकारी सिद्धांत और वर्ग-चेतना के महत्त्व को गौण लेखा, ज़ोर देकर यह कहा कि समाजवादी विचारधारा स्वतःस्फूर्त आंदोलन से जन्म लेगी; मज़दूर आंदोलन में समाजवादी चेतना फूंकने की आवश्यकता उन्होंने अस्वीकार की और इससे पूंजीवादी विचारधारा के लिए रास्ता साफ़ कर दिया। "अर्थवादियों" ने केंद्रीभूत मज़दूर वर्गीय पार्टी के निर्माण की आवश्यकता का विरोध करते हुए छुटपुट और शौक़िया स्वरूप के अलग-अलग मंडलों के निर्माण का समर्थन किया और सामाजिक-जनवादी आन्दोलन में अव्यवस्था और ढुलमुलपन को

बढ़ावा दिया। खतरा यह पैदा हुआ कि "अर्थवाद" मज़दूर वर्ग को वर्ग-क्रांतिकारी मार्ग से हटाकर उसे पूंजीवादी वर्ग का एक राजनीतिक पुछल्ला भर बना देगा। "अर्थवाद" विरोधी संघर्ष में लेनिन के 'ईस्क्रा' ने प्रधान भूमिका अदा की। व्ला० इ० लेनिन की पुस्तक 'क्या करें?' ने "अर्थवाद" की अंतिम वैचारिक पराजय कर दी।—पृष्ठ १४६

78 **'राबोचाया मीस्ल'** (मज़दूरों का विचार)—"अर्थवादियों" का यह समाचारपत्र अक्तूबर १८६७ से दिसंबर १६०२ तक प्रकाशित होता रहा। कुल मिलाकर इसके १६ अंक (क० म० तख्तारेव आदि के संपादकत्व में) निकले। पहले दो अंक पीटर्सबर्ग में मिमिओग्राफ़ द्वारा छापे गये; ३ से ११ तक के अंकों का प्रकाशन विदेश (बर्लिन) में, १२ से १५ तक के अंकों का वारसा में और १६ वें अंक का विदेश में हुआ।

"'राबोचाया मीस्ल' का विशेष क्रोड़पत्र"—'राबोचाया मीस्ल' के संपादक-मंडल द्वारा सितंबर १८६६ में यह पुस्तिका प्रकाशित की गयी। इस पुस्तिका ने और विशेषकर उसमें र० म० के हस्ताक्षरों के साथ प्रकाशित 'हमारी वास्तविकताएं' शीर्षक लेख ने पत्रिका के अवसरवादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से प्रकट किये।

लेनिन ने 'रूसी सामाजिक-जनवाद की एक प्रतिगामी प्रवृत्ति' (संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड ४, पृष्ठ २३४-२६२). शीर्षक रचना में, 'ईस्क्रा' में प्रकाशित लेखों में और 'क्या करें?' शीर्षक पुस्तक (देखिये, प्रस्तुत खंड, पृष्ठ १५६-३८७) में अंतर्राष्ट्रीय अवसरवाद का रूसी नमूना कहकर 'राबोचाया मीस्ल' के दृष्टिकोणों की आलोचना की।—पृष्ठ १४६

79 **'नरोदनाया वोल्या'** (जनता की इच्छा)—नरोदवादी आतंकवादियों का यह गुप्त राजनीतिक संगठन 'ज़ेम्ल्या-इ-वोल्या' (भूमि और स्वतंत्रता) नामक नरोदवादी संगठन में फूट पड़ने के परिणामस्वरूप अगस्त १८७६ में स्थापित हुआ। 'नरोदनाया वोल्या' का नेतृत्व एक कार्यकारिणी समिति द्वारा होता था। समिति के सदस्यों में अ० इ० जेल्याबोव, अ० द० मिखाइलोव, म० फ़० फ़्रोलेन्को, न० अ० मोरोज़ोव, व० न० फ़िगनर, स० ल० पेरोव्स्काया और अ० अ० क्व्यात्कोव्स्की शामिल थे। 'नरोदनाया वोल्या' नरोदवादियों के काल्पनिक समाजवाद ही से चिपका रहा पर स्वेच्छाचारी शासन का तख्ता उलटने और राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने को अपना सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य मानते हुए राजनीतिक संघर्ष का मार्ग अपना लिया।

लेनिन ने लिखा कि "'नरोदनाया वोल्या' के सदस्यों और अनुयायियों ने राजनीतिक संघर्ष का रास्ता अपनाकर एक क़दम आगे बढ़ाया, पर वे उसे समाजवाद के साथ जोड़ देने में सफल नहीं हुए" (संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड ८, पृष्ठ ५४)।

'नरोदनाया वोल्या' वादियों ने जारशाही के स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध वीरतापूर्ण संघर्ष किया। पर उनकी गतिविधियां सक्रिय "नायकों" और निष्क्रिय "जन-समूह" वाले भ्रांतिपूर्ण सिद्धांत पर आधारित थीं और वे बिना जनता के समावेश के, केवल अपनी शक्तियों के बल पर और व्यक्तिगत आतंक के ज़रिये सरकार को भयभीत और अव्यवस्थित करने के प्रयत्नों द्वारा समाज का पुनर्निर्माण करना चाहते थे। १ मार्च, १८८१ को अलेक्सान्द्र द्वितीय की हत्या हुई और तब सरकार ने पाशविक दमनचक्र चलाया। उसने फांसियों और उकसाहट के ज़रिये 'नरोदनाया वोल्या' संगठन तोड़ डाला। १९ वीं शताब्दी के पूरे नवें दशक के दौरान में 'नरोदनाया वोल्या' के पुन:संगठन के कितने ही प्रयत्न किये गये पर सबके सब असफल रहे।

यद्यपि लेनिन ने 'नरोदनाया वोल्या' के भ्रांतिपूर्ण, काल्पनिक कार्यक्रम की आलोचना की फिर भी उसके सदस्यों के ज़ारशाही विरोधी नि:स्वार्थ संघर्ष का उन्होंने समादर किया। उनकी गुप्तता विधि और उनके पूर्ण केंद्रीभूत संगठन का तो उन्होंने ऊंचा मूल्यांकन किया।–पृष्ठ १५०

80 **प्योत्र अलेक्सेयेव का भाषण** पहली बार १८७७ में लंदन की 'फ़ॉर्वेर्त्स!' (अनियतकालिक समीक्षा) नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसके बाद यह बार बार ग़ैरक़ानूनी तरीक़े से पुन:प्रकाशित किया गया और रूस के मज़दूरों के बीच बहुत ही लोकप्रिय हो गया।–पृष्ठ १५५

81 लेनिन की पुस्तक **'क्या करें? हमारे आंदोलन के तात्कालिक प्रश्न'** १९०१ के अंत में और १९०२ के आरंभ में लिखी गयी थी।

दिसंबर में लेनिन ने ('ईस्क्रा' के १२ वें अंक में) 'अर्थवाद के समर्थकों से वार्तालाप' शीर्षक अपना लेख प्रकाशित किया। बाद में उन्होंने इसे 'क्या करें?' की रूपरेखा कहा। फ़रवरी १९०२ में लेनिन ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी। यह पुस्तक मार्च के आरंभिक दिनों में स्टुटगार्ट में दियेत्स द्वारा प्रकाशित की गयी। इसके प्रकाशन के संबंध में एक विज्ञापन १० मार्च, १९०२ को 'ईस्क्रा' के १८ वें अंक में निकला।

लेनिन की 'क्या करें?' शीर्षक पुस्तक ने रूस में मज़दूर वर्ग की

क्रांतिकारी मार्क्सवादी पार्टी के लिए चल रहे संघर्ष में, रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की समितियों और संगठनों और आगे चलकर १९०३ में पार्टी कांग्रेस में लेनिन-'ईस्क्रा'-वादी प्रवृत्ति की विजय में महान् भूमिका अदा की।

१९०२-१९०३ में रूस के सामाजिक-जनवादी संगठनों में यह पुस्तक बड़े पैमाने पर वितरित की गयी। कीयेव, मास्को, पीटर्सबर्ग, निज्नी नोवगोरोद, कज़ान, ओदेस्सा और अन्य नगरों के सामाजिक-जनवादियों की तलाशियों और गिरफ़्तारियों के दौरान में यह पुस्तक अक्सर पायी गयी।

१९०७ में 'क्या करें?' पुस्तक कुछ परिवर्तनों के साथ 'बारह वर्ष' शीर्षक संग्रह में प्रकाशित की गयी। बाद के सभी संस्करणों में १९०२ के संस्करण का अनुसरण किया गया है। यह संस्करण १९०७ के संस्करण के पाठ के साथ मिलाया गया है।–पृष्ठ १५६

82 लेनिन का **'कहां से आरंभ करें?'** शीर्षक लेख 'ईस्क्रा' के चौथे अंक में अग्रलेख के रूप में प्रकाशित हुआ था। इसमें रूस के सामाजिक-जनवादी आंदोलन के उस समय के अतिमहत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर शामिल हैं। ये प्रश्न थे: राजनीतिक आंदोलन का स्वरूप और मुख्य विषय, संगठनात्मक कार्य और युयुत्सु अखिल-रूसी मार्क्सवादी पार्टी के निर्माण की योजना। लेनिन ने अपने इस लेख को उस योजना की रूपरेखा कहा जो उन्होंने अपनी 'क्या करें?' शीर्षक पुस्तक में स्पष्ट की।

क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद के लिए यह लेख कार्यक्रम संबंधी एक दस्तावेज़ बन गया और रूस तथा विदेशों में इसकी प्रतियां बड़े पैमाने पर वितरित की गयीं। स्थानीय सामाजिक-जनवादी संगठनों ने यह लेख 'ईस्क्रा' में पढ़ा और एक स्वतंत्र पुस्तिका के रूप में उसका पुनर्मुद्रण किया। साइबेरियाई सामाजिक-जनवादी लीग ने इसकी ५००० प्रतियां छापकर सारे साइबेरिया में बांट दीं। रज़ेव में भी यह पुस्तिका प्रकाशित की गयी और सरातोव, ताम्बोव, निज्नी नोवगोरोद, ऊफ़ा तथा अन्य नगरों में वितरित की गयी।–पृष्ठ १५६

83 **'ईस्क्रा'** (चिनगारी) पहला अखिल-रूसी ग़ैरक़ानूनी मार्क्सवादी समाचारपत्र था। लेनिन ने १९०० में इसकी स्थापना की और मज़दूर वर्ग की मार्क्सवादी क्रांतिकारी पार्टी के निर्माण में इसने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

पुलिस के दमन के कारण रूस में क्रांतिकारी समाचारपत्र का प्रकाशन असंभव था और इसलिए साइबेरिया में अपने निष्कासन-काल में ही लेनिन

ने विदेश में इसके प्रकाशन की एक विस्तृत योजना तैयार की। निष्कासन-काल के समाप्त होते ही (जनवरी १६००) लेनिन ने फ़ौरन अपनी योजना को मूर्त स्वरूप देने का काम हाथ में लिया।

लेनिन के 'ईस्क्रा' का पहला अंक दिसंबर १६०० में लिपज़िग में प्रकाशित हुआ; बाद के अंक म्यूनिख़ में प्रकाशित हुए; जुलाई १६०२ से यह समाचारपत्र लंदन में और १६०३ के वसंत से जेनेवा में निकलने लगा। पत्र के प्रकाशन में (गुप्त छापेख़ानों का संगठन, रूसी टाइप का प्रबंध इत्यादि) जर्मन सामाजिक-जनवादी क० ज़ेटकिन, अ० ब्राउन तथा अन्य, उस समय म्यूनिख़ में रहनेवाले पोलिश क्रांतिकारी यू० मार्ख़लेव्स्की और इंगलिश सामाजिक-जनवादी संघ के एक नेता हैरी क्वेल्च ने काफ़ी मदद दी।

'ईस्क्रा' के संपादक-मंडल में थे: व्ला० इ० लेनिन, ग० व० प्लेख़ानोव, यू० ओ० मार्तोव, प० ब० अक्सेल्रोद, अ० न० पोत्रेसोव और व० इ० ज़ासुलिच। मंडल की प्रथम सचिव इ० ग० स्मिदोविच-लेमन थी, फिर १६०१ के वसंत से यह पद न० क० क्रूप्स्काया ने ग्रहण किया। 'ईस्क्रा' और रूसी सामाजिक-जनवादी संगठनों के बीच का सारा पत्र-व्यवहार भी वही चलाती थीं। लेनिन वस्तुतः प्रधान संपादक और 'ईस्क्रा' के प्रधान संचालक थे। इस पत्र में वे पार्टी निर्माण तथा रूस में सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष से संबंधित सभी मूलभूत प्रश्नों पर और संसार के मामलों की अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर भी लेख लिखा करते थे।

'ईस्क्रा' पार्टी की शक्तियों के एकीकरण का और पार्टी के कार्यकर्ताओं के मिलने-जुलने और प्रशिक्षण का केंद्र बन गया। कितने ही रूसी नगरों में (पीटर्सबर्ग, मास्को, समारा इत्यादि) लेनिन-'ईस्क्रा'-वादी नीति के आधार पर रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के दलों और समितियों का संगठन किया गया। 'ईस्क्रा' संगठन बढ़ते गये और इन्होंने सीधे लेनिन के शिष्यों और संघर्ष-साथियों के मार्गदर्शन में काम किया। इनमें न० ए० बाउमन, इ० व० बाबुश्किन, स० इ० गूसेव, म० इ० कालीनिन, प० अ० क्रासिकोव, ग० म० क्रजिजानोव्स्की, फ० व० लेंगनिक, प० न० लेपेशीन्स्की, इ० इ० राद्चेन्को इत्यादि शामिल थे।

लेनिन की पहलक़दमी और प्रत्यक्ष सहयोग के साथ 'ईस्क्रा' के संपादक-मंडल ने पार्टी के कार्यक्रम का मसौदा तैयार किया (यह 'ईस्क्रा' के २१ वें अंक में प्रकाशित हुआ था) और रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की जुलाई और अगस्त १६०३ में आयोजित दूसरी कांग्रेस की तैयारी की। कांग्रेस के बुलाये जाने के समय तक रूस के अधिकांश स्थानीय

सामाजिक-जनवादी संगठनों ने 'ईस्क्रा' का रुख अपना लिया था, उसका कार्यक्रम, संगठनात्मक योजना और कार्यनीति मंजूर कर ली थी और 'ईस्क्रा' को अपना प्रधान मुखपत्र स्वीकार कर लिया था। कांग्रेस के एक विशेष प्रस्ताव द्वारा पार्टी के निर्माण से संबंधित संघर्ष में 'ईस्क्रा' की असाधारण भूमिका नोट कर ली गयी और इस पत्र को रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का केंद्रीय मुखपत्र मान लिया गया। कांग्रेस ने लेनिन, प्लेख़ानोव और मार्तोव का संपादक-मंडल मंजूर किया। पर पार्टी के निर्णय के बावजूद मार्तोव ने संपादक-मंडल में काम करने से इनकार कर दिया और 'ईस्क्रा' के ४६ से ५१ तक के अंकों का संपादन लेनिन और प्लेख़ानोव ने किया। बाद में प्लेख़ानोव ने मेन्शेविकों का रवैया अपना लिया और यह मांग की कि सभी पुराने मेन्शेविक संपादकों को 'ईस्क्रा' के संपादक-मंडल में स्थान दिया जाये, यद्यपि कांग्रेस ने उन्हें ठुकरा दिया था। लेनिन इससे सहमत नहीं हो सके और १९ अक्तूबर (१ नवंबर), १९०३ को वे 'ईस्क्रा' के संपादक-मंडल से अलग हो गये। उन्हें केंद्रीय समिति में नियुक्त कर लिया गया और उन्होंने वहीं से अवसरवादी मेन्शेविकों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा। 'ईस्क्रा' के ५२ वें अंक का संपादन अकेले प्लेख़ानोव ने किया। १३ (२६) नवंबर १९०३ को प्लेख़ानोव ने अपनी ही पहलक़दमी पर और कांग्रेस की इच्छा का उल्लंघन करते हुए संपादक-मंडल में सभी पुराने मेन्शेविक संपादक नियुक्त कर लिये। ५२ वें अंक से मेन्शेविकों ने 'ईस्क्रा' को अपना ही मुखपत्र बना लिया। —पृष्ठ १५६

84 १९०१ के वसंत और गर्मियों में विदेशों में स्थित सामाजिक-जनवादी संगठनों ने ('विदेशों में स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों का संघ', बुंद की विदेश समिति, 'सोत्सिअल-देमोक्रात' क्रांतिकारी संगठन और विदेशों में स्थित 'ईस्क्रा' तथा 'ज़ार्या' संगठन) 'बोर्बा' दल की मदद और पहलक़दमी से समझौते और एकता के लिए वार्त्तालाप जारी रखा। उक्त संगठनों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन जून १९०१ में जेनेवा में बुलाया गया (इसी लिए यह 'जून' या 'जेनेवा' सम्मेलन कहलाया)। सम्मेलन का उद्देश्य उस कांग्रेस के लिए तैयारी करना था जिसमें एकता स्थापित होनी थी। सम्मेलन ने एक प्रस्ताव (तत्त्वतः समझौता) स्वीकृत किया। इसमें सभी सामाजिक-जनवादी संगठनों के एकीकरण की आवश्यकता प्रकट की गयी थी और "अर्थवाद", बर्न्सटीनवाद, मिलेरांवाद इत्यादि

अवसरवाद के सभी प्रकारों की निंदा की गयी थी (देखिये, 'कांग्रेसों, सम्मेलनों तथा केंद्रीय समिति के पूर्णाधिवेशनों के प्रस्तावों और निर्णयों में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी', सातवां संस्करण, भाग १, १९५४, पृष्ठ २२-२४)। पर 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' और उसके मुखपत्र 'राबोचेये देलो' द्वारा अवसरवाद की दिशा में बढ़ाये गये नये क़दम के कारण एकता के प्रयत्न असफल हो गये।

रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के विदेशों में स्थित संगठनों की एकता कांग्रेस २१-२२ सितंबर (४-५ अक्तूबर) १९०१ को ज़ूरिच में हुई। कांग्रेस में विदेशों में स्थित 'ईस्क्रा' और 'ज़ार्या' संगठनों के छः सदस्य (व्ला० इ० लेनिन, न० क० क्रूप्स्काया, यू० ओ० मार्तोव इत्यादि), 'सोत्सिअल-देमोक्रात' क्रांतिकारी संगठन के आठ सदस्य (इनमें 'श्रम मुक्ति' दल के तीन सदस्य ग० व० प्लेख़ानोव, प० ब० अक्सेल्रोद, व० इ० ज़ासुलिच शामिल थे), 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' के १६ सदस्य (इनमें बुंद विदेश समिति के पांच सदस्य शामिल थे) और 'बोर्बा' दल के तीन सदस्य उपस्थित रहे। लेनिन इस कांग्रेस में "फ्रे" उपनाम लेकर उपस्थित थे। उन्होंने कार्यसूची के पहले विषय पर शानदार भाषण दिया। यह विषय था: "सैद्धांतिक विषयों पर समझौता और संपादक-मंडलों को निर्देश" (देखिये, व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड ५, पृष्ठ २०५-२०९)। विदेशों में स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों के सामने लेनिन का यही पहला प्रकट भाषण था। कांग्रेस ने जून प्रस्ताव में अवसरवादी संशोधन घोषित किये जो 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' की तीसरी कांग्रेस द्वारा स्वीकृत किये गये थे। इस बात को ध्यान में लेते हुए कांग्रेस के क्रांतिकारी भाग ('ईस्क्रा', 'ज़ार्या' और 'सोत्सिअल-देमोक्रात' संगठनों के प्रतिनिधियों) ने एकता की असंभाव्यता के संबंध में एक वक्तव्य प्रकट किया और कांग्रेस से विदा ली। लेनिन की पहलक़दमी पर ये संगठन अक्तूबर १९०१ में 'विदेशों में स्थित रूसी क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादी लीग' में एकत्रित हुए। – पृष्ठ १५७

85 **'राबोचेये देलो'** (मज़दूरों का कार्य) – 'विदेशों में स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' का मुखपत्र। यह पत्रिका अप्रैल १८९९ से फ़रवरी १९०२ तक जेनेवा में प्रकाशित होती रही। इसके संपादक थे ब० न० क्रिचेव्स्की, प० फ़० तेप्लोव (सिबिर्याक), व० प० इवानशिन और बाद

में अ० स० मार्तिनोव। कुल मिलाकर इसके १२ अंक (नौ पुस्तकों में) निकले। 'राबोचेये देलो' का संपादक-मंडल "अर्थवादियों" का विदेशों में स्थित केंद्र था। पत्रिका ने बर्न्सटीन के मार्क्सवाद की "आलोचना की स्वतंत्रता" वाले नारे का समर्थन किया और रूसी सामाजिक-जनवाद की कार्यनीति तथा संगठन के प्रश्नों पर अवसरवादी रुख़ अपना लिया। 'राबोचेये देलो' के अनुयायियों ने राजनीतिक संघर्ष को आर्थिक संघर्ष से गौण लेखने के अवसरवादी विचारों का प्रचार, मज़दूर आंदोलन की स्वतःस्फूर्त प्रवृत्ति का समर्थन और पार्टी की प्रधान भूमिका से इनकार किया। उक्त पत्रिका के एक संपादक व० प० इवानशिन ने 'राबोचाया मीस्ल' (मज़दूरों का विचार) के संपादन में भाग लिया। यह "अर्थवादियों" का मुखपत्र था और इसे 'राबोचेये देलो' का समर्थन प्राप्त था। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में 'राबोचेये देलो' वालों ने उसके दक्षिणतम अवसरवादी पक्ष का प्रतिनिधित्व किया। – पृष्ठ १५७

३६ **'राबोचाया गाज़ेता'** (मज़दूरों का समाचारपत्र) – सामाजिक-जनवादियों के कीयेव दल का ग़ैरक़ानूनी समाचारपत्र। यह कीयेव में प्रकाशित होता था। ब० ल० एदेलमन, प० ल० तुचाप्स्की, न० अ० विग्दोर्चिक इत्यादि इसके कार्य में भाग लेते थे और इसका संपादन करते थे। कुल मिलाकर इसके केवल दो अंक निकले – पहला अगस्त, १८९७ में और दूसरा दिसंबर (इसपर तारीख़ नवंबर की थी) १८९७ में। संपादक-मंडल के निर्देश पर प० ल० तुचाप्स्की ने, जो विदेश गये हुए थे, ग० व० प्लेख़ानोव और 'श्रम मुक्ति' दल के अन्य सदस्यों को 'राबोचाया गाज़ेता' के पहले अंक से अवगत कराया और इस पत्र में लेख लिखने के लिए उनकी स्वीकृति प्राप्त की। 'श्रम मुक्ति' दल से संपर्क स्थापित होने के परिणाम-स्वरूप इस समाचारपत्र को एक अधिक निश्चित राजनीतिक स्वरूप प्राप्त हुआ। 'राबोचाया गाज़ेता' के इर्द-गिर्द इकट्ठा सामाजिक-जनवादी, रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की पहली कांग्रेस की तैयारी में लगे रहे। कांग्रेस ने (इसका आयोजन मार्च १८९८ में हुआ था) 'राबोचाया गाज़ेता' को पार्टी के अधिकृत मुखपत्र के रूप में स्वीकृत कर लिया। कांग्रेस के बाद केंद्रीय समिति के सदस्यों और 'राबोचाया गाज़ेता' के संपादकों को गिरफ़्तार कर लिया गया और उनका छापाख़ाना ज़ब्त किया गया। परिणाम यह हुआ कि समाचारपत्र का छापेख़ाने के लिए तैयार किया गया तीसरा अंक प्रकाशित होने से रह गया। १८९९ में 'राबोचाया गाज़ेता'

का प्रकाशन फिर से आरंभ करने का प्रयत्न किया गया। लेनिन ने अपनी पुस्तक 'क्या करें?' में इस प्रयत्न के बारे में लिखा है (देखिये, प्रस्तुत खंड, पृष्ठ १५६-३८७)।–पृष्ठ १५७

87 **लासालवादी और आयज़ेनेख़वादी**–१९ वीं शताब्दी के सातवें और आठवें दशकों में जर्मन मज़दूर आंदोलन की दो पार्टियां। इन दोनों के बीच कड़ा संघर्ष जारी रहा–मुख्यतया कार्यनीति के प्रश्नों पर और विशेषकर उस समय के जर्मन राजनीतिक जीवन के सबसे ज्वलंत प्रश्न पर अर्थात् जर्मनी के एकीकरण के मार्गों के प्रश्न पर।

लासालवादी–फ़र्दीनांद लासाल (जर्मन निम्न-पूंजीवादी समाजवादी) के समर्थक और अनुयायी और १८६३ में मज़दूर संस्थाओं की लिपज़िग कांग्रेस में स्थापित किये गये आम जर्मन मज़दूर संघ के सदस्य। फ़० लासाल ही इस संघ के पहले अध्यक्ष थे और उन्हींने संघ के कार्यक्रम और उसकी कार्यनीति के सिद्धांतों की रूपरेखा बनायी थी। अपनी व्यावहारिक गतिविधियों में लासाल और उसके अनुयायी बिस्मार्क की महादेशीय नीति का समर्थन करते थे। २७ जनवरी, १८६५ को का० मार्क्स के नाम लिखे गये अपने पत्र में फ़े० एंगेल्स इसके बारे में ये शब्द लिखते हैं: "वस्तुगत दृष्टि से यह प्रशावासियों के हित में मज़दूर आंदोलन के प्रति द्रोह और विश्वासघात है।" का० मार्क्स और फ़े० एंगेल्स ने बार बार और तीखे शब्दों में लासालवादियों के सिद्धांत, कार्यनीति और संगठनात्मक सिद्धांतों की आलोचना की। उन्होंने इन्हें जर्मन मज़दूर आंदोलन की एक अवसरवादी प्रवृत्ति कहा।

आयज़ेनेख़वादी–१८६९ में आयज़ेनेख़ में आयोजित उद्घाटनात्मक कांग्रेस में स्थापित की गयी जर्मनी की सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के सदस्य। पार्टी के नेता अगस्त बेबेल और विल्हेल्म लीब्कनेख़्त का० मार्क्स और फ़े० एंगेल्स के विचारात्मक प्रभाव में थे। आयज़ेनेख़वादियों के कार्यक्रम में कहा गया था कि जर्मनी की सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी अपने को "अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर सभा का एक अंग और उसकी आकांक्षाओं को अपनी आकांक्षाएं मानती है।" जर्मनी के फिर से एकीकरण के प्रश्नों पर आयज़ेनेख़वादियों ने "जनवादी और सर्वहारावादी मार्ग का समर्थन किया, और प्रशावाद, बिस्मार्क भावना और राष्ट्रवाद को किसी प्रकार की, यहां तक कि नगण्य भी, रियायतें दी जाने के विरुद्ध संघर्ष चलाया"।

(व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड १९, पृष्ठ २६५)।

१८७१ में जर्मन साम्राज्य की स्थापना हुई और तब लासालवादियों और आयज़ेनेख़वादियों के बीच के कार्यनीति विषयक प्रश्नों से संबंधित मुख्य मतभेद दूर हो गये। १८७५ में मज़दूर आन्दोलन की उन्नति और सरकार द्वारा किये गये कठोर दमन के परिणामस्वरूप ये दो पार्टियां जर्मनी की एकीभूत समाजवादी मज़दूर पार्टी (जो बाद में जर्मनी की सामाजिक-जनवादी पार्टी कहलायी) में एक हो गयीं। यह एकीकरण गोथा कांग्रेस में कार्यान्वित हुआ।

लेनिन ने अगस्त १९१३ में लिखे गये 'अगस्त बेबेल' शीर्षक लेख में लासालवादियों और आयज़ेनेख़वादियों का स्वरूप दिखाया है।—पृष्ठ १६०

88 देखिये टिप्पणी ४६।—पृष्ठ १६१

89 **फ़ेबियन**—फ़ेबियन सोसाइटी के सदस्य। इस ब्रिटिश सुधारवादी संगठन की स्थापना १८८४ में हुई थी। सोसाइटी ने अपना नाम रोमन सेनापति फ़ेबियस मक्सीमस (ई० पू० २००) के नाम पर रखा था। यह सेनापति कनक्टेटर ("विलंबकारी") कहलाता था और हानीबाल के विरुद्ध हुए युद्ध में अपनी दीर्घसूत्री कार्यनीति के लिए और निर्णायक लड़ाइयों को टाल देने के लिए प्रसिद्ध था। फ़ेबियन लोग मुख्यतया पूंजीवादी बुद्धिजीवियों—वैज्ञानिकों, लेखकों, राजनीतिज्ञों—के प्रतिनिधि थे (उदाहरणार्थ स० और ब० वेब, ब० शॉ, र० मैकडानल्ड इत्यादि)। व्ला० इ० लेनिन ने फ़ेबियनों को "**चरम अवसरवाद** की एक प्रवृत्ति" कहा। (संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड १३, पृष्ठ ३२८)। १९०० में फ़ेबियनों ने लेबर पार्टी में प्रवेश किया। "फ़ेबियन समाजवाद" लेबर विचारधारा का एक स्रोत है।—पृष्ठ १६१

90 यहां ब्रिटेन के सामाजिक-जनवादी संघ की ओर संकेत है। देखिये टिप्पणी ४७।—पृष्ठ १६१

91 देखिये टिप्पणी ७९।—पृष्ठ १६१

92 देखिये टिप्पणी ४५।—पृष्ठ १६१

93 **रूसी आलोचक** – तथाकथित "क़ानूनी मार्क्सवादी" स्त्रूवे, बुल्गाकोव, बेरदियाएव आदि। इन लोगों ने क़ानूनी प्रकाशनों में क्रांतिकारी मार्क्सवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाया। – पृष्ठ १६१

94 लेनिन यहां फ़्रे० एंगेल्स द्वारा का० मार्क्स की *«Der achtzehnte Brumaire des Louis Bonaparte»* ('लुई बोनापार्ट का अठारहवां ब्रूमेयर') शीर्षक पुस्तक के तीसरे संस्करण के लिए लिखी गयी भूमिका से उद्धरण दे रहे हैं। – पृष्ठ १६२

95 **'विदेशों में स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ'** की स्थापना १८९४ में 'श्रम मुक्ति' दल की पहलक़दमी पर हुई। शर्त्त यह थी कि उसके सारे सदस्य दल का कार्यक्रम स्वीकृत करें। इस दल को 'संघ' के प्रकाशनों के संपादन का काम सौंपा गया था और मार्च १८९५ में इसने अपना छापाख़ाना 'संघ' को दे दिया। १८९५ की गर्मियों में, जब लेनिन विदेश में थे, 'संघ' ने 'राबोत्निक' (कामगार) पत्रिका प्रकाशित करने का निश्चय किया। इसमें विविध विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे। संघ ने 'राबोत्निक' के छः अंक, "लिस्तोक 'राबोत्निका'" के दस अंक, लेनिन लिखित 'जुर्माना क़ानून का स्पष्टीकरण', ग० व० प्लेख़ानोव लिखित 'रूसी सामाजिक-जनवाद के विरुद्ध नया अभियान' (१८९७) इत्यादि का प्रकाशन किया।

रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की मार्च १८९८ में आयोजित पहली कांग्रेस ने 'संघ' को विदेशों में पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकृत किया। समय के बीतते 'संघ' में अवसरवादी तत्त्वों – "अर्थवादियों" या तथाकथित "तरुणों" – का ज़ोर बढ़ा। उन्होंने कांग्रेस के "घोषणापत्र" के साथ अपनी एकजुटता प्रकट करने से इनकार कर दिया क्योंकि उसमें राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति को पार्टी का फ़ौरी कार्य घोषित कर दिया गया था।

'संघ' का पहला सम्मेलन नवंबर १८९८ में ज़ूरिच में हुआ। इसमें 'श्रम मुक्ति' दल ने 'संघ' के प्रकाशनों का संपादन करने से इनकार कर दिया। इसके अपवाद थे 'राबोत्निक' के अंक ५-६, लेनिन की 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के कार्य' और 'नया कारख़ाना क़ानून' शीर्षक पुस्तिकाएं। दल ने इनका प्रकाशन करना स्वीकार किया। अप्रैल १८९९ से 'संघ' ने 'राबोचेये देलो' का प्रकाशन आरंभ किया। यह "अर्थवादियों" की पत्रिका थी और इसके संपादक-मंडल में

ब० न० क्रिचेव्स्की, व० प० इवानशिन इत्यादि शामिल थे। 'संघ' ने बर्न्सटीन, मिलेरां के अनुयायियों इत्यादि के प्रति सहानुभूति दिखानेवाले वक्तव्य प्रकाशित किये।

'संघ' का आंतरिक संघर्ष उसके दूसरे सम्मेलन (अप्रैल १६००, जेनेवा) तक और सम्मेलन में भी जारी रहा। इस संघर्ष के फलस्वरूप 'श्रम मुक्ति' दल और उनके समर्थकों ने सम्मेलन से विदा ली और स्वतंत्र 'सोत्सिअल-देमोक्रात' संगठन की स्थापना की।

१६०३ में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में 'संघ' के प्रतिनिधियों ('राबोचेये देलो' वालों) ने चरम अवसरवादी रुख़ अपनाया और जब कांग्रेस ने 'विदेशों में स्थित रूसी क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादी लीग' को पार्टी का विदेशों में स्थित एकमात्र संगठन घोषित किया तो ये लोग कांग्रेस छोड़कर चले गये। पार्टी की दूसरी कांग्रेस ने 'संघ' के विसर्जन का निर्णय स्वीकृत किया। (देखिये 'कांग्रेसों, सम्मेलनों तथा केंद्रीय समिति के पूर्णाधिवेशनों के प्रस्तावों और निर्णयों में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी', सातवां संस्करण, भाग १, १६५४, पृष्ठ ५६)। – पृष्ठ १६५

96 **'ज़ार्या'** (प्रभात) – 'ईस्क्रा' के संपादक-मंडल द्वारा १६०१-०२ में स्टुटगार्ट में प्रकाशित मार्क्सवादी वैज्ञानिक और राजनीतिक पत्रिका। इसके कुल मिलाकर ४ अंक (तीन पुस्तकों में) निकले: पहला अंक अप्रैल १६०१ में (वस्तुत: यह अंक नयी शैली के अनुसार २३ मार्च को निकला था), दूसरा और तीसरा अंक दिसंबर १६०१ में और चौथा अंक अगस्त १६०२ में।

'ज़ार्या' ने अंतर्राष्ट्रीय और रूसी संशोधनवाद की आलोचना और मार्क्सवाद के सैद्धांतिक आधारों का समर्थन किया। लेनिन की निम्नलिखित रचनाओं में इस प्रश्न पर विचार किया गया: 'ज़ेम्स्त्वो को सतानेवाले और उदारवाद के हानिबाल', 'मेसर्स 'आलोचक' कृषि प्रश्न में' ("कृषि प्रश्न और 'मार्क्स के आलोचक'" के पहले चार अध्याय), 'रूसी सामाजिक-जनवाद का कृषि कार्यक्रम'। इनके अलावा ग० व० प्लेख़ानोव की निम्नलिखित रचनाओं में भी इसपर चर्चा हुई: 'हमारे आलोचकों द्वारा आलोचना; भाग १। श्री प० स्त्रूवे, मार्क्स के सामाजिक विकास के सिद्धांत के आलोचक के रूप में', 'कान्ट विरुद्ध कान्ट अथवा श्री बर्न्सटीन का वसीयतनामा', इत्यादि। – पृष्ठ १६५

97 **पर्वत-दल और जिरौंद-दल** – १८ वीं शताब्दी के अंत में फ़्रांसीसी पूंजीवादी क्रांति के काल में दो राजनीतिक दलों के नाम। पूंजीवादी वर्ग के दृढ़तर प्रतिनिधियों को पर्वत या जैकोबिन का नाम दिया गया था। यह उस समय का क्रांतिकारी वर्ग था। जैकोबिनों ने निरंकुश शासन और सामन्तवाद के विनाश का समर्थन किया। जैकोबिनों से जिरौंदवादी इस माने में भिन्न रहे कि वे क्रांति और प्रतिक्रांति के बीच डगमगाते रहे; उनकी नीति राजसत्ता से सौदा करने की थी।

लेनिन ने सामाजिक-जनवादी आंदोलन की अवसरवादी प्रवृत्ति को "समाजवादी जिरौंद" की और क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादियों को सर्वहारावादी जैकोबिनों या पर्वत की संज्ञा दी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के बोल्शेविकों और मेन्शेविकों में विभक्त हो जाने के बाद लेनिन ने अक्सर ज़ोर देकर कहा कि मज़दूर आंदोलन में मेन्शेविक जिरौंदवादी प्रवृत्ति के प्रतिनिधि थे। – पृष्ठ १६५

98 **'बेज़ज़ग्लावत्सी'** – रूसी पूंजीवादी बुद्धिजीवियों (स० न० प्रोकोपोविच, ये० द० कुस्कोवा, व० य० बोगुचार्स्की, व० व० पोर्तुगालोव, व० व० ख़िजन्याकोव इत्यादि) का एक अर्द्ध-कैडेट, अर्द्ध-मेन्शेविक दल। १९०५-०७ की क्रांति के पतन-काल में इसकी स्थापना हुई थी। इसका नाम 'बेज़ ज़ग्लाविया' (शीर्षकहीन) नामक राजनीतिक साप्ताहिक पत्रिका के नाम पर रखा गया था। यह पत्रिका प्रोकोपोविच के संपादकत्व में जनवरी से मई १९०६ तक पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होती रही। बाद में 'बेज़ज़ग्लावत्सी' वाम-कैडेट समाचारपत्र 'तोवारिश्च' (साथी) के इर्द-गिर्द इकट्ठे हुए। यद्यपि वे अपने को ग़ैर-पार्टी संगठन मानते थे फिर भी तथ्यतः 'बेज़ज़ग्लावत्सी' पूंजीवादी उदारवाद और अवसरवाद के विचारों के वाहक और रूसी तथा अंतर्राष्ट्रीय सामाजिक-जनवाद के संशोधनवादियों के समर्थक थे। – पृष्ठ १६५

99 **द० इ० इलोवाइस्की** (१८३२-१९२०) इतिहासकार और इतिहास की अनेक सरकारी पाठ्यपुस्तकों का लेखक। ये पाठ्यपुस्तकें क्रांतिपूर्व रूस के प्राथमिक तथा माध्यमिक स्कूलों में बहुत प्रचलित थीं। इन पाठ्यपुस्तकों में इतिहास का विवरण मुख्यतया ज़ारों तथा सेनापतियों की गतिविधियों तक सीमित था और स्वयं ऐतिहासिक प्रक्रिया का स्पष्टीकरण नगण्य, आकस्मिक घटनाओं द्वारा किया गया था। – पृष्ठ १६७

100 २७-२९ मई (नयी शैली), १८७७ को गोथा में जर्मनी की समाजवादी मज़दूर पार्टी की नियमित कांग्रेस हुई। कांग्रेस में जब पार्टी के प्रेस के प्रश्न पर चर्चा हुई तो कुछ सदस्यों ने (मोस्ट, वाहल्टीख़) ड्यूहरिंग के विरुद्ध एंगेल्स के लेख (जो बाद में १८७८ में 'ड्यूहरिंग मत-खंडन, श्री यूजेन ड्यूहरिंग द्वारा प्रवर्तित वैज्ञानिक क्रांति' शीर्षक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए) प्रकाशित करने के लिए पार्टी के केंद्रीय मुखपत्र *«Vorwärts»* (आगे बढ़ो) की और उक्त तेज़ खंडन के लिए स्वयं एंगेल्स की निंदा करने के प्रयत्न किये, पर कांग्रेस ने इनकी कमर तोड़ दी। फिर भी व्यावहारिक दृष्टि से कांग्रेस ने समाचारपत्र के स्तंभों में नहीं बल्कि उसके एक वैज्ञानिक क्रोड़पत्र में सैद्धांतिक प्रश्नों पर चर्चा जारी रखने का निर्णय किया। – पृष्ठ १६७

101 *«Vorwärts»* (आगे बढ़ो) – जर्मन सामाजिक-जनवाद का दैनिक केंद्रीय मुखपत्र। इसका प्रकाशन वि० लीब्कनेख़्त आदि के संपादकत्व में १८७६ में लिपज़िग में आरंभ हुआ। १८७८ में समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून लागू किया गया और इस समाचारपत्र का प्रकाशन मना कर दिया गया। जनवरी १८९१ में यह *«Berliner Volksblatt»* (बर्लिन की जनता का समाचारपत्र) के नये रूप में फिर से प्रकाशित होने लगा। *«Berliner Volksblatt»* १८८४ से प्रकाशित होता था। फ़्रे० एंगेल्स ने हर प्रकार के अवसरवाद का मुक़ाबला करने के लिए इस समाचारपत्र के स्तंभों का उपयोग किया। फ़्रे० एंगेल्स की मृत्यु के बाद, १९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक के उत्तरार्द्ध से समाचारपत्र में पार्टी के दक्षिण पक्ष का ज़ोर बढ़ा और उसमें अवसरवादियों के लेख नियमित रूप से प्रकाशित होने लगे। जर्मन सामाजिक-जनवाद और दूसरी इंटरनेशनल में ये ज़ोरों पर थे। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के अंदर अवसरवाद और संशोधनवाद के विरुद्ध चल रहे संघर्ष का पक्षपातपूर्ण वर्णन करते हुए *«Vorwärts»* ने "अर्थवादियों" का और पार्टी में फूट पड़ने के बाद मेन्शेविकों का समर्थन किया। प्रतिक्रिया के वर्षों में *«Vorwärts»* ने त्रोत्स्की के बदनामी से भरे लेख प्रकाशित किये और लेनिन तथा बोल्शेविकों को अपनी ओर से खंडन और पार्टी की अंतर्गत वस्तुस्थिति के संबंध में स्पष्टीकरण प्रकाशित करने का अवसर नहीं दिया। पहले विश्वयुद्ध के दौरान में पत्र ने सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी रुख़ अपना लिया। महान् अक्तूबर समाजवादी क्रांति के

बाद तो «*Vorwärts*» सोवियत विरोधी प्रचार का गढ़ बन गया। यह समाचारपत्र १६३३ में बंद हो गया। – पृष्ठ १६८

102 **कैथेदेर-समाजवादी** – १६ वीं शताब्दी के आठवें और नवें दशकों में पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की एक प्रवृत्ति के प्रतिनिधि। समाजवाद के अवगुंठन के नीचे ये विश्वविद्यालयों के ज्ञानपीठों (जर्मन में Katheder) से पूंजीवादी-उदारवादी सुधारवाद का प्रचार करते थे।

मार्क्स और एंगेल्स ने कैथेदेर-समाजवादियों के प्रतिक्रियावादी स्वरूप का पर्दाफ़ाश किया। लेनिन इन्हें "पुलिस-पूंजीवादी विश्वविद्यालय विज्ञान" के ऐसे खटमल कहते थे (संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड १३, पृष्ठ २२) जिन्हें मार्क्सवादी क्रांतिकारी सिद्धांतों से घृणा थी। रूस में कैथेदेर-समाजवादी दृष्टिकोणों का समर्थन "क़ानूनी मार्क्सवादियों" ने किया। – पृष्ठ १६७

103 **नोज़्दर्योव** – न० व० गोगोल की 'मृत आत्माएं' शीर्षक पुस्तक का एक चरित्र। गोगोल ने नोज़्दर्योव को "ऐतिहासिक मनुष्य" कहा, क्योंकि जहां भी वह चला जाता हमेशा "इतिहास" बनता और झगड़े पैदा होते। – पृष्ठ १६८

104 यहां व्ला० इ० लेनिन का संकेत जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी की हैनोवर कांग्रेस (६-१४ अक्तूबर, १८६६) के "पार्टी के मूलभूत दृष्टिकोणों और कार्यनीति पर हमले" शीर्षक प्रस्ताव की ओर है। इस प्रश्न पर अ० बेबेल ने अधिकृत रिपोर्ट पेश की। कांग्रेस के अत्यधिक बहुमत ने बेबेल का प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें सामाजिक-जनवाद के सैद्धांतिक और कार्यनीति विषयक संशोधन के प्रयत्न ठुकराये गये थे। फिर भी प्रस्ताव में जर्मन सामाजिक-जनवादियों के बीच के संशोधनवादियों के संबंध में कुछ भी न कहा गया था। परिणामतः बर्न्सटीन और उसके समर्थकों ने उसके पक्ष में वोट दिये। – पृष्ठ १६६

105 यहां व्ला० इ० लेनिन का संकेत जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी की लूबेक कांग्रेस (२२-२८, सितंबर, १६०१) के बर्न्सटीन विरोधी प्रस्ताव की ओर है। प्रस्ताव का कारण यह था कि १८६६ की हैनोवर कांग्रेस के बाद भी बर्न्सटीन सामाजिक-जनवाद के कार्यक्रम और कार्यनीति पर अपने हमलों से बाज़ न आये बल्कि उलटे अधिक बार हमले करते रहे और यहां तक

कि ग़ैर-पार्टी लोगों के बीच अपने विचारों का प्रचार करते रहे। बहस के दौरान में और बेबेल द्वारा प्रस्तुत किये गये तथा कांग्रेस में अत्यधिक बहुमत से स्वीकृत किये गये प्रस्ताव में बर्न्सटीन को सीधी-सीधी चेतावनी मिली। फिर भी लूबेक कांग्रेस ने यह सिद्धांत नहीं निश्चित किया कि मार्क्सवाद का संशोधन सामाजिक-जनवादी पार्टी के सदस्यत्व से मेल नहीं खाता। – पृष्ठ १६९

106 **स्टुटगार्ट कांग्रेस** – जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी की २१-२६ सितंबर (३-८ अक्तूबर) १८९८ को आयोजित स्टुटगार्ट कांग्रेस ऐसी पहली कांग्रेस रही जिसने जर्मन सामाजिक-जनवादी आंदोलन में संशोधन के प्रश्न पर चर्चा की। उसने बर्न्सटीन का एक वक्तव्य सुना। बर्न्सटीन इस कांग्रेस में उपस्थित नहीं था। उक्त वक्तव्य में उसने अपने उन्हीं अवसरवादी दृष्टिकोणों का प्रतिपादन और समर्थन किया था जो पहले अनेक लेखों में प्रकाशित किये जा चुके थे। बर्न्सटीन के विरोधक कांग्रेस में एक-सा रुख़ अपनाने से रह गये। अ० बेबेल, का० काउत्स्की इत्यादि ने बर्न्सटीन के विरुद्ध वैचारिक संघर्ष और उनकी ग़लतियों की आलोचना का तो समर्थन किया पर उसके विरुद्ध संगठनात्मक कार्रवाइयां करने से सहमत नहीं हुए। रोज़ा लुक्ज़ेमबुर्ग के नेतृत्व में अल्पमत ने बर्न्सटीन का अधिक निश्चयपूर्वक विरोध किया। – पृष्ठ १६९

107 यहां अ० न० पोत्रेसोव (स्तारोवेर) के 'क्या हुआ?' शीर्षक लेख की ओर संकेत है। यह 'ज़ार्या' नामक पत्रिका के अप्रैल १९०१ के पहले अंक में प्रकाशित हुआ था। – पृष्ठ १७१

108 'लेखक, जिसका माथा फिर गया था' – मक्सीम गोर्की की एक कहानी का शीर्षक। – पृष्ठ १७३

109 व्ला० इ० लेनिन का संकेत 'नरोदवाद का आर्थिक आशय और श्री स्त्रूवे की पुस्तक (पूंजीवादी साहित्य में मार्क्सवाद का प्रतिबिंब) में उसकी आलोचना' शीर्षक अपने लेख की ओर है। यह लेख लेनिन के उपनाम क० तूलिन के साथ 'हमारे आर्थिक विकास का स्वरूप-दर्शन करानेवाली सामग्रियां' शीर्षक विचार-संग्रह में प्रकाशित हुआ था। यह विचार-संग्रह अप्रैल १८९५ में क़ानूनी तौर पर प्रकाशित हुआ था और उसकी २००० प्रतियां निकली थीं। ज़ारशाही सरकार ने इसे मना कर दिया, एक वर्ष तक दबा रखा, ज़ब्त कर लिया और जला दिया। केवल १०० प्रतियां बच पायीं

और ये गुप्त रूप से पीटर्सबर्ग और अन्य नगरों के सामाजिक-जनवादियों के बीच बांटी गयीं। – पृष्ठ १७३

110 ए० बर्न्सटीन की पुस्तक *«Die Voraussetzungen des Sozialismus und die Aufgaben der Sozialdemokratie»* ('समाजवाद की पूर्वावश्यकताएं और सामाजिक-जनवाद के कार्य') १६०१ में रूसी में निम्नलिखित शीर्षकों के साथ प्रकाशित हुई: (१) 'ऐतिहासिक पदार्थवाद'; अनुवादक ल० कांज़ेल, सेंट पीटर्सबर्ग, 'ज़्नानिये' प्रकाशन गृह; (२) 'सामाजिक समस्याएं'; अनुवादक प० स० कोगन, मास्को; (३) 'समाजवाद की समस्याएं और सामाजिक-जनवाद के कार्य'; अनुवादक क० य० बुत्कोव्स्की, मास्को, प्रकाशक येफ़ीमोव। – पृष्ठ १७५

111 **ज़ुबातोव** – राजनीतिक पुलिस का कर्नल, जिसने तथाकथित 'पुलिस समाजवाद' का प्रसार करने का प्रयत्न किया। मज़दूरों का ध्यान क्रांतिकारी आंदोलन से हटाने के उद्देश्य से ज़ुबातोव ने राजनीतिक पुलिस की निगरानी में मज़दूरों के जाली संगठन बनाये थे। – पृष्ठ १७५

112 **'रूसी सामाजिक-जनवादियों का प्रतिवाद'** लेनिन ने अगस्त १८९९ में अपने निष्कासन-काल में लिखा था। इसका रुख़ "अर्थवादियों" के एक दल (स० न० प्रोकोपोविच, ये० द० कुस्कोवा इत्यादि जो बाद में कैडेट बन गये) के घोषणापत्र «Credo» के विरुद्ध था।

मिनुसींस्क क्षेत्र के येर्माकोव्स्कोये नामक देहात में लेनिन द्वारा बुलायी गयी सत्रहं निष्कासित मार्क्सवादियों की बैठक में 'प्रतिवाद' पर चर्चा हुई और वह एकमत से स्वीकृत किया गया। तुरुख़ान्स्क और ओर्लोव (व्यात्का गुबर्निया) स्थित निष्कासितों की बस्तियों ने भी 'प्रतिवाद' का समर्थन किया।

'रूसी सामाजिक-जनवादियों का प्रतिवाद' लेनिन ने विदेशों में स्थित 'श्रम मुक्ति' दल की ओर भेज दिया। १९०० के आरंभ में ग० व० प्लेख़ानोव ने इसे 'राबोचेये देलो' के संपादकों के लिए संग्रहीत *«Vademecum»* (मार्गदर्शक – सं०) में पुनर्मुद्रित किया। – पृष्ठ १७६

113 **'बिलोये'** (अतीत) – व० ल० बुर्त्सेव द्वारा स्थापित ऐतिहासिक पत्रिका। इसमें मुख्यतया नरोदवाद तथा आरंभकालीन सामाजिक आंदोलनों के संबंध में सामग्री छपती थी। १९०० से १९०४ तक पत्रिका लंदन में और १९०६ से १९०७ तक पीटर्सबर्ग में प्रकाशित होती रही। व० य० बोगुचार्स्की तथा

प० ए० श्चेगोलेव इसके संपादक थे। संपादन में बुर्त्सेव भी हाथ बंटाते थे। १६०७ में ज़ारशाही सरकार ने 'बिलोये' का प्रकाशन मना कर दिया। १६०८ में बुर्त्सेव ने विदेश (पेरिस) में फिर से पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया और वह १६१२ तक जारी रहा। रूस में 'बिलोये' पत्रिका १६१७ से १६२६ तक फिर से प्रकाशित होती रही। महान् अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद प० ए० श्चेगोलेव इसके संपादक रहे। – पृष्ठ १७६

114 **"'राबोचेये देलो' के संपादकों के लिए** «Vademecum»**। 'श्रम मुक्ति' दल द्वारा ग० व० प्लेखानोव की भूमिका सहित प्रकाशित सामग्रियों का संग्रह"** (जेनेवा, फ़रवरी १६००)। इसका रुख़ रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में जारी अवसरवाद के विरुद्ध और मुख्यतया विदेशों में स्थित 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' के "अर्थवाद" और उसके पत्र 'राबोचेये देलो' के विरुद्ध था। – पृष्ठ १७६

115 «Profession de foi» (विश्वास-प्रतीक, कार्यक्रम, विश्व-दृष्टिकोण की व्याख्या) – रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की कीयेव समिति के अवसरवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करनेवाला परचा जो १८६६ के अंत में जारी किया गया था। बहुत से नुक्तों पर यह कुख्यात "अर्थवादी" «Credo» से मेल खाता था। लेनिन ने '«Profession de foi» के सिलसिले में' शीर्षक अपने लेख में इसकी आलोचना की। (देखिये, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड ४, पृष्ठ २६३-२७३।) – पृष्ठ १७६

116 विदेशों में स्थित **'रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' की तीसरी कांग्रेस** १६०१ की सितंबर के उत्तरार्द्ध में ज़्यूरिच में हुई। इसने विदेशों में स्थित रूसी सामाजिक-जनवादी संगठनों के एकीकरण से संबंधित समझौते के मसौदे में संशोधन स्वीकृत किये। यह मसौदा जून १६०१ के जेनेवा सम्मेलन में तैयार किया गया था। कांग्रेस ने "'राबोचेये देलो' को निर्देश" मंजूर किये जो संशोधनवादियों को प्रोत्साहन देते थे। कांग्रेस के निर्णय 'संघ' के नेताओं के बीच अवसरवादी भावनाओं के प्रभुत्व और जून सम्मेलन के निर्णयों के अस्वीकार के साक्षी रहे (देखिये टिप्पणी ८४)। – पृष्ठ १८१

117 **गोथा कार्यक्रम** १८७५ की गोथा कांग्रेस में जर्मनी की समाजवादी मज़दूर पार्टी द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम। तब तक स्वतंत्र रूप से विद्यमान आयज़ेनेख़वादी (अ० बेबेल और वि० लीब्कनेख़्त इसके नेता थे और इनपर

मार्क्स तथा एंगेल्स का प्रभाव था) और लासालवादी पार्टियां इस कांग्रेस में आपस में मिलकर एक पार्टी बन गयीं। यह कार्यक्रम असैद्धांतिक और अवसर-वादी था क्योंकि आयज़ेनेख़वादियों ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर लासालवादियों के आगे घुटने टेक दिये थे और लासालवादियों के सूत्र स्वीकृत किये थे। का० मार्क्स और फ़्रे० एंगेल्स ने गोथा कार्यक्रम के मसौदे की कटु आलोचना की और उसे आयज़ेनेख़वादियों के १८६९ के कार्यक्रम की तुलना में एक क़दम पीछे माना।—पृष्ठ १८२

118 यहां प० ब० अक्सेल्रोद की 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के वर्तमान कार्यों और कार्यनीति के संबंध में' शीर्षक पुस्तिका की ओर संकेत है। यह पुस्तिका जेनेवा में १८९८ में प्रकाशित हुई थी।—पृष्ठ १८३

119 व्ला० इ० लेनिन का संकेत यहां १८९६ में पीटर्सबर्ग के मज़दूरों की बड़ी हड़तालों की ओर है। २३ मई को कालीन्किन कारख़ाने की हड़ताल के साथ ये शुरू हुई। इस हड़ताल की लपटें बड़ी तेज़ी से पीटर्सबर्ग की मुख्य सूती और बुनाई मिलों तक और बाद में बड़े मशीन निर्माण कारख़ानों, रबड़ और काग़ज़ कारख़ानों तथा चीनी की मिल तक फैल गयीं। यह शोषण के विरुद्ध पीटर्सबर्ग के मज़दूरों की पहली बड़े पैमाने की कार्रवाई थी। ३०,००० से अधिक मज़दूर हड़ताल में शामिल हुए। हड़ताल का नेतृत्व पीटर्सबर्ग की 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' द्वारा किया गया। लीग ने परचे और घोषणाएं जारी कीं और मज़दूरों से अपील की कि वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए एक और दृढ़ रहें। लीग ने हड़तालियों की मुख्य मांगें प्रकाशित और प्रसारित कीं। ये इस प्रकार थीं: काम का दिन घटाकर साढ़े दस घंटों का किया जाये, मज़दूरी बढ़ायी जाये, मज़दूरी समय पर दी जाये, इत्यादि।

हड़ताल के समाचार ने विदेशों में बड़ा प्रभाव डाला। पीटर्सबर्ग की हड़तालों ने मास्को तथा रूस के अन्य नगरों में मज़दूर आंदोलनों के विकास को बढ़ावा दिया और ज़ारशाही सरकार को कारख़ाना क़ानूनों में सुधार करने तथा २ (१४) जून, १८९७ को एक नया क़ानून जारी करने के लिए मजबूर कर दिया। इस क़ानून के अनुसार काम का दिन घटाकर साढ़े ग्यारह घंटों का कर दिया गया। इन हड़तालों ने, जैसा कि बाद में लेनिन ने लिखा, "मज़दूर आंदोलन की क्रमिक उन्नति के युग का श्रीगणेश किया"। (देखिये, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड १३, पृष्ठ ७८।)—पृष्ठ १८९

120 **'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग'** लेनिन ने १८९५ की शरद में संगठित की जिसमें पीटर्सबर्ग के लगभग बीस मार्क्सवादी मज़दूर मंडल एकत्रित हुए। 'लीग' का कार्य केंद्रवाद और कठोर अनुशासन के सिद्धांतों पर आधारित था। 'लीग' की बागडोर एक केंद्रीय दल के हाथों में थी। इसमें व्ला० इ० लेनिन, अ० अ० वानेयेव, प० क० ज़पोरोजेत्स, ग० म० क्रजिजानोव्स्की, न० क० क्रूप्स्काया, ल० मार्तोव (यू० ओ० ज़ेदेरबाउम), म० अ० सील्विन, व० व० स्तार्कोव इत्यादि शामिल थे। फिर भी 'लीग' का पूरा कार्य दल के पांच सदस्यों के प्रत्यक्ष नेतृत्व में चलता था। इनमें लेनिन प्रधान थे। 'लीग' कितने ही ज़िला संगठनों में विभाजित थी। इ० व० बाबुश्किन और व० अ० शेल्गुनोव जैसे अग्रणी वर्गचेतन मज़दूरों ने दलों का संबंध कारख़ानों और मिलों के साथ जोड़ दिया जहां संगठक सूचना एकत्रित करने और साहित्य वितरित करने का काम संभालते थे। बड़े कारख़ानों में मज़दूर मंडल क़ायम किये गये।

रूस में पहली बार 'लीग' ने मज़दूर आंदोलन में समाजवाद का प्रवेश कराना आरंभ किया। उसने मज़दूर आंदोलन का संचालन किया और आर्थिक मांगों के लिए मज़दूरों का संघर्ष ज़ारशाही विरोधी राजनीतिक संघर्ष के साथ जोड़ दिया। 'लीग' ने मज़दूरों के लिए परचे और पुस्तिकाएं प्रकाशित कीं। 'लीग' के प्रकाशनों के संपादक व्ला० इ० लेनिन थे। उन्हीं के नेतृत्व में मज़दूरों के राजनीतिक समाचारपत्र 'राबोचेये देलो' के प्रकाशन के लिए भूमि तैयार की गयी। 'लीग' का प्रभाव पीटर्सबर्ग से दूर दूर तक फैल गया और मास्को, कीयेव, येकातेरिनोस्लाव तथा दूसरे नगरों और रूस के अन्य भागों के मज़दूर मंडलों ने उसका अनुकरण करते हुए 'संघर्ष लीगों' की स्थापना की।

८ (२०) दिसंबर, १८९५ को काफ़ी रात गुज़रे ज़ारशाही सरकार ने 'लीग' पर गहरी चोट की। उसने 'लीग' के कितने ही अग्रणी सदस्यों को गिरफ़्तार कर लिया जिनमें लेनिन भी थे। 'राबोचेये देलो' का छपने के लिए तैयार अंक ज़ब्त किया गया।

कुछ दिन बीते और दल की गिरफ़्तारियों के बाद की पहली बैठक हुई और पीटर्सबर्ग सामाजिक-जनवादी संगठन को 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' का नाम देने का निर्णय किया गया। लेनिन तथा अन्य सदस्यों की गिरफ़्तारी के जवाब में लीग के उन सदस्यों ने, जो अभी तक आज़ाद थे, मज़दूरों द्वारा लिखा गया एक राजनीतिक परचा जारी किया।

जेल में रहते हुए भी लेनिन ने 'लीग' का मार्गदर्शन करना जारी रखा। उन्होंने परामर्श द्वारा लीग की सहायता की, सांकेतिक पत्र और परचे गुप्त रूप से जेल के बाहर भिजवाये और 'हड़ताल के संबंध में' शीर्षक पुस्तिका (इसकी पांडुलिपि अभी तक नहीं पायी गयी) और 'सामाजिक-जनवादी पार्टी के कार्यक्रम का मसौदा और स्पष्टीकरण' लिखा। (देखिये, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड २, पृष्ठ ७७-१०४।)

जैसा कि लेनिन ने कहा 'लीग' का अपना विशेष महत्व था क्योंकि वही तो सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष का मार्गदर्शन करने के लिए मज़दूर आंदोलन की नींव पर खड़ी क्रांतिकारी पार्टी का पहला वास्तविक श्रीगणेश थी। १८९८ के उत्तरार्द्ध से लीग को "अर्थवादियों" ने हथिया लिया। ये लोग 'राबोचाया मीस्ल' (मज़दूरों का विचार) पत्र का उपयोग करते हुए रूसी भूमि पर ट्रेड-यूनियनवादी विचार या बर्न्सटीनवाद रोपना चाहते थे। लेकिन 'लीग' के पुराने सदस्यों ने, जो गिरफ़्तार नहीं हुए थे, १८९८ में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की पहली कांग्रेस की तैयारी और कार्यवाही में तथा कांग्रेस के बाद जारी किये गये 'घोषणापत्र' के लेखन में भाग लिया और इस प्रकार लेनिनवादी 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' की परंपराएं आगे चलायीं। – पृष्ठ १९१

121 'राबोचेये देलो' के लिए लेनिन द्वारा लिखा गया 'रूसी मज़दूरों के नाम' शीर्षक लेख अभी तक नहीं मिल पाया।

'रूस्काया स्तारिना' (रूसी प्राचीन काल)—म० इ० सेमेव्स्की द्वारा स्थापित ऐतिहासिक मासिक पत्रिका। यह पीटर्सबर्ग में १८७० से १९१८ तक प्रकाशित होती रही। पत्रिका में मुख्यतया रूस के राजनयिकों और सांस्कृतिक क्षेत्र के गण्यमान्य व्यक्तियों के संस्मरण, डायरियां, टिप्पणियां और पत्र प्रकाशित हुआ करते थे। विविध प्रकार की दस्तावेज़ी सामग्री भी इसमें दी जाती थी। – पृष्ठ १९२

122 यहां २७ अप्रैल (९ मई) १८९५ को यारोस्लाव्ल के बड़े कारख़ाने के हड़तालियों पर किये गये हमले की ओर संकेत है। कारख़ाने के प्रबंधकों ने मज़दूरी की नयी दरें लागू कीं जिससे मज़दूरों को नुक़सान पहुंचा। इसी कारण हड़ताल हुई जो सख़्ती से कुचल दी गयी।

१८९५ की यारोस्लाव्ल हड़ताल के संबंध में लेनिन ने एक लेख लिखा था पर उसकी प्रति अभी तक मिल न पायी। – पृष्ठ १९२

123 **'सेंट पीटर्सबर्ग राबोची लिस्तोक'** (सेंट पीटर्सबर्ग के मज़दूरों का समाचारपत्र)– पीटर्सबर्ग की 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' का मुखपत्र। इसके दो अंक निकले: पहला अंक फ़रवरी (जिसपर जनवरी की तारीख़ पड़ी थी) १८९७ में निकला। रूस में मिमिओग्राफ़ द्वारा इसकी ३००-४०० प्रतियां प्रकाशित की गयीं। दूसरा अंक (छपा हुआ) सितंबर १८९७ में जेनेवा में प्रकाशित हुआ।

उक्त समाचारपत्र ने यह लक्ष्य सामने रखा कि मज़दूर वर्ग के आर्थिक संघर्ष को विस्तृत राजनीतिक मांगों के साथ जोड़ दिया जाये। उसने मज़दूर वर्ग की पार्टी की स्थापना की आवश्यकता पर बल दिया।–पृष्ठ १९३

124 लेनिन द्वारा उल्लिखित **"गुप्त बैठक"** पीटर्सबर्ग में १४ और १७ फ़रवरी (नयी शैली के अनुसार २६ फ़रवरी–१ मार्च) १८९७ के बीच हुई। इसमें व्ला० इ० लेनिन, अ० अ० वानेयेव, ग० म० क्रजिजानोव्स्की और पीटर्सबर्ग की 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' के अन्य सदस्य– यानी साइबेरिया में निष्कासित किये जाने से पहले तीन दिन के लिए जेल से रिहा किये गये "बूढ़े" और 'संघर्ष लीग' के वे "तरुण" नेता उपस्थित थे जिन्होंने लेनिन की गिरफ़्तारी के बाद 'लीग' की बागडोर संभाली।– पृष्ठ १९४

125 **"लिस्तोक 'राबोत्निका'"** (कामगार का पत्र)–'विदेशों में स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' का अनियतकालिक पत्र। यह जेनेवा में १८९६ से १८९८ तक प्रकाशित होता रहा। कुल मिलाकर इसके दस अंक निकले। १-८ अंकों का संपादन 'श्रम मुक्ति' दल ने किया। जैसे ही 'संघ' का बहुमत "अर्थवाद" की ओर झुकने लगा, दल ने 'संघ' के प्रकाशनों का संपादन करने से इनकार कर दिया। 'लिस्तोक' के ९-१० अंकों (नवंबर १८९८) का संपादन "अर्थवादियों" ने किया।–पृष्ठ १९४

126 **'व० इ० ... का लेख'**–यहां संकेत व० प० इवानशिन द्वारा लिखे गये एक लेख की ओर है।–पृष्ठ १९६

127 ज़ार की राजनीतिक पुलिस नीली वर्दी पहनती थी।–पृष्ठ १९६

128 **आस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादी पार्टी की वियना कांग्रेस** २-६ नवंबर १९०१ तक हुई। इसमें पुराने गैनफ़ेल्ड कार्यक्रम (१८८८) के स्थान में पार्टी का

नया कार्यक्रम स्वीकृत किया गया। १८९९ की ब्रून कांग्रेस के निर्देशों पर एक विशेष समिति (व० एडलर आदि) द्वारा तैयार किये गये नये कार्यक्रम के मसौदे में बर्न्सटीनवाद को गंभीर रियायतें दी गयीं। – पृष्ठ २००

129 **हिर्श-डुंकेर वाली यूनियनें** – पूंजीवादी प्रगतिवादी पार्टी के नेता म० हिर्श और फ़० डुंकेर द्वारा १८६८ में क़ायम किये गये जर्मनी के सुधारवादी ट्रेड-यूनियन। पूंजी और श्रम के हितों की "सुसंगति" का समर्थन करते हुए हिर्श-डुंकेर ट्रेड-यूनियनों के संगठक मानते थे कि ट्रेड-यूनियनों में मज़दूरों के साथ पूंजीवादियों को प्रवेश देना संभव है। हड़तालों की आवश्यकता से वे इनकार करते थे। उनका यह प्रतिपादन था कि मज़दूरों को पूंजीवादी समाज के दायरे में रहते हुए ही क़ानून और ट्रेड-यूनियन संगठनों के ज़रिये पूंजीवादी शोषण से मुक्त किया जा सकता है। उनके मतानुसार ट्रेड-यूनियनों का मुख्य काम था मालिकों और मज़दूरों के बीच मध्यस्थता करना और धन-संग्रह करना। हड़तालों के प्रति हिर्श-डुंकेर ट्रेड-यूनियनों का इनकार का रवैया था और इसी कारण वे हड़ताल-तोड़क संगठनों में बदल गयीं। उनकी गतिविधियां मुख्यतया परस्पर-सहायता संस्थाओं और शैक्षणिक क्लबों तक ही सीमित हो गयीं। ये हिर्श-डुंकेर ट्रेड-यूनियन मई १९३३ तक बने रहे, पर पूंजीवादियों के समूचे प्रयत्नों और सरकार द्वारा उनके समर्थन के बावजूद वे जर्मन मज़दूर आंदोलन में कभी एक शक्ति न बन पायीं। १९३३ में हिर्श-डुंकेर ट्रेड-यूनियनों के अवसरवादी नेता फ़ासिस्ट "श्रम मोर्चे" में शामिल हो गये। – पृष्ठ २०४

130 **'मज़दूर आत्म-मुक्ति दल'** – पीटर्सबर्ग में १८९८ की शरद में "अर्थवादियों" द्वारा स्थापित एक छोटा-सा दल। कुछ ही महीनों के अपने अल्प जीवन में इसने अपने लक्ष्य और नियम प्रस्तुत करनेवाला एक घोषणापत्र (मार्च १८९९; 'नकानूने' नामक पत्रिका में जुलाई १८९९ में प्रकाशित) निकाला और मज़दूरों के बीच बांटने के लिए कई परचे प्रकाशित किये। – पृष्ठ २०६

131 **'नकानूने'** (पूर्ववेला) – लंदन में नरोदवादी प्रवृत्ति की एक मासिक पत्रिका, जो रूसी भाषा में जनवरी १८९९ से फ़रवरी १९०२ तक प्रकाशित होती रही। ए० अ० सेरेब्रियाकोव इसके संपादक थे। इसके कुल ३७ अंक निकले। 'नकानूने' के इर्द-गिर्द विभिन्न निम्न-पूंजीवादी पार्टियों और प्रवृत्तियों का जमघट लगा। – पृष्ठ २०७

132 'श्रम मुक्ति' दल और 'राबोचेये देलो' संपादक-मंडल के बीच का वाद-विवाद लेनिन की 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के कार्य' (जेनेवा, १८९८) शीर्षक पुस्तिका के समीक्षण से आरंभ हुआ। यह समीक्षण अप्रैल १८९९ में 'राबोचेये देलो' के पहले अंक में प्रकाशित हुआ था। संपादकों ने इस बात से इनकार किया कि विदेशों में स्थित 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' का स्वरूप अवसरवादी है और रूस के सामाजिक-जनवादी संगठनों में "अर्थवादियों" का प्रभाव बढ़ रहा है। उक्त समीक्षण में उन्होंने निश्चयपूर्वक कहा कि **"इस पुस्तक का विचार 'राबोचेये देलो' के संपादक-मंडल के कार्यक्रम से पूर्णतया मेल खाता है"** और यह कि वे नहीं जानते कि पुस्तिका की भूमिका में अक्सेलरोद "किन 'तरुण' साथियों के बारे में लिख रहे हैं"।

प० ब० अक्सेलरोद ने अगस्त १८९९ में "'राबोचेये देलो' के संपादकों के नाम पत्र" लिखकर यह दिखा दिया था कि लेनिन की 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के कार्य' शीर्षक पुस्तिका में क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद की जो स्थिति दिखायी गयी है उसे रूसी और विदेशी अवसरवादियों की स्थिति के बराबर दिखाने के 'राबोचेये देलो' के प्रयत्न निराधार हैं। बाद में 'राबोचेये देलो' के विरुद्ध वाद-विवाद 'ईस्क्रा' और 'ज़ार्या' में जारी रहा।—पृष्ठ २०८

133 यहां *«Der Sozialdemokrat»* (सामाजिक-जनवादी) नामक अख़बार की ओर संकेत है। समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून के अमल के दौरान यह जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी का केंद्रीय मुखपत्र था। यह २८ सितंबर, १८७९ से २२ सितंबर १८८८ तक ज़ूरिच में और फिर १ अक्तूबर, १८८८ से २७ सितंबर, १८९० तक लंदन में प्रकाशित होता रहा। १८७९-८० में ग० फ़ोलमार इसके संपादक रहे, और जनवरी १८८१ से ए० बर्न्सटीन जो उस समय एंगेल्स से बहुत ही प्रभावित थे। एंगेल्स के विचारधारात्मक नेतृत्व ने 'सामाजिक-जनवादी' की मार्क्सवादी प्रवृत्ति का मार्ग प्रशस्त किया। असाधारण क़ानून द्वारा उत्पन्न प्रारंभिक अव्यवस्था पर पार पानेवाले जर्मन मज़दूर समूहों की युयुत्सुता उक्त समाचारपत्र के काम की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण रही: अलग अलग ग़लतियों के बावजूद 'सामाजिक-जनवादी' ने बराबर क्रांतिकारी कार्यनीति का समर्थन किया और जर्मन सामाजिक-जनवाद की शक्तियों के एकीकरण और संगठन में प्रधान भूमिका अदा की। समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून के रद्द किये जाने के बाद इस समाचारपत्र का प्रकाशन बंद हो गया। तब *«Vorwärts»* फिर से पार्टी का केंद्रीय मुखपत्र बन गया।—पृष्ठ २१४

134 यहां यू० ओ० मार्तोव की 'अति आधुनिक रूसी समाजवादी का तराना' शीर्षक व्यंग्यात्मक कविता की ओर संकेत है। यह अप्रैल १९०१ में 'ज़ार्या' के पहले अंक में 'नरसिस तुपोरिलोव' के हस्ताक्षरों के साथ प्रकाशित हुई थी। कविता में "अर्थवादियों" और उनके द्वारा स्वत:स्फूर्त आंदोलन के अनुकूलन का मज़ाक़ उड़ाया गया था।–पृष्ठ २१६

135 १८८९ में ज़ार की सरकार ने किसानों पर ज़मींदारों की सत्ता दृढ़ करने के उद्देश्य से ज़ेम्स्त्वो के अधिकारियों का प्रशासकीय पद स्थापित किया था। ज़ेम्स्त्वो के अधिकारी स्थानीय अभिजात ज़मींदारों में से नियुक्त किये जाते थे और उन्हें किसानों के ऊपर न केवल प्रशासकीय बल्कि क़ानूनी अधिकार भी प्राप्त था; यहां तक कि वे किसानों को गिरफ़्तार कर सकते थे तथा शारीरिक दंड भी दे सकते थे।–पृष्ठ २२६

136 **'लिथुआनिया, पोलैंड और रूस के यहूदी मज़दूरों का आम संघ' (बुंद)** – यहूदी सामाजिक-जनवादी दलों की १८९७ में विल्नो में आयोजित संस्थापक कांग्रेस में यह क़ायम किया गया। यह मुख्यत: रूस के पश्चिमी प्रदेशों के अर्द्ध-सर्वहारावादी यहूदी कारीगरों की संस्था थी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की पहली कांग्रेस (१८९८) में बुंद ने पार्टी में प्रवेश किया, पर "एक ऐसे स्वायत्त संगठन के रूप में जो केवल यहूदी सर्वहारा से संबंधित प्रश्नों पर स्वाधीन था"। ('कांग्रेसों, सम्मेलनों तथा केंद्रीय समिति के पूर्णाधिवेशनों के प्रस्तावों और निर्णयों में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी', सातवां संस्करण, भाग १, १९५४, पृष्ठ १४)।

बुंद रूस के मज़दूर आंदोलन में राष्ट्रवाद और पार्थक्यवाद का वाहक था और इसने सामाजिक-जनवादी आंदोलन के मुख्य प्रश्नों पर अवसरवादी रवैया अपना लिया। जब रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस ने उसकी यह मांग ठुकरा दी कि केवल उसी को यहूदी सर्वहारा का एकमात्र प्रतिनिधि माना जाये तो बुंद संगठन पार्टी से अलग हो गया। १९०६ में बुंद ने चौथी (एकता) कांग्रेस के एक प्रस्ताव के आधार पर फिर से रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी में प्रवेश किया।

रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के अंदर बुंद-वादी बराबर पार्टी के अवसरवादी पक्ष ("अर्थवादी", मेन्शेविक, विसर्जनवादी) का समर्थन और बोल्शेविकों तथा बोल्शेविज़्म के विरुद्ध संघर्ष करते रहे।

बोल्शेविकों के कार्यक्रम में राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार की मांग थी, तो बुंद ने इसके विरोध में सांस्कृतिक-जातीय स्वायत्तता की मांग पेश कर दी। स्तोलीपिन प्रतिक्रिया के काल में बुंद ने विसर्जनवादी रवैया अपनाया और पार्टी विरोधी अगस्त गुट के निर्माण में सक्रिय रूप से हाथ बंटाया। पहले विश्वयुद्ध (१९१४-१९१८) के दौरान में उसने सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी रुख़ अपना लिया। १९१७ में उसने प्रतिक्रांतिकारी अस्थायी सरकार का समर्थन किया और महान् अक्तूबर समाजवादी क्रांति के शत्रुओं के कंधे से कंधा लगाकर लड़े। विदेशी सैनिकी हस्तक्षेप और गृहयुद्ध के दौरान में बुंद के नेतागणों ने प्रतिक्रांतिवादी शक्तियों का साथ दिया। उसी समय बुंद के साधारण सदस्यों के बीच सोवियत सत्ता को सहयोग देने के पक्ष में परिवर्त्तन दिखाई देने लगा। मार्च १९२१ में बुंद ने अपने विसर्जन का निर्णय कर लिया और उसके सदस्यों के एक हिस्से ने प्रवेश संबंधी नियमों के आधार पर रूस की कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) में प्रवेश किया। – पृष्ठ २२७

137 यहां विद्यार्थियों तथा मज़दूरों की बड़े पैमाने की क्रांतिकारी कार्रवाइयों की ओर संकेत है: फ़रवरी-मार्च १९०१ में पीटर्सबर्ग, मास्को, कीयेव, ख़ारकोव, कज़ान, तोम्स्क और रूस के अन्य नगरों में राजनीतिक प्रदर्शन, सभाएं और हड़तालें हुई थीं।

१९००-१९०१ के शैक्षणिक वर्ष में विद्यार्थियों का आंदोलन शैक्षणिक मांगों के आधार पर आरंभ हुआ था। फिर इसे स्वेच्छाचारी शासन की प्रतिक्रियावादी नीति के विरुद्ध क्रांतिकारी राजनीतिक कार्रवाइयों का स्वरूप प्राप्त हुआ। वर्गचेतन मज़दूरों ने इसका समर्थन किया और रूसी समाज के सभी तबक़ों में इसके प्रति सहानुभूति दिखाई दी। कीयेव विश्वविद्यालय के १८३ विद्यार्थियों को एक सभा में भाग लेने के लिए ज़बरदस्ती फ़ौज में भर्ती किया गया और यही प्रदर्शनों और हड़तालों का प्रत्यक्ष कारण रहा। (देखिये लेनिन का 'फ़ौज में १८३ विद्यार्थियों की ज़बरदस्ती भर्ती' शीर्षक लेख। संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड ४, पृष्ठ ३८८-३९३)। क्रांतिकारी कार्रवाइयों में भाग लेनेवालों के विरुद्ध सरकार ने सख़्ती से काम लिया: पुलिस और कज़ाकों ने प्रदर्शनकारियों को तितर-बितर कर दिया और निर्दयता से मारा-पीटा; सैकड़ों विद्यार्थियों को गिरफ़्तार किया गया और उच्च शिक्षा-संस्थाओं से निकाल दिया गया। ४ (१७) मार्च, १९०१ को पीटर्सबर्ग में कज़ान गिरजाघर के पासवाले

चौक में हुए प्रदर्शन में भाग लेनेवालों के बारे में ये कार्रवाइयां विशेष कठोर रहीं। फ़रवरी-मार्च १६०१ की घटनाएं रूस में बढ़ते हुए क्रांतिकारी आंदोलन की गवाह रहीं। राजनीतिक नारों के साथ मज़दूरों का आंदोलन में भाग लेना बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा। – पृष्ठ २४२

138 **'स्वोबोदा'** (स्वतंत्रता) – "क्रांतिकारी-समाजवादियों" के मई १६०१ में स्थापित 'स्वोबोदा' दल द्वारा १६०१-१६०२ में स्विट्ज़रलैंड में प्रकाशित पत्रिका। इसके केवल दो अंक निकले: पहला १६०१ में और दूसरा १६०२ में। 'स्वोबोदा' ने निम्नलिखित सामग्री भी प्रकाशित की: 'क्रांति की पूर्ववेला। सिद्धांत और कार्यनीति विषयक समस्याओं का अनियतकालिक समीक्षण', अंक १; समाचार-पत्रिका 'ओत्क्लिकी' (प्रतिध्वनियां) अंक १, नदेज्दिन की 'रूस में क्रांतिवाद का पुनर्जन्म' शीर्षक पुस्तिका, इत्यादि।

'स्वोबोदा' दल ने "न कोई गंभीर दृष्टिकोण, कार्यक्रम, कार्यनीति और संगठन बनाये और न ही वह जनसमूहों में जड़ पकड़ पाया" (व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड २०, पृष्ठ ३३२)। उक्त दल ने अपने प्रकाशनों में आतंकवाद और "अर्थवाद" के विचार प्रस्तुत किये और रूस के 'ईस्क्रा' विरोधी दलों का समर्थन किया। १६०३ में इस दल का अस्तित्व समाप्त हो गया। – पृष्ठ २४५

139 देखिये का० मार्क्स और फ़े० एंगेल्स, 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', भाग ४। – पृष्ठ २५६

140 'ईस्क्रा' के सातवें अंक (अगस्त १६०१) में "मज़दूर आंदोलन और मिलों तथा कारख़ानों से प्राप्त पत्र" शीर्षक विभाग में पीटर्सबर्ग के एक बुनकर का पत्र छपा था। यह अग्रणी मज़दूरों पर लेनिन के 'ईस्क्रा' के बड़े भारी प्रभाव का साक्षी था।

"... मैंने बहुत से सहयोगी मज़दूरों को 'ईस्क्रा' दिखाया और उसकी प्रति इतने लोगों ने पढ़ी कि पढ़ते पढ़ते वह जीर्ण-शीर्ण हो गयी। पर हम उसे थाती के समान संभाले हुए हैं," उक्त बुनकर ने लिखा था। "'ईस्क्रा' हमारे अपने कार्य के बारे में, पूरे रूस के कार्य के बारे में लिखता है। इस काम का मूल्यांकन कोपेकों में नहीं किया जा सकता है, न ही वह काम-घंटों की नाप से आंका जा सकता है ... गत इतवार को मैंने ग्यारह लोगों को इकट्ठा कर उन्हें 'कहां से आरंभ करें?' शीर्षक

लेख पढ़ सुनाया और शाम को देर तक उसपर चर्चा की। 'ईस्क्रा' कितनी सच्चाई के साथ हर बात व्यक्त करता है, कैसे हर विषय के मर्म को छूता है ... हम आपके 'ईस्क्रा' को पत्र लिखना और आपसे प्रार्थना करना चाहेंगे कि आप हमें न केवल यह सिखा दें कि कैसे आरंभ करें बल्कि यह भी कि किस तरह जीयें और किस तरह मरें।" – पृष्ठ २६३

141 यहां प० ब० स्त्रूवे के 'एकतंत्र और ज़िला बोर्ड' शीर्षक लेख की ओर संकेत है जो फ़रवरी और मई १९०१ में 'ईस्क्रा' के दूसरे और चौथे अंकों में प्रकाशित हुआ था। 'ईस्क्रा' में स्त्रूवे के लेख का प्रकाशन और 'ज़ार्या' द्वारा स्त्रूवे (र० न० स०) की भूमिका सहित स० यू० वित्ते के "गोपनीय स्मरणपत्र" 'एकतंत्र और ज़िला बोर्ड' का मुद्रण जनवरी १९०१ में 'ईस्क्रा' और 'ज़ार्या' के संपादक-मंडल और "जनवादी विरोधी दल" (स्त्रूवे के रूप में) के बीच हुए समझौते के फलस्वरूप संभव हो सका था। ग० व० प्लेख़ानोव के समर्थन से प० ब० अक्सेल्रोद और व० इ० ज़ासुलिच द्वारा लेनिन के विरुद्ध संपन्न किया गया यह समझौता अल्पजीवी सिद्ध हुआ। १९०१ के वसंत में सामाजिक-जनवादियों और पूंजीवादी जनवादियों के बीच सहयोग जारी रहने की पूरी असंभवनीयता स्पष्ट हुई और यह गुट छिन्न-भिन्न हो गया। – पृष्ठ २६६

142 "**रोस्सीया**' (रूस) – १८९९ से १९०२ तक पीटर्सबर्ग में प्रकाशित नरम उदारवादी दैनिक। ग० प० सज़ोनोव इसके संपादक थे और व्यंग्य-लेखक अ० व० एम्फ़ीतिआत्रोव तथा व० म० दोरोशेविच सहयोगी। रूसी समाज के पूंजीवादी क्षेत्रों में यह पत्र लोकप्रिय था। जनवरी १९०२ में एम्फ़ीतिआत्रोव के 'मेसर्स ओब्मानोव' शीर्षक लेख के कारण सरकार ने पत्र बंद कर दिया। – पृष्ठ २६९

143 '**सेंट पीटरबर्गस्कीये वेदोमोस्ती**' (पीटर्सबर्ग रेकार्डर) – १७२८ से पीटर्सबर्ग में प्रकाशित समाचारपत्र। यह १७०३ से प्रकाशित पहले रूसी समाचारपत्र 'वेदोमोस्ती' (रेकार्डर) का क्रम जारी रखे हुए था। १७२८ से १८७४ तक यह विज्ञान अकादमी द्वारा और १८७५ से जन शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रकाशित होता रहा। 'सेंट पीटरबर्गस्कीये वेदोमोस्ती' १९१७ के अंत तक निकलता रहा। – पृष्ठ २७२

144 **'रूस्स्कीये वेदोमोस्ती'** (रूसी रेकार्डर) – १८६३ से मास्को में प्रकाशित समाचारपत्र। इसमें नरम उदारवादी बुद्धिजीवी श्रेणी के दृष्टिकोण व्यक्त होते थे। १९ वीं शताब्दी के नवें और अंतिम दशकों में जनवादी लेखक व० ग० कोरोलेन्को, म० ये० सात्तिकोव-श्चेद्रिन और ग० इ० उस्पेन्स्की आदि इसमें लिखा करते थे। इसमें उदारवादी नरोदवादियों के लेख भी प्रकाशित हुआ करते थे। १९०५ से यह सांविधानिक-जनवादी पार्टी (कैडेट) के दक्षिण पंथ का मुखपत्र बन गया। लेनिन के शब्दों में 'रूस्स्कीये वेदोमोस्ती' "**दक्षिणपंथी** कैडेटवाद और नरोदवादी रुझान" का एक विचित्र मिश्रण था। (संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड १९, पृष्ठ १११।)

१९१८ में दूसरे प्रतिक्रांतिकारी समाचारपत्रों के साथ उक्त पत्र का प्रकाशन बंद कर दिया गया। – पृष्ठ २७२

145 **वर्ग-संघर्ष की ब्रेन्तानो धारणा**, "ब्रेन्तानवाद" – "एक उदार-पूंजीवादी मत, जो सर्वहारा के ग़ैरक्रांतिकारी 'वर्ग'-संघर्ष को स्थान देता है" (व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड २८, पृष्ठ २०९), पूंजीवाद के दायरे में ही कारख़ाना क़ानून और मज़दूरों के ट्रेड-यूनियन संगठनों के ज़रिये मज़दूरों के सवालों के हल किये जाने की संभावना का समर्थन करता है। पूंजीवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के कैथेदेर-समाजवादी मत के एक मुख्य प्रतिनिधि ब्रेन्तानो के नाम पर इसका नामकरण हुआ है। – पृष्ठ २७२

146 **ब–व** – साविन्कोव, ब० व० – समाजवादी-क्रांतिकारी नेताओं में से एक। – पृष्ठ २७८

147 यहां संकेत पीटर्सबर्ग में १८९९ के वसंत में व० अ० गुतोव्स्की (बाद में प्रसिद्ध मेन्शेविक ए० मयेव्स्की) द्वारा निर्मित **'पूंजी विरोधी संघर्ष के लिए मज़दूर दल'** की ओर है। इस दल में कई मज़दूर और बुद्धिजीवी शामिल थे। पीटर्सबर्ग के मज़दूर आंदोलन से दल का घनिष्ठ संपर्क नहीं था और १८९९ की गर्मियों में लगभग सभी सदस्यों की गिरफ़्तारी के बाद वह टूट गया। इसके दृष्टिकोण "अर्थवादियों" के से थे। दल ने 'हमारा कार्यक्रम' शीर्षक पर्चा निकाला पर वह वितरित नहीं हुआ। – पृष्ठ २७९

148 **न० न०** – स० न० प्रोकोपोविच, एक सक्रिय "अर्थवादी" जो बाद में कैडेट बना। – पृष्ठ २८८

149 हर संभावना से यहां संकेत लेनिन की अ० स० मार्तिनोव के साथ पहली भेंट की ओर है जो १९०१ में हुई थी।–पृष्ठ २८९

150 **"स्त्रूवे-वाद"**–क़ानूनी मार्क्सवाद (यह नामकरण उसके मुख्य प्रतिनिधि प० ब० स्त्रूवे के नाम पर हुआ)।–पृष्ठ २९४

151 **अफ़ानासी इवानोविच और पुलख़ेरिया इवानोव्ना**–न० व० गोगोल की 'अतीत के ज़मींदार' शीर्षक रचना में वर्णित छोटे प्रादेशिक ज़मींदारों का पितृसत्तात्मक परिवार।–पृष्ठ २९४

152 यहां लेनिन का संकेत पीटर्सबर्ग के सामाजिक-जनवादियों ("बूढ़ों") के अध्ययन-मंडल की ओर है। लेनिन ही इसके प्रधान थे। इसने १८९५ में 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' की स्थापना के लिए आधार का काम दिया।–पृष्ठ ३०८

153 **'ज़ेम्ल्या-इ-वोल्या-वादी'**–क्रांतिकारी नरोदवादियों के गुप्त संगठन 'ज़ेम्ल्या-इ-वोल्या' (भूमि और स्वतंत्रता) के अनुयायी। यह संगठन १८७६ की शरद में पीटर्सबर्ग में स्थापित किया गया था। इसमें मार्क और ओल्गा नतानसन, ग० व० प्लेख़ानोव, ओ० व० आप्तेकमन, स० म० क्रावचीन्स्की, स० ल० पेरोव्स्काया, अ० द० और अ० फ़० मिख़ाइलोव इत्यादि शामिल थे।

'ज़ेम्ल्या-इ-वोल्या' के अनुयायी किसान वर्ग को रूस में मुख्य क्रांतिकारी शक्ति मानते थे और उन्होंने ज़ारशाही विरोधी संघर्ष के लिए इस वर्ग को जागृत करने का प्रयत्न किया। उन्होंने रूस के ताम्बोव, वोरोनेज इत्यादि गुबर्नियों में क्रांतिकारी कार्य किया।

किसान वर्ग के बीच असफल कार्य और बढ़ते हुए सरकारी दमन के परिणामस्वरूप १८७९ में 'ज़ेम्ल्या-इ-वोल्या' संगठन में एक आतंकवादी दल तैयार हुआ। इसने किसानों के बीच क्रांतिकारी कार्य चलाने से इनकार कर दिया। इसका विश्वास था कि ज़ारशाही राजनयिकों के विरुद्ध आतंकपूर्ण कार्रवाइयां ही ज़ारशाही विरोधी संघर्ष का मुख्य साधन हैं। १८७९ में वोरोनेज़ में आयोजित एक सम्मेलन के अवसर पर 'ज़ेम्ल्या-इ-वोल्या' दो संगठनों में विभक्त हो गया। ये थे 'नरोदनाया वोल्या' (जनता का संकल्प) और 'चोर्नी पेरेदेल' (ग्राम बंटवारा)। पहले ने

आतंकवादी मार्ग अपनाया जबकि दूसरा 'ज़ेम्ल्या-इ-वोल्या' के ही दृष्टिकोण अपनाये रहा। बाद को 'चोर्नी पेरेदेल' के अनुयायियों के एक दल – प्लेख़ानोव, अक्सेलरोद, ज़ासुलिच, डेयट्श, इग्नातोव – ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाये और १८८३ में विदेशों में पहला रूसी मार्क्सवादी संगठन – 'श्रम मुक्ति' दल – स्थापित किया। – पृष्ठ ३१७

154 यहां संकेत **'पेरिस में १९०० में आयोजित अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस के सामने प्रस्तुत की गयी रूसी सामाजिक-जनवादी आंदोलन विषयक रिपोर्ट'** की ओर है। यह रिपोर्ट 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' द्वारा १९०१ में जेनेवा में प्रकाशित की गयी थी। यह 'संघ' के निर्देशों के अनुसार 'राबोचेये देलो' के संपादक-मंडल ने लिखी थी। – पृष्ठ ३२९

155 **'यूज्नी राबोची'** (दक्षिणी मज़दूर) – इसी नाम के एक दल द्वारा जनवरी १९०० से अप्रैल १९०३ तक ग़ैर-क़ानूनी ढंग से प्रकाशित समाचारपत्र। इसके बारह अंक निकले। इ० ख़० ललयान्स, अ० विलेन्स्की ("इल्या"), ओ० आ० कोगन (येरमान्स्की), ब० स० त्सीत्लिन (बातूर्स्की), ए० य० तथा ए० स० लेविन, व० न० रोज़ानोव इत्यादि लोग समय समय पर इसके संपादक और लेखक रहे।

'यूज्नी राबोची' दल ने "अर्थवाद" और आतंकवाद का विरोध, आम क्रांतिकारी आंदोलन के विकास की आवश्यकता का समर्थन और रूस के दक्षिण में व्यापक क्रांतिकारी कार्य किया। अगस्त १९०२ में 'यूज्नी राबोची' दल ने 'ईस्क्रा' के संपादक-मंडल के साथ संयुक्त कार्य के विषय में वार्ता की जिसके परिणामस्वरूप 'ईस्क्रा' के साथ एकजुटता के संबंध में एक वक्तव्य निकला। यह १ नवंबर १९०२ को 'ईस्क्रा' के २७ वें अंक में और दिसंबर १९०२ में 'यूज्नी राबोची' के १० वें अंक में प्रकाशित किया गया। पर साथ-साथ स्थिति यह रही कि जनवादी केंद्रवाद के सिद्धांतों पर आधारित पार्टी के निर्माण की 'ईस्क्रा' की संगठनात्मक योजना से यह दल पूर्णतया सहमत नहीं रहा। जैसा कि लेनिन ने दिखा दिया, यह दल ऐसे संगठनों में से एक रहा, "जो शाब्दिक रूप में 'ईस्क्रा' को प्रमुख मुखपत्र मानते हुए भी असल में अपने ही ढर्रे पर चल रहे थे और सिद्धान्त के मामले में अस्थिरता दिखाते थे"। (देखिये, प्रस्तुत खंड, पृष्ठ ३९५)।

रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस ने "पार्टी

की एकता और पुनर्निर्माण की दिशा में 'यूज्नी राबोची' दल की फलदायी साहित्यिक और संगठनात्मक गतिविधियों" पर ज़ोर देते हुए 'यूज्नी राबोची' का प्रकाशन बंद करने और उसे प्रकाशित करनेवाले दल का तथा अन्य अलग-थलग सामाजिक-जनवादी दलों और संगठनों का विसर्जन करने का निर्णय किया। – पृष्ठ ३३६

156 यहां व्ला० इ० लेनिन के मन में 'राबोचाया मीस्ल' द्वारा प्रकाशित 'रूस के मज़दूर वर्ग की स्थिति के संबंध में प्रश्न' (१८९८) शीर्षक परचा और 'रूस के मज़दूर वर्ग की स्थिति के संबंध में सामग्री एकत्रित करने के लिए प्रश्न' (१८९९) शीर्षक पुस्तिका है। मज़दूरों के रहन-सहन और काम की स्थितियों के संबंध में परचे में १७ प्रश्न थे और पुस्तिका में १५८। – पृष्ठ ३३९

157 १८८५ के हड़ताल आंदोलन ने व्लादीमिर, मास्को, त्वेर और औद्योगिक केंद्र के अन्य गुबर्नियों में स्थित बहुत-से वस्त्रोद्योग उद्यमों को अपनी लपेट में लिया था। जनवरी १८८५ में निकोल्स्क स्थित साव्वा मोरोज़ोव मिल के मज़दूरों की हड़ताल (मोरोज़ोव हड़ताल) इनमें सबसे बड़ी थी। मज़दूरों की मुख्य मांगें थीं जुर्मानों में कमी, मज़दूरी की बेहतर शर्तें इत्यादि। अग्रणी मज़दूर प० अ० मोइसेयेन्को, ल० इवानोव और व० स० वोल्कोव ने हड़ताल का निर्देशन किया। मोरोज़ोव हड़ताल में लगभग ८,००० मज़दूरों ने भाग लिया। सैनिकों ने यह हड़ताल कुचल डाली। हड़ताल में भाग लेनेवाले ३३ मज़दूरों पर मुक़दमा चलाया गया और ६०० से अधिक मज़दूरों को निष्कासित किया गया। १८८५-८६ के हड़ताल आंदोलन के प्रभाव के कारण ज़ारशाही सरकार को ३ (१५) जून, १८८६ का क़ानून (तथाकथित 'जुर्माना क़ानून') जारी करना पड़ा। – पृष्ठ ३४०

158 **'विदेशों में स्थित रूसी क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद लीग'** अक्तूबर १९०१ में लेनिन की पहलक़दमी पर क़ायम की गयी। 'ईस्क्रा' का विदेशी संगठन और 'सोत्सिअल-देमोक्रात' क्रांतिकारी संगठन (इसमें 'श्रम मुक्ति' दल भी शामिल था) लीग से संबद्ध थे। 'लीग' का कार्य था क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद के विचार फैलाना और युयुत्सु सामाजिक-जनवादी संगठन के निर्माण में सहायता देना। 'लीग' विदेशों में 'ईस्क्रा' संगठन

का प्रतिनिधित्व करती थी। वह विदेशों में स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों में से 'ईस्क्रा' के समर्थकों को एकत्रित करती थी, 'ईस्क्रा' के लिए आर्थिक सहायता जुटाती थी, रूस में यह समाचारपत्र भेज देती थी और लोकप्रिय मार्क्सवादी साहित्य प्रकाशित करती थी। 'लीग' ने कितने ही 'बुलेटिन' और पुस्तिकाएं प्रकाशित कीं। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस ने 'लीग' को विदेशों में एक समिति की प्रतिष्ठावाले एकमात्र पार्टी संगठन के नाते मंज़ूरी दी और 'लीग' के लिए यह लाज़िमी कर दिया गया कि वह रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केंद्रीय समिति के निर्देश और नियंत्रण में काम करे।

दूसरी कांग्रेस के बाद मेन्शेविक 'लीग' में घुस गये और लेनिन तथा बोल्शेविकों के विरुद्ध संघर्ष आरंभ कर दिया। अक्तूबर १९०३ में आयोजित 'लीग' की दूसरी कांग्रेस में उन्होंने बोल्शेविकों पर छींटाकशी की और इसके बाद लेनिन तथा उनके समर्थक कांग्रेस से चले गये। मेन्शेविकों ने रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस द्वारा मंज़ूर की गयी पार्टी की नियमावली के विरुद्ध नये नियम पास करवा लिये। इसके बाद 'लीग' मेन्शेविकों का गढ़ बन गयी और १९०५ तक बनी रही।—पृष्ठ ३४६

159 लेनिन द० इ० पिसारेव के 'अपक्व विचार की भूलें' शीर्षक लेख से उद्धरण दे रहे हैं।—पृष्ठ ३६४

160 **"लिस्तोक 'राबोचेवो देला'"**—'राबोचेये देलो' पत्रिका का अनियतकालिक क्रोड़पत्र जो जेनेवा में जून १९०० से जुलाई १९०१ तक प्रकाशित होता था। कुल मिलाकर इसके आठ अंक निकले।—पृष्ठ ३६४

161 लेनिन का संकेत यहां का० मार्क्स लिखित 'लुई बोनापार्ट का अठारहवां ब्रूमेयर' के निम्नलिखित परिच्छेद की ओर है:

"हेगेल ने कहीं लिखा है कि विश्व इतिहास की सभी महत्वपूर्ण घटनाएं और व्यक्ति जैसे दो बार उत्पन्न होते हैं। वह यह जोड़ना भूल गये कि पहली बार दुखान्त नाटक के रूप में और दूसरी बार प्रहसन के रूप में।"—पृष्ठ ३६५

162 नवंबर-दिसंबर १९०१ में रूस में विद्यार्थियों के प्रदर्शनों की एक लहर दौड़ी जिसका मज़दूरों ने समर्थन किया। निज्नी नोवगोरोद (म० गोर्की

के निष्कासन के संबंध में), मास्को (न० अ० दोब्रोल्यूबोव की स्मृति में एक समारोह-संगठन की मनाही के विरुद्ध) और येकातेरिनोस्लाव के प्रदर्शनों और कीयेव, मास्को, ख़ारकोव और पीटर्सबर्ग के विद्यार्थियों की सभाओं और उपद्रवों से संबंधित संवाद 'ईस्क्रा' के २० दिसंबर १९०१ के १३ वें और १ जनवरी १९०२ के १४ वें अंकों में 'हमारे सामाजिक जीवन से' शीर्षक विभाग में प्रकाशित किये गये थे। 'ईस्क्रा' के १३ वें अंक में लेनिन के 'प्रदर्शनों का आरंभ' (देखिये, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड ५, पृष्ठ २९५-२९८) और 'ईस्क्रा' के १४ वें अंक में ग० व० प्लेख़ानोव के 'प्रदर्शनों के बारे में' शीर्षक लेखों में भी प्रदर्शनों के संबंध में लिखा गया था।—पृष्ठ ३६८

163 **यनिचार**—१४ वीं शताब्दी में तुर्की (ओटोमन) साम्राज्य द्वारा संगठित नियमित पैदल सेना। यही सुलतान की मुख्य पुलिस शक्ति थी। यनिचार अपनी भयानक पाशविकता के लिए कुख्यात थे। यह पैदल १८२६ में विघटित किया गया। लेनिन ने इस संज्ञा का प्रयोग ज़ारशाही पुलिस के लिए किया है।—पृष्ठ ३७०

164 **अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी ब्यूरो**—दूसरी इंटरनेशनल की स्थायी कार्यकारिणी और समाचार समिति। इसमें इंटरनेशनल के अन्तर्गत सभी समाजवादी पार्टियों के सदस्यों के प्रतिनिधि शामिल थे। अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी ब्यूरो में ग० व० प्लेख़ानोव और ब० न० क्रिचेव्स्की रूसी सामाजिक-जनवादियों के प्रतिनिधि थे। १९०५ में व्ला० इ० लेनिन रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी ब्यूरो के सदस्य बने। १९१४-१८ के प्रथम विश्व युद्ध के दौरान में अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी ब्यूरो ने सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी रुख़ अपनाया और वस्तुतः मज़दूरों की अंतर्राष्ट्रीय संस्था के प्रधान के नाते उसका अस्तित्व समाप्त हो गया।—पृष्ठ ३७७

165 **"'सोत्सिअल-देमोक्रात' क्रांतिकारी संगठन"** की स्थापना 'विदेशों में स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' की फूट के बाद मई १९०० में 'श्रम मुक्ति' दल और उसी के समान दृष्टिकोण रखनेवाले लोगों ने की। एक परचे के रूप में प्रकाशित अपील में उसने अपने लक्ष्य इन शब्दों में घोषित किये: "रूसी सर्वहारा के बीच समाजवादी आंदोलन की सहायता करना" और मार्क्सवाद की तोड़-मरोड़ के हर प्रयत्न के विरुद्ध

संघर्ष करना। 'सोत्सिश्रल-देमोक्रात' संगठन ने रूसी में 'कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र', ग० व० प्लेखानोव के कई लेख इत्यादि प्रकाशित किये। अक्तूबर १६०१ में लेनिन के सुझाव पर यह विदेशों में स्थित 'ईस्क्रा' संगठन के साथ मिल गया और इससे 'विदेशों में स्थित रूसी क्रांतिकारी सामाजिक-जनवादी लीग' का निर्माण हुआ। – पृष्ठ ३७८

166 यहां संकेत द० ब० रियाज़ानोव, यू० म० स्तेक्लोव (नेवज़ोरोव), ए० ल० गुरेविच (व० दनेविच, ये० स्मिर्नोव) के दल की ओर है। १६०० की गरमियों में पेरिस में इसकी स्थापना हुई और मई १६०१ में इसका नाम 'बोर्बा' (संघर्ष) रखा गया। रूसी सामाजिक-जनवाद की क्रांतिकारी और अवसरवादी प्रवृत्तियों का समन्वय कराने के प्रयत्न में 'बोर्बा' दल ने विदेशों में स्थित सामाजिक-जनवादी संगठनों के एकीकरण का सुझाव दिया, इस संबंध में 'ईस्क्रा' तथा 'ज़ार्या' संगठन, 'सोत्सिश्रल-देमोक्रात' दल और 'रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' के साथ वार्तालाप किया और जेनेवा सम्मेलन जून १६०१ तथा "एकता कांग्रेस" (अक्तूबर १६०१) में भाग लिया। १६०१ की शरद में 'बोर्बा' दल ने अपने को एक स्वतंत्र साहित्यिक संगठन के रूप में ढाल लिया और अपने प्रकाशनों के विषय में घोषणा की। इसने अपने प्रकाशनों ('पार्टी कार्यक्रम की तैयारी के लिए सामग्री', खंड १-३, 'लेतूची लिस्तोक' इत्यादि) में मार्क्सवादी क्रांतिकारी सिद्धांत की तोड़-मरोड़ की और संगठन के संबंध में लेनिन के सिद्धांतों तथा रूसी क्रांतिकारी सामाजिक-जनवाद की कार्यनीति के प्रति विरोधी रुख़ अपनाया। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में 'बोर्बा' दल को प्रवेश नहीं दिया गया क्योंकि वह सामाजिक-जनवादी कार्यनीति और दृष्टिकोणों से विदा ले चुका था, विघटनात्मक गतिविधियां अपनाये हुए था और रूस के सामाजिक-जनवादी संगठनों से संपर्क स्थापित करने से रह गया था। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस के निर्णयों के अनुसार 'बोर्बा' दल विसर्जित किया गया। – पृष्ठ ३७६

167 जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी के केंद्रीय मुखपत्र *«Vorwärts»* और 'ज़ार्या' के बीच का वाद-विवाद मार्तोव (Jgnotus) के 'जर्मन सामाजिक-जनवाद में लूबेक की कांग्रेस' शीर्षक लेख ('ज़ार्या' अंक २-३, दिसंबर १६०१) को लेकर आरंभ हुआ। मार्तोव ने ब० न० क्रिचेव्स्की द्वारा *«Vorwärts»* को

फ़ांसीसी समाजवादी आंदोलन के मामलों की हालत के संबंध में भेजी गयी रिपोर्टों का पक्षपाती स्वरूप स्पष्ट किया। इन रिपोर्टों ने अवसरवादियों की गतिविधियों का समर्थन किया था। «*Vorwärts*» के संपादकों ने क्रिचेव्स्की का समर्थन किया। क्लारा ज़ेटकिन ने बर्लिन में मज़दूरों की एक सभा में भाषण देते हुए 'ज़ार्या' के रुख़ का समर्थन किया। १० मार्च, १९०२ को 'ईस्क्रा' ने अपने १८ वें अंक में 'पार्टी की ओर से' शीर्षक विभाग में "'ज़ार्या' और «*Vorwärts*» के संपादकों के बीच का वाद-विवाद" शीर्षक एक छोटा-सा लेख प्रकाशित किया। इस लेख में उक्त मामले का सच्चा सार प्रस्तुत किया गया।—पृष्ठ ३८३

168 लेनिन **'एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे' (हमारी पार्टी का संकट)** के लेखन में कई महीने व्यस्त रहे। यह पुस्तक लिखते हुए उन्होंने रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस के कार्य-विवरणों, प्रस्तावों, हर प्रतिनिधि के भाषणों, कांग्रेस में निर्मित विभिन्न राजनीतिक गुटों और केंद्रीय समिति तथा पार्टी काउंसिल के दस्तावेज़ों का सूक्ष्म अध्ययन किया। पुस्तक मई १९०४ में प्रकाशित हुई।

लेनिन ने उक्त पुस्तक में सर्वहारा क्रांतिकारी पार्टी के संबंध में मार्क्सवादी सिद्धांतों का और अधिक विवेचन किया और उसके संगठनात्मक सिद्धांत प्रस्तुत किये; मार्क्सवाद के इतिहास में पहली बार संगठनात्मक मामलों के बारे में अवसरवाद की विस्तृत आलोचना की; संगठनात्मक प्रश्नों के क्षेत्र में मेन्शेविकों के अवसरवाद पर गहरी चोट की और यह दिखा दिया की संगठन का महत्व घटाने से मज़दूर आंदोलन को कैसी भारी क्षति पहुंचेगी।

पुस्तक ने मेन्शेविकों के बीच क्रोध की लहर पैदा कर दी। प्लेख़ानोव ने तो मांग कर दी कि केंद्रीय समिति उसे अस्वीकार कर दे; और केंद्रीय समिति के समझौताकारों ने उसके प्रकाशन तथा वितरण को रोक देने के प्रयत्न किये।

अवसरवादियों के सब प्रयत्नों के बावजूद 'एक क़दम आगे, दो क़दम पीछे' का प्रकाशन विदेश में हुआ और रूस के प्रगतिशील मज़दूरों के बीच उसका ख़ूब प्रसार हुआ। मास्को, पीटर्सबर्ग, कीयेव, रीगा, सरातोव, तूला, ओर्योल, उफ़ा, पेर्म, कोस्त्रोमा, श्चीग्री, शाव्ली (कोव्नो गुबर्निया) और अन्यत्र गिरफ़्तारियों और मकानों की तलाशियों के दौरान में इस पुस्तक की कई प्रतियां मिलीं। लेनिन ने नये से इस पुस्तक का प्रकाशन १९०७ में (मुख-पृष्ठ पर सन् १९०८ है) 'बारह वर्ष' शीर्षक संग्रह में किया।—पृष्ठ ३८८

169 **रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस** १७ (३०) जुलाई से १० (२३) अगस्त, १६०३ तक पहले ब्रसेल्स में और फिर लंदन में हुई। यह 'ईस्क्रा' द्वारा आयोजित की गयी थी। कांग्रेस का गठन एकरस नहीं था: इसमें न केवल 'ईस्क्रा' के समर्थक बल्कि उसके विरोधक, जो जानेमाने अवसरवादी थे, और दूसरे अस्थिर तथा ढुलमुल तत्त्व भी उपस्थित रहे। कांग्रेस के सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न ये थे: रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के कार्यक्रम और नियमावली की मंजूरी और प्रधान पार्टी केंद्रों के चुनाव। लेनिन ने अवसरवादियों के विरुद्ध डटकर संघर्ष किया। कांग्रेस ने एक क्रांतिकारी कार्यक्रम स्वीकार किया जिसमें सर्वहारा अधिनायकत्व के लिए संघर्ष को मुख्य काम बताया गया था। इसी प्रकार कांग्रेस ने लेनिन द्वारा बनायी गयी पार्टी नियमावली (मार्तोव के मसौदे में स्वीकृत धारा नं० १ को छोड़कर जिसमें संगठनात्मक मामलों के विषय में 'ईस्क्रा' विरोधी अवसरवाद प्रतिबिंबित था) स्वीकृत की। कांग्रेस में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के क्रांतिकारी हिस्सों – बोल्शेविकों और उसके अवसरवादी हिस्से अर्थात् मेन्शेविकों – के बीच फूट पड़ी। 'ईस्क्रा' प्रवृत्ति के समर्थक (बोल्शेविक) पार्टी केंद्रों में चुने गये। कांग्रेस ने "अर्थवाद" अर्थात् एक खुले अवसरवाद पर मार्क्सवाद की विजय पर मुहर लगा दी, और रूस में मज़दूर वर्ग की क्रांतिकारी मार्क्सवादी पार्टी अर्थात् कम्युनिस्ट पार्टी की नींव रख दी और इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन को नया मोड़ दिया। – पृष्ठ ३८८

170 **प्राक्तिक (पानिन)** – एक मेन्शेविक म० स० मकादज्यूब का उपनाम। – पृष्ठ ३६२

171 **१६०२ का सम्मेलन** – रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की समितियों और संगठनों के प्रतिनिधियों का २३-२८ मार्च (५-१० अप्रैल) १६०२ तक बेलोस्तोक में आयोजित सम्मेलन। "अर्थवादियों" और बुंद-वादियों ने सम्मेलन को रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस घोषित करने और इस प्रकार रूसी सामाजिक-जनवाद के सदस्यों के बीच अपनी स्थिति को मज़बूत करके 'ईस्क्रा' के बढ़ते हुए प्रभाव पर प्रहार करने का प्रयत्न किया। सम्मेलन की अपेक्षतया संकुचित बनावट और सम्मेलन में स्पष्ट हुए गंभीर सैद्धांतिक मतभेदों के कारण यह प्रयत्न असफल रहा। सम्मेलन ने रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस बुलाने के लिए एक संगठन-समिति बनायी, पर इसके शीघ्र ही बाद सम्मेलन के अधिकांश प्रतिनिधियों को गिरफ़्तार कर लिया गया। इसमें संगठन-समिति

के दो सदस्य भी थे। नवंबर १९०२ में प्स्कोव में आयोजित सम्मेलन में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस बुलाने के लिए एक नयी संगठन-समिति बनायी गयी। लेनिन ने "रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की समितियों के सम्मेलन को 'ईस्क्रा' संपादक-मंडल की रिपोर्ट" में बेलोस्तोक सम्मेलन का मूल्यांकन किया। (देखिये संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड ६, पृष्ठ ७९-८८)।–पृष्ठ ३९३

172 पावलोविच, 'रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के बारे में साथियों के नाम पत्र', जेनेवा, १९०४।–पृष्ठ ४०३

173 **सोरोकिन**–एक बोल्शेविक न० ए० बाउमन का उपनाम; **लांगे**–एक बोल्शेविक अ० म० स्तोपानी का उपनाम।–पृष्ठ ४०३

174 मेन्शेविक 'ईस्क्रा' के संपादक-मंडल ने १५ जनवरी, १९०४ को 'ईस्क्रा' के ५७ वें अंक के क्रोड़पत्र के रूप में भूतपूर्व "अर्थवादी" अ० मार्तिनोव का एक लेख प्रकाशित किया था। इस लेख में उन्होंने बोल्शेविकों के संगठनात्मक सिद्धांतों का विरोध और व्ला० इ० लेनिन पर हमला किया था। मार्तिनोव के लेख पर लिखी गयी एक टिप्पणी में 'ईस्क्रा' के संपादक-मंडल ने लेखक के कुछ विचारों से अपना मतभेद औपचारिक रूप से प्रकट करते हुए आम तौर पर लेख पसंद किया था और उसके मुख्य विषयों से अपनी सहमति प्रकट की थी।–पृष्ठ ४१४

175 **"आम बंटवारा"**–ज़ारशाही रूस के किसानों के बीच लोकप्रिय नारा। इससे ज़मीन के आम बंटवारे के पक्ष में उनकी इच्छा प्रकट होती थी।–पृष्ठ ४२७

176 **कोस्त्रोव**–काकेशस के मेन्शेविक न० न० जोर्दानिया का उपनाम।–पृष्ठ ४२९

177 **'समाजवादी-क्रांतिकारी'** (एस० आर०)–रूस की एक निम्न-पूंजीवादी पार्टी। १९०१ के अंत और १९०२ के आरंभ में विभिन्न नरोदवादी दलों और मंडलों ('समाजवादी-क्रांतिकारी लीग', 'समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टी', इत्यादि) के एकीकरण के फलस्वरूप इसका निर्माण हुआ था। 'रेवोल्यूत्सिओन्नाया रोस्सीया' (क्रांतिकारी रूस) नामक समाचारपत्र (१९००-१९०५) और 'वेस्तिनक रूस्कोय रेवोल्यूत्सीई' (रूसी क्रांति का अग्रदूत) नामक पत्रिका (१९०१-१९०५) उक्त पार्टी के अधिकृत मुखपत्र बन गये। समाजवादी-क्रांतिकारियों

के दृष्टिकोण नरोदवाद और संशोधनवाद के विचारों का एक असैद्धांतिक मेल थे। लेनिन के शब्दों में, उन्होंने "मार्क्सवाद की फ़ैशनेबुल अवसरवादी 'आलोचना' के थेगलों की सहायता से नरोदवाद की फटी गुदड़ी को दुरुस्त करने का प्रयत्न किया" (संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड ६, पृष्ठ २८३)। समाजवादी-क्रांतिकारियों ने सर्वहारा और किसानों के बीच का वर्गभेद नहीं देखा, किसानों के बीच की वर्ग-भिन्नता और अंतर्विरोधों की ओर आनाकानी की और क्रांति में सर्वहारा की प्रधान भूमिका अस्वीकार की। स्वेच्छाचारी शासन विरोधी संघर्ष की बुनियादी प्रणाली के रूप में समाजवादी-क्रांतिकारियों ने वैयक्तिक आतंकवाद का समर्थन किया। उनकी इस नीति से क्रांतिकारी आंदोलन को भारी क्षति पहुंची।

समाजवादी-क्रांतिकारियों के कृषि कार्यक्रम में भूमि के निजी स्वामित्व की समाप्ति, समान पट्टे के आधार पर ग्रामीण समुदायों में उसका परिवर्तन और सभी प्रकार की सहकारी समितियों का विकास अभिप्रेत था। समाजवादी-क्रांतिकारियों ने इसे "भूमि के समाजीकरण" के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया पर वस्तुतः इस कार्यक्रम में कोई समाजवादी तत्त्व नहीं था; क्योंकि जैसा कि लेनिन ने दिखा दिया था, केवल भूमि के निजी स्वामित्व की समाप्ति पूंजी के प्रभुत्व और आम जनता की दरिद्रता को समाप्त नहीं कर सकती। हां, ज़मींदारी भूस्वामित्व की समाप्ति के लिए संघर्ष समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टी के कृषि कार्यक्रम का प्रगतिशील तत्त्व था। इस मांग से पूंजीवादी-जनवादी क्रांति की अवस्था में किसानों की रुचियां और आकांक्षाएं वस्तुगत रूप में प्रकट हुईं।

बोल्शेविक पार्टी ने समाजवादी-क्रांतिकारियों के अपने को समाजवादी दिखाने के प्रयत्नों का पर्दाफ़ाश किया, किसानों पर अपना प्रभाव जमाने की दृष्टि से समाजवादी-क्रांतिकारियों के विरुद्ध डटकर संघर्ष किया और यह स्पष्ट कर दिया कि उनकी वैयक्तिक आतंकवाद की नीति मज़दूर आंदोलन के लिए किस प्रकार हानिकर सिद्ध होगी। साथ-साथ बोल्शेविकों ने ज़ारशाही विरोधी संघर्ष में समाजवादी-क्रांतिकारियों के साथ अस्थायी समझौते किये।

पहली रूसी क्रांति के दौरान में समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टी में फूट पड़ गयी थी: क़ानूनी 'श्रमिक जन-समाजवादी पार्टी' उसका दक्षिण पक्ष थी जिसके दृष्टिकोण सांविधानिक-जनवादियों (कैडेटों) के समान थे। वाम पक्ष अर्द्ध-अराजकतावादी "मक्सीमालिस्ट" लीग के रूप में आगे आया। पहले विश्व युद्ध के समय अधिकांश समाजवादी-क्रांतिकारियों ने सामाजिक-अंधराष्ट्रवाद का दृष्टिकोण अपना लिया।

१९१७ की फ़रवरी में पूंजीवादी-जनवादी क्रांति की विजय के बाद मेन्शेविकों और कैडेटों सहित समाजवादी-क्रांतिकारी प्रतिक्रांतिकारी, पूंजीवादी-ज़मींदारी अस्थायी सरकार की रीढ़ बने हुए थे। पार्टी के नेता (केरेन्स्की, अव्क्सेन्त्येव, चेर्नोव) इस सरकार के सदस्य थे। किसानों की क्रांति-प्रवणता से प्रभावित होकर समाजवादी-क्रांतिकारियों के वाम पक्ष ने १९१७ की नवंबर के अंत में वामपंथी समाजवादी-क्रांतिकारियों की एक स्वतंत्र पार्टी की स्थापना की। किसान समूहों में अपना प्रभाव जमाये रखने के प्रयत्न में वामपंथी समाजवादी-क्रांतिकारियों ने औपचारिक रूप से सोवियत सत्ता को मान्यता दी और बोल्शेविकों के साथ समझौता कर लिया, पर शीघ्र ही सोवियत सत्ता के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया।—पृष्ठ ४३२

178 **पोम्पादूरवाद, पोम्पादूर** — म० ये० साल्तिकोव-श्चेद्रिन रचित 'पोम्पादूर और पोम्पादूरनियां' का एक आम व्यंग्य चरित्र। इस विख्यात रूसी व्यंग्य लेखक ने इस चरित्र के रूप में ज़ारशाही के उच्चपदस्थ प्रशासकों, मंत्रियों और गवर्नरों की निंदा की। रूसी भाषा में यह शब्द आचार-भ्रष्टता और मनमानी का पर्याय बन गया।—पृष्ठ ४५२

179 **मनीलोववाद** — यह नामकरण न० व० गोगोल के 'मृत आत्माएं' शीर्षक उपन्यास के एक चरित्र के नाम पर हुआ। भावुक, "भले मानस" ज़मींदार मनीलोव के रूप में लेखक ने संकल्पहीन, स्वप्नदर्शी, हवाई क़िले बनानेवाले और निष्क्रिय बकवासी की चारित्रिक विशेषताएं अभिव्यक्त कीं।—पृष्ठ ४५७

180 यहां संकेत १९०० में हैम्बर्ग के १२२ राजगीरों के एक दल के बर्ताव के संबंध में घटी एक घटना की ओर है। इन्होंने 'स्वतंत्र राजगीर संघ' की स्थापना की थी और ट्रेड-यूनियन केंद्र के अनुशासन को तोड़ते हुए हड़ताल के दौरान में काम जारी रखा था। हैम्बर्ग राजगीर संघ ने स्थानीय पार्टी संगठनों के पास उन सामाजिक-जनवादियों की विघातक गतिविधियों के बारे में शिकायत की जो उक्त दल के सदस्य थे। पर यह सवाल जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी की केंद्रीय समिति को सौंप दिया गया। इस केंद्रीय समिति द्वारा नियुक्त पंच-न्यायालय ने 'स्वतंत्र राजगीर संघ' के सदस्यों के बरताव की निंदा तो की पर उन्हें पार्टी से निकाल देने का सुझाव ठुकरा दिया।—पृष्ठ ४६२

181 स० ज़्बोरोव्स्की (कोस्तिच) के प्रस्ताव में, जो कि कांग्रेस ने ठुकरा दिया, पार्टी नियमावली की पहली धारा का सूत्र इस प्रकार था: "जो भी व्यक्ति, पार्टी का कार्यक्रम स्वीकार करता है और किसी एक पार्टी संगठन के नेतृत्व

में उसे आर्थिक सहायता और नियमित व्यक्तिगत मदद देता है, उसे पार्टी का सदस्य मान लिया जाता है।" (रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस का कार्य-विवरण, मास्को, १९५९, पृष्ठ २८१)।–पृष्ठ ४६७

182 रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में 'ईस्क्रा' संगठन के १६ सदस्य थे–नौ लेनिन के नेतृत्व में बहुमत के समर्थक और सात मार्तोव के नेतृत्व में अल्पमत के समर्थक।–पृष्ठ ४८२

183 **अवगी की घुड़सालें**–यूनानी पुराणों के अनुसार एलिस के राजा अवगी की ये लंबी-चौड़ी घुड़सालें वर्षों से गंदी पड़ी थीं और इन्हें पौराणिक वीर हरकूलस ने एक दिन साफ़ कर दिया था। "अवगी की घुड़सालें" शब्दसंहति का प्रयोग किसी गंदी और गयी गुज़री या अत्यंत अव्यवस्थित चीज़ को सूचित करने के लिए किया जाता है।–पृष्ठ ४८५

184 **साब्लिना**–न० क० क्रूप्स्काया का उपनाम।–पृष्ठ ४८६

185 **जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी की कांग्रेस** ६ से १२ अक्तूबर १८९५ तक ब्रेस्लाऊ में हुई। कांग्रेस के सामने मुख्य विषय था १८९४ की फ़्रैंकफ़ुर्ट कांग्रेस के निर्णय पर नियुक्त किये गये कृषि कमीशन द्वारा सुझाये गये कृषि कार्यक्रम के मसौदे पर चर्चा करना। मसौदे में गंभीर भूलें थीं। सर्वहारा पार्टी को "आम जनता की पार्टी" में परिवर्तित कराने की प्रवृत्ति इनमें से एक थी। अवसरवादियों के अलावा अ० बेबेल और वि० लीब्कनेख़्त ने मसविदे का समर्थन किया और इसके लिए उनके पार्टी-साथियों ने १८९५ की कांग्रेस में उनकी निंदा की। का० काउत्स्की, क्लारा ज़ेटकिन और अन्य सामाजिक-जनवादियों ने कांग्रेस में मसौदे की कड़ी आलोचना की। कांग्रेस ने बहुमत से (१५८ विरुद्ध ६३) आयोग का कृषि कार्यक्रम का मसविदा ठुकरा दिया।–पृष्ठ ४९१

186 **हेर्दज़**–द० इ० उल्यानोव का उपनाम।–पृष्ठ ४९५

187 **अ० अ० अराकचेयेव**–१८ वीं शताब्दी के अंत और १९ शताब्दी के आरंभ में ज़ारशाही रूस का एक प्रतिक्रियावादी कार्यकर्त्ता। अराकचेयेव का नाम असीमित पुलिस निरंकुशता और रुक्ष सैनिकवाद ('अराकचेयेववाद') के पूरे युग का संकेत बन गया था।–पृष्ठ ४९९

[188] यहां संकेत प० अक्सेल्रोद के 'रूसी सामाजिक-जनवाद का एकीकरण और उसके कार्य' शीर्षक लेख ('ईस्क्रा', अंक ५५, १५ दिसंबर १९०३) की ओर है। इस लेख का रुख़ बोल्शेविकों के संगठनात्मक सिद्धांतों के विरुद्ध था। – पृष्ठ ५००

[189] यहां संकेत ग० म० क्रजिजानोव्स्की की ओर है। – पृष्ठ ५२१

[190] **ओसिपोव** – एक बोल्शेविक महिला रोज़ालिया ज़ेम्ल्याच्का का उपनाम। – पृष्ठ ५४८

[191] **'ओस्वोबोज्देनिये'** (मुक्ति) – रूसी उदार-राजवादी पूंजीपति वर्ग की पाक्षिक पत्रिका। यह जून १९०२ से अक्तूबर १९०५ तक विदेश में प० ब० स्त्रूवे के संपादकत्व में प्रकाशित होती रही। १९०३ में 'मुक्ति लीग' नामक उदार-राजवादी संगठन रूप ग्रहण कर रहा था (जनवरी १९०४ में वह औपचारिक रूप से संगठित हुआ)। उक्त पत्रिका उसका केंद्र थी। लीग अक्तूबर १९०५ तक बनी रही। सांविधानिक ज़ेम्स्त्वोवादियों के साथ 'मुक्ति' के अनुयायी कैडेट पार्टी का हृदय बन गये। यह पार्टी अक्तूबर १९०५ में स्थापित हुई थी और रूस की मुख्य पूंजीवादी पार्टी थी। – पृष्ठ ५४९

[192] यहां व्ला० इ० लेनिन का संकेत रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में एक "अर्थवादी" व० प० अकीमोव द्वारा दिये गये भाषण की ओर है। 'ईस्क्रा' के पार्टी कार्यक्रम के मसौदे की आलोचना करते हुए अकीमोव ने इस बात पर आपत्ति उठायी कि कार्यक्रम में "सर्वहारा" शब्द का उपयोग कर्ता के रूप में नहीं बल्कि कर्म के रूप में किया गया है। अकीमोव की राय में इससे पार्टी को सर्वहारा के हितों से अलग कर देने की रुझान प्रकट होती थी। – पृष्ठ ५५४

[193] **पीटर्सबर्ग 'मज़दूर संगठन'** – १९०० की गर्मियों में स्थापित एक "अर्थवादी" संगठन। उसी वर्ष की शरद में 'मज़दूर संगठन' पीटर्सबर्ग 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' में विलीन हो गया। यह 'लीग' रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की पीटर्सबर्ग समिति के रूप में स्वीकृत थी। पीटर्सबर्ग पार्टी संगठन में लेनिन-'ईस्क्रा'-वादी प्रवृत्ति की विजय के बाद, "अर्थवादियों" के प्रभाव में रहनेवाले कुछ सामाजिक-जनवादियों ने १९०२ की शरद में पीटर्सबर्ग समिति छोड़ दी और स्वतंत्र 'मज़दूर संगठन' की पुन:स्थापना की। इस संगठन की समिति ने लेनिन के 'ईस्क्रा' और

मार्क्सवादी पार्टी के निर्माण के लिए उसकी संगठनात्मक योजना के प्रति विरोधी रुख़ अपनाया। पार्टी का विरोध करते हुए इस संगठन की समिति ने बड़ी लफ़्फ़ाज़ी के साथ कथन किया कि मज़दूर आंदोलन के विकास और संघर्ष की सफलताओं के लिए स्वतंत्र गतिविधि सबसे बड़ी पूर्वावश्यकता है। पीटर्सबर्ग की 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' के नाम पर अपनी ओर से चाहे जो बोलनेवाली 'मज़दूर संगठन' की समिति के निर्णयों का रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी के कई स्थानीय संगठनों ने प्रतिवाद किया। १९०४ के आरंभ में पार्टी की दूसरी कांग्रेस के बाद 'मज़दूर संगठन' का अस्तित्व समाप्त हो गया। – पृष्ठ ५६७

194 **केंद्रीय समिति का नया सदस्य** – फ़० व० लेंगनिक जो सितंबर १९०३ में रूस से जेनेवा आये थे। – पृष्ठ ५७७

195 हर संभव यहां संकेत जेनेवा के निकट के Carouge और Cluse नामक दो स्थानों की ओर है जो क्रमशः बहुमत और अल्पमत के निवासस्थान थे। – पृष्ठ ५९८

196 **सोबाकेविच** – न० व० गोगोल की 'मृत आत्माएं' शीर्षक रचना का एक चरित्र। – पृष्ठ ६००

197 **आर्थोडाक्स** – मेन्शेविक महिला ल० इ० अक्सेलरोद का उपनाम। – पृष्ठ ६०१

198 **बज़ारोव** – इ० स० तुर्गेनेव के 'पिता और पुत्र' शीर्षक उपन्यास का नायक। – पृष्ठ ६०४

199 यहां संकेत फ़० व० लेंगनिक की ओर है। – पृष्ठ ६०४

200 'ईस्क्रा', अंक ५३ (२५ नवंबर, १९०३) ने "'ईस्क्रा' के संपादक-मंडल के नाम" लेनिन के 'पत्र' (देखिये, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड ७, पृष्ठ ९८-१०१) के साथ ही साथ संपादक-मंडल का उत्तर भी प्रकाशित किया जो प्लेख़ानोव ने लिखा था। उक्त पत्र में लेनिन ने सुझाव दिया था कि बोल्शेविकों और मेन्शेविकों के सैद्धान्तिक मतभेदों के संबंध में 'ईस्क्रा' में चर्चा की जाये। प्लेख़ानोव ने इन मतभेदों को "घरेलू झगड़ा" कहकर उक्त सुझाव अस्वीकार कर दिया। – पृष्ठ ६०५

201 'रेवोल्यूत्सिओन्नाया रोस्सीया' (क्रांतिकारी रूस) – समाजवादी-क्रांतिकारियों का ग़ैर-क़ानूनी समाचारपत्र। यह रूस में 'समाजवादी-क्रांतिकारी लीग' द्वारा

१६०० के अंत से प्रकाशित किया जाता था। जनवरी १६०२ से दिसंबर १६०५ तक यह समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टी के अधिकृत मुखपत्र के रूप में विदेश (जेनेवा) में प्रकाशित होता रहा। – पृष्ठ ६०५

202 यहां संकेत ग० व० प्लेखानोव के 'मज़ेदार ग़लतफ़हमी' ('ईस्क्रा', अंक ५५, १५ दिसंबर, १६०३) और 'अफ़सोसनाक ग़लतफ़हमी' ('ईस्क्रा', अंक ५७, १५ जनवरी, १६०४) शीर्षक लेखों की ओर है। – पृष्ठ ६०५

203 **इग्रेक** – एक समझौताकार ल० ए० गाल्पेरिन का उपनाम। – पृष्ठ ६०८

204 यहां संकेत "क़ानूनी मार्क्सवाद" के सुप्रसिद्ध प्रवक्ता प० ब० स्त्रूवे के दृष्टिकोणों की ओर है। स्त्रूवे ने १८६४ में 'रूस के आर्थिक विकास के प्रश्न का आलोचनात्मक निरूपण' शीर्षक अपनी पुस्तक प्रकाशित की। इस आरंभिक रचना से लेकर ही स्त्रूवे के पूंजीवादी-तर्कवादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगे। व्ला० इ० लेनिन ने १८६४ की शरद में 'पूंजीवादी साहित्य में मार्क्सवाद का प्रतिबिंब' शीर्षक थीसिस लिखकर उसके द्वारा प० स्त्रूवे और दूसरे "क़ानूनी मार्क्सवादियों" का विरोध किया। लेनिन द्वारा पीटर्सबर्ग के मार्क्सवादियों के एक दल के सामने पढ़ा गया यह थीसिस लेनिन के 'नरोदवाद का आर्थिक आशय और श्री स्त्रूवे की पुस्तक में उसकी आलोचना' शीर्षक लेख का आधार बना। यह लेख १८६४ के अंत और १८६५ के आरंभ में लिखा गया था। (देखिये, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड १, पृष्ठ ३१५-४८४)। – पृष्ठ ६१४

205 देखिये टिप्पणी ६७। – पृष्ठ ६१४

206 **ब्लांकी-वाद** – फ़ांसीसी समाजवादी आंदोलन की एक प्रवृत्ति। विख्यात क्रांतिकारी और फ़ांसीसी कल्पनावादी कम्युनिज़्म के प्रसिद्ध प्रतिनिधि लुई ओग्यूस्त ब्लांकी इसके नेता थे (१८०५-१८८१)।

ब्लांकी-वादियों ने वर्ग-संघर्ष को ठुकरा दिया। लेनिन के शब्दों में उनको आशा थी कि "मज़दूरी दासता से मानवता की मुक्ति सर्वहारा के वर्ग-संघर्ष द्वारा नहीं बल्कि बुद्धिजीवियों के नगण्य अल्पमत के षड्यंत्र द्वारा होगी" (व्ला० इ० लेनिन, संग्रहीत रचनाएं, चौथा रूसी संस्करण, खंड १०, पृष्ठ ३६०)। क्रांतिकारी पार्टी की गतिविधियों का स्थान षड्यंत्रकारियों के एक गुट को देते हुए उन्होंने वस्तुस्थिति पर ध्यान नहीं दिया जो कि विद्रोह

की विजय के लिए अत्यावश्यक है। उन्होंने जन-संपर्क पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया।—पृष्ठ ६१४

207 लेनिन का संकेत यहां ल० मार्तोव के 'क्या यही तैयारी का रास्ता है?' शीर्षक लेख की ओर है जो 'ईस्क्रा' में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में मार्तोव ने अखिल-रूसी सशस्त्र विद्रोह की तैयारियों को कल्पना की उड़ान और षड्यंत्र कहते हुए उनका विरोध किया था।—पृष्ठ ६१७

208 देखिये टिप्पणी १३४।—पृष्ठ ६२६

209 **ओब्लोमोववाद**—इसका नामकरण इ० अ० गोंचारोव के इसी नाम के उपन्यास के नायक के नाम पर किया गया। ओब्लोमोव का नाम संकीर्णता, गतिहीनता और रूढ़िवाद का संकेत बन गया।—पृष्ठ ६२६

210 यहां संकेत 'ईस्क्रा' के २५ फ़रवरी, १६०४ के अंक में प्रकाशित ल० मार्तोव के 'आगे' शीर्षक लेख की ओर है। इस लेख में मार्तोव स्थानीय समितियों की वैयक्तिक रचना तय करने के प्रश्न पर इस बात के लिए लड़ा कि स्थानीय पार्टी समितियां रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की केन्द्रीय समिति से 'स्वतन्त्र' रहें। मार्तोव ने मास्को समिति पर इसलिए हमला किया था कि उसने उक्त प्रश्न से संबंधित बहस के दौरान इस आशय का प्रस्ताव स्वीकार किया था कि पार्टी नियमावली की ६ वीं धारा के ठीक अनुसार सभी स्थानीय समितियां केन्द्रीय समिति के आदेशों का पालन करें।—पृष्ठ ६३३

211 **जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी की ड्रेसडेन कांग्रेस** १३ से २० सितंबर १६०३ तक हुई। पार्टी की कार्यनीति और संशोधनवाद के विरुद्ध संघर्ष ये कार्यसूची के मुख्य विषय थे। कांग्रेस ने ए० बर्न्सटीन, प० ग्योरे, ए० डेविड, व० हाइने और दूसरे जर्मन सामाजिक-जनवादियों के संशोधनवादी दृष्टिकोणों की आलोचना की। कांग्रेस में बहुमत (२८८ विरुद्ध ११) द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव में कहा गया था कि पार्टी की पहली सुपरीक्षित कार्यनीति में संशोधन कराने की संशोधनवादियों की इच्छा की पार्टी कांग्रेस स्पष्ट रूप से निंदा करती है—यह कार्यनीति वर्ग संघर्ष पर आधारित है और उसका लक्ष्य अपने को वर्तमान प्रणाली के अनुकूल बनाकर नहीं बल्कि शासक वर्गों का तख़्ता उलटकर राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का है। इस प्रस्ताव का

कुछ सकारात्मक मूल्य था। फिर भी, कांग्रेस संशोधनवाद विरोधी संघर्ष में पर्याप्त सुसंगत नहीं रही। संशोधनवादियों को पार्टी से नहीं हटाया गया और वे कांग्रेस के बाद भी अपने अवसरवादी दृष्टिकोणों का प्रचार करते रहे।—पृष्ठ ६३५

212 *«Sozialistische Monatshefte»* (समाजवादी मासिक) जर्मन अवसरवादियों का केंद्रीय मुखपत्र और अंतर्राष्ट्रीय अवसरवाद का एक मुखपत्र। यह पत्रिका बर्लिन में १८९७ से १९३३ तक प्रकाशित होती रही। पहले विश्व युद्ध के दौरान में (१९१४-१९१८) इसने सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी दृष्टिकोण अपना लिया।—पृष्ठ ६३५

213 *«Frankfurter Zeitung»* (फ़्रैंकफ़ुर्ट समाचारपत्र)—एक दैनिक समाचारपत्र। यह जर्मन हुंडी-दलालों का मुखपत्र फ़्रैंकफ़ुर्ट आन मेन में १८५६ से १९४३ तक प्रकाशित होता था। १९४९ में 'फ़्रैंकफ़ुर्ट आम समाचारपत्र' के नाम से इसका पुन:प्रकाशन होने लगा। यह पश्चिमी जर्मन ईजारेदारों का एक भाट है।—पृष्ठ ६४१

214 यहां संकेत ल० मार्तोव के 'रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी का संक्षिप्त संविधान' शीर्षक हास्यरसात्मक लेख की ओर है। यह उनके 'आगे' शीर्षक लेख के परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित हुआ था ('ईस्क्रा', अंक ५८, २५ जनवरी, १९०४)। बोल्शेविकों के संगठनात्मक सिद्धांतों का मज़ाक़ उड़ाते हुए और मेन्शेविकों के प्रति कथित अन्यायपूर्ण रुख़ की शिकायत करते हुए मार्तोव ने अपने 'संविधान' में उनके बारे में लिखा था "धमकानेवाले" और "धमकाये जानेवाले"। यहां उनका अभिप्राय बोल्शेविकों और मेन्शेविकों से था।—पृष्ठ ६४६

215 **देदोव**—ल० म० क्निपोविच का उपनाम। यह रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में उत्तरी लीग के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थी और 'ईस्क्रा'-वादी बहुमत का समर्थन करती थी।—पष्ठ ६६१

नाम-निर्देशिका

अ

६३२, ६३३, ६३६, ६३७, ६४१, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६५१।

अदमोविच (वोरोव्स्की, वात्स्लाव वात्स्लावोविच) (१८७१-१९२३)–बोल्शेविक पार्टी का एक प्रसिद्ध नेता और साहित्य समालोचक। १९०१ में इसने एक लेख लिखकर क्रांतिकारी दृष्टिकोण से स्त्रवे और बर्न्सटीन की आलोचना की। अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद यह कूटनीतिक कार्य करता रहा–३६८।

अब्रामसन (पोर्तनोय, कुस्येल) (१८७२-१९४१)–यहूदी राष्ट्रवादी संगठन बुंद का एक नेता। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में इसने 'ईस्क्रा' विरोधी रुख़ अपनाया। बाद में १९३९ तक यह पोलैंड में बुंद की केंद्रीय समिति का अध्यक्ष बना रहा–४०५, ४९५।

अब्रामोव, याकोव वसील्येविच (१८५८-१९०६)–नरोदवादी पब्लिसिस्ट, इसने सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों पर कई लेख लिखे–१२६, १४०।

अराकचेयेव, अलेक्सेई अन्द्रेयेविच (१७६९-१८३४)–इसपर सम्राट पावेल प्रथम और अलेक्सान्द्र प्रथम का अनुग्रह था। इसने पुलिस निरंकुशता का शासन चलाया–४९९।

अलेक्सान्द्रोव–'संगठनात्मक प्रश्न (संपादकों के नाम पत्र)' का लेखक। यह लेख १ जनवरी, १९०४ के 'ईस्क्रा' के ५६ वें अंक के क्रोड़पत्र में प्रकाशित किया गया था–६२०, ६२२, ६२९।

अलेक्सेयेव, प्योत्र (१८४९-१८९१)–बुनकर; १९ वीं शताब्दी के आठवें दशक का एक सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी। इसने मज़दूरों के बीच सक्रिय क्रांतिकारी प्रचार किया। गिरफ़्तारी के बाद अदालत में इसने जो भाषण दिया वह काफ़ी मशहूर है। भाषण के अंत में इसने भविष्यवाणी की कि ज़ारशाही स्वेच्छाचारी शासन का पतन अनिवार्य है–१५५, २८३, ४६०।

आ

आयर, इग्नाज़ (१८४६-१९०७)–जर्मन ज़ीनसाज़; जर्मन सामाजिक-जनवाद के क्षेत्र में एक प्रधान व्यक्ति–३१५।

आर्थोडाक्स (अक्सेलरोद, ल्युबोव इसाकोव्ना) (१८६८-१९४६)–दार्शनिक और साहित्य समीक्षक, सामाजिक-जनवादी। रूसी सामाजिक-जनवादी

मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस के बाद – बोल्शेविक। बाद में यह मेन्शेविकों के पक्ष में हो गयी। इसने मार्क्सवाद में संशोधन करनेवाली कई रचनाएं लिखीं। १९१८ में सक्रिय राजनीतिक कार्य से निवृत्त हो गयी और फिर अध्यापन क्षेत्र में काम करती रही – ६०१।

इ

इवस – देखिये मास्लोव, प्योत्र पाव्लोविच – ६३०।

इग्रेक (गाल्पेरिन, लेव येफ़ीमोविच) (१८७२-१९५१) – सामाजिक-जनवादी; इसने १८९८ में अपने क्रांतिकारी क्रियाकलाप शुरू किये। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस के बाद यह बोल्शेविकों के पक्ष में हो गया; कुछ समय तक केंद्रीय मुखपत्र के संपादक-मंडल की ओर से पार्टी-काउंसिल का सदस्य रहा; बाद में केंद्रीय समिति में नियुक्त कर लिया गया।

अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद यह आर्थिक विभाग का एक प्रबंधक रहा – ६०८, ६१०।

इलोवाइस्की, द्मीत्री इवानोविच (१८३२-१९२०) – इतिहासकार और पब्लिसिस्ट। क्रांतिपूर्व काल में रूस के प्राथमिक और माध्यमिक स्कूलों की इतिहास की सरकारी पाठ्यपुस्तकों का लेखक। इन पुस्तकों में इतिहास का वर्णन ज़ारों और सेनापतियों के क्रियाकलापों के इतिहास के रूप में किया गया था – १९७।

इवानोव (लेविना येव्दोकिया सेम्योनोव्ना) (१८७४-१९०५) – सामाजिक-जनवादी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में इसने ख़ार्कोव पार्टी समिति का प्रतिनिधित्व किया और मध्यवादी रुख़ अपनाया। कांग्रेस के बाद यह मेन्शेविकों के पक्ष में हो गयी पर इसके शीघ्र ही बाद राजनीतिक क्रियाकलापों से निवृत्त हो गयी – ४२२।

इवानोव व० – देखिये ज़ासुलिच वेरा – १३४।

ए

एंगेलहार्ट, अलेक्सांद्र निकोलायेविच (१८३२-१८९३) – पब्लिसिस्ट, नरोदवादी; अपनी सामाजिक तथा कृषिविषयक गतिविधियों और अपनी जागीर में सक्षम कृषि के संगठन के अनुभव के लिए प्रसिद्ध। इसने 'ग्रामीण पत्र' और

ओ

और १९१९ में देश लौट आया। १९२० में सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का सदस्य बन गया; फिर लेनिनग्राद में ट्रेड-यूनियन और आर्थिक क्षेत्र में काम करता रहा – ४१२, ४१३, ५३०, ५४८।

ओवेन, राबर्ट (१७७१-१८५८) – महान अंग्रेज़ कल्पनावादी-समाजवादी – १८५।

ओसिपोव (ज़ेम्ल्याच्का रोज़ालिया समोइलोव्ना) (१८७६-१९४७) – पेशावर क्रांतिकारी, कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत राज्य की एक प्रसिद्ध नेत्री; इसने १८९३ में क्रांतिकारी आंदोलन में प्रवेश किया। रूसी सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में ओदेस्सा पार्टी समिति की प्रतिनिधि और बहुमत की 'ईस्क्रा'-वादी। कांग्रेस के बाद बोल्शेविकों की ओर से केंद्रीय समिति में नियुक्त; मेन्शेविक विरोधी संघर्ष में सक्रिय भाग लिया; १९०५-०७ तथा १९१७ की फ़रवरी क्रांतियों में और १९१७ की अक्तूबर समाजवादी क्रांति में सक्रिय भाग लिया। अक्तूबर क्रांति के बाद पार्टी और सोवियतों के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण काम किया – ५४८, ६६१।

क

काउत्स्की, कार्ल (१८५४-१९३८) – जर्मन सामाजिक-जनवाद और दूसरी इंटरनेशनल का एक नेता और सिद्धान्तकार। पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के आरम्भ में इसने मार्क्सवाद से नाता तोड़ लिया; पूंजीवाद का समर्थन किया और अक्तूबर क्रान्ति तथा रूस की सोवियत सरकार का विरोध – २००, २०१, २३६, २३७, ३२७, ३८३, ४६८, ४९२, ५४०, ५४४, ६३८, ६३९, ६४०, ६४२।

कात्कोव, मिख़ाईल निकीफ़ोरोविच (१८१८-१८८७) – प्रतिक्रियावादी पब्लिसिस्ट; 'मास्कोव्स्कीये वेदोमोस्ती' (मास्को रेकार्डर) का संपादक और प्रकाशक (१८६३-८७)। यह पत्र राजवादी प्रतिक्रियावादियों का भाट बन गया था। कात्कोव अपने को "स्वेच्छाचारी शासन का ईमानदार चौकीदार कुत्ता" कहलाता था। इसका नाम बेहद राजवादी प्रतिक्रिया से सम्बद्ध था – २६३।

कान्ट, इमानुइल (१७२४-१८०४) – विख्यात जर्मन दार्शनिक, जर्मन भाववाद का जनक। "कान्ट के दर्शन का आधारभूत लक्षण है पदार्थवाद और

भाववाद का समन्वय, पहले और दूसरे वाद का बीच समझौता, विभिन्न परस्पर-विरोधी दार्शनिक प्रवृत्तियों का एक प्रणाली में मिलाप।" (लेनिन)

कान्ट की ओर वापसी या मार्क्स के साथ उसका समन्वय सदा ही संशोधनवाद की विशेषता रही – ३९, ९०।

कामेन्स्की – देखिये प्लेख़ानोव ग० व० – १४४।

कारिशेव, निकोलाई अलेक्सान्द्रोविच – (१८५५-१९०५) – रूसी अर्थशास्त्री और सांख्यिकीविज्ञ, रूस के किसानी खेतों की अर्थ-व्यवस्था से संबंधित कई पुस्तकों और लेखों का लेखक। अपनी रचनाओं में इसने उदार नरोदवादियों के दृष्टिकोणों का समर्थन किया – १२०।

कारेयेव, निकोलाई इवानोविच (१८५०-१९३१) – उदार-पूंजीवादी इतिहासकार और पब्लिसिस्ट। १९०५ से सांविधानिक-जनवादी पार्टी का सदस्य (कैडेट) और मार्क्सवाद का शत्रु – २१६।

कार्स्की (तोपुरिद्ज़े, दिम्रोमिद अलेक्सान्द्रोविच) (१८७१-१९४२) – सामाजिक-जनवादी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में बहुमत का 'ईस्क्रा'-वादी; कांग्रेस के बाद इसने मेन्शेविकों से नाता जोड़ा और कांग्रेस में चुने गये केंद्रीय पार्टी संगठनों का विरोध किया – ४२९, ४७८, ५१७।

कुगेलमन, लुडविग (१८३०-१९०२) – जर्मन सामाजिक-जनवादी; चिकित्सक। जर्मनी में १८४८-४९ की क्रांति में भाग लिया; पहली इंटरनेशनल का एक सदस्य। १८६२ और १८७४ के बीच लंदन में रहनेवाले कार्ल मार्क्स के साथ पत्र-व्यवहार करते हुए उन्हें जर्मनी की स्थितियों से अवगत कराता रहा – ६८।

कुस्कोवा, येकातेरीना द्मीत्रियेव्ना (१८६९-१९५८) – रूसी पूंजीवादी सार्वजनिक कार्यकर्त्री और पब्लिसिस्ट; रूसी सामाजिक-जनवाद के अर्थवाद की एक प्रमुख प्रतिनिधि। "अर्थवाद" के अवसरवादी सारतत्व को अत्यंत स्पष्ट अभिव्यक्ति देनेवाले 'क्रीडो' की लेखिका। बाद को इसने कैडेटों का रुख़ अपना लिया; अक्तूबर क्रांति के बाद सोवियत सत्ता की शत्रु बन गयी – १७६।

कोल्त्सोव (गिन्सबर्ग, बोरीस अब्रामोविच) (१८६३-१९२०) – रूसी सामाजिक-जनवादी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में

अल्पमत का 'ईस्क्रा'-वादी; कांग्रेस के बाद एक सक्रिय मेन्शेविक; इसने कई मेन्शेविक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखे – ४०६, ४०९, ५२३, ५२४, ५७९।

कोस्तिच (स्बोरोव्स्की, मिखाईल सोलोमोनोविच) (१८७९-१९३५) – सामाजिक-जनवादी, मेन्शेविक। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में ओदेस्सा समिति का प्रतिनिधि; अल्पमत का 'ईस्क्रा'-वादी; प्रतिक्रिया के काल (१९०७-१०) में विसर्जनवादी। यह अक्तूबर समाजवादी क्रांति का विरोधक था; १९१९ में देश छोड़कर चला गया और मेन्शेविक संगठनों में अपना काम जारी रखा – ४२२, ४३०, ४६७।

कोस्त्रोव (जोर्दानिया, नोई) (१८७०-१९५३) – सामाजिक-जनवादी, मेन्शेविक। दूसरी कांग्रेस में अल्पमत के 'ईस्क्रा'-वादियों से नाता जोड़ा। कांग्रेस के बाद काकेशियायी मेन्शेविकों का नेता। प्रतिक्रिया के काल (१९०७-१०) में विसर्जनवादियों का समर्थक। १९१८-२१ में जार्जिया की प्रतिक्रांतिकारी मेन्शेविक सरकार का प्रधान। १९२१ के बाद सफ़ेद गार्ड देशत्यागी – ४२९, ५५३, ५५४।

क्रिचेव्स्की, बोरीस नाऊमोविच (१८६६-१९१९) – रूसी सामाजिक-जनवादी और पब्लिसिस्ट; "अर्थवादी" नेताओं में से एक। १९ वीं शताब्दी के अन्तिम दशक के अन्त में 'विदेश स्थित रूसी सामाजिक-जनवादियों के संघ' का एक नेता। १८९९ में क्रिचेव्स्की 'राबोचेये देलो' का संपादक था और इस पत्रिका में उसने बर्न्सटीनवादी दृष्टिकोणों का प्रचार किया। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस के शीघ्र ही बाद सामाजिक-जनवादी आंदोलन से अलग हो गया – १६६, १६७, १६९, २१०, २११, २१६, २३३, २५४, २८२, २९१, ३१८, ३३४, ३४१, ३५४, ३६३, ३७४, ३७५, ३८०, ३८१, ३८३, ३८५, ६२०, ६२१, ६२३, ६४३।

ख

ख़ाल्तूरिन, स्तेपान निकोलायेविच (१८५६-१८८२) – शुरू-शुरू के रूसी क्रांतिकारी कार्यकर्ताओं में से एक। १८७८ में इसने 'रूसी मज़दूरों के उत्तरी संघ' की स्थापना की। रूस के शुरू-शुरू के ग़ैरक़ानूनी क्रांतिकारी-राजनीतिक मज़दूर संगठनों में से यह एक था। १८७९ में उक्त संघ कुचल दिया गया और

फिर ख़ाल्तूरिन नरोदवादियों की 'नरोद्नाया वोल्या' पार्टी में दाख़िल हुआ और कई आतंकवादी कार्रवाइयों में भाग लिया। १८८२ में गिरफ़्तार कर लिया गया और उसे फांसी दी गयी – २८३, ४६०।

ग

गिज़ो फ़्रांसुआ (१७८७-१८७४) – रेस्टोरेशन (१८१४-३०) के काल का फ़्रांसीसी पूंजीवादी इतिहासकार। इसकी और फ़्र० मिन्ये और ओ० त्येरी की रचनाएं वर्ग संघर्ष के दृष्टिकोण से इतिहास का स्पष्टीकरण करने की दिशा में प्रथम प्रयास रहीं। फिर भी वर्ग संघर्ष का विवेचन इन्होंने पूंजीवादी दृष्टिकोण से ही किया – ४६।

गूसेव, सेर्गेई इवानोविच (१८७४-१९३३) – पेशावर क्रांतिकारी, प्रसिद्ध बोल्शेविक। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में लेनिन का ज़ोरदार समर्थक; १९०५ में रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की ओदेस्सा समिति का सेक्रेटरी; अक्तूबर १९१७ में पेत्रोग्राद सैनिक क्रांतिकारी समिति का सेक्रेटरी; १९२३ से रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केंद्रीय नियंत्रण समिति का सदस्य; १९२५ से अखिल रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की केंद्रीय समिति के प्रेस विभाग का प्रधान; बाद में कम्युनिस्ट इंटरनेशनल में काम किया – ४११, ४१२, ४१३, ४२९, ४८९, ५०१, ६५८, ६५९, ६६८।

गेद, जूल (१८४५-१९२२) – फ़्रांस की समाजवादी पार्टी और दूसरी इंटरनेशनल के संस्थापकों और नेताओं में से एक। पहले विश्व-युद्ध के पूर्व इसने पार्टी के बायें, क्रांतिकारी पक्ष का नेतृत्व किया। युद्ध के आरंभ होने के साथ इसने फ़्रांसीसी पूंजीवादी सरकार में प्रवेश किया – ९६, २३६, २६८।

गोरिन (गाल्किन, व्लादीमिर फ़िलिप्पोविच) (१८६३-१९२५) – पेशावर क्रांतिकारी, बोल्शेविक। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में बहुमत का 'ईस्क्रा'-वादी; कांग्रेस के बाद इसने मेन्शेविकों के विरुद्ध ज़ोरदार संघर्ष छेड़ दिया। इसने अक्तूबर क्रांति की तैयारी और सिद्धि में भाग लिया। क्रांति के बाद लाल सेना में राजनीतिक कार्य जारी रखा – ४१२, ४२९, ६५८, ६५९, ६६१, ६६३, ६६८।

गोर्स्की (शाटमन, अलेक्सान्द्र वसील्येविच) (१८८०-१९३९) – पेशावर क्रांतिकारी, बोल्शेविक; ख़रादी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की

दूसरी कांग्रेस में पीटर्सबर्ग पार्टी समिति का प्रतिनिधि; बहुमत का 'ईस्क्रा'-वादी। गोस्की ने १९०५-०७ की क्रांति, फ़रवरी १९१७ की क्रांति और अक्तूबर समाजवादी क्रांति में सक्रिय भाग लिया। क्रांति के बाद महत्त्वपूर्ण आर्थिक, सोवियत और पार्टी के कार्य में व्यस्त रहा – ४२२।

गोल्डब्लाट (मेदेम, व्लादीमिर दवीदोविच) (१८७९-१९२३) – बुंद का एक नेता; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में 'ईस्क्रा'-विरोधी। १९०६ में बुंद की केंद्रीय समिति के सदस्य के नाते निर्वाचित; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की पांचवीं कांग्रेस में भाग लिया; इसने मेन्शेविकों का समर्थन किया – ४१६, ४४७, ४४८, ४९४, ५४६, ६१५।

ग्योरे, पाउल (१८६४-१९२८) – जर्मन राजनीतिज्ञ और पब्लिसिस्ट। लेनिन के शब्दों में "चरम अवसरवादी"। सामाजिक-जनवादियों से संबद्ध होते हुए भी इसने सक्रियतापूर्वक पूंजीवादी प्रकाशनों में लेख लिखे – ६३५, ६३६।

ग्लेबोव (नोस्कोव, व्लादीमिर अलेक्सान्द्रोविच) (१८७८-१९१३) – सामाजिक-जनवादी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में बहुमत का 'ईस्क्रा'-वादी, केंद्रीय समिति के सदस्य के नाते निर्वाचित। कांग्रेस के बाद इसने मेन्शेविकों के प्रति समझौते का रुख़ अपनाया। प्रतिक्रिया के काल (१९०७-१०) में यह राजनीतिक कार्य से निवृत्त हुआ – ४१२, ४८७, ४९३, ५०२, ५३६, ५७२, ५७३, ५७७, ५८८, ६५९, ६६१, ६६२।

च

चेर्निशेव्स्की, निकोलाई गव्रीलोविच (१८२८-१८८९) महान् रूसी क्रांतिकारी जनवादी, कल्पनावादी-समाजवादी, पदार्थवादी दार्शनिक, लेखक और साहित्य समीक्षक, १९ वीं शताब्दी के सातवें दशक में रूस के क्रांतिकारी जनवादी आंदोलन का नेता। १८६२ में इसे गिरफ़्तार करके १४ वर्ष के काले पानी की सज़ा काटने के लिए और इसके बाद के जीवन के लिए साइबेरिया में भेजा गया। वहां से १८८३ में जाकर ही वह लौट आ सका – १८४।

चैम्बरलेन, जोज़ेफ़ (१८३६-१९१४) – ब्रिटिश राजनयिक; ब्रिटिश साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक नीति का एक विचारक और व्याख्याकार। १८९५-१९०३ में उपनिवेश विभाग का राज्य सचिव – ६०३।

ज़ार्योव (लोकेरमान, अलेक्सान्द्र समोइलोविच) (१८८०-१९३७) – रूसी सामाजिक-जनवादी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में इसने मध्यवाद का समर्थन किया; कांग्रेस के बाद – मेन्शेविक। अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद सोवियत सरकार के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष किया; प्रतिक्रांतिकारी गतिविधियों के लिए इसे कारावास में रखा गया – ४२२, ४७८, ४९५, ५२६।

ज़ासुलिच, वेरा इवानोव्ना (१८४९-१९१९) – रूस के नरोदवादी और बाद में सामाजिक-जनवादी आंदोलन में एक प्रमुख व्यक्ति। १८७८ में इसने पीटर्सबर्ग के गवर्नर त्रेपोव की हत्या का प्रयत्न किया। १८८३ में ज़ासुलिच ने रूस के पहले मार्क्सवादी संगठन 'श्रम मुक्ति' दल की स्थापना में भाग लिया। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में यह मेन्शेविकों के पक्ष में हो गयी – ७७, ३२०, ४९६, ५२८, ५७९, ६४०, ६६६।

ज़ुबातोव, सेर्गेई वसील्येविच (१८६४-१९१७) – मास्को राजनीतिक पुलिस का कर्नल। "पुलिस समाजवाद" (ज़ुबातोववाद) का प्रवर्त्तक और संगठक। १९०१-०३ में इसने मास्को और दूसरे नगरों में पुलिस मज़दूर यूनियनें क़ायम करने की कोशिश की। इसका उद्देश्य यह था कि मज़दूरों का ध्यान क्रांतिकारी संघर्ष से हट जाये। पर उसके प्रयत्न असफल रहे। उसके द्वारा स्थापित संगठनों को क्रांतिकारी आंदोलन की चढ़ती बाढ़ बहा ले गयी – १७५, २०३, २०६, २९३, २९४, २९५, २९९।

ज़ेटकिन, क्लारा (१८५७-१९३३) – जर्मन और अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन की एक विख्यात कार्यकर्त्री; जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापकों में से एक; प्रतिभाशालिनी लेखिका। कई वर्षों तक यह अंतर्राष्ट्रीय महिला कम्युनिस्ट आंदोलन की संगठनकर्त्री और नेत्री रही – ४९२।

ज़ेल्याबोव, अन्द्रेई इवानोविच (१८५०-१८८१) – विख्यात रूसी क्रांतिकारी, क्रांतिकारी नरोदवाद का एक प्रमुख प्रतिनिधि, 'नरोद्नाया वोल्या' पार्टी ('जन-संकल्प' पार्टी) का संगठक और नेता – २८३, ३२४, ३६२, ४६०।

जोरेस, जान (१८५९-१९१४) – फ़्रांसीसी समाजवादी आंदोलन का एक प्रमुख नेता; *«L' Humanité»* (मानवता) पत्र का संस्थापक और संपादक। फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी के अवसरवादी दक्षिण पक्ष का नेता। इसके बावजूद जोरेस

ने सैन्यवाद के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष किया। पहले विश्व-युद्ध के शुरू होते होते सैन्यवादियों के भाड़े के टट्टुओं ने इसकी हत्या कर दी – ६६, ४५२, ५६५, ६०२, ३६८, ६४१, ६४२।

जोर्गे फ़्रेडरिक एडोल्फ़ (१८२८-१९०६) – जर्मन समाजवादी; अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर और समाजवादी आंदोलन में एक प्रमुख व्यक्ति; कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स का मित्र और सहयोगी। जोर्गे ने जर्मनी की १८४८ की क्रांति में सक्रिय भाग लिया। क्रांति की पराजय के बाद वह अमरीका चला गया और वहां मज़दूर आंदोलन में सक्रिय भाग लेता रहा – ६६।

ड

डुंकेर, फ़्रांज़ (१८२२-१८८८) – जमन पूंजीवादी राजनीतिज्ञ और प्रकाशक; १९ वीं शताब्दी के सातवें दशक में सुधारवादी ट्रेड-यूनियनों के संस्थापकों में से एक – २०४।

डेयट्श, लेव ग्रिगोर्येविच (१८५५-१९४१) – 'श्रम मुक्ति' दल (१८८३) के संगठकों में से एक। यह दल रूस का पहला मार्क्सवादी दल था। १९०३ से डेयट्श मेन्शेविक बन गया। १९१८ में राजनीतिक क्रियाकलापों से निवृत्त हो गया – ४१०, ४१२, ४२२, ४८९, ५०७, ५३०, ५८४, ५८६, ५९४, ६५८, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६८।

डेविड एडुअर्ड (१८६३-१९३०) – जर्मन सामाजिक-जनवाद का एक दक्षिण-पक्षीय नेता, संशोधनवादी; पहले विश्व-युद्ध (१९१४-१८) के दौरान इसने सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी रुख़ अपनाया – १७०।

ड्यूहरिंग, यूजेन (१८३३-१९२१) – जर्मन दार्शनिक और अर्थशास्त्री। इसके दृष्टिकोण आदर्शवाद और असभ्य पदार्थवाद का असैद्धांतिक मिश्रण थे; फ़्रेडरिक एंगेल्स ने 'ड्यूहरिंग मत-खंडन' शीर्षक क्लासिकल रचना में इन दृष्टिकोणों की दमतोड़ आलोचना की – ७७, ८९, ९२, १६७, १६८।

त

तुगान-बरानोव्स्की, मिखाईल इवानोविच (१८६५-१९१९) – रूसी पूंजीवादी अर्थशास्त्री और तथाकथित "क़ानूनी मार्क्सवाद" का विख्यात प्रतिनिधि। 'रूसी फ़ेक्टरी – अतीत में और आज' शीर्षक अपनी पुस्तक में उन नरोदवादियों का विरोध

किया जो इस बात से इनकार करते थे कि रूस में पूंजीवाद का विकास असंभव है – १२६।

तूलिन क० (**लेनिन**) – १७३।

त्काचोव, प्योत्र निकीतिच (१८४४-१८८५) – क्रांतिकारी नरोदवाद का एक विचारक, पब्लिसिस्ट और साहित्य समीक्षक। त्काचोव क्रांतिकारी नरोदवाद की एक ऐसी प्रवृत्ति का प्रधान था जो ब्लांकीवाद के समीप थी। इसकी मान्यता थी कि क्रांतिकारी अल्पमत को राजनीतिक सत्ता जीत लेनी चाहिए, नये राज्य का निर्माण करना चाहिए और क्रांतिकारी सुधार लागू करने चाहिए। एंगेल्स ने त्काचोव के निम्न-पूंजीवादी दृष्टिकोणों की आलोचना की – ३६५।

त्येर्री, ओग्युस्तेन (१७९५-१८५६) – उदार प्रवृत्तिवाला फ़्रांसीसी पूंजीवादी इतिहासकार। समाज का वर्गों में विभाजन स्वीकार करते हुए यह मानता था कि वर्गों का मूल कुछ जनताओं द्वारा दूसरी जनताओं को जीत लिया जाने में है। यह इस बात से इनकार करता था कि पूंजीपति वर्ग और सर्वहारा के बीच के अंतर्विरोध में कोई समन्वय नहीं हो सकता – ४६।

त्राविंस्की (**क्रजिजानोव्स्की, ग्लेब मक्सीमिलिआनोविच**) (१८७२-१९५९) – कम्युनिस्ट पार्टी का एक पुराना नेता, सुप्रसिद्ध सोवियत वैज्ञानिक और विद्युत् शक्ति विशेषज्ञ। १८९३ में लेनिन के साथ पीटर्सबर्ग को 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' का एक संगठक। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में अनुपस्थित होते हुए भी इसे केंद्रीय समिति के एक सदस्य के नाते चुन लिया गया। बोल्शेविक पत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में इसने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद रूस के बिजलीकरण समिति का प्रधान; १९२१-३० में राज्य आयोजना आयोग का प्रधान; १९२९-३९ में सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी का उपाध्यक्ष; एनर्जिटिक्स संबंधी कई रचनाओं का लेखक – ४९३, ५३६, ५८८, ६०८, ६५१, ६५९, ६६१, ६६२।

त्रेपोव, फ़्योदोर फ़्योदोरोविच – एडजुटेंट जनरल, पीटर्सबर्ग का गवर्नर – ६६६।

त्रोत्स्की (**ब्रोन्सटीन**), **लेव दवीदोविच** (१८७९-१९४०) – लेनिनवाद का कट्टर दुश्मन। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में साइबेरियाई संघ का प्रतिनिधि, अल्पमत का 'ईस्क्रा'-वादी; कांग्रेस के बाद

इसने समाजवादी क्रांति के सिद्धांत और व्यवहार से संबंधित सभी प्रश्नों पर बोल्शेविकों के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। प्रतिक्रिया के काल (१९०७-१०) में – विसर्जनवादी; १९१२ में पार्टी विरोधी अगस्त गुट संगठित किया। पहले विश्व-युद्ध के दौरान मध्यवादी रुख़ अपनाया; युद्ध, शांति और क्रांति के प्रश्नों पर लेनिन के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। अक्तूबर क्रांति की पूर्ववेला में इसने बोल्शेविक पार्टी में प्रवेश किया पर अपने फूटपरस्त क्रियाकलाप सक्रियतापूर्वक जारी रखे। १९१८ में ब्रेस्ट शांति संधि का विरोध किया। १९२०-२१ में लेनिन की ट्रेड-यूनियनों और ट्रेड-यूनियन आंदोलन विषयक नीति का विरोध किया। १९२३ में पार्टी की आम नीति के विरुद्ध संघर्ष करनेवाले विरोधी तत्त्वों का प्रधान रहा। कम्युनिस्ट पार्टी ने त्रोत्स्कीवाद का पर्दाफ़ाश कर दिखा दिया कि यह पार्टी की निम्न-पूंजीवादी प्रवृत्ति है। पार्टी ने इस प्रवृत्ति को विचारधारात्मक और संगठनात्मक दोनों प्रकार से उखाड़ फेंक दिया। १९२७ में त्रोत्स्की को पार्टी से निकाल दिया गया। १९२९ में इसे सोवियत विरोधी गतिविधियों के लिए देश से निष्कासित किया गया और फिर सोवियत नागरिकता से वंचित – ४००, ४०३, ४२९, ४३०, ४३१, ४४९, ४७४, ४७५, ४८७, ४९०, ५०४, ५१७, ५१८, ५२४, ५२६, ५३६, ५६५, ५६९, ५७८, ५७९, ५८६, ५८८, ६५१, ६५८, ६५९, ६६१, ६६२।

थ

थियेर, एदोल्फ़ (१७९७-१८७७) – फ़्रांसीसी पूंजीवादी प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञ और इतिहासकार, पेरिस कम्यून का जल्लाद – ४६।

द

देदोव (क्निपोविच, लीदिया मिख़ाइलोव्ना) (१८५६-१९२०) – पेशावर क्रांतिकारी, बोल्शेविक। इसने १९ वीं शताब्दी के आठवें दशक में अपने क्रांतिकारी क्रियाकलाप शुरू किये; मज़दूरों के बीच व्यापक शैक्षणिक और सांस्कृतिक कार्य किया; रूस के स्थानीय संगठनों के साथ 'ईस्क्रा' के संबंध स्थापित कराने में बड़ी भूमिका अदा की। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में बहुमत की 'ईस्क्रा'-वादी – ६६१, ६६४।

नदेज्दिन ल० (ज़ेलेन्स्की, येवगेनी ओसिपोविच) (१८७७-१९०५)—अपने प्रारंभिक राजनीतिक क्रियाकलापों में एक नरोदवादी, बाद में सामाजिक-जनवादी। अपनी रचनाओं में इसने "अर्थवादियों" का समर्थन किया पर साथ-साथ यह प्रचार भी किया कि आतंकवाद "जनता को हिलाने" का एक प्रभावशाली साधन है। इसने लेनिन के 'ईस्क्रा' का विरोध किया। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस के बाद मेन्शेविक पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखता रहा—३४१, ३४४, ३४९, ३५२, ३५३, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ४५८, ५०३।

न० न० (देखिये प्रोकोपोविच)—२८८।

नरसिस तुपोरिलोव (देखिये मार्तोव, यू० ओ०)—२१६, २३२।

नाइट, राबर्ट (१८३३-१९११)—ब्रिटिश ट्रेड-यूनियन आंदोलन का एक प्रसिद्ध नेता; १८७१-९९ में बायलर निर्माताओं की ट्रेड-यूनियन और बायलर निर्माताओं तथा जहाज़ निर्माताओं की संयुक्त ट्रेड-यूनियन का सेक्रेटरी। क्लासिक ट्रेड-यूनियनवाद का एक विशिष्ट प्रतिनिधि। यह वाद मालिक विरोधी संघर्ष को मज़दूरों के लिए बेहतर आर्थिक स्थितियों की मांग तक ही सीमित मानता था—२५३, २५४।

नीत्शे फ़्रेडरिक (१८४४-१९००)—जर्मन भाववादी दार्शनिक, फ़ासिज़्म का एक वैचारिक अग्रदूत—५४२, ५४३।

न—ओन (दानियलसन, निकोलाई फ़्रान्सेविच) (१८४४-१९१८)—रूसी समाजशास्त्री और पब्लिसिस्ट; १९ वीं शताब्दी के नवें और अंतिम दशकों में उदार नरोदवाद का एक विचारक। इसके राजनीतिक क्रियाकलापों से ज़ारशाही विरोधी क्रांतिकारी कार्रवाइयों के स्थान में ज़ारशाही के साथ राज़ीनामा करने की नरोदवादियों की नीति अभिव्यक्त होती है—१२५।

प

पानिन (मकादज़्यूब, मार्क साउलोविच) (जन्म १८७६)—रूसी सामाजिक-जनवादी जो रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में मेन्शेविकों से जा मिला। प्रतिक्रिया के काल (१९०७-१०) में—विसर्जनवादी और मेन्शेविक

फ

१७५, १७८, २१४, २३०, २३२, ३२७, ३७६, ६००, ६१६, ६१७, ६४३।

ब–व (साविन्कोव, बोरीस वीक्तोरोविच) (१८७९-१९२५)–निम्न-पूंजीवादी समाजवादी-क्रांतिकारी पार्टी का एक नेता। इसने सोवियत सरकार के विरुद्ध ज़ोरदार संघर्ष छेड़ा; कई प्रतिक्रांतिकारी विद्रोह और षड्यंत्र रचे–२७८, २८२, ३०८, ३०९, ३१०, ३१२, ३१४, ३२२।

बाल्लहोर्न, जोहान्न–१६ वीं शताब्दी का एक जर्मन पुस्तक-प्रकाशक–२३७।

बावेर, एड्गर (१८२०-१८८६)–जर्मन पब्लिसिस्ट, तरुण हेगेलवादी; आदर्शवादी दार्शनिक ब्रूनो बावेर का भाई–७५।

बावेर, ब्रूनो (१८०९-१८८२)–जर्मन आदर्शवादी दार्शनिक, प्रसिद्ध तरुण हेगेलवादियों में से एक, पूंजीवादी उग्रवादी; आरंभिक ईसाइयत के इतिहास से संबंधित कई रचनाओं का लेखक; १८६६ के बाद राष्ट्रीय-उदारवादी और बिस्मार्क का अनुयायी।– ३२, ३३, ७५।

बियर, मैक्स (१८६४-१९४३)–जर्मन सामाजिक-जनवादी; समाजवाद का एक इतिहासकार–६००।

बिस्मार्क, ओटो (१८१५-१८९८)–राजकुमार, राजवादी, प्रशियन राजनयिक; १८७१ से १८९० तक जर्मन साम्राज्य का चान्सलर। इसने बलपूर्वक प्रशा के अधीन जर्मनी का एकीकरण किया–३३, ६८।

बुख़नर, फ़्रेडरिक कार्ल क्रिश्चन लुडविग (१८२४-१८९९)–जर्मन शरीर-शास्त्री, असभ्य पदार्थवाद का समर्थक; इसने वैज्ञानिक समाजवाद का विरोध किया–३९।

बुल्गाकोव, सेर्गेई निकोलायेविच (१८७१-१९४४)–पूंजीवादी अर्थशास्त्री और आदर्शवादी दार्शनिक; १९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक का एक "क़ानूनी मार्क्सवादी"। १९०५-०७ की क्रांति के बाद इसने सांविधानिक-जनवादियों से नाता जोड़ा। १९२२ में बुल्गाकोव को सोवियत विरोधी क्रियाकलापों के लिए विदेश में निष्कासित किया गया जहां वह सोवियत संघ विरोधी प्रचार करता रहा–१७९, ३७४।

बेबेल अगस्त (१८४०-१९१३)–जर्मन सामाजिक-जनवाद और दूसरी इंटरनेशनल का एक संस्थापक और प्रधान व्यक्ति; व्यवसाय से ख़रादी। इसने

जर्मन मज़दूर आंदोलन में उत्पन्न संशोधनवाद और सुधारवाद का सक्रिय विरोध किया – १६६, १७०, २३६, २३७, ३०१, ३१५, ३६२, ४६१, ४६२, ५७३, ६००।

बेरदियाएव, निकोलाई अलेक्सान्द्रोविच (१८७४-१९४८) – प्रतिक्रियावादी आदर्शवादी दार्शनिक और रहस्यवादी; इसने मार्क्सवाद का खुल्लमखुल्ला विरोध किया। अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद यह देश छोड़कर चला गया – ३७४।

बेलतोव (देखिये प्लेखानोव) – १३६, १४२, २१६।

बेलींस्की, विस्सारिओन ग्रिगोर्येविच (१८११-१८४८) – महान् रूसी क्रांतिकारी-जनवादी; साहित्य समीक्षक और पब्लिसिस्ट; पदार्थवादी दार्शनिक – १८४।

बलोव (त्सीत्लिन, ल० स०) (जन्म १८७७ में) – रूसी सामाजिक-जनवादी; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में इसने मध्यवादी रुख़ अपनाया और कांग्रेस के बाद मेन्शेविक बना। १९०७ में सक्रिय राजनीतिक कार्य से निवृत्त हो गया – ४११, ४२२, ६६३, ६६४, ६६७।

बोबोरीकिन प्योत्र द्मीत्रियेविच (१८३६-१९२१) – १९ वीं शताब्दी के अंत और २० वीं शताब्दी के आरंभ का एक रूसी लेखक। इसके 'दूसरी तरह' शीर्षक उपन्यास (१८९७) में नरोदवादियों और मार्क्सवादियों के बीच के संघर्ष का विकृत चित्रण किया गया था। यह न्यायसंगत ही रहा कि प्रगतिशील जनता ने इस उपन्यास की निंदा की – १३४।

बोह्म-बावर्क, यूजेन (१८५१-१९१४) – आस्ट्रियाई पूंजीवादी अर्थशास्त्री, "सीमान्त उपयुक्तता के सिद्धांत" का प्रवर्तक। अपनी रचनाओं में इसने श्रम मूल्य और अतिरिक्त मूल्य के मार्क्सवादी सिद्धांतों का खंडन करने का प्रयत्न किया। "उपयुक्तता" को मूल्य का स्रोत मानते हुए बोह्म-बावर्क पूंजी द्वारा श्रम के शोषण पर पर्दा डालना चाहता था – ९२, ९४।

ब्रूकर (मख़्नोवेत्स लीदिया पेत्रोव्ना) (जन्म १८७७ में) – १९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक के अंत से लेकर यह सामाजिक-जनवादी आंदोलन में भाग लेती रही; यह "अर्थवाद" की एक प्रतिनिधि थी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में इसने 'ईस्क्रा'-विरोधी रुख़ अपनाया। बाद में राजनीतिक क्रियाकलापों से निवृत्त हुई – ३९७, ३९८, ४०१, ४०३, ४१४,

४३०, ४३३, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५२, ४५५, ४५८, ४५९, ४६०, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९१, ४९२, ४९३, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५२३, ५२८, ५२९, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६९, ५७०, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६१९, ६२८, ६३२, ६३३, ६३६, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६५१, ६५२, ६५४, ६५५, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८।

मिख़ाइलोव, अलेक्सान्द्र द्मीत्रियेविच (१८५५-१८८४) – 'नरोद्नाया वोल्या' पार्टी का एक संस्थापक और उसकी कई फ़ौजी कार्रवाइयों का संगठक। १८८० में इसे गिरफ़्तार कर लिया गया और फांसी की सज़ा दी गयी; पर बाद में यह सज़ा आजीवन कठोर काले पानी की सज़ा में परिवर्तित की गयी – ३२४।

मिख़ाइलोव, निकोलाई निकोलायेविच (१८७०-१९०५) – दंत-चिकित्सक, उत्तेजनाकारी एजेंट। लेनिन और पीटर्सबर्ग की 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' के अन्य नेताओं के विरुद्ध इसकी सूचना दिसंबर १८९५ में इन नेताओं की गिरफ़्तारी में सहायक हुई। १९०२ से यह पुलिस विभाग में काम करता रहा, १९०५ में समाजवादी-क्रांतिकारियों ने इसे मार डाला – १९७।

मिख़ाइलोव्स्की, निकोलाई कोन्स्तान्तीनोविच (१८४२-१९०४) – रूसी समाजशास्त्री, पब्लिसिस्ट, साहित्य समीक्षक, उदार नरोदवाद का विख्यात सिद्धांतकार; इसने मार्क्सवादियों के विरुद्ध डटकर संघर्ष किया – ९९, ११७, १२५, १२६, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, २१६, ३७३।

मिन्ये, फ़्रान्सुआ ओग्यूस्त (१७९६-१८८४) – उदार प्रवृत्ति का फ़्रांसीसी पूंजीवादी इतिहासकार; इतिहास में वर्ग-संघर्ष की भूमिका की ओर पहले पहल

संकेत करनेवालों में से एक। पर इसने उक्त संघर्ष को भूस्वामी अभिजात वर्ग और पूंजीवादी वर्ग के बीच के संघर्ष तक ही सीमित माना – ४६।

मिलेरां, अलेक्सान्द्र एत्येन (१८५९-१९४३) – फ़्रांसीसी प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञ; १९ वीं शताब्दी के अंतिम दशक में समाजवादी; १८९९ में समाजवाद के साथ विश्वासघात कर फ़्रांस की प्रतिक्रियावादी पूंजीवादी सरकार में प्रवेश किया – १६१, १६२, १६३, ३७९, ३८३, ६४१, ६४२।

मिश्किन, इप्पोलित निकीतिच (१८४८-१८८५) – क्रांतिकारी नरोदवादी; इसने १८७५ में चेर्निशेव्स्की को निष्कासन से मुक्त करने का प्रयत्न किया पर इसमें असफल रहा और गिरफ़्तार कर लिया गया – २८३, ३२४, ४६०।

मीन्स्की (विलेन्किन, निकोलाई मक्सीमोविच) (१८८५-१९३७) – रूसी कवि और पब्लिसिस्ट, कला में पूंजीवादी व्यक्तिवाद का समर्थक। रूस की अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद देश छोड़कर चला गया – ९९।

मुराव्योव (मिशेनेव, गेरासिम मिख़ाइलोविच) (मृत्यु १९०६ में) – रूसी सामाजिक-जनवादी; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में बहुमत का 'ईस्क्रा'-वादी; कांग्रेस के बाद – बोल्शेविक; इसने मेन्शेविकों के विरुद्ध सुसंगत संघर्ष किया; लेनिन की पार्टी निर्माण की योजना का सक्रिय समर्थक – ४१२, ५०८, ५०९, ५२३, ५२५, ५२९, ५३३।

मेज्जिनी, जुझेप्पे (१८०५-१८७२) – सुप्रसिद्ध इटालवी क्रांतिकारी और जनवादी जिसने इटली की राष्ट्रीय मुक्ति और एकीकरण के लिए संघर्ष किया – ३६।

मेद्वेदेव (निकोलायेव लेओनीद व्लादीमिरोविच) – रूसी सामाजिक-जनवादी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में उसने मध्यवादी रुख़ अपनाया; कांग्रेस के बाद मेंशेविकों से जा मिला – ४२२, ४७८।

मेश्चेर्स्की, व्लादीमिर पेत्रोविच (१८३९-१९१४) – चरम प्रतिक्रियावादी पब्लिसिस्ट और यमदूत-सभा प्रवृत्ति वाली 'ग्राज्दानिन' (नागरिक) नामक पत्रिका का प्रकाशक – २६३।

मेहरिंग, फ़्रांज़ (१८४६-१९१९) – जर्मन मज़दूर आंदोलन का एक विख्यात नेता, जर्मन सामाजिक-जनवाद के वाम पक्ष का एक नेता और सिद्धांतकार; इतिहासकार, पब्लिसिस्ट और साहित्य समीक्षक। इसने कार्ल लीब्कनेख़्त, रोज़ा लुक्ज़ेम्बुर्ग इत्यादि के साथ जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की – २१४।

मोलेशौट, जेकब (१८२२-१८९३) – डच वैज्ञानिक, शरीर-विज्ञान का प्रोफ़ेसर; असभ्य पदार्थवाद का एक प्रमुख प्रतिनिधि – ३९।

मोस्ट, जोहान जोसेफ़ (१८४६-१९०६) – जर्मन सामाजिक-जनवादी, बाद को अराजकतावादी। इसने "कार्रवाई द्वारा प्रचार' के अराजकतावादी विचार का समर्थन किया। इसकी मान्यता थी कि वैयक्तिक आतंक क्रांतिकारी संघर्ष का सबसे प्रभावशाली साधन है – ६९, १६८, २१४, ३०२।

म्यूलबर्गर, आर्थर (१८४७-१९०७) – जर्मन निम्न-पूंजीवादी पब्लिसिस्ट, प्रूदों का अनुयायी; चिकित्सक – ८९, १६७।

य

युजाकोव, सेर्गेई निकोलायेविच (१८४९-१९१०) – उदार नरोदवाद का एक विचारक, समाजशास्त्री और पब्लिसिस्ट। इसने 'ओतेचेस्त्वेन्नियें जापीस्की', 'वेस्त्निक येव्रोपी' इत्यादि पत्रिकाओं में लेख लिखे। 'रूस्स्कोये बोगात्सत्वो' पत्रिका के नेताओं में से एक; इसने मार्क्सवाद के विरुद्ध डटकर संघर्ष किया – १२०, १२५, १३३, १४२।

यूज़ोव (काब्लित्स, इयोसिफ़ इवानोविच) (१८४८-१८९३) – १९ वीं शताब्दी के नवें और अंतिम दशकों में उदार नरोदवाद का एक विचारक; पब्लिसिस्ट – १२५, १२६, १४०, १४२।

यूदिन (आइज़ेन्स्ताद, इसाई ल्वोविच) (१८६७-१९३७) – यहूदी राष्ट्रवादी संगठन बुंद का एक नेता, रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में – 'ईस्क्रा'-विरोधी; कांग्रेस के बाद – सक्रिय मेन्शेविक। इसने अक्तूबर समाजवादी क्रांति के प्रति शत्रुत्वपूर्ण रुख़ अपनाया; देश छोड़कर चला गया – ४०८, ४०९।

येगोरोव (लेविन, येफ़्रेम याकोव्लेविच) (जन्म १८७३ में) – रूसी सामाजिक-जनवादी, रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में मध्यवादी रुख़ अपनाया; कांग्रेस के बाद मेन्शेविकों से नाता जोड़ा। फिर राजनीतिक क्रियाकलापों से निवृत्त हो गया – ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०९, ४११, ४१२, ४१५, ४१६, ४१८, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३२, ४४७, ४४८, ४४९, ४५३,

रहा – ४१०, ४१२, ४७८, ४८२, ४६०, ४६५, ४६६, ५१६, ५२३, ५२७, ६६१, ६६४।

रोगाचोव, द्मीत्री मिखाइलोविच (१८५१-१८८४) – रूसी क्रांतिकारी-नरोदवादी, 'नरोद्नाया वोल्या' पार्टी का एक प्रमुख सदस्य; इसने कई आतंकवादी कार्रवाइयों में भाग लिया। १८७६ में गिरफ़्तार कर लिया गया और उसे काले पानी की सजा दी गयी। सज़ा काटते हुए ही इसकी मृत्यु हुई – – ३२४।

रोज़ानोव, व्लादीमिर निकोलायेविच (१८७६-१९३९) – रूसी सामाजिक-जनवादी; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में इसने मध्यवादी रुख़ अपनाया; कांग्रेस के बाद – सक्रिय मेन्शेविक – ६६, १४०।

रोज़ेनोव, एमिल (१८७१-१९०४) – जर्मन सामाजिक-जनवादी; पत्रकार; इसने कई सामाजिक-जनवादी समाचारपत्रों में लेख लिखे। १८९८-१९०३ में राइख़स्टाग का डेपुटी – ६३५।

रौडबर्टस – यागेत्सोव, जोहान्न कार्ल (१८०५-१८७५) जर्मन असभ्य अर्थशास्त्री, बड़ा प्रशियन भूस्वामी, 'राज्य समाजवाद" का एक सिद्धान्तकार – ५६।

ल

लफ़ार्ग, पाल (१८४२-१९११) फ़्रांसीसी समाजवादी पार्टी का एक संस्थापक और नेता; दूसरी इंटरनेशनल के क्रांतिकारी पक्ष का एक प्रमुख व्यक्ति; कई मार्क्सवादी रचनाओं का लेखक – २३६।

लफ़ार्ग, लौरा (१८४५-१९११) – मार्क्स की पुत्री और फ़्रांसीसी समाजवादी पाल लफ़ार्ग की पत्नी; इसने फ़्रांसीसी मज़दूर आंदोलन में भाग लिया – ३६।

लांगे (स्तोपानी, अलेक्सान्द्र मित्रोफ़ानोविच) (१८७१-१९३२) – पेशावर क्रांतिकारी, बोल्शेविक; 'ईस्क्रा' के प्रकाशन की तैयारी में इसने भाग लिया; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में बहुमत का 'ईस्क्रा'-वादी; कांग्रेस के बाद पार्टी का सक्रिय कार्यकर्त्ता रहा और हड़तालों के संगठन तथा मज़दूर डेपुटियों की सोवियतों के निर्माण में हाथ बंटाया। अक्तूबर

समाजवादी क्रांति के बाद लांगे पार्टी के कार्य में लगा रहा – ४०३, ४११, ४२६, ५२६, ५३१।

लाइबर (गोल्डमन, मिखाईल इसाकोविच) (१८८०-१९३७) – यहूदी राष्ट्रवादी संगठन बुंद का एक नेता। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में इसने बुंद के प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व किया और चरम दक्षिण पक्षीय, 'ईस्क्रा'-विरोधी रुख़ अपनाया; कांग्रेस के बाद – मेन्शेविक – ४२०, ४२१, ४२३, ४२४, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४४७, ४४८, ४४९, ४६७, ४७०, ४७४, ४७५, ४७७, ४९४, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५१६, ५३९, ५४६, ५६१, ५६३, ५९६, ६१६।

लागार्देल, ज़ूबेर (१८७५-१९१४) – फ़्रांसीसी निम्न-पूंजीवादी राजनीतिज्ञ; अराजकतावादी-सिंडिकेटवादी – ९७।

लॉन्गे, जेनी (१८४४-१८८३) – मार्क्स की पुत्री और फ़्रांसीसी समाजवादी चार्ल्स लॉन्गे की पत्नी – ३६।

लावरोव, प्योत्र लावरोविच (१८२३-१९००) – रूसी समाजशास्त्री और पब्लिसिस्ट, क्रांतिकारी नरोदवाद का विचारक 'ज़ेम्ल्या-इ-वोल्या' संस्था का और बाद में 'नरोद्नाया वोल्या' पार्टी का सदस्य। दर्शन के क्षेत्र में इसके विचार असैद्धांतिक थे और समाजशास्त्र के विषय में इसने इस बात पर ज़ोर दिया कि मानवता की प्रगति "आलोचनात्मक ढंग से सोचनेवाले व्यक्तियों" के क्रियाकलापों का फल है – ३१८।

लासाल, फ़र्दीनांद (१८२५-१८६४) – सुप्रसिद्ध जर्मन समाजवादी, आम जर्मन मज़दूर संघ का संस्थापक। इस संघ ने मज़दूरों को "उदार पूंजीवादियों के पुछल्ले से स्वतंत्र राजनीतिक पार्टी में" (लेनिन) परिवर्तित करने में काफ़ी हाथ बंटाया। पर साथ ही लासाल और उसके अनुयायियों ने मुख्य राजनीतिक प्रश्नों पर अवसरवादी रुख़ अपनाया और इसके लिए मार्क्स तथा एंगेल्स ने उनकी कड़ी आलोचना की – ३६, ६८, १५६, १६७, २०३।

लीब्कनेख़्त, विल्हेल्म (१८२६-१९००) – जर्मन और अंतर्राष्ट्रीय मज़दूर आंदोलन का एक विख्यात नेता; जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी और दूसरी इंटरनेशनल का एक संस्थापक और नेता – ६८, २१३, २५३, २५४, ३०१, ४९१, ४९२, ५४३।

लेंस्की (विलेन्स्की, लेग्रोनीद सेम्योनोविच) (१८८०-१९५०) – रूसी सामाजिक-जनवादी; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में बहुमत का 'ईस्क्रा'-वादी; कांग्रेस के बाद – बोल्शेविक। १९०५ में यह रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी से अलग हो गया और 'बुंतार' (बाग़ी) नामक अराजकतावादी पत्रिका का एक संपादक बन गया; फिर राजनीतिक क्रियाकलापों से निवृत्त हो गया – ४२२, ४७८, ६६६।

ले (देखिये लेनिन, व्लादीमिर इल्यीच) – ५१०, ५११।

लेनिन, न० (देखिये लेनिन, व्ला० इ०) ३१, १५६, ३८७, ३६१।

लैब्रियोला, आर्तूरो (जन्म १८७५) – इटालवी अर्थशास्त्री और सिंडिकेटवाद का एक सिद्धांतकार – ६७।

लोमोनोसोव, मिख़ाईल वसील्येविच (१७११-१७६५) – महान् रूसी पदार्थवादी वैज्ञानिक और लेखक; इनका जन्म एक किसान परिवार में हुआ था। यह रूस के वैज्ञानिक क्षेत्र के पहले विख्यात प्रतिनिधि थे। अपने अनुसंधानों के द्वारा इन्होंने ज्ञान की कई शाखाओं को समृद्ध किया – २३४, २३५, २३७, २३८।

ल्यादोव (मांदेलश्ताम, मार्तीन निकोलायेविच) (१८७२-१९४७) – पेशावर क्रांतिकारी, बोल्शेविक; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में बहुमत का 'ईस्क्रा'-वादी। कांग्रेस के बाद इसने रूस और विदेशों के मेन्शेविकों के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष किया – ४१२, ५४८, ६५८, ६५९, ६६१, ६६३, ६६८।

ल्वोव (मोशीन्स्की, इयोसिफ़ निकोलायेविच) (१८७५-१९५४) – रूसी सामाजिक-जनवादी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में इसने मध्यवादी रुख़ अपनाया; कांग्रेस के बाद मेन्शेविकों से नाता जोड़ लिया। अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद यह राजनीतिक क्रियाकलापों से निवृत्त हो गया और मास्को में वक़ालत करता रहा – ४२०, ४२१, ४२२।

व

व० इ०.. (इवानशिन, व्लादीमिर पाव्लोविच) (१८६९-१९०४) – रूसी सामाजिक-जनवादी और एक "अर्थवादी" नेता। इसके लेखों ने मज़दूरों के फ़ौरी आर्थिक हितों के आगे सामाजिक-जनवाद के राजनीतिक कार्यों को गौण

दिखाया। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस के बाद यह मेन्शेविक बन गया – १९६, २०६, २०८, २०९, ३७४।

वसील्येव, निकीता वसील्येविच (जन्म १८५५ में) – राजनीतिक पुलिस का एक कर्नल; जुबातोव के "पुलिस समाजवाद" का अनुयायी – २९३।

वसील्येव (लेंगनिक, फ़्रेडरिक विल्हेल्मोविच) (१८७३-१९३६) – एक पुराना बोल्शेविक; १८९३ में क्रांतिकारी आंदोलन में प्रवेश किया; १९०१ में 'ईस्क्रा' संगठन का सदस्य बना; रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में केंद्रीय समिति के सदस्य के नाते चुन लिया गया। अक्तूबर क्रांति के बाद इसने शिक्षा के जन-कमिसरियट और विदेश व्यापार के जन-कमिसरियट में काम किया – ४९३, ५८८, ६५१, ६५९।

वानेयेव, अनातोली अलेक्सेयेविच (१८७१-१८९९) – रूसी सामाजिक-जनवादी। १८९५ में इसने पीटर्सबर्ग की 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' की स्थापना में सक्रिय भाग लिया, 'राबोचेये देलो' (मज़दूरों का कार्य) समाचारपत्र के प्रकाशन से संबंधित टेकनिकल तैयारी में मार्गदर्शन किया। 'संघर्ष लीग' से संबंधित मामले में इसे गिरफ़्तार कर लिया गया और १८९७ में पूर्वी साइबेरिया में निष्कासित किया गया – १९२, १९४।

वाह्लटीख़, कार्ल जूलियस (१८३९-१९१५) – जर्मन मोची; दक्षिण पक्षीय सामाजिक-जनवादी; लासालवादी आम जर्मन मज़दूर संघ का एक संस्थापक और उसका पहला सेक्रेटरी। जब समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून स्वीकार किया गया (१८७८) तो यह संयुक्त राज्य अमरीका चला गया और वहां मज़दूर आंदोलन में भाग लेता रहा – १६८।

वित्ते, सेर्गेई यूल्येविच (१८४९-१९१५) – रूसी राजनयिक; १९०५-१९०६ में मंत्रि-परिषद का अध्यक्ष; उदार पूंजीपतियों को फुटकर सुविधाएं और आश्वासन देकर तथा जनता के प्रति पाशविक दमन का सहारा लेकर इसने १९०५-१९०७ की क्रान्ति को कुचलने का प्रयत्न किया – २६८।

विलिख़, अगस्त (१८१०-१८७८) – एक प्रशियन अफ़सर; कम्युनिस्ट लीग का सदस्य और "बायें" दल का प्रधान। १८४८ की क्रान्ति के बाद यह दल कार्ल मार्क्स के विरुद्ध खड़ा हुआ – ६७।

विल्हेल्म द्वितीय (होहेनज़ोलेर्न) (१८५९-१९४१) – जर्मन सम्राट् और प्रशा का राजा (१८८८-१९१८) – २७३।

वीट्लिंग, विल्हेल्म (१८०८-१८७१) – जर्मन दर्जी; जर्मन मज़दूर आन्दोलन के आरम्भ काल में उसका एक प्रमुख कार्यकर्त्ता; काल्पनिक "समताकारी" कम्युनिज़्म का एक सिद्धांतकार – २०२।

वी० वी० (वोरोन्त्सोव, वसीली पाव्लोविच) (१८४७-१९१८) – अर्थशास्त्री और पब्लिसिस्ट; १९ वीं शताब्दी के नवें और अंतिम दशक का एक उदार नरोदवादी विचारक; 'रूस में पूंजीवाद का भविष्य' आदि पुस्तकों का लेखक। अपनी रचनाओं में इसने रूस में पूंजीवादी विकास को अस्वीकार किया और छोटे माल उत्पादन की प्रशंसा की। वोरोन्त्सोव ने ज़ारशाही के साथ समझौते का समर्थन और मार्क्सवाद का डटकर विरोध किया – ११७, १२१, १२५, १३१, १३३, १४२, १४३, १४७, १९७, १९८, १९९, २०७, २११, २१५।

वेब, बीट्रिस (१८५८-१९४३) और **वेब, सिडनी** (१८५९-१९४७) – ब्रिटिश सार्वजनिक कार्यकर्त्ता। इन्होंने १८८३-८४ म सुधारवादी फ़ेबियन सोसाइटी की स्थापना की। ब्रिटिश मज़दूर आंदोलन से संबंधित कई पुस्तकों के लेखक। पहले विश्व-युद्ध के दौरान सामाजिक-अंधराष्ट्रवादी। अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद सोवियत संघ के प्रति वेब दंपती का रुख़ बड़ा सहानुभूतिपूर्ण रहा – २२९, ३२६।

वेस्टफ़ालेन, जेनी फ़ॉन (१८१४-१८८१) – कार्ल मार्क्स की पत्नी, सच्ची सखी और सहायिका – ३३।

वैंडरवेल्डे, एमिल (१८६६-१९३८) – बेलजियन मज़दूर पार्टी और दूसरी इंटरनेशनल के अवसरवादी पक्ष का एक नेता। १९१४-१८ के साम्राज्यवादी युद्ध के आरंभ में इसने बेलजियन पूंजीवादी सरकार में प्रवेश किया – ९६।

वोर्म्स, अलफ़ोंस एर्नेस्तोविच (१८६८-१९३७) – वकील, मास्को विश्वविद्यालय का प्रोफ़ेसर, उदारवादी। इसने १९०१-०२ में ज़ुबातोव संगठनों की सभाओं में भाषण दिये – २९३।

वोलीन्स्की (फ़्लेक्सर, अकीम ल्वोविच) (१८६३-१९२६) – कला समीक्षक और "कला के लिए कला" के प्रतिगामी सिद्धांत का समर्थक। अपने लेखों में इसने क्रांतिकारी-जनवादी पत्रकारिता की आलोचना की – १४०।

वोल्टमान, लुडविग (१८७१-१९०७) – जर्मन प्रतिक्रियावादी समाजशास्त्री और नृवंशशास्त्री। इसकी मान्यता थी कि आर्थिक संघर्ष मज़दूर आंदोलन

साब्लिना (क्रूप्स्काया, नदेज्दा कोन्स्तान्तीनोव्ना) (१८६९-१९३९) – पेशावर क्रांतिकारी, कम्युनिस्ट पार्टी और सोवियत राज्य की एक विख्यात कार्यकर्त्री, लेनिन की पत्नी – ४८६, ६६७।

सेंट-साइमन, आंरी क्लाड (१७६०-१८२५) – विख्यात फ़्रांसीसी विचारक और काल्पनिक समाजवाद का एक प्रमुख प्रतिनिधि – १८५।

सेरेब्रियाकोव, एस्पर अलेक्सान्द्रोविच (१८५४-१९२१) – रूसी क्रांतिकारी-नरोदवादी; 'नरोद्नाया वोल्या' पार्टी का सदस्य। १८८३ में देश छोड़कर चला गया। १८९९-१९०२ में लंदन में 'नकानूने' (पूर्ववेला) पत्रिका प्रकाशित करता रहा। अक्तूबर समाजवादी क्रांति के बाद रूस के क्रांतिकारी आंदोलन के इतिहास पर काम करता रहा – ३२४।

सोरोकिन (बाउमन निकोलाई एर्नेस्तोविच) (१८७३-१९०५) – पेशावर क्रांतिकारी, बोल्शेविक पार्टी का एक प्रसिद्ध कार्यकर्त्ता, इसने पीटर्सबर्ग की 'मज़दूर वर्ग की मुक्ति के लिए संघर्ष करनेवाली लीग' के कार्य में सक्रिय भाग लिया। १९०३ में मास्को पार्टी समिति का प्रधान रहा; १९०५ की अक्तूबर में मास्को में आयोजित प्रदर्शन के दौरान में यमदूत-सभाइयों ने इसकी हत्या कर डाली – ४०३, ४८६, ५२९, ५३०, ६६७।

स्काल्दिन (येलेनेव, फ़्योदोर पाव्लोविच) (१८२८-१९०२) – रूसी पब्लिसिस्ट-लेखक; १९ वीं शताब्दी के सातवें दशक में पूंजीवादी उदारवाद का प्रतिनिधि; 'ओतेचेस्त्वेन्नियें ज़ापीस्की' (पितृभूमि विषयक टिप्पणियां) पत्रिका का एक लेखक; बाद के वर्षों में स्काल्दिन चरम प्रतिक्रियावादियों से जा मिला – १००, १०१, १०२, १०३, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, १२१, १२२।

स्टाइन (अलेक्सान्द्रोवा, येकातेरीना मिखाइलोव्ना) (१८६४-१९४३) – रूसी सामाजिक-जनवादी। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में यह अल्पमत के 'ईस्क्रा'-वादियों के पक्ष में हो गयी; कांग्रेस के बाद सक्रिय मेन्शेविक – ४८२, ४८३, ६५८, ६६२, ६६५, ६६७।

स्टाइन, लोरेंज़ (१८१५-१८९०) – जर्मन पूंजीवादी न्यायशास्त्री, अर्थशास्त्री और इतिहासकार – ४२।

हाइने बोलफ़गैंग (जन्म १८६१) – जर्मन दक्षिण पक्षीय सामाजिक-जनवादी; संशोधनवाद का एक प्रमुखतम और स्पष्टवक्ता प्रतिनिधि; बर्न्सटीन का अनुयायी – ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६४२।

हिन्दमैन, हेनरी मायर्स (१८४२-१९२१) – ब्रिटिश समाजवादी पार्टी के संस्थापकों में से एक; उसके दक्षिण पक्ष का नेता; अवसरवादी। १९१६ में साम्राज्यवादी युद्ध के पक्ष में प्रचार करने के कारण इसे पार्टी से निकाल दिया गया। हिन्दमैन अक्तूबर क्रांति के विरुद्ध था और इसने सोवियत रूस के विरुद्ध हस्तक्षेप का समर्थन किया – ६००।

हिर्श, मैक्स (१८३२-१९०५) – जर्मन पूंजीवादी अर्थशास्त्री और पब्लिसिस्ट, प्रगतिवादी, राइख़स्टाग का डेपुटी। १८६८ में ब्रिटेन से लौट आने पर इसने फ़्रांज़ डुंकेर के साथ कई सुधारवादी ट्रेड-यूनियन संगठन (तथाकथित हिर्श-डुंकेर ट्रेड-यूनियनें) स्थापित किये। अपनी रचनाओं में इसने सर्वहारा की क्रांतिकारी कार्यनीति का विरोध और सुधारवाद का समर्थन किया – १९८, २०४।

हेक्सली, टामस (१८२५-१८९५) – अंग्रेज़ी प्रकृतिशास्त्री और दार्शनिक; चार्ल्स डारविन का घनिष्ठ सहयोगी और उसके मतों का प्रचारक। प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में स्वतःप्रवृत्त पदार्थवादी होते हुए इसने दर्शन के क्षेत्र में पदार्थवाद और आदर्शवाद के बीच का मार्ग अपनाने का प्रयत्न किया – ३९।

हेगेल, गेओर्ग विल्हेल्म फ़्रेडरिक (१७७०-१८३१) – महान् जर्मन दार्शनिक, वस्तुनिष्ठ आदर्शवादी और द्वंद्ववादी; क्लासिक जर्मन दर्शन का सुविख्यात प्रतिनिधि। हेगेल की महानता इस बात में है कि इन्होंने आदर्शवादी द्वंद्वात्मकता का विस्तृत विवेचन किया जो द्वंद्वात्मक पदार्थवाद के लिए सैद्धांतिक स्रोत बन गया – ३२, ३७, ३८, ४०, ४१, ७२, ७३, ८३, ९०, १८५, ६५३, ६५४।

हेरोस्ट्रेटस – एक यूनानी। इसने केवल प्रसिद्धि पाने के उद्देश्य से ३५६ ई० पू० में एथिंस स्थित अर्थेमिस के मंदिर में आग लगा दी। यह मंदिर प्राचीन कला का एक उत्कृष्ट नमूना था – १७५।

हेट्र्ज़ (उल्यानोव, द्मीत्री इल्यीच) (१८७४-१९४३) – लेनिन का सबसे छोटा भाई; पेशावर क्रांतिकारी, बोल्शेविक; चिकित्सक। रूसी सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की दूसरी कांग्रेस में बहुमत का 'ईस्क्रा'-वादी। अक्तूबर

समाजवादी क्रांति के बाद स्वास्थ्य-रक्षा के क्षेत्र में काम किया; मास्को स्थित लेनिन केंद्रीय संग्रहालय के काम में सक्रिय भाग लिया – ४६५, ४६६।

हेद्र्ज, फ़्रेडरिक ओटो (जन्म १८७८ में) – आस्ट्रियन अर्थशास्त्री, सामाजिक-जनवादी, संशोधनवादी; १८६६ में प्रकाशित 'समाजवादी दृष्टिकोण से कृषि विषयक प्रश्न' शीर्षक अपनी पुस्तक में इसने कृषि प्रश्न विषयक मार्क्सवादी सिद्धांतों का विरोध किया। इस पुस्तक का रूसी में अनुवाद हुआ था जिसका उपयोग बुल्गाकोव तथा अन्य पूंजीवादी समर्थकों ने अपने मार्क्सवाद विरोधी संघर्ष में खुलकर उपयोग किया – १७३।

हैस्सेलमैन्न, विल्हेल्म (जन्म १८४४ में) – जर्मन सामाजिक-जनवादी; लासालवादी आम जर्मन मज़दूर संघ का एक प्रमुख कार्यकर्ता; अराजकतावादी होने के आरोप पर उसे १८८० में जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी से निकाल दिया गया – २१४, ३०२।

होलियोक – ब्रिटिश राजनीतिक कार्यकर्ता। इसने मज़दूरों और उग्र पूंजीवादियों के बीच राज़ीनामा कराने का प्रयत्न किया। मार्क्स और एंगेल्स ने पहली इंटरनेशनल की आम परिषद पर इसके चुनाव का स्पष्ट विरोध किया – ६६।

हौकबर्ग, कार्ल (१८५३-१८८५) – जर्मन दक्षिण पक्षीय सामाजिक-जनवादी, पत्रकार। समाजवादियों के विरुद्ध असाधारण क़ानून के अमल के ज़माने में (१८७८-९०) इसने अपनी पार्टी की क्रांतिकारी कार्यनीति की निंदा की और मज़दूरों से पूंजीवादियों का साथ देने की अपील की। मार्क्स और एंगेल्स ने इसके अवसरवादी दृष्टिकोणों की कड़ी आलोचना की – २१४।

ह्यूम, डेविड (१७११-१७७६) – अंग्रेज़ी दार्शनिक, आत्मगत आदर्शवादी, अज्ञेयवादी; पूंजीवादी इतिहासकार और अर्थशास्त्री – ३९।